



॥ ओ३म् ॥

# सामवेद भाष्य के प्रथम सर्कारसूक्तों की भूमिका

तमिद् वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव ।

य इन्द्रस्य हृदं सनिः ॥ सामवेद १३३७ ॥

तं धेनवो वत्समिवामृताभिभवस्य हृदं महिमानमैशम् ।

गिरो गुराशयतमस्य नित्यं निपीयमाना विद्वैधरपुच्छन ॥

( १ )

वेद नाम व ज्ञान के ईश्वरपदत्त धर्मशास्त्र है । वे संख्या में चार हैं । ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । सृष्टि के आदि में अग्नि वायु आदित्य और अगिरा इन चार भूतियों के हृदय में परमात्मा ने उक्त चार संहिताओं का प्रकाश किया । सृष्टि का आरम्भ हुए शायं उपोतिपियों की गणना के अनुसार १६००=२०२६ वर्ष बीत गये हैं, तदनुसार वेदों को उत्पन्न हुए भी इतने ही वर्ष बीते समझने चाहिये । इसका स्पष्ट विवरण महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोत्पत्ति प्रकरण में किया है । चारों वेदों के चार ही विषय हैं ( १ ) विज्ञान, ( २ ) कर्म, ( ३ ) उपासना और ( ४ ) ज्ञान । ईश्वर से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान 'विज्ञान' शब्द से कहा जाता है । कर्म दो प्रकार का है एक मोक्षसाधना और दूसरा इह लोक के व्यवहारों की साधना । ईश्वर की स्तुति और आत्मसाक्षात्कार पूर्वक ईश्वरप्रेषिधान करना उपासना कहाती

है। ज्ञानकायद में ईश्वर, प्रकृति और जीव विषयक विशेष ज्ञान का विवरण है। इन चार विषयों का विशेष रूप से चार वेदों में वर्णन किया गया है। जिसपर विशेष विस्तार से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में महर्षि दयावन्द ने 'वेदविषयविचार' विषय में बहुत विचार किया है। इस ग्रंथ में उपासना विषय को दर्शाने वाले ग्रन्थ "सामवेद" का ही भाष्य प्रस्तुत किया गया है जिससे भक्तिरस के पितामह जन उपनिषद् और सुरदास कवीर एवं भागवत आदि ग्रन्थों में जो भक्तिरस प्राप्त करते हैं उससे भी अधिक और स्वच्छ परमार्थदर्शक भक्तिरस का लाभ सामवेद में प्राप्त करें। भाष्य पढ़ने के पूर्व पाठकों के समक्ष हम भाष्य से सम्बद्ध अन्य विषयों पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं इसलिये यह भूमिका लिखने का प्रयास है।

## ( २ ) सामवेदसंहिता

प्रकाशित सामवेद संहिताओं में से हमारी दृष्टि में प्रामाणिक पांच संहिताएं ही आई हैं—

( १ ) सायणभाष्यसहित सामवेदसंहिता श्री सत्यमतसामभ्रमी द्वारा प्रकाशित जिसको बंगाल एशियाटिक सासायटी ने १८७६ ई० में प्रकाशित किया।

( २ ) सायणभाष्यसहित सामवेद संहिता जिसको श्री जीवनानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने १८६२ ई० में प्रकाशित किया।

( ३ ) अजमेर नगर से धीमती परोपकारिणी सभा ने मूलमात्र सामवेद संहिता प्रकाशित की है।

( ४ ) श्री पं० तुलसीरामजी मेरठ निवासी ने मेरठ से अपने भाषा और संस्कृत भाष्य सहित प्रकाशित की है।

( ५ ) रेव० जे० स्टीवन्सन ने लण्डन से एक सामवेदसंहिता प्रकाशित की है। लण्डनवासी श्री पं० कृशाराम शर्मा ने भी एक सामवेद

संहिता प्रकाशित की, परन्तु उसको हमने अपनी गणना में नहीं रखा और विशेषता न होने से उस पर विचार भी नहीं किया। उक्त पाँचों प्रकाशित संहिताया में अपनी २ विशेषता है। रेघ० जे० स्टीवन्सन की छापी संहिता में अरण्य काण्ड और महानाम्नी आर्चिक का भाग नहीं है शेष सभी संहिताओं में उक्त दोनों भाग हैं। उक्त रेवेरेण्ड महोदय ने अपनी संहिता में वे भाग क्यों नहीं समावेशित किये उसका विशेष कोई कारण उल्लेख नहीं किया। हमका उचित कारण यही प्रतीत होता है कि पंडित स्टीवन्सन ने राखायनीय शास्त्र के पाठानुसार ही संहिता का प्रकाश किया है। परन्तु भारतवर्ष में तीन शास्त्रों का अधिक प्रचार है कौथुम शास्त्र गुजरात में, जैमिनीय शास्त्र कर्नाटक में और राखायनीय शास्त्र महाराष्ट्र में प्रचरित है। परन्तु क्योंकि षण्णुवेदभाष्यकार सायण के भाष्य सहित सामवेद संहिता में वे भाग उपलब्ध हैं इसलिये इन भागों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस कारण इन भागों को हमने भी अपने भाष्य में रखा है। यदा यह कहना भी अशक्य नहीं है कि षण्णुवेदानुवादकार प० प्रीतिथ ने भी इस अंश को अपने अनुवाद में स्थान नहीं दिया; क्योंकि वे भी स्टीवन्सन के अनुयायी हैं।

पं० जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने अपने प्रकाशित सायण भाष्य में हमको स्थान दिया है। इस प्रकार देशियाटिक सोसायटी के सय्यमत-सामग्रमी के सम्पादित सायण भाष्य में, भी उक्त दोनों खण्डों को स्थान प्राप्त है।

### ( ३ ) शान्वाभेद

अथर्ववेद परिशिष्ट के 'अरण्यपूह' प्रकार में इस प्रकार लिखा है—

( १ ) "तत्र सान्वाभेदस्य शाखाभ्यम्प्रमासीद्। अतश्चाप्ये-  
प्यधीयाना सर्वे ते शक्रेण विनिहता [ प्राविहीताः ]।

( २ ) तत्र वैचिदरशिष्टाः प्रचरन्ति । तद् यथा—राणायनीयाः, साद्य [ त्य ] मुप्रा कालापा, महाकालापा कौथुमा, लाङ्गिकाश्चैति । कौथुमानां षड्भेदा भवन्ति । तद् यथा—सारायणीया वातरायणीयाः वैतघृताः प्राचीनास्तैजसा. अनिष्टकाश्चैति ।

अर्थात् — सामवेद की हज़ार शाखाएं थीं । लोग उनको अनध्याय के दिनों में भा पढ़ते थे, अतः इन्हें न उन सत्रक<sup>१</sup> विनाश कर दिया । कुछ शाखाएं बची हैं जैसे राणायनीय, साद्य [ त्य ] मुप्रा, कालाप महाकालाप, कौथुम, और लाङ्गिक । इनमें से कौथुम शाखा के छ भेद हैं सारायणीय, वातरायणीय वैतघृत, प्राचीनतैजस, और अनिष्टक ।

पारायण्य के इस लोग से अन्य व्यूहों में कुछ भेद भी हैं जैसे— पारायण्य दर्शाते हुए वाचस्पत्य बृहदभिधान और शब्दकल्पद्रुम में लिखा है कि

‘सामशाखाभेदा यथा—आसुरायणीयाः, वासुरायणीया, वार्त्तान्तनेया, प्राञ्जलाः, ऋग्वर्णभेदा, प्राचीनयोग्याः, ज्ञानयोग्या, राणायनीयाश्च । राणायनीयानानत्र भेदा, राणायनीया, शाठ्यायनीया ( शावायनीया शाठ्यमुखिया इति वा ) पारायणीया, सात्वला, सात्वद्गवा इति वा ) मौडिला सत्वला महाप्रत्वला कौथुमा-जैमिनीयाश्च ।’

अर्थात् इसके अनुसार आसुरायणीय, वासुरायणीय, वार्त्तान्तनेय, प्राञ्जल, ऋग्वर्णभेद, प्राचीन योग्य, ज्ञानयोग्य, राणायनीय ये आठ मुख्य भेद हैं जिनमें से राणायनीय शाखा के पुन नव भेद हुए, जैसे राणायनीय शाठ्यायनीय, ( शावायनीय या शाठ्यमुखिय, ) पारायणीय, सात्वल वा सात्वद्गव, मौडिल, सत्वल और महाप्रत्वल, कौथुम और जैमिनीय ।

1 इसके प्रतिरोद्ध सामवेद का और शाखाभेद कैसे और कब हुआ इस विषय में विष्णुपुराण में उक्त शाखाओं के नामों से भी भिन्न २ नामों की सूचना मिलती है ।

सामवेदनगे शाखा व्यामशिन्य स जैमिनि ।  
 क्रमण्य येन मैत्रय विभेद शृणु नन्मम ॥  
 सुमुन्तुस्तस्य पुत्रोऽभूद् सुकर्माऽस्याप्यभूत् सुत ।  
 अर्षानग्रन्तापेकैवा सहिता तौ महामुनी ॥  
 साहस्र सहिताभेद सुकर्मा तत्सुतस्तत ।  
 चत्वार न च सञ्छिप्यौ जगृह्णाने महाव्रतौ ॥  
 हिरण्यनाभि कौशल्य पाप्यञ्जिश्च द्विजोत्तम ।  
 उदीच्य सामगा शिष्या तन्य पञ्चशता स्तृना ॥  
 हिम्यनाभानात्रय सहिता यैर्द्विजात्तम ।  
 गृहीतास्तेऽपि चोच्यन्ते परिडत्ते प्राच्यसामगा ॥  
 लाकाञ्चि कुधुमिश्चैव बुपीदिलोङ्गलिम्बथा ।  
 पौष्यञ्जिशिष्यास्तद्वंदा सहिता बहुलीकृता ॥  
 हिरण्यनाभशिष्यश्च चतुर्विंशति सहिता ।  
 प्राचाच कृतिनामासौ शिष्यभ्य सुमहामति ॥  
 तैश्चापि सामवेदोऽसौ शाखानिर्गुलीकृत ।

अर्थ- व्यासदेव के शिष्य जैमिनि ने शाखाओं का भेद इस प्रम से किया कि उसका पुत्र सुमुन्तु हुआ । सुमुन्तु का पुत्र 'सुकर्मा' । उन दोनों ने एक एक सहिता पढ़ी । सुकर्मा ने सइस सहिता भेद किये । उस के दो शिष्य हुए हिरण्यनाभि कौशल्य, और पौष्यञ्जि । लाकाञ्चि, कुधुमि, बुपीदी और लाङ्गलि ये पौष्यञ्जि के शिष्य थे उनको 'उदीच्यसामगा' कहते थे । और हिरण्यनाभ के पाच सा शिष्य थे उनको 'प्राच्यसामगा' कहते थे । हिरण्यनाभ का एक शिष्य 'कृति' नाम था, उसने अपने शिष्यों

को चौबीस संहिताओं का उपदेश किया । उसके शिष्य प्रशियों ने भी सामवेद की बहुत शाखाएँ करदीं ।

इस उद्धरण में कुथुमि और लाङ्गलि ये दो नाम ( अथर्व परिशिष्ट ) चरणव्यूह के शाखाभेदों में भी आये हैं । प्राच्यसामग कदाचित् प्राचीन योग्य हों और शेष सब नाम नवान ही हैं । यह पुराणप्रदर्शित शाखाभेद चरणव्यूह में कहे जैमिनीयशाखा के उपभेद को मतलबता है, परन्तु ऐसा अनुमान करने में यही बाधा है कि कोथुम और लाङ्गलिशाखा स्वतन्त्र हैं वे जैमिनीय शाखा के भेद नहीं हैं । वह बाधा भी तब नहीं रहती जब भागवतपुराण प्रोक्त शाखाभेद पर दृष्टिपात करते हैं । उसमें पौष्पाङ्गि के शिष्यों का नाम लाङ्गलि, माङ्गलि, कुप्य कुप्याद और कुडि लिखा है । इसी प्रकार क नाम भेद संहम पुराणोक्त शाखा भेद विशेष विश्वास योग्य प्रतीत नहीं होता ।

पुराण के उद्धरण से ऐसा भी प्रतीत होता है कि व्यासदेव के समय यह शाखाभेद नहीं था, जैमिनी के शिष्यों में ये शाखाभेद हुए । और जितने २ शिष्य उतनी २ शाखाएँ हो गईं । इसका तात्पर्य यही है कि गुरुभेद से शाखाभेद हुआ अर्थात् गुरुओं की प्रतिभा-भेद से शाखाओं में कदाचित् भेद हो जाने से ही शाखाभेद हो गया । उनमें बहुतसी शाखाएँ नुस्त हो गईं । क्यों ? चरणव्यूह ने तो उनका कारण यही दर्शाया कि अनप्याय के दिनों में विद्यार्थियों ने पढ़ना शुरू किया, इसमें कुपित इन्द्र ने यत्र से उन शाखाध्यायियों का विनाश किया । अग्नि आसी जाग इस कथा पर विरवास करने में सदाचरानुभव न करेंगे । परन्तु इसका गूढार्थ यही है कि सामवेद का स्वाप्याय गुरुपरम्परा से जाय हो गया और विनोद या गायनमात्र समझकर विद्यार्थियों ने अनप्याय के दिनों में सामगान सीखने आत हों । इस पर गुरु या आचार्यों ने अपना ऋग्वेद को गौण विषय बनत दत्त, अपन वेद का अग्रमात्र जान शिष्या

को देना बंद कर दिया हो और इस प्रकार मुख्य शिष्यों के अभाव से वे शाखाएं या कालान्तर में गुरु परम्परा से खण्डित हो गई हों। वैदिक युग में इन्द्र और गुरु शब्द पर्यायवाची थे, इसी आधार पर यह कथा गढ़ी गई प्रतीत होती है।

इसी प्रसंग में हम यह भी कह सकते हैं कि शेष शाखाओं के यद्यपि नाम भी लुप्त हो गये हैं तो भी उनका कुछ आभास उपलब्ध नामों के साहचर्य से पा सकते हैं। जैसे पाणिनि व्याकरण क पैलादिगण्य ( २।४।५६ ) में राशि, शब्द का पाठ है। अपत्यार्थ में 'फिञ्' प्रायय करने से 'राश्यायनि' ऐसा प्रयोग होता है। यह एक साम शाखा का प्रवर्तक हुआ है उसी प्रकार पैल ऋक्शाखा का प्रवर्तक हुआ। इस गण्य में पठित और भी कितन ही नाम हैं वे भी अन्य शाखाप्रवर्तक होने सम्भव हैं। उसी प्रकार सौत्वन्नादि गण्य, ( २।४।६१ ) यस्कादि ( २।४।६३ ) गोपवनादि ( २।४।६७ ) तिककितवादि ( २।४।६८ ) उपकादि ( २।४।६६ ) गण्य भा दर्शनीय हैं। उन गण्यों में भी नाना वेदशाखा प्रवर्तकों के नाम हैं। इसी प्रकार शार्ङ्गेरवादि ( ४।१।७३ ) श्रोढनादि ( ४।१।८० ) अश्वपत्यादि ( ४।१।८४ ) उरसादि ( ४।१।८६ ) विद्वादि ( ४।१।१०४ ) गर्गादि ( ४।१।१०५ ) तिकादि ( ४।१।१५४ ) गहादि ( ४।२।१३८ ) शौनकादि ( ४।३।१०६ ) रैवतिकादि ( ४।३।१३१ ) गण्य हैं उन में नाना शाखा प्रवर्तकों के नाम आते हैं। सात्यमुग्नि आदि शुद्ध नाम भी व्याकरण सूत्रों में प्राप्त हैं उनके सहयोग में अन्य नामों की भी संगति का अन्वेषण कर लेना चाहिये।

### ( ४ ) साम-ब्राह्मण

उक्त शाखाभेद पर विचार करने से यह बात भी स्पष्ट होती है कि गुरु प्रवचन भेद से ही यह शाखाभेद हो गया है। परन्तु इससे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि सामवेद की शाखाभेद से सामसाहिता में भेद हुआ

हो । क्योंकि परम्परा से मूळसंहिता एक ही थी और जैमिनि, कौथुम और राणायनीयादि का ब्राह्मण भी छान्दोग्य एक ही है । इसी मुख्य ब्राह्मण क प्रथम पर्व्याप्त अध्यायों का प्रौढ़ ब्राह्मण, बीच क पाच ब्राह्मणों को अन्न या पञ्चविंश ब्राह्मण और शेष दश अध्यायों का नाम छान्दोग्य उपनिषद् है । हम उपनिषद् भाग में भी प्रथम दो अध्याय 'मन्त्र ब्राह्मण' कहात हैं और आप्य, सामविधान, देवताध्याय, वश, संहितोपनिषत् आदि नामों स प्रसिद्ध ब्राह्मण अनुब्राह्मण नाम स प्रसिद्ध हैं, इसी महाब्राह्मण को कौथुम शाखा में सायदय महाब्राह्मण नाम से पुकारा जाता है ।

### ( ५ ) साम-संहिता

बहुतसे विद्वानों का मन्तव्य है कि सामवेद मूळ केवल ७२ मन्त्रों का ही है । और शेष समस्त मन्त्र ऋग्वेद से ही संगृहीत हैं, अत उनका ग्रहण ऋग्वेद से ही हो जाता है । यह उनका कथन तभी ठीक हो सकता है जब कि ऋग्वेद और सामवेद दोनों संहिताओं का प्रयोजन एक ही हो । परन्तु यदि प्रयोजन भिन्न २ हैं तो संहिता में समानता होने पर भी उनका पृथक् २ होना आवश्यक है ।

सामवेद क दो भाग हैं एक पूर्वाचिक भाग और दूसरा उत्तराचिक । पूर्वाचिक क साथ ही महानामनी आचिक भी संयुक्त ही समझी जाती है । पूर्वाचिक में प्रामगय गान और आरण्यक गान दो भाग हैं । प्रामगय गान का तात्पर्य यह है कि वे सामगान जो जनसमूह में गान किये जायें । आरण्यक गान जो वन के परित्राजक, गुमुत्तुमार्ग पर जीवा बितान वाले सपत्नी यति छाग गान करें । इसके अतिरिक्त 'महानामनी' आचिक में शकरी छन्द का उपसर्ग पदा क साथ रखा है यह भी विशेष गायन रीति का निदर्शक है । इसके बाद उत्तराचिक में उहगान और उहगान का प्रतिपादन है जो एक मन्त्र क गान के अतिरिक्त दो, तीन, चार, पाच, छ, अष्टाओं का एक गान है ।



वास्तव में देखा जाय तो "गीतिषु सामाख्या" (जैमिनीय मीमांसा सूत्र) गान की रीति का नाम ही साम है परन्तु बिना छन्दोमय ऋचाओं के गान किस आधार पर वास कर । वह ऋचाओं में ही निवास करेगा । इसी लिये चर्चों के सिद्धान्तरूप उपनिषद् ग्रन्थों में यही निर्णय किया है कि "ऋच्यध्युद्धं सामगीयते ।" ऋग्वेद में आश्रय पाय हुए साम का ही गान किया जाता है । फलतः अब यह एक स्पष्ट अर्थ निकल आता है कि गानविद्या के मर्मों क आश्रयभृत मन्त्रों की संहिता सामसंहिता है । जैत्र कि श्री स्वामी शबर ने मीमांसादर्शन में नवमाध्याय के २७ वें सूत्र "अर्थेऽत्वाद्दिकल्प स्यात्" पर स्पष्ट कहा है ।

"सामवेदे सहस्र गीत्युपाया । आह कनमे गीत्युपाया नाम । उच्यते । गीतिर्नाम क्रिया ह्यभ्यन्तरप्रयत्नजन्या स्वरविशेषाणामभिप्यञ्जिकासामशब्दाभिलष्या । सा नियतप्रमाणायामृचि गीयते । तत्सम्पादनार्थोऽयमृगक्षरविकारो विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विराम स्तोभ इत्येवमादय मर्थे सामवेदे समाप्तायन्त ॥"

अर्थ—सामवेद में हजारों गीति के उपाय हैं । गीति का अर्थ है गान क्रिया । यह अभ्यन्तर प्रयत्न से उत्पन्न होकर विशेष स्वर को उत्पन्न करती है, उसीको "साम" शब्द से कहा जाता है । यह नियत प्रमाण वाला ऋचा में गाई जाती हैं । उस गान क्रिया को उत्पन्न करने के लिये ऋचा के अक्षरों में विकार, विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम और स्तोभ आदि किये जाते हैं । इन सबका सामवेद में आचार्य लोग उपदेश करते हैं । परन्तु सामान्य संहिता पाठ में विकार, विश्लेष, विकर्षण अभ्यास, विराम और स्तोभ आदि के बिना ही ऋचाएँ रहती हैं परन्तु प्रयोगकाल में उद्गाता उन ऋचाओं के धर्णों में विकार आदि करक गाता है ।

### ( ६ ) सामगान

यद्यपि इस साम वेदभाष्य में गायन के विषय का विवरण नहीं किया और न गान योग्य सामरूप को प्रकट किया है तो भी सामविषयक गायन

का सन्धारण परिचय पाठकों को करा देना आवश्यक है । सो नारदाय शिष्या के अनुसार सद्य से देत हैं ।

( १ ) उरस् कण्ठ और शिर इन तीन स्थानों से शब्द उठता है तीनों स्थानों का क्रम स प्रात सवन माध्यन्दिनसवन और तृतीय सवन के समान जानना चाहिये । इन तीनों स्थानों पर सातों स्वर विचरते हैं । उर स्थल में विचरत हुए सातों स्वर कानों में सुनाई नहीं देते ।

( २ ) सात स्वर, तीन ग्राम इक्कीस मूर्छनाएं और ४३ तान होते हैं । ये सब 'स्वरमण्डल' कहाता है । पद्म अथम, गान्धार, मध्यम, पचम धैवत निषाद, ये सात स्वर हैं । पद्म मध्यम गान्धार, ये तीन ग्राम हैं । पद्मग्राम में १४, मध्यमग्राम में २० और गान्धार ग्राम में १५ तान हात हैं । ऋषि, पितर और द्वभद्र से प्रत्येक की सात मूर्छनाएं हैं, जैसे नन्दी, विशाखा, सुमुखी, चित्रा, चित्रवती, सुखा, और यला ये ७ देवमूर्छनाएं हैं । आप्पायिनी, विश्वभृता, चन्दा, हेमा कपर्दिनी मैत्री यादंती ह्ययका उत्तरायता और रजनी ये ऋषियों की ७ मूर्छनाएं हैं । देव, पितृ और ऋषि इनकी मूर्छनाओं के गन्धर्व, यज्ञ और मनुष्य क्रम से अनुपायी हैं । लौकिक मूर्छनाएं ऋषियों की हैं । पद्म से देव, अथम से ऋषि गान्धार से पितर, मध्यम से गन्धर्व पचम से सबजन निषाद से यज्ञ और धैवत से अन्य प्राणी प्रसन्न होते हैं ।

( ३ ) गान क दस गुण हैं—रक्त, पूर्य, अलकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विकृष्ट रक्षण, सम, सुकुमार और मधुर ।

( ४ ) स्वरभेद पांच प्रकार का है । उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचित और निघात । आर्षिक में उदात्त अनुदात्त और स्वरित ये तीन ही हैं । स्वरित से परे उदात्त ही प्रचित कहाता है । स्वरित दो प्रकार का होता है एक वर्यं स्वार और दूसरा अतीत स्वार । उच्च और नीच दोनों क बीच को ही स्वार कहा जाता है । उदात्त में निषाद और गान्धार, अनु

दास में अथवा और धैवत और स्वरित में पञ्च मध्यम और पञ्चम रहते हैं । विशेष ज्ञान नारदाय शिष्या एव अन्य गानग्रन्थों से ज्ञान आदिभ्ये सामवादिभ्यो में सामवेद संहिता की अक्षाओं के नाना गान स्वरूपों की कल्पना गानशास्त्र के अनुसार की है । वे गान संहिताएँ मन्त्रसंहिता से भिन्न होती हैं । उसका कुछ उल्लेख दर्शाते हैं ।

मन्त्र—अग्नि आयाहि धीतय गृणानो हव्यदतये । निहोता सत्सि बर्हिषि ॥

गेयगान—<sup>४</sup> अग्नाइ । <sup>२२ २</sup> आया ही ३ <sup>१</sup> योर <sup>२</sup> बोईतोया २इ ।  
<sup>१</sup> तोया २इ । <sup>३ २ २</sup> गृण ना इ । <sup>१</sup> व्यदाताया २इ । <sup>१</sup> तोया २इ <sup>३ २२</sup> ना २हो  
<sup>१</sup> ता सा २ ३ । <sup>३</sup> त्सा २ इ । <sup>१२</sup> वा २ ३ ४ <sup>३ ३</sup> औ हो वा ह्रीं २इ ४ पी ११ ।

यह गौतम ऋषि का एक साम कहाता है । इसी प्रकार इसी ऋषि का दूसरा एक इस प्रकार है ।

<sup>१</sup> अग्नि <sup>४</sup> आया <sup>४ २ २</sup> हि । <sup>४</sup> यो ५ इ <sup>४</sup> तथा <sup>२</sup> इ <sup>२</sup> गृणा <sup>२</sup> नो <sup>२</sup> हव्य <sup>२</sup> दा १ ता  
<sup>२</sup> ३ ये । <sup>३</sup> नि होना २ ३ ४ <sup>५</sup> सा । <sup>१</sup> त्सा २ ३ ४ इ वा । <sup>२</sup> हा २ ३ ३ ४  
<sup>१</sup> इ पो ६ हा इ ॥ ३ ॥

इन दोनों एकों के भीतर काश्यप ऋषि का 'बर्हिष्य' है जैसे—

<sup>४ ५ ४ ४ ५ २</sup> अग्नि आया हो यो । <sup>५</sup> तथाइ । <sup>१</sup> गृणाना <sup>२ २</sup> हव्य <sup>२</sup> दाना । <sup>२</sup> ३ या  
<sup>१२ २</sup> इ नि <sup>२ १</sup> होता <sup>१</sup> सत्सि <sup>१</sup> बर्हिं २ ३ । <sup>१</sup> हाप । <sup>३</sup> यर्हिं २ इ पा १ ३ ४ औ  
<sup>२</sup> हो वा । <sup>२</sup> यर्हिं ३ पी २ ३ ४ ५ ।

इसी प्रकार स्तोत्र उद्गमन और उद्गमनों का भी विशेष रूप निर्धारित है। उन ही का विषय परिज्ञान करना सामवेद का परिज्ञान करना है।

### ( ७ ) सामवेद भाष्य

अभी तक जितने भी वेदभाष्य उल्लेख हैं वे सामवेद संहिता पर अस्मृत भाष्य ही हैं। जिनमें बहुत स तो लुप्त हो ही गये हैं। निघण्टु क शकिकाकार द्वारा न यज्ञान स्कन्दस्वामी, भवस्वामी, राहद्व, धीनिवाण, माधवद्व उवटभट्ट भास्कर मिथ, भारतस्वामी इन छठ प्राचान भाष्यकारों का नाम दर्शाया है। इन सब में से केवल माधवीय विरण के कुछ अंश उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त सायण भाष्य प्राप्त है। श्री० प० तुलसीरामजी ने भी सामवेद का एक भाष्य प्रसिद्ध किया है। इन सब भाष्यों का हाते हुए भी वेद के मन्त्रों का अन्वयानुसारी ऐसा भाष्य भाष्य उपलब्ध नहीं था जिसको सुगम सुन्दर और हृदयगम भाषा में शब्दार्थों का पृथक् २ ज्ञान करने के साथ २ पद लेते। इसलिये इस भाष्य को प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई।

इसके अतिरिक्त हम यह भी स्पष्ट शब्दों में कहना उचित समझते हैं कि अभी तक जितने भाष्य हुए हैं उनमें से एक भी ऐसा भाष्य नहीं जो सामवेद के वास्तविक उद्देश्यभूत उपासना काण्ड के लक्ष्य को दर्शा सके। श्री सायणाचार्य ने तो यज्ञपरक अर्थ कर के ही अपने कार्य को पूर्ण किया है। प्रायः जो भाष्य सायण का ऋग्वेद के मन्त्रों पर है उसका ज्यों का त्यों ही उठाकर रचा दिया है। उसमें विशेष फेर फार नहीं है। परन्तु सर्वे कि सामवेद का विषय उपासनाकाण्ड है इसलिये सामवेद के मन्त्रों का यज्ञपरक अर्थ करना संगत प्रतीत नहीं होता। इसके अनन्तर मेरे निवेद से श्री स्वा मी तुलसीरामजी का भाष्य है। उनके समस्त भाष्य में कुछ एक स्थलों को छोड़कर प्रायः सायण भाष्य को ही अनुसरण

किया है । हमने उत्र दोनों भाषों में से किसी का भी अनुसरण नहीं किया । ऐसा करने के बहुत से कारण हैं ।

( १ ) सायण ने अपने भाष्य में ऐतिहासिक पक्ष को बहुत पुष्टि दी है जो वेदों को सायणानुसृत धर्म मानने में भारी विघातक है । इससे वेदों का महत्व भी बहुत घट जाता है ।

( २ ) यज्ञपरक अर्थ करने में यद्यपि सायण सफल हुआ है तो भी एक दोष उसके भाष्य में यह है कि जो विशय जिम पदार्थ के योग्य होना चाहिये वह उम पर नहीं लगता और जो विशय जिम पदार्थ में नहीं घटने वे उम पर लगाये जा रहे हैं । उससे वेदमन्त्रों में असत्यार्थ प्रतिपादन करने का भारी फलक आता है । कबल यज्ञ में आय अग्नि, सोम आदि पदार्थों के वर्णन में सामवेद का अधिक भाग लगा हुआ देखकर सायण भाष्य के अनुसार विचार करन से यह प्रतीत होगा कि वेदमन्त्र में अनावश्यक गीत गा गा कर मन्त्र पूरे किये गये हैं और उनका मुद् तात्पर्य कुछ नहीं है । यही प्रभाव योरोप के विद्वानों पर भी पड़ा है । इसी कारण योरोप के अनुवादक भी सायण के पीछे २ पग रखते हुए उसी प्रकार असंगत अर्थ करत गये हैं जिस प्रकार सायण ने किये हैं । उसमें भी बढ़कर योरोप के अनुवादकों ने कहीं २ स्वतन्त्र भी अर्थ किये हैं परन्तु ऐतिहासिक पक्ष को छोड़ कहीं भी उन्होंने वेद के यौगिक अर्थों पर विचार नहीं किया । हमारा कहने का तात्पर्य यह है कि वेदार्थ क करने में विधा के परम भण्डार, ईश्वराय ज्ञान के आदरणीय ग्रन्थों का जिस सम्भीरता से वेदभाष्य प्रकट होना चाहिये था वसा अभी तक किसी ने भी करने का प्रयास नहीं किया । हम अपने मन्तव्य का और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये कुछ एक नमून ग्रन्थ भाष्यों के उद्धृत करते हैं जिससे पाठक हमारे कथन का अभिप्राय समझ सकेंगे । जैसे—

अग्नि आयाहि धीतये गृणानो ह्य्यदातये ।  
 त्वं होता सतिस घर्दिपि ॥

यह सामवेद का प्रथम मन्त्र है । इसमें सायण ने 'अग्नि' शब्द से साधारण भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है और इसी प्रकार समस्त आप्तव काण्ड में अग्नि शब्द से यज्ञ के कुण्ड में प्रज्वलित अग्नि के सिवाय दूसरा पदार्थ नहीं लिया है । क्योंकि सायण लिखते हैं—

'हे अग्ने ! अङ्गनादिगुणत्रिशिष्ट एव आयाहि अस्मद् यज्ञ प्रत्यागन्तु । तिमर्थं धीतय हविषा चरुपुरोडाशादीना भक्षणाय ।

अर्थात् हे चमक आदि गुणों से युक्त अग्नि ! तू या अर्थात् हमारे यज्ञ में आ । क्यों ? धीतये चरु पुरोडाश आदि हवियों के खाने के लिये । चरु आदि खाने वाला अग्नि सिवाय भौतिक अग्नि के दूसरा पदार्थ नहीं है । इससे आगे तीसरा मन्त्र है—

अग्निं दून धृमोमदे हांतर विश्ववेदसम् ।  
 अस्य यज्ञस्य सुमनुम् ।

इस मन्त्र में अग्नि का विशेषण है ' विश्ववेदस ' । जिसका सायण स्वयं अर्थ करत है—

' विश्वानि योति इति विश्ववेदा , यद्वा वेद इति धननाम, विश्व सर्वं वेदो धन यस्य तम् ' ।

अर्थात् समस्त पदार्थों को जानने वाला या समस्त साधनों का स्वामी ' विश्ववेदस ' कहा गया । परन्तु सायण ने अनुसार यह विगणन 'अग्नि' का है । नैतिक अग्नि जड़ हान से तो समस्त ज्ञानशालु है और न समस्त धनों का स्वामी हो सकता है । इसी प्रकार उक्त मन्त्र में 'सुमनु' शब्द पला है । जिसका अर्थ सायण ने 'निष्पादक-येन शोभनवर्नाणाम् अथवा अनुनि प्रजा नान शोभनप्रस या' किया है अर्थात् यह अग्नेय पशुनिष्पादक होने से 'सुमनु' है, या ऋतु प्रज्ञा, अर्थात्

शोभनप्रद वह अग्नि है यह विशेषण भी भौतिक अग्नि में व्यर्थ है क्योंकि जड़ अग्नि न यज्ञ का कर्ता है और न प्रज्ञावान् ही है । फलतः ये विशेषण किसी चेतनावान् पदार्थ के होने उचित हैं । यह दोष न केवल आग्नेय काण्ड के अग्नि देवता के मन्त्रों में है, प्रायुत इन्द्र, सोम, रुपा आदि देवता के मन्त्रों में भी सायण कृत अर्थों में यही दोष विद्यमान है । क्योंकि सायण ने इन्द्र को एक विशेष रूपवान् हाथों पैरों वाला, घोड़ों से युक्त रथपर चढ़ा हुआ माना है इसलिये उसमें भी "ईशानमस्य जगत्" "ईजानमस्य तस्थुप" ( पू० अ० ३ । १ ) चराचर जगत् का स्वामी आदि विशेषण नहीं धेंगे, उसी प्रकार पावमान काण्ड में सोम का वर्णन किया है । सायण ने सर्वत्र सोम, इन्दु, पवमान आदि शब्दों से सोमलता और उमके रसों का ही ग्रहण किया है । उस लता या सोमरस में—“जनिता अग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनिता इन्द्रस्य जानितो न विष्णोः” ( पू० अ० ५ । ६ । ५ ) इत्यादि सूर्य, इन्द्र और विष्णु का उत्पादक विशेषण नहीं धेंगे । उसी प्रकार सोम को "यो रायःमानेना य इपानाम् ।" ( पू० अ० ५ । ११ । ५ ) धनों और अन्नों का लाने वाला बतलाया गया है, यह विशेषण भी सामरस में नहीं धेंगे ।

परन्तु ये सभी मन्त्र परमेश्वरपरक हैं । उनके विशेषण परमेश्वर ही में मुख्यवृत्ति से घट सकते हैं इसलिये उन मन्त्रों का मुख्यार्थ परमेश्वर को और गौण अर्थ अन्न पदार्थों को दर्शावगा । हमने अपने भाष्य में स्थान २ पर इस विशेषता को दर्शाया है और स्थान २ में वेदमन्त्रों के अर्थ को उपनिषदों और दर्शनों के उद्धरणों से पुष्ट किया है, पाठक यथास्थान देख लेंगे । यहाँ अधिक ग्रन्थ का विस्तार नहीं दिखाकर अब हम सामवेद का भाष्य प्रारम्भ करने के पूर्व वेद के सिद्धान्तों पर पाठकों का ध्यान आकर्षण करना चाहते हैं ।

## ( ८ ) सिद्धान्त दिशा विचार

यह हम पहले दर्शा चुके हैं कि सामवेद का मुख्य विषय उपासना काण्ड है । वेदों में सिवाय ईश्वर के और किसी देवता की उपासना प्रतिपादित नहीं की है । यह सिद्धान्त कोई नवीन नहीं है । योरोप के विद्वान् एव सापथक मतानुयायी भन्न ही वेद के मन्त्रों में पर्वतों, नदियों और वृक्षों या आग जल, वायु आदि जड़ पदार्थों की स्तुति मानते हैं परन्तु एसा उनका मानना उनकी वेद के सिद्धान्तों से ज्ञानभिक्षता को बतलाता है । उन ही के पीछे चलने वाले नयी रोशनी के पक्षे भारतीय विद्वान् भी बहुत स उस अमजाल में पड़ गये हैं । इसका मुख्य कारण यही है कि वे लाग वेद का वदक सिद्धान्त भाग से अलग कर लते हैं । उनको यही धारणा है कि वेद और उपनिषद् दो भिन्न पदार्थ हैं । उनका एसा समझना ही उनका अम में डाल देता है । योरोप के विद्वानों की दृष्टि में उपनिषद् वाद में यलों अर्थात् ईश्वर, जीव आदि दार्शनिक सिद्धान्तों की उन्नति वाद में हुई । इसी धारणा से वे उपनिषदों का वेदों से अलग कर देने हैं । वास्तव में उपनिषद् का ज्ञान वेदों से किसी अवस्था में अलग नहीं किया जा सकता । उपनिषद् वेदों के सिद्धान्त प्रदर्शक ग्रन्थ है । यदि शरीर में स आत्मा का पृथक् कर दिया जाय तो शरीर कवल हाड़, मांस, खाम का मुर्दा मात्र दिखायी देता है और शरीर के अणुओं की शक्तियों का चमकार नहीं जाना जा सकता । धातु नारु कान, त्वचा, बायीं व साधन और अन्न करण मन ये ससार में जितना चमकार उत्पन्न कर रहे हैं वे सब हम जड़ शरीर से नहीं हो सकते परन्तु आत्मा के होने पर ही ये सब चमत्कार दिखाई दे रहे हैं । उसी प्रकार जब आत्मरूप उपासना, महाविद्या को वेदों के शरीर से अलग कर लिया जाता है उस समय वेद के मन्त्र अग्नि जल, नदियों और पर्वतों की स्तुतियों से भरे हुए प्रतीत होते हैं । परन्तु जब उनके आधार



में ब्रह्मविद्या रूप दीपशिखा उपनिषद् को रख दिया जाता है तो वेद ज्ञान का अपूर्व भण्डार दिखाई देता है। यह मतस्य बहुत प्राचीन काल से उपनिषत्कारों ने स्वयं स्वीकार किया है। जैसे काठक में—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपासि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।  
यदिच्छन्द्वा ब्रह्मचर्यं चरन्त तत्ते पदं सप्रहेण प्रवक्ष्याम्योम्  
इत्येतत् ॥ २ ॥ १५ ॥

‘समस्त वेद जिस परम पद का पुनः २ प्रतिपादन करते, समस्त तपसि का दशांत हैं, जिसका प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद का सचप से कहता हूँ भाम्’ यह है।’ अर्थात् सब वेद ईश्वर का प्रतिपादन पुनः २ करते हैं। इसके प्रतिरिक्त तैत्तिरीय उपनिषत् में पञ्चविध आत्मा का अङ्ग प्रयत्नमय स्वरूप दर्शाते हुए पाच केशों का दर्शाया है, वह बहुत ध्यान देने योग्य है। यही अक्षरसमय पुरुष के पाच अंग दर्शाये गये हैं —

अक्षरसमय—( १ ) शिर, ( २ ) दक्षिण पक्ष, ( ३ ) उत्तर पक्ष, ( ४ ) आत्मा ( धृक् ) ( ५ ) आश्रय पुच्छ ।

प्राणमय—( १ ) प्राण, ( २ ) अ्यान, ( ३ ) अपान, ( ४ ) आकाश, ( ५ ) पृथिवी ।

मनोमय—( १ ) वजु, ( २ ) अग्नि, ( ३ ) साम, ( ४ ) आदेश, ( ५ ) अपर्च ।

विज्ञानमय—( १ ) भद्रा ( २ ) अत, ( ३ ) सत्य, ( ४ ) योग, ( ५ ) महः ।

आनन्दमय—( १ ) प्रिय, ( २ ) मोद, ( ३ ) प्रमोद, ( ४ ) आनन्द, ( ५ ) प्रसन्न ।

ये प्राचीं कोश उत्तरोत्तर एक दूसरे के भीतर प्रविष्ट हैं, इनमें ( १ ) शिर, स्थानीय शिर, प्राण, यजु, धृद्धा और प्रिय ये रुमश. एक ही के सूक्ष्म, सुदृढतर, सूक्ष्मातम रूप है। इसी प्रकार दक्षिण पक्ष व्यान, श्रक्, अत, मोद, उत्तर पक्ष, अयान, साम, सत्य, प्रमोद और आत्मा ( धृद्ध ) आकाश, आदेश, योग, आनन्द और आश्रय ( पुच्छ ), पृथिवी, अथर्व, महः, मश इनको भी समझना चाहिये। यदि इन सबका कोई एक आश्रय उपनिषद् धार ने यतलाया है तो ब्रह्म को ही यतलाया है। इसी प्रकार स्थान २ पर वेदग्रथी का सार अ, उ, म् को यतलाया है। फलतः यह कहना कि ब्रह्म विद्या को वेदों से पृथक् किया जा सकता है केवल साइसमात्र है।

यदि उपनिषदों या ब्रह्मविद्या को वेदों से अलग भी करना चाहे तो भी वे अलग हो नहीं सकतीं, क्योंकि उपनिषदों की रचत सत्ता ही कुड़ नहीं रह जाती यदि उनका मूल काट दिया जाय। ईश उपनिषद् साक्षात् यजुर्वेद का ४० वां अध्याय है। इस अध्याय का विस्तृत विवरण बृहदारण्यक उपनिषद् यजुर्वेद के ब्राह्मण शतपथ का एक अंश है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय ब्राह्मण का एकांश है। और ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेयारण्यक का एक अंश है। छान्दोग्य उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण के आरण्यक भाग का एकांश है। जब सभी षट्ठी २ उपनिषदें वेद और वेद के व्याख्यानो के अंश ही है तब उनको वेद से अलग करना वैदिक अधियों के ज्ञान भण्डार के साथ भारी अन्याय है। जिस प्रकार दीपक को निकाल लेने से घर सूना प्रतीत होता है उसी प्रकार उपनिषदों या ब्रह्मविद्या को वेद से परे कर लेने पर वेदसमुदाय भी अन्धकारमय हो जाता है। यही कारण है कि कर्मकाण्ड को ज्ञानकाण्ड से अलग कर लेने पर सिवाय अधिया के कुछ शेष नहीं रहता। मध्यकालीन ज्ञानियों ने समस्त कर्मकाण्ड में वेद के मन्त्रों का विनियोग पाकर वेदों का अर्थ कर्मकाण्डपरक कर लिया। परन्तु उन्होंने यह नहीं विचार कि

उनके ऐसा करने से वेदभवन अन्धकारमय हो जायगा और वास्तव में वैसा ही हुआ भी । कर्मकाण्ड का मुख्य रखकर वेदमन्त्रों का यज्ञपरक अर्थ करने से दो प्रवृत्तियाँ जागेंगीं । एक तो कल्पित मनगढ़-त कर्मकाण्ड गढ़ २ कर उसमें वेदमन्त्रों का मनमाना विनियोग हाने लगा जिससे गोमेध, नरमेध, अश्वमेध आदि पवित्र वज्रों का क्रियाकाण्ड भी अष्ट हो गया, दूसरा वास्तविक वेदों का परमार्थ और विज्ञानमय अर्थ लुप्त हो गया । और उपमें ऐतिहासिक अर्थ और लौकिक अभिधार्थ ही लिया जाने लगा । भाष्यकारों ने अपना मतलब साधने के लिये प्राचीन ग्रंथों क उद्धरणों से काम ता लिया परन्तु वेदार्थ करने की शैली का नहीं अपनाया ।

वेदों की सबसे उच्च कोटि की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में की गई है । उनमें जहाँ साथ २ यज्ञ की शैली और लोक व्यवहार को दर्शाया है वहाँ यज्ञ की क्रिया का अध्यात्म अर्थ भी किया है । जब समस्त वैदिक कर्मकाण्ड का अर्थ अध्यात्मपरक है तो कोई कारण नहीं की उसमें विनियुक्त मन्त्रों का अर्थ अध्यात्मपरक न हो । भाष्यकारों ने ब्राह्मण ग्रन्थों के इस रहस्य को नहीं समझा । इसी से वे वेदों का जब अध्यात्मपरक अर्थ नहीं लगा सके तब वेद " नित्य ईश्वरज्ञान मानकर भी उनका ऐतिहासिक अर्थ करने एव भौतिक पक्ष में अर्थ कर उनके गूढ़ ब्राह्मणपरक विशेषणों को भी न सुझा सके । अब हम पाठकों के समक्ष ब्राह्मणकार या उपनिषत्कार ऋषियों के मन्त्रार्थ करने का रीति पर कुछ प्रकाश डालते हैं ।

गर्भे नु सन्त्येपामवेदमह देवाना जनिमानि विश्वा ।

शत मा पुर आयसीररत्तन् अधा श्यनो जगसा । नरदीयमा ।

(श्रग्वेद मं० ४ । सू २७ । म० १)

— इसका प्रतीयमान साधारण अर्थ है— "भेने गर्भ में ही इन देवों क सब रूप जान लिये, मुझे सौ छोटे के कोट घेरे हुए भे और मैं अपने

या चाज पत्नी होकर वड़े वेग से निकल आया।" यह एक पहिली स्त्री है। इस ऋग्वेद के मन्त्र का व्याख्यान ऐतरेयोपनिषद् (अ० २) में इस प्रकार है—

“पुरुषे हृषी अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः । तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं विभर्ति । तद् यदास्त्रिंशं सिञ्चत्यधेनञ् जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥ तत् त्रिंशत् आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं । तथा तस्मादेनां न दिनस्ति । साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं । भावयति ॥ २ ॥ सा भावयिषां भावयितव्या भवति । तं ह्यौ गर्भं विभर्ति । सोऽग्रे कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभाषयति । स यन्कुमारं जन्मनाऽग्रेऽधिभाषयति आत्मानमेव तद् भावयति एषां लाकार्णां सन्तरथा । एवं सन्तता हि इमे लोकाः । तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥ साऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते । अथ अस्य अपमितर आत्मा कृत्स्नकृत्यो वयोगतः प्रैति । स इत प्रयत्नव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म । तदुक्तमृषिणा ।

गर्भे नु सन्धेयामवेदमह देवानां जानिमानि विश्वा ।

शतं मा पुग आयसीररक्षन् अत्रः श्येनो जयसा निरदीयमिति ।

गर्भं एवैतन्दृशानो घामदेव एवमुवाच । स एव विद्वान् असाच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्राय अमुग्मिन् स्वर्गो लोके सर्वान् कामान् आप्त्याऽमृतं सभभयत् समभात् ।

अर्थ—पुरुष में ही प्रथम यह गर्भ होता है । वह पुरुष में वीर्य रूप से रहता है । वह वीर्य सब जड़ों से शुद्ध रूप में उत्पन्न होता है । उसको

पुरुष अपने ही शरीर में आत्मा रूप से धारण करता है । जय वह मैथुन द्वारा स्त्री के गर्भ में आधान करता है तब उसको उत्पन्न करता है । यह उस आत्मा का प्रथम जन्म है । तब वह गर्भ स्त्री के एक भग क समान हो जाता है इसलिये वह उसको कोई पीड़ा नहा दता । स्त्री भी अपने पति के ही आत्मा को अपने भीतर प्रविष्ट हुआ समझ कर उसका पालन करती है । उसका पालन करती हुई स्त्री अपने पति के पालन योग्य होती है । स्त्री उस आत्मा को अपने गर्भ में पालन पापण्य करती है । उत्पन्न हो जाने पर उसका पिता उसको जातकर्म आदि द्वारा अपनाता है । पिता जो उस पुत्र को पालता है एक प्रकारसे अपने को ही उस रूप में विचार करता है वह भी इसलिये कि ये लोक सन्तति द्वारा ही फैलते हैं, इसलिये वह लोक सन्तति बना ही रहे । इस प्रकार पुत्र का यह जन्म आत्मा का द्वितीय जन्म है । यही आत्मा बड़ा हो जाने पर पुनः शास्त्रोक्त विधि द्वारा पिता का प्रतिनिधि होकर उसके स्थान पर हो जाता है । और इधर यह पिता का आत्मा जीवन को सफल करके बड़ा हो, चला बसता है । यहाँ से जाकर पुनः वह पैदा हो जाता है । यह उसका तृतीय जन्म है । इसी प्रकार वेदमंत्र ने भी कहा है कि—( गर्भे नु सन्निधि० )—  
 अर्थात् ' मैंने गर्भ में ही इन देवों के सब रूप जान लिये मुझे छोड़े के सौ कोट घेरे हुए थे इयं पृथ्वी के समान में आत्मा बड़े वेग से निकल आया' इति । गर्भ में ही सोते हुए वामदेव ने इस प्रकार कहा । यह वामदेव इस शरीर के बन्धन का तोड़कर परलोक में सर्वसिद्धांत होकर अमृत, मुक्त हो गया ।

उपनिषत्कार ने यह एक वेदमंत्र की सन्तति जगा कर दर्शाई है और आत्मा के अमर होने का और मुक्त होने का सिद्धांत दर्शाया है । इसी प्रकार अन्य २ मन्त्रों की भी व्याख्या सादर्यों और आरपण्यों में प्राप्त होती है । इस व्याख्या में दो स्थान देने योग्य विचार विन्दु हैं जैसे

( १ ) सो लोहे की कोठे (शत आयसी पुरः) और ( २ ) वाज के समान वेग से बाहर निकलना । इन दोनों घटनाओं का वर्णन प्रायः अग्नि और इन्द्र और साम तीनों दक्षताओं के विषय में रूपान्तर में आयेगा १०० पुरी ६६ पुरी या ६० पुरी का वर्णन जैसे—

१ इन्द्र के विषय में—

अथा दीती परिच्छद्य यस्त इन्द्रो मदेष्वा । अराहभवतीर्नव ॥

( साम० उ० अ० ६ । ५ । १ । १ )

इन्द्र ने सोम के मद में ६६ पुरियों का विनाश किया है ।

इन्द्र और अग्नि दोनों के विषय में जैसे—

इन्द्राग्नी नर्षित पुरो दासपन्नीरघूनुनम् । साङ्गमेकेन कर्मणा ॥

( साम० उ० अ० १६ । १ । १ । २ )

दोनों को शत्रु के ६० पुरी का विनाशक बतलाया है ।

केवल अग्नि के विषय में जैसे—

“प्रभूर्जेयन्त महाविषोधां मूरैरमूर पुरां दर्माणम् ॥”

( साम० पूर्व० अ० १ । ८ । २ )

उक्त सभी उदाहरणों में पुरों का या परकोठों का विनाश सर्वत्र समान है और संख्या भा ६६, १००, ६० समान ही है अतः इन सबकी संगति एक ही अर्थ में होना आवश्यक है । इस प्रकार उपनिषत् ने एक मंत्र की संगति दर्शाकर वेद के एव सभी स्थलों की व्याख्या कर दी है । प्रायः उपनिषद्कारों, आरण्यककारों और ब्राह्मणकारों का पूर्ण ही व्याख्यान शैली देखने में आती है जिसमें वेदमन्त्रों की अध्यात्मव्याख्या स्पष्ट हो जाती है । परन्तु भाष्यकारों ने इन व्याख्याओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया ।

अब हम सामवेद गत देवताओं पर विचार करते हैं ।

## सामवेद के देवता ( ६ )

सामवेद गत देवताओं पर विचार करने के पूर्व देवता शब्द पर सामान्य रूप से विचार कर लेना उचित है । इस विषय पर वेद विषय में प्रमाण ग्रन्थ सबमे अधिक यास्क का निरुक्त है । यास्क लिखते हैं—

“यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्धपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयु-  
ञ्जेत् तद्देवता स मन्त्रो भवति” ।

जिस वस्तु की अभिलाषा करके मन्त्रद्वारा अपि जिस देवता में अपने अभिप्राय का स्वामित्व निश्चिन जानकर स्तुति करता है उस मन्त्र का वही देवता कहा जाता है ।

वेदों की अध्याए तीन प्रकार की है ( १ ) परोक्षकृत ( २ ) प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक । परोक्षकृत मंत्रों में देवता को प्रथम पुरुष बनाकर क्रिया में भी प्रथम पुरुष का व्यवहार किया है । प्रत्यक्षकृत मंत्रों में 'तू' इस प्रकार देवता को कट कर क्रिया में मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है और आध्यात्मिक में 'महं' इस प्रकार उत्तम पुरुष का प्रयोग किया गया है ।

निरुक्तार यास्क लिखते हैं—

माहाभाग्याद्देवताया. एक आत्मा बहुधा स्मृत्यते । एवस्य  
आत्मानाऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । अपिच सत्त्वानां प्रकृति-  
भूमिभि ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः । प्रकृतिसार्वनाभ्याच्छतरेण  
जग्मानो भवन्ति. इतरेण प्रकृतयः फर्मज्जमानः आत्मज्जमानः ।  
आत्मैव एषां रथो भवत्यात्मा अथ आत्मा आयुधम्, आत्मा  
इषयः आत्मा सर्वं देवस्य० ।” इत्यादि ॥

अर्थ—देवता का बड़ा ऐश्वर्य होने से एक आत्मा का बहुत प्रकार से वर्णन किया गया है । एक आत्मा के ही अन्य देवता अन्न प्रत्यन्न हो जाते हैं । और नाना प्रकार के सामर्थ्य देखकर भी अनेक नामों से श्रुतियों ने श्रुतिया की है । और वह आत्मा सब पदार्थों में समान रूप से मूलकारण होने से सभी नाम उस महान् आत्मा के ही होने सम्भव हैं, इस कारण से भी उस ही आत्मा की नाना नामों से श्रुति की जाती है । उस महान् आत्मा का ऐसा ही विशेष ऐश्वर्य होने के कारण वेद के देवता इतरेतरेजन्मा हैं अर्थात् एक दूसरे के मूलकारण और कार्य हो जाते हैं । बहुत से कर्मभेद से देवताओं की कल्पना है । परन्तु वह सब महान् आत्मा से ही उत्पन्न है । वही उनका रथ है, वही अश्व है, वही आयुध है, वही हनु है, वह सब कुछ देव परम आत्मा स्वयं है । बहुत से स्थलों पर पुरुष के समान अर्जों वाला देवता मान कर उनकी श्रुति की है और पुरुष के समान ही उसके कर्म भी दर्शाये हैं जैसे—

आ ह्याभ्यां हरिभ्यामिन्द्र यांहि" हे इन्द्र दो घोड़ों से आप आओ । और जैसे " अग्नि इन्द्र गिय च" हे इन्द्र न्या और पी इसी प्रकार अचे तन पदार्थों से भी देवता की श्रुति की है । जिस प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य सोम, प्रावा आदि नामों से भी बहुतसी श्रुतिया है । परन्तु सब स्थानों पर पुरुषों के समान ही कर्म करने वाले देवता का निरूपण किया है ।

देवता का क्या स्वरूप है इसकी व्यवस्था के लिये निरङ्गकार पारक का मत है कि तीन ही देवता हैं पृथिवी पर अग्नि अम्तरिच में वायु या इन्द्र और धौ में सूर्य । या देवताओं के महाऐश्वर्य होने से और नाना कर्म होने से एक के ही बहुत से नाम हैं । जहा कर्म पृथक् २ होने से देवता पृथक् पृथक् हैं वहां जिस प्रकार बहुत से कर्म करने वाले एक ही काम को आपस में बांटकर कार्य करते हैं उसी प्रकार वे भी रहते हैं, वे एक



दूसरे के उपकारक भी हो जाते हैं । यहाँ इनकी व्यवस्था नरराष्ट्र के समान ही समझनी चाहिये ।

और भी स्पष्टता के लिये निरङ्कार ने इन देवताओं को तीन विभागों में बांट दिया है । इषि का घहन करना देवताओं का आवाहन करना या दृष्टिविषयक सब काम अग्निविषयक समझा जाय । पृथिवी स्थानी देव गण अश्व, शकुनि आदि निघण्टु ( प्र० ५ ख० ३ ) में पढ़ दिये हैं अग्नि के सस्तविक देव इन्द्र, सोम वरुण, पञ्चम्य, अतु है । अर्थात् इन नामों से भी अग्नि की स्तुति की गई है ।

इसी प्रकार मध्यस्थानी देवता निघण्टु ( प्र० ५, ख० ४, ५ ) में पढ़ दिये गये हैं । उनमें मुख्य इन्द्र या वायु है । सब बल कम इन्द्र नाम से कहे जाते हैं, इसका कार्य रस का अनुप्रदान करना और वृत्र का बध करना है । अग्नि सोम, वरुण, पूषा, ब्रह्मरूपि ब्राह्मणरूपि, पर्वत कुत्स विष्णु, वायु आदि इसके सस्तविक देव हैं । तृतीय स्थान के देवता निघण्टु ( ५, ख० ६ ) में पढ़े गये हैं । रश्मियों से रस का लाना और धारण करना आदित्य का कार्य है । इसके सस्तविक देव चन्द्रमा, वायु और सवत्पर हैं ।

निरङ्कार यास्क का यह देवता विभाग कवल भौतिक विज्ञान के धर्मेण में ही लागू होता प्रतीत होता है । समाज चक्र में वेदज्ञान को प्रवृत्त कराने के लिये यास्क की व्याख्या कवल यही है कि "नदेध्नर राष्ट्रनिध" नरराष्ट्र के समान ही वेद में देवराष्ट्र की व्यवस्था समझनी चाहिये । इस प्रकार उन्होंने देवनामा से यथास्थान राज्यव्यवस्था, और समाज की वर्णव्यवस्था का भी घहन निकल आया । और अध्यात्म धर्मेण के लिये यास्क का सिद्धांत यही है कि ' महाभाग्याद्देवतानां एक आत्मा बहुधा स्तूयते । एक ही महान् आत्मा को उसके महान् गुणों के कारण नामरूप से स्तुति का गई है ।

इसीलिये देवकायड या ज्ञान या कर्मकायड की व्याख्या कर चुकने पर स्वयं निरुत्कार ने ऊर्ध्वमार्ग गति या उपासना मार्ग पर दृष्टि डालकर लिखा है। अथैतदनु प्रचदन्ति अथैतं महान्तमा भानमेपमार्गः प्रच दति । इन्द्रमिन्द्र यरुणमाग्निमाहुरिति । यह सब अर्चाओं का समूह उस महान आत्मा का ही वर्णन करता है । इस प्रकरण में वास्क ने सोम, इन्द्र, आदित्य विष्णु आदि देवताक अर्चाओं का उल्लेख करके आध्यात्म विषय को उत्तम रीति से दर्शाया है । इसमें यही ध्यान देने योग्य बात है कि महान् आत्मा के निम्नलिखित पदांश वास्क ने दर्शाये हैं—

इस । धर्म । वज्र । वेन । मेघ । कृमि । भूमि । विभु । प्रभु । शंभु । रामु । भुवनम् । भविष्यम् । आप । महत् । व्योम । यश । मह । स्वर्णांकम् । स्मृतीकम् । सतीकम् । सतीतम् । गहनम् । गभीरम् । गह्वरम् । कम् । अघ्नम् । इवि । सघ्न । सदनम् । धनम् । योनि । अमृतस्य योनिः । सत्यम् । नीरम् । हवि । रयि । सत् । पूर्यम् । सर्वम् । अशितम् । बर्हि । नाम । सरिः । अपः । पवित्रम् । अमृतम् । इन्दु । हेम । स्व । सर्गा । शम्बरम् । अम्बरम् । विवत् । व्योम । बर्हि । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशम् । आप । पृथिवी । भू । स्वयम् । आत्मा । पुष्करम् । सगर । समुद्र । तप । तेजः । सिन्धु । अण्डम् । नाभि । वृष्ट । ऊर्ध्व । तत् । यत् । किम् । मह्य । वरेयम् । इस । आत्मा । भवति । वधन्वद्वानम् । पद् वाहिव्या शरीराणि । अल्पव च संस्तुरते । यज्ञ आत्मा भवति । पदेनं तन्वने ।

इन हेम आदि उक्त शब्दों से आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को चेदमन्त्रों में दर्शाया गया है । इसलिये आत्मा तब के खोजक को चाहिये कि वेद मन्त्र पर विचार करने क पूर्व ही प्रथम इन शब्दों की उपासिति धं

देखते और फिर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार कर तो नि मन्दह मन्त्र का आध्यात्मिक रहस्य खुल जाता है । अथ हम सामग्र्य गत देवताओं की सङ्घ से एक २ की आलोचना करते हैं और बालाते ह कि किय प्रकार उपासनाकारण में इन देवताओं की सगति लगती है ।

### अग्नि ( १० )

प्रथम आग्नेय कारण है । इस कारण भर में अग्नि देवता का जप्य करके ही सब मन्त्र हैं । यह अग्नि क्या पदार्थ है । इसका विवेचन वेद क सिद्धान्त या आध्यात्मिक उपनिषद् में देखिये ।

( १ ) कटापनिषद् में नचिकता न गुरु यम से प्रश्न किया है—

स एवमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्र हृदि नं श्रद्धधानाय मह्यम् ।

आप उम स्वर्ग देने वाले अग्नि का जानते हो मुझ श्रद्धालु को उसका उपदेश करो । इसका उत्तर में यम न कहा है ।

प्र ते प्रीमि तदु मे निशोष स्वर्ग्यमग्निं नचियेन प्रजानन् ।

अनन्तलोकान्तिमथो प्रणिष्टा विद्धि त्वमेतन्निहित गुहायाम् ।

लोकान्तिमग्निं तमुवाच तस्मै० । इत्यादि ।

काठ० १ । १ । १३ । १४ ।

मैं तुमको उमो स्वर्ग देने वाले अग्नि का उपदेश करता हू । यह अनन्त लोकों को प्राप्त करता और अनन्त लोक का आध्यात्मिक स्थान है । यह सब लोक का आदि मूल कारण है ।

इस अग्नि का नाम भी नचिकता अग्नि ही है ।

पाठक समझ सकते हैं यह कौनसी अग्नि है । यह नचिकता अग्नि 'नासिकेन' वायुस्वरूप अग्नि है ।

आत्मा का प्रतिपादन करते हुए पुन लिखा है —

अग्नेयोर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भर्णीभि (५०२।१।८)  
दिवे दिव इड्या जागृनाद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निरेतद्वै तत् ।

गर्भिणी जिस प्रकार गर्भ को धारण करती है उनके समान अराणियों में जो जातवशा विद्यमान है, जागने हार हविष्मान् पुत्रों द्वारा प्रतिदिन स्तुति करने योग्य जा अग्नि है, वह यह अग्नि आत्मा है । अर्थात् आत्मा का प्रतिनिधि ही यज्ञाग्नि है हमरा पदाथ नहीं । फलत यज्ञाक्र मंत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य वह आत्मा ही है । मन्त्रों का तो कवल प्रतिनिधिपाद सं यज्ञों में विनिपाद्य किया जाता है । ( हम उक्त मन्त्र की १५९ व्याख्या देखिये अवि० स० ७१ ) यह यही अग्नि है, हृदय में छुपे हुए जिसको योगी लोग ध्यान निर्मथन क अभ्यास स साक्षात् देख लेते हैं ।

( २ ) इस रहस्य का अंतराधर उपनिषद् में बड़े उत्तम रूप में रखा है ।

चन्द्रेयथा योर्नरतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाथ ॥  
स भूय एतेन्यनयोनिप्राह्यस्नद्धोभय धै प्रणयेन देहै ॥

जिस प्रकार अपन कारण भूत अराणियों में अग्नि को मूर्ति नहीं देख पड़ती और न अग्नि क सूक्ष्मरूप का विनाश ही होता है और याद में भी उसको ठगके मूलकारणभूत हृदय से ही मथन द्वारा प्राप्त किया जाता है उमा प्रकार शैना आत्मारूप अग्नि में भी हम देह में प्रत्यक्ष क मनन स प्रकट हात है ।

अर्थात्—अग्नेहमग्निं कृत्वा प्रणय चोत्तराणाम् ।

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देव पश्येदगृहवत् ॥

अपने देह आत्मा को अधर अराणि और प्रणव ओंकार को उत्तर अराणि बनाकर ध्यानरूप मन्थन दण्ड को पुनः रगद २ कर ज्यातिःस्वरूप, देव, अर्थात् प्रकाशस्वरूप आत्मा का दर्शन करे ।

तिलेषु तैलं दधिनील सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः ।  
एवमात्माऽऽत्मानि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥

तिलों में तेल, दही में घी, नादियों में जल और अराणियों में अग्नि जिस प्रकार उपलब्ध होती है उसी प्रकार आत्मा में ही यह परमात्मा व्यापक रूप में जाना जाता है, योगी जन उसको सत्य अर्थात् भूतहित, अहिंसा आदि धर्म, नियम, सत्याचरण और तप से प्राप्त करते हैं ।

इसी अभिप्राय को दर्शाने वाले अन्य वाक्य भी देखने योग्य हैं ।  
जैसे—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्प्राय सविता धियः ।

अग्नेर्ज्योतिर्निश्चाय्य पृथिव्या अन्याभरत् ॥

अर्थ—अग्नि के प्रकाश को ही मानो सविता जगदुत्पादक प्रभु ने इस पृथिवीरूप देह में क्षिपाया था । अर्थात् पृथिवी में जिस प्रकार अग्नि है उसी प्रकार देह में आत्मा है । इसी प्रकार—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रः तदु मल्ल ता आपस्तस्तत्प्रजापतिः ॥

नील. पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तद्विद्गमं श्रुतवःसमुद्राभः

अनादिमत्स्यं धिभुज्येन वर्त्तसे यता जातानि भुयनानि विभ्या ॥

इन दो मन्त्रों में अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, मल्ल, आपः, नील, पतङ्ग, हरित, लोहिताक्ष आदि सप्त नाम उर्ध्वी मल्ल परमात्मा के गुण एवं स्वरूपके निर्देशक हैं ।

मैत्रायणी उपनिषद् में:—

‘अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुंकरे एवाधितोऽन्नमत्ति स एषोऽग्निर्दिवि ध्रिव, सोऽयं कालाशयोऽद्वयः सर्गभूनान्नमत्ति ।’  
( मैत्रा० ५ । २ )

‘ हृदय कनज में स्थित यह अग्नि ( आत्मा ) है जो अन्न खाता है और वह मोक्षधाम, धी० में स्थित कालामि नामक परमेश्वर रूप अग्नि है जो प्रलय काल में समस्त भूतों को खाजाता है, खीन कर लेता है ।

‘ एष हि पशु आत्मा ईशानः शंभुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृद् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंस शान्तो विष्णुर्नारायणोऽर्क सविता धाता सम्राज इन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निनापिहितः सहस्राक्षेय ध्यानन्दमयेनैष वा विजिष्ठासितत्र्योऽन्वेष्टव्यः । ( मैत्रायणी उप० ५ । ८ )

वही आत्मा ईशान, शम्भु आदि नामों से कहा जाता है वही अग्नि अयोतिः अर्थात् प्रकाश से आवृत होकर प्रकाशित होना है ।

शिरः पक्ष्मिं पुच्छशृष्ट्रगानेषोऽग्निः । प्राणो वै वायुः प्राणोऽग्निः । अन्मौ वा आदित्य इन्द्रः सैषोऽग्निः ५६ ३६ ॥ इक्षोऽग्निरिय विश्वरूपः ॥

इत्यादि स्थलों में यह परमेश्वर ही अग्नि शब्द से लिखा गया है उपरोक्त ही

‘तस्मादग्निर्यष्टव्यश्चेतव्यः’ ॥ ६ । ३४ ॥

इत्यादि स्थलों में उपासना करने का उपदेश है ।

प्रयोगविषद् में—

‘स एष वैभ्रानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निश्चक्षते ।’

## इन्द्र ( ११ )

लौकिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ राजा है । पौराणिक साहित्य में इन्द्र एक काश्चित् स्वर्गका राजा और अपनी दश कथाओं का विलासी पात्र है । परन्तु वैदिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ आत्मा है । आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ग्रहण है । जैसा इस दंड में आत्मा है उसी प्रकार विधग्ण ब्रह्माण्ड में परमात्मा है जिसका वर्णन 'अग्निर्मूर्धा च-  
जुपी चन्द्रसूर्यौ इत्यादि विशाल अक्षरों से किया जाता है । इसी को 'यम्य भूमि- प्रमाऽन्नरिक्षमुनोदरम्' इत्यादि अक्षरों से अष्ट ब्रह्म बतलाया है ।

यह अन्तरात्मा इन्द्र है । इसके लिये सर्व प्रसिद्ध प्रमाण देह की इन्द्रिया हैं जिनका नाम ही इन्द्र क आधार पर है । पाणिनि आचार्य ने इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति लिखी है—

इन्द्रियमिन्द्रतिक्कामिन्द्रदृष्टमिन्द्रक्षुष्टमिन्द्रक्षुष्टमिति वा  
( पा० २ । २ । ६३ )

इन्द्र आत्मा का ज्ञापक जिज्ञा उसका देहा, उससे उत्पन्न, उससे सेवित और उसकी शक्ति से युक्त होने के कारण ही इन्द्रिय कहाने हैं । इसके अतिरिक्त सब कथा कथानकों में प्रसिद्ध पुराणगत इन्द्र कोई पदार्थ नहीं है । यह भी आज्ञाकारिक रूप से इसी इन्द्र आत्मा क सम्पत्त, विद्व, वैश्वदेवान् आदि रूपों का दर्शाया है । दूसरा इन्द्र वह परमात्मा है जिसका वर्णन वेद में स्थान ० पर आता है । जैसे 'इन्द्रा महा रोदसी पप्रथ चक्षुया' ( साम० उत्त० अ० १६ । २ ८ । १ । )

अब यह तो पाठक भाव्य में देखेंगे कि समस्त इन्द्र पदों इन्द्र विषयक है और उत्तरार्चिक में भी इन्द्र विषयक बहुतसी जगहों हैं ।

यहां थोड़ासा उपनिषदों के मन्त्रों का उल्लेख करते हैं—

( १ ) एतरेय उपनिषद् में—

‘स एतमेव पुरुष ब्रह्म तनमपर्यद् इदमदर्शमिती २ तस्मा  
दिद-द्रा नाम । इद-द्रो ह वै नाम तमिदन्द्र सन्ताद-द्र इत्याचक्षते  
परोक्षेण । परोक्षप्रिया हि देया ।

यह सुमुक्त इस पुरुष का ही ब्रह्मरूप स देखता है ।

और कहता है ‘इदम् अदर्शम्’ इससे उस ब्रह्म का नाम ‘इदन्द्र’  
है इसका ही पराक्षरूप ‘इन्द्र’ है ।

बृहदारण्यक में—

इ-धो ह वै नाम एष योऽय दक्षिणेऽक्षान् पुरुष । त ना एन  
मिन्द्र स-तमिन्द्र इत्याक्षते ४ । २ । २ ॥

दक्षिण अक्ष में दक्ष रूप से विराजमान आत्मा ही इ-ध’ है उसका  
ही इ-द’ कहते हैं, स इन्द्र स एषोऽक्षप न ( १ । २ । १२ ), यथा  
घौरिन्द्रेण गर्भिणी ( ६ । ४ । २२ ) । इन्द्रस्याय व्रज कृत्वा सार्गल  
सपरिथम ( ६ । ४ । २३ ) इन स्थलों पर इन्द्र जीवात्मावाचक है ।

तैत्तिरीय उपनिषद् में—

स मे इन्द्रो मथया स्पृष्टातु । ( १ । ४ । १ ) श न इन्द्रो बृह  
रूपति । ( १ । १ । १ ) स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा । सामवेद उत्तरा०  
अ० १ । ८ ) इन स्थलों पर इन्द्र शब्द परमात्मावाचक निर्विवाद है ।

यहां विवाद याग्य बात यही है कि सामवेद में इन्द्र के साथ दा तान  
निशेध घटनाएं प्रायः जुड़ी हैं । एक तो इन्द्र का सामधान दूसरा इन्द्र का  
घञ्ज से पुर भदन और तीसरा घृत्नहनन । उपनिषत्कार इनका क्या मानते  
हैं इस पर भी कुछ प्रकाश डालना उचित है ।



१ सोमपान के प्रकरण को सोमदेवता के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। पुर भेदन के विषय का अग्नि के प्रकरण में स्पष्ट कर आये हैं। वज्र क विषय में गीता में व्यासदेव स्वयं भगवान् को ही 'आयुधानामह वज्रम्' सब आयुधों में श्रेष्ठ वज्र स्वीकार करते हैं। सब दुखों क भवबन्धन क छुदन करने द्वारा ईश्वर ही स्वतः ज्ञानस्वरूप सबसे उत्तम वज्र है।

काठक उपनिषद् में-

प्राण एजति नि सृतम् । महद् भय वज्रमुद्यतम् ।

य तद् विदुरमृनास्ते भवन्ति । ( ६ । २ )

ईश्वर की शक्ति प्राण को वज्र कहा है।

चुरिकोपनिषद् में-

मनसस्तु चुर गृह्य सुतीक्ष्ण बुद्धिनिर्मलम् ।

इन्द्रवज्र इति प्रोक्तम् ॥

ज्ञान ध्यान में तत्पर मन को ही वज्र लिखा है। उस वज्र द्वारा सुषुम्ना सहित १०१ नादियों के बन्धन का ध्यान योग से काटता है। जैसे लिखा है-

द्वाप्तततिसहस्राणि पतिनाडिषु तैतिलम् ।

छिद्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नेका न छिद्यते ।

योगनिर्मल प्रारेण चुरेणानलप्रचंसा ॥

छिन्द्रेनाडिशत धीर प्रभावादिह जन्मन्ति ॥

य शत नाड़ी ही प्राप्त होती हैं जिनको कहीं १६ या १० भी कहा जाता है। इनमें व्यास तैतिल=अन्यकार को ही अर्थात् ध्यान वृत्त कहने है। इसका विवरण स्याग २ पर पाठकगण भाष्य में ही देखेंगे। इन्द्र और वृष की कथा की आनुकारिक व्याख्या का विस्तृत विवरण महर्षि न

अग्नेदि भाष्यभूमिका में स्पष्टरूप से 'ग्रन्थग्रामाण्याग्रामाण्याविषय' में कर दिया है। उसको पुनः यहाँ उठाकर रखना पिष्टपेषण होगा।

## ( १२ ) सोम देवता

सोम क्या पदार्थ है इसका निर्णय कठिन है। याज्ञिक लोगों का सोम एक जता है, जिसका रस पान करने के लिये विशेष विधि है। जो सोमपान तैयार करने की विधि महीधर आदि भाष्यकारों ने दी है वह बहुत सरल है। सर्ज की छाल, त्रिफला, सूठ, पुनर्नवा पीपल, गजपीपल आदि नाना शोषधियों में धान और जौ की रीसों मिला, फूटकर उनको कलश में बंद करके, उसे तीन दिन तक रक्खा जाता है और फिर उसे कम्बल के टुकड़े से छानकर उसमें दूध मधु आदि मिलाकर पान किया जाता है। छानने और पान करने का इन सब क्रियाओं को करते समय सोम देवता के मन्त्रों का पाठ किया जाता है परन्तु उनमें सोम कोई पदार्थ नहीं गिना जाता है। उसमें प्रतिनिधि वाद स हा साम की कल्पना करके सोमदेवताके मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। महीधर के काल के सोम सौग्रामणिको देखकर यह कहना कि समस्त सोमदेवताके मन्त्र इसी सुरास्य सोम का वर्णन ही करते हैं यह भारी भूल होगी। गार्हपत्य मन्त्रों ने यज्ञ में रसी यज्ञक्रियाओं की स्थापना करने का यत्न किया है। उसमें वे सोम के निमित्त प्रतिनिधि पदार्थों का मन्त्र में आय शब्दों का अर्थ स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत, जिस मुख्य अर्थ के अभिप्राय से वह शब्द मन्त्रों में पढ़ा गया है उसका ही यहाँ खोलकर बतला देते हैं ! इस प्रकार गार्हपत्य और श्रौतियों के मत से वह मन्त्र सोमद्रव्यपरक न होकर अप्यारामपरक हो जाता है। यज्ञकाण्ड को खोलकर दिखान एवं उसके यज्ञव्याख्यानुसार सोमपरक मन्त्रों की अध्यात्म स्थापना कर दिखाने के लिए यहाँ स्थान नहीं और न यहाँ अवसर है। तो भी गार्हपत्य

कारों ने सोम, सवन के प्रकरण में सोम के जो २ अर्थ किये हैं उनपर पाठकों का ध्यान रींचते हैं ।

जैसे—

श्रीर्वै सोम (श० ४।१।३।६) राजा वै सोमः (श० १४।१।३।१२) यदाह गयोऽसि इति सोमं वा एतदाह (गो० ५०।५।१४) सोमो वै प्रजापति (श० ५।१।५।२६) यदाह श्ये नोऽग्नि इति सोमं वा एतदाह । एष ह वा अग्निर्भूत्वा संश्यायति । (गो० ५०।५।१२) यो वै विष्णुः सोम सः (श० ३।३।४।२१) योयं (वायुः) पवते एव सोमः (श० ७।३।१।१) स यदाह सम्राड् असि इति सोमं वा एतदाह । एष ह वै वायुर्भूत्वा अन्तरिक्षलोके सम्राजनि । (गो० ५०।५।१३) एष वै यजमानो यत् सोम (तै० १।३।३।५) क्षत्रं वै सोमः (श० ३।४।१) १०) सोमो वै यशः (तै० २।२।८।८) एषा क्वला यत्सोमाहुति (ग० १।७।२।१०) प्राणः सोमः (श० ७।३।१।४५) रेतः सोमः (पे० १३।७) सोमो वै ब्राह्मण (तै० २।७।३।१) एष वै ब्राह्मणानां सभासाह । सखा (श० १०।७।१।१०) इत्यादि ।

अर्थात्—सोम के अर्थ श्री, राजा, प्राण, प्रजापति, गूढरूप, अग्नि विष्णु, परमात्मा, वायु, सम्राट्, क्षत्रिय, वीर्य, यश, केवल आनन्दमय, परब्रह्म का लय, वीर्य और ब्राह्मण आदि सभी सोम शब्द से लिये जाते हैं और प्रकरणानुसार सभी अर्थ सोम क स्थान २ पर लिये भी गये हैं । प्रकरणों का परिज्ञान मन्त्र क भीतर आये विशेषणों से जाना जायगा । यदि विगण्य कुछ अर्थ दण्डों और वहाँ सोम के कुछ और अर्थ ले लिये जायें तो यह वेद मन्त्र के साथ बड़ा अस्वाभाव होगा ।

सोम को सोमविक्रयी से खरीदकर बड़े आदर से शकट पर लादकर उभे पाथरों से ढूटा जाता है और पुनः उसे दशापवित्रनामक वस्त्र से एक दाणकलश नामक घट में छान लिया जाता है । दाणकलश में लज्ज होते हैं उनको 'सतीवरी' नामक 'घाप' कहा जाता है । जिस वस्त्र से छाना जाता है उसको बालों से बना होने के कारण 'शन्वा' या 'श्वय्य' या 'श्वया वार' शब्द से पुकारा जाता है । उसी को दशापवित्र या पवित्र नाम से भी पुकारा जाता है । सामवेद के प्रायः बहुतसे मंत्रों में साम को इम पवित्र' नामक वस्त्रखण्ड से छानने का वर्णन किया है । सायण ने प्रायः बहुतसे मंत्रों में से सोम के छानने जान परक कई अर्थ जिये हैं । परन्तु इनमें सायणकृत अर्थों की उपेक्षा की है क्योंकि सोमलता और ढूटा हुआ सोमरस जो जड़ पदार्थ हैं उनमें ऐसे विशेषणों का ध्यान जो जड़ पदार्थ में नहीं लग सकता इमें सायणकृत अर्थों के न मानन के लिये बाधित करता है । उदाहरणार्थ—

जैस—

पुनान सोम जागुविरध्या वागै परिप्रिय ।

विप्रोऽमघोऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञ मिमिक्ष ण ॥

( अवि० स० ५१६ )

सायण ने इसका अर्थ यह किया है—

' हे साम जागरणशील छाना जाता हुआ तू मेरी=भेद के बालों से बने दशापवित्र नामक वस्त्रखण्ड पर बहता है, हे अगिरों में श्रेष्ठ मेधावी तू पितरों का नेता होता है, वह तू हमारे यज्ञ को मधु अर्थात् अपने रस से सौंच ।

सोमरस को अवरय यज्ञ में भेद के बालों से बने कण्डू के टुकड़े से छाना जाता है इसमें सम्यक् नहीं । परन्तु उक्त मन्त्र में 'जगुवि'=जागरणशील, 'विप्र'=मेधावी, 'अङ्गिरस्तम'=अङ्गिरसों में श्रेष्ठ, ये विशेषण

ऐसे हैं जो कभी जड़ सोमरस पर लगने उचित नहीं है, इसलिये सायण का अर्थ अशुद्ध है, क्योंकि इसमें योग्यतारहित पदों से वाच्य बनाया गया है। जिस वाच्य के पदों में योग्यता, अकाञ्चा और आसक्ति तीनों हों वही वाच्य कहाता है अन्वया उन्मत्तत्वात् है। इसी प्रकार 'जागृवि' आदि विशेषण किसी चेतन की आकाञ्चा करते हैं क्योंकि उनमें चेतन में लगने की ही योग्यता है, परन्तु सायण ने उन विशेषणों को एक जड़ पदार्थ पर लगा दिया है इसलिये सायण का लिखा पदसमुदाय वाच्य नहीं बन सकता। क्योंकि जड़ सोमरस न मेधावी है, न अगिरसों में थोड़ा है और न जागरणशील है। तब प्रश्न यह होता है कि इसका सामर्थ्य क्या है ( देखिये आलोकभाष्य पृष्ठ २२७ ) 'अगिरस्तम' सोम क्या है इस पर विचार कीजिये। इसके अग्रे दृष्टा सक्षर्यि है। अर्थात् उपनिषत्कार जिन सात अगिरसों को शिर के सात प्राण बतलाते हैं उसके ज्ञाता इस तत्त्व को साक्षात् करते हैं अर्थात् सातमूर्धागत प्राण अपने में मुख्य अगिरा = अग के रसरूप मुख्य आसन्य प्राण या आत्मा को कहते हैं कि हे 'अगिरस्तम' सबसे अधिक प्रकाशमान ! हे 'जागृवि' जागरणशील तू कभी न सोने वाला है, शेष सब इन्द्रियाँ एक २ कर सां जानी हैं पर प्राणायामा कभी नहीं सांता। यदि वह सोजाय तो मृत्यु हो जाय, सोस न चले। वह स स खजाने क लिये उस समय प्राणरूप से जागृत रहता है वह आत्मा 'विप्र' अर्थात् मेधावी है मेधा बुद्धि उसके पास है, वह आत्मा ( प्रियः ) सबसे अधिक प्रिय और सबका प्यारक है।

'उपनिषत् कहती है—“न ह या अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आन्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति”।

स्त्री भाषा होने के कारण स्त्री प्रिय नहीं, प्रायुत अपने लिये ये कह जाया प्रिय है। वस्तुतः यह आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, इस प्रकार प्रिय हे सोम ! एव के प्रेरक ! तू ( अग्याः वर ) अग्नि के चारों, अर्थात्

भवि के बाल ? भेद के बाल नहीं, प्रयुत भवि=चितिशक्ति, जो सब अगा को रक्षा करती है, या भवि=गण, उसक वरण=धापार प्रवृत्ति इन द्वारा ( पुनान ) परिष्कृत हाता हुआ ( न यज्ञ मन्वा मिमिष ) हमारा यज्ञ का अमृत अर्थ व चेतन्य से सीधे ।

पाठक विचार कीजिये अब कोई बात असंगत नहीं रह गई। इसी प्रकार साधक आत्मा के प्रति यह उपदेश है कि वह अपना चितिशक्ति सचाँद और प्राण के निराधो द्वारा अपने को परिष्कृत शुद्ध करे और अपने यज्ञ, देवपूजा ईश्वरप्रायेधान को आनन्दमय और अमृतमय करे, अपने जीवन में आनन्द-धन का दर्शन करे । इसमें कोई खींचातानी की बात नहीं है । २५४ २ विशेषणों क बल से यदा सामशब्द आत्मापरक है ।

हमारे इस विचार के पोषक प्राचीन ब्राह्मणकारों के सिवाय एक परम वेदज्ञ महर्षि यास्क ही हैं । महर्षि यास्क ने परमात्मा और आत्मा के तत्व का वर्णन करने के लिये सोम देवता के मन्त्रों का भी उल्लेख किया है ।

जैसे—

सोम पथते जनिता मतीना, जनिता दिवो जनिता पृथिव्या ।  
( अत्रि० सू० ६२७ )

सोम मतियों का उत्पादक धी का उत्पादक और पृथिवी का उत्पादक है । यह तात्पर्य सोमरस पर नहीं लगता क्योंकि वह धी और पृथिवी को उत्पन्न नहीं कर सकता । इसलिये यास्क लिखत हैं—

‘अथैत महान्तमात्मानमेतानि सूक्तानि एता ऋचोऽनुप्रयदन्ति’

अर्थात् ये ऋचाएँ महान् आत्मा का वर्णन करती हैं । इसी को जी आत्मापरक भी लगाया है । लिखत है—

‘अथाध्यात्म सोम आत्माऽप्येतस्मादेव इन्द्रियाणां जनिता इत्यर्थ ।  
अपि वा सर्वाभिर्निर्भूतभिर्विभूतत आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे ।’

अर्थात्, अध्यात्म पक्ष में सोम आत्मा भी इसी मन्त्र से कहा गया है क्योंकि वह ( मतीना ) इन्द्रियों का उत्पादक है। अथवा वही सब विभूतियों को प्राप्त करता है इस प्रकार आत्मा की गति कही है।

ग्रह्या देवानां पदधी कवीनां...सोम. पवित्रमत्येति रेभन् ।  
( ऋ० ८ । ६६ । ६ )

इस मन्त्र को यास्कमुनि ने आधिदैविक पक्ष में सूर्य और अध्यात्म में आत्मापरक लगाया है। और 'दशापवित्र'='पवित्र' के सब रहस्य को स्वयं खोल दिया है। इस मन्त्र में सोम का 'श्येनो गृधाणां', 'महिषो मृगाणां' इत्यादि विशेषणों से उपदेश किया है और अन्त में कहा है कि वह 'पवित्र' पर शब्द करता हुआ जाता है। सायण के अनुसार तो "धर धराता हुआ सोम दशापवित्र नामक वस्त्र पर पढ़कर छन जाता है" यह अर्थ हुआ और बाकी विशेषण सब असंगत रह जाते हैं। यास्कमुनि कहते हैं—

“महिषो मृगाणामिति अयमपि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणां । श्येनो गृधाणामिति श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः । गृधाणि इन्द्रियाणि गृह्यतेर्ज्ञानकर्मणः, यत एतस्मिंस्तिष्ठन्ति ।”

अर्थात् मृगों में महिष अर्थात् मार्गण करने वाली, विषयों को ढूँढ निकालने वाली इन इन्द्रियों में सबसे बड़ा और गृधों में श्येन अर्थात् बाज, के समान, गृध अर्थात् विषयों के ज्ञानसाधन इन्द्रियों में से श्येन अर्थात् ज्ञान सम्पन्न वह आत्मा है। इसी प्रकार उक्त मन्त्र में देव, कवि, विप्र और वन ये सब नाम इन्द्रियों के हैं जो उनके भिन्न २ गुण दर्शाते हैं। उनमें यह आत्मा ही सबसे अधिक गुणशाली है, वह पवित्र अर्थात् इन्द्रियगण पर ही (रेभन्) स्तुवमान अर्थात् प्रशंसित होकर उत्तम रूप से ( अत्येति ) अधिक बलशाली होकर उनका भाग करता है, इस प्रकारः—

‘सोमं गावो धेनवो वावशाना ० ॥ अद्भ्यन्त्समुद्र ०

“ वृद्धसोमो वागृध्रे सुवान इन्द्रु ॥ महत्तत्सोसो मदिपथकार ० ॥

ये मन्त्र सोमपरक होकर भी आत्मपरक ही चारक मुनि ने मान हैं और स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

‘समुद्र आत्मा’, ‘इन्दुरात्मा’ ।

समुद्र और इन्द्रु दोनों शब्दों का अर्थ आत्मा है ।

जब चारक जैसा मुनि हमें सामदेवताक मन्त्रों को आत्मा के बचने में लगाने की दिशा दिखाता है तो कोई कारण नहीं कि उपासना कारणक परम वेद सामवेदक पावमान कारणक पृथ सोम सूत्रों का परम चरम अभिप्राय ईश्वर और आत्मापरक न हो । और इस विषय पर कुछ उपनिषदों के प्रमाण भी ध्यान देने योग्य हैं जिनको हम क्रम से देते हैं—

१. मैत्रेयी उपनिषद् में स्वहृदयार्चन प्रकार लिखते हुए लिखा है—

“विद्यागोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ।”

यहाँ आत्मा को ही ‘सोम’ कहा है । इसी प्रकार—

“सोमसंज्ञोऽयं भूतात्मा,”

स्पष्ट लिख दिया है । छान्दोग्य में कितना सुन्दर लिखा है—

“अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् । एष हि आत्मानं नश्यति यं ब्रह्मचर्येणाप्नुविन्दते । अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । नदरश्च ह वै एषश्च अर्णवो ब्रह्म लोके तृतीयस्यामितो दिधि तदैरमदीयं सरस्तदभ्वत्थ सोमसयनं तदपराजिता पूर्वहाणः प्रभुविमितं हिरण्यमयम् ॥”

( छा० ८ । १ । ३ )

अर्थ—यह जो ‘अनाशकायन’ और ‘अरण्यायन’ कहा जाता है । यह भी ब्रह्मचर्य का व्रत ही है क्योंकि बुधा पर वर करके और अरण्या



घास में गुह की अवीनता में रहकर जो ब्रह्मचर्य का पालन कर आत्मा के परम ज्ञान को प्राप्त करता है वह नष्ट नहीं होता । ब्रह्मलोक में 'अर' और 'यय' इन नाम के समुद्र या दो तालाब हैं । उसी तृतीय धी., स्वर्ग लोक में 'पूरुमदीय' नामक 'सरः' है और 'सोमसवन' नामक 'अश्वत्थ' है । वही 'अपराजिता' ब्रह्मपुरी है, वहा ही प्रसु परमेश्वर का दिवा ईश्वर ज्ञान या ब्रह्मज्ञानमय स्वर्ग है यह सब अध्यात्म ज्ञान की कथा है । यहां सोमसवन नामक अश्वत्थ आत्मा ही है, वह पूरुमद ज्ञानानन्दमय ब्रह्म ही यहां 'सरः' ताल या रसमय मोक्षपद हैं । वही ब्रह्मपुरी है वहा ही ब्रह्म ज्ञान है । यह सब आलंकारिक वर्णन है । इसी प्रकार—

“तन् मरुत उपजीवन्ति सांमेन मुखेन”

( छान्दो० २ ) ६ । १ )

यहां सोम का अर्थ प्राण हैं ।

“आर्द्रं उद्रेतसोऽसृजत तदु सोमः ।”

यहा सोम का अर्थ धीर्य है । सुरलोक में “सोमात्पजग्म्यः” ( १।१५ ) यहां सोम का अर्थ सूर्य है । “यास्तं सोम प्राणांस्तां जुहोमि” ( महाभारतपर्व० १७ । ६ ) यहां सोम का अर्थ आत्मा है ।

‘सोमं पिव वृत्रहन्’ ( महाभारतपर्व० २०२ ) यहां सोम का अर्थ ब्रह्मानन्द रस है । “अपाम सोममभूता अभूम” यहां आत्म ज्ञान और ब्रह्मज्ञान ही सोमाय है “सोमो भूत्वा रसात्मकः” ( गीता ) यहां सोम का अर्थ परमात्मा की शक्तिरूप समष्टि रस है । इसका अतिरिक्त सोमपान करने वाले पुरुषों के विषय में भी देखिये । ‘सोमपा अभयङ्करः’ ( महाभारत० उप० २० । ५ ) यहां सोम का अर्थ समस्त संसार है । उसका पाजन एवं प्रलयकाल में पान कर जाने वाले परमात्मा ‘सोमपा’ शब्द से कहा गया है । ‘त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः’ तीनों वेदों के ज्ञाता, योगाभ्यासी, ब्रह्मज्ञ, निष्पाप पुरुष ‘सो-

मय" शब्द से कहे गये हैं । इसी प्रकार ' इन्द्रियं सोमपीथ ' ( तै० १ । ३ । १० । २ ) यहाँ इन्द्रिय का सोम अर्थात् ज्ञान का पान करने द्वारा कहा है । "समिद्यं साम्याद्भर" हे साम्य ' शिष्य ' समिधा ल प्राप्तो । इस स्थान में ज्ञानविवासु शिष्य भी साम्य कह गये हैं । ब्रह्मविद्विष्य भगसि ( छा० उप० ४ । ३ । २ ) साम्य यदा भी शिष्य को ही सम्बोधन किया गया है । उपनिषदों में साम्य शब्द का बहुत ही अधिक प्रयोग आता है । गीता में भी—भूत्या पुनः सोम्यवपुर्महात्मा । इत्यादि प्रयोग हैं ।

इतने उद्धरणों से पाठक महोदय अवश्य सोम शब्द के विशेष अर्थों और प्रयोगों का देखकर विचार कर सकते हैं कि वेद साहित्य में सोम विषयक मन्त्रों पर किस रीति से विचार करना चाहिये । विस्तारभय से और अधिक न लिखकर यही कहेंगे कि आप स्वयं सामवेद का स्वाध्याय करें और मंत्रों पर विचार करें ।

## उषा देवता ( १३ )

कुछ मन्त्र और सूत्र उषा देवता के भी हैं । यह उषा देवता क्या पदार्थ है इसका निरूपण हम इस स्थान पर विशेष नहीं करना चाहते परन्तु आप कहेंगे कि इस विषयक मन्त्रों पर ही हमने विशेष विवरण खोजा है वहा देख लें ।

यों तो वेद का विषय बड़ा गम्भीर है । वेद के प्रत्येक शब्द में ज्ञान भाग हुआ है । जिस दृष्टि से विचार करें उस दृष्टि से नये २ सत्य और गूढ़ तथ्यों का प्रकाश होता प्रतीत होता है । परन्तु वेदों का स्वाध्याय छूट जाने से वेदमय सरस्वतीरूप कामधेनु के न तो परिपालक ही रह गये हैं और न उस रस का आस्वादन करने वाले भायुक ही रहे हैं, अस्तु ।

वास में गुरु की अतीवता में रहकर जो ब्रह्मचर्य का पालन कर आत्मा के परम ज्ञान को प्राप्त करता है वह नष्ट नहीं होता । ब्रह्मलोक में अरु और 'यय' इन नाम के समुद्र या दो तालाब हैं । उन्नी तृतीय सौ, स्वर्ग लोक में 'परमदीय' नामक 'सर' है और 'सोमसवन' नामक 'अश्वत्थ' है । वहीं 'अराविना' ब्रह्मपुरी है वहा ही प्रभु परमेश्वर का दिया ईश्वर ज्ञान या ब्रह्मज्ञानमय स्वर्ग है यह सब अध्यात्म ज्ञान की कथा है । वहां सोमसवन नामक अश्वत्थ आत्मा ही है, यह परमज्ञानानन्दमय ब्रह्म ही वहां 'सर' ताल या रसमय मोक्षपद है । वही ब्रह्मपुरी है वहा ही ब्रह्म ज्ञान है । यह सब आलंकारिक वर्णन है । इसी प्रकार—

“तन् मरुत उरजीयन्ति सोमेन मुखेन”

( छान्दो० ३ । ६ । १ )

यहा सोम का अर्थ प्राण है ।

“आर्द्र उडतसोऽसृजत तद्गु सोम” ।”

यहा साम का अर्थ वीर्य है । मुण्डक में “सोमात्पर्जन्यः” ( १।१२ ) यहा सोम का अर्थ सूर्य है । “यास्ते सोम प्राणांस्तां जुहोमि” ( महानारायणोप० १० । ६ ) यहा सोम का अर्थ आत्मा है ।

‘सोमं पिय वृत्रहन्’ ( महानारायणोप० २०२ ) यहां सोम का अर्थ ब्रह्मानन्द रस है । ‘अपाम सोममभृता अभूम’ यहां आम ज्ञान और ब्रह्मज्ञान ही सोमार्थ है “सोमो भूत्वा रसात्मक” ( गीता ) यहा साम का अर्थ परमात्मा की शक्तिरूप समष्टि रस है । इसक प्रतिरिक्त्र सोमपान करने हारे पुरुषों के विषय में भी दक्षिण । ‘सोमपा अमयङ्कर’ ( महानारा० उप० २० । ५ ) यहा सोम का अर्थ समस्त सत्ता है । उसका पालन एव प्रलयकाल में पान कर जाने हारा परमात्मा ‘सोमपा’ शब्द से कहा गया है । ‘त्रैविद्या मां सोमपा पूतपापा.’ तिनो वेदों क ज्ञाता, यागाभ्यासां, ब्रह्मज्ञ, त्रिपाप पुरुष सां

मप' शब्द से कहे गये हैं। इसी प्रकार ' इन्द्रिय सोमपीथ ' ( तै० १।३।१०।२ ) यज्ञा इन्द्रिय का सोम अर्थात् ज्ञान का पान करने द्वारा कहा है। "सामिद्ये साम्याद्भर" हे साम्य ' शिष्य ' समिधा ल आधो। इस स्थान में ज्ञानपिपासु शिष्य भी साम्य कह गये हैं। ब्रह्मविदित् भवति ( छा० उप० ४।८।२ ) सोम्य ब्रह्म भी शिष्य को ही सम्बोधन किया गया है। उपनिषदों में सोम्य शब्द का बहुत ही अधिक प्रयोग आता है। गीता में भी—भूत्वा पुनः सोम्यवपुर्महात्मा। इत्यादि प्रयोग है।

इतने उद्धरणों से पाठक महोदय अवश्य सोम शब्द के विशेष अर्थों और प्रयोगों का देखकर विचार कर सकते हैं कि वेद साहित्य में साम विषयक मन्त्रों पर किस रीति से विचार करना चाहिये। विस्तारभय न और अधिक न लिखकर यही कहेंगे कि आप स्वयं सामवेद का स्वाध्याय करें और मंत्रों पर विचार करें।

## उपा देवता ( १३ )

कुछ मन्त्र और कुछ उपा देवता के भी हैं। यह उपा देवता क्या पदार्थ हैं इसका निरूपण हम इस स्थान पर विशेष नहीं करना चाहते परन्तु आप्रह करेंगे कि इस विषयक मन्त्रों पर ही हमने विशेष विवरण खोजा है वहा देखें।

यों तो वेद का विषय बड़ा गम्भीर है। वेद के प्रत्येक शब्द में ज्ञान भरा हुआ है। जिस दृष्टि से विचार करें उस दृष्टि से नये २ सत्य और गूढ़ सत्वों का प्रकाश होता प्रतीत होता है। परन्तु वेदों का स्वाध्याय छूट जाने से वेदमय सरस्वतीरूप कामधेनु के न तो परिपालक ही रह गये हैं और न उस रस का आरशादन करने वाले भावुक ही रहे हैं, अस्तु।

## ( १४ ) उपसंहार

उपसंहार में हम पाठका का इस भाव्य की कुछ विशेषताओं के सम्यक् में भी दो एक बात कहना चाहते हैं। वदमन्त्रों की भाव्यशैली बहुत सरल रखी गई है। जहां तक हा सका है वेदक प्रत्येक पद को पृथक् २ काष्ठों में रखकर धातु अर्थ को दर्शात हुण मन्त्र का संग्रह अर्थ कर दिया है। अग्नि इन्द्र यदि विशेष देवता वाचक शब्दों का प्रायः यथास्थान स्पष्ट कर दिया है। केवल अर्थमात्र पढ़न से हा उसका सरल अर्थ आप से हा आप स्पष्ट हो जाता है। विशेष मन्त्रों पर उपनिषद् आदि प्रमाण प्रयोग क उद्धारण दकर भावार्थ भी दर्शाया गया है। तिन शब्दों का विशेष अर्थ किया है उमका टिप्पणी दकर प्रमाणीत भा किया गया है। प्रत्येक मन्त्रक साथ अन्य वदसहितियों क जहां पाठभद् टिप्पणी में दिव गय है वहा प्रत्येक मन्त्र क स धर अन्य वद की प्रतीक भा द्दा है।

## ( १५ ) सामवेद के प्रतीक स्केत

सामवेद के तीन भाग हैं एक पूर्वार्चिक और दूसरा उत्तरार्चिक और तीसरा मध्यभाग महानाक्षी आर्चिक है। पूर्वार्चिक के ४ भाग हैं ( १ ) आग्नेय काण्ड, ( २ ) एन्द्र काण्ड, ( ३ ) पवमान काण्ड और ( ४ ) आरण्यक काण्ड। ये चारों काण्ड ६ प्रपाठक में बटे हुए हैं। सायण के अनुसार इनका पाच अध्यायों में बांटा गया है। प्रपाठकों में अर्धप्रपाठक और दशतियों का विभाग है। अध्यायों में सख्यों का विभाग है। परन्तु अर्ध प्रपाठक क विभागों में भी दशतियों की सख्या घटाकर आगे चढ़ती जाती है। इसलिये पूर्वार्चिक में अर्धप्रपाठकों को इमने अनावश्यकता ही जाना है। उत्तरार्चिक में २१ अध्याय और १ प्रपाठक है। इन प्रपाठकों के भा अर्धप्रपाठक है इनमें दशतियों का विभाग नहीं है। प्रत्युत सूत्रों का विभाग है। कई सहितियों में पूर्वार्चिक भाग में दशतियों की सख्या अलग २ कर दी है। इसलिये प्रायः सामवेद क मन्त्र की प्रतीक ( पूर्वा०, प्र०, अर्ध०, प्र०, दश०, अ० ) इस रीति से दर्शाते है।

## अन्तिम निवेदन

वेद के प्रगाढ विद्वानों के समक्ष मेरा यह आत्माक भाष्य एक बहुत ही तुच्छ आलोक है जा चतुष्मान् शास्त्रालोकक धामान् पुरुषों की दृष्टि में भी सामान्य दोषकालोक के समान है । यद्यपि माना विद्यासूयों के आलोकों के समक्ष दीपकालोक नगण्य है तो भी उनके अभाव में दीपकालोक भी लालनों के लिये पर्याप्त आश्रय है । मार्गमात्र दर्शा देने का प्रयाजन ही इस आत्माक से सिद्ध हो सकता है । गभीर गुहागत तत्वों का प्रदर्शन करने के लिये और भी अधिक विस्तृत सूयोलोककी आवश्यकता है । पुरातन विद्वानों के चरणचिह्नों पर चलते हुए इस तुच्छजन के आलोक प्रदर्शन में यदि कुछ त्रुटि भा हा गई हो तो मानुष स्वभाव के लिये वह असंगत नहीं, प्रत्युत बाधक के गिरन के समान वह भी शभा ही है । मेरे ग्रन्थ पर दृष्टिपात करते हुए बहुतसे विज्ञगण मरी त्रुटि दख कर इसलिये प्रसन्न होंगे कि उनको वह बात भी ज्ञात है जो मुझे नहीं ज्ञात है । उनकी इस प्रसन्नता पर मैं भी प्रसन्न होऊंगा यदि वे महानुभाव त्रुटिस्थल पर अपना विशेष ज्ञान मुझे जताकर महानुभावता प्रकट करें । जिसस अगला संस्करण और भी गुणमण्डपरूप में प्रकाशित हो । और यदि कबल अपना पाण्डित्य दिव्याने के भाव से या, किन्हीं अन्य दुर्भावों से कोई अन्यथा प्रस्ताप करेंगे और गुणप्रदण की अपेक्षा दोषप्रदण ही करने पर लगे रहेंगे तो ऐसे महानुभावों की कुचोदना पर किसी का वश नहीं और न उससे कोई सफल ही प्राप्त हो सकता । हम भी कुमारिल के शब्दों में यही कहना चाहते हैं—

आगमप्रवणश्चाह नापपाद्य स्खलक्षपि ।

नहि सद् वर्तमानागच्छन् स्खलितेऽप्यपोद्यते ॥ इति शिवम् ।

केसरगज  
अजमेर

}

विद्वानों का अनुचर  
जयदेव शुर्मा विद्यालङ्कार-  
मीमांसार्थ

# भूमिका विषय-सूची

		पृष्ठ
१.	उपक्रम	१
२.	सामवेद संहिता	२
३.	शाखाभेद	३
४.	साम ब्राह्मण	७
५.	साम संहिता	५
६.	सामवेदभाष्य	१२
७.	सिद्धान्त दिशा विचार	५
८.	इन्द्र	३२
९.	सोमदेवता	३५
१०.	उषा देवता	४३
११.	उपमंथार	४४
१२.	सामवेद के प्रतीक संकेत	४४
१३.	अन्तिम निवेदन	४६
१४.	ग्रन्थ संकेत सूची	४६
१५.	द्वितीय संस्करण की भूमिका	४७

ॐ ओ३म् ॐ

# सामवेदसंहिता

पूर्वार्चिकः ( छन्द आर्चिकः )

आग्नेयं कारुडम्

प्रथमप्रपाठकस्य प्रथमाऽर्द्ध



प्रथमोध्यायः

परमेश्वर की स्तुति

॥ ६० १ ॥ १, २, ४, ७, ६ भरद्वाजेन बार्हस्पत्ये १ ३ मेधास्तिसि काण्वे ।  
४ उशना । ६ सुदीतिपुस्मीदी । ८ वत्स काण्वे । १० वामदेवे ॥ गायत्रीउन्दे ॥

[१] अग्ने आ याहि वीतये गृणानो हृददातये ।

नि होता सत्सि वार्हेषि ॥ १ ॥ श्र० ६ । १६ । १० ॥

भा०—हे अग्ने परमामन्<sup>१</sup> ( वीतये<sup>१</sup> ) सर्वत्र प्रकाशक और व्यापक होने और ( हृददातये ) हृदय अभाव दान और भोग योग्य पदार्थों क प्रदान करने क लिये आप ( आ याहि ) प्राप्त हों । आप ( गृणान<sup>२</sup> ) स्तुति करन

१—१ वीतये—वी गतिव्यस्तिसिप्रब्रनगन्त्वसनखादननु ।

२ गृणान—१ स्तुतौ । •यत्ययेन कर्मणि क्तुप्रत्यये ।



योग्य, ( होता<sup>३</sup> ) सब पदार्थों के देने वाले, यज्ञ में आसन पर होता के समान ( बर्हिषि<sup>४</sup> ) यज्ञ, आत्मा या ब्रह्मायुध में (नि सत्सि) विराजमान हैं ।

[२] त्वमग्ने यज्ञानां<sup>१२</sup> होता विश्वपा<sup>३२</sup> हित<sup>१३</sup> ।

<sup>३२</sup> देवाभमानुषे<sup>१२</sup> जने ॥ २ ॥ श० ६ । १६ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन्<sup>१</sup> ( त्वम् ) तू ( विश्वेषम् ) समस्त ( यज्ञानाम् ) यज्ञों, देव उपासनाओं का ( होता ) स्वीकार करने वाला होकर और ( देवेभि<sup>२</sup> ) देवों, विद्वानों द्वारा ( मानुषे जने ) मनुष्यजनों में, यज्ञ में अग्नि के समान ( हित ) सर्वोपास्य रूप से स्थापित किया है ।

[३] अग्निं दूतं<sup>३२</sup> वृषीमहे<sup>३१</sup> होतारं विश्ववेदसम्<sup>२</sup> ।

<sup>३</sup> अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ ३ ॥ श० १ । १२ । १ ॥

भा०—हम ( विश्ववेदसम्<sup>२</sup> ) सर्वज्ञानी, सर्वधनी, सर्वेश्वर, ( होतारम् ) होता, सर्वप्रद, ( अस्य ) इस ( यज्ञस्य ) यज्ञ, ब्रह्मायुध के ( सुक्रतुम्<sup>३</sup> ) सुक्रतु उत्तम कर्ता, विघाता शौर ज्ञाता ( अग्निं ) अग्नि को ( दूतं<sup>३</sup> ) दूत अर्थात् उपास्यरूप से ( वृषीमहे ) वरण करते हैं । इस प्रकार बहुत उत्तम विद्वान् को भी कार्यसाधक दूत रूप से वरण करना चाहिये ।

३ हाता—दाता । आकाश पुमान् बाला । ईश्वर मक्का आसन पाप मुलाता हे । और सुमार म मक्को हाने और पराजहार मग्ने के लिये पदार्थ भी देता है ।

४ बर्हिषि—वर्हि यज्ञ, अन्तरिक्षम्, उदरम्, आसन, पुण्ड ।

२—१ देवेनाग्नादा दीयन्नादा यजन्नादा दुग्धानो भवतीतिवा । नि० ॥

३—१ वेदम्, पत्तरेमुत्तु औपगि । विं हान । वेदा पम् । नि० ३ । २ । १० ॥

२, क्रतु यजानाव । नि० २ । १ । प्रजागाव च । नि० ३ । १ ॥

३ दूत । द्यवेरीगतिः ९० । दूतेति वायुनि उपस्य ग वा स दूत, दूतार्थ-साधना रात्रमृष्या वा । द० ३० ।

[४] अग्निर्धृत्राणि जङ्घनद्द्रत्रिणस्युर्विपन्यया ।

समिद्ध शुभ्र आहुत ॥ ४ ॥ अ० ६ । १६ । २४ ॥

भा०—( विपन्यया ) विशेष स्तुति द्वारा ( द्रविणस्यु<sup>१</sup> ) उपासकों के द्रव्य, बल और भक्तिभाव को स्वीकार करन वाला 'अग्नि' परमेश्वर (समिद्ध ) चमकता हुआ, ( शुभ्र ) शुद्ध, काम्तिमान् ( आहुत ) भली प्रकार से स्तुति किया या स्मरण किया हुआ ( धृत्राणि<sup>२</sup> ) आमा को घेरन वाले पापों को, विघ्नों को और अन्यकारों को ( जवभद् ) नाश करे ।

[५] प्रेष्ठ वो अतिथिश्च स्तुपे मित्रमित्र प्रियम् ।

अग्ने रथ न वेद्यम् ॥ ५ ॥ अ० ८ । ८४ । १ ॥

भा०—( व ) तुम्हारे ( प्रेष्ठम् ) सय स अधिक प्रिय, ( मित्रम् इव प्रियम् ) मित्र क समान प्यारे, ( अतिथिम्<sup>१</sup> ) सर्वव्यापक, अतिथि के समान आदरणीय ईश्वर की ( स्तुपे ) स्तुति करता हू । हे अग्ने ' प्रकाश स्वरूप ' तू ( रथ न वेद्यम्<sup>२</sup> ) रथ क समान समस्त पदार्थों का प्राप्त कराने हारा, या रस क समान अनुभव बद्य है ।

[६] त्व नो अग्ने महोभि पाहि विश्वस्या अराते ।

उत द्विपा मर्त्यस्य ॥ ६ ॥ अ० ८ । ७१ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ' प्रकाशस्वरूप ' ( त्व ) तू ( न ) हमें ( विश्वस्या ) समस्त प्रकार के ( अराते ) सुख न देने वाले मनुष्य स ( महानि )

४—१ छन्दसि परेच्छाया ऋच । द्रविणमिति वनाम ( नि० २ । ९ ) धननाम प नाम च ( नि० २ । १० )

२ रथ प्रमत्तीन तपसि वा । सा० । शकुगानि । मा० वि० ।

५—' अग्निम् ' इति पाठमे अ० ।

१ ' अतिरिधिन् ' अतिथि । अन्वयितो गृहारा इति । नि० ।

उत्तम सुखमाधनों, धनों द्वारा ( पाहि ) पालन कर, यचा । ( उत ) और  
( द्विष मर्यस्य ) द्वेष करन वाले मनुष्य से भी ( पाहि ) बचा ।

कपूस स्वामी जो भृत्यों और प्रजाधों का भाग उनको न दे और द्वेषी  
जो शोध या बैर से दूसर को दण्ड दे, उन दोनों स रक्षा की प्रार्थना है ।

[७] एहधूपु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थतरा गिर ।

एभिर्बर्दास इन्दुभि ॥ ७ ॥ अ० ६ । १६ । १६ ॥

भा०—हे अग्ने ! ( एहि उ ) आ । ( ते ) तेरे लिय ( इधा<sup>१</sup> ) इस  
प्रकार की वैदिक सत्य वाणिया और ( इतरा<sup>२</sup> गिर ) उनस दून्वरी लौकिक, या  
देववाद्यास अतिरिक्त असुरवाणियों को मैं तेरी स्तुति में ( ब्रवाणि ) कहता हू ।  
( एभि इन्दुभि ) इा परम ऐश्वर्यों से तू ( बर्दास ) महिमा में बढ़ा है ।

ईश्वर अपन सामर्थ्य, ज्ञान और सौम्य गुणों द्वारा सब से बढ़ा है  
और सब वाणियों उसकी ही स्तुति करता है ।

[८] आ ते वत्सां मनां यमत्परमाश्रितसधस्थात् ।

अग्ने त्वां कामये गिरा ॥ ८ ॥ अ० ८ । ११ । ७ ॥

भा०—( वस<sup>१</sup> ) तेरे पुत्रक समान स्तुतिकर्ता उपासक ( ते मन<sup>२</sup> )  
तेरे मनन करन योग्य स-यज्ञान को ( परमात् चित् सधस्थात् ) परम  
उत्कृष्ट स्थाप से ( आ यमन् ) वश परता प्राप्त करता है । हे ( अग्न )  
अग्ने ! परमेश्वर ! ( त्वा कामय ) मैं तुम्हें ही चाहता हू ।

अंतरात्मा में साशान् ब्रह्म से मनन करने योग्य सत्य ज्ञान को प्राप्त  
करता है और ईश्वर क प्रति प्रेम प्रकट करता और उन चाहता है ।

७—१ 'इध' इति पाठो विकल्पमन । इत्था स-या । मा० वि० । इ यत्पान्त  
सन्वनागतु परिण. । इत्थमित्यस्य एतदुपमत्वात् क्षीरे रूपम् ।

२ इतरा स-यज्ञो अन्यथा । मा० वि० ।

८—१ वदतेषांदिह स । उ पा० ३ । ६२ । २ मन शाने ( म्वादि. ) ।

[६] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।

<sup>३ १ २ २ ३ १ २</sup> मूर्ध्ना विश्वस्य वाधत ॥ ६ ॥ ऋ० ६। १६। १३ ॥

भा०—हे अग्ने प्रकाशस्वरूप ! ( त्वाम् ) तुझे ( अथर्वा ) अर्धिसक, प्रजापति, ज्ञानी विद्वान् ( विश्वस्य वाधत ) समस्त ब्रह्माण्ड का बहन करने वाले ( मूर्ध्ना ) मूर्धा स्थान, सर्वोच्च ( पुष्कराद् अधि ) पुष्कर अर्थात् सबको पुष्ट करने वाल तरे शक्तिमान् विराट् स्वरूप से ही ( निरमन्थत ) अरणियों से अग्नि के समान, मथन करके तुझे प्रकट करता है, तेरा ज्ञान करता है ।

[१०] <sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २</sup> अग्ने विवस्वदा भरासभ्यमूतय महे ।

<sup>३ १ २ २ ३ २</sup> देवो ह्यास नो दृशे ॥ १० ॥

भा०—हे अग्ने ! ( अस्मभ्यम् ) हमारी ( महे उतये ) बड़ी रक्षा के लिये ( विवस्वत् ) विशेष सुखपूर्वक विवास याग्य ऐश्वर्य स युक्त, गृह, यज्ञ आदि को ( आभर ) प्राप्त करा । क्योंकि ( न ) हमारे ( दृशे ) देखने और मार्ग दिखाने के लिये ( देव हि असि ) प्रकाशमान, विद्वान्, ज्ञानवान् परमदेव तू ही है ।

इति प्रथमा दशात । प्रथम खण्ड ।

॥ २ । १ आयुष्वादि । २ वामदेव । ३, ८, ९ प्रयोग । ४ मधुच्छन्ना । ५, ७ शुन शेष । ६ मेधात्रिपि काण्व । १० वरस काण्व । गायत्री छन्द ॥

[११] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> नमस्ते अग्ने ओजसे गृणन्ति देव कृष्टय ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> अर्भरमिन्नमर्हय ॥ १ ॥ ऋ० ८। ७५। १० ॥

भा०—हे अग्ने । हे ( एव ) देव ! ( कृष्टयम् ) मनुष्य ( ते ) तुझे ( ओजसे ) बल के लिये ( नम गृणन्ति ) नमस्कार कहते हैं । तू

( अमै<sup>३</sup> ) बलों से ( अमित्रम् ) शत्रु को ( अर्द्य ) पीड़ित कर । भक्त भगवान् से प्राण मागते और घन्दना करते हैं कि खल दण्डित हों ।

[१२] दूत<sup>३ १</sup> वो<sup>२</sup> विश्ववेदस<sup>३ १ २</sup> हव्यवाहममर्त्यम् ।

यजिष्ठमृञ्जसे गिरा<sup>३ २</sup> ॥ २ ॥ अ० ४ । ८ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप ! ( विश्ववेदसम् ) समस्त धर्मों के स्वामी, समस्त ज्ञानसंपन्न ( हव्यवाहम् ) समस्त भोग्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले, ( अमर्त्यम् ) कभी न मरने वाले अमृत ( दूतम् ) दूत के समान परोपकारा सवापास्य, ( यजिष्ठम् ) सृष्टिमय महान् यज्ञ के करने वाले, अथवा सत्यस्य उपास्य ( व ) तुमको मैं ( गिरा ) वेदवाणी द्वारा ( ऋञ्जसे<sup>३</sup> ) अपने अनुकूल करता हूँ, आपकी साधना करता हूँ । अथवा हे मनुष्यो ! ( व दूत ) आप लोगों के उपास्य, सचधर, अमृत रूप देवकी वाणी से ( ऋञ्जसे ) स्तुति करता हूँ ।

[१३] उप<sup>१ २</sup> त्वा<sup>३ २ ३</sup> जामयो<sup>२ ३ १ २</sup> गिरा<sup>३ १ २</sup> देदिशती<sup>३ १ २</sup> हविष्युत ।

चापोरर्निके<sup>३ १ २ २ ३</sup> अभ्यिरन् ॥ ३ ॥ अ० ८ । १०२ । १३ ॥

भा०—हे अग्ने ! ( हविष्युत ) स्तुति और हव्य सम्पादन करने वाले पुरुष की ( जामय गिर ) वाणियों, भगिनियों के समान, एक ही स्थान पर उपास होने वाली, अथवा सत्य फलको पैदा करने वाली, ( देदिशती ) तेरे गुणों को प्रकट करती हुई ( चापो ) सर्वव्यापक सर्वज्ञ तेरे ही ( अर्निके ) समीप ( उप अभ्यिरन् ) पटुघती है, तुम्हें मैं ही घटती है ।

[१४] उप<sup>१ २</sup> त्वाग्ने<sup>३ १ २</sup> दिवे<sup>३ १ २</sup> दिने<sup>२ ३ २</sup> दोषावस्ता<sup>३ २ ३ २</sup> द्विया<sup>३ २ ३ २</sup> वयम् ।

नमो भरन्त<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup> प्मसि ॥ ४ ॥ अ० १ । १ । ७ ॥

३ रागैर्लभंविषां । मा० दि० ।

१२—२ अञ्जति प्रमाथनार्ता । नि० ४ । ३ ।

भा०—हे अग्ने ! ( दिवे दिवे ) प्रतिदिन ( दोषा<sup>१</sup> वस्त ) साथ प्रात , दिन रात ( वयम् ) हम सब लोग ( धिया ) अपनी बुद्धि द्वारा और कम द्वारा ( नमो भरन्त ) नमस्कार करत हुए या यज्ञ की हवि प्रस्तुत करते हुए ( खा ) तुम्हका ( एमसि ) प्राप्त होते हैं ।

[१५] जगत्प्रोथ तद्विविद्धिदि त्रिशे त्रिशे यज्ञियाय ।

स्ताम रुद्राय दृशीकम् ॥ ५ ॥ श्र० १ । २७ । १० ॥

भा०—हे ( जराबाध ) स्तुतियों द्वारा ज्ञान करने एवं प्रकट करने योग्य ! अग्ने ! ( विशे विश ) प्रत्येक प्रना क हित क लिये ( तत् विविद्धि ) उस परम स्थान या हृदय में प्रवेश करो जहा लोग (यज्ञियाय) यज्ञ, आत्मा के योग्य हितैषी, उपास्य, ( रुद्राय ) दुष्टों का दण्ड करके रहलाने वाले तुम्ह ईश्वर के लिये ( दृशीकम् ) दर्शनीय ( स्तामम् ) स्तुति पाठ करते ह ।

अर्थात् जिस हृदय में कर्मव्यवस्था का भय करके दुष्टों के दण्डकर्ता ईश्वर के लिये स्तुति की जाता है, हे स्तुति द्वारा हृदय में प्रकाशित होने वाले परमात्मन्<sup>१</sup> आप भक्ति द्वारा प्रत्येक मनुष्य क उस हृदय में प्रकट ह । फलत , हर से ईश्वर की स्तुति करने की अपेक्षा सब लाग प्रेम और भक्ति से ईश्वर को हृदय में स्थान दें ।

[१६] प्रति त्य चारुमध्वर गोपीधाय प्रहूयसे ।

मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ६ ॥ श्र० १ । २६ । १॥

भा०—हे अग्ने ! तू ( त्य ) उस ( चारुम् अध्वरम् ) सुन्दर, हिसा रहित यज्ञ अमर आत्मा की ( गोपीधाय ) रक्षा करने के निमित्त ( प्रहूयसे ) पुकारा या याद किया जाता है । तू ( मरुद्भि ) विद्वानों द्वारा या प्रायों द्वारा उनकी साधना से हमारे हृदय में ( आ, गहि ) प्रकट हो ।

[१७] अश्व न त्वा वारयन्त वन्दध्या आग्नि नमोभि ।

सम्राज तमध्वराणाम् ॥ ७ ॥ श्र० १ । २७ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू ( वारवन्त अथ न ) कष्ट निवारण के माधन रूप  
 बलों से युक्त अथ के समान ( वारवन्त ) कष्ट निवारक साधनों से सम्पन्न  
 अथवा अज्ञान वारक, ज्ञानदीक्षियों और विघ्ननिवारक साधनों से सम्पन्न  
 और ( अश्वरात्या सम्राज त ) हिंसा रहित धर्म कार्य, बलों के महान् सम्राट्,  
 उनके प्रकाशक और उनमें स्वयं प्रकाशमान उस तुम्ह ( अग्निम् ) अग्नि, प्रकाश  
 स्वरूप ईश्वर को ( नमोभि ) हृदय के विनयों द्वारा ( वन्द्यै ) वन्दना करते हैं।

[१८] श्रीर्वभृगुवच्छुचिममवानरदाहुवे ।

अग्निं समुद्रवाससम् ॥ ८ ॥ अ० ८ । १०२ । ४ ॥

भा०—( समुद्रवाससम् ) समुद्र, आकाश में व्यापक ( शुचिम् )  
 शुद्ध ( अग्निम् ) अग्नि, ईश्वर को ( श्रीर्वभृगुवत् , अमवानवद् ) श्रीर्वभृगु  
 पृथ्वी के गर्भगत और अमवान अर्थात् भोपधि रसों में विद्यमान अग्नि के  
 समान ( आहुवे ) स्मरण करता=जानता हू ।

‘श्रीर्वभृगु’ अग्नि पृथ्वी के गर्भ में रह कर समस्त पदार्थों को अपने  
 ताप से भर्जन करती और पकाती है । ‘अमवान’ अग्नि रसों और आप  
 धियों में शान्त भाव से रहती है और रस अम्बुदार रूप में प्रकट होती  
 है । उसी प्रकार तेजोमय कान्तिमान् ईश्वर को समस्त ब्रह्माण्ड में सामर्थ्य  
 रूप में जानना चाहिये ।

[१९] अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेतं मर्त्ये ।

अग्निमिन्ध्रे त्रिरस्वभि ॥ ९ ॥ अ० ८ । १०२ । २२ ॥

भा०—( अग्निम् ) अग्नि, प्रकाशस्वरूप ईश्वर को ( मनसा ) हृदय  
 स ( इन्धान ) काशीत करता हुआ ( मर्त्ये ) मनुष्य ( धियम् ) बुद्धि

या कर्म को ( सचेत ) प्राप्त हो । ( विधस्वभि ) सूर्य के समान विद्वानों द्वारा मैं ( अग्निम् ) उस प्रकाशक रूप ईश्वर का ( इन्ध<sup>१</sup> ) हृदय में प्रज्वलित करता हूँ ।

ईश्वर के मानस ध्यान से मनुष्य बुद्धि और कर्म को सुधारें, उत्तम विद्वानों के संग से ईश्वर का ज्ञान करें ।

[२०] आदि<sup>२४</sup>त्प्रतनस्य<sup>३ २ ३</sup> रेतसो<sup>१ २ ३</sup> ज्योति<sup>१ २</sup> पश्यन्ति<sup>३ २</sup> वासरम् ।

परं<sup>३ २</sup> यदिध्यते<sup>३ १ २ ३ २</sup> दिवि ॥ १० ॥ अ० ८ । ६ । ३० ॥

भा०—( पर दिवि ) घौलोक से भी परे अति अधिक दूर ( यत् ) जो सूर्य ( इध्यते ) प्रकाशमान है । ( वात् इत् ) और ( वासरम् ) दिन को प्रकाश करने वाले जिस ( ज्योति ) सूर्य को लोग ( पश्यन्ति ) देखते हैं वह भी ( प्रतनस्य ) अति प्राचीन आर्द्रकाल के परम ( रेतस ) धीर्यवान्, जगत् के विधाता ईश्वर की ही ( ज्योति ) तेज है ।

सस्य भासा सर्वमिदं विभति । ( कठ उप० २ । १५ )

इति द्वितीया दशति । द्वितीय काण्ड ।



॥ ६० ३ ॥ १ प्रयोग । २, ५, ६ भरद्वाज । ३, २० कामदेव । ४, ६ वसिष्ठ । ७ विरूप । ८ शुन शेष । ९ गाण्डिन । १० कामदेव । ११ बण्ड । १२ महातिथि । १३ त्रिशिरा म्वाण्ड सिन्धुद्वीप अम्बरीष, तृण आतपो वा ।

१४ उशना वाक्य । गावती ॥

[२१] अग्निं<sup>३</sup> घौ<sup>१</sup> नृधन्तमध्वराणां<sup>२ ३ १ २</sup> पुरुतमम् ।

अच्छा<sup>२</sup> नप्त्रे<sup>३ २ ३ १ २</sup> सहस्रवते ॥ १ ॥ अ० । १०२ । ७ ॥

भा०—प्रयाग अग्नि । ( घ ) तुम्हारे ( अध्वराणाम् ) यज्ञों या हिंसा रहित परोपकार के ऋषियों के ( नप्त्रे ) यन्त्रु, सहायक ( सहस्रवते ) बल-



शाली, ( व वृधन्तम् ) तुमको बढ़ाने वाले, ( पुरस्तमम् ) सब से श्रेष्ठ इन्द्रियों क स्वामी अत्ररात्मा के समान ( पुरस्तमम् ) और महान् लोकों क स्वामी ( अग्निम् ) अग्नि परमेश्वर का ( अङ्गा ) सब से श्रेष्ठ जानो ।

[२२] <sup>३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २</sup> अग्निस्तिग्मेन ओचिषा यष्टुसद्विश्व न्यत्रिणम् ।

<sup>३ १ २ २ ३</sup> अग्निर्ना वसते रयिम् ॥ २ ॥ अ० ६। १६। २८ ॥

भा०—( अग्नि ) अग्नि अग्रणी राजा क समान, ईश्वर ( तिग्मेन, शाचिया ) अग्नि ताप्य तेज स ( विश्वम् ) समस्त ( अत्रिणम् ) प्रजा क धन और प्राण खाजान वाले दुष्टों का ( नि वसत् ) नियमन करता है, व्यवस्था में रखता है । और वही ( अग्नि ) अग्नि परसत्तापक ( १ ) हमें ( रयि ) धन और सुखमय जीवन ( वसते ) दता है,

[२३] <sup>१ २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ १ २</sup> अग्नि मृड महा अस्थय आ देवयु जनम् ।

<sup>३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> इयथ वाहिरासदम् ॥ ३ ॥ अ० ४। ९। १ ॥

भा०—हे अग्नि ! परमेश्वर तू ( मृड ) हमें सुखी कर । ( महान् अग्नि ) तू बड़ा है । ( देवयुम् ) विद्वान् और देव क प्रिय ( जन ) पुरुष को ( अय ) तुम प्राप्त हात हा । और ( वाहि ) यज्ञ, उपासना में ( आसदम् ) अग्रस्थित हान क प्रिय ( इयथ ) आत हा ।

[२४] <sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २</sup> अग्ने रक्षा णो अष्टुहन् प्रति स्म देव रीपत ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> तपिष्टैरजरो दद १ ४ ॥ अ० ७। १५। १३ ॥

२२—'वन' इति अ० ।

२३—'अस्थयी' इति अ० ।

२४—'प्रतिष्ठा' इति, अ० ।

भा०—हे ( देव ) उपास्य देव प्रभो ! हे ( अग्ने ) हे अग्ने ! स्व-  
प्रकाश ! ( न. ) इमं ( अंहसः ) पाप और पापी ( रीपन. ) हिंसक शत्रु से  
( रक्ष ) रक्षा कर, बचा और ( अजर. ) कभी हीनबल न होने वाला तु ( तपिष्ठैः )  
तपाने वाले तेजों शस्त्रों से उसको ( प्रति दह स्म<sup>१</sup> ) भस्म कर डाल ।

[२५] अग्ने युद्ध्वा हि ये तद्याश्वासा दैव साधय ।

<sup>१ २ ३ २२ ३२</sup>  
<sup>३ २ ३ १ २</sup>

अथ वहन्त्याशवः ॥ ५ ॥ अ० ६। १६। ४२ ॥

भा०—हे देव ! हे अग्ने ! ( ये ) जो ( ते ) तेरे ( साधयः ) साधु  
स्वभाव वाले या योग साधना करने वाले ( अथास. ) अथ के समान  
इन्द्रिया, गतिशील, ज्ञानी साधक हैं, उनको ( युद्ध्वा ) जगा, यागाभ्याम  
में प्रवृत्त करा । वे गतिशील, ज्ञानी, ( आशव ) हरएक कार्य में शीघ्र सिद्धि  
प्राप्त करने वाले साधक ( अथम् ) पर्याप्त उत्तम रूप से ( वहन्ति<sup>२</sup> ) ज्ञान  
और उत्तम कार्य के भार को धारण करते और उद्देश्य तक पहुंचाते हैं ।

[२६] नि त्वा मद्य त्रिशपते धुमन्त धीमहे वयम् ।

<sup>३ १ २</sup>

सुवीरमग्न आहुत ॥ ६ ॥ अ० ७। १५। ७ ॥

भा०—हे ( मद्य ) सब के सेवन योग्य, शरण योग्य ! हे ( त्रिशपते )  
समस्त प्रजा के पति ! हे ( आहुत ) सब से पुकारे और बुलाये और याद  
किये गये तथा हवि, भक्ति द्वारा आदर किये गये पूजित ! हे ( अग्ने ) अग्ने !  
( धुमन्त ) प्रकाशस्वरूप ( सुवीरम् ) उत्तम सामर्थ्यवान् तेरा ( वयम् )  
हम ( धीमहे<sup>३</sup> ) ध्यान करते हैं ।

[२७] अग्निर्भूर्जा दिवः ककुत्पतिः पृथिःया अयम् ।

<sup>३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २</sup>

अपां रेतंसि जिन्वति ॥ ७ ॥ अ० ८। ४४। १९ ॥

२५—१. 'युद्ध्वा', 'वहन्ति मन्यवः' इति अ० ।

२६—१. 'दिव धीमहि' इति अ० ।

भा०—( अयम् ) यह ( अग्नि ) अग्नि ( मूर्धा ) सव का शिरोमणि,  
( दिव ककुद् ) द्यौलोक या सूर्य के ककुद् भाग के समान उत्तम, वहन  
करने वाला, आश्रय और ( पृथिव्या पति ) पृथिवी का पति, स्वामी है ।  
वर्हा ( अपाम् ) सब लोकों के ( रेतासि ) बीजभूत समस्त स्थावर और  
जगम प्राणियों को ( जिन्वति ) नृस करता है, जीवन देता है ।

[१८] इमं मू पु त्वमस्माकं सनि गायत्र नव्यासम् ।  
अग्ने देवेषु प्र याच ॥ ८ ॥ अ० १ । २७ । ४ ॥

भा०—हे अग्ने ! ( त्वम् ) तू ( इमम् ) इस ( नव्यासम् ) नवीन सगप्य  
अति स्तुत्य ( सनिम् ) भक्ष आदि क समान सेवनीय ( अस्माकम् ) हमारे  
( गायत्रम् ) प्राणों की रक्षा करने वाले साधन, एव छन्द, ज्ञान को ( देवेषु )  
देवों, पाचभूतों, इन्द्रियों और विद्वानों में ( प्र याच ) उत्तम रूप त  
कह, प्रकट कर ।

[१९] त त्वा गोपवना गिरा जनिष्ठग्ने अङ्गिर ।  
स पावक श्रुधी हवम् ॥ ९ ॥ अ० ८ । ७४ । ११ ॥

भा०—हे अग्ने ! ( त, त्वा ) उस पूर्व प्रकारसे स्तुत तुम्हको ( गोपवन )  
वाणियों और इन्द्रियों के वश करने वाला पुरव ( गिरा ) अपनी वाणों  
स ( जनिष्ठ ) प्रकट करता है । हे ( अङ्गिर ) प्रकाशस्वरूप या अगों में  
रस या बल के समान विद्यमान अग्ने ! हे ( पावक ) मल आदि से पवित्र  
करनेहारे ! ( स ) यह तू हमारी ( हवम् ) स्तुतिको ( श्रुधि ) भवण कर ।

[२०] परि वाजपति कपिरग्निर्द्वयान्यकनीन् ।  
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ १० ॥ अ० ४ । १५ । ३ ॥

२८—'अभ्याम्यम्' इति 'नवापसम् इति' त० ।

२९—'य त्वा' इति अ० ।

भा०—( वाजपतिः<sup>१</sup> ) षड्, धीर्यं, अन्न, ज्ञान का स्वामी ( कविः<sup>२</sup> )  
 प्रान्तदर्शी, मेधावी ( अग्निः ) अग्नि, परमेश्वर ( दाशुपे ) दान करनेवाले को  
 ( रत्नानि ) रमणीय पदार्थ, ( दधत् ) देता हुआ, ( हृद्भ्यानि ) हृदय करने योग्य  
 पदार्थों और भक्तिपूर्वक स्तुति वचनों को ( परि अक्रमान् ) स्वीकार करता है ।

[३१] उद्दु<sup>२३</sup> त्यं<sup>२</sup> जातवेदसं<sup>३१२</sup> देव<sup>३१</sup> वहन्ति<sup>२</sup> केतवः<sup>३१२</sup> ।

दश विश्वाय सूर्यम् ॥ ११ ॥ अ० १ । प० १ । १ ॥

भा०—( केतवः<sup>१</sup> ) ज्ञान करने, करानेवाले रश्मियों के समान प्रज्ञाण या  
 विद्वान्गण ( सूर्य ) सूर्य के समान प्रकाशमान, समस्त संसार के उत्पादक  
 उस सविता, ( जातवेदसे ) सय पदार्थों के जाननेहारे या बड़ों के मूलकारण  
 ( त्य उ ) उस ( देव ) परमात्मा देव को ही ( उद् वहन्ति ) धारण करते  
 हैं कि ( विधाय ) समस्त संसार उसको ( दशे ) देख ले, जान ले ।

सब विद्वान् उसे ज्ञान का मूलकारण और सब प्राणियों का प्रेरक  
 सबसे ऊपर बतलाते हैं कि सय उसको जानें और उसके दिये ज्ञान से  
 स्वयं भी सय कार्य व्यवहारों को जानें ।

[३२] कविमग्निमुप<sup>३१</sup> स्तुहि<sup>३१२</sup> सत्यधर्माणमश्वरे<sup>३२</sup> ।

देवममीञ्चातनम् ॥ १२ ॥ अ० १ । १२ । ७ ॥

भा०—हे पुरप ! तू उस ( कविन् ) प्रान्तदर्शी, मेधावी सर्वज्ञ ( अश्वरे  
 सत्यधर्माण<sup>१</sup> ) यज्ञ में, जगत् में सत्य धर्मों को धारण करने वाले ( देव )  
 दिव्यगुणों से युक्त दाता ( अमीञ्चातन ) हुआ सदाभी लोगों का नाश करने वाले

३०—१ वाजपत्यनाम, ( नि० २ । ७ । )

२ कविरिति मधाविनाम,

( नि० ३ ॥ १५ । )

३१-१ केतुरिति प्रणानाम । नि० ३ । ६ ॥

३२-१. सत्यधर्माण । मा० वि० ।

( अग्निम् ) प्रकाशस्वरूप परमधर की ( उपस्तुहि ) दत्ताचित्त होकर स्तुति अर्थात् गुण वर्णन कर ।

[३३] ग<sup>१</sup> नो<sup>२</sup> दे<sup>३</sup> वी<sup>३</sup> रभि<sup>३</sup> ष्ट्ये<sup>३</sup> शं<sup>३</sup> नो<sup>३</sup> भवन्तु<sup>३</sup> पीतये<sup>३</sup> ।

शयारिभिस्त्रवन्तु न ॥ १३ ॥ अ० १० । ९ । ४ ॥

भा०—( न ) हमारे लिये ( देवी ) दिव्य गुणों से युक्त जल ( अभिष्ट्ये<sup>३</sup> ) हमारे अभिलाषित सुख कार्यों के लिये ( शम् ) सुखकारी, कल्याणकारी हों । ( न , पीतये, शम् ) हमारे पान करने के लिये भी सुखकारी हों । ( न ) हमारे लिये ( शम् ) कल्याणकारी होकर ही ( अभिस्त्रवन्तु ) सब ओर से बहें और सुखा की वर्षा करें<sup>१</sup> ।

[३४] कस्य<sup>१</sup> नूनं<sup>२</sup> परीणासि<sup>३</sup> त्रियो<sup>३</sup> जिन्वासि<sup>३</sup> सत्पते<sup>३</sup> ।

गोपाता<sup>१</sup> यस्य<sup>२</sup> ते<sup>३</sup> गिर<sup>३</sup> ॥ १४ ॥ अ० ८ । ८४ । ७ ॥

भा०—[ प्रभ ] हे ( सत्पते ) सज्जनों के प्रतिपालक<sup>१</sup> तुम ( नूनम् ) निश्चय स ( कस्य ) किसके ( धिय ) कर्मों और स्तुतियों और मन सफाई को ( परीणासि ) बहुधा ( जिन्वासि<sup>३</sup> ) पूषा करते, स्वीकार करते हो ! [ उत्तर ] ( यस्य ) जिसकी ( ते गिर ) तारे निमित्त प्रकट हुई बाणियों ( गोपाता ) अर्थात् इन्द्रियों का वश करने के लिये हैं ।

जो पुरुष अपनी इन्द्रियों का जीतने के लिये ईश्वर स्तुति, उपासना, प्रार्थना करते हैं ईश्वर उनकी मनाशामना पूर्ण करते हैं ।

इति सूक्त्या दशमि । तृतीयं सूक्तं ॥

३३—१ 'जाना भवन्तु' इति ऋ० । १ कभिष्ठाद, अभिष्ठाद स्तान्तीं नि-  
स्तपुनास्तवन्तु । मा० वि० ।

३४—१ 'परित्त', 'दन्पते' इति च ऋ० । १ परीणासि इति ऋत्नात्, (नि० १ । १)

॥ ४ ॥ १, शशुवाहैस्त्व ३ शशुस्तृणपाणिवां । २ भर्गे प्रागाथ । ५ वनिष्ठ ॥  
 ५ भर्गे प्राग्यो भयद्वाजो वा । ६ प्रस्त्वव वाग्व ॥ ७ तृणपाणि । ८ निरुप । ९  
 शुन शेष आजीगर्ति । ८, ९ भर्गे प्रागाथोवा । १० सोभरि वाग्व । वृहती ॥

[३५] यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे ।

१ २ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २  
 प्र प्र वयममृत जातवेदसं प्रिय मित्र न शसिपम् ॥१॥  
 ऋ० ६। ४८। १॥

भा०—हे मनुष्यो ! ( व ) आप लोग ( दक्षसे ) बलशाली, सर्व-  
 शत्रुमान् ( अग्नये ) अग्नि परमेश्वर की ( यज्ञा यज्ञा<sup>१</sup> ) प्रत्येक यज्ञ में और  
 ( गिरा गिरा च ) प्रत्येक वेदवाणी से गुण्य कीर्त्तन करो । ( वयम् ) हम भी  
 ( अमृत ) उस अमृत, मृत्यु से रहित ( जातवेदसम् ) वेदों क एकमात्र  
 उत्पन्न करनेहार, सर्वज्ञ, परमेश्वर को ( प्रिय मित्र न ) प्रिय मित्र के समान  
 ( प्र शसिपम् ) कीर्त्तन करते हैं ।

[३६] पाहि नो अग्न एकया पाह्युऽदेत द्वितीयया ।

३ २ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 पाहि गीभिस्तिष्ठभिर्हो जाभ्यते पाहि चतसृभिर्दसो ॥२॥  
 ऋ० ८। ६०। ९॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर ! ( एकया<sup>१</sup> ) एक वेदरूप वाणी से ( न  
 पाहि ) हमारी रक्षा करो, पालन करो । ( उत ) और ( द्वितीयया<sup>२</sup> ) दूसरी  
 वेदमयी वाणी से ( पाहि ) पालन करो । ( तिसृभि<sup>३</sup> ) तीनों ( गीर्भि )

३५-१ शुभासुत्तु इति सप्तम्या तुक् ( पा० ७। १। ३६ ) वीनाया द्विवचनम् ।

३६-१ 'शुभ-लक्षणया' इति मा०, वि० ।

२ यजुर्लक्षणया मा० वि० ।

३ अग्न्यजु सामलक्षणामि इति मा० वि० ।

वेद वाणियों से ( पाहि ) पालन कर । हे ( ऊर्जांपते ) सब अशों और धलों के अधिपते ! हे ( वसो ) सब के भीतर बसने और सबको बसाने वाले वसो ! ( चतसृभि ४ ) चारों वेदवाणियों से ( पाहि ) पालन कर ।

ज्ञान, विज्ञान क्रिया और उपासना इन चार भेदों के पृथक् २ निरूपण करने से चार वेद हैं । प्रत्येक से प्रजा का पालन करना ही मन्त्र का अभिप्राय है ।

[३७] <sup>० १ २</sup> बृहद्भिरग्ने <sup>३ १ २</sup> अचिभि <sup>३ १ २</sup> शुक्रेण <sup>३ १ २</sup> देव शोचिषा ।

<sup>३ १ २</sup> भरद्वाजे <sup>३ १ २</sup> समिधानो <sup>३ १ २</sup> यविष्ठ <sup>३ १ २</sup> रत्नपात्रक दीदिहि ॥ ३ ॥

श्र० ६।४८।७॥

भा०—हे ( देव ) दानादि गुणसम्पन्न ! ( यविष्ठ ) सब से महान् शुद्धतम ! सब से अधिक जीवन सम्पन्न, कभी निर्धन न होने वाले, हे ( अग्ने ) प्रकाशस्वरूप हे ( रेवन् ) समस्त धनों के स्वामी हे कान्तिमन् ! हे ( पात्रक ) सबको अपने तेज से पवित्र करने वाले ! तू ( शुक्रेण ) निर्मल ( शोचिषा ) तेज से ( भरद्वाजे ) ज्ञान और यज्ञ धर्म को धारण करने वाले पुरुष में ( समिधान ) विशेष रूप से प्रदीप्त होते हुए ( बृहद्भि ) यषे ( अचिभि ) कान्तियों, उजालाओं, तेजों से ( दीदिहि ) प्रकाशमान होवो ।

[३८] <sup>३ १ २</sup> त्वं अग्ने <sup>३ १ २</sup> स्थाहुत <sup>३ १ २</sup> प्रियास <sup>३ १ २</sup> सन्तु <sup>३ १ २</sup> सूरयः ।

<sup>३ २ ३</sup> यन्तारो <sup>३ १ २</sup> ये मघवानो <sup>३ १ २</sup> जनानामूर्ध्व <sup>३ १ २</sup> द्यन्त <sup>३ १ २</sup> गानाम् ॥ ४ ॥

श्र० ७।१६।७॥

भा०—हे अग्ने परमेश्वर ! हे ( स्वाहुत ) उत्तम रीति से यज्ञ में उपा-  
सित ! ( सूरयः ) विद्वान् लोग जो सचकां मति को प्रेरित करते हैं वे  
( प्रियासः ) प्रिय ( सन्तु ) हों । ( यन्तारः ) दान करने वाले या ( जनानां )  
प्रजाओं को ( यन्तारः ) नियम व्यवस्था में रखने वाले ( ये ) जो ( मघ-  
धानः ) धन ऐश्वर्यसम्पन्न हैं और जो ( गोनाम् ) गौश्रीं, इन्द्रियों और वेद  
वाणियों के ( ऊर्वम् ) समूह को ( दयन्तः ) पालन करते, वश में रखते और  
औरों को दान करते हैं वे भी सर्वप्रिय हों ।

[३१] अग्ने जस्तिर्विश्वपतिस्तपानां देव रक्षसः ।

अप्रोपिवान् गृहपते महौ असि दिवस्पायुर्दुरोणयु ॥५॥

अ० ८ । ६० । १९ ॥

भा०—हे ( देव ) देव ! हे अग्ने ! हे ( जस्तिः ) स्तुति योग्य या उपदेश  
करनेहारे ! तू ( विश्वपतिः ) प्रजा का स्वामी है । ( रक्षसः ) राक्षसों, दुष्ट  
पुरुषों को ( तपानः ) सन्ताप देता है । हे ( गृहपते ) ब्रह्माण्ड रूप गृह  
के स्वामिन् ! तू गृहमेधी के समान ( अप्रोपिवान् ) कभी भी प्रवास में न  
रहने वाला, सदा विद्यमान ( दिवस्पायुः ) दौलोक की रक्षा करनेहारा,  
( दुरोणयुः ) सबके गृहों या देशों की भंगल कामना करनेवाला ( महान्,  
असि ) सब से बड़ा है ।

[४०] अग्ने विश्वस्वदुपसस्विप्रथुं राधां अमर्त्यं ।

आ दाशुपे जातवेदो वहा त्वमघा देवा उपवृधे ॥६॥

अ० १ । ४४ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! ( एवं उपसः ) तू उपा का ( विश्वस्वन् ) वास करने  
योग्य, विविध सुखों, ऐश्वर्यों का साधक ( दाशुपे ) यज्ञादि परोपकार करनेवाले



पुरुष को ( चित्र राघ ) नाना प्रकार का धन, ज्ञान ( आबह ) प्राप्त करा । हे ( अमर्त्य ) मरणापरिहित नित्य <sup>१</sup> हे ( जातवेद ) समस्त उत्पन्न पदार्थों में निवास करने वाले, सबको जानने वाले, वेदों के मूलकारण ( एव ) तू ( अद्य ) आज ( उपबुध ) सूर्योदय के साथ ज्ञानसम्पन्न एवं जागृत होने वाले ( दधान् ) इन्द्रियगण्य को ( दाशुषे ) इस मनुष्य को ( आबह ) पुनः प्राप्त करा ।

१ २ ३ २ ३ २ ४ ३ १ २  
[४१] त्व नक्षिण ऊत्या यसो राधाधृसि चोदय ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २  
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाध तु चे तु न ॥७॥

शु० ६ । ४८ । ९ ॥

भा०—हे ( यसो ) सब को दसाने वाले अग्ने । ( एव ) तू ( चित्र ) नाना शक्ति सम्पन्न, दर्शनीय ( ऊत्या ) अपने रक्षासामर्थ्य से ( राधासि ) धनों, बलों, सामर्थ्यों का ( न चादय ) हमारे प्रति प्रार्थित कर । ( एव ) तू ( अस्य ) इस ( राय ) धन ऐश्वर्य का ( रथी ) रथ में बैठे महारथी के समान विजनेवा या रस ग्रहण करनेहारा ( धसि ) है । और तू ( न ) हमारे ( तुषे ) सन्तान के लिये ( गाध तु ) प्रतिष्ठा ऐश्वर्य का भी ( विदा ) प्राप्त करा ।

२ ४ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २  
[४२] त्वमित्सप्रधा अस्यग्ने प्रातर्कृत वरि ।

२ २ ३ १ २ ३ १ २  
त्वाभिप्रास समिधान दीदिव आ विदासन्ति वेत्स ॥८॥

शु० ८ । ६० । ५ ॥

भा०—हे अग्ने <sup>१</sup> हे ( प्रात ) रक्षा करने हारे । ( एवन् इत् ) तू ही ( सप्रधा <sup>२</sup> ) सब प्रकार से विहयात है । तू ही ( अत ) सत्य, ज्ञानस्वरूप, ( कवि ) मयावी क्रान्तदर्शी है । हे ( दीदिव <sup>३</sup> ) ददीप्यमान, तेज स्वरूप । हे ( समिधान ) प्रकाशमान <sup>४</sup> तुम्हको ही ( वेत्स ) स्तुति करने

हारे ( विप्रास ) विद्वान् लोग ( आ विवासान्ति ) भजन, कीर्तन करते और प्रकट करते हैं।

[४३] आ नौ अग्ने वयोवृधः रविं पावक शशंस्यम् ।

रास्या नन उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती सुयशस्तरम् ॥६॥

श्र० ८।६०।१२ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे ( पावक ) पवित्र करने हारे ! ( नः ) हमें ( शस्यम् ) प्रशंसा के योग्य, ( वयोवृधम् ) आयु को बढ़ाने वाला ( रविम् ) धन ऐश्वर्य ( रास्य ) दे। हे ( उपमाते ) ज्ञानसम्पन्न, हे सृष्टि के कर्ता ! ( सुनीती ) उत्तम धर्म की नीति से ( नः ) हमें ( पुरुस्पृहम् ) जिस धन को बहुत लोग चाहते हैं और ( सुयशस्तरम् ) जिसके प्राप्त करने से उत्तम यश भी प्राप्त होता है वह भी ( रास्य ) दे।

[४४] यो विश्वा दयत वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।

मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्यग्नये ॥१०॥

श्र० ८।१०३।६ ॥

भा०—( य ) जो अग्नि, ईश्वर ( विश्वा वसु ) सब प्रकार के वास करने योग्य, जीवनोपयोगी धन ( दयते ) दान करता है या सब प्राप्त करने वाले प्राणियों की रक्षा करता है यह ( होता ) सब को अन्न आदि पदार्थ देने वाला ( जनानाम् मन्द्र ) और सब प्राणधारी जन्तुओं को आनन्द देने हारा है। ( अस्मै ) इस ( अग्नये ) अग्नि के लिये ( मधो ) मधु, ऋग्वेद के ( स्तोमाः ) स्तुतिपूर्ण मन्त्र ( प्रथमानि ) उत्तम या सबसे पूर्व प्रस्तुत ( मधो पात्रा न ) मधु से पूर्ण मधुपर्क के पात्रों के समान ही ( प्रयन्ति ) पुरस्कार में प्रस्तुत किये जाते हैं।

पुरष को ( चित्र राध ) नाना प्रकार का धन, ज्ञान ( आवह ) प्राप्त करा । हे ( अमर्त्य ) मरणादित, नित्य <sup>१</sup> हे ( जातवेद ) समस्त उत्पन्न पदार्थों में निवास करने वाले, सबको जानने वाले, वेदों के मूलकारण ( त्वं ) तू ( अघ ) आज्ञा ( उपबुध ) सूर्योदय के साथ ज्ञानसम्पन्न एवं जागृत होने वाले ( देवान् ) इन्द्रियमण्य को ( दाशुषे ) इस मनुष्य को ( आवह ) पुन प्राप्त करा ।

१ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २  
[४१] त्वं नक्षिन्न ऊत्या यसो राधांशुसि चोदय ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २  
अस्य रायस्तमग्ने रथीरसि विदा गाथं तु चे तु नः ॥७॥  
श्रु० ६ । ४८ । ९ ॥

भा०—हे ( यसो ) सब को बसाने वाले अग्ने ! ( त्वं ) तू ( चित्र ) नाना शक्ति सम्पन्न, दर्शनीय ( ऊत्या ) अग्ने रक्षासामर्थ्य से ( राधासि ) धनों, यज्ञों, सामर्थ्यों को ( न चोदय ) हमारे प्रति प्रेरित कर । ( त्वं ) तू ( अस्य ) इस ( राय ) धन ऐश्वर्य का ( रथी ) रथ में बैठे महारथी के समान विजेता या रस ग्रहण करनेहारा ( असि ) है । और तू ( न ) हमारे ( तुचे ) सन्तान के लिय ( गाथ तु ) प्रतिष्ठा ऐश्वर्य को भी ( विदा ) प्राप्त करा ।

२४ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २  
[४२] त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने प्रातर्ऋतः कवि ।

१२ २ ३ १ २ ३ १ २  
त्वा विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वे प्रस ॥८॥  
श्रु० ८ । ६० । ५ ॥

भा०—हे अग्ने <sup>१</sup> हे ( प्रात ) रक्षा करने हारे <sup>२</sup> ( त्वम् इत् ) तू ही ( सप्रथाः<sup>३</sup> ) सब प्रकार से विद्यवात्त है । तू ही ( ऋत<sup>४</sup> ) सत्य, ज्ञानस्वरूप, ( कवि ) मेधावी, शान्तदर्शी है । हे ( दीदिव<sup>५</sup> ) देदीप्यमान, तेज स्वरूप । हे ( समिधान ) प्रकाशमान ! तुम्हको ही ( वेधस ) स्तुति करने

हारे ( विप्रासः ) विद्वान् लोग ( आ विवासन्ति ) भजन, कीर्तन करते और प्रकट करते हैं ।

[४३] आ नो अग्ने वयोवृधं रयि पावक शंशस्यम् ।

रास्वा सन उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती सुयशस्तरम् ॥६॥

अ० ८।६०।११ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे ( पावक ) पवित्र करने हारे ! ( नः ) हमें ( शंस्यम् ) प्रशंसा के योग्य, ( वयोवृधम् ) आयु को बढ़ाने वाला ( रयिम् ) धन ऐश्वर्य ( रास्व ) दे । हे ( उपमाते ) ज्ञानसम्पन्न, हे सृष्टि के कर्ता ! ( सुनीती ) उत्तम धर्म की नीति से ( नः ) हमें ( पुरुस्पृहम् ) जिस धन को बहुत लोग चाहते हैं और ( सुयशस्तरम् ) जिसके प्राप्त करने से उत्तम यश भी प्राप्त होता है वह भी ( रास्व ) दे ।

[४४] यो विश्वा दयत वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।

मधोर्नि पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१०॥

अ० ८।१०३६ ॥

भा०—( यः ) जो अग्नि, ईश्वर ( विश्वा वसु ) सब प्रकार के वास करने योग्य, जीवनोपयोगी धन ( दयते ) दान करता है या सब वास करने वाले प्राणियों की रक्षा करता है वह ( होता ) सब को अन्न आदि पदार्थ देने वाला ( जनानाम् मन्द्रः ) और सब प्राणधारी जन्तुओं को आनन्द देने हारा है । ( अस्मै ) इस ( अग्ने ) अग्नि के लिये ( मधोः ) मधु, ऋग्वेद के ( स्तोमाः ) स्तुतिपूर्ण मन्त्र ( प्रथमानि ) उत्तम या सबसे पूर्व प्रस्तुत ( मधोः पात्रा न ) मधु से पूर्ण मधुपर्क के पात्रों के समान ही ( प्रयन्ति ) पुरस्कार में प्रस्तुत किये जाते हैं ।

उस भगवान् की सबसे प्रथम स्तुति करनी चाहिये जो समस्त प्राणियों की रक्षा करता, सबको भ्रष्ट देता और आनन्द देता है ।

इति चतुर्थी दशति । चतुर्थं खण्ड ।



॥ द० ५ ॥ १ वमिडो वामदेवो वा । २ भर्गं प्रागाथ । ३, ७ सौभरि वाण्व ।  
४ मनुस्वस्वत । ५ स्तुतिपुरुमीदृक्कम्भा । ६ प्रम्वण्व वाण्व । ८ मधातिथिर्मे  
ध्यातिथिश्च काण्वौ । ९ विश्वामित्र । १० कण्व घौर ॥ वृत्ती ॥

[४५] एना धो अग्नि नमसोजो नपातमाधुपे ।

प्रिय चेतिष्ठमरतिष्ठ स्वध्वर विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥

शु० ७ । १६ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! ( एना ) इस ( गमता ) भ्रष्ट द्वारा ( ऊर्जे नपात ) बल को क्षीण न होने देने वाले ( प्रियम् ) सबसे उत्तम, प्यारे, ( चेतिष्ठम् ) सबसे अधिक ज्ञानवान् और ज्ञान करागे हारे, ( अरति ) स्वामी ( स्वध्वर ) उत्तम, हिंसा से रहित, जा न मारे, न मरे, निष्प, ( विश्वस्य दूतम् ) समस्त सत्ता को ज्ञान का संदेश देने वाले या सब के स्वयं सत्ताप निवारक उपास्य और ( अमृतम् ) स्वयं गित्य, अविनाशी ( अग्नि ) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर का ( आहुवे ) शरण करता हूँ ।

[४६] शेषे वनेषु मातृषु सन्वा मर्त्तसि इन्धते ।

अतन्द्रो हव्य वहसि हविष्टृत आदिहैवेषु राजसि ॥२॥

शु० ८ । ६० । १५ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर ! तू ( वनेषु ) जगलों में अग्नि के समान, देवों में जाय के समान, सब प्राणियों की आत्माओं में और ( मातृषु )

माताओं के गर्भों और भूमियों में चेतन बीजरूप से ( शेषे ) प्रसृत होकर व्याप्त रहता है । ( त्वा ) तुम्हको ( मर्त्तास. ) मरणधर्मां, देहवान् प्राणि-  
गण ( इन्धते ) प्रदीप्त करते, प्रकट करते और ज्ञान करते हैं । तू (अतन्द्र )  
आलस्य से रहित होकर ( हविष्कृत. ) हवि सम्पादन करने वाले  
पुरष के ( हव्यं ) प्रस्तुत किये ज्ञान को ( वहसि ) ले जाता है । ( आत् इत् )  
और अनन्तर तू ईश्वर ( देवेषु ) देवों, विद्वानों और जीवों और इन्द्रियों के  
बीच में सबसे उत्कृष्ट होकर ( राजसि ) प्रकाशित होता है ।

१ २            ३ १ २ ३ १ २            ३ १ २ ३ २

[४७] अर्द्धिं गातु वित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधु ।

३ २ ३ १ २ २ ४            २ ३ १ २            ३ १ २

उपोषु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥ ३ ॥

श्र० ८ । १०३ । १ ॥

भा०—( गातुवित्तमो<sup>१</sup> ) समस्त मार्गों लोकों को भली प्रकार जानने  
वाला, पृथिवी का उत्तम ज्ञाता, वह अग्नि ( अर्द्धिं ) प्रकट होता है  
( यस्मिन् ) जिसमें, जिसके बल पर दीक्षित लोग ( व्रतानि<sup>२</sup> ) अपने शुभ-  
कर्म और संकल्पों को ( आदधु ) धारण करते हैं । उस ( सुजातम् ) शुभ  
गुणों से युक्त, उत्तम प्रकार से प्रकट होने वाले, ( आर्यस्य वर्धन ) श्रेष्ठ  
पुरष की उत्पत्ति करनेवाले ( अग्निम् ) अग्नि, परमेश्वर को ( न गिरः ) हमारी  
वाणिया ( नक्षन्तु<sup>३</sup> ) प्राप्त हों ।

३ २ ३    २ ३ १ २ ३ १ २    ३ १ २ ३ २

[४८] अग्निर्ऋथे पुरोहितो प्रावाणो बर्हिरध्वरं ।

३ १ २    ३ २ ३ १ २ ३ १ २

ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अबो वरेण्यम् ॥४॥

श्र० ८ । १०७ । १ ॥

४७—'नक्षन्तु नो गिर' इति श्र० । १. गातुरिति पृथिवीनाम । नि० १ । १ ।

२ व्रतमिति कर्मनाम । नि० २ । १ । ३ नक्षन्तिर्वाप्तिरमां । नि० २ । १८ ।

४८—'मरुतो ब्रह्मणस्पति देवान्' इति श्र० ।

भा०—( उक्थे ) उक्थ नाम यज्ञ में ( अग्नि ) अग्नि, ज्ञानी विद्वान् ( पुरोहित ) पुरोहित होता है और ( अश्वरे ) हिंसारहित यज्ञ में ( आवाय ) सोमसम्पादन के लिये, एवं ज्ञानयुक्त कर्म सम्पादन के लिये विद्वान् पुरोहित नियुक्त होते हैं और ( यद्भि ) बुरा भी जाई जाती है । हे ( मरुत ) देव राण, विद्वानो, प्रजाजनो, अथ्यद्य जागो । हे ( मद्वाणस्पते ) वेदविद्, सब विद्वानों के मुख्य । हे ( देश ) विद्वान् लागा । ( अघा ) अग्नि के अनुसार ( वरेण्यम् ) सबसे अधिक वरण करन योग्य ( अघ ) रक्षा या शरण को ( यामि ) मैं प्राप्त करू ।

३ १ २ ३ ३ २ १ १ २ ३ १ २

[४६] अग्निमीडिध्यावसे गाथाभि शीरशोचिपम् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ ५ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

अग्नि राये पुरुमीडि श्रुत नरोग्नि सुदीतये छदि ॥५॥

श्र० ८ । ७१ । १५ ॥

भा०—हे मनुष्य ! ( शीरशोचिपम् ) सुप्त ज्योति वाले, ( अग्नि ) अग्नि, परमेश्वर का ( अवसे ) अपनी रक्षा, पालन के लिये ( गाथाभि ) नाना प्रकार के वेदमंत्रों और विज्ञान कथाओं से ( शीरशोचि ) वरण कर । हे ( पुरुमीडि ) और बहुत ज्ञान सिधे ! पुरुष ! ( अग्निम् ) अग्नि, ज्ञानवान् का आश्रय ( राय ) धनदि विभूति प्राप्ति के लिये ल । ( श्रुत ) उसी प्रसिद्ध या विद्वान् अग्नि ज्ञानी के समान प्रभु को ( नर ) नेता और

१ यामि इति याज्ञाकर्मसु पठितम् । नि० ३ । १९ ।

५९—'अग्नि सुदीतये छदि' इति श्र० ।

१ शीर अनुशासनमिति वा आशीनमिति वा इति । निर० ५ । २ । १४ ॥

२ हे पुरुमाद ! मनीषान्तरारामन् । इति मा० वि० ।

३ नर इति मनुष्यनाम । नि० २ । ३ । नर नरावारम् इति मा० वि० ।

४ 'छदि छ' सगीपने' जुगति ।

नरनारी भी अपना आश्रय बनाते हैं । ( सुदीतये ) प्रकाश करने के निमित्त भी वह ( अग्नि ) अग्नि ही ( इर्दि- ) दीक्षिमय प्रकाश है । अथवा ( इर्दि, सुदीतये अग्नि- ) घर को प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान भी वही ज्ञानमय प्रभु हृदयगृह का और ब्रह्माण्ड का प्रकाशक है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[५०] धुधि श्रुत्कर्णं बह्निभिर्देवैरग्ने सयाचभिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
आ सीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्याचभिरध्वरे ॥६॥

अ० १। ४४। २३ ॥

भा०—हे ( श्रुत्कर्णं ) धषण करने में समर्थ, कर्णोन्दिप से सम्पन्न अग्ने ! ज्ञानवन् ! ( धुधि ) आप हमारा निर्वेदन सुनों । ( सयाचभिः ) समान गति, ज्ञान से सम्पन्न ( बह्निभिः ) कार्यभार को उठाने में दक्ष, एवं प्रकाशमान ( देवैः ) देवों के साथ ( मित्र ) मित्र, सबको स्नेह करने वाला ( अर्यमा ) न्यायकारी, स्वामी के पद पर स्थापित, ( प्रातर्याचभिः ) प्रातःकाल, देवयजन स्थान में आने वाले विद्वानों के सहित ( अध्वरे बर्हिषि ) हिंसारहित यज्ञ एवं आसन पर ( आसीदतु ) विराजमान हो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[५१] प्र देवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्जना ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥७॥

अ० ८। १०३। २ ॥

भा०—( देवोदासो अग्निः ) चुल्लोक में उरपक्ष होने वाला अग्नि ( देवः ) प्रकाशमान होकर ( इन्द्रो न ) घमचमाते विद्युत् या सूर्यके समान ( मज्जना ) बलपूर्वक ( मातरं पृथिवी अनु ) समस्त प्राणियों की माता

५०—'आमिदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्याचानो अध्वरन्' इति ऋ० ।

५१—'अग्निर्देवां अच्छ', 'नाकस्य सानवि' इति ऋ० । 'मज्जना' इति बहुव, प्रायः गानग्रन्थेषु । १. मन्मनेति बलनाम । नि० २ । ९ ॥



पृथिवी की और ( प्र विवावृते ) नाना प्रकार से पहुँच कर उसको ढक लेता है, उस पर जालसा बिछा देता है और ( नाकरय ) अन्तरिक्ष के ( शर्मणि ) आश्रय में ( तस्थौ ) स्थिर है ।

अर्थात् सूर्यलोक से आया तेज प्रभाव बोग से पृथिवी पर गिरता है और वायु में खीन होकर पृथिवी को छाये रहता है । सूर्य से निकलते हुए जीवन के मूलकारण 'आयनृज्' पृथिवी माता पर पहुँचत हैं । यही वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है ।

ईश्वर पक्ष में—( दैवोऽस अग्नि ) तेजोमय परमेश्वर के आश्रय में विद्यमान् ज्ञानवान् ( देव ) स्वयंप्रकाश ( इन्द्र न ) विद्युत् या सूर्य के समान ( मज्जमाना ) अपने बल से ( मातरम् पृथिवीम् अनु ) सब प्राणियों के उत्पन्न करनेवाली माता पृथिवी पर ( प्र विवावृते ) विशेष रूप से रहता है । और पुन ( नाकरय ) नाक स्वर्ग, सुखमय, आनन्दमय मोक्ष के ( शर्मणि ) आश्रय में ( तस्थौ ) विराजता है ।

[५२] <sup>२ ३ १२ २२</sup> अध जमो <sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२</sup> अधवा दिवो वृद्धता रोचनादधि ।

<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अध्या यद्दस्य तन्वा गिरा ममा जाता सुकतो पृथ ॥ ८ ॥

श० ८ । १ । १८ ॥

भा०—हे अग्ने ! ( अध जम ) पृथिवी के नीचे ( अधवा ) और ( वृद्धतः ) विशाल, सब पर आच्छादित, ( रोचनात् ) कान्तिमान् ( दिव ) सूर्यमण्डल के ( अधि ) ऊपर भी ( अध्या ) इसी ( तन्वा ) रूप से ( यद्द स्व ) तू सर्वत्र फैला हुआ है । हे ( सुकतो ) हे सुन्दर ससार के बनाने वाले कारीगर ! ( गिरा ) अपनी घेदमय ज्ञान बाणी से ( मम ) मेरे ( जाता ) प्रजाजनों का ( पृथ ) पालन कर और पोषण कर ।

१ २ ३ २३ ३ २ ३ २  
 [५३] कायमानो वना त्व यन्मातृरजगत्प्र ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 न तत्त अग्ने प्र मृपे नियर्त्तन यद् दूर सन्निहा भुव ॥६॥

अ० ३। १। २ ॥

भा०— हे अग्नि ! जीव ! ( त्व ) तू ( वना ) वनों का दहों का ( कायमान ) सन्वय या कामना करता हुआ ( यत् ) जो ( मातृ ) माता स्वरूप उत्पादक ( अथ ) कर्मों को ( अजगत् ) प्राप्त हा गया उनमें लग गया है । ( तत् ) यह ( ते ) तरा ( नियर्त्तन ) अपन मातृमार्ग से भ्रष्ट होना ( न प्र मृपे ) सहन नहीं होता ( यद् ) कि ( दूर ) सन् ( सन्निहा ) विषय घासनाथों और कर्मबन्धनों से दूर रहकर भी ( इह ) इस कर्मबन्धनमय जीवलोक में ( आ भुव ) पुन प्रादुर्भाव हुआ, उत्पन्न हुआ है ।

इंधरपथ में—( वना ) भोग योग्य स्त्रियों को ( कायमान ) बनाने की कामना करता हुआ ( यत् ) जब तू ( मातृ अथ ) सब जगत् के उत्पादक मूल प्रकृति के परमाणुओं को ( अजगत् ) धाम लता है ( तत् ते नियर्त्तनम् ) उस समय तरा निगूड़ व्यापार ( न प्र मृपे ) नहीं प्रतीत होता है कि ( यत् दूरे सन् ) उस प्रकृति से दूर, सर्वथा भिन्न, अलग रह कर भी ( इह आभुव ) इसमें व्यापक होकर सृष्टि रचने में समर्थ होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [५४] नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्यातिर्जनाय शश्रते ।

३ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २  
 दीदेथ वण्य ऋतजात उदितो य नमस्यन्ति वृष्टय ॥१०॥

अ० १। ३६। १९ ॥

५३—'इगभर' इति अ० । १ चावृ पूरनिगमनशोरिति चाग्ने जो पु-व-र-प-।  
 वापमनधापमन वानमान इति वा । निरु० ४। २। १४ ।  
 २ गावः इति नदीनाम । नि० १। २३ ॥ ३ ५ । ५ इति पन्द्र ।

भा०—हे अग्ने ! ( ज्योति ) ज्योति स्वरूप, ज्ञानमय, प्रकाशरूप ( स्वाम् ) तुम्हको ( शश्वते<sup>१</sup> जनाव ) नाना प्रकार की प्रजाओं के लिये ( मनु ) मननशील पुरुष ने ( निदधे ) पूर्णरूप से प्रकाशित किया । और ( य ) जिसको ( कृष्टय ) मनुष्यगण ( नमस्यन्ति ) नित्य नमस्कार करते हैं वह तू ( कयव ) मेधावी पुरुष के हृदय में वह ( अतजात० ) सत्य ज्ञान या वेद रूप से प्रकाशमान हाकर ( अहित ) आनन्द रस रूप में सिद्ध होकर ( दीदेय ) प्रकाशित हो ।

इति षष्ठ्यो दशति । षष्ठम खण्ड ।

इति प्रथमाऽध्यायः ।



॥ ६० ६ ॥—१, ७ वसिष्ठ । २, ३, ५ वणो और । ४ सौभरि काण्व । ६ उन्नील आन्नीलोवा कात्य । ८ विधामिन ॥ २ मद्राम्यति । ३ यद् । वृत्ती ॥

[५५] देवो वा द्रिषोदा पूर्णा विवृत्वासिचम् ।

उत् सिञ्चध्व वा पृथध्वमादिदो देव ओहते ॥१॥

शु० ७ । १७ । ११ ॥

भा०—हे मनुष्या ! ( व ) तुम्हारा ( देव ) देव इष्ट, अत्रिपात्र परमेश्वर ( द्रिषोदा ) सब प्रकार के द्रव्यों को देने हारा है । इसलिये वह ( पूर्णाम् ) भरी हुई ( आसिचम् ) खुवा को ही ( विवृत् ) कामना करता है ( वा ) और ( उत् सिञ्चध्व ) खूब ऊपर से आहुति भरकर ढाड़ो ( वा ) और ( उप पृथध्व ) उसको पुन भरो ( आत् इ ) तब शीघ्र ही ( व ) तुम्हारे लिये ( देव ) वह दिव्य गुण ईश्वर ( ओहते<sup>१</sup> ) अभिलषित फल दगा ।

५४-१. शश्वद् वदुनाम ( नि० ३ । १ । )

५५—'विवृत्वासिचम्', इति शु० ।

१ ओहते वर्षति । मा० वि० । तद्गुरूपन् । सा० । वहतेरूपन् । मा० वि० ।

जो ईश्वर सध कुछ देता है उसके नामपर कंजुमी से दान न देकर सुले हाथ दान करना चाहिये । पात्र में दान देने से फल भी शीघ्र प्राप्त होता है ।

२३ १ २ ३ २ ३ २ क२र ३ १ २  
[५६] प्रंतु ब्रह्मणस्पति प्र देव्येतु सूनुता ।

१ २ २५२ २५२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिरायसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ २ ॥

अ० १। ५०। ३ ॥

भा०—( ब्रह्मणस्पतिः<sup>१</sup> ) ब्रह्म का पालक विद्वान् या ईश्वर ब्रह्मणस्पति ( प्र एतु ) हमारे पास भावे । ( सूनुता ) वेदशास्त्री ( देवी ) दिव्य-गुणों से सम्पन्न ( प्र एतु ) उत्तम रूप से हमें प्राप्त हो । ( देवा ) विद्वान् या इन्द्रियगण ( नर्यं ) मनुष्यों के हितकारक ( वीरम् ) वीर्यसम्पन्न ( पङ्क्ति-रायसम् ) पंक्ति, दश से साधन योग्य या परिवक्तृ ज्ञान से प्राप्य ( यज्ञं ) यज्ञ को ( नः ) हमें ( अच्छा<sup>२</sup> ) भली प्रकार ( नयन्तु ) प्राप्त करावें ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १२ २२ ३ २

[५७] ऊर्ध्वं ऊ पु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यद्भिजिभिर्वाघद्विर्वि हयामहे ॥३॥

अ० १। ३६। १३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर तू ( नः ) हमारी ( ऊतये ) रक्षा के लिये ( ऊर्ध्वः ) उन्नत होकर ( सु तिष्ठ ) भली प्रकार स्थिर रह । ( देव सविता न ) दिव्य गुणों से सम्पन्न सविता, सूर्य या विद्वान् के समान आप ( वाजस्य ) अथ और ज्ञान को ( सनिता ) देने-हारे हो । ( यन् ) जिस कारण ( भजिभिः<sup>१</sup> ) गुणों का प्रकाश करने-हारे ( वाघद्विः ) यज्ञकार्य का

५६-१. ब्रह्मणस्पतिः—ब्रह्म अत्र, तस्य पतिः, ब्रह्म वेदः, तस्य पतिः ।

२. अष्ट आप्तुं सम्भारयितुमिति मा० वि० ।

५७-१. वज्रिभिः त्वःसुव्रप्राणैः छन्दोभिः, इति मा० वि० ।

सम्पादन करने द्वारे विद्वानों द्वारा हम आपको ( वि ह्वयामहे ) बुलाते हैं और आपकी स्तुति उपासना करते हैं ।

२३ ३।२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[५८] प्र यो राये निनीपति मर्तो यस्तं यसो दाशत् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
स वीरं धत्ते अग्ने उक्थशंसिन्त्मना सहस्रपोषिणम् ॥५८

श्र० ८ । १०३ । ४८

भा०—हे वयो ! समस्त ससार को आश्रय देने वाले ! ( यः ) जो ( मर्तं ) मरणधर्मा पुरुष ( राये ) अमृत धनके निमित्त ( प्र निनीपति ) तुम्ह तक पहुँचना चाहता है या कोई श्रेष्ठ कार्य सम्पादन करना चाहता है या प्रेम प्रकट करना चाहता है । और ( य ) जो ( ते ) तुम्हें ( दाशत् ) समर्पण करता है ( म. ) वह हे अग्ने ! परमेश्वर ( उक्थशंसिनम् ) वेदव्या ( सहस्रपोषिणम् ) हजारों को भरण पोषण करने वाले ( वीरम् ) वीर पुत्र को ( त्मना ) अपने सामर्थ्य से ( धत्ते ) धारण करता या उत्पन्न करता है ।

ईश्वर को स्मरण करने और उसको आत्मसमर्पण करने वाले वासिष्ठ धर्मात्मा के घर में जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे स्वयं विद्वान्, वेदव्या और सहस्रों को पालने पोषने में समर्थ होते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[५९] प्र वो यद्दं पुरूषां विशा देययतीनाम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
अग्निं सुक्तेभिर्वचोभिर्वृणीमहे यं समिदन्य इन्धतं ॥५९

श्र० १ । ३९ । १८

भा०—( यं ) जिस अग्नि, राजा या ईश्वर को ( अन्य इत् ) अन्य पुरुष भी ( सम् इन्धते ) प्रकलित प्रदीप्त करते, हृदय में जुगाते हैं, उग

५८—'य राये निनीपति' इति श्र० । १, बभरान्ने । सा० । २, एी प्राग्ने ।  
न्नादि । प्राग्ने रचन । भाष. प्रेम ।

५९—'द्वोभिर्वचो' इति श्र० । 'सोमिन्य इन्धते' इति श्र० ।

( देवयतीनाम् ) दिव्यगुणों से सम्पन्न होना चाहने वाली ( पुरुषाम्<sup>१</sup> ) पालन पोषण करने में समर्थ, बलवान्, शरीर में इन्द्रियों के समान ( विशा ) प्रताओं के ( यद्धम्<sup>२</sup> ) व्यवस्थापक, महान्, अधिष्ठातारूप अग्नि को ( सूत्रेभि ) वेद के सूत्रों द्वारा ( प्रवृणीमहे ) श्रुव अस्त्री प्रकार वरण करत हैं । यहाँ आत्मा और राजा का भी धर्मान है ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २

[६०] अयमग्नि सुर्वीर्यस्येशे हि सौभागस्य ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ॥ ६ ॥

अ० ३। १६। १ ॥

भा०—( अयम् ) यह ( अग्नि ) अग्नि, परमेभर और राजा ( सुर्वीर्यस्य ) उत्तम वीर्य, सामर्थ्य का और ( सौभागस्य ) सौभाग्य का ( हि ) भी ( ईशे ) स्वामी, अधिष्ठाता है । वही अग्नि ( राय ) समस्त धनों का ( ईशे ) स्वामी है । वही ( स्वपत्यस्य ) सुन्दर पुत्र प्रजा का ( गोमत ) गौ आदि पशुओं से सम्पन्न ( राय ) धन धान्य का ( ईशे ) स्वामी है । वही ( वृत्रहथाना ) वृत्र, विघ्नकारी पापों, पापी पुरुषों के मारने वाल बल और साधनों का भी ( ईशे ) स्वामी है ।

१ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २

[६१] त्वमग्ने गृहपतिम्वृष्ट होता नो अध्वरे ।

१ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्व पोता विश्वयार प्रचता यधि यासि च वार्यम् ॥ ७ ॥

अ० ७। १६। ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! ( त्व ) तू ( गृहपतिः ) घर का स्वामी है, ( त्व ) तू ( न ) हमारे ( अध्वरे ) यज्ञ, हिंसारहित धेष्ट कर्म में ( होता ) यत्न-

१ पुरुषि इन्द्रियाणि । ६० ३० । २, यह इति मद्रथाम । नि० ३ । ३ ।

६०—'ईशमह,' इति अ० ।

६१—'यधि वेपि च' इति अ० ।

मान और समस्त भाव्य पदार्थों के दान और स्वाकार करनेवाला या विद्वान् दिव्य गुणों पुरुषों और शक्तियों को बुला कर हमें प्राप्त कराने वाला है । हे ( विश्ववार ) समस्त ससार के वरण करन याग्य या सब विद्वां के धारण करनेवाले रक्षक<sup>१</sup> ( स्व ) तू ( पाता<sup>२</sup> ) सब कार्यों का परिशाधक, निरीक्षक ( प्रचता ) उत्कृष्ट मतिसम्पन्न है । तू ही ( धार्यम् ) सब का प्रसन्न करने वाला वरणयोग्य अथ पशुध ऐश्वर्य का ( यधि ) दत्ता है और ( धासि च<sup>३</sup> ) हमें प्राप्त कराता है या स्वयं स्वाकार करता है ।

<sup>१ २</sup> [६२] सखायस्त्वा ववृमहे देव मर्त्तास ऊतये ।

<sup>३ १ २२</sup> अयान्नपात७ सुभग सुद७सस७ सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥३॥

श्र० ३ । १ । १ ॥

मा०—हे अन्न<sup>१</sup> परमामन्<sup>२</sup> ( सखाय ) हम सब समान रचाये वाले ( मर्त्तास ) मरणधमा पुरुष या इन्द्रियगण ( ऊतये ) अपनी रक्षा के लिये ( अयान्नपातम्<sup>३</sup> ) अथ अर्थात् कर्मों और ज्ञानों के नपात् अर्थात् अपश्य, उपश्रुष्ट मृष्टमहाप्राण रूप या हम प्रजाओं को विनष्ट न हान देने वाले ( सुभग ) सुख स सबन याग्य उत्तम पश्यवान् ( सुदसस<sup>४</sup> ) शुभ कर्म करन वाले ( सुप्रतूर्ति<sup>५</sup> ) पापियों और पापा के विनाशक ( अयान्नपातम्<sup>६</sup> ) अथ और उपदर्वों से रक्षित ( स्वा दय ) तुम्हें स्व को ( ववृमहे ) वरण करत है ।

१ पोता गार्थविला । मा० वि० । २ यामि याचस इति मा० वि० । सुभग सुतीति इति श्र० ।

६२-१ अयान्नपात् । अयन्वीच व, यथा अन्नम ओषधय । ततो रम्याणि विद्यन्त । अन्नाद्यापामय प्राण इति सुप्रप्राणन्वाद्भ्यो गन्त्यन्वात्तपश्यत्वम् ।

२ दस कर्मनाम ( ति० २ । १ ), ३ तूतिर्दिसार्थं भ्याम् ।

४ अनशन उपद्रवरहित सा० । अवीधम् । मा० वि० । एह कोषाम ।

मि० २ । १३ ।

इन्द्रियगण जिस प्रकार आत्मा को वरते हैं उसी प्रकार मनुष्य अपनी रक्षा के लिये इन गुणों से सम्पन्न को ही राजा मुख्यपति नियुक्त और उसी प्रकार ईश्वर को भी वरण करे ।

इति षष्ठी दशति. । षष्ठ. एण्डः ।

॥ ७ ॥ अग्नि-१ श्यावाभोवामदेवोवा । २ जपस्तुतो वार्ष्टिहव्य. । ३ बृहदुक्थो वाम-  
देव्यः । ४ कुत्सः । ५, ६ भरद्वाजो वार्ष्टिहव्यः । ७ वामदेव. । ८, १० वसिष्ठः ।  
९ त्रिशिरस्त्वाष्ट्रः ॥ १, ३, ५, ९ त्रिष्टुभ । २, ४ जगत्यौ । १० त्रिपाःविराड्गायत्री ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[६३] आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं निहोतारं गृहपतिं दधिध्वम् ।  
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम् ॥१॥

भा०—हे पुरुषों ! ( हविषा ) स्तुति और अग्नादि द्वारा ( आजुहोत )  
आदरपूर्वक आहुतियों दान करो और ( मर्जयध्वं ) सत्कार करो और सुखी  
करो । ( होतारं ) सब प्रकार के भोग्य अन्न आदि देने वाले उस होता स्वरूप  
( गृहपतिं ) गृह स्वामी के समान प्रभु को ( नि दधिध्वम् ) अच्छी प्रकार सेवा  
शुभ्रपा और धारणा ध्यान द्वारा स्मरण करो । ( इडः ) इला-पृथिवी यज्ञवेदी  
और अग्नादि के ( पदे ) स्थान पर या अक्सर पर और ( पस्त्यानाम् ) घरों के  
बीच में ( रातहव्यं ) हवि चरु आदि पुष्टिकारक पदार्थ और आनन्द के दायक  
स्वामी की नमसा)नमस्कार और उपहार द्रव्यों द्वारा(सपर्यत) पूजा सत्कार करो ।

३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[६४] चित्र इच्छिद्रोस्तकणस्य वक्षथो न यो मातरावन्नेति धातवे ।  
३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अनू रा यद्जीजनदधाचिदा ववक्षत्सथो महि दूयं चरन् प्ररा

अ० १४ । ११७ । १ ॥

६३-१. पस्त्यानि गृहाणि । नि० ३ । ४ । तेषु ये निवसन्ति ते पस्त्याः । ग० वि० ।

६४-'आवेति भावे' 'ददन्जीजन' 'अधाचन ववक्ष सथो' इति पाठभेदः, ऋ० ।



भा०—परमात्मा अग्नि का श्लेषपूर्वक शिशु रूप से वर्णन । प्रथम शिशु के पक्ष में—( शिशोः<sup>१</sup> ) उस शिशु रूप ( तरुणस्य ) तरुण अग्नि आत्मा का ( इत् वक्ष<sup>२</sup> ) भी यह वहन करने का कार्य ( चित्र इत् ) आश्चर्यजनक है ( य ) जो ( घातवे ) रस पान के लिये भी ( मातरौ ) माता पिता किसी के पास भी ( न अन्वेति ) नहीं जाता है । और आश्चर्य यह है कि (अनूधा.) बिना दूध के ही अथ वह उत्पन्न हुआ ( अथा चिन् ) तब ही ( सद्य ) तुरन्त ( मदि ) बड़े भारी ( द्रव्य चरन् ) दून के कार्य के समान गगनागमन करता हुआ ( अववक्षत् ) कार्य भार को उठा लेता है ।

ईश्वर परमात्मा व्यापक, सर्वत्र सुप्त के समान व्यापक होने से यास्तुत्य होने से शिशु है, वह नित्य सामर्थ्यवान् होने से 'तरुण' है । उसका विश्व को वहन करने या धारण करने का कार्य अद्भुत है । वह अपने बल प्राप्त करने के लिये ( मातरौ ) मातृभूत धी और पृथिवी दोनों के अधीन नहीं रहता । वह ससार को स्वयं उत्पन्न कर चुकने पर भी 'अनूधा' अर्थात् स्वयं उसको धारण करता है । अतएव वह ( सद्य ) निरन्तर ( मदि ) बड़ा भारी ( द्रव्य चरन् ) विश्व को उपतापन या तप का कार्य करता हुआ इस ससार का ( अववक्षत् ) उठा रहा है ।

३२ ३ १२ ३ २ ३ १२ ३ १२ ३ १ २ ३ १२

[६५] इत् त एक पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा संविशस्य ।

३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

संवेशनस्तन्व्येश्चारुरेति प्रियो देवाना परमे जनित्रे ॥ ३ ॥

५० १० १ ५६ १ १ ॥

भा०—हे आत्मस्वरूप अग्ने ! ( इदम् ) यह प्रत्यक्ष संसार और यह लोक ( ते ) तेरा ( एकम् ) एक रूप है । ( पर<sup>३</sup> उँ ) और परलोक का स्वरूप

१. शिशो शमनीयस्य । मा० वि० । २. वक्ष-वहन गमनम् । मा० वि० ।

३. चित्र पूज्य । मा० वि० ।

६५—'सवेशने तन्व' इति श्र० ।

( ते ) तेरा ( एकम् ) एक दूसरा स्वरूप है । तू इन दोनों को अतिक्रमण करके ( तृतीयेन ) तीसरे उत्कृष्ट ( ज्योतिषा ) ज्योति, ब्रह्मज्ञान से ( संविशस्य ) लीन हो । वहा ( संवशान ) सुख के प्रवेश करने योग्य होकर ( तन्वे ) पुन शरीर ग्रहण के लिये ( चारु ) भली प्रकार गमनशील ( पृधि ) रह, ( परमे ) उत्कृष्ट ( जनित्रे ) उत्पत्तिस्थान में ( देवानाम् ) दिव्य गुण वाले अपने इन्द्रियगण के सामर्थ्यों का ( प्रिय ) प्रेमपात्र होकर रह ।

ईश्वरपद में—यह प्रत्यक्ष लोक तेरा एक रूप है । पर सूर्य चाँद्री तेरा दूसरा रूप है । तू ही तीर्थतम, तृतीय, सर्वोत्कृष्ट ज्योतिरूप सर्वत्र व्यापक है । तू व्यापक होकर ( तन्वे ) जगत् के विस्तार करने के लिये भी ( चारु पृधि ) सर्वत्र व्याप्त होता है । तू ( देवाना ) देव, पञ्चभूतों या सुक्कारमाद्यों के परम उत्पादक रूप में भी उनका ( प्रिय ) प्रिय अर्थात् उनमें सबसे अधिक श्रेष्ठ है ।

सायण ने इस मन्त्र को बृहदुक्थ ऋषि के मुख से अपने मृत, पुत्र के प्रति कहाया है । “तेरा यह एक अंश शरीर इस रमशानाग्नि में जाय, दूसरा अंश प्राणवायु में मिल जाय, तीसरा अंश सूर्यज्योति में लीन हो जाय और पुनः शरीर धारण के लिये तैयार होकर सूर्यलोक में प्रसन्न होकर रह ।”

३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[६६] इमं ऋं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव स महेमा मनीषया ।

३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
भद्रादि न. प्रमातिरस्य सं ऋंसद्यज्ञे सत्ये मारिषामा वयं तव ॥ ३

अ० १ । १४ । १ ॥

भा०—( अर्हते ) पूजा सत्कार करने योग्य ( जातवेदसे ) समस्त पदार्थों के जानने वाले, वेदों के उत्पादक ईश्वर के लिये ( इमं स्तोमं ) यह स्तुति-वाक्य हम लोग ( रथम् इव ) रमणीय पदार्थ, उपहार करने योग्य वस्तु के

६६-१ रथमिव, यथा तज्ज्ञा रथं सृशरोति तथा ( सा० ) । यथा रथं गमयति तथा स्तोमं गमयेम, इति मा० वि० ।

समान ( सम् ) उत्तम रीति से ( मनीषया ) अपनी बुद्धि से ( मह्ये ) प्रस्तुत करते हैं । ( अत्य ) इस ( अग्ने ) अग्नि के ( संसद् ) समास्थान, संगम या सरसङ्ग में ( न, ) हमारी ( प्रमतिः ) उत्तम मति सदा ( भद्रा हि ) कल्याण संकल्प वाली बनी रहे । हे अग्ने ! ईश्वर ! ( वयं ) हम लोग ( तव ) तेरे संग ( सत्ये ) मित्रभाव में ( मा रिषाम<sup>२</sup> ) कभी कष्ट न पावें, कर्मा पीड़ित न हों ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २

[६७] मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्यो वैश्वानरमुत आजातमग्निम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ २

कविश्च सम्राजमतिथिं जनानामसन्नः पात्रं जनयन्त देवाः ॥६॥

श्र० ६। ७। १ ॥

भा०—( दिवः ) घौलोक के ( मूर्धानं ) शिरोभाग और ( पृथिव्याः ) पृथिवी के ( अरतिं ) स्वामी, ( अत्ते ) सत्य, पशु या समस्त ब्रह्माण्ड में ( आ जातम् ) सर्वत्र प्रादुर्भूत, व्याप्त, ( वैश्वानरम् ) सब प्राणियों में व्यापक, ( कविम् ) मेधावी, अन्तर्दर्शी ( सम्राजम् ) सूय प्रकाशमान सब के सम्राट्, ( जनानां अतिथिम् ) मनुष्यों में अतिथि के समान अति आदर से पूजा के योग्य ( न ) हमारा ( आसन् ) मुख भाग में स्थित, अर्थात् सब के प्रमुख ( अग्निम् ) अग्नि, ज्ञानवान् परमेश्वर को ही ( पात्रं ) हमारी स्तुतियों और सस्कार का पात्र या पालक ( देवाः<sup>२</sup> ) विद्वान् पुरुष ( जनयन्त ) प्रकट करते, बतलाते हैं ।

२ ४ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[६८] वि त्वदापो न पर्वगस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवा ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

सं त्या गिरः सुष्टुतयो चाजयन्त्या जिनागिर्विदादो जिग्युरश्वा ॥६॥

श्र० ६। २। ६ ॥

६७-१ पात्र पानार । सा० । २ देवः अतिथिः स्तोत्रार । मा० ।

६८-श्रुत्वेदे पाठभेदे तथा—'वि त्वदापो न पर्वगस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवा ।

स स्वाग्निं सुष्टुतिभिरज्यन्त आग्निं न ज्यन्तिर्वासा वा ।'

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (देवाः) स्तुति करने वाले या तेरे दिव्य-  
गुणों को जानने वाले विद्वान् लोग ( उक्थेभिः ) यज्ञों, ज्ञानचर्चाओं द्वारा  
( पर्वतस्य ) पर्वत या मेघ के ( पृष्ठात् ) तट या पृष्ठ देश से ( आपो न )  
जलधाराओं के समान ( स्वत् ) तुझ से ( वि जनयन्त ) नानाप्रकार के कार्य  
सम्पादन करते या तुझे नाना प्रकार से उत्पन्न करते या प्रकट करते हैं । अथवा  
( देवाः ) दिव्यगुण के सूर्य आदि पदार्थ तुझ से, मेघ से जलधाराओं के  
समान, स्वयं प्रकट होते हैं । हे परमेश्वर ( गिर्ववाह ) गिरा, वाग् या वाणियों  
द्वारा प्राप्त या ज्ञान करने योग्य करने ! ( अथाः ) अथ ( आग्नि न ) जिस  
प्रकार संप्राप्त भूमि में ( जिग्मुः ) विनय करते हैं, उसी प्रकार ( तु स्तुतयो  
गिरः ) उत्तमरूप से गुणवर्णन करने वाली बड़वाणिया ( सं स्वा ) उग्र  
प्रकार के गुणों से सम्पन्न तुझको ( वाजयन्ति ) बढ़ाती हैं, पुष्ट करती हैं,  
तुझे समृद्ध करती हैं, अलंकृत करती हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २  
[६६] आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययज्ञं रोदस्योः

३ २ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अग्निं पुरा तनयिन्नोरचित्ताद्विरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥७॥

अ० ४ । ३ । २ ॥

भा०—( अध्वरस्य ) कभी हिंसा का पात्र न होने वाले, कभी न मरने  
वाले यज्ञ के ( राजानम् ) अधिपति ( रुद्रम् ) घोर गर्जना के साथ गमन  
करते हुए या पापियों के रहलाने वाले, ( रोदस्यो, ) धौं और पृथिवी दोनों  
लोकों को ( सत्ययज्ञम् ) सत्य के बल से दान देने वाले अथवा उनमें व्यक्त  
जगत् रूप से, सत्य यज्ञ करने वाले ( होतार ) आकाश से और पृथिवी से

६९-१. रुद्रो रौतीति सतो, रोरुयमाणो द्रवतीति वा । रोदयतेर्वा, यद्दत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्व-  
मिति काठकम् । यद्रोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति द्वारिद्रिविषम् इति नि० १० ।  
१ । ५ ॥ रुद्र रोदनत्वरभाव । सा० वि० ।

अस्य और जन की आहुति देने वाले ( हिरण्यरूपम् ) मनोहर, सुवर्ण रूप को धारण करनेवाले तेजोमय ( अग्नि ) सूर्य के समान परमेश्वर को ( अचित्तात् ) चेतनारहित ( तनयित्नोः<sup>२</sup> ) अशनिद्विष्टत् से भी ( पुरा ) पूर्व अर्थात् उससे भी उत्कृष्ट ( अथसे ) अपने स्वार्थ ( कृणुध्वम् ) उत्पन्न कर लो, जानो ।

३ १ ४ ३ १ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[७०] इन्धे राजा समर्थो नमोभिर्यम्य प्रतीकमाहुतं घृतेन ।

१ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २

नरो हव्येभिरीडते सवाध अशिरग्रमुपसामशोचि ॥ ८ ॥

श्र० ७ । ८ । १ ॥

भा०—(अर्थ) स्वामी राजा) सब से अधिक काम्तिमान् (नमोभि) आदर वचनों से ( सम इन्धे ) खूब प्रज्वलित होता है । ( यस्य ) जिसका ( प्रतीकम्<sup>१</sup> ) स्वरूप ( घृतेन ) घृत, स्नेह, काम्ति या पुष्टिकर पदार्थों से ( आहुतं ) पूरित, हरा भरा है । उस ( उपसाम् अग्रम् ) उपाकाल में सब से पूर्व प्रकट होने वाले उस अग्नि को ( नर० ) विद्वान् लोग ( सवाधः ) उद्वेगों या श्रेणों या विघ्नों से बाधित होकर ( हव्येभि ) स्तुतियों से और उत्तम २ पदार्थों से ( ईडते ) भजन करते हैं । अग्नि के पक्ष में—अग्नि अहो से प्रज्वलित होता है । रोगों से पीड़ित लोग उत्तम चरुओं से होमते हैं ।

राजा के पक्ष में—राजा आदर वचनों से आदर होता है और शत्रुओं से पीड़ित प्रजाजन उसकी स्तुति करते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[७१] प्र केतुना बृहता या-यग्निरारोदसी वृषभो रोरधीति ।

३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

दिवश्चिदन्ताहुपमामुदानइपामुपस्थे महिषो वचर्त्त ॥ ९ ॥

श्र० १ । ८ । १ ॥

२ तनयित्नुर्शनि । सा० ।

७०—'अशिरग्रम्' इति श्र० । १ प्रतीक न्याय मुख्य । मा० वि० ।

७१—'दिवश्चिदन्ता' उपमा उदान्त्वा' इति श्र० ।

भा०—( अग्निः ) अग्नि, परमेश्वर ( वृहता ) बड़े भारी ( केतुना ) विज्ञानमय प्रकाश के साथ ( प्र याति ) प्रकट होता है । ( रोदसी ) घौलाक और पृथिवी लोक दोनों में वह ( वृषभ ) सब से श्रेष्ठ, ज्ञानों और सुखों की वर्षा करने वाला ( रोरधीति ) शब्द करता है, उपदेश करता है । ( दिवशिब्द ) अन्तरिक्ष लोक के भी ( अन्तात् ) एक प्रान्त से उदित होकर ( उपगाम् ) समीप, हृदय देश में ही ( उद्धानद् ) उदित हुआ, प्रकाशित हुआ है । ( अपा ) समुद्रों के बीच सूर्य क समान लोकों एवं कर्मों और ज्ञानों के ( उपस्थे ) बीच वह ( महिष ) महान् सामर्थ्यवान् ( ववर्द्ध ) सब से बड़ा और नाम में बढ़ा है ।

केतु=ध्वजा, ज्ञान । उपस्थे=अन्तरिक्षे ।

३ २४ ३ १ २ ३२ ३१ २ ३ २  
[७२] अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २

दूरेदृश गृहपतिमथव्युम् ॥ १० ॥ अ० ७। १। १ ॥

भा०—( नरः ) नेता, अग्रणी लोग ( दीधितिभि ) किरणों और अंगुलियों द्वारा ( अरण्योः ) अरणियों के बीच में ( हस्तच्युतम् ) हाथों के धल से उत्पन्न हुए, अग्नि के समान धी और पृथिवी के बीच में अपनी शक्ति से स्वयं स्थित, ( प्रशस्तम् ) सबसे उत्तम, निर्दाय ( दूरे दृशम् ) दूर तक दिखाई देने वाले या दूर तक देखने वाले, ( गृहपतिम् ) घर के स्वामी के समान समस्त प्रजा के रक्षक ( अथव्युम् ) गतिशील, दूर तक पहुँचने वाले, व्यापक ( अग्निम् ) अग्नि, परमेश्वर की ( जनयत ) उत्पन्न करते, प्रकट करते हैं ।

अर्थात् जैसे अरणियों के बीच अग्नि, प्राण और अपान के बीच में आत्मा, माता पिता के बीच में पुत्र है उसी प्रकार धी और पृथिवी के बीच वह परमेश्वर शक्तिरूप से प्रकट है ।

इति सप्तमी दशतिः । सप्तम ण्ड ॥

॥२०८॥ अग्नि — १ कुष्मन्दिष्ठिरौ । २, ५ वसुभि । ३ भास्वान । ४, ७ विश्व  
मित्र । ३ वसिष्ठ । ८ पायु ॥ देवता—१, २, ४—८ अग्नि । ३ सुर ॥ विष्णुपू॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
[७३] अथोध्यग्नि समिधा जनाना प्रति धेनुमिवायतीमुपासम् ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २  
यद्वा इव प्रययामुज्जिहाना प्रभात सस्रते नाकमच्छु ॥१॥

शु० ५ । १ । १ ॥

भा०—( जनाना समिधा ) लोगों की लगाई लकड़ी स जिस प्रकार  
( अग्नि अवाधि ) सामान्य अग्निहोत्र का अग्नि ( धनुम् इव ) दुधार कपिला  
गाय क समान ( आयतीम् प्रति उपासम् ) आत हुए प्रयक उपाकाक्ष में  
( अवाधि ) प्रदीप्त हाती है उसी प्रकार यह ( अग्नि ) अग्नि क समान तनस्वी  
आत्मा भी ( जनाना समिधा ) ननों क प्रदास प्राणरूप काष्ठों स ( प्रति उपा  
सम् ) प्रति प्रात काक्ष प्राणायामों द्वारा ( अवाधि ) चलाया जाता है । ( उज्जि  
हाना ) ऊपर उड़त हुए पक्षीगण जिस प्रकार ( वयाम् प्रासिस्त्रते ) शाखा  
पर जाते हैं । और जिस प्रकार ( यद्वा ) बड़ पुरुष ( वयाम् इव ) व्यापक  
उदारनीति की आर बढ़ते हैं और जिस प्रकार ( भानव ) सूर्य के किरण  
( नाकम् ) आकाश की ओर ( प्रासिस्त्रत ) व्यापत हैं उसी प्रकार ( यद्वा )  
बड़े २ अष्टशाली आत्मा ( उज्जिहाना ) उरक्रमण करते हुए ( वयाम् ) उस  
व्यापक परमेश्वरी शक्ति की तरफ जाते हैं और ( भानव ) ज्ञान प्रकाश से  
प्रकाशित होकर आदित्य क समान तनस्वी वागी मुहुरजन ( नाकम् ) परम  
सुखमय, आनन्दमय परम पद का ( प्रासिस्त्रत ) प्राप्त करते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २  
 [७३] प्र भूर्जयन्तं महान् विपोषां मूर्सैरमूर पुरा दर्माणम् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ २

नयन्तं गीभिर्नानाविय धा हरिश्मश्रु न धर्मणा धनर्चिम् ॥२

अ० १९। ४६। ५।

भा०—( भू ) सबके उत्पत्तिस्थान, भू आदि लोकों को ( प्र जयन्त ) उत्तम रीति से विजय करने वाले ( मूर्सः ) मोहयुक्त जीवों द्वारा गृहीत ( पुरा ) शरीरों के ( दर्माणम् ) नाश करने वाले, उनको मुक्ति दिलाते वाले, ( अमूरं ) स्वयं मोह रहित, ( गीभिः ) वेदवाणियों द्वारा ( घनां ) भजन करने योग्य ( धियं नयन्तं ) हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में ले जाने वाले, ( हरिश्मश्रु न ) सुवर्ण के समान कान्तियुक्त किरण वाले सूर्य के समान ( धर्मणा ) कवच से ( धनर्चिम् ) विभूतिमान् उस अग्नि को ( धा ) हृदय में धारण कर ।

त्रिपुरारि, परशुपति, भूतिभृन्, विद्येश्वर आदि की शिवविषयक कल्पना महा के विषय में इमी मन्त्र के आधार पर हैं । हरिश्मश्रु, हिरण्यकेश आदि शब्दों के धारणार्थ समान हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[७४] शुक्रं ते अन्यद्यजत ते अन्यद्विपुरुषे अहनी शौरिवासि ।

२ ३ २ ३ १ २ २

३ १ २

३ २ ३ १ २

विश्राहि माया अवसि स्वधान् भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥३

अ० ६। २८। १।

भा०—हे पूषन् ! अग्ने ! ( ते ) तेरा ( शुक्रं ) कान्तिमान्, प्रकाशमान् रूप ( अन्यत् ) दूसरा है । और ( यजतम् ) आपका मिलने वाला, उपास्य, शिवरूप ( अन्यत् ) शौर है । ( अहनी ) ये दिन और रात के समान दोनों

७४—( अ ) 'मूरा' इति अ० । उतरार्धे, 'नयन्तो गर्भे वनां धियं पु विरिश्मश्रु नानां धनर्चम् ।' इति अ० ।

१. भूर्जयन्तं प्रदर्शनार्थं, वीनपीलोमान् जयन्त इति मा० वि० ।

७५—'स्वभावो' इति अ० ।



( विपुरुषे ) भिन्न २ रूप के हैं । हे अग्ने ' तू ( चौ हव असि ) सूर्य के समान है । हे ( स्वधावन् ) अन्नपते ! प्राणपते ! जीवेश्वर ! भूतपते ! ( हि विधा ) क्योंकि तू समस्त ससार की सब प्रकार की ( माया ) मायाओं, सृष्टियों को ( अन्नसि ) पालन करता है । हे ( पूषन् ) समस्त ससार के पोषण करने वाले ( इह ) इस लोक में ( ते ) तेरा ( राति ) दान ( भद्रा ) कल्याण और सुख के देने वाला ( अस्तु ) हो ।

ईश्वर ने शान्ति और सोम, प्राण और रवि दोनों से समस्त ससार को बनाया है । यह दोनों का सूर्य के समान प्रेरक है । सब चराचर सर्ग जो प्रकृति के विकार स यनी ( माया ) सृष्टियाँ हैं, उनको वहीं पालन करता है, महा भद्रा, विष्णु शिव तीनों रूपों का क्रम से वर्णन किया गया है ।

१ २ ३ १ २ २ १ २ २ ३ २ २

[७६] इडामग्ने पुरुदसम् स११ मनिहो शश्वत्तम११ हवमानाय सा १ ।

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

स्यान्न सनुस्तनयो विजागग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥४॥

क्र० १ २ । ६ । ११ ।

भा०—हे ( अग्ने ) परमेश्वर ! तू ( हवमानाय ) स्तुति भजन करने वाले पुत्र के लिये ( पुरुदसम् ) बहुत कर्मों से सम्पन्न या इन्द्रियों को पुष्टिदायक, ( गो सनि ) गोधन, इन्द्रिय, धायो या सरस्वती, विधा के देने वाले, ( शश्वत्तम ) चिरकाल तक ( इडाम् ) अन्न, ज्ञान एवं भक्ति को ( साध ) प्राप्त करा । ( न ) हमारा ( सनु ) पुत्र ( तनय ) अगली सन्तान का विस्तार करने वाला धराधर ( विजावा ) नाना प्रकार की सन्तानों का उत्पन्न करने वाला ( स्यात् ) हो । ( ते सा सुमति ) तेरी वही शोभन मति ( अस्मे ) हमारे लिये ( भूतु ) बनी रहे ।

७६ पुरुदसम् । सा० भा० ।

१. तनय पुत्र, तनादि विस्तारयति सन्ततिमिति । २ विजावा विविध जनयिता पुत्राणा, अनेन प्रसारेण सन्तानादिभ्योऽप्युत्पद्यते । गी० वि० ।

११ २१ ३२ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 [७७] प्र होता जाते महात्मोविन्नृपद्मा सीदपा विवर्ते ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २  
 दधयो धायी सु ते यथाष्टसियन्ता वसूनि वि प्रते तनूरा ॥५॥

अ० १०। ४२। १।

भा०—( प ) जो आग्नि ( महान् ) वदा ( होता ) स्तुतियोग्य, नाना पदार्थों के दान करने वाला ( नभोविन् ) आकाश और अन्तरिक्ष में व्यापक या उसको उत्तम रूप से जानने वाला ( जात ) प्रकट है, वह ( नृपद्मा ) समस्त प्राणियों में विराजमान है। वही ( अपा विवर्ते <sup>१</sup> ), अन्तरिक्ष में स्तम्भ प्रज्ञाओं के भीतर भी ( धायी ) धारक पापक रूप से विद्यमान है। वही ( ते ) तेरे लिये ( ययामि ) अन्नादि पदार्थ और आयु का ( दधत् ) धारण करावे। ( तनूरा ) शरीरों की रक्षा करने वाला वह ( यन्ता ) सवधा नियन्ता ( विरत ) नियम से अपना कार्य सम्पादन करने वाले पुरुष को ( वसूनि दधत् ) नाना प्रकार के सुखवापन देता है।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [७८] प्र सघ्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुष्टस कृष्टीनामनुमात्रम्य ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 इन्द्रस्येव प्र तघससकृतानि वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु ॥६॥

अ० १०। ७। ६। १।

भा०—( असुरस्य <sup>१</sup> ) प्राणों और ज्ञानों से सम्पन्न ( कृष्टीना ) प्रज्ञाओं के ( अनुमात्रस्य ) इषों और सुखों में सुरभी देने वाले, ( पुम )

७७—'नृपद्मा' 'अशानुस्य' 'दधयो' 'धायी सुत' अ० ।

१ अर्थां विवर्तोऽन्तरिक्षोऽयम् । मा०वि०। २ 'धायी सुत' इति पाठे धायी धारयिता, 'सुत' इत्यकपदम् । अग्निमुने इत्यर्थः । पदार्थस्तु 'धायीः सु।०', इति पदस्य चिच्छेदः ।

७८—'प्र सघ्राजो' 'प्रशस्ति' 'वन्देदारु वन्दमानो विवर्ति' इति अ० । 'वन्दमानो विवर्ति' इति संज्ञा० ।

पुरुष के (सम्राजम्) सबसे अधिक शक्ति, कान्ति से युक्त स्वरूप का (प्रशस्तम्) प्रशसनीय (प्रजानीत) जानो। मनुष्य (इन्द्रस्य इव) इन्द्र के समान (तवमः<sup>२</sup>) बलशाली उस पुरुष के (कृतानि) किय गये (यद्द्वारा) नमस्कार पूर्वक वन्दमाना) स्तुति युक्त कार्यों को (प्रविवन्दु) अभिलाषा कर।

३२ ३१ २२ ३१ २ ३१ २ ३२ २२ ३१ २  
[७६] अरण्यानिहितो जातवेदा गर्भ इवत्सुभृतो गर्भिणीभिः ।

३१ २ ३१ २ ३१ २ ३१ २ क २२ ३ २  
दिवोदव ईड्यो जागृवद्भिर्होवामद्भिर्मनुष्योभिरग्नि ॥७७॥

श्र० ३ । २९ । २ ।

भा०—(अरण्या) दो अरण्या म जिस प्रकार (जातवेदा) अग्नि (निहित) गुप्त राति सरहता है और (गर्भिणीभिः) गर्भिणी स्त्रियों द्वारा (गर्भ इव) जिस प्रकार गर्भ बढ़ी सुरक्षा से पालन किया जाता है, उसी प्रकार ही और पृथिवी के बीच में उनका प्रकाशक अग्नि परमेश्वर भी (निहित) उनके भीतर स्थापक है। और (गर्भिणीभिः) जगत की धारक शक्तियों द्वारा (इत्सुभृत) उत्तम रूप से सुरक्षित है। (दिवे दिवे) प्रतिदिन (जागृवद्भिः) जागृत बाल सावधान चैतन्य, ज्ञानी (हविष्मद्भिः) हव्य आदि पदार्थ और स्तवन आदि से सम्पन्न (मनुष्यभिः) मनुष्यों द्वारा बढ (अग्नि) सर्व प्रकारक ज्ञानवान् परमेश्वर (ईड्यो) उपासना किया जाता है।

३१ २ ३२ ३२ ३१ २ ३१ २  
[८०] सनादग्नेमृणसि यानु यानान्त्वा रक्षाशुसि पृतनासु जिग्युः ।

१२ ३१ २ ३२ ३ १२ ३ १२ ३१ २  
अनु दह सह मूरान् कयादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्याया ॥८१॥

श्र० १० । ८७ । १९ ।

१ अग्निरिति प्रश्नानाम नि० ३ । ६ ॥ एतान् अग्नयः ।

७६—'सुभृतो गर्भिणीषु' इति श्र० ।

८०—'कयादो' इति श्र० ।

भा०—हे अग्नि<sup>१</sup> परसनापकरिन् तू ( सान् ) प्राधानकाल म  
 ( वायुधानान् ) द्रुष्ट पुरषो का ( गृणामि ) पादित दग्निन करता रहा है ।  
 ( पूननासु ) सेना समामा म ( रक्षामि ) राक्षस जाग ( न तथा ) तुम्हका  
 कर्मी भी नहीं ( जिग्यु ) पीत सके हैं । ( मूर्धान् ) मूढ ( कषाद्<sup>१</sup> )  
 कषाद्—कषा मांस ग्यान घाले राक्षसों को ( मह ) एक ही साथ तू  
 ( धनुदद ) तेज से भस्म कर दाल । ये ( त ) तेरी ( दिव्याया ) दिव्यगुणों  
 से युक्त ( हाया ) शत्रु को धार स ( मा मुञ्चत ) न बच पावें ।

इति अष्टमी दशति । अष्टम व्यास ॥

॥ ६० ९ ॥ १ गवति । २ वानरथ । ३, ४ भरद्वाज । ५ मृतगाया द्विज ।  
 ६ गृध्रवशासेना । ७, ८ गोवराज । ९ पुत्रावय । १० वापरेय यज्ञेना वा मरीचि  
 मनुष्या वैवस्वत उगौ वा ॥ अनुष्टुप ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [८१] अग्नि श्रौजिष्ठमा भर शुग्नास्मभ्यमग्निगो ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२

प्र नो गये पनीयसे रतिस्वाजाय पन्थाम् ॥१॥

श्रु० ५। १०। १। १।

भा०—हे अग्ने<sup>१</sup> ( आग्निष्ठम्<sup>२</sup> ) अग्निपुत्र बलकारी ( शुग्नाम् ) धन  
 धान्य सुवर्ण रत्न आदि ( अस्मभ्यम् ) हमारे लिये ( या भर ) प्राप्त कराया ।  
 हे ( आग्निगा<sup>३</sup> ) अथय सामर्थ्यवान् देव<sup>४</sup> ( न ) हमारे लिये ( पनायस )  
 शक्ति धान्य, प्रशस्तनीय एवं स्ववहार व्यापार आदि करन पाय ( राय )  
 सम्पत्ति के लिये और ( स्वाजाय ) अथ आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिये  
 ( पन्थाम् ) मार्ग, उपाय ( प्र रमि<sup>५</sup> ) तैयार कर, हमें सुख ।

१ कषाद् । २ पश्चिमदेशस्थः । ३ ४ ( म० गा० )

८१—'प्रनो राया पनीयमा इति श्रु० । १ अशो बन्धु ( नि० २। १ ) २ अथु  
 दम्भः । ३ अग्निगो । ४ ( नि० भा० ) ५ इत्येवम् । इति ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [८०] यदि वीरो अनुन्याग्निमिन्वीत मर्त्ये ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 अग्नुरुद्धन्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥ २ ॥

श्र० ५ । २ । ६ ॥

भा०—( यदि ) जय पुत्र्य ( वीर<sup>१</sup> ) ब्रह्मचर्यं से वीर्यवान् ( अनु  
 स्यात् ) हो तय वह ( मर्त्ये ) मरणधर्मा पुरय ( आग्नि ) ईश्वररूप आग्नि  
 का ( इन्धीत ) प्रदीप्त करे अपने शन्तरामा में जगावे वीर ( आनुषक् )  
 निरन्तर ( दृश्य ) प्राणापान रूप आहुतिवा को ( अग्नुरुद्धन् ) उसमें  
 हा समर्पण करता हुआ ( दैव्यम् ) देव परमेश्वर से प्राप्त ( शर्म ) सुख  
 और शान्ति को ( भक्षीत ) भोग करे ।

जय अनुष्य वीर्यवान् हो तो वह गृहस्थ प्रवेश के साथ २ अग्नि आधान  
 करे, और उसमें दृश्य चरु की आहुति दे ।

३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २  
 [८३] श्वेपस्ते धूमः क्षण्वति दिशि सं क्षुद्रः आतत ।

३ २ ३ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २  
 सूरो न हि शुता त्वं शृपा पात्रय रोचसे ॥ ३ ॥

श्र० ६ । २ । ६ ।

भा०—श्वे श्वे<sup>१</sup> ( श्वेप ) क्षान्तियुक्त जागृत्यमान ( ते धूम ) तरा  
 धूम धूल कपान का सामर्थ्य, विभूति, मनुष्य और कोप ( दिशि क्षण्वति )  
 समस्त द्यौ मूप रूप में परिणत या प्रकट हो रहा है । वह ( क्षुद्र )  
 क्षयन्त शृङ्खलवर्ण, क्षान्तियुक्त होकर ( आतत ) मघ तरा विस्तृत है ।  
 ( सूरो न ) सूर्य के समाप्त ( शृपा ) सामर्थ्यस्वरूप ( शुता ) क्षिति या  
 सामर्थ्य शक्ति स ( श्वं ) तू ( रोचसे ) सर्वत्र प्रकाशित है ।

[८४] त्व<sup>१२</sup>छि<sup>२२</sup>हि<sup>३।२</sup> चैतवद्यशो<sup>२२</sup>ग्ने<sup>३।२</sup> मित्रो<sup>२२</sup> न पत्यसे ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २  
 त्वं विचर्षणे<sup>१</sup> श्रवो<sup>२</sup> वसो<sup>३</sup> पुष्टिं<sup>४</sup> न पुष्यसि<sup>५</sup> ॥ ४ ॥

श्र० ६। २। १ ॥

भा०—हे अग्ने ! ( हि ) जिस कारण से ( त्व ) तू ( चैतवद् ) सचको निवास देने वाले ( यश ) अन्न, बल को ( मित्र न ) सूर्य के समान ( पत्यसे ) नाना प्रकार से प्राप्त करता या उत्पन्न करता है। हे ( विचर्षण ) विशेषरूप से सब के दृष्टा ! ( वसो ) हे सचको निवास देने वाले अग्ने ! तू ( श्रव ) अन्न और ज्ञान को ( पुष्टिन् न ) पोषण सामर्थ्य के समान ही ( पुष्यसि ) स्वयं बढ़ाता और पुष्ट करता है, उनमें बल उत्पन्न करता है।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [८५] प्रातरग्नि<sup>१</sup> पुरुभियो<sup>२</sup> विशः<sup>३</sup> स्तवेतातिथि<sup>४</sup> ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
 विश्वे<sup>१</sup> यस्मिन्नमर्त्ये<sup>२</sup> हृद्य<sup>३</sup> मर्त्तास<sup>४</sup> इन्धते<sup>५</sup> ॥ ५ ॥

श्र० ५। १८। १ ॥

भा०—( पुरुभिय ) बहुतसे प्राणियों का प्यारा या इन्द्रियों को प्रेरणा या पूर्ति, सन्तुष्टि देने द्वारा ( अग्नि ) अग्नि, परमात्मा और आत्मा ( अतिथिः ) इस शरीर या मण्डलाण्ड रूप मूढ़ में व्यापक है। उसका ( विश ) सब प्रजाण ( प्रातः ) प्रातः काल, सबसे पूर्व ( स्तवेत ) उपासना करें, स्तुति करें ( यस्मिन् ) जिस ( अमर्त्ये ) मरण रहित, अविनाशी आत्मामें ( विश्वे ) समस्त ( मर्त्तासः ) मरणधर्मा शरीरधारी प्राणी ( हृद्य ) अन्न रूप हृदि और स्तुति को ( इन्धते ) प्रदान कर प्रवृत्तित रखते हैं, जीवित रखते हैं।

११ २३ २३ १२ ३१२  
[ ६६ ] यद्वाहिष्ठ तद्ग्रये वृहदर्चं विभावसो ।

१ २ ३ २३२३ ३ १२  
महिषीय त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते ॥ ६ ॥

श्र० ५ । २५ । ७ ॥

भा०—हे ( विभावसो ) ह विशेष प्रकार की कांति स युक्त, धन से सम्पन्न ! ( वृहत् ) तू सब से अधिक ( अर्च ) प्रकाशमान् हो । ( महिषी इष्ये ) जिस प्रकार इस बड़ी भारी पृथ्वी से अन्न रत्न आदि प्राप्त होते हैं उसी प्रकार ( त्वद् रयि ) तुम्ह से ही समस्त धन और ( त्वद् वाजा ) तुम्ह से ही समस्त अन्न ( उदीरते ) उत्पन्न होते हैं । इस कारण ( यद् ) जा ( वाहिष्ठ ) प्राप्त करने या उपहार करने योग्य पदार्थों में सबसे धेष्ठ भाव और अन्नादि है ( तत् अग्रये ) वह उस परमेश्वर के और अग्नि त्रिये ही है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
[ ६७ ] विशो विशो घो अतिरिधिं वाजयन्त पुरुप्रियम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
अग्निं वो दुर्यं घञ स्तुपे श्यस्य मन्मभि ॥ ७ ॥

श्र० ८ । ७४ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! ( घ ) तुम लोग ( विश विश अतिरिधिं ) समस्त प्रनाओं के अतिरिधि क समान पूज या सब प्रनाओं स श्यापक ( पुरुप्रियम् ) सब क प्रिय ( अग्निं ) अग्नि परमेश्वर का ( वाजयन्त ) शर्चना करते और यज्ञते रहत हो । मैं ( श्यस्य ) सुख प्राप्ति के त्रिये ( दुर्यं ) गृह या इय दह के लिये हितकारी इस ( अग्निं ) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर विषयक ( घञ ) वाली स ( मन्मभि ) मनन करन योग्य साधनों से ( घ ) आप लोगों के प्रति ( स्तुपे ) ठीक २ प्रकार से पणन करता हू ।

३२३ ३ २ ३ १२ १२ ३ २ ३ १२  
[ ८८ ] वृहद्वयो हि भानवेवो देवायाम्नेये ।

३ १२ २ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २  
यं मित्रं न प्रशस्तये मर्तालो दधिर पुरः ॥ ८८ ॥

अ० २ । १६ । १ ॥

भा०—( भानवे ) भानु, कातिस्वरूप ( देवाय ) सच के प्रकाशक ( अग्नेये ) अग्नि के लिये ( वृहद् ) सब से बड़ा ( वयं ) अन्नभाग या आयु का भाग ( अर्चे ) भक्तिरूप में दे । ( य ) जिसको ( प्रशस्तये ) उत्तम कीर्ति होने के कारण ( मर्तांस ) मनुष्य लोग ( मित्रम् इव ) अपने हृदय के इष्ट मित्र, स्नेही के समान ( पुर ) सदा अपनी चतुर्थों के आगे ( दधिरे ) रखते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २  
[ ८९ ] अगन्म वृषहन्तम ज्येष्ठमग्निमानवम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
य स्म श्रुतवैशार्चो वृहदनीक इष्यत ॥ ८९ ॥

अ० ८ । ७४ । ४ ॥

भा०—( वृषहन्तम ) विष्णु, उपद्रव और यज्ञविनाशक दुष्ट जीवों को नाश करने वाले, ( ज्येष्ठ ) सब से अधिक श्रेष्ठ, प्रशस्ता करने योग्य, ( आनव ) मनुष्यों के हितकारी, ( अग्नि ) अग्नि परमेश्वर और आराम कां ( अगन्म ) हम प्राप्त हों ( य ) जो अग्नि ( अर्चे ) नक्षत्र लोंकों से और ज्ञानेन्द्रियगण से सम्पन्न, ( श्रुतवैन् ) बड़े लोकों और प्रायेन्द्रियों

८८—'प्रशस्तिभिर्मर्तांसो' इति अ० ।

८९—'आगन्म' इति अ० । 'यस्य श्रुतवै वृहदानीक एते' इति अ० ।

१ अथात इति अक्षुम् । अग्नेरौणाशिक म . । उ० ३ । ६६ । इन्द्रियम् ।

अपेरिन्द्रियम् इडाशरपरोवनादि सुभ्यद्म् सन्निविद्याख्याने ।



से युक्त देह में और भौतिक बड़ी २ शक्तियों से युक्त मद्भाग्य में ( बृहद  
नीक ) प्राणमय बलों और विशाल पचभूतों के बल से युक्त होकर  
( इष्यते ) प्रकाशित या जावित, जागृत रहता है ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[६०] जात परेण धर्मणा यत्सृष्टि सद्भाभुव ।

३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ ३

पिता यत्कश्यपस्याग्नि श्रद्धा माता मनु कवि ॥ १० ॥

भा०—हे अग्ने ! तू ( परेण धर्मणा ) परम उत्कृष्ट तपस्था श्रीमत्सदा  
स्मर के बल से ( जात ) उत्पन्न या प्रकट हुआ है ( यत् ) क्योंकि ( सृष्टि )  
अपन साथ लग हुए कर्मचारीगण इन्द्रियों के ( सद् ) साथ मिलकर  
( भाभुव ) तू सब कार्य करने में समर्थ है । यह अग्नि आत्मा ( कश्यप  
पत्य ) इस ज्ञान के पान करनेहारे मन का ( पिता ) पालक है और  
उसकी ( माता ) जन्मभूमि ( श्रद्धा ) सत्य का धारण करनेहारी बुद्धि  
है और ( मनुकवि ) मननशील क्रान्तदर्शी पुरुष आत्मा ही इसका गुण है ।

परमात्मा के पक्ष में ( परेण धर्मणा ) परम उत्कृष्ट, धारण सामर्थ्य  
से ( यत् ) जो ( सृष्टि ) साथ वर्तमान शक्तियों के साथ ( भाभुव )  
विद्यमान है । तू ( कश्यपस्य पिता ) सूर्य आदि लोक और ज्ञानी पुरुषों  
का पालक है । ( अग्नि ) प्रकाशस्वरूप, ( श्रद्धा ) सत्य का धारक, ( माता )  
जागृत का कर्ता, ( मनु ) ज्ञानवान् ( कवि ) मध्यावी और पारदर्शी है ।

इति नवमी दशति । नवम गा० ।



॥ ८० १० ॥ १ अग्निस्तापसः । २ वामदेवः । ३ वामदेव. वश्यपः । अस्तितो  
देवलो वा । ४ भर्गाद्भुतिः सोमो वा । ५ पापुः । ६ प्रस्त्रण्वः ॥

देवता—१ विश्वेदेवाः । २ अङ्घ्रिराः । अनुष्टुप् ॥

[६१] सामं राजानं चरुणमग्निमन्वारभामहे ।

आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ १ ॥

अ० १० । २४१ । ३ ॥

भा०—इम ( सामं ) शान्तिदायक, सब जगत् के प्रेरक और उत्पादक  
( राजानं ) प्रकाशमान, ( चरणं ) सब पापों के निवारक, ( अग्नि ) ज्ञान-  
स्वरूप, सन्मार्ग के नेता परमेश्वर को ( अनु आ रभामहे ) प्रतिदिन स्मरण  
करते हैं । ( च ) और ( आदित्य ) सब रसों के महण करने हारे,  
अखण्ड, ( विष्णुं ) सर्वथ व्यापक ( सूर्यं ) सब के प्रेरक, सर्वप्रकाशक,  
( ब्रह्माणं ) सब से महाद्, ज्ञान के भण्डार ( बृहस्पतिं ) घंद्वाणी के  
स्वामी को नित्य स्मरण करते हैं ।

[६२] इत एत उदारुहृग्दिवः पृष्ठान्यारुहन् ।

प्रभूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ २ ॥

भा०—( भूर्जयः<sup>१</sup> ) पृथिवी को विजय करने हारे राजर्षि लोग ( यथा )  
जिस प्रकार ( पथा ) मार्ग से ( द्या ययुः ) द्यौलोक, या आदित्य लोक,  
या स्वर्ग को जाते हैं । उसी प्रकार ( एते ) ये ( अङ्गिरसः ) योगी, ज्ञानी

१—'स्येन राजानमभसेऽग्निं गोभिर्हवामहे । आदित्वान्०' इति अ० ।

२—१. भूर्जयः, भूर्जयतिः पावकर्मो हविषां पत्तारः इति मा० । भू-जयः इति  
पदतारः । भूः पृथिवी ता ये महावीरारयेनानुष्ठानेन जित्वन्तः, त इति  
( मा० वि० ) भूर्जयः वर्जिण ।

जाग भी ( इत ) इस लोक से ( दिव पृथानि ) आदित्य के समान प्रकाशमान मोक्ष के सुखों को ( उत् आरहन् ) ऊर्ध्वगति से प्राप्त करते हैं ।

अपने २ धर्म के पालन से राजर्षि और ब्रह्मर्षि दोनों सभ्य लोक में जाते हैं । अथवा ( भू ) गृहस्थाश्रम को विजय करके आश्रम परंपरा से निकलकर कर्मिष्ठ लोग त्रिम मार्ग से मोक्ष का लाभ करते हैं उसी प्रकार से महाशानी गृहस्थ में न जाकर भी मोक्ष लोक को ज्ञान के बल से प्राप्त करते हैं ।

[६३] राये अग्ने मह त्वा दानाय समिधीमहि ।

इँडिप्नादि मह वृषन् द्याया होत्राय पृथिवी ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने 'ह ( वृषन् ) आमा और मानस में ध्यानन्द की वर्षा करने वाल प्रभा ' ( त्वा ) तुभको ( महे ) बड़े भारी विशाल ( राये ) अनुपम धन के निमित्त ( दानाय ) अपन को आनन्दमर्षण करने के लिय हम साधक लोग ( समिधीमहि ) उत्तम रीति से योग द्वारा प्रज्वलित करते हैं । ( हि ) क्योंकि ( द्यावापृथिवी ) धौलोक और पृथिवी लोक दोनों ( महे हात्राय ) उसी परमेश्वर रूप कालाभि में यदी भारी आहुति के लिये हैं । तू भी उसी की ( इँडिप्व ) स्तुति कर ।

[६४] द्यन्वे वा यदीमनुरोन्वद् ब्रह्मति येरु तत् ।

परि विश्वानि कात्या नेमिश्चरमिवाभुवत् ॥ ४ ॥

द० २।०।३ ॥

\* ३—१. द्यामप्रदृगन्वाध प्रदर्शनोन्वे । मा० वि० ।

२. द्यन्वे धारयति धारणेनात्र अथग न्द्वये । मा० वि० ।

२४—'मन्वा'प वक्तु इति श्र० । 'मिवाभवत्' इति श्र० ।

भा०—( ईम् ) इस अग्नि को क्षर्य करके ही ( दधमे' ) आशुं  
 आदि यज्ञिक क्रियाका धारण करने वा शिष्यगण गुरुगुरु से ध्येय और  
 स्मरण करा है और वे हता वा शिष्य आदि ( मद्य ) परमन्त्र का ( धनु  
 वाण्ड् ) पुन पाठ या उच्चारण करते हैं ( तत् उ ) यह सब भी ( वे )  
 ज्ञानवान् प्रकाशस्वरूप अग्नि का ही है । क्योंकि ( ममि चक्रम् इव )  
 विम प्रकार साद का हाथ चक्र के चारों ओर उसका एक क्षेत्र है उसी  
 प्रकार यह अग्नि भी ( विधानि काव्यानि ) समस्त विद्वानों क बनाप  
 वायों, प्रथों और वायों का ( आशुवन् ) स्थाप रहा है । अर्थात् समस्त  
 विश्व का महिम्न, इस प्रभु की ही महिमा का गान करता है ।

[१५] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २</sup> प्रथमे हरसा हर शृणोति विश्वतरपरि ।

<sup>३ १ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २</sup> यानुधानस्य रक्षसा यत् श्युञ्ज यायेम् ॥ ५ ॥

अ० १०।८७।२५ ॥

भा०—हे अग्ने ! ( यानुधानस्य ) जिसके हुए पुरय का (विधत परि)  
 समस्त भस्म पर जा ( हर ) उनके प्राण हरण करने वाला अत्याचर  
 कारी बल है उसके ( हरसा ) हुए के प्राण निकालने वाल बल प्राय,  
 मयु स ( शृणोति ) नाश कर । और ( रक्षसा ) हुए राक्षस क (यत्) बल,  
 मेन बल, ( वीर्य ) सामर्थ्य और यज्ञ का भी ( श्युञ्ज ) भूत डाल ।

[१६] <sup>१ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ ३ २</sup> न्यमगे यन् रिह रुद्रा आदि-र्यो उत ।

<sup>१ २ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ २</sup> यज्ञा स्वधर जन मनुजात घृणपुषम् ॥ ६ ॥

अ० १।४२।१ ॥

••—'गोहि' इति श्र० । 'वस्व वीर्य' इति श्र० ।

•९—य क्षरग । श्वा । नुदम् । घृणपुषम् ॥ प्रम गम् । मा० वि० ।

भा०—हे अग्ने ! तू ( गोमत ) पशु, रश्मियों और इन्द्रियों तथा वेदवाणियों से सम्पन्न ( वाजस्य ) अन्न, धन, ज्ञान और वीर्य का ( ईशान ) स्वामी है । हे (सहस्रो यहा) बलपूर्वक प्रकट होने वाला, महान् (जातवेद) सर्वज्ञ सवेधर देव ! ( अग्ने ) हमें ( महि ) बहुत उत्तम ( धन ) अन्न, धन, कीर्ति और ज्ञान का ( देहि ) दान कर ।

[१००] अग्ने यजिष्ठो अघ्वरे देवान् देवयते यज ।

होता मन्द्रो वि राजस्यति स्थिध ॥ ३ ॥ अ० ३ । १० । ७ ॥

भा०—हे ज्ञानवन् परमेश्वर ! तू ( यजिष्ठ ) सब से अधिक यजन शील दानी सगतिकारक है । तू ( अघ्वर ) पुण्य दानादि कार्य में ( देवयते ) विद्वानों और देव ईश्वर की कामना करत हुए पुरुष के लिये ( देवान् ) विद्वानों का ( यत्न ) एकत्र कर, परस्पर सगति करा । तू स्वयं ( होता ) सब को दान देने और देव लोगों को आह्वान करने वाला, ( मन्द्र ) सब को प्रसन्न करने वाला होता हुआ ( स्थिध ) शत्रुगण को ( अति वि राजसि ) अतिक्रमण करके विशेषरूप से उन पर शासन करता है, उन पर विराट् होकर रहता है ।

[१०१] जज्ञान सप्त मातृभिर्मथामाशास्तत थिये ।

अथ ध्रुवा र्याणा चिकेतदा ॥ ५ ॥ अ० १० । १०२ । ४ ॥

भा०—( अथ ) यह ( ध्रुव ) निस्प, कभी विचलित न होने वाला (सप्त मातृभिः) सप्त माताओं, सृष्टि के निर्माता पाच भूत महत् अटकार

१०१—'जज्ञान मममातर', 'वषामक्षासत' 'चिकेतदा' इति अ० 'अनिक तदन्' इति । सा० ।

१ सप्तमातर — सप्त एन्द्रासि 'सप्त लोत्रा' सप्त सेमन्स्था, इति ( मा० वि० ) ।

इनसे ( जज्ञान ) सृष्टि को प्रकट करता हुआ ( श्रिये ) अपने विभूतिरूप शोभा या आश्रय के लिये ( मेधाम् ) उत्तम धारणा शक्ति पर ( आशासत ) वश करता है । वही परमेश्वर ( रयीणा ) समस्त ऐश्वर्यों को ( आचिकेतन् ) भली प्रकार से जानता है ।

अध्यात्म में—यह ध्रुव आत्मा प्रमाता, इन्द्रियों से ज्ञान करता हुआ ( श्रिये ) अपने कल्याण के लिये ( मेधाम् आशासत ) मेधा बुद्धि को धारण करता है । ( रयीणाम् ) सब प्राणों के वीर्यों को जानता है ।

सप्त मातरः=सात प्रमाता, ज्ञान साधन सात मुख्य प्राण्य हैं जिनको उपनिषत्कार सात उवाला, सात श्रुति, सात रथ, सात अश्व, सात अग्नि, सात वृद्धि आदि नामों से पुकारते हैं । ( नासिकेत ) अग्नि ध्रुव अग्नि है जिसका ज्ञान अध्रुव यज्ञ काण्ड से नहीं होता । ' नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्' । का० उप० ॥ इनको ही सात छन्द, सात होता, सात सोम सस्थाओं के नामों से भी पुकारते हैं ।

[१०२] <sup>३ २४</sup> उन स्या <sup>३ १</sup> नौ <sup>२ ३ १</sup> दिवा <sup>३ २</sup> मतिर<sup>२</sup>दितिरुत्यागमत् ।

<sup>१ २</sup> सा <sup>२ ३ १ २</sup> शंताता <sup>३ २ ३ १ २</sup> मयस्करदप स्त्रियः ॥६॥ अ० ८ । १८ । ७ ॥

मा० — ( उत स्या ) और वह ( अदिति<sup>१</sup> ) कभी स्रष्टिदत्त न होने वाली, दद, ईश्वरीय बलवती, सत्य, ( मति. ) मननशक्ति, ( दिवा) प्रतिदिन ( उत्या ) हमारी रक्षा के लिये ( न. आगमत् ) हमें प्राप्त हो । ( सा ) वह ( शंताता ) शांति उत्पन्न करने वाली ( मय कारत् ) आभ्यन्तर सुख और आनन्द दे । और ( स्त्रिय<sup>२</sup> ) शशु या दोष जिनका सत्य ज्ञान से

१०२—'शन्नाति' 'उत्स्या' इति पाठभेदी । 'सुध', 'स्त्रियः' इति पाठभेदी ।

१. मकलप्रपञ्चधारणेज्वरीना इतिस्वन्दस्वामी । अदितिदेवमाता (मा०वि० )

२. स्त्रियेर्वापिनार्थः ( सा० )

बाध होना सम्भव है, ऐसे भ्रम अज्ञान और विपर्यय या मिथ्या ज्ञानों को वह ( अप ) दूर करे ।

[१०३] ईँडिष्वा हि प्रतीव्याश्वजस्व जातवेदसम् ।

चरिष्णु धूममृभीतशोचिशम् ॥७॥ ऋ० ८ । २३ । १ ॥

भा०—( जातवेदस ) पदार्थों का ज्ञान करने वाले ( चरिष्णु ) व्यापक, दूरगामी ज्ञान साधनों से सम्पन्न, ( धूमम् ) सबको कपाने वाले, सब के प्रवर्तक, ( अमृभीतशोचिषम् ) अप्रतिहत कान्ति से सम्पन्न, कभी न धुम्कने वाले, अमर, (प्रति ध्यां) प्रत्येक देह या पदार्थ में व्यापक आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप अग्नि को ही, हे पुरुष ! तू ( ईँडिष्वा हि ) उपासना क्रिया कर और ( यजस्व ) उसी को प्राप्त कर, उसी में आत्म समर्पण कर ।

[१०४] न तस्य मायया च न रिपुर्शीत मर्त्ये ॥

यो अग्नये द्वादश हव्यदातये ॥८॥ ऋ० ८ । २१ । १५ ॥

भा०—( य ) जो पुरुष ( हव्यदातये ) ज्ञानदाता ( अग्नये ) अग्नि परमात्मा और आचार्य के प्रति अपने का ( द्वादश ) समर्पण कर देता है ( तस्य ) उस पुरुष का ( रिपु ) शत्रु ( मर्त्ये ) चम ( मनुष्य भी ( मायया ) बुद्धि द्वारा ( न ईशीत ) कभी उस पर वश नहीं कर सकता ।

[१०५] अथ त्वं वृजिने रिपु स्तेनमग्ने दुराध्यम् ।

द्विष्टमस्य सत्पते कृथा सुगम् ॥९॥ ऋ० ५ । ५१ । १३ ॥

१०३—'प्रतीव्या' इति श्र० ।

१०४—'हव्यदात्रिभिः' इति श्र० ।

भा०—हे ( सत्यते ) सापुर्यो के प्रतिपालक । ( स्य ) उस ( वृत्तिन ) पापशील, त्याग करने योग्य ( रिपु ) हिंसक, शत्रु, ( स्तेन ) चोर ( दुराध्वम् ) दु ख स यश करने योग्य, ( दधिष्ठ ) हृदय स त्त्र, द्वेषी पुरुष को घप-धस्य ) दूर कर । और हमारे लिय उसका ( सुग ) सुखसे वर करने योग्य ( वृधि ) बना दे ।

[१०६] <sup>३ १ ३ १ ३</sup> श्रुष्ट्यग्ने नवस्य मे <sup>३ १ २</sup> स्तोमस्य वीर विरपते ।

नि मायिनम्नपसा रक्षसा दह ॥१०॥ अ० ८ । २३ । १५॥

भा०—हे ( वीर ) वीर्यवन् । हे विरपते । प्रता क पाञ्चक । ( अग्ने ) अग्नि के समान केदारिवन् । ( मे ) मेर ( नवस्य ) नूनन ( स्तोमस्य ) स्तुति को ( श्रुष्टी ) ध्वष्ट करके । मायिन ) माया छल कपट आदि से युक्त, मायावी ( रक्षसा ) राक्षसों और दुष्ट भावों को ( तपसा ) घपन से न स ( नि दह ) सर्वथा भस्म कर ।

इति प्रथमा दशति । इति एतावत् एव



॥ ६० २ ॥ १ ४ प्रयोगो भार्गवः । सौभरि काण्वो वा । २, ३, ५, ६, ७

सौभरि । ८ विश्वमना वैश्व ॥ वसुष् ॥

[१०७] <sup>१ ३ २ २</sup> प्र मदिष्टाय गायत क्रतानि <sup>३ १ ३ ३ ३ १ ३</sup> वृहते शुभजाचिये ।

<sup>३</sup> उप स्तुतासा <sup>१ ३ ३ ३</sup> अग्नेय ॥१॥ अ० ८ । २०३ । ८ ॥

२०६—'ठगुग' इति अ० ।

२०७-१. सुवि । इति सप्तम्याश्चेति निरादिपः । इत्यस्येवम् ।



भा०—( महिष्ठाय<sup>१</sup> ) सबसे अधिक दानशील ( अताप्ते ) यज्ञ करनेहार, सत्यमय, ( बृहते ) महान्, ( शुक्रशोषिणे ) देदीप्यमान, काम्ति से युक्त ( आनये ) प्रकाश स्वरूप, ज्ञानी परमेश्वर का हे ( उप स्तुतासः<sup>२</sup> ) हे स्तोत्रायण ! ( प्रगायत ) उत्तम रूप से कीर्तन करो।

[ १०८ ] प्र सो अग्ने तवैतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः ।  
यस्य त्वं सख्यमाविध ॥२॥ अ० ८ । १९ । ३० ॥

भा०—हे अग्ने ! ( यस्य ) जिसके ( त्वम् ) तू ( सख्यम् ) मैत्रीभाव को ( आविध ) प्राप्त कर लेता है ( स ) यह ( तव ) तेरे ( सुवीराभिः ) उत्तम शक्तिसम्बल, ( अतिभिः ) रक्षासाधनों द्वारा और ( वाजकर्मभिः ) अस्त्र के उत्पादन और ज्ञान के सम्पादन और बल के कार्यों से ( तरति ) सब विघ्नों को पार कर जाता है।

[ १०९ ] तं गूर्धया ह्यमोहिरं देवासां देवमरति दध्निवरे ।  
देवत्रा ह्यममूहिरिणे ॥३॥ अ० ८ । २५ । १ ॥

भा०—हे मनुष्य ! ( तं ) उस ( स्व - नर ) सब के नेता अथवा उस सुस्वरूप, मार्गमार्ग के पथदर्शक, परम ( देवम् ) देव की ( गूर्धया ) स्तुति कर, उसके गुणों का गान कर। ( देवास ) देव-विशाल लोग इन्द्रियों या पंचभूत उस ( देवम् ) प्रकाशमान देव को ( अरति<sup>३</sup> ) सर्वज्ञ या अति

१०८—'सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः' इति अ० ।

'सख्यमाविध' इति अ० । 'आवेरे' इति म० मा० ।

वाजकर्मभिः इति पाठः शुद्धः, माम्ना 'वाजकर्मभिः' इत्याम्नातम् (मनु०)

१०९—'गूर्धया', 'ह्यममूहिरं' इति अ० ।

१. अरतिम् अलपतिं सर्वदमिति मा० वि० ।

प्रीतिमान् स्वामी ( दधग्विरे ) श्चीकार करने हैं । वह ( देवता ) दिग्गुण सम्पन्न विद्वान् पञ्चभूतों और इन्द्रियों में ( इन्द्र ) उनक भीतर शक्ति ज्ञान और भाग्य पदार्थों का ( अद्विष्ट ) पट्टघाता है ।

[ ११० ] मां नो हृणीथा अतिथि यसुरग्नि पुरुषशस्त्य एव ।

य सुहोता स्वध्वर ॥५॥ अ० ८। १०३। १२ ॥

भा०—हे मनुष्य ! ( न ) हमार ( अतिथि ) अतिथिक समान पूजनीय देव क प्रति ( मा हृणीथा ) श्रेष्ठ वा अनार मत् कर । ( एव ) वह ( पुरु-  
प्रागत ) बहुत उत्तम प्रशंसा और आदर करन पाव है । वह ( वसु ) वास देने योग्य सबक भीतर बसने वाला और सबका बसान वाला ( अग्नि ) अग्नि के समान ज्ञान रूप प्रकाश स सम्पन्न है । ( य ) जा ( सुहोता ) उत्तम पदार्थों का दाता और प्रतिगृहीता और ( स्वध्वर ) उत्तम हिंसा रहित कार्यो का अनुष्ठाता, पात्रक है ।

[ १११ ] भद्रा मा आग्नेराहुता भद्रा रातिः सुमग भद्रा अघ्वर ।

भद्रा उत प्रशस्तय ॥५॥ अ० ८। १०४। १२ ॥

भा०—( नः ) हमारा ( आहुता ) भस्मी प्रथम उपामिन्, ( अग्नि ) परमेश्वर ( भद्र ) हमारे कल्याण क छिव है । इ ( सुमग ) उत्तम परब्रह्म मान् आन ! परमेश्वर ! ( रातिः ) हमारा दिया ज्ञान हमें ( भद्रा ) कल्याण करी सुखकारी है । इभारा ( अघ्वर ) हिंसा रहित कार्यो यज्ञ भी ( भद्र ) कल्याणकारी सुख शान्ति और वेम्बर्ष का दायक है, ( उत ) और ( प्रशस्तय ) हमारे सर्वोत्तम आदि भी ( भद्रा ) कल्याणकारी सुखन्द हो ।

[११२] यजिष्ठं त्वा ववृमहे देव देवत्रा होतारभमर्त्यम् ।

अस्य यजम्य सुकतुम् ॥६॥ ऋ० ८ । १८ । ३ ॥

भा०—( यजिष्ठं ) दान आदि करने हारे, सर्वोपास्य ( देवत्रा देवें ) देवों के देव, ( होतारम् ) सब पदार्थों के दाता, ( भमर्त्यम् ) अविनाशी मरणरहित, ( अस्य यजम्य ) इस जीवनयज्ञ के ( सुकतुम् ) उत्तम प्रकार से सम्पादन करने हारे ( त्वा ) तुम्हें को ( ववृमहे ) हम वरण करते हैं, तेरा भजन करते हैं ।

[११३] तदग्ने शुम्नमाभर यत्सासाहा सद्ने कन्विदत्रियम् ।

मन्यु जनस्य दूद्यम् ॥७॥ ऋ० ८ । १६ । १२ ॥

भा०—हे ( अग्ने ) परमेश्वर ! ( तद् ) वह ( शुम्नम् ) अन्न, धन ज्ञान और बल ( आ भर ) हमें प्राप्त करा, जो ( सद्ने ) हमारे घर में, यज्ञगृह में, हमारे शरणस्थान में ( कन्विद् ) हर किसी प्रकार के ( अत्रियम् ) पापभोगी, चोर, ( जनस्य मन्युं ) सर्वसाधारण प्राणियों के श्रेष्ठ के पात्र ( दूद्यम् ) दुष्ट पुरुष को ( सासाह ) दबासके ।

[११४] यद्वा उ विशपति शितः सुभोतो मनुषो विशे ।

विवध्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति ॥८॥ ऋ० ८ । १३ । १३ ॥

भा०—( यद्वा उ ) जब भी ( शितः ) मन्यु और न्याय युक्त स्थ-  
वस्था के भंग होने पर तीक्ष्ण हुआ ( विशपति ) प्रजाधों का पालक,

११३—'यत्सासाह मग्ने' 'जनस्य दूद्यम्' इति ऋ० । 'दूद्या' इति च स० सा० ।

१. दूद्यं दुर्षितं पापभियं इति नि० ५ । ४ । ३ ॥

११४—'मनुष्यो विशे' इति ऋ० ।

प्रभु ( मनुष्यो विशेष ) मनुष्यों और प्रजाओं के निमित्त ( सुप्रति ) प्रसन्न, दत्ताक्षित होता है, तब ( अग्निः ) अभी स्वभाव, पापों का दाहक तेजस्वी वह ( विधा इत् ) सब प्रकार के ( रक्षासि ) राक्षसों को ( प्रति सेधति ) दूर करता है ।

राजा प्रजा को बसाने के लिये वह प्रजा के घातक प्राणियों और अमानतायी पुरुषों को तीक्ष्ण स्वभाव होकर दूर करे और प्रजा पर सदा प्रसन्न रहे ।

अध्यात्म पक्ष में—विरपति, इन्द्रियों का राजा आत्मा जब योगादि साधनों से तीक्ष्ण होकर इम देह में स्वच्छ निर्मल सुप्रसन्न हो जाता है तब वह आमुषी शक्तियों पर विजय पाता है और श्लुषानों को दूर करता है।

इति त्रिंशो दर्शिनः । इति द्वादशः पादः ।

इत्याग्नेयं काण्डम् ।

इति प्रथमोऽध्यायः ।

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसार्थविरहोपशोभितश्रीमत्पण्डितजपेक्ष  
शर्मणा विरचिते सामवेदाज्ञोद्भवाय आग्नेय काण्ड समाप्तम् ।

यज्ञ के विनियोग के अनुसार सायण महीधरादि की पद्ययोजना संगत है। परन्तु अघ्याहार और उद्देश्यार्थता का दूषण है। वही दोष मुलमीरामजी के ग्रंथ में भी है। हमारी सम्मति में 'योन्', 'अवन', 'अवट' ये तीनों शब्द रसायक अथ धातु से बने हैं, इसलिये यह मन्त्र परमात्मा की स्तुति पर लगना चाहिये। ]

३ १ २                      ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
[११८] अरमश्वाय गायत श्रुतकक्षार गवे ।

३ १ २ ३ १ २    ५० ८ । ६० । २५ ॥  
अरमिन्द्रस्य धाम्न ॥ ४ ॥

भा०—हे (श्रुतकक्ष) हे वैश्विज्ञान को अपने कुक्षि अर्थात् हृदय में रखने वाले ! (अश्वाय अरं गायत) व्यापक प्रभु या शीघ्र गमनशील, भोजन आत्मा के गुणों का वर्णन करो ( गवे अरं ) गौ, ज्ञानस्वरूप आत्मा या इन्द्रियों में श्रेष्ठतम इन्द्रियस्वरूप अन्तरात्मा का या ज्योति, रश्मिरूप भीतरी रश्मि का उत्तम रीति से वर्णन करो। ( इन्द्रस्य ) सब इन्द्रियों के मातृक, स्वयं इन्द्र, महान् आत्मा के (धाम्ने, तेज, सामर्प्य का (अर गायत) स्वर्ग गायत्री ।

१२ ३२    ३ २ ३ २ ३ १ २  
[११९] तामिन्द्रं वाजयामसि मह वृत्राय हन्तवे ।

१२ २२ ३ १ २    ५० ८ । ६३ । ७ ॥  
म वृषा वृषभो भुवत् ॥ ५ ॥

भा०—(त) उम ( इन्द्रं ) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रभु की हम (वाजयामसि) ज्ञानपूर्वक स्तुति करते हैं। ( मह ) बड़े भारी ( वृत्राय ) विघ्नकारी ज्ञान के आवरण करने वाली तामस प्रवृत्तियों को ( हन्तवे ) विनाश, करने के

११८—'श्रुतकक्षो अर' इति श्रु० ।

१ इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसहमिन्द्रजुष्टमिन्द्ररत्नमिति वा ( ११० ग० ५ । २ । ६३ ) इतीन्द्रशब्दात् षच् । इन्द्रियम् ।

त्रिये ( स ) वह ( वृषभ ) ज्ञान और सुखों की वर्षा करने वाला और ( वृषा ) समर्थ बड़ा बलवान् ( भुवत् ) है ।

[१२०] <sup>१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> त्यामिन्द्र यलादधि सहसो जात ओजसः ।

<sup>१२ २२३ १२ २२</sup> त्य सन् वृषन् वृषेदास ॥ ६ ॥ अ० १० । १५३ । २ ॥ "

भा०—हे इन्द्र ! तू ( यलाद् ) बल से, और ( सहस ) शत्रुदमन कारी सहनशक्ति स, ( ओजस ) कान्ति और गभाव से ( जात सन् ) प्रकट होकर ही ( वृषन् ) हे वृष तुल्य ! सबक भीतर उत्पादक शक्ति के देनेदारे ! समस्त सुखों के वषक ! ( त्य ) तू ( वृषा इद् ) वृषा वीर्य सेवन में समर्थ हो ( असि ) है, तू ही सधमें बलवान् श्रेष्ठ और सबका जन्मदाता और मूल कारण है ।

[१२१] <sup>३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्त्तयत् ।

<sup>३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> चक्राण्य आपशो दिवि ॥ ७ ॥ अ० ११ । १४ । १ ॥

भा०—( यज्ञ ) यज्ञ प्रजापति ( इन्द्र ) आत्मा को ( अवर्धयत् ) बढ़ाता है ( यद् ) क्योंकि यज्ञ ही ( दिवि ) सूर्य के आश्रय, आकाश में ( आपशं ) खटकाकर ( आ चक्राण्य ) चक्र क समान चलाता हुआ ( भूमिं ) भूमि को ( वि अवर्त्तयत् ) विशेषरूप से घृतगति में घुमाता है । इस अर्थ से 'इन्द्र' का अर्थ 'सूर्य' और 'यज्ञ' का अर्थ 'सौर जगत्' या प्रवर्त्तक प्रजापति होता है । समस्त ब्रह्माण्ड में हम सौर जगत् के अनुकरण में ही यह यज्ञवेदी और छोट अनुपात में यह देह रूप यज्ञभूमि बनी है, वेदमन्त्रों में समान रूप स तीनों का वर्णन किया गया है । अथ्याय १२ में—इस जीवन-यज्ञ ने इन्द्र आत्मा के सामर्थ्य को बढ़ा दिया ६ अर्थात् देहरूप कमभूमि को नाना प्रकार की प्रवृत्तियों में बढ़ने दिया । और दौलोक रूप मस्तक में वह विद्यमान है, इत्यादि ।

[१२२] यद्दिन्द्राद् गथा त्वर्माशाय वसुध एक इत् ।

स्तोता म गोसखा स्यात् ॥ ८ ॥ श्र० ८ । १५ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ' ( गथा ) जिस प्रकार ( स्वम् ) तू ( एक इत् ) अकेला ही ( वसु ) धन विभूति ज्ञान, जीवन शक्ति का ( ईशाय ) वश काता है उसी प्रकार ( यद् ) यदि ( अद् ) मैं जीवभा भवनी इन्द्रियों और वसुरूप प्राणों को वश करने में समर्थ होजाऊ तो ( मासखा ) इन्द्रियों के समान ही त्यागते से सम्पन्न यह ( मे ) मेरा आत्मा भी ( स्तोता ) इस ईश्वर महान् आत्मा की स्तुति करने वाला ( स्यात् ) होनाय ।

[१२३] पन्थ यमित्वातार द्याधावत मद्याय ।

साम वीराय शूराय ॥ ९ ॥ श्र० ८ । २ । २५ ॥

भा०—हे ( सातार ) ज्ञान सभादन करने वाले साधन मरे इन्द्रियों ' यद्यवा ह ज्ञानदायी पुनरा ' ( मद्याय ) सबव अधिक प्रसन्न होन वाले ( वीराय ) सामर्थ्ययुक्त धीर, विशप प्रकार से तुम सबको प्रेरणा देने वाले, ( शूराय ) बलवान् पराक्रमी, आत्मा या परमात्मा के विषयक ( पन्थ पन्थ ) प्रशसनीय, उत्तम २ ( सोम ) यथार्थ अनुभव रूप आनन्दरस को ( द्याधावत ) प्राप्त करने के लिए शीघ्र पहुँचो, शीघ्रता बरों ।

सौम्यवृद्धि प्राप्त करने वाले साधक की वही भावना हाती है ।

[१०५] इद् वसा सुतमथ विग सुपूष्णुदरम् ।

अनामयिन् वीरमा ते ॥ १० ॥ श्र० ८ । २ । १४ ॥

भा०—हे ( ययो ) शरीर में बसने वाले देव ! या शरीर में दश इन्द्रियों और अन्त करण्य आदि को बसाने वाले इन्द्र ! आत्मन् ! तू ( इदम् ) इस ( सुनम् ) उत्पन्न किये ( घन्ध ) अन्न जीवन धारण्य सा मर्ष को ( सुपूर्यम् उदारम् ) खूब पेट भर कर ( विव ) ग्रहण कर ( हे ( अनाभविन् ) भयराहित्य घोर, यह सब सांम आदि आत्मा ( तं ) तेरे किये हम ( ररिम ) देते हैं, भेंट करते हैं ।

“भयारस्याभिस्तपति भयात्तपति सूर्य” इत्यादि, उपनिषद् की यही संगति होती है । आत्मा को राजा के दृष्टान्त से गृहदारण्यक में उत्तम रीति से समझया है ।

इति एनीवा दशति । इति प्रथम राण्ड ।



॥ ६० ४ ॥ इति — १, २ मुख्यश्रुतवक्षी । ३ भास्वत् । ४ सुनम् ।

५, ६ सुपुच्छन्दा । ७, ८, ९, १० विशेषः । ११ बलिष्ठ । १२ श्री ॥

[ १२५ ] <sup>१४</sup>उद्दृघदभि <sup>३ ३ ३ १ २</sup>श्रुतामघ <sup>३ १४ २१</sup>घृणभ नर्योपस्तम् ।

<sup>३</sup>अस्तारमेयि <sup>२</sup>सूर्य ॥ १ ॥ अ० ८ । ६३ । १ ॥

भा०—हे ( सूर्य ) समस्त जगत् को प्रेरणा करने वाले आत्मन् ! तू ( श्रुतामघन् ) अन्विष्टि धन, ज्ञान और कीर्ति सम्पन्न ( घृणभम् ) सुर्य और आत्मा की गणों का नक्षत्र, सर्वभेष्ट ( नर्योपस्तम् ) मनुष्यों के हितकारी कर्म करने और गान करवा करने वाले ( अस्तारम् ) अपने प्रतिपक्षियों और काम प्रथम आदि शत्रुओं को मार गिराने वाले, पराक्रमी और सुर्य के प्रति ( इद् १ ) ही तू ( उद् २ ) ऊपर उठता है, उदितहोता है ।

सदाशरी, परोपकारी, काम श्रेष्ठदि क जीतने वाले सुर्यगण का आत्मा सूर्य के समान उदित का प्रसङ्ग है ।



[१२६] य<sup>१</sup>३<sup>१</sup>१ य<sup>२</sup>३ वृ<sup>३</sup>प्र<sup>३</sup>हृ<sup>३</sup>दगा<sup>३</sup> अभि<sup>३</sup> सूर्ये ।

सर्वं<sup>३</sup> तदिन्द्र<sup>३</sup> ते<sup>३</sup> वश<sup>३</sup> ॥ २ ॥ ऋ० ८ । १३ । ४ ॥

भा०—हे ( वृत्रहन् ) सूर्य के समान मेघ और अज्ञान-अन्धकार या ब्रह्मों के नाश करने हारे ! हे ( सूर्य ) समस्त जगत् क समान इस दह के प्रेरक ! हे आत्मन् ! ( यद्य ) आन ( यत् कत् छ अभि ) जिस किसी पदार्थ के मन्गुल ( उद् अगा ) तू उदित होता है ( सर्वं नत् ) वह सब ( ते ) तेरे ही । वशो ) वश में है । आत्मवान् पुरुष जिस बात पर अपना संकल्प बांधते हैं वही उनके वश में हाजता है । शौनक ने यह मन्त्र, पाप नाश करने और जगत् भर का वश करन की साधना का मूलमन्त्र लिखा है ।

यदशकष्युदिने रवौ मरुता पुरदरम् ।

गृण्यसपाइत रिः वरय वा कुरुते जगन् । ( आश्विघोणे शौनक )

[१२७] य<sup>१</sup>३३३ य<sup>२</sup>३३३ सु<sup>३</sup>ती<sup>३</sup>ती<sup>३</sup> तु<sup>३</sup>वंश<sup>३</sup> यदुम् ।

इन्द्र<sup>३</sup> स<sup>३</sup> ना<sup>३</sup> युवा<sup>३</sup> सखा<sup>३</sup> ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । ४२ । २ ॥

भा०—( य ) ते ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवान् पुरुष ( सुतीती ) उत्तम जीति, उपाय साधन द्वारा ( तुवंश ) कामनाओं से यथे और ( यदु ) कुपथ में गय पुन्य को ( परावत ) बहुत दूर स भी ( आनयत् ) सन्मार्ग पर लक्षणा है ( स ) वह ( न ) हमारा ( युवा ) सदा जवान अशर, अमर, तिल, ( सखा ) इष्ट मित्र और समान एवाति बाला हमार आत्मा या हृदय देश में विराजमान परमात्मा या आचार्य है । यहाँ इन्द्र आत्मा, परमात्मा, आचार्य-तमों पर समान भाव स लगता है ।

'तुवंश'—तुर्वी तिसायाम् । श्वादि । कसरशब् । हिंसन्ति आहिंस्यन्ते व्याप्यादिभिर्वा । यद्वा-सूर एवरणहिंसनयोः । दिवादि । यद्वा तुर्वंशः काम

एवामिति तुर्वशाः । यद्वा चतुर्षु धर्मार्थकाममोक्षेषु वश एवामिति चतुर्वशाः सन्तः, चकारलोपेन तुर्वशाः । दे० य० । तुर्वश इति मनुष्यनाम । नि० २। ३ ॥

‘यद्गुम्’—यद्गुः, यमेर्दुक् इति भोजः । यग्यते नियग्यते आचार्येण अपयप्रवृत्ताराज्ञा वा । यद्गुरिति मनुष्यनाम । नि० २। ३ ॥

तुर्वश, हुद्गु, अगु, यद्गु, और पुरु ये ऐतिहासिक पुरुष भी हुए हैं । सायण ने इतिहासपरक ही अर्थ किया है । परन्तु वेद म ये सब मनुष्य के पर्वीय शब्द हैं । धात्वर्थों के भेद से मिल २ गुण के मनुष्यों के ये धात्वर्क हैं । जैसे—(१) ‘तुर्वी हिंसाया’ धातु से अशच् प्रत्यय करने से तुर्वेश शब्द बनता है । जो प्राणियों को मारें या व्याधि से पीड़ित हों । (२) तुर्वेश= जिन को काम अर्थात् पश्या हो वे तुर्वेश कहाते हैं । या (३) जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों को अपने वश करलें वे ‘तुर्वेश’ कहाते हैं । उसी प्रकार ‘यद्गु’ वे मनुष्य हैं जो कुमार्ग पर पैर धरने पर राजा व आचार्य द्वारा नियम अवस्था में लाय जायें । आर्षसाक्षिण में देव को हुए यद्गु कहा जाता है और आचार्य को भी सुहृद् माना गया है । ‘सुहृद् भूत्वा आचार्य उपादिशति’ ( पात० महाभाष्य )

[१२८] मा न इन्द्राभ्याः<sup>१ २</sup> दिशः<sup>३ २ २ ३</sup> सूर्य अकु<sup>१ २ ३ ५ २</sup> भ्या<sup>२ २</sup> यमत् ।

त्या युजा यनम तत् ॥४॥ अ० ८ । ६२ । ३२ ॥

भा०— हे ( इन्द्र ) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! ( आदिश ) चारों दिशाओं से भी ( नः ) हमारे ( अभि ) प्रति ( यस्तुषु ) राशि, अन्धकार युक्त कालों में, राजस तामस अवस्थाओं में भी ( सूर- ) चुपके २ छुपा मारने वाला चोर या हिंसक जगत् या काम क्रोध आदि शत्रु ( नः मा अभि द्वा यमत् ) हम पर कायू न करले, फास न ले अधिक हम ( तत् )

उस समय ( त्वा युजा ) तुम्हें अपने सहायक द्वारा उसे ( घनेन ) मार डालें ।

अत्र रात्रिनाम । नि० १ । ७ ॥ २. यम परिवेषण ( म्यादि )  
३. अथ ऋषि हिसार्थां घन चेति न्वदि ।

[ १२६ ] <sup>११</sup> इन्द्र <sup>३२</sup> सानभि <sup>३३</sup> रयि <sup>३१</sup> सजितवानं <sup>२</sup> सदासदम् ।

<sup>१२</sup> यविष्ठमृतय भर ॥ ५ ॥ अ० २ । ७ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ( सानभि ) उत्तम प्रकार से विभाय करने योग्य ( सजितवान ) अपने शत्रु पर विजय दिलाने वाले, ( सदासद ) निरन्तर आने वाले आक्रमणों को सहन करने वाले, ( यविष्ठ ) शत्रु पर बाणों और आयुधों की वर्षा करने वाले या बहुत अधिक ( रयि ) सत्ता का ( ऊनये ) रक्षा क लिय ( आ भर ) प्राप्त कर । आमा क पद में रयि - प्राण या आत्मिक ज्ञान, चल जा शरीर में स्थान २ पर गटा हुआ है, सब द्रव्यों पर विजय करता है सब कष्टों को सहता है, सब सुखा को उत्पन्न करता है और निरन्तर गति करता है ।

रयि शीङ् गतौ — रीषने गच्छति इति रयि । यद्वा रातेर्दानार्थस्य । गच्छन्पाम्भमति शत्रून् इति रयि सेना । कोशापत्तावाद् मृतिरादिता सना वा रयि । साने वान सदासदमिति विशयणवजादयि सेनार्थ ।

[ १३० ] <sup>१२</sup> इन्द्र <sup>३१</sup> वयं <sup>२</sup> महा <sup>३</sup> उन <sup>३२</sup> इन्द्रमभं <sup>३३</sup> हरामह ।

<sup>११</sup> युज <sup>३१</sup> तृप्रपु <sup>३२</sup> भक्षिणम् ॥ ६ ॥ अ० २ । ७ । ५ ॥

भा०—( महाधने ) वधे २ सप्राप्त के अवसर में और ( अभं ) छोटे मोटे पुरस्कार क कलह या चोरी आदि क अवसर पर भी ( वयं ) हम लोग ( तृप्रपु ) विप्र और उपद्रवों और विप्रकारियों पर ( भक्षिण ) सदा लक्षवाह या सेना-बल को या दण्ड को धारण करने हान, ( युज ) सदा के

सङ्घायक, ( इन्द्रम् ) राजा को ( वयं ) हम ( इवामहे ) बुलाते हैं उसके गुण कीर्तन करत हैं। यहाँ इन्द्र शब्द राजा वाचक है। राजा के दृष्टान्त से उपनिषदों में गुण्य प्राण और आत्मा का वर्णन किया गया है। आत्मा पच में ( महाधने ) बड़े भारी योगसाधन और ( भ्रमं ) सूक्ष्म विचार में भी ( वृषाणि ) आत्मा पर पदों डालन वाली तामस, रयुधान वृत्तियों पर ( वज्रिणम् ) सूक्ष्मगति या वर्जक शक्ति अर्थात् असत् को छोड़कर सत् को ग्रहण करने वाला विवेक से युक्त आत्मा का स्मरण करें। जैसे काठक में ' यदिदं किञ्च जगरत्सर्वं प्राणं यजति नि सत्तम् । महद्भयं वज्रमुद्यतम् । ' कठ० यज्ञी २ ॥

महाधनमिति संग्रामनाम ( नि० ३। १८। ) । अमो हरते ।

[१३१] अ० २। ३१२। सुतामन्द्रः सदस्रवाहः ।

तत्रादिदिष्टं पौंस्यम् ॥७॥ अ० ८। ४५। २६ ॥

भा०—( इन्द्र ) राजा ( सदस्रवाहः ) हज़ारों प्रकार से शत्रु को परास्त करने के लिये ( कद्रुवः ) विद्वान् ज्ञानी के ( सुतम् ) ज्ञान का ( अपिबत् ) पान करता, उपयाग करता है ( तत्र ) तभी ( पौंस्यं ) उसका बल ( आदिदिष्टं ) अधिक चमकता है ।

बाहुर्बाधते, परान् बाधते इति बाहुः इति देवराजो यज्ञा । कद्रुः कवतेऽसौ कद्रुः विद्वान् । जग्वादिषु औष्णादिक निपातनम् । उया० ३। १०२ ॥

आत्मपच में कद्रु-मन । बाहु=कर्म । मेघ, बाहु=जलधर । इत्यादि ।

[१३२] अ० २। ३१३। अयमिन्द्र त्वायनाऽभिप्रनानुमो वृषन् ।

विद्धीत्यादेश्य मो यसे ॥८॥ अ० ७। ३२। ४ ॥

१३१—'अत्रादिदिष्ट' इति अ० । अत्रादिदिष्टेति स० सा० ।

१३२—'प्रनोनुम' 'विद्धी त्व' इति ऋ० ।

भा०—हे ( इन्द्र ) पेश्वर्यवन् ! हे ( वृषन् ) हे सबसे श्रेष्ठ मुखों के  
 यथा करने हारे ! ( वयम् ) हम ( आयव ) ज्ञानशील मनुष्य ( रथा ) तुम्ह  
 को ( अभि प्र नोनुमः ) निरन्तर प्रणाम करत हैं । हे ( वसो ) सव के  
 भीतर वास करने हारे ( नः ) हमारे ( अस्य ) इस सवको नृ ( विद्धि )  
 निश्चय पूर्वक जानता ही है ।

[१३३] <sup>२ ३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १</sup> आ घा ये अग्निमिन्धत स्तृणन्ति वहिरानुपक् ।

<sup>३ २ ३ २ ३ १ ३</sup> येषामिन्द्रा युधा सखा ॥ ६ ॥ अ० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—( ये ) जो विद्वान् जोग ( अग्निम् ) ज्ञानवान् आत्मा को  
 ( इन्धते ) प्रज्वलित करते है और ( येषां ) जिनका ( युधा ) अजर,  
 अमर, सदा तरुण, अक्षय बल वाला ( इन्द्र ) आत्मा ( सखा ) मित्र हैं ।  
 वे ( आनुपक् ) निरन्तर ( वहिः ) अपने कर्मबन्धन, देह को ( स्तृणन्ति )  
 काट डालते हैं । आत्मा के ज्ञान और प्राण दोनों स्वरूपों को जान खेने  
 वाले विद्वान् कर्मबन्धन से मुक्त होजाते हैं ।

'वहिः' धान्य को कहते हैं । देह की उपमा उपनिषदों में धान्य और  
 वृक्ष से दी है । जैसे १. 'सस्यमिध मार्यः पश्यते सरसमिवाजायते पुन'  
 ( काठकम् ) २. 'ऋष्वमृक्ष भवाकृशास एषोऽप्रवत्य सनातनः ।' 'अह  
 वृषस्य रोहिवा' ( तै० उ० )

[१३४] <sup>३ २ ३ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> भिन्धि विश्वा अपद्विषः परि पात्रो जहो मृधः ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३</sup> यसु स्याहं नदा भर ॥ १० ॥ अ० ८ । ४६ । ४० ।

१३४—१. बृहन्नेलोपधः इति वृद्धौ । अस्व त्रिषान्वृत्त वरिः, अ० ८ ।

१०२ । ४ कत्रापि वरिः शरीर त्रिषान्वृत्त वरिणम् । यथा भागवते-

'वसुधैव कुटुम्बकः कुण्डो विधातो'० इत्यादि ।

२. वृधनि, कृत्वनि, स्तृणत्वात्- पत्रांवा पात्रतः सर्वे वधधर्माः ।

नि० २ । १६ ॥

भा०—( विश्वा द्विष ) सब द्वेष करने वालों को हे राजन् !  
 आत्मन् ! ( अप भिन्धि ) दूर ही काट डल और ( बाध ) पीड़ा पहुँचाने  
 वाले, ( मृध ) सप्रामकारी हिंसक सनाथों का ( परि जडि ) सब धार  
 नाश कर ( स्वाहम् ) हमारे अभिलाषा क पात्र ( तद् ) उस ( वसु )  
 हमारे भीतरी आत्मरूप धन का ( आ भर ) हमें प्राप्त करा ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में नवा अरु सर्वस्य कामाय सर्वं प्रिय भवति  
 आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति । वेद के शब्दों में आत्मा स्वाहं वसु  
 वा सबसे अधिक प्रिय धन है । 'तत्' यह शब्द उस विस्मृत को बाद  
 कराता है जिसको हम अविद्या के कारण भूल गये हैं जिसका मैत्रयी ने  
 वाशवस्वस्य स पूता—येनाह नामृतास्वा किमह तेन कुर्याम् । यदेव भगवान्  
 धद तद्व में मूढे । इस पर वाशवस्वस्य न उक्त सिद्धांत कहकर कहा ।  
 'गतावद्रे सखु अमृतम् ।' यह तत् अन्य उपनिषदों में भी है जैसे—'तद्व  
 शुक्र तद् मद्म तद्नु नायेति कश्चन, तत्त्वमसि श्वतकतो ह्यादि ।

इति चतुर्थी दशति । द्वितीय खण्ड ॥

॥ ० ५ ॥ १ बाण्डी घोर । २ त्रिशोच । ३ बस्तु काण्व । बुसीवी काण्व ।

० मेधातिथि । १ शुक्लशु । ७ श्यावाश्व । ८ प्रगाथ वाण्व । ९ बस्त ।

१० इरिमि । गायत्री ॥ १०३ ५

३१२

३ २ ३१ २ ३१२ २२

[१३५] इहेय शृणु एषा घञा हस्तपु यद्दान् ।

१२ २२ ३१ २

नियाम चित्रमृञ्जने ॥ १ ॥ अ० १ । २७ । २ ॥

भा०—( एषा ) इन मरुतों शायों क ( हस्तपु ) हाथों में ( करा )  
 करा है । ( यद् दान् ) यह जो बात कहते हैं ( इह एव शृणुव ) उसको

में यहा हा सुनता हू । यह कशा ( चित्र ) अज्ञत प्रकार स ( निषाम ) निषम, व्यवस्था का ( अन्त ) साथ रहा है ।

कशा' का वणन अथववद ( का० ६ । सू० १ ) में किया है । जैसे—  
“य एति मधुकशा रराणा तत् प्राणस्तदमृत निविष्टम् ”

परपत्यस्याश्रित पृथिव्या पृथक् नरा बहुधा मामासमाना ।

‘ अन्नवातान् मधुकशा हि जज्ञ मरुतामुग्रा नसि ।’

साधक प्रयत्नदशा अथि कइता है कि मैं उन मरुतों का कशा (इन्द्र) क माद का सुनता हू घइ विचित्र प्रकार स सबका व्यवस्था में बांध है । अथव में इसका मरुतामुग्रा नसि' प्राणिया का उग्र रूप शकर बांधन वाली बतलाया है । इसका स्पष्ट विवरण त्रिपुरदहन क अज्ञकार का व्याख्या म शिव क जगदाय क महार्थ पर मरुत् सारथि क हाथा म आकार का इन्द्र बतलाया है । शि० पु० । योगा जग उसा ओंकार क अनाहत नाद का सुनत है । उसा का यहा विवरण है ।

[१३६] <sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> इम उ ता निवृत्त अखाय इन्द्र सोमिन ।

<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ २</sup>

पुष्टाचन्ता यथा पशुम् ॥ २ ॥ क्र० ८ । ४६ । २६ ॥

मा०—( पुष्टाचन्त ) पुष्टिकारक पदार्थ घास दाना आदि को हाथ में लिये पशु गलक पुरुष ( यथा ) जिव प्रकार स्तह स अवन ( पशु ) पालतू पशु का दयते है उसा प्रकार दे (इन्द्र) ! परमधर ! ( इमे ) य ( सामिन ) सोमरस या आत्मज्ञान क धारण करन वाल पुरुष तर ( सखाय ) मित्र ( यथा ) तुमका दस्त है ।

इन्द्र प्रदरानमात्र समान धर्म दिखाया गया है । आत्मज्ञान साधक पुरुष मात्रानुते ज्ञान अथा एव ध्यान साधना द्वारा अंतरात्मा एव अज्ञ का बुद्धांत है, उसक प्रेम में उसका निरन्तर निहारत है कि अथ दरान

देता है, अथ देता है अथ । अथ । गीता में जैसे— ' दवा मध्यस्य रूपस्य नि य दर्शनक शिष्य । '

[१३७] <sup>१ २</sup> समन्य <sup>३ २ ३</sup> मन्य <sup>२ ३ १</sup> विशो <sup>२</sup> विश्वा नमन्त <sup>३ १ २</sup> वृष्टय ।

<sup>३</sup> समुद्रायिव <sup>१ २ ३ १ २</sup> मिन्त्रव ॥ ३ ॥ अ० ८ । ६ । ४ ॥

भा०—( अस्य ) इय इन्द्र क ( मन्यव ) ऋषि क सामने या मगन ज्ञान, सकल्प के समस्त ( विधा ) समस्त ( विश ) प्रजाप् ( नमन्त ) ऐस मुकती हैं, जैसे ( सिन्धव ) नदिया । समुद्राय इव ) समुद्र में समाजान के लिये आग्ने आग बढ़ती ही हुई चली जाती है ।

इस 'मन्यु' का गीता म व्यास ने कहा है ।

' कालोऽस्मि लोकत्रयकृत् प्रवृद्धा काकान् समाहर्तुमिह प्रवृष्ट । '

इस ऋषि की व्याख्या की गई है । जैसे—

यथा मदीनां बहवोऽभुवेगा समुद्रमेवाभिमुख द्रवति ।

तथा तवाभी नरलोकधीरा विशन्ति सकप्राण्यमिषिष्वजन्ति ॥

गीता ११ । २२ ।

मुकना, जैसे—'सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसखा' । (गीता ११) ३६)

[१३८] <sup>३ २ ३</sup> देवानामिदृषो <sup>३ २ २ २ २</sup> महत्तद <sup>३ २</sup> वृष्णीमह ययम् ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> वृष्णामस्मभ्यमूतय ॥ ४ ॥ अ० ८ । ७२ । १ ॥

भा०—( वृष्णाम् ) सुखों और ज्ञानों की धार बरसान वाल ( देवानाम् ) विद्वान् गुरुओं या प्राणों की ( इत् ) हा ( महत् तत् अथ ) बड़ी भाती उस रदा या शरण को इम ( अस्मभ्यम् ऊतय ) अपनी रदा क लिये ( आ वृष्णीमहे ) सब प्रकार स चाहते हैं ।

तैत्तिरीय उप० ( व० १ । अनु० १० ) में जैसे— " यदि त कर्मविचिकित्सा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणा समाश्रित



शुक्रा. आयुत्रा अलूषा धर्मकामा स्यु । यथा ते तत्र वषोरन् तथा तत्र  
वर्तेथाः । एष भादेश । एष उपदेश । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशा  
सनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।

तद्विद्धि प्राथिपातेन परिप्रभन सथया ।

उपदेश्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

यज्ज्ञान्वा न पुनर्मोहमेध धार्यसि पाण्डव । गी० अ० ५ । ३४-३५ ॥

[१३६] सोमाना<sup>३ २ ३ १ २</sup> स्वरण<sup>३ १ २</sup> कृणु<sup>३ १ २</sup>दि<sup>३ १ २</sup> ब्रह्मणस्पते ।

कृ<sup>३ १ २ ३ १</sup>णीवन्त<sup>२ ३ १</sup> य औशिज ॥ ५ ॥ ऋ० २ । १८ । २ ॥

भा०—हे ( ब्रह्मणः पते ) ब्रह्मणस्पते 'ज्ञानिन्' ( सोमाना ) ज्ञानो  
क योगसाधन से प्राप्त अनुभवों या रसों को प्राप्त करने के लिये ( कृणी-  
वन्त ) कइ, छाती में रहने वाले या प्रसिद्ध प्राण को ( स्वरण ) सुख से  
गमन करने वाला एव ( देहाप्यमान ) दलसम्पन्न ( कृणुदि ) कर ( य )  
जा प्राण ( औशिज ) वश द्वारा साध लिया गया है ।

इस प्रकार को तैत्तिरीयशाखा में इस प्रकार स्पष्ट किया है— सोम  
स्वरणमित्याह सोमपीथमेव अवहन्धे । कृणुदि ब्रह्मणस्पते इत्याह ब्रह्मवर्चस  
मेवावहन्धे इत्याह ।" अर्थात् ब्रह्मवर्चस्वी ब्रह्मणस्पति है । उसको ज्ञान में  
प्रवृत्ता प्राप्त करने का उपदेश है । इसी प्रकार कृणीवान्' क विषय में  
यास्क कहते हैं कृणीवान् कप्यावान् । वशिग् वष्टे काम्निर्कर्मण । (नि०  
६ । ३ । १ ) कृणो गाहते वस इति नामकाण । स्पृतेषां अन्वयेकाऽ  
अयाम् । किमस्मिन् स्पृतानमिति । कपतर्वा सरसामावाग्मनुष्यकच । (नि०  
२ । १ । ५ )" इस प्रकार कृणीवान्, ज्ञानवान्, स्पृतिमान्, भक्षकान् ।  
औशिज=कान्तिसम्पन्न या कामनासम्पन्न । कृणी=मनुष्य या प्राणी की काम्ने,

उगमें निवास करने वाला कर्षीवान् है । और वही शरीर में जठराग्नि के बल से उत्पन्न होने के कारण 'भौशिज' कहाता है । ज्ञानी पुरुष उसका ज्ञान और योगसाधनों द्वारा स्वरण=अधिक शक्ति सम्पन्न, बलवान्, देरी-प्यमात करें ।

[१४०] बोधन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुति ।

शृणातु शक्र आशिषम् ॥ ६ ॥ अ० ८ । १३ । १८ ॥

भा०—( नः ) हमारा ( शक्र ) शक्तिशाली आत्मा ( वृत्रहा ) तामम आवरणों का नाश करने वाला ( भूर्यासुति ) अति अधिक सम्पन्न वृत्ति वाला होकर, ( बोधन्मना ) ज्ञानशील चित्त वाला ( इत् ) ही ( अस्तु ) हो । और यह ( आशिषम् ) आशीर्वाद, उत्तम कामना का ( शृणातु ) सुने ।

[१४१] अथ नो देव त्वयित् प्रजावत्सारी सौभगम् ।

परा दुस्त्वय्य सुव ॥ ७ ॥ अ० ५ । ८२ । १८ ॥

भा०—दे ( भवित ) सब के प्रेरक, उत्पादक, प्रकाशमान् देव, आत्मन् ! ( नः ) हमारा ( प्रजावन् ) अपनी प्रजाओं के समान ( सौभगम् ) उत्तम कल्याण ( अथ ) आन, प्रतिदिन ( सावी. ) उत्पन्न कर । ( दुस्त्वय्य ) चित्त में से दुःसंकल्पों के कारण होने वाले तन्दाकालिक प्रमाद को ( परा सुव ) दूर कर ।

योग के साधनों को करते हुए साधक के आप्रदपूर्वक संयम द्वारा इन्द्रियों का बाध निरोध होजाने पर भी मन की पूर्व भासनाएँ तन्दा के

१४०—'बोधिन्मना' इति श्र० ।

१४१—'भवानो', 'दुस्त्वय्य' 'दुस्त्वय्य' इति श्र० ।

अवसर पर दुःस्वप्नों का कारण होती हैं । उनको दूर करने और शुभ विचारों के प्रबल होने की इस मन्त्र में प्रार्थना है ।

[१४२] का३ स्य वृषभा युवा तुविप्रीतो अनागतः ।

प्रक्षा कस्तं सपर्वति ॥ ८ ॥ अ० ८ । ६४ । ७ ॥

भा०—( वृषभः ) इन्द्रियरूप गीर्षों में बैल के समान भोग्य सर्व-  
अणु, मेघ के समान सुगंधों का वर्षक, ( युवा ) सदा अजर, ( अनागतः )  
कभी किसी के आगे न झुकने वाला, स्वस्थ, ( तुविप्रीव ) बहुतसी प्रीति  
घाला, इन्द्र ( स्य क ) वह आत्मा कहाँ है ? ( तं ) उसको ( कः ) कौन  
( प्रक्षा ) प्रश्न को जानने वाला विद्वान् ( सपर्वति ) उसकी पूजा करता  
है । अर्थात् हे ज्ञानी पुरुषो ! तুম उस अप्रतर्क्य, अबाह्यमनसगोचर सदस्य  
शीर्षा पुरुष की विवेचना करो और उसके सबे उपासक प्रज्ञानी की भी  
पदचान करो ।

कथमिन्द्रो बहुप्रीव ? उच्यते । परमात्मस्वरूपत्वात् । 'सर्वतः पाणि-  
पादं तन् सर्वतोऽङ्घ्रिशितोमुखम् । सर्वतः शुभिमन्त्राकं सर्वनाथ्यं तिष्ठति,  
इति मा० नि० । तुवीति बहुवर्षावः । ( नि० ३ । १ । ३ । ) प्रीव निर-  
गरत्वात् ऋषेति अनुशासं प्रधान्ताभिपूजितवोरिति प्लुतिरनुशासश्च (पा०)

इन्द्र बहुप्रीव किस प्रकार है ? गीता कहती है—

“ .. बहुवर्षनेत्रं महाबाहो बाहुबाहुम्भदम् ॥”

बहुदरं बहुदंटाकराल ॥ अ० ११ । २३ ॥

अनेक बहुरूपमनमनकाद्भुवदर्शनम् ।

सर्वाश्रयं सर्वं देवमनन्तं विधतोमुखम् ॥

जैसा वेद में भी लिखा है - सदस्यो गे पुरुष सदस्यः सदस्यान्

( यजु० ३१ । १ ॥ )

[१४३] उ<sup>३</sup>दहरे<sup>१</sup> गिरी<sup>२</sup>णां<sup>३</sup> सङ्ग<sup>४</sup>मे<sup>५</sup> च नदी<sup>६</sup>नाम् ।

वि<sup>३</sup>या विप्रो<sup>१</sup> अजायत ॥ ६ ॥ अ० ८ । १ । २८ ॥

भा०—( गिरीणां ) पर्वतों के ( उदहरे ) तट प्राप्त में और ( नदीनां ) नदियों के ( संगमे ) संगम स्थान पर ( विया ) ज्ञान शक्ति और कर्म के अभ्यास से ( विप्रः ) मेधावी पुरुष ( अजायत ) तैयार हुआ करता है ।

तपस्वी जोग पृथान्त गिरिकन्दरा और प्राकृतिक रमणीय नदी संगमों पर ध्यान, ज्ञान, तप, जप करके शक्तिमान् होते हैं । भारमा के पद में— ( गिरीणां ) मेरुदण्ड के पोरुषों के समीप और इडा, पिंगला और सुषुम्ना इन ( नदीनां ) नादियों के संगम स्थान त्रिकुटी में ध्यान लगाने से दिव्य ज्ञानवान् पुरुष सिद्ध हो जाता है । अथवा—गिरयः=स्तोतारः । नद्यः= मरुत्स्थः । धीरल्पयनम् । कवियों, ज्ञानप्रवक्त्राओं के पास वेदवादिनों के परस्पर संगम स्थल, सभा स्थानों में अल्पयन करने और मनन करने से विद्व, विद्वान्, मन्त्रज्ञानी होजाता है ।

[१४४] स<sup>३</sup> सद्योजं<sup>१</sup> चर्यं<sup>२</sup>णीनामिन्द्र<sup>३</sup> स्तोता<sup>४</sup> नव्यं<sup>५</sup> गीभिः<sup>६</sup> ।

नरं<sup>१</sup> नृपां<sup>२</sup> सां<sup>३</sup>ष्टम् ॥ १० ॥ अ० ८ । ११ । ११ ॥

भा०—( चर्यंणीनाम् ) तादृशीं, आचारवान् पुरुषों के बीच ( सद्योजं ) प्रकाशमान ( नव्यं ) स्तुति करने योग्य, ( इन्द्रं ) वैश्वदेवस्य ( नरं ) सर्वके नेता ( नृपां ) मय मनुष्यों को अपने तेज से दवाने वाले, ( सांष्टं ) स्वयं शक्ति पृथनीय परमेश्वर की ( प्र स्तोत ) उत्तम शक्ति से स्तुति करो ।

१४१—'नव्ये च नो. न' इति अ० ।

१. नृ नृमी ( दुराशिः ) नव्यं स्तुतिरोग्यविररपेः ।

चपंख्य चरणवन्त चरणशीला । चरतानिशौण्डी । कुपेवां ।  
मद्वा चापितारो दृष्टार । विचपंखि पश्यतिकर्मो । ( नि० २ । २ )

चपंखिश्चापिता दृष्टा इति स्कन्दस्वामी । चपंख्या मनुष्या ( नि०  
२ । ३ । )

इति पञ्चमी दशति । तृतीयं दशकं ॥

१००६॥ अपि — ध्रुवस्त्य सुकपो वा । २ मघातिथि । ३ गानम । ४ भरडाग ।

५ विन्दु पूनशो वा । ६, ७ ध्रुवस्त्य सुकपो वा । ८ इत्य काण्व ।

९ शुन शप । १० शुन शेपो वागद्वो वा ॥ इन्द्रो इयता ॥

गायत्री । १००६ ॥

[१४३] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अपाद्गुशिप्रचन्धस सुदक्षस्य प्रहोपिण्य ।

<sup>२ ३ २ ३ १ २</sup> इन्द्रारिन्द्रा यवाशिर ॥ १ ॥

३०८१२०१८१

भा०—( शिरी ) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला या  
माथों का स्वामी ( इन्द्र ) पृथ्वेशीक्ष आत्मा ( सुदक्षस्य ) कामसम्पत्त  
में कुशल, बलसम्पत्त, ( प्रहोपिण्य ) उत्तम रीति से हवन, दान चालन  
करन वाले ( इन्द्राः ) प्रदात, ( यवाशिर ) अन्न के सारभूत अन्न से मिल  
कर परिवर्त ( चन्धस्य ) प्राणधारण सामर्थ्य का ( अपाद् ) पान या  
पावन करता है ।

‘प्रहोपिण्य’—इसका व्याख्या देवियं ( गीता अ० ४ । २३ २१ । )  
इसमें बहुत से यज्ञ दशाव हैं जिन १. महापर्वण महाहविषात् । २ इन्द्रिया  
की सपथ में आहुति । ३ शरदादि ब्राह्म विषयों की इन्द्रियों में आहुति,  
४. ज्ञानेन्द्रिय द्वार ५. प्राणेन्द्रिय कर्मों की सपथमाग्न में आहुति, ६.  
दृश्यवस्तु, ७. तपोयज्ञ ८. वागयज्ञ, ९ व्याप्याय यज्ञ १०. ज्ञानयज्ञ,  
११. अग्न में प्राण की आहुति, १२. प्राण में अपान की आहुति, १३.

प्राणों की प्राणों में आहुति इत्यादि । इनके कर्ता सभी 'प्रदोषी' है । इनमें सबसे श्रेष्ठ सुदृढ़ ज्ञानी यह है जा अपने ज्ञानाग्नि अर्थात् चेतना शक्ति में सब कर्म शक्ति अर्थात् भ्रम की जीवन शक्ति को एक करके कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है ।

[१४६] इमा उ त्वा पुरुषसोभि प्र नोन्युर्गिर ।

गावा वत्स न धेनवः ॥ २ ॥ अ० ६। ४५। २१ ॥

भा०—हे ( पुरुषसो ) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ' एव हे इन्द्रियों में भी सामर्थ्य रूप से बसाने वाले आत्मन् ' ( इमा ) ये ( गिर ) वाणिषा वेदवाणिषा ( धेनव ) दूध देनेवाली, ( गाव ) गौए ( न ) जैसे अपन ( वास ) बड़प्पे के पास चली जाती हैं उसी प्रकार ( त्वाऽ ) तुम्हको ही ( अभि प्र नानवु ) साक्षात् स्तवन करती हैं ।

जिस— सर्वे वदा यत्पदमामनन्ति' इति उप० ।

[१४७] अत्रा ह गारमन्वत नाम त्वष्टुरपाव्यम् ।

इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ३ ॥ अ० १। ८४। १० ॥

भा०—( अत्र ह ) यहा निश्चय से ( त्वष्टु ) दीप्तिमान् तेजस्वी सूर्य की ( गोः ) गमनशील किरण का ( अपाव्यम् ) लुब्ध सुपुस्र भाश ही ( चन्द्रमसो गृहे ) चन्द्रमा के घर में ( नाम ) गया हुआ है । ( इत्था यमन्वत ) ऐसा मानते हैं ।

इस प्रकरण में प्राण ही स्वष्टा है जो गर्भगत पुरुष को ६, १० मास में शनै २ बनाता है । गर्भाशय का गुप्तभाग चन्द्रमा का घर है जा १२ कलायुक्त है । जो क्रम से एक पक्ष में घटना और १२ दिन में बढ़कर पुनः श्वेतुकाल में बेला के समान उल्लिखित होता है । उस स्थान पर भी

सृष्टिकर्ता परमात्मा की ही यह शक्ति है जो गर्भ में भी गुप्तरूप से विद्यमान है। उस गर्भ में भी गति है। उसमें की मुख्य प्राण आदित्य का ही अंश प्रसुप्तरूप में शनैः २ बढ़ता है। अथवा स्वप्न पुरुष को कहते हैं पुरुष का बीयांश ही गर्भाशय में जाता है। जैसा उपनिषद् में लिखा है। 'पुरुषे हवा अयमादितो गर्भो भवति । यदतद् रेतस्तदेतासवेभ्योऽग्नेभ्यस्तेजः भूतमात्मन्येवात्मान विभर्ति । तद्यदा स्त्रियः सिञ्चति अथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म, इत्यादि ( एत० उप० अ० २ । १-६ ) । प्राणरपि की विवेचना करते हुए उपनिषत्कार ( प्रश्न० उ० ) ने पुरुष को आदित्य और प्राण और स्त्री को चन्द्र और रपि माना है। इस मन्त्र को उद्धृत करके यास्क ने लिखा है—“अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमस प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम् । आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति इति । सुपुण्य सूर्यश्चिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति । सोऽपि गेहृष्यते, अथाहगोरमन्वतेति तदुपरिष्ठाद् व्याख्यास्याम ।

अर्थ — आदित्य भी 'गौ' कहाता है। इसकी एक रश्मि चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। जैसे यजुर्वेद ( १८ । ४० ) में लिखा है। इस सुपुण्या को भी 'गौ' कहते हैं जैसे अथाह गोरमन्वत' इत्यदि मंत्र का व्याख्यान आगे यास्क ने ( ४ । ४ ) में किया है कि अथाह गौ सममसत आदित्य रश्मय । स्व नाम अपीच्य अपगतमपचितमपहितमन्तर्हित वाऽगुप्य चन्द्रमसो गृहे ।”

आधिदैविक पक्ष में यास्क का यह व्याख्यान है। परन्तु शरीर पक्ष में उपनिषदों का मूल सिद्धान्त ग्रहण करने योग्य है। उपनिषदों में गर्भ में जीव की स्थिति एवं पुष्टि और जन्म और शरीर-रचना जीवनयात्रा आदि क प्रश्नों की सूब सूधम विवेचना की है। छान्दोग्य के तृतीय प्रपाठक में आदित्य की सब रश्मियों की विवेचना गुप्त्य प्राण को छप्य करक की है।

[१४८] <sup>१३ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ २</sup> यदिन्द्रो अनयाद्रिता महोरपा वृषन्तमः ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> तत्र पूषा भुवत्सचा ॥४॥ अ० ६।४६।४ ॥

भा०—( यत् ) जब ( वृषन्तम ) सर्वत्र, लोम २ में रस का वर्षण उत्तम रूप से करन वाला ( इन्द्र ) आत्मा ( रित ) गति करने वाले ( मही अप ) बड़ी नादियों को ( अनयद् ) समस्त शरीर में पहुँचाता है ( तत्र ) वहाँ ( सचा ) साथ ही वह ( पूषा ) पोषण करने वाले सामर्थ्य से भी युक्त ( भुवत् ) हो जाता है ।

आत्मा ही देह में सर्वत्र रस पहुँचाता है और पुष्टि भी करता है । विशाल ब्रह्माण्ड में ईश्वर की शक्ति क्या भाँ करती है और अन्न भी उत्पन्न करती है ।

[१४९] <sup>१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २</sup> गौर्धयति मरुता श्रवस्युर्माता मघोनाम् ।

<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> युक्ता वडी रथानाम् ॥५॥ अ० ८।९४।१ ॥

भा०—( मघोना ) जीवन यज्ञ के सम्पादन करने वाला ( मरुता ) प्राणों की ( माता ) उत्पादक जननी ( गौ ) चेतनस्वरूपा चितिशक्ति ( श्रवस्यु ) अन्न की या ज्ञान की कामना करती हुई ( धयति ) अपना सोम रूप ज्ञान पिलाती और वह स्वयं ( रथाना ) रथस्वरूप दूर तक जाने वाले प्राणन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों में ( युक्ता ) तुन कर ( वडी ) उन को उठा रही है । आत्मा की चतना शक्ति इन्द्रियों को चनन करती है वही उनको पदार्थों तक पहुँचाती है ।

मरुता की गौ की व्याख्या देखिये — अथर्ववेद ( का० १०। सूत्र १० ) यह वशा रूप गौ है ।



शत कसा शत दाग्धार शत गासार वृष्टे अस्वत् ।

य दव स्तर्यां प्राणति स वशां विदुरकथा ॥

वही गा वृश्नि कहा है । इसका घणन अश्वत् (८। १००। १० ११)  
में इस प्रकार है ।

यद्गाम् वदन्त्यविचतनाति राव्यी दवाना निपसाद् मन्त्रा ।

चतस्राऽनुदिश ऊर्जं दुदुह पयांसि ऋचिदस्या परम नगाम् ।

[१४०] उप नो ह रिभि सुत याहि मदाना पत ।

उप नो हरिभि सुतम् ॥ ६ ॥ अ० ८ । २३ ३१ ॥

भा०—( मदानां पत ) सय धान-ओं और ज्ञान विरका क पालन  
काज हार ( न ) हमारे ( हरिभि ) ज्ञान इन्द्रियों द्वारा ( सुत ) उपा  
दिज्ञान का ( उप याहि ) नू प्राप्त कर । ( न ) हमारे ( हरिभि सुतम् )  
धाय इन्द्रियों द्वारा किय कर्म और उनसे उपाय सुत्र भग का तू ( उप  
याहि ) प्राप्त हा ।

[१४१] इषा हाश्रा अष्टदत्तद्र वृधता अध्वर ।

अच्छ्रायभृथमानसा । ७ ॥ अ० ८ । २३ ३३ ॥

भा०—( अध्वर ) हम दिसाहित या कभी गष्ट न ह न घाज उ वा  
मय या आत्मज्ञानमय यत्न म ( इष्टा ) माग करने वल या विषयरूप  
इविया का आहुति प्रस्त करने वाल ( हाश्रा ) प्राय विषयाहुति का  
मतर क चितेशत्रि की उवाला म इवा करनेवाले सा अये सान  
इन्द्रियों ( इष्ट वृध त ) धारता क उच्य ज्ञान औरव का यगल हु  
( आश्रा ) ज्ञान और वल स ( अयभृथम् ) पूर्ण सम से क शयभृत्

स्नान पर्यन्त ( अस्त्रा ) उत्तम रूप से ( अमृत ) यज्ञ करते हैं और विपर्जन करते हैं ।

ब्राह्म यज्ञ की आध्यात्म व्याख्या का यह मूलमन्त्र है । शिर में सात अङ्गिष्ठ, २ अङ्गुल, २ नाक, २ कान, १ मुख ये सात अङ्गिष्ठ सात होता है मुख्य आसन्य प्राण-आत्मा 'इन्द्र' है, वाक् सरस्वती यज्ञ की सम्पादिका भिषक् है चितिशक्ति शची है । इत्यादि वैदिक अलंकार हैं । विशेष देखो छान्दोग्य उप० ( अ० ३ । ख० १६, १७ । )

[१५२] अहमिन्द्रि पितुपरि मेधामृतस्य जग्रह ।

अह सूर्य इवाजनि ॥ ८ ॥ अ० ८ । ६ । २० ।

भा०—( अहम् ) मैं ( इन्द्रि ) ही निश्चय से ( पितु ) अपने पालक पिता परमेश्वर के ( अतस्य ) सत्य, ज्ञान, वेद और शक्ति सामर्थ्य के लिये ( मेधाम् ) धारणावती बुद्धि का ( परिजग्रह ) सब ओर से प्रदण करू । ( अह ) मैं ( सूर्य इव ) सूर्य के समान ( अजनि ) होजाऊ ।

चतुष्पाद् ब्रह्म की उपासना का फल उपनिषत्कार कहते हैं—' भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्यो यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव यद् । ' ( छान्दा० अ० ३ । ख० १८ । ) अत की मेधा का प्रदण देखिय छान्दाय ( अ० ३ । ख० १५ ) इयमे वसुधान कोश ( खजाना ) अपने पिता से प्राप्त किया जा रहा है । जिसका वर्णन उपनिषत्कार में किया है—

अन्तरिक्षोद्ग कोशो भूमिबुधो न जीयति ।

दिशो ह्यस्य स्रक्तयो वीरस्यात्तर मिलम् ॥

स एव काशो वसुधानस्तारिमम् विधमिद् धितम् ॥

इहाका वर्णन देखिये तैत्तिरीय उप० ( अनु० ४ । )

[१५३] रेवतीं सधमाद् इन्द्रे सन्तु तुर्विवाजा ।

३१ २ ३ २ ३ १ ३ १ २  
३ २ ३ २ ३ १ २  
क्षुमन्तो याभिमदेम ॥ ६ ॥ ऋ० १ । २० । १२ ॥

भा०—( इन्द्रे ) आत्मा के ( सधमादे ) हमारे साथ २ हर्षयुक्त सुपसन्न होजाने पर ( न ) हमारी ( रेवती ) प्राणेंद्रिय और ज्ञानेंद्रियों ( तुर्विवाजा ) रूख चलवती होजाय । (याभि) जिनके साथ हम (क्षुमन्त) शत्रु, भोग, गृह आदि से सम्पन्न होकर ( मदेम ) आनन्द अनुभव करें । गृहस्थ पक्ष में—रेवती शिष्य । राष्ट्र पक्ष में—रेवती = प्रजा ।

[१५४] सोम पृषा च चेततुर्विश्वास्त मुक्षितीनाम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
३ २ ३ २ ३ १ २  
दृषा रथ्योहिता ॥ १० ॥

भा०—( सोम ) सबका प्रेरक और सबका उत्पादक और ( पृषा ) सबका पोषण करने वाला परमात्मा ( देवशा ) समस्त देव, पार्थो भूता और भौतिक शक्तियों में और आत्मा देहस्थ इन्द्रियों में व्यापक है और वही ( विश्वासा मुक्षितीनाम् ) समस्त निवास योग्य भूतों, दुनियाओं और समस्त प्राणियों के ( रथ्यो ) दोनों प्रकार के कर्म और भोग योनियों के ( हिता ) हितकारी होते हुए ( चेततु ) शाश्वत व्यवहार का ज्ञान कराते हैं, एवं सन्मार्ग पर चलने के लिये चेताते हैं ।

दो ही मार्ग से ज्ञान प्राप्त होता है एक उपदेश से दूसरी आवश्यकता या निज अनुभव से । परमात्मा प्राणियों को एक तो सोम अर्थात् ज्ञान वान् परम गुरु के रूप में प्राणियों के हृदय में ज्ञान प्रेरित करता है । दूसरा पृषा अर्थात् प्राणियों शरीर की आवश्यकता भूख प्यास आदि से प्रेरित होकर पदार्थों को खोजते हैं और निज अनुभव से अपने हित अहित का ज्ञान करते हैं । इन्धर दोनों रूप से उनको ज्ञान दे रहा है । जैसे रोटी के टुकड़े

स कुत्ते को सधाते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी अन्नादि की वासना से पृथ्वी पर अन्नादि रखकर प्राणियों को उसके खोजन और प्राप्त करने के मार्ग में सधाता है । जीव भी कर्म फल, सुख दुःख भोग २ कर पुनः ज्ञानमार्ग पर आता है । ज़ीवों के भोगों की व्यवस्था करने वाला यह 'पूषा' है । विद्वानों के हृदय में ज्ञान प्रेरणा करने और सबको उत्पन्न करने से यह 'साम' है । वा भिन्न २ व्यवस्थाओं के भिन्न २ रूप पृथक् २ दर्शान के निमित्त द्विवचन का प्रयोग है ।

इति षष्ठी दशति । चतुर्थ खण्डः ।



॥ ८० ७ ॥ अथि — १, ४ शुनरूप । २ वसिष्ठ । ३ मेधातिथिप्रियमेधौ । ४ शरिति । ६, १६ मनुच्छन्दा । ७ त्रिशोक । ८ कुसीद ।

१ शुन शय । इन्द्रो देवता ॥

[१५५] पान्तमा वा अन्धस इन्द्रमभिप्रगायत ।

विश्वासाद् शतक्रतु महिष्ठ चर्पणीनाम् ॥१॥ अ० ८।१२।१॥

भा०—( व ) आप लोग ( अन्धस ) जीवन धारण कराने वाले ब्रह्म के सूक्ष्म रस रूप सोम को ( वा पान्तम् ) अभिमुख प्रत्यक्षरूप में प्राप्त करने वाले, ( विश्वासाद् ) सब को अभिभव करने समस्त इन्द्रियों से बढ़ जाने वाले, सबको परास्त करने वाले ( शतक्रतु ) सैकड़ों कर्म करने में समर्थ, सैकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त, ( चर्पणीना ) तावदर्शियों के ( महिष्ठ ) एकमात्र आनन्द देने वाले, या इन्द्रियों में शक्ति देने वाले पूजनीय उपास्य देव आत्मा और परमात्मा की ( अभि प्रगायत ) साक्षात् स्तुति करो ।

[१५६] प्र व इन्द्राय मादन ह्यैश्वाय गायत ।

सखाय सोमगान्नि ॥ २ ॥ अ० ७ । ३ । १ । १ ॥

भा०—हे ( सखाय ) समान कीर्ति वाले मित्र ! ( व ) आप लोग ( सोमपात्रने ) सोम ज्ञान, अन्न रस का पान करने वाले, ( हृद्यथाय ) विषयों के प्रति लेजाने वाले, इन्द्रिय साधनों से सम्पन्न ( इन्द्राय ) ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र, अपने अन्तरात्मा को ( मादन ) प्रमत्त करने के लिये ( प्र गायत ) उत्तम रीति से गान करो, उसका कीर्तन करो, उसका ज्ञान करो ।

[ १५७ ] <sup>३ १ २</sup> वयमु <sup>३ १ २</sup> त्वा <sup>३ १ २</sup> तदिदधा इन्द्र <sup>३ १ ३</sup> त्वायन्त <sup>३ १ २</sup> सखाय ।

<sup>१ २</sup> वय्वा <sup>३ १ २</sup> उच्येभिर्जरन्ते ॥ ३ ॥ श्र० ८ । २ । १६ ॥

भा०—( वयम् ) हम और ( वय्वा ) मेधावी विद्वान् लोग, हे ( इन्द्र ) आरामन् ' ( त्वायन्त ) तेरी कामना करते हुए, तेरे प्रेमी, तुम्हे प्राप्त करने में लगे हुए ( सखाय ) समान वधाति वाले ( तदि इद् धर्धा ) उम परम तब तुम्हको एकमात्र अपना इष्ट प्रयोजन जानते हुए ( त्वा ) तेरी ( उच्येभि ) मन्त्रों द्वारा ( जरन्ते ) स्तुति करते हैं, तेरे स्वरूप का वर्णन करते हैं ।

[ १५८ ] <sup>१ २ ३ १ २</sup> इन्द्राय <sup>३ १ २</sup> मद्दने <sup>३ १ २</sup> सुत परि <sup>३ १ २</sup> एभन्तु <sup>३ १ २</sup> नो गिर ।

<sup>३ १ २</sup> अर्कमर्चन्तु <sup>३ १ २</sup> कारव ॥ ४ ॥ श्र० ८ । १२ । १० ॥

भा०—( न ) हमारा ( गिर ) वेदवाणियों ( मद्दने ) हृषे, प्रसाद युक्त ( इन्द्राय ) आत्मा के योग्य ( सुत ) सोम ज्ञान और उत्तम पदार्थ को ( परिभन्तु ) वर्णन करें । ( कारव ) कर्मण्य, विद्वान् लोग ( अर्कम् ) उस पूजा के योग्य उपास्यदेव की ( अर्चन्तु ) उपासना करें ।

इसके पूर्व भी अन्धस्, सोम आदि शब्द आये हैं निम्नका अर्थ यज्ञ प्रकरण में याज्ञिक लोगों ने सदा सोमलता का रस ही लिया है, परन्तु उपासना या आराम विज्ञान कारण में ज्ञान और अन्न का सूक्ष्म रस और भाग्य पदार्थ ही जना उचित है । वेद ने भी इन शब्दों का उस अर्थ में

प्रयोग किया है। जैसे ( अ० ८। ६४। १० )—“अयं ते मानुषे जने सोमः पुरुषु सृयते। तस्येह प्र दवा पिव ॥” प्रत्येक मनुष्य में उसकी ( पुरुषु ) इन्द्रियों में वह सोम उत्पन्न होता है जिसके लिये हे आत्मन् ! तू आ और पान कर।

[१५६] <sup>३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अयं त इन्द्र सोमो निपूता अधि वर्हिषि ।

<sup>१ २ ३ २ ३ ३ १ २</sup> एहीमस्य दवा पिव ॥ ५ ॥ अ० ८। १०। ११ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( अय ) यह ( सोम ) सोम, ज्ञान ( ते ) तेरे लिये ( अधि वर्हिषि ) प्रति यज्ञ और प्रति देह में ( निपूतः ) प्रयत्नादि प्रमाणाँ द्वारा संशोधित, संस्कृत किया जाता है। ( इम् ) इस समय ( अस्य ) इसके पान करने के लिये ( एहि ) आ और ( दव ) शीघ्र आ, ( पिव ) पान कर।

वर्हिः, यज्ञः, धान्यम्, कुशा शरीरम्, अन्तरिक्षम् ये इत्यादि पर्वीयहे ।

[१६०] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> सुरूपकृतमूतय सुदुधामिध गोदुहे ।

<sup>३ २ ३ १ २</sup> जुहूमसि धविद्यवि ॥ ६ ॥ अ० १। ४। १ ॥

भा०—( गोदुहे ) दूध के दोढ़ने के लिये जिस प्रकार ( सुदुधाम् ) उत्तम रूप से दूध देने वाली गाय को प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार ( सुरूपकृतम् ) उत्तम ज्ञान और कर्म सम्पादन करने वाले इन्द्र को ( ऊतये ) अपने को पापाचरण से बचाने के लिये ( धवि-द्यवि<sup>१</sup> ) प्रतिदिन ( जुहूमसि ) इस स्मरण करते और उसकी स्तुति करते हैं।

[१६१] <sup>३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अभि त्या वृषभा सुते सुते सृजामि पीतये ।

<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> तुम्पा व्यश्नुहो मदम् ॥ ७ ॥ अ० ८। ४५। २२ ॥

भा०—हे ( वृषभ ) अन्तरात्मा में सुख की वर्षा करने हारे श्रेष्ठ । ( सुते ) सोम=ज्ञान या साधना, कर्म क उचितरूप से होजाने पर उसक ( पीतेवे ) रस पान करने के लिये ( सुत ) उत्तम ज्ञान का ( त्वा अभि सृजामि ) तरे सन्मुख ही सम्पादन करता हू । ( तृम्प ) तू उससे तृप्त हो और ( मदम् ) हर्ष, सुख को ( वि भरनुहि ) प्राप्त कर ।

योगी, अवधूत लोग समगधि-रस के मद्यरस से तुलना देत हैं और आत्मा को बुझाते हैं । धर्ममेघ समाधि की सिद्धि प्राप्त होजाने पर आत्मा की वह अवस्था होजाती है ।

[ १६२ ] यं इन्द्रं चमसृजा सोमश्चमूपु ते सुत ।  
 १ २ ३ ५२ २२३ १२ ३ २  
 १२ २२ ३ १२  
 पिबेदस्य त्वमीशिपे ॥ ८ ॥ अ० ८ । ८२ । ७ ॥

भा०—(य सोम ) जो सोम है (इन्द्र) आत्मन् । (चमसेपु ) चमस पात्रों में ( सुत ) तैय्यार किया है घड़ ( ते ) तरे लिये ( चमूपु ) छाटे २ पाने के पात्रों में भी है । ( अस्य इत् ) इसको ही तू ( पिब ) पानकर ( त्वम्, ईशिपे ) तू ही इसका समर्थ स्वामी है ।

'चमसेपु'— सूर्यपत्र में चमस मेघ हैं, आत्मपत्र में प्रत्येक पुरण का मस्तक चमस है । जैसा उपनिषद् में "अर्वाग् बिलक्षमस ऊर्ध्वतुष्यन् " । "चम्वौ सावापृथिव्यौ " । ऊँलोंक और पृथिवी लोक चमू हैं । शरीर म ही स्थान मस्तक ही है । उसमें भी सात इन्द्रिया उम इन्द्र के आचमन पात्र है उनमें वह ज्ञान ग्रहण करता या मस्तक के कोष्ठ ( Cells ) ही उमक नाना प्रकार से सांसारपादन के निमित्त पात्र है । इन्द्र ही आत्मा है । इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या देखो ( ऐतरेय उप० ख० ) "स एतमेव

१६२—१. चमु, भरने स्त्राणि । चनन्ति भवन्ति मन्त्रेणि ( सु० ) चमस शक्ति मेवनाम । नि० १० । १ ।

पुर्य ततमपश्यद् इदमदर्शमिदमदर्शमिती२ । तस्मादिन्द्रो नामदन्दो ह  
नै नाम तमिदमद् सन्तमिन्द्र इवाचघते परोक्षेण । परोक्षप्रिया हि देवा ॥

[१६३] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> यागे योगे तवस्तर वाजे वाजे इवामह ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> सखाय इन्द्रमूतये ॥ ६ ॥

अ० १। ३०। ७ ॥

भा०—( योगे योगे ) प्रत्येक समाधि काल में और ( वाजे वाजे )  
प्रत्येक ज्ञानप्राप्ति के अवसर में या प्रत्येक बलकर्म के अवसर में  
( तवस्तरम् ) अति बलशाली, अति वेगवान् ( इन्द्रम् ) इन्द्र अम्मा को हम  
( सखाय ) सब मित्र के समान प्रेमाजन ( इवामहे ) बुझाते हैं या उसका  
गुणगान करते हैं ।

योग —“ता योगमिति मन्यन्त स्थिरामिन्द्रियधारणाम्” । गीता० ।  
योगश्चित्तवृत्तिनिरोध । पात० पागसूत्र १ । १ ॥

दो ही कार्य बल से सम्पादन किये जाते हैं एक घोर सग्राम और  
दूसरा ध्यानयोग । दोनों में बली आत्मा को ही स्मरण किया और उसका  
ही पुकारा जाता है । योगी को बलेषु इस्तिबलादीनि” । हाथियों का बल  
तक भी प्राप्त हो जाता है । सग्राम के अवसर पर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन  
के धारमा को चेताया । वह घात या सग्राम के अवसर पर इन्द्र का  
आवाहन था ।

[१६४] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> आत्वेना निर्पादत्तन्दमभिप्रगायत ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> सखाय स्तोमवाहस ॥ १० ॥

अ० १। २। १ ॥

भा०—हे ( सखाय ) मित्रा ! ( आ एत तु ) आत्मा और ( आ  
निर्पादत्त ) आम्मे सामने आकर बैठ जाया । हे ( स्तोमवाहस ) स्तुतियों  
को धारण करने वाले विद्वान् लोगो ! ( इन्द्रम् अग्नि प्रगायत ) धारमा  
का उत्तम रीति से साक्षात् दर्शन करके उसका पधार्थ पछेन करो ।



ताण्डय ब्राह्मण में त्रिष्टुप्, पञ्चदश सप्तदश एकविंश, त्रिण्व  
त्रयाविंश और चतुर्विंश, सप्तवारिंश और अष्टाचत्वारिंश इस प्रकार ६ स्तोत्रों  
का वर्णन किया है । इनका विशय प्रकार से गान करने का प्रकार उक्त  
ब्राह्मण में ही दर्शाया है ।

इति सप्तमी दशति । इति पञ्चम ऋषिः ।



॥ ६० ८ ॥ १ विन्वात्त्रि । २ मधुचत्त्रि । ३ कुमी काण्व । ४ विराम ।

५, ८ वामन । ६ ० शुभम् । ७ मधतिथि । १० विन्वु ॥

इन्द्रा न्वत्ता ॥ गायत्री ॥ पञ्च ॥

[१६५] इद् ह्यग्नेजसा सुत राधाना पते ।

पिरा त्वाइ र्थ गिर्वण ॥ १ ॥ ऋ० ३ । ५१ । १० ॥

भा०—इ ( राधाना पते ) इ समस्त धनों ज्ञानों और साधनों  
का स्वामी । ( इद् ) यह ( अजसा ) बलपूर्वक ( सुत ) निष्पान्ति  
( गिर्वण ) हे वाणी से कथन या प्रशंसा करन तू याग्य ( अस्य ) इस ज्ञान  
का ( तु ) भा ( आ पिच ) पान कर ।

[१६६] महा इन्द्र पुरश्च नो महित्वमस्तु यजिष्य ।

यानि प्रथिना शय ॥ २ ॥ ऋ० १ । ८ । ६ ॥

भा०—( महान् ) बड़ा आत्मा ( न ) हमारे ( पुर च ) आग सत्ता  
विद्यमान रहता है ( यजिष्य ) सब भयों का धारण करन द्वार उक्त आत्मा  
की ( महित्वम् अस्तु ) महिमा बना रह । ( शय ) उसका बल पान  
( प्रथिना ) विस्तृत हान से ( यौ न ) यौलाक या मूय क ममान है ।

१६५—अतौत्वा इति ऋ० ।

१६६—परेषु तु इति ऋ० ।

[१६७] आ नू न इन्द्रं जुमन्तं चित्रं प्राभं सद्गुभाय ।  
<sup>३</sup> <sup>१२</sup> <sup>२२</sup> <sup>३१</sup> <sup>२</sup> <sup>३१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>२</sup> <sup>२</sup>  
 महाहस्तीं दाक्षिणं ॥३॥ अ० ८। ८१। १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ( महा हस्ती ) बड़े भारी हस्त=धारक प्रयान वाला नू ( जुमन्त ) चक्र, और गूह से सम्बन्ध ( प्राभ ) प्रदण करने योग्य ( चित्र ) ज्ञान को ( दाक्षिण ) उत्तम साधन से ( आ सद्गुभाय ) समर्प कर ।

[१६८] अभि प्र गोपतिं गिरं-द्रमन् यथा विदे ।  
<sup>३</sup> <sup>१२</sup> <sup>२२</sup> <sup>३१</sup> <sup>२</sup> <sup>३१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>२</sup> <sup>२</sup>  
<sup>३२</sup> <sup>३</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup>  
 सूनु सत्यस्य सत्पतिम् ॥४॥ अ० ८। ६६। ४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! ( गोपति ) धार्मी और रश्मियों, इन्द्रियों के स्वामी पालक ( सत्पत्य सूनुम् ) सत्य को उपग्रह करने द्वार, ( सत्पतिम् ) सत्य पदार्थ या सगुणों के पालक ( इन्द्रम् ) इन्द्र को ( यथा विदे ) यथांश ज्ञान के लिये ( अभि प्र-चर्च ) साक्षात् रूप से स्तुति कर ।

[१६९] कया नश्चित्रं आभु-दृती सदापृथः सया ।  
<sup>१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१२</sup> <sup>२२</sup> <sup>३१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup>  
<sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup>  
 कया शच्चिष्टया घृता ॥५॥ अ० ४। ३३। १ ॥

भा०—( सदापृथ ) सत्य के बल में अधिक बढ़ने वाला इन्द्र ( चित्र ) ज्ञान करने योग्य, पूज्य अद्भुत, ( न ) हमारा ( कया ) किय अपूर्व ( ऊया ) रक्षण करने वाला सामर्थ्य या ज्ञान से शौर ( कया ) किय ( शच्चिष्टया ) शक्ति सम्पन्न बलपुत्र या बुद्धिमत्तापुत्र आश्चर्यमय शक्ति से, कया घृता ) और किरा व्यवहार में ( सया ) हमारा मित्र ( आभुयद् ) हो ।

[१७०] त्वमु य सत्रासाद पितृवासु भौष्यायतम् ।  
<sup>१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup>  
<sup>१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup>  
 आच्योऽयस्यूनये । ६॥ अ० ८। ६९। ६ ॥

भा०—हे विद्वान् स्तोत । ( सत्रासाह ) सब को एक साथ विजय कर लेन हारे ( व ) तुम्हारे ( विधासु ) समस्त ( गौर्यु ) पाणियों में ( ध्यायतम् ) विद्यमान, वर्णित ( त्यम् ) उस आत्मा को ( उतये ) अपनी रक्षा के लिये ( धारयावयसि ) साक्षात् कर ।

[१७१] <sup>१ २ ३ २ ३ १ २</sup> सदसम्पत्तिमद्भुत <sup>३ १ २</sup> प्रियमिन्द्रस्य <sup>३ १ २</sup> काम्यम् ।

<sup>३ २</sup> सानि <sup>३ १ २</sup> मेधामयासिपम् ॥७॥ ऋ० १ । १८ । ६ ॥

भा०—( सदसम्पत्तिं ) शरीर के भीतर यथास्थान विराजमान, इन्द्रियों के पालक ( अद्भुत ) अभूतपूर्व, ( इन्द्रस्य प्रियम् ) अन्तरात्मा क अत्यन्त प्रिय, ( काम्य ) कामना करने योग्य ( सानि ) सत् असत् का विभाग करने हारे, ( मेधाम् ) धारणावती उत्कृष्ट आत्मबुद्धि को दन हार विवक का ( अहम् ) में ( अयासिपम् ) प्राप्त होऊ ।

[१७२] <sup>२ ३ १ २ ३ २ ३</sup> ये ते पन्था अत्रा <sup>३</sup> दिवो <sup>क २ २ ३ १ २</sup> येभिर्धरमरय ।

<sup>३ २</sup> उत <sup>३ १ २</sup> ध्रोपन्तु नो भुव ॥८॥

भा०—हे इन्द्र ! आत्मन् ! ( ये ) जो ( पन्था ) मार्ग ( न ) तेरे ( दिव अथ ) चौलाक प्रद्वारण्ड, मस्तक कपाल क नाच हैं ( येभि ) जिन्हों स ( व्यधम् ) नाना प्रकार क अश्वों, इन्द्रियों का ( धरय ) प्रेरित करता है वे और ( न भुव ) इनार प्राण या कर्मैन्द्रिय ( उत ) भी ( ध्रोपन्तु ) तरी आज्ञा को सुनत हैं ।

[१७३] <sup>३ १ २ ३ २ ३ २ ३</sup> भद्र भद्र न आभरेषमूर्जं शतक्रतो ।

<sup>१ २ ३</sup> नदिन्द्र <sup>१ २</sup> मृडयासि न ॥८॥ ऋ० ८ । ६३ । २८ ॥

भा०—हे शतक्रतो, इ शतशत ! ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( यद् ) च ( न ) हमें ( मृडयसि ) सुखी करत हा तय ( भद्र भद्र ) कल्याणकारी,

सुन्दरी, ( इषम् ) अथ और ( ऊँ ) यह को ( आ भर ) प्राप्त कराते हो ।

[१७३] अस्ति सोमो अथ सुतः विवन्त्यस्य मरुतः ।

उत स्वराजो अधिना ॥१०॥ अ० ८ । ६४ । ४ ॥

भा०—( अथ ) यह ( सोमः ) सोम, ज्ञान या मूषम अन्न रस, ( सुतः ) निम्नत हुआ है ( अथ ) इसको ( स्वराजः ) प्राण के बल से गति करने वाल, या स्वयं चेतन ( मरुतः ) इन्द्रियगण प्राणगण या विद्वान् ( विवन्ति ) पान करते हैं ( उत ) और ( अधिना ) प्राण और अपान भी या विद्वान् श्री पुरुष भी उसी का पान करते हैं ।

इत्यग्नी रश्मिः । इति पठ यत् ।

॥ ८० ९ ॥—१ इन्द्रनाभो देवानां २ गोश ३ दन्तु आवर्तः ४ प्रभावा ५ गोम ६ मधुच्छन्दा ७ वामदेवः ८ वमः ९ शुन शपः १० वातावन उत्र ॥ इन्द्रो देवा ॥ गायत्री । षड् ॥

[१७५] इन्द्रयन्तीरपस्युव इष्टं जातमुपासते ।

वन्वानास सुवीर्यम् ॥१॥ अ० १० । १६३ । १ ॥

भा०—( इन्द्रयन्ती ) गतिशील, ज्ञानशील ( अपस्युव ) कर्म करने की इच्छावाली इन्द्रिया ( जान ) प्रकट हुए ( सुवीर्यम् ) उत्तम बलशाली ( इन्द्रम् ) अत्मा का ( वन्वानाम ) भजन करती हुई या उसको प्राप्त करती हुई ( उपासते ) उसकी उपासना करती है ।

सायण न इन्द्र-माताओं पर यह मंत्र लगाया है । इन्द्र अत्मा के माता, प्रमा के साधन इन्द्रिया ही यहा अभिरेत है । जैसा ऐन्द्रधारणक

में लिखा है—' इन्दिये ' कहा करती है "तव उप स्मसि" तेरी ही है । इत्यादि ।

[१७६] नकि देवा इनीमसि नत्रायोपयामसि ।

मन्त्रश्रु य चरामसि ॥२॥ ऋ० १० । १३४ । ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ( देवा ) हम इन्दियगण ( नकि इनीमसि ) कुछ भी बधादि नहीं करते, ( नकि आयोपयामसि ) और न कुछ भूल करते हैं । ( मन्त्रश्रुत्य ) मनन सकल्प द्वारा जो कुछ हम सुन सकते हैं तद्नुसार हम ( चरामसि ) आचरण करते हैं । प्रजा लोकों के पक्ष में—हम मन्त्र और श्रुति वेद के अनुसार चल । हम दोष न करें ।

[१७७] त्राया आगान् वृहद्गाय एमद्गामन्नाधरण ।

स्तुहि देव सवितारम् ॥ ३ ॥ अथर्व० ६ । १ । १ ॥

भा०—साधक' अपने ही आत्मा के प्रति कहता है, हे ( वृहद्गाय ) वृहत्साम का गान करने वाला या प्राण स्वर से गान करमेदार 'हे ( आयर्वण, जीवन का नाश न करनहारो आत्मन् ! हे ( गामन् ) गतिशील ! आत्मन् ! ( एमद्, दोष ) दीक्षमान्, सब अन्धकारों का नाश करने हारा ईश्वर ( आगान् ) अब अन्तरात्मा में उदित होगया है । अत एव ( सवितार ) सबको प्रेरणा करनेहारो ( देव ) प्रकाशस्वरूप देव को ( स्तुहि ) नृ कर्त्तन कर । विशाका, व्यातिथ्यमती प्रजा के उदय के अवसर पर साधक की यही दशा होता है ।

१७६—'नकि'वा 'मनीमसि' इति न ऋ० । 'पजाभरपिस्त्रो नत्रायामि मन्त्राय' इति अथिव पाठ, ऋ० ।

१७७—'दोषो गाय वृहद्गाय एमद्देहि । आथर्वणैव सवितारम्' । इति अथ० ।

१. सारतामयनामन्त्रत । सा० ।

[१७८] एषा उषा अपूर्वा व्युच्छति प्रिया दिव ।

स्तुव चामग्निना बृहत् ॥ ४ ॥ अ० १। ४६। १ ॥

भा०—( एषा ) यह ( उ ) ही ( उषा ) ज्यातिष्मती प्रजा ( अपूर्वा ) साधक के अनुभव में पहले कभी न आई हुई, अपूर्व, ( दिव प्रिया ) मस्तक या मूर्धाभाग को पूर्ण करने वाली या सूर्य के समान तेज स्वी आत्मा क प्रति प्रिय होती है । हे ( अग्निना ) गमनशील प्राण और अथान । प्राण दोनों के ही उत्तम दशा की प्राप्ति के निमित्त ( बृहत् ) स्व ( स्तुपे ) अर्घी प्रकार गुण कहता ह । साधारणत उषा क पच म स्पष्ट है ।

[१७९] इन्द्रो दधीचो अस्थमितृणाण्यप्रतिष्ठुत ।

जघान नरतीनय ॥ ५ ॥ अ० १। ८४। १३ ॥

भा०—( इन्द्र ) आत्मा ( दधीच ) ध्यात द्वारा प्राप्त करने योग्य परमात्मा की ( अस्थिति ) तमोगारक शक्तियों द्वारा ( अस्थिष्ठुत ) किसी से भी पराजित न होकर ( नर नपती ) ८१० ( घृणाधि ) ज्ञान के आवरण करने वाले विष्णु का ( जघान ) नाश करता है ।

आत्मा की शक्ति प्रकृति के तीन गुण सत्य रात् तमम तीन कालों के भेद से ६ प्रकार की हुई । प्रभाव उत्साह और मन्त्र तीन शक्तियों के भेद से २७ प्रकार की हुई । तिर मारिकादि के सम विषम होने से ८१ प्रकार की, दश दिशाओं के भेद से ८१० प्रकार की हाजाती है । इनही प्रकार की शक्तियों से वह इनकी ही स्तुथा वृत्तियों पर विजय करता है ।

इन्द्र की क्या भी आश्चर्य है, स्वाभाव स नहीं बिसने ।

[१८०] इन्द्रे दि नरन्ध्रमा विधेमि सोमरीमि ।

मदाँ अभिष्टाजसा ॥ ६ ॥ अ० २। ९। २ ॥

भा०—हे (इद) आत्मन् <sup>१</sup> तू (इहि) आ साक्षात् हा । (अधस) प्राण की सूक्ष्म धारणाशक्ति की (विधभि) समस्त (सामपर्वभि) दीर्घ कपालनकारी सामर्थ्यों स तू (मसि) प्रसन्न और वृत्त हाता है और (भोजसा) अपन बल स (महो भूमिष्टि) बड़ी प्रबल इच्छा शक्ति बाबा हाजाता है ।

[१८१] आ तू न इन्द्र वृत्रहृत्तस्माकमर्द्धमा गाहि ।

महाग्मदी भिरुतिभि ॥ ७ ॥ ऋ० ५ । ३२ । १ ॥

भा०—(वृत्रहन्) ह तामस आवरणों और विघ्नो क निवारक <sup>१</sup> ह (इद) पृथर्वन् <sup>१</sup> (महीभि) बड़ी २ (ऊतिभि) शक्तिया द्वारा तू (महान्) महान् है । तू (अस्माक) हमार (अर्द्धम्) समीप (आगाहि) आ ।

[१८२] भोजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् ।

इन्द्रश्चर्मैव रोदसी ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ६ । ५ ॥

भा०—(तत् अस्य आज) उस महान् आत्मा का सूक्ष्म क समान वह आज (तित्विष) चमकता है (यत्) जिसस वह (उभ रोदसी) घौ और पृथिवी दानों का (चर्म इव) चमड़ का तरह (समवर्तयत्) सब ओर टक रहा है व्याप्त करता है । अथवा—इस आत्मा का वह सामर्थ्य है जिसस वह प्राण अपान दना का चम या वरत्र क समान धारण करता है ।

[१८३] अयमु त समतासि कपात इव गर्भत्रिम् ।

वचस्तश्चिन्न आहसे ॥ ९ ॥ ऋ० १ । १० । ५ ॥

भा०—(अयम्) यह साधक जिस प्रकार (कपात) कपात (गर्भत्रिम् इव) अपनी कपोती क पास आता है उसी प्रकार (त) तेरे पास (सम् अतसि) आता है इसी कारण (न) हमारे (तद वच) उस वचन को (आहसे) धम स श्रवण करता है ।

[१८४] वात आ वातु भेषज शम्भु मयोभु नो हृदे ।

प्र न आयूषि तारिपत् ॥ १० ॥ अ० १०। १८५। १ ॥

भा०—( वात ) वायुरूप सर्वव्यापक सब का प्राणस्वरूप आत्मा ( न ) हमारे ( हृदे ) अन्त करण में ( शम्भु ) कल्याण और शान्ति कारक, ( मयोभु ) सुखकारी ( भेषजम् ) आधि व्याधि को शान्त करनेहारे औषधि को ( आ वातु ) प्राप्त कराए और ( न ) हमें ( आयूषि ) समस्त जीवन को ( प्र तारिपत् ) पार कराए ।

जैसे भद्र जगन्नाथ पण्डितराज ने कहा है—

आधिन्वाधिनरापराहत यदि चेम निज वाप्सुति ।

धीकृष्योति रसायन रसय रे शून्यै किमन्यै रसे ॥

कहत, इष्टदेव में औषधि आदि की भावना भी भद्र कर लेते हैं ।

इति नामी दशति । इति सप्तम खण्ड ।



॥ ६० १० ॥ अ० १० — १ वक्त्र । २, ३, ६ वक्त्र । ४ दुःखस्य । ५ मधु

कण्डा । ६ वामदेव । ७ अरिमिठ ॥ ८ वारुणि सत्यधृति ॥ इन्द्रो

देवता ॥ गायत्री छन्द ॥ अ० १० स्वर ॥

[१८५] य रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा ।

नकि स दृश्यते जन ॥ १ ॥ अ० ४। १७। ३ ॥

भा०—( प्रचेतस ) ठाकुर ज्ञान स सम्पन्न (वरुण) वरुण, सबसे अग्र (मित्र) मित्र, सबका स्नेही और (अर्यमा) अन्तर्दामी, न्यायकारी जन (य)



जिसकी ( रक्षति ) रक्षा करत हैं ( स ) वह ( जन ) मनुष्य ( नके दृश्यते )  
कभी भी नाश का प्राप्त नहीं होता । बृहदारण्यकानियन् क ( अ० ३ ) में  
इन देवों की विण्ड आर प्रक्षायण्ड में स्थिति का विद्वेष किया है ।

[ १८६ ] <sup>३ २४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २</sup> यो पु णो यथा पुराश्वयात् रथया ।

<sup>३ २ ३ १ २</sup> वरिरेस्या महानाम् ॥ २ ॥ श० ८ । ४१ । १० ॥

भा०—हे साधक ! ( यथा पुरा ) पूर्व क समाप्त ( गण्या ) गौ आदि  
पशुओं की इच्छा स, ( अधशा ) अध आदि शीघ्रगामी साधनों की कामना  
से और ( रथया ) रथों का कामना स ( उत ) और ( महानाम् ) धनों क  
प्राप्त करन क लिय तू ( वाविस्य ) उपासना कर । अ यज्ञ में रौ—इदियां  
अश्व=मन और रथ=शरार । इन तीनों का उत्तम रीति म वश करने और वज्रवाक्  
धनान की कामना स इन्द्र=आत्मा और परमधर का उपासना आवश्यक है ।

[ १८७ ] <sup>३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ४ १ २</sup> आमात् इन्द्र पृतनया घृत दुहत आशरम् ।

<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> एनामृतस्य त्रियुषी ॥ ३ ॥ श० ८ । ४१ । १० ॥

भा०—इ ( इन्द्र ) आमात् ( त ) तनी ( इमा पृतनय ) ये रथों  
सक पदुधन य जा इदियां ( अतस्य पि युषी ) अम-मप ज्ञान को पान  
करता हुई ( एनाम् ) इस अनुभवगम्य ( आशरम् ) प्रस्पृष्टित हुए घृत ।  
विशय ज्ञान दासि कति वा ( अतस्य ) तज पात्र करक दूध का योश्री  
क समान ( दुहते ) उपस्य करती हैं ।

[ १८८ ] <sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अथा त्रिया च गायया पुण्यामपुण्ड्रत ।

<sup>१४ २ ३ २</sup> यत्साम लोम आभुव ॥ ४ ॥ श० ८ । ४१ । ११ ।

१८६—वरिरेस्य गणा इ रति ; क० । 'यो याम्' इति पाठो 'द्वारण्यम्' ।

१८८—'योमत' इति ; श०

भा०—हे ( पुरुनामन् ) हे सहस्रों, बहुतसे नामों से पुकारे जाने वाले, हे ( पुररजुत ) नाना प्रकारों से स्तुति के पात्र ! धामन् ! (अथा गव्यया) इस इन्द्रियों के अनुकूल कामना (धिया च) और ध्यान द्वारा भी ( यत् ) जो तू ( सोमेसोमे ) प्रत्येक साम अर्थात् ज्ञान में ( आभुष ) प्रकट होता है । इसीसे तू साक्षात् किया जाता है ।

‘प्रतिबोधविदित मतम्’ । इति केन उ० ।

[ १८६ ] पात्रका न सरस्वती वाजिभिवाजिनीवती ।

यज्ञ वष्टु धियावसु ॥ ५ ॥

अ० ८। ४१। २६ ॥

भा०—( सरस्वती ) वेदवाणी ( पावका ) हृदय को पवित्र करने वाली ( वाजिभि ) ज्ञान और कर्मों द्वारा ( वाजिनीवती ) शक्तिसम्पन्न होकर ( धियावसु ) ध्यान, धारणा और ज्ञानान्याय द्वारा अन्तःकरण में वास करने वाली ( यज्ञ वष्टु ) हमारे जीवन यज्ञ को धारण करे । ज्ञान-योग के साथ कर्मयोग द्वारा ही वेद के मन्त्र हृदय को पवित्र करते और जीवन को चिरायु और सफल करते हैं ।

[ १६० ] क इमन्नाहुपीष्या इन्द्र सोमस्य तर्पयात् ।

स नो वसून्याभरात् ॥ ६ ॥

भा०—( इमम् इन्द्रम् ) इस इन्द्र आत्मा को ( नाहुपीषु ) कर्म बन्धन में बंधी मनुष्य प्रजाओं में ( सोमस्य ) गुण-कर्तन और ज्ञान-सम्पादन द्वारा ( क तर्पयात् ) कौन तृप्त कर सकता है ? अथवा ( कः ) सुखमय प्रजापति ही ( सः ) वह परमेश्वर ही ( नः ) हमारे ( वसूनि ) ज्ञानों और पेश्वों को ( आभरात् ) सदा प्रमान करे ।

अजराभरवत् प्राज्ञः विद्यानर्थं च चिन्तयेत् । (रफुट)

[१२१] आ यादि सुपुमा हि त इन्द्र सोम पिवा इमम् ।

एदं यद्विः सदा मम ॥ ७ ॥

श० १७ । १ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) ! ( हि ) क्योंकि हम ( ते ) तेरे लिये ( सुपुम ) ज्ञान को उत्तम रूप से सवन, सम्पादन करते हैं अतः तू ( आ यादि ) आ श्राप्य हो । और ( इमं ) हम ( सोम ) सोमरूप ज्ञान को ( पिवा ) पान कर । ( इदं ) यह ( मम ) मेरा दिया ( यद्विः ) यज्ञ या हृदयरूप आसन है इसमें ( आ सदा ) विराज ।

[१२२] महि प्राणामवरस्तु शुचं मित्रस्यार्यम्ण ।

दुराधर्यं वरुणस्य ॥ ८ ॥

श० १० । १८५ । १ ॥

भा०—( मित्रस्य ) मित्र, आदित्य या प्राण ( अर्यम्ण ) अर्यमा अन्तर्यामी आत्मा और ( वरुणस्य ) वरुण, अपान, ( प्राणाम् ) इन तीनों की ( महि अवः ) वहाँ रहा और ( दुराधर्यं शुचं ) असदा तेज ( अस्तु ) हो ।

अथवा आदित्य या मित्र अशुचि में स्थित है । यम या अर्यमा हृदय में देवा हुआ धृदा और दक्षिणा में विराजमान है । रेतस्=वीर्य में वरुण स्थित है ।

[१२३] त्वाधितः पुरुवसो ययमिन्द्र प्रयेत ।

संभि स्यातर्हरीणाम् ॥ ९ ॥

श० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे ( पुरुवसो ) शरीर और इन्द्रियों में आवास करने वाले ! ( इन्द्र ) आमन् ! ( हरीणाम् प्रयेत ) हे इन्द्रियों के प्रेरक ! हे ( स्यातः ) नित्य अविषाडी, वृद्धस्य पुरुव ! हम ( त्वानन ) तेरे समान स्वामी के ही ( समसि ) हैं । इन्द्रियगण आत्मा को एवं प्रजागण मृत्यादि राजा को इधी प्रकार कहते हैं ।

इति दशमी दशतिः । इति अष्टमः खण्डः ।

द्वितीयः प्राग्वहः समाप्तः ॥

अथ तृतीयः प्रपाठकः ( १ )

॥ ६० १ ॥ अषि-१ प्रगाथः । २ विश्वामित्रः । ३, १० वामदेवः । ४, ६  
श्रुतयक्षः । ५ मधुच्छन्दाः । ७ गृत्समदः । ८, ९ भद्रान् । इन्द्रो  
देवता । गायत्री । षड्जः ॥

[१६४] उ<sup>१</sup> त्वा<sup>२</sup> मदन्तु<sup>३</sup> सोमा<sup>४</sup> कृणुष्व<sup>५</sup> राधो<sup>६</sup> अद्रिवः<sup>७</sup> ।

अथ ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १ ॥ ऋ० । ६ । १ ।

भा०—हे ( अद्रिवः<sup>१</sup> ) संहारकारी अभेषराक्षि से युक्त ! हे आत्मन्,  
जीव ! ( त्वा ) तुम्हको ( सोमा<sup>२</sup> ) सोम ज्ञान और ऐश्वर्य ( मदन्तु )  
हर्ष दे । तू ( राध<sup>३</sup> ) ज्ञान, धन कृणुष्व सम्पादन कर ( ब्रह्मद्विषः )  
वेद ज्ञान से द्वेष करने हारे पुरुषों और द्वेषयुक्त भावों को ( अथ जहि )  
नाश कर ।

[१६५] गिर्वेण<sup>१</sup> पाहि<sup>२</sup> नः<sup>३</sup> सुते<sup>४</sup> मधोर्धाराभि<sup>५</sup>रज्यसे ।

इन्द्र त्वादातमिधशः ॥ २ ॥

भा०—हे ( गिर्वेणः ) वेदवाणियों द्वारा कीर्त्तन करने योग्य ! तू ( नः )  
हमारा ( सुते ) सम्पादन किया स्तुतिरूप हृष्य ( पाहि ) पान कर,  
स्वीकार कर । ( मधोः ) मधु=महाज्ञान, अमृत, अश्वेद की ( धाराभिः )  
धारणाओं, अक्षराओं द्वारा ( अज्यसे ) तुम्हारा स्तवन, सेवन, मन्त्रन, ज्ञान  
किया जाता है । हे आत्मन् ! ( त्वादातम् इद् ) यह तुम्हारा ही प्रकाश-  
मान ( यशः ) यश, सामर्थ्य है ।

देवा—' य इमं भवद् वेद आत्मानं जीवन्तिकाल्' इत्यादि ( कठ०  
व० ४ । १ । )

[१६६] सदा व इन्द्रश्चर्हृषदा उपोनु स सपर्यन् ।

न देवो वृत शूर इन्द्र ॥३॥

भा०—( व ) आप लागों को ( इन्द्र ) ऐश्वर्यशील वह इष्टदेव  
( सदा ) नित्य ( आ चर्हृषन् ) अपन समीप आकर्षण करता है । शूर  
( स ) वह ( जु ) ही ( सपर्यन् ) आदर प्रम करता हुआ ( इन्द्र )  
आत्मा, परमात्मा ( शूर ) शीघ्र गति वाला या ज्ञान सम्पन्न ( देव ) देव  
वषा ( न वृत ) नहीं बरण किया जाता ? वह सबसे अधिक बरख  
करा योग्य है ।

[१६७] आ त्वा विशन्तिन्द्रं समुद्रमिव सिन्धव ।

न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥४॥ अ० ८ । ६२ । २२ ॥

भा०—( इन्द्रव ) समस्त ज्ञानी पुरुष ( त्वा ) तुम्ह में ( सिन्धव,  
समुद्रम् इव ) जिस प्रकार नदिया समुद्र में प्रवेश करती हैं उसी प्रकार  
( विशन्तु ) प्रवेश करें । हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( त्वान् ) तुम्ह स ( न  
अतिरिच्यते ) काह भा बढ़ नहीं सकता, तुम्ह स पृथक् नहीं रह सकता ।  
आत्मपद में—( इन्द्र ) द्रव्यशील इन्द्रिया प्राणाय आत्मा रूप समुद्र  
में नदियों क समान प्रविष्ट है । उसका कोई भी बढ़ नहीं सकता ।

[१६८] इन्द्रमिद्गाथिनो वृहदिन्द्रमर्केभिराणु ।

इन्द्र वाणीरनुपत ॥ ५ ॥ अ० १ । ७ । १ ॥

भा०—( गाथिन ) गाथाओं का गान करने वाले, सामगायक  
( इन्द्रम् इत् ) आत्मा का ही ( वृहत् ) मृहत्पाम द्वारा ( अनु

पत) स्तुति करते हैं । ( अर्किण ) अर्चा करने वाले ऋग्वेदी ( अकभि ) अपन स्तुति पठा व ऋग्वेद के मन्त्रों से ( इन्द्रम् ) आत्मा को ही स्तुति करते हैं और ( वागी ) यजुर्वेद के मन्त्र भी ( इन्द्रम् ) आत्मा की ही ( अनूपत ) स्तुति करते हैं ।

सर्व वेदा वापदमामनन्ति इति काठक उप० ।

[१६६] इन्द्र इषे ददातु न ऋमुत्तणमृभु रायिम् ।

वाजी ददातु वाजिनम् ॥६॥ अ० ८ । १२ । ३४ ॥

भा०—( इन्द्र ) परमात्मा ( इषे ) हमारी इच्छानुकूल ( न ) हमें ( ऋमुत्तणम् ) बड़े भारी ( ऋभु ) तज सम्पन्न, सत्यसामर्थ्य से युक्त ( रायिम् ) धन, अन्न, ज्ञान का ( ददातु ) दान करे । ( वाजी ) सर्वज्ञ, षेरवयवान् वह हमें ( वाजिन ) ज्ञान एव कम बल का भी ( ददातु ) दान करे ।

[१००] इन्द्रो अङ्ग महङ्गयमर्भापदप चुन्यवत् ।

स दि स्थिरो विचर्यणि ॥७॥ अ० २ । ६१ । २० ॥

भा०—( अङ्ग ) हे मनुष्य । वह परमेश्वर ( महङ्गयम् ) बड़े भारी भय को ( अर्भीपत् ) दूर करता है । भयको वह अपचुच्यवन् ) परे हटा देता है ( स दि ) क्योंकि वह ( स्थिर ) स्थिर, कूटस्थ और ( विचर्यणि ) सब का देखने वाला सबका निरीक्षक है ।

[२०१] इमा उ त्वा सुत सुन नद्या ते गिर्दणा गिर ।

गायो वत्स न धेनव ॥८॥ अ० ६ । ४५ । २८ ॥

भा०—हे ( गिर्वणः ) वेदवाणियों द्वारा जानने योग्य ! ( त्वा उ ) तुम्हको ही ( सुतेसुते ) प्रत्येक ज्ञानबल में ( इमाः गिरः ) ये वेदवाणियाँ ( धेनवः गाव वत्सं न ) दूध पिलाने वाली गौएँ जिस प्रकार अपने बछड़े के पास जाती हैं उसी प्रकार ( नसन्ते ) पहुँचती हैं तेरा धर्यन करती हैं ।

[२०२] इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये ।

हुवेम वाजसातये ॥६॥ अ० ६ । २० । १ ।

भा०—( इन्द्रा पूषणा ) सर्वेश्वरपुत्रस्य इन्द्र और सबके पालक पूषा परमात्मा को हम लोग अपने (सख्याय) मित्रता, (स्वस्तये) अपने कल्याण और (वाजसातये) ज्ञान बल और अग्नादि सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये (हुवेम) प्रार्थना करते हैं ।

[२०३] न कि इन्द्र त्वदुत्तरे न ज्यापो अस्ति घृत्रहन् ।

न क्येष यथा त्वम् ॥१०॥ अ० ४ । ३० । १ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! ( त्वदुत्तरे ) तुम्ह से ऊँचा और तुम्ह से अधिक सूक्ष्म, परम कारण ( न कि ) कोई भी नहीं है । हे ( घृत्रहन् ) आश्वरणीकशि तामस विद्वानों को दूर करने वाले ! ( ज्यापो न अस्ति ) और कोई दूमरा तुम्ह से अधिक बड़ा एवं प्रशंसा करने योग्य भी दूमरा नहीं । ( यथा त्वम् ) जैसा तू है ( एषं न कि ) इस प्रकार का और कोई नहीं, तू अद्वितीय है ।

न त्शसतोत्पम्यधिकः कुतोऽग्नयः । गी० ॥

यस्मात्प्राणीयो न उपापोऽस्ति कश्चिन् ॥ कठ० उ० १० ॥

इति प्रथमा दशतिः । नवमः खण्डः ॥

१ द० २ ॥ अग्नि — १, ४ त्रिगोक । २ मधुच्छन्दा । ३ बसोदस्यो वामावा ।  
 ५ शुभस्य । ६, ९ बामोवा । ७ विषामित्रः । ८ मधुकुवधस्युत्तमौ ।  
 १० श्रुतस्य ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री चतुः ॥

[२०४] तराणि यो जनानां त्र्यद् घाजस्य गोमित ।  
 समानम् प्र शंसिषम् ॥ १ ॥ अ० ८ । ४५ । २८ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! ( य ) आप सब ( जनानां तराणिम् ) मनुष्यों को तारने वाले पार करन वाले, ( त्र्यद् ) प्रायः देन वाले या कष्टों को काटन वाले, ( गोमित ) इन्द्रियों और पशु आदि स सम्पन्न ( घाजस्य ) धन सब और ज्ञान के ( समानम् च ) और सब के प्रति समान भाव से देने वाले, निरपच सर्वव्यापक प्रभु को मैं ( प्र शंसिषम् ) श्रुति करता हूँ ।

[२०५] अस्वर्गामन्द्रं ते गिरः प्रति त्वामुद्दहामत ।  
 सजाया वृषभं पतिम् ॥ २ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) परमात्मन् ! ( ते ) तारे त्रिपे ( गिर ) इन्द्र वेदवा शिष्यों को ( अस्वर्गाम् ) प्रकट करता हूँ । अपेक्षिक ( सजाया ) प्रेम से या कामना से प्रेरित रही जिस प्रकार ( पतिम् ) अपने पति के प्रति जाती है वही प्रकार ( वृषभं ) सर्वभद्र, धर्म से देखीप्यमान, सबके दासक ( त्वं पति ) तारे प्रति ही समान भावों ( उद्दहामत ) जा रही है ।

[२०६] सुनीभो जा न्य मर्यां य मरुता यमपमा ।  
 मित्रस्पागयदुह ॥ ३ ॥ अ० ८ । ४६ । ४ ॥



भा०—( स म ग ) षड् पुरुष (सुनीध ) उत्तम मार्ग में चलता जाता है ( य ) जिसको ( मरुत ) नेव विद्वान् जाग और ( य ) जिसकी ( अ र्येमा ) न्यायकारी ( मित्र ) सब का स्नही और ( अट्ट ) बिना दांड शक्ति पुरुष ( पान्ति ) रक्षा करते हैं ।

भगवान् और सन्तों का कृपापात्र पुरुष धन्य है ।

[२०८] <sup>२ ० १ ० ३ ०</sup> यद्वा यन् स्थिर यत्पशानि पराभृतम् ।  
<sup>१ २ ३ ४ ५</sup> यमु स्पाह तदामर ॥४॥ अ० ८ । ६ । ४५ ॥

भा०—इ (इन्द्र) ( यद् वादो ) जा शत्रुओं स न दबने वाले, ( यन् स्थिर ) जा स्थिर रहने वाले और ( यन् पशानि ) जो विचारशील पुरुष में ( पराभृतम् ) रक्षा करता है ( तत् ) यह ( स्पाह यमु ) सब के अभि स्तावा के योग्य बल धन और स्थिरता द्वारा पेश्य (आ भर) इमें प्राप्त करा ।

[२०९] <sup>३ १ २ ३ १ २ ३ ४ ५</sup> श्रुत यो वृषहन्तम प्र शब्दे चरणीनाम् ।  
<sup>३ २ ३ १ ३ २</sup> आशिय रायस मरु ॥५॥ अ० ८ । ६ । ६२ ॥

भा०—( व ) आर जाग ( धृतम् ) षड् में विख्यात या जगत् में प्रसिद्ध ( शब्दे ) उत्कृष्ट बलशाली ( वृषहन्तम ) बिना क नाश करने वालों में सबसे श्रेष्ठ का ( चरणीना ) प्रजाओं की ( आशिय ) उत्तम काम नाओं की पूर्ति और ( मरु ) श्रेष्ठ ( राधमे ) साधना या पृथर्वे प्राप्ति क जिय ( प्र ) उपासना का ।

[२०६] <sup>१ ० ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अर न इन्द्र अरमे मभेम शूर त्वायत ।  
<sup>१ २ ३ १ ३</sup> अर शरु परमणि ॥६॥

२०७ परि ॥७ इति षड् प्राणशरु तानमारी औषधानाम् ॥

२०८-आपु र दधि व टम अ०

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! ह (शूर) शत्रुओं के हिंसक ! (स्वाकृत) तारे समान ! अद्वितीय नेरे ही (जैसे) कीर्तिमान करण के लिये हम (अर गमेम) पूष लगे रहें । ह (शत्रु) सर्वशात्रिमन् ! (परमणि) तेरी परमता सादृश्य, परम रूप में ही हम (अर) अच्छी प्रकार (गमेम) जान रहें मग्न हों ।

[२१०] धानाव०त षरम्भिण्यमपय०न्तमुन्धिनम् ।

३ १ २                      ३ १ २   ३ १   २ ३   १ २  
१ २   ३ १ २                      ष० ३ । ५ २ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! ( १ ) हमारे (आत) आत काल के अवसर में (धानाव०त) ध्यान धारणा स सम्पन्न (षरम्भिण्यम्) मुष को प्रारम्भ करने वाल (अपय०तम्) अति समीपता दिखाने वाल अथवा दूर और निकट सर्वत्र विद्यमान (उन्धिनम्) ज्ञानसम्पन्न साग, आत्मा को (जुषन्) प्रदण्य करा, स्वीकार करा ।

धुन जै धाता कहात है दही स भिव सत्तु 'करम्भ कहात है । पके पुरोडास का अगूर कइ जात है । गनिनिधेशद स गृषमनरय तव शप्ट हाज व ता व ही धाता है । ध्यानयोग स भिवेक द्वारा एविग्र किया सत्य ज्ञान सरतु' है उसका विशपरम अनुभव दीय है निम्का मधन करने पर या विशेष परिष्कार ज्ञान पर प्राप्त ब्रह्मज्ञान अगूर है निममें द्रा सा उस ब्रह्मकन्मीरतम हाताता ह अथवा श्रप उन वरु=अपूरयान् वद तुर और निवट क सय पदार्थों का प्रस है । उम समय अगूर ब्रह्मस्वा 'उदय' है, तद्वन् अगाना उ० ॥ है । उसका स्वीकार करत की प्रथेना है ।

[२११] अथा फेनन नमुष्य शिर इन्द्रोदरतय ।

३ १ २   १ २ ३ १ १ ३ १                      ३ १ २  
३ १ २ ३ १                      ३ २

विश्वया यदजय स्पृथ ॥ ८ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( यत् ) जब ( विश्वा स्पृघ ) अपने से स्पर्धा करने वाली सब तामस वृत्तियों को ( अनय ) विजय करके तब ( नमुच' ) कर्मा न पीछा छोड़न बाळ मृत्यु वा कर्मबन्धन का भी ( शिर ) शिर या आधय ( अपा फनन ) ज्ञान और कर्मों के बल से अथवा आस पुरषों क शुद्ध ज्ञानापदय स ( उद् अवसंय ) काट डाल ।

[२१२] <sup>३ १ ३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २</sup> इम त इन्द्र सामा सुतासो ये च सात्वा ।

<sup>१ २</sup> तेषां मत्स्य प्रभूवसो ॥ ६ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( इम ) मे ( सोमा ) साम ज्ञान ( त ) तेरे लिय ( सुतास ) निष्पादन क्रिय हैं ( य च ) और जा ( सात्वा ) भविष्य में निष्पादन क्रिय जायेंग ( तथा ) उनस हे ( प्रभूवसा ) साम अ्येसम्पत्त ! शरीर के वासी आत्मन् ! ( मत्स्य ) तू सदा प्रसन्न रह ।

[२१३] <sup>१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> तुभ्य सुतास सामा स्तास्यै वर्द्धावमावसो ।

<sup>३ १ २</sup> स्तावृभ्य इन्द्र मृडय ॥ १० ॥ अ० ङ । ६१ । २५ ॥

भा०—इ ( विभावसो ) तज कान्तिसम्पत्त ! ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( सामा ) साम, य समस्त अन्त आनन्द रस ( तुभ्य ) तेर लिय ( सुतास ) निष्पादन क्रिय गय हैं ( वर्द्धि ) दृढम्प यह आसन अथवा महास्वरूप महान् आधय ( स्तास्यै ) विस्तृत क्रिया गया है । तू ( स्तोमृभ्य ) सत्य २ गुणकातन करन वालों का ( मृडय ) सुखी कर ।

इति द्वितीया दशति दशम खण्ड ।

—०—

अथ द्वितीयाऽध्याय ।

॥ १० ३ ॥ १ सुत ज्ये । अथय्य । ३ विश्व क. ४, ९ मषातिथि । ५

गानन । ६ मषातिथि । ७ विधात्ति ज- गिता । ८ प्रसव्य ॥

दत्तो वेत्ता । गवती ॥ १० ॥

[२१४] आ व इन्द्र किंवि यथा वाजयन्त शतक्रतुम् ।

मदिष्ट सिञ्च इन्दुभि ॥ १ ॥ अ० १ । ३० । १ ॥

भा०—( व ) आप लोग ( इन्दुभि ) सोमों, ज्ञानों, स्तुतियों द्वारा ( शतक्रतु ) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों से युक्त ( मदिष्ट ) दानशील, पूजनीय, ( इन्द्र ) आत्मा का ( वाजयन्त ) बल और पृथ्वी की कामना करते हुए ( आ सिञ्च ) इस प्रकार तृप्त करो ( यथा ) जिस प्रकार ( किंवि ) कार्य-साधन करने वाले हथियार या यन्त्र का घृत तैल आदि से सींचते हैं । अथवा—जिस प्रकार ( किंवि ) जलपूर्ण कूट क आश्रय से ( वाजयन्त ) अन्न चाहने वाले कृपक खत को जल से सेचन करते हैं उसी प्रकार प्रभु का आश्रय लेकर समाधि रसों से छत्ररूप आत्मा का सेचन करो ।

[२१५] अतश्चिदिन्द्र न उपायादि शतवाजया ।

इषा सहस्रवाजया ॥ २ ॥ अ० ८ । ९२ । २० ॥

भा०—इ ( इन्द्र ) आत्मन् । राजन् । ( अत नित् ) इस कारण से ही ( शतवाजया ) सैकड़ों प्रकार के बलों से सम्पन्न और ( सहस्र वाजया ) सहस्रों या अनेक बलों से युक्त ( इषा ) या इच्छा शक्ति या सेनासहित ( न ) हमें ( उप यादि ) प्राप्त हो ।

[२१६] आ बुन्द वृत्रहा ददे जात पृच्छादिमातरम् ।

क उग्रा के ह शृणिवरे । ३ ॥ अ० ८ । ४५ । ४ ॥

भा०—( वृत्रहा ) विघ्नों का निवारण करने द्वारा राजा ( जात ) शक्ति सम्पन्न होकर ही ( बुन्द ) दण्ड देन और शत्रु का नाश करने वाले बाण या हथियार को ( आदद ) धारण करता है । और ( मातरम् ) अपने

उत्पन्न करनेवासी मातृपुत्र्य प्रजा से ( विष्ट्यात् ) नाना प्रकार से पूजिता है कि ( के उमा ) तुम्हें कष्ट देने बख्ते भयंकर कौन है और ( के ह शृण्विरे ) कौन हिंसा करते हैं । अथवा—( के ह शृण्विरे ) कौन अथवाशील विद्याभ्यासी और ( के उमा ) कौन उग्र, बलवान् तीव्र चरित्र हैं । शत्रु धारी पुरुष को जब प्रजा राजा बनाती है तब यह राजदण्ड हाथ में लता है और प्रजा के दुःखदायी घातकारी लोगों को सुन छानवीन करके उन को दण्ड देता है अथवा उनमें बलवान् और विद्वान् प्रजा के शासन और शिक्षण में नियुक्त करता है । आत्मपक्ष में—माता=वधाध अनुभवशील चिन् शक्ति सुन्द=द्यौःराज वृष=अज्ञान, उमा =विष्टपक्ष भाव या मायगण और अथवाशील ज्ञानन्द्रियगण हैं ।

[२१७] <sup>३ १ २</sup> वृषदुष्टव <sup>३ १ २</sup> ह्युमादे <sup>३ १ २</sup> सू १३ रजमृते ।

सा १ छान्वन्तमर्षे ॥५॥ श० ८ । ३२ । १० ॥

भा०—हम ( जनय ) रक्षा के लिये ( स्रष्टकरसम् ) अपने हाथों को फैलाये ( वृषदुष्टव ) अति अधिक खयालमान् और ( वधम ) राजा की रक्षा करने के लिये ( साध कृष्यन्त ) साधन करने वाले राजा के समान परमेश्वर का पुत्रागे हैं ।

[२१८] <sup>३</sup> ऋणीती नो <sup>३ २</sup> १२ <sup>३</sup> र्जा भिषो <sup>३ २</sup> नयति <sup>३ २</sup> विद्वान् ।

<sup>३</sup> अ० १० दे १ <sup>३ १ ३</sup> अजाया ॥५॥ श० १ । ६० । १ ॥

भा०—( वरुण ) मय उल्लेख निवारण करने द्वारा, ( मित्र ) मय का स्नेही ( विद्वान् ) मरिचु।सर्वेणा ध न्यो १-यावत् सी ( ६० ) विद्वान् पुरुषों से ( मजोषा ) समान रूप से प्रेम करने वाले राजा के समान परमेश्वर ( अशुनीते ) धर्मपुत्र नीतिमार्थ से ( न ) हम सब को ( न यति ) लजता है ।

२१८—'नानु रिनात्' इति श० ।

उ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २  
 [२१६] दूरादिह्य यत्सतोऽरुणसुरशिष्वितत् ।  
 उ २ ३ १ २

वि भानु विश्वथाऽतनत् ॥ ६ ॥

भा०—( दूरात् ) दूर ( सत ) विद्यमान रहकर भी परमेश्वर सूर्य के समान ( यत् ) जब ( अरुणसु ) प्रातःकालिक प्रभा के समान कान्तिमान् ( इह एव ) यहा ही ( अशिष्वितत् ) चमकता है तब ( भानु ) कान्ति, प्रजा या दीप्ति को ( विश्वथा वि अतनत् ) सब ओर फैलाता है ।

साधक की साधना की सिद्धि क लक्षण विशेष दीक्षियों का मस्तक पर विशेष रूप से चारों ओर दीखना ही है । जैसा लिखा है—

‘व्यसुतद् व्यसुतदा न्यमीमीपद्’ इत्यादि । कन उ० । तद्दूरे तदु अन्तिक इत्यादि । ईश उ० ।

१ २ ३ ११ २१  
 [२२०] आ नां मित्रावरुणा घृतैर्गयूतिमुद्धतम् ।  
 उ १ २

मध्वा रजांसि सुकृतू ॥७॥ अ० ३ । ६२ । १६ ॥

भा०—हे ( मित्रावरुणौ ) मित्र, वरुण, प्राण और अपान ( घृतै ) दीक्षियों द्वारा ( गयूतिम् ) इन्द्रियों क मिलने क स्थान त्रिपुरीभाग को अथवा गायों क बाड़े क समान एकमात्र आश्रयस्थान आत्मा को ( आ उद्धतम् ) योगन आनन्द रसों से खूब सचन करो । हे ( सुकृतू ) उत्तम प्रजा और कर्म के सम्पादन करने हार तुम दागो ! ( न ) हमारे ( रजांसि ) रजाभाव से युक्त इन्द्रियों को अथवा हमारे लोकों को सौ और पृथिवी या दिन और रात्रि क समान ( मध्वा ) मधु अर्थात् विशय स्वतना या सविक्षिद्धि द्वारा ( उद्धतम् ) सेचन करो ।

प्राण और श्वान की साधना से त्रिपुरी में दीप्ति और इन्द्रियों में विशेष स्फूर्ति उत्पन्न होती है जिसको 'सवित् ज्ञान' कहते हैं ।

[२२१] उदु स्ये सूनवा गिरः काष्ठा यशेऽप्रतत ।

वाथा अभिञ्जु यातव ॥८॥ ऋ० १ । ३७ । १० ॥

भा०—( स्ये ) वे ( गिरः सूनव ) वाणों के उत्पादक मरुद्गण ( यज्ञेषु ) अपने निवासस्थान इन्द्रिय-स्थानों, कार्यभ्यापारों में ( काष्ठा ) अपने जाने की दिशाओं, मार्गों पर इस प्रकार गमन करते हैं जैसे ( वाथा ) गौएँ हमारे समक्ष ( यातव ) गति करने के लिये ( अभिञ्जु ) धुटने के प्रति मुककर ( अतत ) जाती हैं । यहाँ प्राणों के संचार का स्वरूप बतलाया गया है ।

[२२२] इद् विष्णुर्विचक्रमे श्रेधा निदधे पदम् ।

सामूढमस्य पासुले ॥९॥ ऋ० १ । २२ । १७ । यजु० ५ । १२ ॥

भा०—( विष्णु ) देह में सर्वव्यापक वह आत्मा ( इद् ) इस प्रकार ( विचक्रमे ) गति करता है कि ( श्रेधा ) तीन प्रकार से ( पदम् ) अपनी शक्ति को ( निदधे ) स्थापन करता है । और ( अस्य ) इसकी वह शक्ति सामर्थ्य ( पासुले ) इन्द्रियों के शयन करने के स्थान देह में ( सामूढम् ) उत्तम रूप से प्रकट है । परमात्मा पद में—हृत् की शक्ति तीनों लोकों में है । 'पांसुलो लोका' । इस महाएह भर में उसकी शक्ति समूहित या व्याप्त है ।

२२१—'अतमेऽप्रतत' इति पाठ, ऋ० ।

२२२—'पांसुर', 'पांसुरे' इति पाठ, य० ।

१ पर पदनेर्गनिरनेण ।

२ पामव पादे सूयन्ते इति वा, पत्र येन इति वा ( नि० १ । १८ )

आत्मा की प्रेधा शक्ति अक्ष से रस का ग्रहण इन्द्रिय से ज्ञान निष्पादन और देह में प्राण और रस का संचरण ।

इति तृतीया दशति । एतान्श सख्य ।



॥ १० ४ ॥ अपि - १, ७, ८ मेधातिथि । २ वामनेव । ३, ५ मेधातिथिप्रियमधौ । ४ विश्वामित्र । ६ कौरसो दुर्मित्र । ७ विदवामित्रा  
गायिनोऽभीपाद उलो वा । १० श्रुत्वश्च ॥ ३ २ देवता ॥  
गावश्री छन्द ॥ षडन स्वर ॥

[२२३] अतीदि मन्युपाणि सुपुत्रासमुपरय ।

अस्य रातौ सुत पितृ ॥ १ ॥ अ० ८ ३२ । २१ ॥

भा०—हे आत्मन् ! तू ( मन्युपाणि ) शोध को उत्पन्न करने वाले भाव को ( अति इति ) छाड़ दे । ( सुपुत्रासम् ) उत्तम रूप से संचालन करने या उत्तम रस सम्पादन करने वाले के ( उप ईरय ) पास ही सदा स्वस्थ रूप से प्राप्त हो । ( अस्य रातौ ) उसके आनन्द का दशा में ही तू ( सुत ) उत्तम ज्ञान का ( पितृ ) आस्वादन कर ।

[२२४] कद्रु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते ।

तद्विद्वथस्य वधनम् ॥ २ ॥

भा०—( महे प्रचेतसे ) वह भारी ज्ञानवान् ( देवाय ) इष्टदेव के लिये ( कद्रु उ ) कुड़ भी, तुच्छसा भी ( वच ) वचन ( शस्यते ) स्तुति रूप में कहा जाय ( तद् इत् हि ) वह ही ( अस्य ) इस वक्ता के ( वधनम् ) वृद्धिकारक होता है ।



“अणुरप्यस्य धर्मस्य श्रापते महतो भवात्” सीता० । ईश्वर की निष्पत्ति योही आराधना भी आत्मा के बल को बढ़ाती है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ५ २ ३ २

[२२४] उक्थं च न शक्यमान नागारयिराचिकत ।

१ २ ३ २ ३ १ २

न गायत्र गीयमानम् ॥३॥ अ० ८ । २ । १५ ॥

भा०—( अचि ) सर्वव्यापक परमेश्वर ( अगो ) इन्द्रिय या वाणी रहित अज्ञानी का ( शक्यमान ) पढ़े हुए ( उक्थं चन ) स्तुतिपाठ का भी ( न आचिकेत ) क्या नहीं जानता ? और क्या ( गीयमान ) गाये गये ( गायत्र ) गायत्र साम का भी नहीं जानता ? जानता ही है वह उसको भी स्वीकार करता ही है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२२६] इन्द्र उक्थोभिर्मन्दिषो वाजाना च वाजपतिः ।

१ २ ३ २ ३ १ २

हरिवान्सुताना सखा ॥४॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आधन् ! परमाधन् ! ( उक्थेभि ) गुणकीर्तनों से ( मन्दिष ) प्रसन्न होने वाला ( वाजानां च ) और ज्ञानसम्पन्न पुरुषों में ( वाजपति ) ज्ञानों का एकमात्र स्वामी ( हरिवान् ) इन्द्रिय अर्थात् ज्ञानसाधनों से एवं ईश्वरपद में—पञ्चभूत आदि प्रकृति विकारों से सम्पन्न नृ ( सुताना ) निष्पादित कर्मों, ज्ञानों और उत्पन्न लोकों का ( सखा ) मित्र है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२२७] आयाहाप न सुत वाजनिर्मोहणीयथा ।

३ १ २ ३ १ २

महो इव युपजानि ॥५॥

भा०—हे परम आधन् ! ( न ) हमारे ( सुत ) प्रस्तुत महानन्द रस या आत्मा रूप सोम के ( उप आयाहि ) समीप आइये, प्राप्त कीजिये । ( वाजनि ) अर्थात्, ज्ञानों और बलों से ( मा हणीयथा ) हमें मत हारिये ।

आप ( महान् ) बड़े धीर्यवान् सामर्थ्यवान् ( युवजानि ) अपने प्रपौत्र को भी अपने समष्ट देखने वाले वृद्ध के ( इव ) समान पूज्यतम हैं ।

‘युवजानि —’ जीवति तु धरये युवा ( पा० ४। १। १६३ ) शास्त्र-द्वयुवापयं पुमान् इवादि व्याख्यानदर्शनाद्युर्वचश्लैलिकी शास्त्रसिद्धा च प्राचीनकालपरिचिता । जनरौणादिकोऽग्निन् बाहुलकात् ( उ० ४। २१। )

३ १ २ ३ १ २ २२३ १२ २२ ३ १ २ ३२  
[२०८] कदा यन्मो मतोऽत्र ह्येत आ अथ श्मशारुध्रदा ।

३ १ ३ २ ३ १ १

दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥ ६ ॥ अ० २०। २०५। २ ॥

भा०—हे ( यन्मो ) सबके प्राणाधार सबमें बसने और सबको बसाने वाले ! ( स्तोत्र ह्येत, ) स्तोत्र या वेदज्ञान का आहरण या स्थापन करने वाले पुरुष के लिये तुम ( कदा ) कब ( श्मशा ) शरीर के भीतर संचरण करने वाले ( वा ) जीवनरूप जल को ( आ अवारुध् ) रोकन हो ? कभी नहीं । ( दीर्घं ) दीर्घ, स्थाया चौड़ा ( सुत ) जीवन ( वाताप्याय ) प्राण को आपमन करने वाले का ही प्रदान करते हो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २१२ २२  
[२२६] ब्राह्मणादिन्द्र राधस विवा साममृतुरनु ।

३ २ ३ १ २ २२

तत्रदं मण्यमस्तृतम् ॥ ७ ॥ अ० २। २५। ५ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( ब्राह्मणात् ) ब्रह्म को जानने वाले ( राधस ) साधना करने वाले विशुद्ध के ( सोम ) ज्ञान और अघादि रस को ( अमृन् अनु ) प्राणों और इन्द्रियों के साथ ( विव ) नू पान कर । ( तत्र ) तेरा ( इत् ) यह ( मण्यं ) इन्द्रियों के या साधकों के साथ का मैत्राभाष ( अस्तृतम् ) कभी नहीं टूटता ।

३ १ २ ३ १ २                      ३ १ २  
[१३०] धयं घाते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र गिषेण ।

१ २                      ३ ० ८ । ३२ । ७ ॥  
त्वं नो जिन्व सोमपा ॥ ८ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! हे परमात्मन् ! हे ( विषेणः ) एक-  
मात्र वाणी द्वारा स्तुति करने योग्य ! ( धयं ) हम इन्द्रियगण और हम  
साधरुगण ( अपि ) भी ( ते इ ) तेरे ही ( स्तोतार. स्म ) स्तुति करने  
वाले हैं । ( त्व ) नृ ( सोमपा ) सोम को पान करने हारा होकर ( न )  
हमें भी ( जिन्व ) तृप्त कर, हमें भी बलवान् कर । जो सम्बन्ध प्रजा का  
राजा से और साधकों का प्रभु से है वही इन्द्रियों का आत्मा से है ।

१ २ ३ १ २ २                      ३ २ ३ १ २  
[२३१] एन्द्र पृलु कासुचिन्नृमणं तनूपु धेदि नः ।

३ २                      ३ १ २  
सत्राजिदुम्र यौस्यन् ॥ ९ ॥

भा०—हे आत्मन् ! हे ( उम्र ! ) हे बलवान् ! ( पृलु ) तुझे  
स्पर्श करने वाल ( कासु चित् तनूपु ) किन्हीं देहों में ( न ) हम ( नृमणं )  
मनुष्यों के मनन करने योग्य ज्ञानरूप धन को ( धेदि ) धारण कर और  
करा । हे ( सत्राजिद् ) समस्त सत् पदार्थों पर विजय करनेवाले ! ( कासु-  
चित् ) किन्हीं में ( नः यौस्य ) हमें बल धारण करा ।

अर्थात् नृ किन्हीं को ज्ञानी ब्राह्मण बनाता और किन्हीं को उग्रिय  
उत्पन्न करता है । , ,

३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २                      ३ २                      ३ २  
[२३२] एवाहसि यीस्युरेवा शूर उत सियर ।

३ २ ३ २ ३ १ २                      ३ ० ८ । १२ । ३८ ॥  
एवा ते राधये मन ॥ १० ॥

भा०—हे इन्द्र आगन् ! क्योंकि तू ( हि ) निश्चय से ( वीर्युः ) सामर्थ्यवान् धीर को चाहने वाला ( एव असि ) ही है । और तू ( शूर ) शूर और ( स्थिर एव ) स्थिर ही है, इसलिए ( ते मनः ) तेरी मननशील मति या ज्ञान भी ( राध्यम् एव ) आराधना या साधना करने योग्य ही है, अनुकरण करने योग्य है ।

इति चतुर्थी दशति । द्वादश रागः ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

॥ ८० ५ ॥ अवि—१, ६, ६ वसिष्ठ । २ भरद्वाज । ३ नासखिल्याः । ४ नोषा । ५ वलि प्रागाथ । ७ मेधातिथि । ८ भर्गः । १० प्रगाथ वाण्वः ॥ देवता—१—८, १० इन्द्र । ६ मस्त । ७ हती । मध्यमः ।

३ १ ३                      ३ १ २                      ३ १ २

[२३३] अभि त्वा शूर नोनुमोऽद्गुग्धा इव धेनवः ।

१ २ ३ १ २    २                      ३ २ ३ १ २                      ३ १ २

ईशानमस्य जगत स्वईशमीशानमिन्द्र तस्थुप ॥ १ ॥

अ० ७ । १२ । २२ ॥

भा०—हे ( शूर ) शूर ! सर्वत्र व्यापक, हे ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवान् ! ( अस्य जगत ) इस जगत् के धीर ( तस्थुपः ) स्थावर संसार के भी ( ईशानम् ) सामर्थ्य देने वाले प्रभु ( स्वईशम् ) आदित्य द्वारा सबको प्रकाशित करनेहारे या आदित्य के समान सबको समान भाव से देखनेहारे ( त्वा ) तुझको हम ( अद्गुग्धाः धेनव इव ) न दुही गई, नई व्याई हुई गौपं जिस प्रकार अपने बस को देखकर झुकती और हग्वारती हैं उसी प्रकार ( नोनुमः ) आदर से, प्रेम से देखते, झुकते और स्तुति करते हैं ।

[२३४] <sup>१२</sup> त्वामिद्धि <sup>२२</sup> हवामह <sup>३१२</sup> सातो <sup>२२</sup> वाजस्य <sup>३१२</sup> कारव ।

<sup>३१</sup> त्वा <sup>२</sup> वृत्रे <sup>३</sup> ध्विन्द्र <sup>१२</sup> सत्पति <sup>३</sup> नरस्त्वा <sup>२३</sup> काष्ठास्वर्वत ॥ २ ॥

श्र० ४ । ४६ । २ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवन् ! ( वाजस्य सातो ) धन, अन्न ज्ञान और बल के विभाग और प्राप्ति के अवसर पर ( त्वाम् इत् हि ) तुम्हको ही हम ( कारव ) स्तुतिकर्ता लोग ( हवामहे ) स्मरण करत, पुकारत हैं । ( वृत्रेषु ) विघ्न के अवसरों पर ( सत्पति ) सज्जनों के प्राप्तिपालक ( त्वा ) तुम्हको ही याद करत हैं । ( अर्वत ) गतिशालि सूर्य आदि पदार्थों के ( काष्ठासु ) सीमाएं नियत करने के लिये अथवा ज्ञान शील भोजन हृन्दियों की भोग मर्यादाओं को सीमित करने के लिये ( नर ) विद्वान् जाग तेरा ही स्मरण करते हैं ।

[२३५] <sup>३१२</sup> आम <sup>२२</sup> प्र <sup>३</sup> य <sup>१२</sup> सुराधसमिन्द्रमर्चं <sup>३१</sup> यथा <sup>२</sup> विद् ।

<sup>१</sup> यो <sup>२</sup> जरित् <sup>३</sup> भ्यो <sup>४</sup> मघवा <sup>५</sup> पुरुवसु <sup>६</sup> सहस्रेण <sup>७</sup> शिञ्जति ॥ ३ ॥

श्र० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! ( य ) आप लोग ( सुराधसम् ) उत्तम ज्ञान रूप धनसम्पत्त ( इन्द्र ) परमेश्वर को ( यथा ) यथार्थ रूप से ( विदे ) जानने के लिये ( अभि प्र अर्चं ) उसकी अच्छी प्रकार उपासना करा । ( य ) जो ( मघवा ) धन मन्त्रादि से सम्पन्न ( पुरुवसु ) अति धनाढ्य, या सब शरीरों में व्यापक रहकर ( सहस्रेण इव ) मानो हजारों प्रकारों से ( शिञ्जति ) शिछाए देता है और ऐश्वर्य प्रदान करता है ।

[२३६] <sup>१</sup> न <sup>२</sup> वो <sup>३</sup> दस्ममृतापिह <sup>४</sup> वामान्दानमन्धस ।

<sup>३२</sup> अभि <sup>३</sup> वत्स <sup>४</sup> न <sup>५</sup> स्वसरेषु <sup>६</sup> धेनव <sup>७</sup> इन्द्र <sup>८</sup> गीर्भिनं <sup>९</sup> नामह ॥ ४ ॥

श्र० ८ । ८८ । १ ॥

भा०—( वः ) आपके ( दसं ) बाधक, शत्रुओं का नाश करने वाले, ( अतिसहं ) बाधाओं को दूर करने वाले, ( वसोः ) शरीर में आत्मा के वास कराने वाले, सबमें बसने वाले ( अन्धस ) प्राण धारण कराने वाले अक्षरस को प्राप्त करके ( मन्दान ) अत्यन्त प्रसन्न होने वाले ( इन्द्रं ) आत्मा को ( स्वसरेषु ) अपने २ देहों में हम इन्द्रियगण और विद्वान्जन उसी प्रकार (अभि नवामहे) स्तुति करते हैं जिस प्रकार (धेनव) नवप्रसूता गौषुं ( वःसं न ) बछड़े के प्रति हमभारती हैं ।

१ २            ३, २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२३७] तरोभिर्षो विद्वसुमिन्द्रं सवाध ऊतये ।

३ १ २ २            ३ १ २            ३ २ ३ १ २            ३ २ ३ १ २

वृहद्रायन्तः सुतसोमे अध्वर हुवे भर न कारिणम् ॥५॥

अ० ८। ६१। २ ॥

भा०—हे इन्द्रियगण ! हे साधकजनों ! ( वः ) तुम्हारे ( तरोभिः ) वेगों, गतियों द्वारा ( विद्वसुम् ) ज्ञान के प्राप्त करने हारे ( सवाधः ) आप लोग जब यीदा सहित हों तो ( ऊतये ) अपनी रक्षा के निमित्त ( वृहद् ) वृहत्साम द्वारा ( इन्द्रम् ) इस ऐश्वर्यवान् अपने प्रभु का ( गायन्तः ) कीर्त्तन करते हुए ( सुतसोमे अध्वरे ) सोम निष्पादन करने योग्य वाग में जिस प्रकार ( कारिण भरं न ) शत्रुविग्न लोग अपने पोषण-कर्त्ता यजमान का बुलाते हैं उसी प्रकार बुझाया करो, उसका स्मरण किया करो ।

३ २ ३ १ २            ३ २ ३ १ २            ३ २

[२३८] तरणिरित्सिपावति वाज पुरन्ध्या युजा ।

३ १ २ ३ १ २            ३ २ ३ १ २ २ ४            ३ १ २

आ व इन्द्रं पुरुहूतं नम गिरा नमि तष्टेव सुष्टवम् ॥ ६ ॥

अ० ७। २२। २० ॥

भा०—( तरणिः ) अति वेगवान् या संसार से तराने वाला, आत्मा ( पुरन्ध्या ) देहरूप पुर को धारण करने वाली बुद्धि को ( युजा ) अपना

साथी बना कर, समाधि द्वारा ( वाज ) अन्न आदि कर्म फल और ज्ञान ऐश्वर्य का ( सिपासति ) ठीक प्रकार से विवेक करता है । ( तथा इव ) जिम प्रकार बड़ई ( सुदृव ) उत्तम गति करने योग्य ( नेमि ) चक्र के हाल का झुकाता है । उसी प्रकार हे इन्द्रियगण ! मैं साधक ( पुरुहूत ) प्रत्यक देह में बल संचार करने वाल ( व इन्द्रम् ) तुम्हारे स्वामी आत्मा को ( गिरा ) वेद की श्रुति एवं स्तुति से ( आ नमे ) अपने प्रति झुकाता हू । यह आत्मा क मनोवग का लक्ष्य करके कहा है ।

[२३६] <sup>१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १</sup> विद्या सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमत । <sup>२ ३ १ २</sup>  
<sup>३ १ २</sup> आपिनो वाधि सधमाधे वृधेऽस्माँ अयन्तु ते प्रिय ॥७॥  
<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
 ५० ८ । ३ । १ ॥

भा०—( इन्द्र ) हे आमन् ! ( न ) हम इन्द्रियों के ( गोमत ) अपनी गति से सम्पादित ( रसिन ) भोग या ज्ञान क सुख या बल से सम्पन्न ( सुतस्य ) उत्पादित ज्ञान का ( पिथ ) पान कर, उपभाग कर ( मत्स्व ) और प्रसन्न और तृप्त हो । ( न ) हमारे ( सधमाधे ) एक ही साथ आनन्द भाग करने क स्थान, शरीर में ( आपि ) बन्धु क समान हमें सदा प्राप्त हाकर तू ( न ) हमें ( बोधि ) ज्ञानवान् कर । ( त धिय ) तेरी ज्ञानमय वृत्तिया ( वृधे ) और भी अधिक उन्नति, वृद्धि क लिये ( अस्माँ ) हमें ( अयन्तु ) रक्षा करें ।

[२४०] <sup>२ ३ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २</sup> त्व होदि चेरवे विदा भग वसुत्तये ।  
<sup>१ २ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup>  
 उद्रावृषस्य मधवन् गरिष्ठ्य उदिन्द्राश्वमिष्ट्ये ॥ ८ ॥  
 ५० ८ । ११ । ७ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आमन् ! तू ( चेरवे ) तेरी सेवा परिचर्या करने वाले अपन सबक क पास ( आ इहि ) आ, साचात् हा । और ( वसुत्तये )

सुख से प्राण धारण करने योग्य वसु या प्राणों का दान करने के लिये ( भगं ) भजन या सेवन करने योग्य ऐश्वर्य, या सेवने योग्य प्रभु को (विदा) प्राप्त कर, उसका ज्ञान कर। हे ( मघवन् ) शक्तिमन् ! (गविष्टय) इन्द्रियों के इष्ट साधन करने के निमित्त ( उद् वावृपस्व ) उत्तम रीति से सुखों की दया कर। ( उत् अथम् इष्टये ) और इन्द्रियों में श्यास जा भोजन रूप धारणा, अथ है उसके भोजन के लिये भी उत्तम रीति से बल दान करा।

११ २२ ३२ ३१२ २२ ३१ २  
[२२१] न हि अक्षरम् चन यन्निष्ठ परि मंसते ।

३ १२ ३२ ३१२ ३३३ ३ १, २ ३ १ २  
अस्माकमद्य मरुतः सुतं सचा विश्वं पिवन्तु कामिनः ॥६॥

अ० ७।५९।३।।

भा०—( वसिष्ठ ) मुख्य प्राण ( व ) तुम इन्द्रियों में से ( चरम चन ) अन्तिम का भी ( न हि ) नहीं ( परिमंसते ) तिरस्कार करता। हे ( मरुत ) इन्द्रिय मार्गों में विचारण करने वाले प्राणों ! ( अस्माकं सुतं ) हमारे उत्पन्न किये हुए ज्ञानरस में ( विश्वे कामिन ) सब अपने रसपान की कामना करने वाले आप लोग ( सचा ) एक साथ ( पिवन्तु ) आनन्द मृत का पान करो। इसका विवरण देशो बृहदा० उप० ( अ० ६।१ ) में वसिष्ठ प्राण का प्रकरण। अथवा—( वसिष्ठ ) परमेश्वर ( चरमं चन नहि परिमंसते ) सबसे पिछड़े हुए का भी अनादर नहीं करता। हे ( मरुत ) मनुष्यो ! ( अस्माकम् कामिन ) हममें से जो भी परम रस के अभिलाषी हैं वे ( विश्वे सचा पिवन्तु ) सब आकर समाहित होकर आनन्द रस का पान करें।

अपि चेऽसुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुर्व स मन्तव्यः सम्यग् स्ववसितो हि स ॥ ( गीता )



१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २  
 [२४२] माचिद्वयद्विशसत सखायो मा रिपयत ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १

इन्द्रमिदस्तोता वृषण सचा सुत मुहुरन्धा च शसत ॥१०॥

श्र० ८ । १ । १ ॥

भा०—हे ( सखाय ) मित्रा ! ( अयत् वित् ) और कुछ वस्तु का ( मा विशसत ) स्तुति मत करा । ( मा रिपयत ) स्वर्थ क जाज म अरना नारा मत करा, खिन्न मत होषा । ( इ द्रम् इत् ) आत्मा, परमामा का ही ( स्तात ) स्तुति करा । ( सुत ) उत्पादित ज्ञानयज्ञ या अन्नन्द में म ( सचा ) एकसग ( वृषणम् ) सवम भेष्ट आत्मा क प्रति ( मुहुः ) बार बार ( उक्था च शसत ) वद क सूत्रों का गान करो ।

इति पञ्चमी ऋषिः । प्रथम खण्ड ।

—(१) (२)—

। ३० ६ ॥ अथि—१ आङ्गिरस पुरुहमा । २, ३ मथानिधिर्नैव्याति य । ४ विशामित्र । ५ गौतम । ६ नृमधपुरुमेधौ । ७, ८, ९ मेघ्यानिधि ।

१० देवातिथि काव्ये ॥ इन्द्रो देवता । इहो छन्दः ॥

मध्यम स्वर ॥

१ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [२४३] नभिष कर्मणा नशत्रश्चकार सदावृधम् ।

३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ २  
 इन्द्र न यज्ञेभिश्चमृत्नृभ्यसमधृष्ट धृष्टुमोजसा ॥१॥

श्र० ८ । ७० । २ ॥

भा०—( य ) जा पुरुष ( यज्ञे ) यज्ञों द्वारा अपन का ( विधग्नुत्तम् ) समस्त प्रशंसित, ( अश्वसम् ) ज्ञान सम्पन्न ( आजसा ) अपने तन से ( अधृष्टम् ) किसी से न परानित हान वाल ( धृष्टुम् ) विधत्तियों का धर्म म सहने वाल ( इन्द्रम् न ) राजा क समान ( कर्मणा ) कर्म द्वारा

अपने को ( सद्राष्ट्रम् ) सदा उन्नति-मार्ग पर बढ़ाने वाला ( चकार ) बना लेता है ( तं ) उसको ( नकिः नशद् ) कोई नारा नहीं कर सकता ।

[२४४] य ऋते चिद्भिथ्रिपः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।

सन्धाता सन्धि मघवा पुरुवसुनिष्कर्ता विद्वत् पुन ॥२॥

अ० ८।१।२२ ह

भा०—( यः ) जो आत्मा ( अभिथ्रिप ) आरलेपण करने वाले द्रव्य के ( ऋते चित् ) विना ही ( पुरा ) पूर्व ही ( जत्रुभ्य ) जीवों के ( आतृद ) अलग २ हुए अज्ञों के भी ( सन्धिम् ) जोड़ों को ( संधाता ) जोड़ता है वह ( पुरुवसु ) समस्त देहों में रहने वाला ( मघवा ) जीवन यज्ञ का स्वामी आत्मा ( विद्वत् ) शस्त्र से कटे को भी ( पुन ) फिर २ ( निष्कर्ता ) स्त्र्य अच्छी तरह से घेसा ही बना देता है । इस रहस्य का स्पष्टीकरण देखो ब्राह्मणों के प्रति याज्ञवल्क्य का प्रश्न (बृह० उप० अ० ३। ब्रा० ६। ६० २८) और (अथर्ववेद का० ११। सू० १८। मं० ११-१४)

[२४५] आ न्या सहस्रमाशतं युक्ता रथे द्विरयथे ।

ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वदन्तु सोमपीतये ॥३॥

अ० ८।१।२४ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! परमेश्वर ! ( द्विरयथे ) एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाने योग्य आत्मा से युक्त ( रथे ) रथ में, देह में ( युक्ता ) लगे हुए ( आ सहस्रम् ) हजारों और ( आ शतम् ) सैकड़ों ( ब्रह्मयुजः ) ब्रह्म=अलकी पोषक शक्ति से जुड़े हुए अथवा ( ब्रह्मयुज ) ब्रह्म को समाहित चित्त से साक्षात् करने वाले ( केशिनः ) ज्ञानतन्तुओं

से सम्पन्न ज्ञानी ( हरय ) हरण करने वाले घोड़ों के समान प्राणगण्य पशु विद्वानजन ( सोमपीतय ) सामरस का पान करने के लिये ( त्वा ) तुम्हको ( वदन्तु ) बहन, धारण करें ।

२ ३ १ २ ३ १ २      ३ २ ३ १ २

[२४६] आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररामि ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३      ३ १ २ ३ १ २

मा त्वा केचिन्निधेयमुरिन्न पाशिनाऽति धन्वन्तौ इहि ॥४॥

अ० ३ । ४५ । १ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन्<sup>१</sup> ( मन्द्रै ) आपन्त प्रशसा योग्य उत्तम हथके देने वाले ( मयूररामि ) मोर के लोमों के समान लोमों तथा आनील विलुत् कान्ति स सम्पन्न ज्ञानत-तुष्टों से युक्त, ( हरिभि ) अनुभवों को तुम्ह तक पहुँचाने वाले ज्ञानसाधनों को ( याहि ) प्राप्त हो । ( त्वा ) तुम्हको ( केचित् ) कोई भी ( पाशिन न ) जाळ वाले लोगों के समान बन्धनकारी प्रबोधन ( न निपमु ) न बाँध लें । और तू तान् ) उनका ( धन्वा इव ) धनुधारा के समान ( अति इहि ) अतिक्रमण कर । राजा के पक्ष में स्पष्ट ही है ।

३ १ २ २ ३ १ २      ३ १ २      ३ १ २

[२४७] त्वमङ्ग प्रशसिपो देव शनिष्ठ मर्त्यम् ।

२ ३ ३ १ २      ३ २ ३ १ २ ३ १ २

न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्दितेन्द्र मर्गमि ते चच ॥५॥

अ० १ । ५४ । २६ ॥

भा०—( अङ्ग ) इ ( इन्द्र ) आत्मन्<sup>१</sup> ( त्व ) तू ( देव ) स्वयं सब का प्रकाशक होकर भी हे ( शनिष्ठ ) सब गतिमान् और शक्तिमान् पदार्थों और ज्ञानवानों में श्रेष्ठ । ( मर्त्यम् ) मरुस्थधर्मों दह को ( प्र शसिप ) प्रशसा योग्य उत्तम चेतन बनाता है । इ ( मघवन् ) एधर्ववन्<sup>१</sup> ( त्वदन्य ) तरे से दूसरा कोई ( मर्दिता ) मुझ का देने हारा ( न अस्ति ) नहीं है ।

इसलिये ( ते ) तेरी ही ( वच. ) स्तुतिपरक वाणी को मैं ( प्रवीमि ) कहता हूँ ।

[२४८] त्वमिन्द्र यथा अस्यजीवा शयसस्पतिः ।

त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुर्वनुत्तश्चर्षणीघृतिः ॥६॥

अ० ८। ६०। ५ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मान् ! ( त्वं ) तू ( अजीवी ) अजु, कुटिलता रहित मार्ग में अपने भद्रों को प्रेरणा करने वाला, ( शयसस्पतिः ) बल का स्वामी, शक्तिमान्, ( यथा. असि ) यथा स्वरूप है । ( त्वं ) तू ( एक इत् ) अकेला ही ( पुरु-अनुत्त ) देहों में बिना किसी से प्रीति होकर स्वतन्त्र रूप से, ( चर्षणीघृतिः ) स्वतः सब मनुष्यों में धारक प्रयत्न होकर ( अप्रतीनि ) न दबने वाले ( वृत्राणि ) विघ्नों को ( हंसि ) नाश करता है ।

[२४९] इन्द्रमिहेवतातये इन्द्र प्रयत्यध्वरे ।

इन्द्र समीके वनिना हवामहे इन्द्र धनस्य सातये ॥७॥

अ० ८। ३। ५ ॥

भा०—( देवतातये ) देव, विद्वानों एवं इन्द्रियों की भलाई के लिये ( इन्द्रम् इत् ) आत्मा या ईश्वर को ही हम ( हवामहे ) पुकारते हैं । ( अध्वरे प्रयति । हिसारहित यज्ञ के प्रारम्भ होने पर भी ( इन्द्र ) परमात्मा को हम पुकारते हैं, ( समीके ) समान रूप से उपान, विचार, ज्ञान गति करने के अवसर पर या संग्राम में हम ( वनिनः ) सब भद्रजन ( इन्द्र ) उस ईश्वर को ही राजा के समान स्मरण करते हैं और ( धनस्य सातये ) धन के विभाग और प्राप्त करने के लिये भी ( इन्द्र ) ईश्वर को ( हवामहे ) आह्वान करते हैं ।

३ १ २                      ३ १ २ ३                      १ २  
 [२५०] इमा उ त्वा पुरुषसो गिरो उर्ध्वन्तु या मम ।

३ १ २ ३ १ २                      ३ २ ३ १ २ २  
 पावकवर्णा शुचयो विपश्चिताऽभिस्तोभैरनूयत ॥८॥

श० ८ । ३ । ३ ॥

भा०—हे ( पुरुषसो ) बहुत पेश्वर्य वाले एवं बहुत लोकों को धसाने और उनमें धसने वाले ईश्वर ! ( मम ) मेरी ( या, ) जो ( इमा गिर ) ये वाणिया ( त्वा ) तुम्हको ( उर्ध्वन्तु ) बढ़ाती हैं प्रसिद्ध करती हैं और ( पावकवर्णा ) सबको अपने तेज से पवित्र करनेहार, ईश्वर का वर्णन करने वाले ( शुचय ) शुद्ध चित्त वाले ( विपश्चिता ) कम और प्रज्ञा का सचय करने हारे विद्वान् लोग ( त्वा ) तुम्हको ( स्तोभै ) स्तुति-मन्त्रों से ( अभि अनूयत ) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

२ ३ १ २                      १ २                      ३ २ ३                      १ २  
 [२५१] उद्गृत्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।

३ १ २                      ३ १ २                      २ २                      ३ २ ३ १ २  
 सत्राजिना धनसा अक्षितोतया वाजयन्तो रथा इव ॥९॥

श० ८ । ३ । १ १ ॥

भा०—( त्वे ) वे ( मधुमत्तमा ) मधुविद्या से सम्पन्न ( गिर, ) वेदमन्त्र और ( स्तोमास ) स्तुतिमन्त्र ( सत्राजित ) सत्र कर्त्तों पर विजय पाते हुए, ( अक्षितोतया ) अक्षय बलशाली ( वाजयन्त ) ज्ञान से सम्पन्न, वेगवान् ( रथा इव ) रथों के समान ( धनसा ) धनों को प्राप्त कराने हुए ( उद् ईरते ) उत्पन्न होने हैं, ऊपर आते हैं, प्रकट होने हैं ।

१ २ ३ २                      ३ २ ३ २                      ३ १ २ ३ २ २  
 [२५२] यथा गौरो अयाहूने नृग्यद्वेत्येवरिणम् ।

३ १ २                      ३ २ ३                      ३ १ २ ३ १ २ ३                      २ २ ३ १ २  
 आपित्वेन प्रपिन्वे नृग्यमागहि कण्वेषु सु सन्वा पिय ॥१०॥

श० ८ । ४ । ३ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( गौर ) गौर मृग या इन्द्रियों क पीछ भागने वाला ब्यसनी पुरुष ( तृप्यन् ) प्यासा, तृप्या से सताया हुआ ( अपाकृतम् ) जल से वा रस से भरे ( इरियम् ) जलाशय वा भागपदार्थ के प्रति ( एति ) जाता है । उसी प्रकार हे ( इन्द्र ) आत्मन् ' आप ( न आपि वै प्रपि व ) हमारी मधुता को प्राप्त करने पर ( कवत्वपु ) मधुवा पुरुषों में ( तृप ) शीघ्र ही ( आगहि ) प्राप्त हो और ( सचा ) साथ ही ( सु पि व ) उत्तम रूप स सागरस का पान कर ।

इति षष्ठी दशतिः । द्वितीयः खण्डः ॥



॥ ८० ७ ॥ श्रुति — १ भग । २ रेम कादयप । ३ जमन्मि । ४ ९ मेधा तिथि । ५, ६ नृमेधुस्तमधौ । ७ वसिष्ठ । ८ रेम । १० भरदान ॥

देवता—१ २, ४—१० इन्द्र । ३ आत्तिया ॥

बृहती छन्द ॥ मध्यम स्वः ॥

[१५३] शग्ध्यूऽपु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरुतिभि ।

भग न द्वि त्वा यशस वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥

श्र० ८ । ६१ । ५ ॥

भा०—हे ( शचीपत ) सब शत्रियों और प्रजाओं के पालक ' इ ( इन्द्र ) परमधर ' ( विश्वाभि ) सब प्रकार की ( उतिभि ) शत्रियों स ( उ सु शग्धि ) तु हमारी इष्ट पूर्ति कर । इ ( शूर ) शूर ' ( वसुविद ) प्राणों क प्राप्त करने, करान और जानने वाले, ( यशस ) इन्द्रियों क धीर्यस्वरूप, एवं यशस्वी भग न ) ऐश्वर्य के समान ( त्वा ) तरे ( द्वि ) ही ( अनु चरामसि ) हम अनुकूल चलत हैं । इन्द्रियों की आत्मा के प्रति और मर्तों की ईश्वर क प्रति उक्ति है ।

[२५४] या इन्द्र भुज आभर स्वर्धा असुरेभ्यः ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ ४ १ ३ १ २ ३  
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २

स्तोतारमिन्मघघ्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तयर्हितः ॥२॥

श्र० ८ । १० । २ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आभर ! परमेश्वर ! ( याः भुजः ) जिन भोग करने योग्य शक्तियों को ( असुरेभ्य ) असुररूप प्राणों से तू ( आभर ) प्राप्त करता है ( स्वर्दान् ) सुख और प्रकाश से युक्त है ( मघवन् ) वज्र के स्वामिन् ! तू ( अस्य ) इसके द्वारा ( स्तोतारम् इत् ) अपने वयार्थे गुण कथन करने वाले को ही ( वर्धय ) बढ़ा और ( ये च ) जो ( त्वे ) तेरे लिये ही ( वृक्तयर्हितः ) अपना वज्र फेला कर बैठे हैं या तेरे में खीन होने के लिये अपने देह का बन्धन काट चुके हैं उनको बढ़ा । आत्मा प्राणों के बर्णों से साधक को ही आनन्द देता है और शक्ति को बढ़ाता है । राजा भी जिन पेश्वों को दुष्ट पुरुषों से छुन के लावे उससे वह विद्वानों को और गृहस्थों को बढ़ावे ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २

[२५५] प्र मित्राय प्रार्थम्ये सचध्यमृताजसो ।

३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ४

वरुण्ये देवदण्ये छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु गायत ॥ ३ ॥

श्र० ८ । १० । २ ॥

भा०—हे ( अताजसो ) सत्व ज्ञान में ही प्राप्त करनेदार शक्तिन् ! ( मित्राय ) अपने हृदय के स्नेही के लिये ( प्र गायत ) उत्तम गान कर । ( प्रार्थम्ये ) न्यायकारी और अन्तर्यामी, ( वरुण्ये ) अपने गृहस्वरूप देह के हितकारी ( वरुणे ) सब विघ्नों के निवारक ( राजसु ) तेजस्वी राजाओं में स्वद्वन्दता से विचरने वाले राज्य के समान ( राजसु छन्द्यं ) तेजस्वी पदार्थों में सूर्यवत् प्रकाशक परमेश्वर, वा प्राणों में ध्यापक आत्मा को स्तुति करके ( छन्द्यं ) वेदानुसार ( स्तोत्रं ) स्तुतिकारक ( सचप्यं ) सेवन करने

योग्य, हृदयमाही ( वचः ) स्तुति वचन का ( प्र गायत ) उत्तम रूप से गान करो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

[२५६] अभि त्वा पूर्वपीतये इन्द्र स्तोमेभिरायवः ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

समीचीनास क्रमयः समस्वरमुदा गृणन्त पूर्व्यम् ॥५॥

म० ८।३।७ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( आयवः ) दीर्घ जीवन की कामना करने वाले मनुष्य ( पूर्वपीतये ) पूर्ण जीवन का रसपान करने के अभिप्राय से ( त्वा ) तुमको ( स्तोमेभिः ) वेद के स्तोत्रों द्वारा ( अभि ) साक्षात् ज्ञान करते हैं । ( समीचीनासः ) सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न ( अभवः ) प्राणविद्या के वेत्ता, ज्ञानी लोग ( त्वाम् समस्वरन् ) तुमको प्राणरूप से साधते एवं स्तुति करते हैं । और ( रदाः ) ज्ञान के उपदेश विद्वान्जन अथवा प्राणगण भी ( पूर्व्यं ) पुरातन या पूर्ण या सबसे पूर्व पूजनीय तुमको ही ( गृणन्ते ) स्तुति करते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[२५७] प्र च इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मर्चित ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥ ५ ॥

म० ८।८६।३ ॥

भा०—हे ( मरुत\* ) प्राणो ! वा विद्वानो ! ( वः ) आप लोग ( बृहते इन्द्राय ) बड़े सामर्थ्यवान् आत्मा के लिये ( ब्रह्म अर्चित ) वेद द्वारा स्तुति करो । अथवा उस महात् आत्मा के साक्षात् के लिये अन्न और बल को प्राप्त करो या ( ब्रह्म ) ब्रह्म परमेश्वर की उपासना करो । वह ( शत-क्रतु\* ) सैकड़ों कर्मों और प्रज्ञाओं का स्वामी ( शतपर्वणा वज्रेण ) सैकड़ों पालनकारी, पर्व वाले ज्ञानवत्र द्वारा ( वृत्रहा ) विघ्नों का नाश करने द्वारा ( वृत्रं हनति ) आवरणकारी मेघ को सूर्य के समान और शत्रु को राजा के समान अज्ञान या पाप का नाश करता है ।



३ १ २ २ १ २ ३ १ २

[२५८] बृहद्दिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

येन ज्योतिरजनयन्नुतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥ ६ ॥

श० ८ । ८१ । १ ॥

भा०—( मरतः ) हे प्राणराज ! हे विद्वान् पुरुषो ! ( वृत्रहन्तमम् )  
वृत्र=अज्ञान, पाप का नाश करने में सबसे श्रेष्ठ साम का ( वृहत् इन्द्राय )  
बड़े मारी इन्द्र के लिये ( गायत ) गान करो । ( येन ) जिससे ( ज्योता-  
वृधः ) सत्य ज्ञान को बढ़ाने वाले विद्वान् लोग ( देवाय ) परमेश्वर की  
प्राप्ति के लिये ( देव ) प्रकाशमान ( जागृवि ) सदा जागे रहने वाले, अमर  
( ज्योतिः ) प्रकाश को ( अजनयन् ) प्रकट करते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २

[२५९] इन्द्र प्रतु न आ भर पिता पुत्रभ्यो यथा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

जिज्ञा एत अस्मिन् पुरहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ७

श० ७ । ३२ । २६ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! परमात्मन् ! ( यथा ) जिस प्रकार  
( पिता ) पिता ( पुत्रेभ्यः ) अपने बेटों के लिये धन और विद्या आदि  
देता है उसी प्रकार ( नः ) हमारे लिये ( प्रतुं ) प्रज्ञा को ( आ हर ) प्राप्त  
कराओ । हे ( पुरहूत ) प्रजापति द्वारा शरणा लिये गये राजा के समान  
आत्मन् ! परमेश्वर ! ( यामनि ) हम महामार्ग में ( नः ) हमें ( शिष्य )  
शिष्य दो । हम ( जीवाः ) जीवाण्य ( ज्योतिः ) ज्ञानमय ज्योति को  
( अशीमहि ) प्राप्त करें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६०] मा न इन्द्र परावृणुमथा नः सधमायि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्वे न ऊर्ता त्वमिध्न आप्यं मा न इन्द्र परावृणुक् ॥ ८ ॥

श० ८ । ६० । ७ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( न ) हमें ( मा परावृणक् ) कभी परिवाग मत कर । ( न ) हमारे ( सधमाद्ये ) एक सग घानन्द् प्राप्त करन क स्थान यज्ञ, दद आदि स्थानों में ( भव ) इमार सग रह । ( त्व ) त् ( न ) हमारी ( उनी ) एकमात्र रचा है । और ( त्वम् इन् ) त् ही ( न भाष्यम् ) हमारा एकमात्र प्राप्त करने वाच्य उद्भव, लक्ष्य है । त् ( न ) हमें ( मा परा-वृणक् ) कभी मत त्याग ।

यह इन्द्रियों का आत्मा के प्रति और भ्रूँ का भगवान् के प्रति वचन है । देखो उप० घृह० अ० ६ । प्रा० १ । ' ते प्राणा हीतुर्मा भगव उक्त्वा न शपेयामसवदृते जीवितुमिति' ।

उ र २      उ १ २      उ २ उ २ उ १ २  
[२६] घय घ त्वा सुतायन्त आगो न वृत्तर्हिष ।

उ १ २      उ १ २      उ १ २ उ १ २

पवित्रस्य प्रक्षयणेषु घृत्रहन् परि स्ततार आसते ॥६॥

अ० ८ । ३३ । १ ॥

भा०—(घय) हम प्राणायण या भ्रूजन (सुतायन्त) अपने कर्मफल प्राप्त करके या ज्ञान सम्पादन करके घृत्रवर्हिष) वर्हि अर्थात् जीवनयज्ञ को समाप्त कर या ज्ञान द्वारा देह के बन्धन को काट कर (आप इव) अपने तट बन्धनों को तोड़कर बहने वाले जलों के समान (पवित्रस्य) वेद के पवित्र ज्ञान के (प्रक्षयणेषु) प्रवाहों के तटों पर, हे (घृत्रहन्) अज्ञान के अन्धकारावरणों को छिन्न भिन्न करनेद्वारे दव ! तेरे (स्तोतार) सय गुणों का गान करने द्वारे (आसत) बैठे हैं ।

प्राणों का ज्ञानमय स्तोत्र के रूप में बैठने का अलंकार देखो—

( वृहदा० उप० अ० २ । प्रा० २ । ३ । ) ' तस्थासत ऋषय सप्त तीरे चागु अरुमी अर्क्षणा सविदाना' ।

वच ) जिस प्रकार वेदवचन का आदेश है उसी प्रकार ( गिरा ) वेद की श्रुति द्वारा ( गाथ ) स्तुति करो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [२६६] इन्द्र त्रिधातु शरण त्रिवरुथ स्वस्तये ।  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 छर्दि यच्छ मघवद्भ्यश्च महा च यावया दिगुमेभ्य ॥ ४ ॥  
 न० ६ । ४६ । ९ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन्<sup>१</sup> ( मघवद्भ्य ) यज्ञ करने हारे ऐश्वर्य और विभूतिमान् अथवा निष्पाप कर्मों वाले साधकों और ( महा च ) मेरे लिये ( त्रिधातु ) वात, पित्त, कर्तृ तीन धातुओं से बने, ( त्रिवरुथ ) तीनों दोषों का वारण करने हारे ( शरण ) देह के ( स्वस्तये ) कल्याण के निमित्त ( यच्छ ) प्रदान कर । ( एभ्य ) उक्त कर्मठ पुरुषों की ओर से ( दिगुम् ) वज्रस्वरूप ( छर्दि ) आत्मादिक बन्धन को ( यावया ) हटा ।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ २  
 [२६७] धायन्त इव सूर्ये विश्वेदिन्द्रम्य मक्षत ।  
 १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २  
 वसुनि जाता जनिमान्यांजसा प्रतिभाग न दीधिम ॥५॥  
 नवव० ८ । ९० । ३ ॥

भा०—( सूर्य इव<sup>१</sup> ) सूर्य के समान सब के प्रेरक आत्मा का ( धायन्त ) आश्रय लेते हुए ( विश्वे ) समस्त ( जाता ) उत्पन्न हुए और ( जनिमानि ) आगे उत्पन्न होने हारे ( वसुनि ) प्राणी सब ( इन्द्रस्य इव ) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के ही दिये ऐश्वर्य का ( मक्षत ) भोग करें । इस कारण उसके ही ( अंजसा ) वज्र से हम ( भाग न ) प्राप्त दापभाग के समान उसके ( प्रति दीधिम ) समर्थ ।

[२६८] न सीमदध आप तदिय दीर्घायो मन्थः ।

एतग्वाचिद्य एतशा युयोजत इन्द्रो हरी युयोजते ॥६॥

श्र० ८ । ७० । ७ ॥

भा०—हे ( दीर्घायो ) नित्य आत्मन् ! ( अदेवः ) इष्टदेव से रहित ( मन्थः ) मरणधर्मा मनुष्य ( तत् ) उस परम ( इषम् ) सबके अभिलाषा के योग्य लक्ष्य को ( न आप, नहीं प्राप्त करता । अथवा— ( अदेवः मन्थः इषं न आपतत् ) ईश्वर को छोड़ कर मनुष्य अपने अभिलाषित अन्न के समान भोग्य पदार्थ या इष्टलोक को भी नहीं पहुँचता । अथवा—माघव के मत से—(इषं न आपतत् ) अपने गन्तव्य परम पद या मार्ग को नहीं चल सकता । (एतग्वा<sup>१</sup>) अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अन्न आदि साधनों से युक्त पुरुष जिस प्रकार ( एतशाः ) अपने घोड़ों को (युयोजते)रथ में लगाता है और राह पर ढाल देता है । उसी प्रकार सबको सन्मार्ग पर लेजाने वाला ( इन्द्र. ) महान् ऐश्वर्यशील परमात्मा ही (हरी) उसके घोड़ों को ( युयोजते ) ठीक मार्ग पर ले जाता है ।

‘भगवान् के आश्रय से ही सीधा मार्ग और इष्ट फल मिलता है, नहीं तो आदमी भटक जाता जाता है ।

[२६९] आ नो विश्वास्तु ह्यमिन्द्र समस्तु भूपत ।

उप ब्रह्मायि सवनानि वृत्रहन् परमज्या कृचीयम ॥७॥

श्र० । ९० । १ ॥

२६८—‘हरी इन्द्रो युयोजते’, ‘आपतदिय’ इति ‘य एतशा’ इति श्र० । आप तद् इषम् । इति पाठः सायणवृत्तम्नः आप तद् इषमिनि ( तु० सा० )

‘आप तद् इषम्’ इति मा० वि० ।

१. ईषतिर्गतिकर्मा ( नि० २ । १४ । ) २ प्राप्सगन्तव्याः, इति ( मा० वि० )

२६९—‘इन्द्र इन्द्रः’, ‘भूपतु’, ‘वृत्रहा’, ‘कृचीयम.’ इति श्र० ।

भा०—( विश्वासु ) सब ( समसु ) एकत्र आनन्द उपासों में ( न ) हमारा ( हव्य ) स्तुतिवचन ( इदम् ) उस ईश्वर को ( ध्या भूयत ) सु भूषित करे, उसका गुणगान करे । हे ( वृषवन् ) विघ्ननिवारक ! सब से अधिक शत्रुओं का नाश करन हारे, ह ( अर्घापम ) सब स्तुतियों में समानरूप स विद्यमान ईश्वर ! ( ब्रह्माणि ) वेदस्तवन और वैदिक कर्म ( सवन नि ) यज्ञ यागादि सब उपासना कर्म तुझको ही ( उप भूयत ) शोभा देते हैं ।

१२ १२ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २  
[२७०] तवेन्द्राद्यम वसु त्व पुष्यसि मध्यमम् ।

३ १२ २२ ३ २ १ ३ १ २ ३ १ २

सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि नकिप्सा गोषु वृषवतो ॥८॥  
श्र० ७ । ३२ । १६ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ( अद्यमं ) सबसे नीचे का ( वसु ) बसने योग्य पृथिवी लोक भी ( तव इद् ) तेरा ही है । ( त्व ) तू ( मध्यम वसु ) बीच क लोक, अन्तरिक्ष लोक को भी ( पुष्यसि ) पोषण करता है । और तू आप ( परमस्य ) सब से उकृष्ट ( विश्वस्य ) ससार में ( राजसि ) प्रकाशमान हैं । अथवा—हे आत्मन् ! ( अद्यम वसु ) निकृष्टतम प्राणियों तेरा ही विकास है । ( मध्यम ) मध्यम अर्थी क प्राणियों को भी तू ही पुष्ट करता और ( परमस्य ) उच्च कोटि के प्राणियों में भी तू ही प्रकाशित है । ( त्वा ) आपको ( गोषु ) समस्त गतिशील योनियों, जानकों, और आत्मपशु में—इन्द्रियों में से भी ( नकि ) कौन नहीं ( वृषवते ) बरण करता ? अर्थात् सभी चाहते हैं । अथवा—नकि ) कोई भी तुम्हें ( न वृषवते ) नहीं रोकता । तेरी शक्ति सर्वत्र व्यापक है ।

१२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
[२७१] अययथ क्दसि पुरुषा चिद्धि ते मनः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अलापि युध्म खजहृत्पुरन्दर प्र गाथत्रा अगासिपु ॥६॥

श्र० ८ । १ । ७ ॥

भा०—हे ( पुरन्दर ) हे देहरूप अपने पुरी को अपनी शक्ति से विदारण करने हारे आत्मन् ! ( क इयध ) तू कहां २ गति करता है ? ( क इत् असि ) और तू कहां २ रहता है । ( पुरुत्रा चित् हि ) बहुत से स्थलों पर या इन्द्रियों के भीतर चित्स्वरूप में ( तं ) तेरी ( मनः ) मननशील स्वरूप शक्ति ( अर्लापि ) गति करती है । हे ( युष्म ! ) हे विषयवापना या रागद्वेषादि से युद्ध करनेहारे ! हे ( खनकृत् ) ख=इन्द्रियों के द्वारों में उत्पन्न विषयग्राहक सामर्थ्यों के विधातः ! ( गायत्राः ) स्तुति करनेहारे विद्वान् जन और प्राणगण ( प्र अगासिपुः ) तेरी ही महिमा गाते हैं ।

३१२ ३१४ २२ ३२ ३१ २

[२७२] वयमेनमिदाह्योऽपीपेमह वज्रिणम् ।

१ २ ३१४ २२ ३२ ३२ ३१ २ ३२

तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूयत श्रुत ॥१०॥

ऋ० ८। ६६। ७ ॥

भा०—( वयं ) हम ( एनम् इद् ) इस ( वज्रिणम् ) ज्ञानरूप वज्र को धारण करनेहारे आत्मा को ही ( ह्यः ) गत काल में ( इह ) इस देह में ( आ अपीपेम ) सूख जानरस पान कराते रहे । ( अद्य ) आज ( श्रुते सवने ) इस वेदानुकूल यज्ञ उपासना में ( तस्मा उ ) उस ही इन्द्र के लिये ( सुतं ) ज्ञानरस या ज्ञानन्दरस को लाओ, और ( नूनं ) निश्चय से ( भूयत ) उसकी शोभा बढ़ाओ ।

गत जीवन में भी ज्ञान सम्पादन किया, इस जीवन में भी करो और ज्ञान से उसकी शोभा करो । विद्यातपोभ्या भूतात्मा । मनु ।

इति अष्टमी दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।

॥ ६० १ ॥ ऋषिः—१, ६ पुरुहन्मा । २ भर्गः ३ इरिमितिः । ४ अमरगिनः ।

५, ७ देवातिथिः । ८ वसिष्ठः । ९ भरद्वाजः । १० बालकिल्याः ।

देवता—१-३, ५-८ १० इन्द्रः । ९ इन्द्राग्नी । ४ सूर्यः ॥

वृहती ॥ मध्यमः ॥

५२ २१ ३२४ ३१२ ३१२  
[२७३] या राजा चर्षणीना याता रथेभिरधिगु ।

१ २ ३१२ २१ ३ २३ १ २३२ ३२  
विश्वासा तरुता पृतनाना ज्येष्ठ या वृत्रहा गृण ॥१॥

श्र० ८।७०।१॥

भा०—( य ) जो ( चर्षणीनां ) दृष्ट इन्द्रियों या मनुष्यों का ( राजा ) शासक, प्रकाशक या उनके बीच में स्वतः प्रकाशमान है और जो ( रथेभि ) रमण करने, भोग करने क साधन देहों या प्राणैन्द्रियों से ( याता ) विषयों तक गमन करन द्वारा, ( अधिगु ) इन्द्रियों पर घरा करने द्वारा अधिष्ठाता है और ( य ) जो ( वृत्रहा ) सब अज्ञानों का नाशक, ( विश्वासा ) समस्त ( पृतनानां ) सेनाओं क समान वासनाओं तथा मनुष्यों का ( तरुता ) विनाशक या पार करनेहारा है उस ( ज्येष्ठम् ) सब स श्रेष्ठ आत्मा की मैं ( गृणे ) स्तुति करता हू ।

राजा और ईश्वर पद में स्पष्ट है ।

'अधिगु'—'अधिकृतशब्दस्य अधिभाव इति दे० व० । पृतना इति मनुष्यनाम । नि० २ । ४ ॥ सप्रामनाम च । नि० २ । १७ ॥

१ २ ३ १२ ३ १२ ३ १२  
[२७४] यत्र इन्द्र भयामहे ततो नो अभय कृषि ।

१ २ ३ २४ ३ १२ ३२३ २४ ३ १२ २२  
मघवञ्छाम्भ तव तन्न ऊतय वि द्विषा । ज मृधा जहि ॥२॥

श्र० ८।६१, १३ ॥

भा०—दे इन्द्र ! ( यत्र ) जिससे हम ( भयामहे ) भय करत हैं ( न ) हमें ( ततो ) उससे ( अभय ) भयरहित ( कृषि ) कर । इ मघवन् ! ( तव तत् ) तेरा वह बल है कि ( न , ऊतये ) हमारी रक्षा क क्षिय ( शक्ति ) तु समर्थ है, इस कारण ( द्विष ) नाना दूष करन द्वार

( मृधः ) नांता ऋगङ्गे हारे, संग्रामकारी शत्रुओं को ( वि, जडि ) वि-  
विध उपायों से नाश कर ।

१ २ ३ १४ १४ ३ १ २  
[२७५] वास्तोष्पते ध्रुवा र्यूणांस्रं सोम्यानाम् ।

३ २ ३ २ ३ १४ २४ ३ २ ७ १ २ ३ १ २

द्रप्सः पुरा भेत्ता शश्वतीनामिन्द्रो मुनीना सखा ॥ ३ ॥

अ० ८ । २०१ । ११ ॥

भा०—हे ( वास्तोष्पते ) सप्त बसने योग्य गृहों और देहों के स्व-  
मिन् ! आप ( द्रप्स ) परमैश्वर्यवान्, ( ध्रुवा र्यूणा ) अचल आधार  
स्तम्भ हो । और ( सोम्याना अस्रम् ) सोमपान करने वाली इन्द्रियों  
और सोमपायी विद्वानों के रक्षणदेश पर लगे कवच क समान मर्म की  
रक्षा करनेहारे हो । आप ( द्रप्स ) हृदय में द्रुत या सुत रस का पान करने  
हारे या स्वतः रसरूप और ( पुरा ) शत्रुओं के नगरों, गढ़ों और योगिजनों  
के देहों के ( भेत्ता ) अपने ज्ञान, यज्ञ से भेदन करने हारे हो और  
( मुनीना ) मननशील ध्यानियों के एकमात्र ( सखा ) सखा, मित्र हो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२७६] यममहा असि सूर्य बडादिग्य महौ असि ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

महस्त सतो माहना पानष्टम मद्वा देव महौ असि ॥ ४ ॥

अ० ८ । १०१ । ११ ॥

भा०—हे ( सूर्य ) सबके उत्पादक और प्रेरक ! ( बट्ट महान् अस्मि )  
तुम सचमुच बड़े हो । हे ( आदित्य ) सचको अपने भीतर समा लेनेहारे  
देव ! ( बट्ट महान् अस्मि ) तुम सचमुच बड़े हो । ( सतः ते ) सत् स्वरूप,  
सर्वत्र स्थापक तुम्हारी ( महः महिमा ) बहुत भारी महिमा है । हे ( पनि-  
स्तम ) स्तुति करने योग्यों में सबसे श्रेष्ठ देव ! ( मद्वा ) अपने महाव से  
ही आप ( महान् अस्मि ) बड़े हो ।



[२७७] अग्नी रथी सुरूप इद् गोमान् यदिन्द्र ते सखा ।

श्वान्नभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रैर्योति सभामुप ॥५॥

श्व० ८ । ४ । ६ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! ( यदा ) जब ( ते सखा ) तेरा मित्र ( अग्नी ) बलवान् प्राण्य, इन्द्रिय सम्पन्न ( रथी ) उत्तम देहरूप रथ से युक्त ( सुरूप ) उत्तम रुचि या कान्तिमान् रूप स युक्त और ( गोमान् इद् ) उत्तम ज्ञान इन्द्रियों और उत्तम वाणी से युक्त हो जाता है तब वह ( सदा ) नित्य ही ( श्वान्नभाजा ) धन धान्य से युक्त ( वयसा ) अपना आयु स और ( चन्द्रै ) आह्लादकारी या चिरकाल तक आनन्दकारी सज्जनों क साथ ( सभाम् ) तरे समान कान्ति या सत्सग को ( उपयाति ) प्राप्त होता है ।

जितेन्द्रिय ज्ञानी उत्तम प्रवृत्ति से युक्त पुरुष ही सत्सग से युक्त हो जाता है । राजा और ईश्वर पद में स्पष्ट है ।

[२७८] यदुद्याय इष्टं ते शत शत भूमिदत्त स्यु ।

न त्वा यजिन्त्सहस्र सूर्या अनु न जातमष्टरादसी ॥ ६ ॥

श्व० ८ । ७० । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ( यदा यद्य शत ) यदि दौलोक भी सैकड़ों ( उत भूमि शत ) और भूमिया भी सैकड़ों ( स्यु ) हों व और हे ( यजिन् ) सर्व जजिम्न ! ( सहस्र सूर्या ) हजारों सूर्य और ( रादसी ) यह सब महापदमी ( वि अनु जातम् ) तेरे पीछे पैदा हुआ ( त्वा न अष्ट ) तुम्हें पूरी तरह स व्याप नहीं सकता ।

ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लो कभ्य ' इति बृहदा० उप० । 'एकांशान स्थित जगत्' । गी० ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ( गी० ११।१२।)

[१७६] यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्धा ह्यसे नृभिः ।

सिमा पुरु नृपूतो अस्थानवसि प्रशब्दं तुवंशे ॥७॥

ऋ० ८। ४। ११ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! ( यद् ) क्योंकि ( प्राग् ) प्राची दिशा में, पूर्व में ( अपाग् ) पश्चिम में, ( उदङ् ) ऊपर में ( न्यग्धा ) या नीचे सर्वत्र ( नृभिः ) मनुष्यों द्वारा ( ह्यसे ) तेरी स्तुति की जाती है वही पुकारा जाता है । ( सिम्-आ ) सर्वत्र ( पुरु ) देहधारियों में ( अानवे ) प्राणधारियों में ( तुवंशे ) इन्द्रियों के घर करने हारे योगियों या इन्द्रियों के अधीन मनुष्यों में भी वृ ( नृसूत. ) नेता, उत्तम पुरुषों द्वारा अभिषिक्त नृपति के समान पूजित ( असि ) है ।

[२८०] कस्तमिन्द्र त्वावसवामर्त्या दधर्षति ।

श्रद्धा हि तं मघवान् पार्ये दिवि वाजी वाज सिषासति ८

ऋ० ७। ३२। १४ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवन् ! हे ( वसो ) सबको बसाने और सब में बसाने हारे ! ( तं त्वा ) उस स्मरण करने योग्य तुम्हको ( क. मर्त्या ) कौन पुरुष ( आ दधर्षति ) अपमानित कर सकता है । ( वाजी ) ज्ञानी पुरुष ( श्रद्धा ) सत्य धारण करने हारा, ( मघवान् ) यज्ञ कर्मादि और ऐश्वर्यों से सम्पन्न होकर ( पार्ये दिवि ) पार करने योग्य प्रकाश में, या ससार को पार करने हारे ज्ञानप्रकाश में रहता हुआ तेरे प्रति ( वाज ) अपने ज्ञानमय भेंट को ( सिषासति ) तेरे अर्पण कर देता है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
[२८१] इन्द्रान्नो अपादिय पूर्यागात्पद्वतीभ्य ।

३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

द्वित्वा शिरा जिह्वया रारपचरत्त्रिशत्पदान्यक्रमीत् ॥ ६ ॥

श्र० ६ । २६ । ६ ॥

भा०—(इन्द्रान्नो) इन्द्र वायु और प्राण और अग्नि सूर्य और आत्मा के बलपर (इय) यह उपा या चित्-शक्ति (अपात्) बिना पैरों के भी (पद्वतीभ्य) चरणवाली प्रजाओं से (पूर्या) पूर्व ही (आगात्) आजाती है। (द्वित्वा शिर) अपने शिर को त्याग कर (जिह्वया) अपनी व्यापन शक्ति प्रहणशक्ति से (रारपत्) शब्द करती हुई (चरत्) गति करती हुई (त्रिशत् पदानि) तीस पद (अक्रमीत्) गति करती है।

यजुर्वेद में इसका उपा दवता है। सायण ने उपा पद में ३० पद ३० मुहूर्त कहे हैं। चितिशक्ति के पद में ८ यजु ११ रुद्र और १२ आदित्य ये सब शरीर में ही हैं। उन पर बरा करती है। यद्यपि य ३१ हैं तो भी पृक्कादश रुद्रों में दश प्राण ११ वां स्वय आत्मा है। अतः वह ३० प्राण ही गिने जायेंगे। आत्मा स्वतः चितिशक्ति से भिन्न नहीं। इन्द्र अग्नि उपा और ३० चरण सब मिलाकर ३३ देवता हुए।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[२८२] इन्द्र नदीय पदिहि मितमेधाभिरूतभि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
आ शन्तम शन्तमाभिरभिर्णिभरा स्वापे स्वापिभः ॥१०॥

श्र० ८ । ५३ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्<sup>१</sup> (मितमेधाभि) ज्ञानयुक्त धारणावती बुद्धियों वाली (ऊतिभि) अन्नो रक्षण शक्तियों के साथ तु (आ पदि इत्) इमें प्राप्त हो। हे (शन्तस) सुखकारक<sup>१</sup> (शन्तमाभि) अत्यन्त शान्तिदायक (अभि णिभि) हमारी सुख कामनाओं सहित और हे (स्वापे<sup>१</sup>) सुख का प्राप्त करने

२८१—'द्वि-वीशिरा जिह्वा नावदत्' इति श्र० ।

हारे हे सुखन्धो ! (स्वापिभिः) सुखदायक शक्तिषो द्वारा तू (आ) हमें प्राप्त हो ।

इति नवमी दशति । पञ्चमः खण्डः ।



॥ २० १० ॥ अवि—१ नृमेधः । २, ३ वसिष्ठः । ४ भरद्वाज । ५ परच्छेषः ।  
६ वामदेवः । ७ मेधातिथिः । ८ भर्गः [ ९, १० मेधातिथिमेध्यातिथि ॥  
देवता १-४, ७-१० इन्द्रः । ५ वरुणः ॥ वृद्धती ॥ मध्यमः ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[२८३] इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमण्डितम् ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आशुं जेतारं होतारं रधीतममतूर्तं तुप्रियावृधम् ॥१॥

अ० ८। १३। ७ ॥

भा०—( वः ) आप लोग ( ऊती ) अपनी रक्षा के निमित्त ( अजरं ) कभी जीर्ण न होने वाले ( प्रहेतारं ) इन्द्रियों या विद्वानों को उत्तम रीति से प्रेरणा करने वाले, ( अण्डितम् ) स्वयं किसी से प्रेरित न होने वाले, स्वतन्त्र, ( आशुम् ) सर्वव्यापक, अति शीघ्रगामी, ( जेतारं ) सबके विजेता, उत्कृष्ट, ( होतारम् ) ज्ञान और भोग के दाता ( रधीतमम् ) सब देहधारियों में सब से श्रेष्ठ, ( अतूर्तम् ) किसी से भी न मारे जाने वाले, अमर, ( तुप्रियावृधम् ) तमोनिवारक, ज्ञान के वर्धक, आत्मा की शरण में ( इत ) आओ । आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में समान है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२८४] मां पु स्वा घाघतश्च नारि अस्मन्निरोरमन् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आरात्ताद्वा सधमादन्न आगद्दीह वा सस्रुपं धुधि ॥ २ ॥

अ० ७। ३२। १ ॥

२८३—'तुप्रियावृधम्' इति अ० ।

२८४—'आरात्तादित्' इति अ० ।

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( त्वा ) तेरे किये ( यावतः ) गान करते हुए, ज्ञानवान् मेधावी पुरुषों, या इन्द्रियगण को ( धीरे ) समोप से ( नाश् उ सु निरीरमन् धन ) यथा तू स्वय नहीं रमाता है ? रमाता ही है । इसलिये हे इन्द्र ! ( आरात्-तात् ) दूर से ( या ) भी ( नः सधमाद् ) हमारे एकत्र रमण करने के स्थान, आत्मा, हृदय या कीर्वा भूमि, शरीर में ( आरादि ) व्याप्त हो । ( इह वा सन् ) धीरे वहा ही रहकर ( उप श्रुधि ) हमारे वचन सुन ।

३ १ २    ३ २ ३ २ ३ १ २    ३ १ २

[२८५] सुनोत सामपाज्ज सोममिन्द्राय वाचये ।

१ २    ३ १ २ २    ३ २ ३    ३ १ २    २ ३ १ २    ३ २

पचता पक्षीरघसे कृणुध्वमित्पृणुधित्पृणुधेन मयः ॥३॥

श० ७ । ३२ । ८ ॥

भा०—हे विहानो ! हे इन्द्रियगण ! ( सोमपाजे ) सोम का पान करने हारे ( वधिर्ये ) वज्र, तमोनाशक या धैर्यायसाधक साधनों से सम्पन्न ( इन्द्राय ) आत्मा के किये ( सोमं ) सोम, आनन्दरस को ( सुनोत ) उरग्न करो । उसके ( पत्री ) पक्वान, पक्वज्ञान परिपुष्ट अनुभव ( पचत ) पकाओ तैयार करो, प्राप्त करो । ( अघसे ) अघनी रघा के किये कृणुध्वम् ) बलन करो । यह ( पृणु इत् ) सब को पालन करता हुआ ही ( मय पृणत ) सुग्न कल्याण करता है ।

१ २ ३ १ २    १ २    ३ २ ३ १ २    ३ २

[२८६] य सत्रादा विचर्यणिरिन्द्रं तं इमहे ययम् ।

१ २

३ १ २ ३ १ २    ३ २

सद्व्यमन्यो तुविनुग्ण सपते मया समन्तु नो वृथेऽथा

श० ६ । ४६ । ३ ४

भा०—( यः ) जो आत्मा ( सत्रादा ) मय शत्रुओं का नशक और ( विचर्यणः ) सब का दश है । ( त इन्द्रं ) उम ऐश्वर्यवान् को ( मय

हृमदे) इम पुकारते, स्मरण करत हैं । हे ( सदस्यमन्यो ) सहस्रों मनुष्यों, ज्ञानों से युक्त ! हे ( तुविगुम्भ ) बहुधन ! हे ( सत्पत ) सज्जनों के प्रतिपालक ! ( समत्सु ) हमारे ध्यानन्द उत्सवों क अवसरों पर ( न वृध ) हमारी उन्नति क लिय ( भव ) हो ।

देसा केनोपनिषद् में दयों की विजय कथा ।

१ २

३ २ ३ २ २

[२८७] शचीभिर्न शचीषु दिवा नक्त दिशस्यतम् ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २

मा वा रातिरुपदसत्कदाचनास्मद्राति कदाचन ॥५॥

अ० ३ । २३९ । ५ ॥

भा०—हे ( शचीषु ) शक्ति स्वरूप धन से सम्पन्न ! अपन बलपर सब को वास या जीवन को देने हारे प्राण और अणन स्वरूप अशिवयो ! या हे प्रजा और कर्म के धनी स्त्री पुरुषा, ( शचीभि ) अपनी शक्तियों से ( दिवानक्त ) रात दिन ( न दिशस्यतम् ) इमें सम्पन्न करो । ( वा राति ) आप लोगों की दानशीलता या आहुति ( मा कदा चन उपदसत् ) कभी नष्ट न हो, न रुके और ( अस्मद राति ) और हमारी ही आहुति या दान भी ( कदाचन मा उपदसत् ) कभी नष्ट न हो ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२८८] यदा कदा च भीदुष स्तोता जरेत मर्त्य ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २

आदिद्वन्द्वेत चरुणं त्रपा गिरा वर्त्तार विव्रतानाम् ॥६॥

भा०—( भीदुषे ) सकल सक्षार पर सुखा बलों, और ज्ञानों क वपक हृषर के लिय ( मर्त्य ) मनुष्य । स्तोता ) स्तुतिकर्ता ( यदा कदा च ) जब कभी ( जरेत ) रनुति कर ( आत् इत् ) तब ही ( विव्रतानाम् वर्त्तार ) न ना प्रकार के कर्मों के धारण करने हारे विरुद्धाचारियों को राकन बले

( वरुण ) पाप निवारक सर्व श्रेष्ठ इधर को ( विद्या गिरा ) विशेष रूप से पाठन करने वाली वेदब्रह्मा से ही ( धन्वेत ) स्तुति करे ।

३ १ २ २ १ ३ २ ३ १ २

[२८६] पाहि गा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

य सम्मिश्रतो ह्योयो हिरण्यय इन्द्रो वज्री हिरण्यय ॥७

श० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे ( मेध्यातिथे ! ) मेधा, बुद्धि से सम्बन्धित, पवित्र अतिथे ! बिना किसी निर्दिष्ट काल के हृदय में विराजमान होने वाले अतिथि के समान पूज्य ! या नित्य स्वापक परमात्मन् ! ( अन्धस मद ) प्राण धारण करनेवाले पदार्थ के उद्योग या आनन्द लाभ के निमित्त ( इन्द्राय ) इस आत्मा के ( गा ) इन्द्रियों की ( पाहि ) रक्षा कर । ( य ) जो ( इन्द्रः ) आत्मा ( हया सम्मिश्र ) दोनों प्रकार के वाद्य और भीतरी इन्द्रियों से सन्निकर्ष को प्राप्त होकर ( हिरण्यय ) हित और सुखजनक ज्ञान लाभ करने वाला है वही ( इन्द्रः वज्री ) सब अज्ञानों का ध्वंस करनेवाला आत्मा ( हिरण्यय ) प्रकाशस्वरूप उद्योतिर्भूत ज्ञान का प्राप्त करनेवाला है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६०] उभयं शृणुष्व न इन्द्रो अर्वागिद वच ।

३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सत्राच्यो मजयान्तसोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ॥८॥

श० ८ । ६१ । १ ॥

भा०—( इन्द्र ) आत्मा ( न ) हमारे ( अर्वाग् ) आम्पन्तर मानस और ( इदं च ) इस प्राणच, उच्चारण किये हुए, ( उभय ) दोनों प्रकार के ( वच ) वचनों को ( शृणुष्व ) सुनने द्वारा ( मजयान् ) नामा पेशवों से सम्पन्न, ( शविष्ठ ) बलवान् आत्मा ( सोमपीतये ) परमेश्वर के दिये परमसुख

२८९—'पाहिगान्धसो' इति, 'ह्योयो' इति, 'इन्द्रो वज्री रथो हिरण्यय' इति न श० ।

रूप सोमरस पान करने के लिये ( सत्राच्या धिया ) सत्यानुकूल बुद्धि से सम्पन्न होकर ( आगामत् ) हमें प्राप्त हो ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६१] मह च न त्वाद्वियः परा शुल्काय दीयसे ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २

न सहस्राय नायुतायैषज्जियो न शताय शतामघ ॥६॥

श्र० ८। १। ५॥

भा०—( अद्वियः ) हे अन्धकार का हरण करने द्वारे ज्ञानघन ! ( षज्जियोः ! ) हे वज्र को धारण करनेद्वारे आत्मन् ! ( महे च न शुल्काय ) बड़े भारी मूल्य के बदले भी ( न परा दीयसे ) तुम्हको नहीं दिया जा सकता, तुम्हे त्याग नहीं किया जा सकता । हे सैकड़ों ज्ञानकर्मों से सम्पन्न ! ( न शताय ) न सौ के बदले और ( न सहस्राय ) न हजार के बदले, और ( न आयुताय ) न लाख के बदले ही तुम्हे दिया जा सकता है ।

१ २ ३ १ ३ २ ४ १ ३ २

[२६२] वस्यो इन्द्रासि मे पितुकृत भ्रातुरभुञ्जतः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

माता च मे छुद्रपथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥१०॥

श्र० ८। १। ६॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( अभुञ्जत ) प्राप्त घन का भोग न करने वाले या मेरा पालन न करने द्वारे ( मे पितुः ) मेरे पिता से और ( भ्रातुः ) भाई से भी आप ( वस्यन् आसि ) अधिक श्रेष्ठ, अधिक पेशर्षवान् हो । हे ( वसो ) वसो ! भीतर बसेन द्वारे ! तू और ( माता च ) मेरी माता अथवा सब विश्व को निर्माता तुम दोनों ( समा ) समान रूप से ( मे ) मुझको ( वसुत्वनाय ) पेशर्ष्य खाम करने और ( राधसे ) कार्य में सिद्धि प्राप्त कराने के लिये ( छुद्रपथः ) मेरा भोजन आपछादन द्वारा पालन करते हो ।

इति दशमी दशतिः । ११ः खण्डः ।

इति द्वितीयेऽर्धेः प्रथमकं, तृतीयं, प्रथमकथ समाप्तः ॥



अथ चतुर्थं प्रपाठक ( प्रथमोऽर्चः ) ।

॥ द० १ ॥ आ०—१ ५मिष्ट । २, ६, ७ वामपद । मथानिधिमेष्यात्थि  
निभानिध्न इत्यक । ४ नोथ । ५ मथानिधि । ८ श्रुष्टिषु नाथो ।  
बालस्त्रित्वा वा । ६ मथ्यात्थि । ११ नृमेव ॥ देवता—१-६,  
८-१० इन्द्र । ७ बहु ॥ बृहती ॥ मध्यम ॥

३ २ २२      ३ १ २ ३ १ २

[२६३] इम इन्द्राय सुन्विर सोमासो दध्याशिर ।

१२      २२      ३ २ ३ १ २      ३ २ ३ २

तो आमदाय वज्रहस्त पीनय हरिभ्या याह्योक आ ॥१॥

श्र० ७ । ३२ । ४ ॥

भा०—( इमे ) ये ( दध्याशिर ) दधि से मिश्रित वा ध्यान योग से  
प्राप्त ( सोमास ) सोम, ज्ञान ( इन्द्राय ) आत्मा क बिधे ( सुन्विरे )  
सम्पादित किये हैं, हे ( वज्रहस्त ) हाथ में ज्ञान रूप वज्र को धारण किये  
हुए आत्मन् ! ( मदाय ) अपने अन्त प्रसन्नता रूप के लिये ( तान् वा  
पीतये ) उनको साक्षात् पान करने के लिये ( हरिभ्या ) ज्ञान और कर्म  
वा दोनों प्रकार के इन्द्रियों से ( शोक ) इम देह में ( आ याहि )  
तू आ ।

३ १ २    ३ १ २ ३      १ २      ३      १ २

[२६४] इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चित्रि उन्विथन ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २    ३ १ २    ३ १ २

मथो पपान उप नो गिर शृणु रास्य स्तोत्राय गिर्वण ॥२॥

भा०—ते आमन् ! ( ते मदाय ) तेरे रूप के लिये ( इमे ) ये  
( उन्विथन सोमा ) ब्रह्मज्ञान सम्पन्न सामवेदान् जन वा समस्त प्रज्ञानभू  
रत्न ( विविधे ) प्रतीत होते हैं । तू ( मथो पपान ) मद्यविषा रूप मधु का  
पान कर । ( न गिर ) हमारी वेदवाणियों ( उप शृणु ) श्रवण कर । हे  
( गिर्वण ) वेदवाणियों द्वारा मज्जन करने योग्य देव ! तू ( स्तोत्राय )  
गुणकीर्तन करने हारे पुरुष को ( रास्य ) अर्भाष्ट फल दे ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६५] आ त्वाश्व सवर्षुषाम् हुवे गायत्रवेपसम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्रं धेनु सुदुशामन्यामिपमुखधारामरङ्कृतम् ॥ ३ ॥

शु० ८।१।१० ॥

भा०—मै ( सवर्षुषाम् ) सब प्रकार के ज्ञान रस को दुग्धरूप से देने हारी, ( गायत्रवेपसम् ) स्तुति गान करने हारे की रक्षा करने हारे शरीर वाली, ( सुदुशाम् ) सुगमता से दुही जाने योग्य ( इपम् ) अन्नस्वरूप अथवा बलस्वरूप ( वरुधाराम् ) बड़ भारी मज्जापद को धारण करनेहारी या बहुत धारापू वर्षान वाली ( अरकृत ) अत्यन्त अधिक पर्याप्त धन धान्य पैदा करनेहारी या सुभूषित ( इन्द्र ) परमेश्वर या आत्मारूप (त्वा) तुम्ह ( धेनु ) गाय कामधनु माता की ( हुवे ) मैं स्तुति करता हू ।

१ २०३१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३

[२६६] न त्वा वृहन्तो अद्रयो वरन्ते इन्द्र वीडय ।

१२ २२ ३ १२ १२३ २ ३ २ ३ १२ २२

यच्छिक्षसि स्तुवते भावते वसु न किष्टदा मिनाति ते ॥४॥

शु० ८।८८।३ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ' जिस प्रकार बिजुली को ( वृहन्त-अद्रय न वरन्ते) बड़े २ मेघ और पर्वत धरण करते हैं उसी प्रकार ( त्वा) तुम्हको ( वीडय ) वीर्य सम्पदा ( वृहन्त ) बड़े २ ( अद्रय ' ) विद्वान् लोग ( न वरन्ते ) क्या स्वीकार नहीं करते ? करते ही हैं । अथवा वे ( न त्वा वरन्ते ) तेरा धारण नहीं करते, विरोध नहीं करते, तेरा निषेध नहीं करते, तेरी सत्ता स्वीकार करते हैं । ( वत् ) क्योंकि ( भावते स्तुवते ) मेरे

१. भङ्गार्थस्य अक्षर्विद्वरणायन्य दृणानेषां रिन् प्रथय । अक्षि समः

इत्यदिहानी । न दीपने मोहादिना वा शब्दः सवमी ।

२९६—'वदि सति' इति श्रु० ।

समान स्तुति करनेहारे पुरुष को तू ( यत् वसु शिञ्जसि ) जो चासयोग्य धन, बल प्रदान करता है ( ते तद् ) मेरे दिये उस धन को ( न किं आ मिनाति ) कोई भी नारा नहीं कर सकता । विद्युत् पक्ष में बड़े २ ( अक्षय ) मेघ या पर्वत भी उसको ढांप नहीं सकते ।

[२६७] क ई वेद सुते सखा विबन्तं कद्रया दधे ।

<sup>१ ३ ३ ३ २ १ २ ३ १ २ २ २</sup>  
<sup>३ १ २ १ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २</sup>

अथ य पुरो वि भिनत्त्योजसा मन्दान शिप्रघन्धस ॥५॥

अ० ८ । १३ । ७ ॥

भा०—( सुते ) जीवनपत्र में ( सखा ) इन्द्रियगण के एक साथ ( विबन्त ) सोम का पान करते हुए आत्मा को ( क ई वेद ) कौन जाने ? और कौन जाने कि ( कद् दयो दधे ) वह कितनी आसु धारण करता है । ( य ) जो आत्मा ( शिप्री ) वेगवान्, अपनी कर्मगति से एक देह से देहा न्तर में गमन करने द्वारा, ( घन्धस मन्दान ) अन्न द्वारा इषं को प्राप्त होता हुआ ( ओजसा ) अपने तेज से ( पुर ) अपने भोग भूमियों, देहों को ( वि भिनत्ति ) तोड़ टाँधता है और मुझ हो जाता है ।

देह में आत्मा इन्द्रियों के साथ रस भोगता है, परन्तु उसकी उम्र को कोई नहीं जानता । वह अपने कर्मगति से देहों में भ्रमण करता और अन्नरस को भोगता और ज्ञान से देहमुक्त हो जाता है ।

[२६८] यादन्द्र शामो अत्रतं व्यावया सदसस्परि ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup>

अस्माकमशु मघधन्पुरुस्पृह वसत्रये अभिबर्हये ॥ ६ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) राजन् ! आत्मन् ! ( यत् ) क्योंकि ( सदस परि ) हमारे देह, घर या सभा स्थान के पास रहने वाले ( अत्रतम् ) ब्रह्म वा नियम का पावन न करने हारे पुरुष का तू ( शाम ) शासन कर और ( व्यावय ) अधिकार से श्रुत करदे । हे मघवन् ! ( पुरुस्पृहम् ) इन्द्रियों या प्रजा के अभि

साक्षात् के योग्य, उनके प्रिय, (अस्माक) हमारे (अशु) भाग को (वसन्धे) इस बात योग्य देह या देश में (अधि वहेय) और अधिक बढ़ा दे।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६६] त्वष्टा नो दैव्यं वचं पजंभ्यो ब्रह्मणस्पति ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

पृथैर्भातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टर आमण वचं ॥ ७ ॥

भा०—( त्वष्टा ) समस्त संसार को गढ़ने वाला या कान्तिसम्पन्न ( पजंभ्यः ) प्रजा जनों का बरसते मेघ के समान आपन्नत दित करने द्वारा, ( ब्रह्मणस्पति ) वेद और वेदों का स्वामी, ( अदितिः ) किसी से भी अविदित न होने द्वारा, अखण्ड, परमेश्वर ( न दैव्य वचं ) हमारे देव सम्बन्धी वेदवाक्यों की ( पातु ) रक्षा करे। वही हमारे ( पृथैर्भातृभिः सह ) पुत्रों और मातृओं के साथ ( दुष्टर ) दुस्तर ( आमणं ) रक्षा करने योग्य ( वचं ) प्रतिज्ञा वचन की ( पातु ) रक्षण करे।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३००] कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सञ्चसि दाशुपे ।

३ १ २ २ ३ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

उपोपन्नु मघवन् भूय इष्टु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥८॥

अ० ८।२२।७ ॥

भा०—हे आमन् ! आप ( कदाचन ) कभी भी ( स्तरी न ससि ) हिंसक नहीं हैं। अथवा—आप ( स्तरी ) मृतवासा गौ के समान दूध न देने हारे नहीं हैं। प्रद्युत, ( दाशुपे सञ्चसि ) दानशील पुरुष को और भी देते हो। हे मघवन् ! ( ते देवस्य ) तुम्हें देव का (दान) दान ( उपोपन्नु इष्टु ) बराबर समीप ही समीप ( पृच्यते इष्टु ) प्राप्त होता ही रहता है।

[३०१] युद्धं दशा हि धृगहन्तम हरी इन्द्र परावतः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

अयोचीनो मघवन्सोमपीतये उग्र श्रुण्वेभिरागहि ॥९॥

अ० ८।३।२७ ॥

भा०—हे ( वृत्रहन्तम् ) उत्तम रीति स विघ्नो का नाश करनहार (इन्द्र) परमशर । आत्मन् । तू (हरी) दानों प्रकार क धारण और आकषण बलों और दानों प्रकार क इन्द्रियगण का (युध्व) नियुक्त कर । इ (मघवन्) पृथर्ववन् । (परावत) दूर दश या इन्द्रियों स आगत्य दश स भा तू (उग्र) अश्वत्त वगवान हाकर (सामपीतय) आन दरूप सामपान करन क निमित्त (अश्वभि) दशन करनहार इन्द्रियसाधनों या मरुत् नामक प्राणों सहित (अर्वाचीन) साक्षात् रूप में (आगाहि) प्राप्त हा ।

[३०२] त्तामदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णय ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३

स इन्द्र स्तामवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमागति ॥ १० ॥

अ० ८ । ०९ । १ ॥

भा०—हे ( वज्रिन् ) वज्र को धारण करन वाल शत्रुनिन । ( भूर्णय नर ) भरण पापण करनहार नता लाग ( ह्य ) पूर्वकाल में ( त्वाम् इत् ) तुमका हा ( आ अपीप्यन् ) पुष्ट करत थ । इ ( इन्द्र ) आत्मन् । ( स्तामवाहस ) स्तुतिकर्ता या अश्व का धारण करन हार पुरुषों की स्तु तियों का ( इह ) यहा ( स ) वह तू ( श्रुधि ) श्रवण कर थार ( स्वसर ) स्वय कमानुसार अथात् आमा क बल स चलन वाल स्वय गति करन हार दहरूप गृह में ( आगाह ) आ विराजमान हो ।

इति प्रथमा दशति । नमः सगुड ।



॥० २॥ अथि — १ २ ३, ८ वसिष्ठ । ३ अश्विनौ वैश्वन्तौ । ४ पस्वस्व ।

५ मघ त्रियिमथ्यात्पि । ६ देवात्पि । ७ नमः । १० नाथा । देवता—४

—१० इन्द्र । १ उवा । २, ३ अद्रिपनौ ॥ वृहती ॥ धैवत ॥

३०२—'स्तामवाहसामिह इति अ० ।

[३०३] प्रत्यु अद्दश्यायस्य उच्छ्रन्ती दुहिता दिव ।

अपो मही वृणुते चक्षुषा तमा ज्योतिष्मतीति ध्वरी ॥१॥

श० ७ । ८ । १ । १ ॥

भा०—(दिव दुहिता) सूर्य की प्रभा के समान प्रकाशमान परमात्मा से उत्पन्न हुई शक्ति ( उच्छ्रन्ती ) अन्धकार का दूर हटाता हुई ( प्रति उ अदर्शि ) सबका दिखाई दे रही है । वह ( मही ) महान् विस्तारगुण होकर ( तम ) अन्धकार को उपा काल के समान ( अप वृणुते ) दूर हटाती है । और वह ( ध्वरी ) उत्तम नशी पथदर्शिका ( ज्योति कृषोति ) सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश कर देता है । यह मन्त्र मन्त्रमय वेदवाण्य और प्रबुद्ध चित्ति शक्ति और उपा तीनों पर समान रूप से है । साधक का यह दशा ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञा का उदयकाल कहा जाता है । यह आदि त्रयोपुरुष के दर्शन का पूर्वकाल है ।

[३०४] इमा उ वा दि। जप्य उन्ना ह्यन्त अश्विना ।

अथ वामह्रस्वसे शुचीवस् विश्विश हि गच्छथ ॥२॥

श० ७ । ७४ । १ ॥

भा०—हे ( अश्विनौ ) अश्विद्व ' प्राण और अपान शक्तियो ' हे ( उन्नौ ) वास कराने द्वारा । ( इमा दिविष्टय ) यद्युत्थान या मस्तक में गति करन द्वारा सात इन्द्रियां ( उ ) भी ( वा ) आप दानों का ( ह्यन्ते ) महिमा को बतलाता है । ( अथ ) यह मैं आत्मा या मन ( अथसे ) अपने जीवन की रक्षा के लिये ( वाम् ) आप दानों का ( अहम् ) युन २ भीतर से बाहर, बाहर से भीतर गुलाता हू । इ ( शुचीवस् ) शक्ति द्वारा

वास काने हागे । आप दोनों ( विश विश ) प्रति देह में ( गच्छय )  
गमन कर रहे हो ।

२ ३ १ २                      ३ १ २ ३ १ २  
[३०५] कुष्ठ को वामश्विना तपानो देवा मर्त्य ।

३ १ २ ३ १ २                      ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २

प्रता वामश्वया क्षयमाणोऽशुनत्थमु आह्वन्यथा ॥ ३ ॥

भा०—[ प्र० १ ] हे ( अश्विनौ ) देह में व्यापक प्राण और अपान  
( वाम् ) आप दोनों ( कुष्ठ ) कहां स्थित हो ? [ प्र० २ ] ( वाम् )  
आप को ( का मर्त्य ) कौन मरणधर्मो पदार्थ ( तपान ) तप्त करता है ।  
[ उत्तर १ ] ( वाम् ) आप दोनों ( अश्वया ) शरीर की भाजन करने की  
शक्ति द्वारा ( प्रता ) साक्षित हाकर गति करते हा । [ उ० २ ] ( यथा  
आह्वन् ) जिस प्रकार भोगों और देवियों का भोगा राजा शासक ( अशुना )  
अपने समस्त देशव्यापी बल से ( क्षयमाण ) देश भर में विश्रजमान  
होकर मृत्यों को चलाता है और तपाता है ( इथम् उ ) उसी प्रकार  
( आह्वन् ) व्यापक आत्मा ( क्षयमाण ) देह में रहकर ( अशुना ) अपने  
व्यापक भोग कर्म शक्ति द्वारा आप दोनों को तपाता है, गति दता है । और  
( अश्वया ) अशना और पिपासा द्वारा आप दोनों ( प्रता ) पीक्षित होकर  
उसके शासन में गति करते हो । ( इसका विवरण देखा घृ० उ०  
अ० १, ब्राह्मण २ )

३ १ ३ १ २                      ३ २ ३ १ २  
[३०६] अथ धा मधुमत्तम सुन सोमा दिदिष्टिषु ।

१ २                      १ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २

तमश्विना पियतं तिरो अन्हा घत्त रत्नाग्न दाशुष ॥४॥

श्रु० १ । ४० । १ ॥

भा०—हे ( अश्विनौ ) अधियो । प्राण और अपान । ( वां ) आप  
दोनों क लिये ( दिदिष्टिषु ) चेतनासम्पन्न इन्द्रियों की पृथक्ताओं में, या

देवपत्नी में ( अय ) यह ( मधुमत्तम ) अत्यन्त मधुर ( सोम ) सोमरस  
 अन्न रस, ज्ञानरस ( सुत ) सम्पन्न किया गया है । ( तिर अन्ध ) विगत  
 काष्ठ क सम्पादित ( त ) उसको ( पियत ) पान करो शरीर में ग्रहण  
 करते हो और ( दाशुष ) अपना ज्ञान या पदार्थ या प्राण को अपान में  
 और अपान को प्राण में इविरूप से दान करने हारे साधक का ( रत्नानि )  
 रमणीय, सुखकारी साधन बल आरोग्य ( धत्त ) प्राप्त कराधो ।

प्राणापान का यज्ञ देखो गीता ( य० ४। २१। ३० ) और छान्दो० उप०

अ० ३।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३०७] आ त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नह ज्या ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

भूर्णि मृग न सवनेपु बुक्रुध क इशान न याचिपत् ॥५॥

अ० ८। १। २० ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर ( अह ) मैं ( ज्या ) उत्कृष्ट प्रशसा योग्य  
 ( सोमस्य गल्दया<sup>१</sup>) सोम की धारारूप वाणीसे ( स्वा ) तुम्हका ( सदा आ  
 याचन् ) निरत्य प्रार्थना करता हू । ( सवनेपु ) यज्ञकर्मों और उपासनाओं  
 में ( मृग न ) सिंह के समान दुष्टों पर ( बुक्रुध ) क्रोध करते हुए ( भूर्णिम् )  
 ससार भर के भरण करने हारे ( ईशान ) स्वामी जगदीश्वर की ( क न )  
 कौन नहीं ( याचिपत् ) प्रार्थना करता ।

१ २ ३ २ ३ २ ४ ३ १ २

[३०८] अध्वर्यो द्राघया त्व सोममिन्द्र पिपासति ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १

उपो नून युयुजे धृषणा हरी आ च जगाम वृत्रहा ॥६॥

अ० ८। ४। ११ ॥

३००—'मात्वा' इति 'याचन्नह गिरा' इति च अ० ।

१. गल्देति शब्दनाम ( नि० १। ११ ) धमनयो वा इति ( ने० ६। २५ )

३०८—'उपनून' इति क० ।



भा०—हे ( अश्वयो ) कभी नष्ट न होने वाले ! अहिंसित ! आ  
 तस्थित मन ! अहकार ! ( साम ) सोमरूप आनन्दरस का ( इन्द्र ) आत्मा  
 ( विदामति ) पाप करना चाहता है । ( त्व साम दावप ) तू उस आनन्द  
 रस को चुभा, उत्पन्न कर । ( वृषहा ) विघ्न और तमों क निवारक शांता  
 न ( नून ) निश्चय स ( वृषणा ) सब काम्य सुखों की वर्षा कराने हारे एव  
 उल्लवान् ( हरी ) हरणशाल साधन, प्राण्य और अपान दागों को ( उप  
 सुयुज ) जाड़ ही लिया है और वह ( आ जगाम च ) आभी गया है ।  
 साधक अपन अहकारयुक्त आत्मा से सम्बन्धन करता है । देखो प्राण्यभि  
 होत्र उप० ( ख० ४ ) अहकारोऽश्वयु ।

३ २ २ ३      ३ २ २ ३ १ २

[३०६] अमीपतस्तदाभरेन्द्र ज्याय कनीयस ।

३ २ ३ १ २      ३ १ २ ३ १ २      ३ १ २

पुरुषसुहिं मघवन् यभूविथ भर भरे च ह्य ॥७॥

श्र० ७ । ३२ । २४ ॥

भा०—ह ( इन्द्र ) आमन् ! हे ( ज्याय ) सबसे धृष्ट, ज्येष्ठ ! ( क  
 नीयस ) अपन से छुट ( ईपत ) आप से साहाय्य चाहने हारे भर खिप  
 ( तद् अभि आ भर ) अर्द्धा प्रकार सब भार से उस अभिजापा योग्य  
 पदार्थ का प्राप्त करा । ह ( मघवन् ) ऐश्वर्यवन् ( हि ) क्योंकि आप ( पुरु  
 षसु ) अनक प्रनाथों का वास कराने हारे ( भर भर च ) और प्रत्येक  
 यज्ञ में ( ह्य ) स्तुति पाय है ।

१ २ ३ १ २ ३      २ ३ १ २ ३ १ २      २

[३१०] यद्विन्द्र यावत्स्त्रमताप्रदहमाशीय ।

३ २ ३ १ २      ३ १ २ ३ १ २

स्तातारमिदधिपे र्दावसो न पापत्राय रभिषम् ॥८॥

श्र० ७ । ३२ । १८ ॥

३०६—'अश्व मयामि' इति श्र० ।

३१०—'स्तोत्राग्निदिविषे र्दावसो न पापत्राय रभिष' इति श्र० ।

भा०—हे ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवान् ! ( यावत् त्वम् ) जितने ऐश्वर्य का तू मालिक है ( यद् ) यदि ( एतावद् ) इतना ऐश्वर्य ( अहम् ) मैं ( ईंशीय ) प्राप्त कर लू तो हे ( रदावसो ! ) समस्त पदार्थों के दान हार ! मैं ( स्तोता-रम् इद् ) स्तुति करने हारे, सत्य ज्ञान के दर्शान हारे विद्वान् को ही ( दधिपे ) दे ढाहू ! ( पापावाय ) पाप के कर्मों क लिये ( न रक्षिषम् ) कभी न दूँ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २  
[३११] इमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा अक्षि स्पृध ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्व तूर्य तरुष्यतः ॥१॥

अ० ८। १६। १।

भा०—हे ( इन्द्र त्वं ) तू ( प्रतूर्तिषु ) सप्रायों में या बल के कार्यों में ( विश्वा स्पृध ) समस्त स्वर्दा करने हारी सनाओं या दुर्वासनाओं के ( अभि अक्षि ) मुकाबल पर टट जाता है और उनको परास्त करता है । हे ( तूर्य ) शत्रु क नाश करने हारे ! ( त्व ) तू ( तरुष्यत ) हिंसा करने की चष्टा करने वाले शत्रुओं के प्रति ( वृत्रतूरसि ) सब उपद्रवों का नाशक है । और तू ही ( अशस्तिहा ) शासन का न मानने हारे उपद्रवों को नाश करने द्वारा ( जनिता ) प्रजाओं क पिता के समान है ।

१ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
[४१२] प्र यो ।ररिद्ध आत्सा दिव सदोभ्यस्परि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
न रवा त्रिव्याच रज इन्द्र पाथिउमति विश्वं घवक्षिथा ॥१०॥

भा०—( प. ) जो तू परमेश्वर ( आत्सा ) अपने सामर्थ्य से ( दिव ) द्यौलोक के ( सदोभ्य ) वाले भूमिों स भी ( परि ) परे तक ( प्र रिरिद्धे ) दूरतक फैला हुआ है । हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! इसलिये

( पार्थिवं रज. ) यह पृथ्वी लोक ( त्वा ) तुम्हें को ( न विष्वाच ) कर्मों  
 व्याप्त नहीं कर सकता । तू ( अतिविश्वं ) इस समस्त ब्रह्माण्ड को  
 अतिक्रमण करके ( वचसिधे ) उसको बहान करता है, धारण करता है ।  
 इति द्वितीया दशतिः । अष्टमः खण्डः ।

॥२० ३॥ अथि.— १, २, ६ वसिष्ठः । गानुरात्रेवो गृहस्यदी वा । ४ पृथ्वेन्व्यः ।  
 ५ सप्तयुः । ७ गोरिवीविः । ८ वेनो मातृव. । ९ बृहस्पतिर्नकुलो वा ।  
 १० सुहोतः ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिहृत् । नेत्र, ॥

१ २ ३ १४ २४ ३२ ४ २४ ३१ २ ३ १ २  
 [३१३] असवि द्यं गोक्षर्जाकमन्धो न्यस्मि अन्द्रा जगुपेमुषोच ।  
 १ २ ३ १४ २४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 याधामासि त्वाह यंश्च यक्ष्योधा न. स्तोममन्धसां मधुपु॥१॥  
 अ० ७ । २१ । १ ३

भा०—( गो-क्षर्जाकम् ) इन्द्रियों द्वारा अजुता से अत्यल्प रूप में,  
 साधान् सम्बन्ध द्वारा प्राप्त ( दंष्ट ) दिव्य स्वभाव गुण युक्त, आनन्ददायक  
 ( अन्ध ) ज्ञान, सोम ( असवि ) प्राप्त किया । ( इन्द्रः ) आत्मा ( जगुता )  
 उत्पत्तिकाल से ही ( इम् ) अत्यल्प रूप में ( अस्मिन् ) इस ज्ञान में  
 ( उषोच ) संभवेत है, समवाप सम्बन्ध से है । अर्थात् ज्ञान आत्मा  
 का गुण है । हे ( इयंरव ! ) हरण्यरासि भोग साधनों से सम्पन्न ! ( त्वा )  
 तुम्हें को ( पञ्च ) ज्ञानयज्ञों अथवा अन्तर्योगों द्वारा ( याधामासि ) ज्ञान करते  
 हैं । और तू ( न ) हमारे ( स्तोत्र ) सत्य ज्ञान कथाओं को ( अन्धस.  
 मधुपु ) सोमरूप ज्ञान की उत्कृष्ट आनन्द दशा में ( बोध ) जाना कर ।

१ २ २ १ २ ३ १ ४ २४ ३ १ २  
 [३१४] योनिष्ट इन्द्र सद्ने अकारिनमा नृभ. पुरुहुत प्रयादि ।  
 ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 असो यथा नोगयिता पृथ्विश्चरुवो यस्मिन् ममदध्य सोमैः॥२॥  
 अ० ७ । २४ । १ ३

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( ते सदेन ) तेरे निवास वाग्ध गृह,  
 इव देह मे ( योनिः अकारि ) तेरे प्रकट होने का स्थान बना है । ( तम् )  
 उस स्थान पर हे ( पुरुहुत ) इन्द्रियों या बहुतसे महों द्वारा निरन्तर स्मरण  
 किये गये आत्मन् ! ( नृभिः ) अपने नेता, प्राणरूप भरतों के सहित  
 नृ ( आ प्र वाहि ) सब धीर से इटकर वही ही प्रकट हो धीर ( यथा ) त्रिम  
 प्रकार से ( नः ) हमारा ( वृध ) बसाने द्वारा ( चित् ) धीर ( अविता )  
 पालनकर्ता ( अमः ) बन धीर ( वसुनि ) धन, आनन्द ( इदः )  
 दान कर ( सोमः य ) धीर सोमों द्वारा ( ममदः ) आनन्द का उप  
 भोग कर ।

अन्तरेण तासुके य एव स्तन इवायच्छम्भते सा इन्द्रवेतिः । यत्रावी  
 केतास्तो विपत्तते स्वपोद्य शीर्षिकपाञ्च सत्यामशायारामं मनः आनन्दम्  
 ज्ञान्तिसमृद्धममृतम् इति प्राचीनबोधोपास्य ( तैत्तिरीयोपीन० अनु० ६  
 पठञ्जी १ । )

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२  
 [ ३१६ ] अर्द्धरत्नसमस्तुजां वि यानि त्यमर्णयान् यद्द्वानां अरत्ता ।  
 ३ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२  
 महाम्तामिन्द्र पर्यंतं वि यद्द- स्तुजद्वारा अय यद्दानयान् इत ० ३ ३  
 ४० ५ । ११ । १० ४

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( त्वं ) तू ने ( ज्ञानम् ) ऊर्ध्वधाम  
 नृधों भाग को ( अर्द्धः ) विद्याय कृपा, धीर ( यानि ) इन्द्रिय द्वारा  
 को ( वि-अवृत्तः ) तू ने स्वयं स्वयं धीर ( त्वम् ) तू ने ( अर्धेयान् ) गनि  
 शील ( अर्धधामान् ) आघात प्रतिघात करते हुए प्राणों को ( आग्न्यः )  
 स्ववर्धित कृपा । धीर ( वद् ) जब तू ने ( महाम्तां ) ब्रह्माणी ( परं )  
 पुरुषों कासा देह ( विव- ) प्रकट कृपा धीर ( वन् ) जो ( दानवान् )

३१५—'माम्ता' इति, पृथेदियार भाष्यम् इत् १५ प ४० ।

ज्ञान देने हारे इन प्राणा को ( भावइन् ) प्रेरित करता और ( धारा ) ज्ञान स्मृतिरूप धाराओं को, या अन्नरस की धाराओं को, या इन्द्रिय नादियों का उन द्विद्रों में प्रवाह रूप से ( विष्णन् ) विक्षप रूप से प्रेरित करता है। इसका स्फुटीकरण ऐतरेयापनिषत् १म, २य, ३य अण्ड में देखिये वहां ही इन्द्र का स्फुटीकरण भी है। और देखा (मृद्धारण्यक उप० अ० १ प्रा० ४)

‘उत्स उत्सरणाद् उत्सइनाद्देनत्तेर्वा ( निर० १० । १ । ४ ) खानि इन्द्रियाणि, ( काठक उ० ) । पराञ्चि खानि व्यनृणत् स्वयम् ।’ रम्याति विंसर्जनकमां, सयमनकमां वा ( नि० १० । १ । ४ )

[३१६] सु<sup>३</sup>ष्वाणास इन्द्र<sup>१ २</sup> स्तुमसि<sup>३ १ २</sup> त्वा<sup>३</sup> सनिश्यन्तश्चित्तुयि<sup>३ १ २</sup> नृगण<sup>३ १ २</sup> राजम् ।

आ<sup>१ २</sup> नो भर<sup>३ १</sup> सु<sup>२ २</sup> रित<sup>३ १ २</sup> यस्य<sup>३ १ २</sup> कोना<sup>३ १ २</sup> तना<sup>३ १ २</sup> त्मना<sup>३ १ २</sup> सत्यामी<sup>३ १ २</sup> त्वाता ॥५॥

अ० १० । १४८ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हम ( वा न सनिश्यन्त ) भाग्य पदार्थों का खेवन करते हुए भी ( त्वा सुष्वाणास ) तेरे लिये ही उनका रस सम्पादन करते हुए हम ( स्तुमसि ) तेरी स्तुति करते हैं। इसलिये ( न ) हमारे लिये ( सुविता ) उत्तम बल प्रेषण को ( आ भर ) प्राप्त करा। ( यस्य ) निसर्वा ( कोना ) कामना करते हुए हम ( त्मना ) स्वयं आपसे आप ( त्वा उता ) तेरे स रक्षित रहकर या तेरे में पिराय हुए रहकर ( त्मना ) सूबे उत्तम २ विस्तृत अनुभवों को ( आ सद्गम ) प्राप्त करें। प्राणों का आत्मा के प्रति और भद्रों का ईश्वर के प्रति यह वचन है।

[३१७] जगह्या<sup>३ २ ३ १ २</sup> ते दक्षिणमिन्द्र<sup>३ १ २</sup> हस्त<sup>३ १ २</sup> वसुयसो<sup>३ १ २</sup> वसुपते<sup>३ १ २</sup> वसुनाम् ।

विश्व<sup>३ १ २</sup> हि त्वा<sup>३ १ २</sup> गार्पति<sup>३ १ २</sup> शूर<sup>३ १ २</sup> गानामस्मभ्य<sup>३ १ २</sup> चित्र<sup>३ १ २</sup> गुण<sup>३ १ २</sup> रथि<sup>३ १ २</sup> दा ॥

अ० १० । ४७ । १ ॥

३१६—, वा न त्मना त्वा स्तुयात् इति अ० ।

३१७—‘वसुभते’ इति पाठभेद अ० ।

भा०—हे इन्द्र ! ( वयं वसुधव ) हम प्राणों की कामना या देह में स्वयं वसु होने की कामना करने हुए ( ते ) तेरा ( दक्षिण ) दाया, क्रिया सम्पन्न ( इत्त ) हाथ ( जगत्स ) प्रहण करते हैं । हे ( वसुना ) वसुधों के बीच में ( वसुपते ) प्राणों के पालक ! आत्मन् ( त्वा ) तुम्हो ( गोना गोपनि ) इन्द्रियों के बीच में इन्द्रियों क स्वामी के समान ( विप्र हि ) निश्चय से जानने हैं । ( अस्मभ्यम् ) हमें ( चित्रं ) सदा बदने वाल या चितिशक्ति से युक्त या ज्ञानसम्पादन करने वाले ( वृषथं ) सब सुखों के देने वाले, पुष्टिकारक ( रथि ) प्राण, अन्न, बल ( दा ) दा ।

३ १ २ ३ १ २                      ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३१८] इन्द्रं नरो नमयिता ह्यगते यत्पार्या युनजते प्रियस्ताः ।

३ १ २ ३ १ २    ३ २ ३ १ २                      ३ १ २ ३ १ २

शूरो नृपाता अयसश्च काम आ गोमति मजे भजा त्वं नः ॥६॥

अ० ७। २०। १ ॥

भा०—( यत् ) क्योंकि आत्मा ( पार्या ) स्थापार, चला करने वाले या भरणोपय करने में समर्थ ( प्रिय ) ज्ञान और कर्मों की ( युनजते ) आयोजना, प्रबन्ध करता है इत्यलिये ( नर ) विद्वान् ज्ञेय ( इन्द्रम् ) ऐश्वर्यवान् राजा के समान परमेश्वर या आत्मा को ( नमयिता ) सन्मन, वन्द, स्तवस्था की स्थापना के अन्तर पर ( ह्यगते ) उपको बुद्धाते या स्मरण करते हैं । शूर ) शूरवीर ( नृपाता ) मनुष्यों का उचित विभाग करने वाला ( अकम् ) कामना करने वाले ( गोमति मजे ) हमारे अभिलषित गोधों के बाड़े के समान इन्द्रियों से सम्पन्न मन, गोष्ठ या देह में ( रवं ) तू ( नः ) हमें ( अयस ) अन्न बल आदि ( भजा ) प्राप्त करा ।

१ २    ३ १ २ ३ १ २    ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३१९] अय सुपर्वा उपसेदुरिन्द्र नियमथा ऋषयो नाधनात् ।

१ २    ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २                      ३ १ २ ३ १ २

अयस्यान्तमूर्णुद्विपूदि चतुर्भुगुग्धश्चेस्मादिधयेर यज्ञान् ॥७॥

अ० १०। ७३। २२। १

भा०—( वषः ) दूर तक गति करने हारे, दूरदर्शी, ( सुपर्णा ) उत्तम ज्ञान और बल की वाचना करते हुए, ( अथप. ) विद्वान् लोग और आत्म पक्ष में—इन्द्रियों ( इन्द्रम् उपसेदु. ) इन्द्र आत्मा आकाश, परमेश्वर के समीप शिष्य भाव से पहुँचे और कहने लगे ( स्वा-त्तं ) हमारे अज्ञानरूप अन्धकार को ( अप ऊर्ध्वं हि ) दूर का । ( चक्षुः ) हमारी आँख को ( पूर्धि ) शक्तिमान् कर, तेज से भर दे और ( निधवा इव बहान् ) जाळ में बंधे हुए के समान हमको ( मुमुक्षुः ) मुक्त कर ।

इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, शिष्यों का ब्रह्मज्ञानी गुरु के प्रति, ऋषियों, ज्ञानियों का परमात्मा के प्रति यह वचन है ।

१ २ ३ २२ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २  
[३२०] नाके सुपर्णसुप यत्पतन्तं हृदा येनन्तो अम्यच्चक्षत त्वा ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ ० ३ १ २ ३ २  
द्विरण्यपक्षं वरुणस्य दूनं यमस्य योनी शकुनं भुरण्युम् ॥॥

अ० १० । १२२ । ६ ॥

भा०—हे ज्ञानस्वरूप । तेजारिपन् आत्मन् ! ( नाके ) दु ख रहित मोक्षमार्ग में ( हृदा वनन्त. ) अपने हृदय या मन से तेरी कामना करने हुए, ( उपपतन्त ) गमन करते हुए ( द्विरण्यपक्षं ) द्वित्वकारी और मनोहर पक्षों या प्राणों या साधनों से युक्त, ( वरुणस्य दूनं ) सश पापों के कारण करने हारे जगदीश्वर के दून, संदेश या ज्ञान को प्राप्त कहाने हारे ( यमस्य ) मृत्यु के निवन्ता धातु या ईश्वर के ( योनी ) प्रकट होने के स्थान या अन्तरिक्ष में ( शकुनं ) शक्ति से सम्बन्ध, ( भुरण्युम् ) भ्रमणशील या मृत्यु के पालन पोषण करने हारे ( त्वा ) तुम्हें ( यन् ) जो । अग्नि-अथ चक्षुः ) सर्वत्र देखने हैं । इस आनन्दमय ब्रह्म आत्मा के नाना पक्षों का विवरण देखो। सौत्तरीय उप० ( आनन्दवल्ली अनु० १ से ६ तक ) वहाँ इस शकुन के पक्षों और पुरुष आदि का नाता रूप से मद्देश्य बताया है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 [३२१] ब्रह्म जज्ञान प्रथम पुरस्ताद्वि सीमत सुदृचो वेन भाव ।

क ५ ३ १ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 सद्युध्या उपमा अस्य विष्टा सतश्च यानिमसतश्च विव ६

मथ० ५। ६। १॥

भा०—( वेन ) ज्ञानवान् तेजस्वी परमात्मा ( प्रथम ) सबसे प्रथम ( जज्ञान ) प्रादुर्भूत वा प्रकट हाते हुए ( ब्रह्म ) वृहदाकार ब्रह्माण्ड को ( साम् अत पुरुस्तात् ) इस समस्त समार की रचना क पूर्व ही ( सुदृच ) उत्तम कान्तिर्षो का ( वि भाव ) पुष्प बनाकर प्रकट करता है ( स ) वह परमात्मा ( युध्या ) आकाश में उत्पन्न हुए ( अस्य उपमा ) उसके ही सदृश ( विष्टा ) विशय रूप स स्थिति करन हार ब्रह्माण्ड को भी स्थापित करता है । और ( सत च ) इस समस्त सन् रूप में प्रकट जगत् ( असत च ) और अत्यक्त प्रकृति के ( योनिम् ) मूल आश्रय को भी ( विव ) वही प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३२२] अपूर्वा पुरुतमान्यस्मै मह वीराय तयसे तुराय ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 विरप्शिने वज्रिण शन्तमानि वचास्यस्मै स्थधिगय तल्लु १०  
 क० ६। ३२। १॥

भा०—विद्वान् लोग ( मह वीराय ) बड़ेभारी वीर, ( तयसे ) बल धान्, ( तुराय ) वगधान् ( विरप्शिने ) ज्ञानवान् ( वज्रिणे ) विप्रों और उपदवों क निवारक, वज्र बज्र क धारण करन वाल, ( स्थविराय ) अचल कूटस्थ ( अस्मै ) इस परमात्मा क लिये ( पुरुमानि ) बहुत से ( अपूर्वा ) उमका पूर्ण रीति स वर्णन करन हार अपूर्व ( वचासि ) नावा वचन ( तल्लु ) प्रकट करते हैं ।

इति लुहीया द्वावि । नवम स्कन्ध ।





॥ ६०४ ॥ अथि — १ २ ४ निरओद्युताना गस्तो वा । वृद्धवध । ५ वाम

देव । ६ ऋषमिठ । ७ विषमिष । ८ गारिवीनि ॥ ९ ओषेवना ॥

छ १-५ ७-९ निराट । त्रिपत्त्र विराट् त्रिपत्त् ॥ धैवत ॥

१ २ ३ ५ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३२३] अथ अस्मिन् अशुमन्नीमतिष्ठदिवान् कृष्णो दशभि सदस्रै ।

उ २ ४ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

अथस्तमिन्द्र शक्या धमन्तमप स्नीदिति नृमया अथ द्रा १॥

व० ८ । १६ । १३ ॥

भा०—( द्रप्म ) द्रवणशील गानिमान् ( कृष्ण ) विलसतन सक  
 यंश या सक्रिकर्ष करन द्वारा मुख्य प्राण ( दशभि ) अर्धों का प्रकाशित  
 करने द्वारे ( सदस्रै ) षण्णान् प्राणों सहित ( इवान् ) गति करता हुआ  
 ( अशुमन्म् ) व्यापारील चेतना से युक्त चिन्तित्ति का ( अथ अतिष्ठत् )  
 आश्रय लेता है । ( इन्द्र ) आत्मा ( शक्या धमन्तम् ) अपना शक्ति द्वारा  
 आस पचास जते हुए ( तम् ) उसका ( आवन् ) प्राप्त होता है ( नृमया )  
 सप्त नरों में मनन शक्ति रूप वह आत्मा ( स्नीदिति ) अवधार करते हुए  
 उस प्राण को ( अथ अथ द्रा ) नीच अर्धों में भी प्रेरित करता है ।

प्राण की गति को अथान तथा अन्योन्य अधोगामा स्थानों में प्रेरण  
 करने में आत्मा क सक्रव ही कारण है । इसकी सापणादि  
 भाष्यकारों ने कृष्णामुर को मारने की कथा गढ़ कर खगाया है, वह  
 असंगत है ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३२४] वृत्रम्य तथा श्वमथादीपमाणा विभ्य वेगा अजह्ये अन्वाय

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

महोद्गारेन्द्र सत्य त अन्वथमा विभ्या पृतता जपाभि

व० ८ । १६ । १० । ॥

भा०—( वृत्रस्य ) आवरणकारी इस तामस देह के ( असथाद् ) आस प्रवास से ( ईपभाषाः ) गति करते हुए ( विश्वे देवा ) सब देव-गण, मरुद्गण, अमुख्य प्राण, अयु आदि । ये ) जो ( सखायः ) मित्र ( वा ) तुम्हको ( अजहुः ) छोड़ देते हैं अन्तर्मुख न होकर यदिमुख हो जाते हैं, तां भी हे आत्मन् । ( ते सख्य, तेरा मैत्रीभाव ( सरद्भिः ) उन प्राणों इन्द्रियों से ( अस्तु ) बना ही रहता है । ( अस्य ) इसी कारण ( इमा इन् ( विश्वा ) समस्त ( वृतनाः ) भरण पोषण योग्य प्राणियों के देहों को ( जयासि ) तू अपने वश रखता है ।

ईप् गतिर्हि सा दर्शनेषु, भ्वादिः । ईप् उञ्छे, भ्वादिः । वृतना इति मनुष्यनाम, ( नि० २ । ४ । )

उ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २  
 [३२५] विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ २३ ३ २ ३ १२ २२  
 देवस्य पश्य काव्यं मदिस्वाद्या ममार स ह्यः समानः ॥३॥

अ० १० । ५५ । २ ॥

भा०—( विधुं ) विधमनशील, धौकनी के समान विशेष रीति से शरीर में गति करने वाले, ( समने ) समान रूप से प्राण धारण करने के कार्य में ( बहूनां ) बहुतों को ( दद्राणं ) गति देने वाले, ( युवानं सन्तं ) युवा, बलशाली होते हुए मुख्य प्राण को भी ( पलितः ) पुराण पुरुष आत्मा ( जगार ) अपने भीतर लीन कर लेता है । ( देवस्य ) उस आत्मदेव के ( काव्य ) ज्ञान—सामर्थ्य को ( पश्य ) देख ( ह्यः ) जो भूत काल में ( समानः ) निरन्तर जीवित रहा, ( स अय ) वह आज भी ( म-द्विरा ) उस 'स्व' अपने मदिमा या वक्-पन में ( ममार ) अपना प्राण को त्याग देता है अर्थात् उसमें ही लीन हो मुरु हो जाता है ।

देखो स्वप्तीकरण उपनिषदों के आप्य-प्रकरण पृकायन-प्रकरण और स्व मदिमा में संवतिपत्ति प्रकरण ।

परमेश्वर पद में—( विधु ) चन्द्र को जिस प्रकार पूर्ण हो जाने के बाद भी सूर्य अमावास्या में प्रस लेता है उसी प्रकार ( बहूनां ) बहुत से प्राणा के बीच में सबसे अधिक ( युवान सन्त ) युवा भक्ति बलवान सत् स्वरूप आत्मा ( विधु ददाय ) चन्द्र के समान अकृद्वादकारी एवं गतिशील आत्मा को ( पालित ) सर्वभारक, पुराण परमेस्वर ( जगत् ) अपन भक्ति से लेता है ( देवत्व ) उस महान् परमेश्वर के बनाये ( काव्य परव ) इस संसारमय ज्ञानस्वरूप कवि विद्वान् परमेश्वर की बनाई रचना को देख कि ( आद्यममार ) जा अज मरता है ( स ) वह ( ह ) फिर दूसरे दिन ( समान ) प्राण धारी होकर जीता है । अर्थात् पुन जन्म लेता है । और जो ही जगत् अवनष्ट हाता है वह पुन बनता है ।

देखो अथर्व० पालित सूक्त । का० ६ । १ । १० ॥

२ ३ २ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[ ३२६ ] त्व ह त्वत्सप्तभ्यो जायमानोऽशुभ्यो अभव शशुरिन्द्र ।

३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

गूढं घावापृथिवीं अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रण धा ॥४॥

अ० ८ । १६ । १६ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ' ( त्व ह ) नृ ही ( जायमान ) प्रकट होते समय ( त्वत्-सप्तभ्य ) उन सातों ( अशुभ्य ) कभी न सोने हारे, निरन्तर चलन चल शक्तिय प्राणों को ( शशु ) एकमात्र सुलान घाला, अपने में लीन करने द्वारा या शासयिता उनक घग को कम करन हारा, या उनको इन्द्रियरूप में शिरादेश में फोड़कर बनाने व ला ( अभव ) दे । और उसके बाद तू ही ( गूढ ) गुहा या बुद्धि में स्थित ( घावा पृथिवी ) अन्तरिक्ष एवं सूर्य और पृथिवी के समान मूधाभाग और शेष शरीरभाग को ( अन्व विन्द ) प्राप्त करता है । और ( विभुमद्भ्य ) सत्तावान् बलवान्, ( भुवनेभ्य ) प्राणों स ( रण ) रमण, विनोद, आनन्द की मात्रा स्वप ( धा ) धारण करता है, अर्थात् भोग करता है ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [३२७] मेडिन त्या वज्रिण भृष्टिमन्त पुरुधस्मान् वृषभ स्थिरप्सुम्

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

धरोप्यस्तस्पीर्द्वयस्युरिन्द्र घृक्ष घृष्रहण गृशीषे । ५॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( दुवस्यु ) परिचर्यो सवा की इच्छा करने हारा तू ( ध्रष ) अपनी गतिशील इन्द्रियों का ( तरुषी ) पदार्थों वा भाग्य विषयों तक चला जान योग्य ( करोषि ) कर लेता है । इस कारण मैं ( मेडिन ) मेल करन हारे योगी क समान ( वज्रिण ) वर्जन करने वाले बल बैराग्य द्वारा सब पदार्थों के ज्ञानपूर्वक सग त्याग स सम्पन्न ( भृष्टिमन्त ) पापों को भून दन हारी परिपक्व, सम्यग् बुद्धि स युक्त ( पुरुधस्मान् ) इन्द्रियों को आधय देने हारे ( वृषभ ) समस्त धेष्ट ( स्थिर प्सुम् ) कूटस्थ, अचल, नित्य, ध्रुव ( घृक्ष ) प्रकाशस्वरूप, ( घृष्रहण ) तम स्वरूप देहबन्धन को नाश करन हार ( त्वा ) तरी मैं ( गृशीषे ) स्तुति करता हू ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३२८] प्र वा महेमहे वृधे भरध्व प्रचतसे प्रसुमति कृणुध्वम् ।

१ २ ३ १ २ २ ३ २

विश पूर्वी प्रचर चर्षणिप्रा ॥ ६ ॥

अ० ७। ३१। १० ॥

भा०—( व ) आप लोग ( महे वृधे ) महिमा से बढ़ने वाले ( महे ) बड़े भारी आत्मा क लय ( प्र भरध्व ) उत्तमरूप स इष्ट पदार्थ अन्न और ज्ञान का समग्र करो ( प्रचतसे ) उच्छृष्ट ज्ञानसम्पन्न भावाये आत्मा या परमेश्वर के निमित्त ( प्र सुमति ) उत्तम २ विचार वा मनन ( कृणुध्वम् ) किया करा । हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( चर्षणिप्रा ) विशाओं को ज्ञान से पूर्ण करनेहार आप ( पूर्वी विशा ) पालन करनहारी धेष्ट धर्मोत्तमा प्रार्थनों के पास ( प्र चर ) उत्तमरूप से आधा, प्राप्त होओ ।

३ ५ २      ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २      ३ १ २ ३ १ २

[३२६] ज्ञानं हुधेम मघनामिन्द्रमस्मिन् भरे नूनम वाजसातौ ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २      ३ १ २ ३ २ ३ १ २

मृत्पन्तमुग्रमृतय समस्तु मन्तवृत्राणि सज्जित धनादि॥७॥

श्र० ३ । ३० । २२ ॥

भा०—( अस्मिन् ) इस ( भर ) भरण पोषण करने द्वारे ( वाजसातौ ) अन्न और ज्ञान के साधन कार्य में ( ज्ञान ) ज्ञानसम्पन्न सर्वव्यापक ( मघवानम् ) पृथर्वसम्बद्ध, ( नूनम ) सर्वम उत्तम गता, ( हुधेवन्त ) सबकी प्रार्थनाओं का सुनने द्वारे ( उग्रम् ) दुष्टों के प्रति उग्र स्वभाव वाले ( समस्तु ) समारों और उत्सवों में ( वृत्राणि ) उपद्रवकारियों का ( मन्त ) नाश करने द्वारे ( धनादि ) नाना विभूतियों को ( सज्जित ) स्वयं जातन द्वारे ( इन्द्र ) पृथर्वेवान् राजा के समान ( समस्तु ) वागव हर्षों या ज्ञान-द्व प्राप्ति के अवसरों में ( वृत्राणि मन्तम् ) भावरणकारी तामस भावों का नाश करने वाले और ( धनादि सज्जितम् ) पृथर्वों पर विजय करने वाले अगमा और परमेश्वर का ( हुधेम ) हम स्मरण करें, पुकार ।

२ ३ १ २      ३ १ २ ३ १ २

[३३०] उद्गु मद्भाष्यैरत अग्रस्येन्द्र समर्थे महया वनिष्ठ ।

१ २      २ २ ३ १ २ ३ १ २      ३ १ ३ १ २ ३ १ २

या यो विश्वानि अत्रस्ता ततानापथोता मर्हवतो वचाभि ८

श्र० ७ । ११ । १ ॥

भा०—हे ( वनिष्ठ ) वाग् ' या विद्मन् ' ( अवस्था ) ज्ञान की प्राप्ति के लिये ( मद्भाषि ) वेदमंत्रों का ( उद्गु रत ) उपदेश सब पाठ कर । ( समर्थे ) वज्र आदि विद्वानों की संगति में ( इन्द्र ) उस परमात्मा की ( महया ) उपासना कर ( य ) जा ( अवस्था ) अपने सामर्थ्य से ( विश्वानि ) समस्त ब्रह्माण्डों को ( अततान ) रक्षता दे और ( य ) जो ( म ) मुझ ( इवत ) नाना पुरुष के ( वचाभि ) वचनों का ( उप अता ) सम्पन्न हो द्वारे अवश्य करता है ।

उ १२ २२ उ १२ २२ उ १२ २२ उ १२ २२  
 [३३१] चक्रं यदस्याप्स्वानिपत्तमुता तदस्मै मध्विञ्चल्लुघात् ।

उ ३ १२ २२ उ २२ उ २ ३ १२ २२ उ १२  
 पृथिव्यामतिपितं यदूध. पयो गोवदधा शोपधीषु ॥६॥  
 अ० १०। ७३। ६॥

भा०—( अस्य ) इस परमेश्वर का ( यद् ) जो ( चक्र ) सृष्टिक्रम ( अप्सु ) प्रजाओं में ( आनिपत्तम् ) विद्यमान है । ( उत उ ) और ( अस्मै ) इस सृष्टिचक्र के लिये ( मधु इत् ) विशेष मधुर, अन्नादि जीवन्तरस को ही ( चञ्चल्लुघात् ) गुतरूप से रखता है और ( यद् ) जो ( उध ) ऊपर उठा हुआ रस का भण्डार, समुद्र, मेघ और पर्वत ( पृथिव्यां ) इस पृथिवी पर ( अति-नसित ) खूब चलपूर्वक गधा हुआ है उससे ही यह ( गोषु ) गौशों में और ( शोपधीषु ) शोपधियों में ( पय ) पान करने योग्य रसको ( अदधा ) आधान करता है ।

यज्ञ से प्राणियज्ञ मेंछों से अन्न, यज्ञ से मेघ, कर्म से यज्ञ, अन्न से कर्म, अन्नर से अन्न, ऐसा 'चक्र' है, देखो ( गी० अ० ३। १४, १५ )

इति चतुर्थी दशति । दशम खण्ड ।

॥ ८० ५॥ अथि — १ अरिष्टनेमिस्त्राह्यं । २ मृगो मद्रावो वा । ३ वासुवो विमनो वा । ४-६, ९ वामदेव । ७ विधानियः । ८ रेणु । १० गोशमः ॥ देवता-१-६, ९, १० इन्द्रः । ७, ८ पर्वत-द्वी ॥

त्रिभुवः ॥ पितृ ।

उ ३ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २  
 [३३२] त्यग्णु याजिनं दयजूतं सहोवानं तस्मत्तारं रथानाम् ।

१ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २  
 अरिष्टनेमि पृतनाजमाशु स्वस्तयं तार्यमिहा हुषेम ॥१॥  
 अ० १०। १७८। १ ॥

भा०—इमं लोग ( त्य ) उस ( चाञ्चिन ) ज्ञान, वेग, कर्म स युक्त, ( दक्षजूर ) देवों, विद्वानों और इन्द्रियों से पूजित, तर्पित ( सहोवान ) महानशीलता एवं बल से युक्त ( रथाना सदस्तार ) इन रथरूप देवों या गतिशील नक्षत्रों और ग्रह उपग्रहों को गति तथा परस्परकर्षण की अदभुत व्यवस्था द्वारा चकाने हार, ( अरिष्टनेमि ) शुभ मार्ग में सबका नियम में संचालन करने हार, ( पृतनाज ) सब मनुष्य प्रजाओं के भीतर प्रकट होने हार ( आशु ) सर्वत्र व्यापक या कर्मफल के दाता वा भोजी ( ताष्यम् ) अत्यन्त वेगवान् या व्यापक परमात्मा और आत्मा का (इन्द्र) यथा इस अन्त करण में ( आहुवेम ) आह्वान करते हैं ।

[३२३] <sup>३ २३ १ २ २ २३ २३ १ २ ३२३ २३ १ २</sup> प्रातारमिन्द्रमितारमिन्द्र हवेहव सुहव शूरमिन्द्रम् ।  
<sup>३२३ ३ २ ३१२ २२ ३२ ३२ ३१२ ३ १ २</sup> हुवे नु शक्र पुरुहूतमिन्द्रमिदं हविर्मघना वृत्तिन्द्र ॥२॥  
 अ० ६ । ५७ । १२ ॥

भा०—( प्रातारम् इन्द्र ) अन्नदि से पाजक परमेश्वर को, ( अवि तारम् इन्द्र ) रथक ईश्वर को और यज्ञों, उपासनाओं स ( सुहव ) सुख से योग्य, या सुगमता से स्मरण करने योग्य, ( शूर ) धीर्यवान् ( इन्द्र ) परमात्मा को ( शक्र ) शक्तिमान् ( पुरुहूत ) इन्द्रियों या प्रजाओं से पूजित ( इन्द्र ) परमात्मा और आत्मा को ( नु ) ही ( हुवे ) मैं स्तुति करता हूँ । ( इदं हवि ) इस योग्य स्तुति को ( मघना ) वह पेशवंपुत्र प्रभु ( इन्द्र ) आत्मा ( वतु ) स्वीकार करे ।

[३३४] <sup>१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> यजामह इन्द्र यजदरक्षिण हरीणा रथ्यारे विप्रतानाम् ।  
<sup>१२ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ १२ ३ १ २</sup> प्रश्मश्रुभिर्दोधुजदृश्या भुयद्वि सेनाभिर्भयमानो वि राधम् ॥३॥  
 अ० १० । २३ । १२ ॥

३३३—सूरमिन्द्र, 'हवामि शक्र', 'अरिष्टनेमि', इति अ० ।

३३४—रथ विप्रतानाम्, 'प्रश्मश्रुभिर्दो', 'दधमानो' इति अ० ।

भा०—( वज्रदण्डं ) विघ्नो और पापों के निवारण करने के कार्य में चतुर, ( विव्रताना ) निकम्मे या विपरीत कर्मों में जाने वाले ( इरीणो ) इन्द्रियों के ( रव्या ) उत्तम सारथी ( इन्द्र ) आत्मा को इस ( यजामहे ) वपासना करते हैं। वह ( रमधुभिः ) शरीर में व्याप्त शिराओं द्वारा सबको ( दोषुवद् ) गति देता हुआ ( ऊर्वधा ) सब से उच्च ( भुवद् ) रहना हुआ सेनापति के समान ( सेनाभि ) अपनी प्रासकारिणी समाधों, के समान बन्धनरज्जुओं द्वारा ( विराधसा ) विशेष साधना द्वारा ( भयमान ) सब को कपाया करता है।

३ २३ १२ ३ ३३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
[३३५] सप्राहस्य दाधृषिं तुष्टमिन्द्र महामपार वृषभ सुवज्रम् ।

३ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

हन्ता या वृध सनितात वाज दाता मघानि मघना सुराधा ॥४॥

शु० ५। १०। ८॥

भा०—( सप्राहस्यं ) सब विघ्न और उपद्रवों के नाशक ( दाधृषिं ) सबको दबाने वाले ( तुष्ट ) सबके प्रेरक, ( अपार ) अपार, ( वृषभ ) सबसे श्रेष्ठ, ( सुवज्र ) उत्तम वज्र को धारण करने वाले ( महाम् ) बड़े भारी और ( य वृत्रहन्ता ) जो वृत्ररूप अज्ञान को मारता ( उत वाज सनिता ) ज्ञान और अज्ञान का विभाग कर देनेहारा, ( सुराधा ) उत्तम साधनों और धर्मों से सम्पन्न या उत्तमरूप से आराधन करने योग्य, ( मघानि दाता ) ऐश्वर्यों और कर्मफलों को देनेहारा है उसको ( इन्द्र ) इन्द्र कहो, जानो।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[३३६] यो नो वलुध्यन्नभिदाति मर्त्त उगणा वा मन्यमानस्तुरा धा ।

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

क्षिधी युधा शयसा वा तमिन्द्राभी प्याम वृषमणस्त्वोता ॥५॥



भा०—( यो मर्त्त ) जो मनुष्य ( वनुष्यन् ) मारने की इच्छा से ( न अभिदाति ) हम पर प्रहार करता है। ( उगथा वा मन्वमान ) या अथवा वा बहुतसे योद्धाओं सहित बलवान् मानता हुआ, ( तुरो वा ) या आवेश में आया हुआ, ( विधी ) प्राणविनाशक ( युधा ) हथियार से या ( शवसा ) बल से हमारा प्रति ( अभिदाति ) आता और प्रहार करता है हे परमेश्वर ! सेनापते ! ( खाता ) इस तरह से रचित हाकर ( वृषमण्य ) सूर्य पुष्ट शरीर होकर ( तम् ) उस दुष्ट के प्रति ( अभिस्थाम ) मुकाबल पर दृष्ट जाय और उसे दबावे ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३३७] य वृत्रपु क्षितय ऋध्रमाणा य युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते ।  
 १२ २२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ २ २ ३ १ २ २ २  
 य शूरसाती यमपामुपजमन् य विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्र ॥६॥

भा०—( य ) जिसका ( वृत्रपु ) उपदव और विद्वहों के अथवा पर या ज्ञान के आवरण करनेहारे कारणों के उपस्थित होने पर ( क्षितय ) दश निवासी प्रजाएँ और दह की इन्द्रिया ( ऋध्रमाणा ) एक दूसरे से बदन की इच्छा करने द्वारा ( हवन्ते ) स्तुति करती हैं, ( य ) जिसका ( युक्तेषु ) समाम में या योगक्रियाओं में या अतः पुरुषों के बीच ( तुरयन्त ) परस्पर हिंसा करते हुए या स्थुत्थान दशाओं पर या विद्वहों पर विजय करते हुए साधक ( हवन्ते ) स्मरण करते हैं। ( य शूरसाती ) जिसे शूरवीरों के समाम में स्मरण किया जाता है। ( यम् अपाम् ) जिसको प्रजाओं के बीच में पुकारा जाता है और ( यम् उपजमन् ) जिसका भूमि पर अथवा आदि लाभ के लिये याद किया जाता है और ( य विप्रास ) जिसको ज्ञान के अभिलाषी विद्वान् लोग ( वाजयन्ते ) स्तुति करते हैं ( स इन्द्र ) यह 'इन्द्र' है।

१ २ ३ १२ २२ ३ ४ ३ १ २ २ ३ १ २  
 [३३८] इन्द्रापर्वता वृहता रथन घाम्नीरिप आवहत् सुवीरा ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ २ ३ १ २  
 वीत हव्यान्ध्वरेषु देवा वर्धेथा गीर्मिरिडया मदन्ता । ७॥

अ० ३। ५३। १॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आ मन् ! और हे ( पर्वत ) सबका पूरण,  
 पालन और नृत्य करन हार परमेश्वर ! आप दानों ( वृहता रथन ) बड़े रथ  
 या रमण साधन के द्वारा ( सुवीरा ) उत्तम वीर्यसम्पादक या, उत्तम स-  
 भ्तागजनक, ( घाम्नी ) मनाहर ( ह्य ) अन्नादि भोग्य पदार्थ ( आवहत् )  
 प्राप्त कराओ । हे ( देवा ) दोनों दासशील देवों ! ( अध्वरेषु ) यज्ञ आदि  
 हिसारहित जीवोपकारी कार्यों में ( हव्यानि ) आदान योग्य पदार्थों को  
 ( वीत ) स्वीकार करा । ( गीर्मि ) वेदकाणियों द्वारा और ( इडया ) अन्न  
 क उत्तम अर्थों से ( मदन्ता ) प्रसन्न, नृत्य हाते हुए ( वर्धेथां ) पुष्ट हाया ।  
 अध्यात्म पक्ष में इन्द्र=आत्मा और पर्वत=शरीर, आधिभौतिक में इन्द्र=  
 सूर्य, पर्वत=भेध या विद्युन् और पर्वत ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३३९] इन्द्राय ागरो आनशितसर्गा अप प्रैरयत् सगरस्य बुधात् ।

१ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 यो अक्षेणैव चक्रियौ शचीभार्जिष्कस्तम्भ पृथिवीमुत्त याम् ॥ ८ ॥

अ० ३०। ८६। ४१

भा०—जा परमेश्वर ( सगरस्य बुधात् ) अन्तर्लोक क प्रदेश या पेन्द्रा  
 से मथ के समान ( अप प्रैरयत् ) जला का नीचे वर्षण करता है और ( य )  
 जा ( अक्षेण ) पुरे के बल पर ( चक्रियौ इव ) दो चक्रों क समान शक्ति

३३८—'मदन्तम्' इति पाठ कलिकाता अन्नमशादि स्वस्वरणता प्रागादिक ।

सायणादिभाष्यकरोभादसंगतेश्च ।

२२९—'चक्रियौ' इति ५० ।

भि ) अपनी शत्रियों से ( पृथिवीम् उत याम् ) पृथिवी और धीलाक  
का ( तस्तम्भ ) धामे हुए हैं । उस ( इ द्राय ) सर्वशत्रिमान् इश्वर क  
लिये ( अनिशितसर्गा ) असादिहत रचना वाली ( गिर ) बदवायिया  
स्तुति करने वाली हैं ।

३ १ २      ३ १ २      ३ २ ३ १ २      ३ १ २

[३४०] आत्वा सखाय सख्या च वृत्त्युन्धितर पुरुचिदर्शान् जगम्या ।

३ १ २ १ २ १ २      ३ १ ३ १ २      १ २ ३ १ २      २

पितुनपातमादर्धात् वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरा दीधान ॥६॥

श० २० । १० । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ( सखाय ) तेरे समान गयाति चाहने वाल, तेरे  
रनेही ( सख्या ) मित्रभाव से ( त्वा ) तुम्हको ( भाववृत्त्यु ) प्रेम करत हैं  
या अपनात हैं । तू ( तिर ) तिर्यग् यानियों में ( पुरु ) इन्द्रियों या प्रजाओं  
में ( चिद् ) चतनावान् होकर ( अणवम् ) दह में ( जगम्या ) प्रविष्ट है  
वसका प्राप्त है । तू ( अस्मिन् क्षय ) इसनिवासवाय दह में ( प्रतरा ) अति  
उत्तम प्रकार म ( दीधान ) प्रकाशमान हाता हुआ, ( वेधा ) ज्ञान  
सम्पन्न होकर ( पितु ) सबके पालन करनेहार परमेश्वर क समान ( पात )  
इसारी रक्षा ( आदर्धात् ) कर । इन्द्रियों का आत्मा क प्रति, प्रजा का  
राजा या परमेश्वर क प्रति कथन है ।

२ ३ १      २ ३ २ २      ३ २ ३ १ २      ३      १ २      ३ २

[३४१] कोश्वय युक्ते धुरिगा ऋनस्य शिमोयता भामिनो दुर्हंयायून् ।

३ १ २      ३ १ २      ३ १ २      २ २      ३      २ ३ १ ३      १ २

आसप्तपामस्तुनाहो मयोभून् य एषा भृत्पामृषधत्स जीयात् १०

श० २ । ८४ । १६ ॥

३४०—' चिन्मवाय सखा, बहृत्वा तद पुरुचिदर्शन अन्वान् । पितुनेशाम्  
दधीन वधा अथि क्षमि प्रतर दीधान ' । इति श० ।

१. यमी अथि, अथवेदे ।

३४१—'आसप्तपामस्तुनाहो' इति श० ।

भा०—( अथ ) वर्तमान में ( अतएव ) इस गतिमान् जीवित देह रूप रथ के ( धुरि ) धुरा में ( शिमीषत ) कामना करने द्वारे ( भामिन ) आवेश से युक्त ( दु ह्य्यायुन् ) दु शील ( अप्सुवाह ) अपने अभिलाषित पदार्थों में शरीर का छजाने बाल ( भयोभून् ) सुख उपलब्ध करनद्वारे ( गा ) बैलों क समान, इन्द्रियों को ( क ) कौन ( युक्त ) लगाता है ? ( एषा आसन् ) इनके मुख में ( य ) जा ( एषां ) इनकी ( भृत्या ) भरण पोषण सामग्री को ( अणधत् ) उत्तम रूप स देता है और उनका पालन पोषण करता है ( स ) वह ही ( जीवात् ) जीवन धारण करता है ।

इति पञ्चमी दशति । एकादश खण्ड ।



॥ ६० ६ ॥ अ० १ — १ मधु-छन्दा । २ जेना माधुच्छन्दा । ३, ६ गौतम ।

४ अत्रि । ५, ८ तिरश्ची । ७ काण्वो नीपाति ५ । ९ विश्वामित्र ।

१० द्युर्वाहस्पत्य ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् । गा-धार. ॥

१ २                      ३ १२                      २१ ३ २ ३ १ २

[३४२] गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्षिण ।

३ १ २                      ३ २ ३ १ २

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वशमिष येमिरे ॥ १ ॥

अ० १। २०। १ ॥

भा०—हे शतक्रतो ! ( त्वा ) तुम्हका ( गायत्रिण ) गान करनद्वारे उद्गाता, सामगायक ( गायन्ति ) गान करते हैं । ( अर्कमिष ) अर्कमिषी विद्वान् ( त्वा अर्चन्ति ) वदमन्त्रों द्वारा तरे गुणगान करत हैं । ( ब्रह्माण ) और अथर्ववेद या चारों वेदों क विद्वान् ब्रह्मा लाग ( त्वा ) तुम्हका ( वशम् इव ) अपने वशधर, प्रथम पुरपा क समान ( उद् येमिरे ) उदकाटि पर मानते हैं ।

२ ३ १ २

३ १ २ ३ १ २

[३४३] इन्द्र विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचस गिर ।

३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ ३ २ ३ १ २

रथीतम रथीना वाजाना सत्पतिं पनिम् ॥ २ ॥

अ० १ । ११ । २ ॥

भू०—( विश्वा गिर ) समस्त वेदवाणियों ( समुद्रव्यचस ) आकाश के समान सर्वत्र व्यापक, ( रथीना रथीतमम् ) महारथियों में सर्वश्रेष्ठ महारथी के समान दहधारियों में सब से विराट् देह, महाएट को धारण करनहारे, सबक प्रेरक, ( वाजानां ) सब ज्ञानवान् पुरुषों के ( सत्पतिं ) सब्से स्वामी, या सज्जनों के पालक और ( पनिं ) सबके पालक ( इन्द्र ) परमेश्वर को ( अवीवृधन् ) बड़ा कइती हैं, उसकी महिमा को बढ़ाती हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३४४] इममिन्द्रसुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

शुक्रस्य त्वाभ्यस्तरन् धारा ऋतस्य सादनं ॥ ३ ॥

अ० १ । ६४ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ( इमे ) इस ( अमर्त्यं ) मरणघर्मा पुरुषों को प्राप्त न होने वाले, या कभी नष्ट न होने वाले, दिव्य, ( ज्येष्ठ ) सब से उत्कृष्ट, ( मदम् ) आनन्दस्वरूप, ( सुतं ) योगज ज्ञानसम्पन्न इस को ( पिब ) पान कर । ( ऋतस्य ) सत्य ज्ञान के ( सादनं ) उत्पन्न होने की स्थिति में ( शुक्रस्य ) शुद्धस्वरूप, शुक्र, कान्ति की ( धारा ) धारणाशक्ति, धारा या प्रवाह ( त्वा ) तेरे प्रति ( अभि अतरन् ) बढ़ते हैं ।

पतञ्जलि ने योगसूत्र में स्पष्ट लिखा है—'निर्विचारवैशारद्ये अर्थात् प्रसाद' । जिस पर व्यासदेव न लिखा है "अशुद्धपावरसमलापेतस्य प्रकाशामनो बुद्धितत्त्वस्य रजस्तमोग्वाभनभिभूत स्वच्छ स्थितिप्रवाहा वैशारद्य । यदा निर्विचारस्य समाधवैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवति अर्थात्प्रसाद । भूतार्थविषय क्रमानुबोधी स्फुट प्रज्ञाशोक' । अतः

मरा तत्र प्रज्ञा । ( पात० सू० ) तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या 'अतभरा' इति सज्ञा भवति । अन्वयां च सा । नच तत्र विपर्यास ज्ञानगन्धोऽपि ॥" इसी प्रकार ऐतरेय उप० में भी लिखा है । अर्थात् निर्मल चित्त होजाने पर स्वच्छ स्थिति प्रवाह होजाता है तब योगी के सत्य ज्ञान का प्रज्ञा नयन सुख जाता है ।

१ २                      ३ १ २  
[३४५] यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति त्वादातमद्रिव ।

३ १ २                      ३ १ २  
राधस्तद्यो विददस उभया हस्त्याभर ॥ ४ ॥

अ० ५। ३९। १ ॥

भा०—हे अदिव 'सब अन्धकारों को दूर करनेहारे इन्द्र ! ( मे ) मेरा ( इह ) इस ससार में ( यद् ) जो ( त्वादात ) तेरे से दानरूप में प्राप्त करने योग्य ( नास्ति ) नहीं हुआ है ( तद् राध ) वह धन या सिद्धि हे ( चित्र ) पूजनीय ' हे ( विददसो ) विद्वानों के एकमात्र प्राणस्वरूप ' ( मः ) हमें ( उभया हस्त्या भर ) दोनों हाथों से, दिल खोलकर दे ।

३ ५ २ २                      ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[३४६] शुधी इत् तिरश्च्या इन्द्र यस्त्या सपर्यति ।

३ १ २ ३ १ २                      ३ १ २                      ३ १ २  
सुर्ययंस्य गोमतो रायस्पृद्धिं मर्दाँ असि ॥ ५ ॥

अ० ८। ६५। ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ( य ) जो ( त्वा ) तुझे ( सपर्यति ) उपासना करता है उस ( तिरश्च्या ) पूर्ण रूप से शरीर में गति करनेहारे प्राण, या पूर्ण ज्ञानी साधक की ( इव ) स्तुति का ( शुधि ) भक्षण कर, स्वीकार कर । हे इन्द्र ! तू ( महान् असि ) बड़ा है, इसलिये ( सुर्ययंस्य ) उत्तम धर्मसंग्रह ( गोमत ) पशु एवं इन्द्रिय और वाणी आदि से युक्त ( राय ) धनों और ज्ञानों से हमें भर दे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३४७] असावि साम इन्द्र ते शविष्ठ घृण्यजागहि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 आ त्वा पृणक्तिद्रिय रज सूर्यो न रश्मिभि ॥ ६ ॥

श्र० १ । ८४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! ( ते ) तेरे लिये ( सोम ) सोम, ऐश्वर्य और ज्ञानानन्द ( असावि ) उत्पन्न किया जाता है । हे ( शविष्ठ ) अति बलिवृद्ध ( घृण्य ) सबका परास्त करनेवाले ! ( जागहि ) आ जा, समीप आ जा । ( इन्द्रिय ) यह इन्द्रिय और चित्त अथवा तारी विभूति या एश्वर्य ( त्वा ) तुम्हको ( सूर्ये न ) सूर्य जिस प्रकार ( रश्मिभि ) अपनी रश्मियों से ( रज ) इस प्रकाशवृद्ध का पूरा वृत्ता है उसी प्रकार ( आ पृणक्तु ) सब आर से भर दे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३४८] एन्द्र याहि हरिभिरुप कएवम्य सुश्रुतिम् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 दिवो अमुष्य शासतो दिव यय दिवाजसो ॥ ७ ॥

श्र० ८ । ३४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! अपने ( हरिभि ) शत्रु प्राप्त करानेवाले साधनों, इन्द्रियों से ( कएवम्य ) कर्णों से संचित इस देह या देही या प्रज्ञावान् आत्मा की ( सुश्रुतिम् ) उत्तम श्रुति या उपभाग का ( उप यायाहि ) प्राप्त कर और भाग कर । हे ( दिवाजसा ) अपने तत्त्व से प्राणरूप होकर बसनेवाले जीव ! ( अमुष्य ) उस तारे ( दिव ) इस शौक्लिक का शासत ) शासन करनेवाले जगदीश्वर के ( दिव ) दिव्य कान्ति का ( यय ) चला, जा, प्राप्त कर ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३४९] आ त्वा गिरो रधीरिवास्थु सुतेषु गिर्वण ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 अमि त्या समनूपत गापो वत्स न धेनव ॥ ८ ॥

श्र० ८ । १५ । १ ॥

भा०—हे गिर्वणः ! वेदवाणियों द्वारा ज्ञान करने योग्य ( सुतेषु ) योगसाधनों में, यज्ञों में ( गिरः ) वेदवाणियों ( रथी इव ) वेगवान् रथा रोहियों के समान ( एवा अस्थु ) तेरे ही प्रति आ जाती हैं । ( गाव ) ये वेदवाणियां ( धेनवः घसं न ) गौए जैसे अपने बछड़े के प्रति आती हैं उसी प्रकार ( एवा अभि सम् अनूपत ) तेरी ही प्रत्यक्षरूप से स्तुति करती हैं ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
[३५०] एतो न्विन्द्र म्त्वाम शुद्ध शुद्धेन साम्ना ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

शुद्धैरुत्थैर्वावृष्वांसं शुद्धैराशीर्वाण् ममत्तु ॥ ६ ॥

अ० ८। १५। ७ ॥

भा०—हे विद्वानो ! आप लोग ( आ इत ) आओ, ( तु ) और ( शुद्ध इन्द्र ) विद्या और तप से पवित्र ( शुद्धन साक्षा ) स्वरसंस्कारों से शुद्ध सामगान द्वारा, ( शुद्धैः उत्थै ) पवित्र ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा ( वावृष्वांसं ) महिमा से बड़े ( इन्द्र ) परमेश्वर को ( म्त्वाम ) स्तुति करें । ( शुद्धैः ) शुद्धिजनक तपों सह ( आशीर्वाण् ) शुभ आशीर्वादों से युक्त होकर ( ममत्तु ) आनन्द प्रसन्न रहें ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
[३५१] यो रथि वा रथिन्तमो यो शुम्नैर्युम्नवत्तम ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

सोम सुतः स इन्द्र तंशस्ति स्वधापने मदः ॥१॥

अ० ६। ४४। १ ॥

भा०—( यः ) जो स्वयं ( रथिन्तमः ) सबसे उत्तम पुरवयं, है और ( य शुम्नैः ) जो काम्तिर्यों ओजों और पेश्वों से ( युम्नवत्तमः ) अत्यन्त

३५०—'शुद्ध आशीर्वाण्' इति अ० ।

३५१—'यो रथिवो' इति अ० ।



अधिक कान्तिसम्पन्न, पृथयंवान् है ( स ) वह परमेश्वर ( व ) आप लोगों को ( शयिम् ) ज्विन, धन दे। हे परमेश्वर ! ( हे स्वधापते ) हे समस्त स्वध अपने को धारण करन डारे जीवों क पात्रक, ( सुत ) तैयार किया हुआ ( सोम ) सोम ज्ञान, ज्ञानन्दरस या समस्त पृथय ही ( ते मद ) तरे हर्ष का साधन ( अस्ति ) है ।

इति षष्ठी दशति । द्वात्रिंश खण्ड ।

इति तृतीयोऽध्याय



अथ चतुर्थाऽध्यायः

।।६०।। अथि — १ भरद्वाजो वाईस्वरव । २ वाग्देव शाकपूतो वा । ३ प्रियमथ । ४ प्रगाथ । ५ श्वावास्व आग्नेय । ६ श्यु । ७ वाग्देव । ८ जेता माधुच्छन्दम ॥ देवता—२-४, ६, ८ इन्द्र । ५ मरुत । ७ दधि

ऋषावा ॥ अनुष्टुप् । गान्धार ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २  
[३५२] अथस्मै विपीषते विश्वानि विदुषे भर ।

३ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २

अथस्मै विपीषते विश्वानि विदुषे भर ॥ १ ॥

अ० ६ । ४२ । १ ॥

भा०—( अस्मै विपीषते ) इय सोम पान करने की इच्छा वाले, ( विश्वानि विदुषे ) समस्त पदार्थों के जानने वाले, ( अथस्मै ) सर्व व्यापक, ( अथस्मै विपीषते ) कभी पीछे न जाने वाले, अथुत स्वयं के अग्रनेता, ( नर दधने ) मनुष्यों को सम्मार्ग पर ल जानेडारे परमेश्वर रूप नेता के लिये ( प्रति भर ) प्रतिदिन अपने आपका समर्पण कर ।

१ २                      ३ १ ३ १ २      ३ २  
 [३१३] आ नो वयो वयशय महान्त गद्गरष्टाम् ।

३ १ २    ३ २    ३      ३ १ ३ ३    १ २

महान्त पूर्वनेष्टाम् । उग्र वचो अपावधी ॥२॥

भा०—( न ) इस श्लोक ( वय शय ) जीवन भर को समाप्त करने  
 द्वार कालरूप ( महान्त ) वय भार, ( गद्गरष्टाम् ) हृदयगुहा में स्थित,  
 ( वय ) जीवनप्रश् ( वय शय ) जीवन भर में व्यापक बल का ( आ )  
 हमें प्रदान कर । और ( पूर्वनेष्टां ) प्रारम्भ काल से ससार का नियम स  
 चक्राने द्वार ( महान्त ) उग्र महान् परमेश्वर की हम स्तुति करत हैं । हे  
 पुण्य ! ( उग्र वच ) उग्र वचनों को ( अपावधी ) दूर मार भगा ।  
 और सौम्यगुण शील क सब हृद्यों में महान् प्रभु का आवास जानकर  
 और उसी का समस्त ससार का व्यवस्थापक जान कर किसी का कट्टर  
 वार्त्ता से मत सता ।

२    ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३१४] आ त्वा रथ यद्योतय मुष्णाय घर्तयामसि ।

३            १ २ ३ २ ३ १ १            ३ १ २

तुषिक्राममृतीपहमिन्द्र ऋषिष्ठ सत्पतिम् ॥ ३ ॥

ख० ८।१८।१ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार से हम ( रथ ) अपने इस समयका  
 घन=रथरूप देह को ( मुष्णाय ) उत्तम मनन करन योग्य ज्ञानरूप घन  
 की प्राप्ति के लिये ( घावनेयामसि ) पुन धारण करत हैं, उमी प्रकार ह  
 ( ऋषिष्ठ ) ब्रह्मवान् ! ( तुषिक्रामिम् ) नामा प्रकार के महान् कार्यों क सम्य  
 दन करनेहारे ( घर्तयामसि ) हृदिद्यों और दु सशायी शिष्यों के अभिभावक,  
 ( सत्पति ) साधनों क रक्षामी, ( त्वा ) तुम्ह परमेश्वर का भा ( घावने  
 यामसि ) बार २ घपन में धारण करत हैं । साकार्थ ज्ञानप्राप्ति क लिये

जहा पुन २ जन्म प्रदण करना आवश्यक है वहा मास क लिय पुन भगवदाराधन भी आवश्यक है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[३५५] स पूर्व्यो महोना घेन प्रतुभिरानजे ।

३ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

यस्य द्वारा मनु पिता दक्षु धिय आनज ॥ ४ ॥

श्र० ८ । ६२ । १ ॥

भा०—( स ) वह ( घन ) विद्वान् ( महाना ) पूजनिय पुरुषों में स भी ( पूष्य ) सबसे पूर्व पूता क योग्य है जा ( क्रतुभि ) कर्मों और ज्ञानों द्वारा ( आनज ) सबको प्ररित या प्रकट करता है । ( यस्य द्वारा ) जिसको साधन बनाकर ( मनु पिता ) मननशील स्वामी, परमात्मा ( दक्षु ) विद्वान् पुरुषों में ( धिय ) अपनी बुद्धियों का ( आनज ) प्ररित करता है ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[३५६] यदी चहन्त्याशवो आजमाना रथेष्व ।

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २

पिय तो मंदिर मधु तत्र थवांसि कृण्वते ॥ ५ ॥

भा०—( य ) जहा और जत्र भी ( रथेषु ) रथमाधन या वग वान् साधनों पर गतिशील इन्द्रियों क आधय ( आशव ) शाघ्रगामी मरुद्गण प्राणगण ( आजमाना ) कातिमान्, तजस्वी हाकर ( ई ) इस आत्मा के ( मंदिर ) पुष्टिकर ( मधु ) ज्ञान या ध्यानन्द का मात्रा का ( विषत् ) पान करत हुए ( वहन्ति ) पशुषा दत हैं वे ( तत्र ) वहा ( थवांसि ) वदवचनों, अनादित नादों का ( कृण्वते ) साक्षात् करत हैं ।  
जैसा कहा है—

\* आगमतानुमानेन ध्यानाभ्यासरसन च ।

त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञा लभत यागमुत्तमम् ॥”

( याग ध्या० भा० ) मू० ५८ )

१ २ ३ १ २      ३ १ २ २ ३ १ २  
 [३५७] स्यमु घो अप्रदण गृणीषे शवसस्पतिम् ।

१ २      ३ २ ३ २ ३ १ २      ३ १ २  
 इन्द्र विश्वासाढ नर शचिष्ठं विश्ववेदसम् ॥ ६ ॥

श्र० ६।४४।४ ॥

भा०—( व ) आप लोगों के प्रति मैं ( स्यम् उ ) उस ही ( इन्द्र )  
 ऐश्वर्यवान्, ( विश्वासाढ ) सब को सहन करने हारे, ( नर ) नेता,  
 ( शचिष्ठ ) सब से अधिक शक्तिमान्, ( विश्ववेदस ) सबको जानने हारे,  
 सर्वज्ञ, ( अप्रदणं ) किसी से न मारा जाने हारे, ( शवसस्पति ) बल क  
 द्वारा सबके पादक स्वामी की ( गृणीषे ) स्तुति करता हू, उसका उप-  
 देश करता हू ।

३ १      २      ३ १ २ २      ३ १ २  
 [३५८] दधिक्राण्यो अकारिष जिप्षारश्वस्य वाजिन- ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 सुरभि नो मुखा करत् प्र न आयूपि तारिपत् ॥७॥

श्र० ४।३६।६ ॥

भा०—( जिप्षो. ) सब पर विजय प्राप्त करने हारे, ( वाजिन  
 बलवान्, ( अश्वस्य ) सर्वव्यापक, ( दधिक्राण्य ) शरीर को धारण करके  
 योनि से योनि में गति करने हारे आत्मा, अथवा ब्रह्माण्ड भर को स्वयं  
 धारण करके चलाने हारे परमेश्वर का ( अकारिष ) मैं वर्णन करता हू ।  
 घट ( न ) हमारा ( मुखा ) रूपादि विषयों को भीतर लेने वाले मुत्त,  
 इन्द्रियों को ( सुरभि ) उत्तम रूप से कार्य करने हारे, बलवान्, कर्षण  
 निपुण, ( करत् ) करे और ( न आयूपि ) हमारे जीवनों को ( प्र तारि  
 पत् ) तार दे, कृतार्थ करे, बढ़ावे ।

उ २ उ १२ २२ उ १२ २२  
[३५६] पुरां भिन्दुयुंवा वविरमितौजा अजायत ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

इन्द्रो विश्वस्य कर्मणां धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥ ८ ॥

अ० १ । १२ । ४ ॥

भा०—( पुरां भिन्दु ) समस्त देहों को कारण में जय कराकर उनका भेदन कराने द्वारा, सबको मुक्ति देनेद्वारा, ( युवा ) सबका समी ( कवि ) सबके हृदयों के भीतर का भी जानने द्वारा, अन्तदर्शी, मेधावी ( अमितौजा ) अनन्तशक्ति और बल से युक्त, ( विश्वस्य कर्मण धर्ता ) समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य को धारण करने द्वारा ( वज्री ) सबका संहारक, सर्वशक्तिमान् ( पुरु-स्तुत ) सबसे स्तुति करने योग्य, एकमात्र उपास्य देव ( इन्द्रः ) यह ऐश्वर्यशील परमेश्वर ही है ।

इति सप्तमी दशतिः । प्रथमः सप्तः ।

॥ द० ८ ॥ अपि — १, ३, ५ त्रिविधाः । २, १० वामदेव । ४ मधुच्छन्दा ।

६ भरद्वाज । ७ अत्रिः । ८ प्रस्कन्व । ९ आप्त्यक्लिप ॥

देवता—१-७ इन्द्रः । ८ वषा । ९ विश्वेशः । १०

अकृमामे ॥ अनुष्टुप् ॥ गान्धारः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३६०] प्र प्र वल्लिष्टुर्मामयं वन्दद्दीरायन्वये ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २

धिया धो मेधसातये पुरन्ध्या त्रिवासति ॥ १ ॥

अ० ८ । ६९ । १ ॥

भा०—( व ) आप लोग ( वन्दद्दीराय ) दीरों से सम्मानित, ( इन्द्वे ) ऐश्वर्यशील आत्मा कां ( त्रिष्टुभं ) मन वाणी और कर्म तीनों द्वारा प्रशंसित, ( इय ) सोम आदि धन्न या अभिजापित कामनाओं को ( प्र प्र )

उत्तम रीति से प्रकट करो । ( पुरं-धी ) इस देह या ब्रह्माण्ड रूप पुर को धारण करने हारी ( धिया ) उत्तम धारणावती बुद्धि से वह आत्मा ( मेघसातपे ) पवित्र ज्ञान की प्राप्ति कराने के लिये ( घ. ) आप लोगों को ( आ विवासति ) संयुक्त करता और अभिजापित फल प्रदान करता है ।

३ १ २      ३ २ ३    २ ३ २    ३ २ ३ १ २

[३६१] करयपस्य स्वर्विदा यावाहुः सयुजाविति ।

१ ३ २    ३ १ २    ३ २ ३ १ २    २ १    ३ १ २

ययोर्विश्वमपि व्रत यज्ञ धारा निचाय्य ॥ २ ॥

भा०—( स्वर्विदः ) ज्योतिः स्वरूप सुख को साक्षात् करनेहारे ( धीराः ) विद्वान् लोग ( यौ ) जिन प्राण और अपान को ( करयपस्य ) योगी, साधक, दृष्ट आत्मा के ( सयुजा ) निश्चय के सहयोगी, साथी ( याहुः ) बतलाते हैं और ( ययोः ) जिनके ( विश्वम् अपि ) सभी (व्रत) कर्मों को ( यज्ञं निचाय्य याहुः ) जीवन या प्राणापानमय यज्ञ के निमित्त ही निश्चय करते हैं ।

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात, प्राण, अपान, चित्त और अहंकार, मन, बुद्धि आदि साथी समझने चाहियें । आधिदैविक पक्ष में मित्रावरण, सूर्य और मेघ लेने चाहियें ।

१ २ ३    १ २      ३    १ २      ३    १ २

[३६२] अर्चन्तु प्राचर्चना नरः प्रियमेधासो अर्चन्त ।

१ २      ३    २ ३ २ २    ३    २    ३ २ २

अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद् धृष्यवर्चन्त ॥ ३ ॥

अ० ८ । ६९ । ८ ॥

भा०—हे ( प्रियमेधासः ) उत्तम बुद्धि वाले ( नरः ) पुरुषों ! आप ( पुरम् एषुं इद् ) इस पुर, ब्रह्माण्ड और इस पिण्ड को धारण करनेहारे आत्मा और परमात्मा की ही ( अर्चन्त ) स्तुति करो, ( प्र अर्चन्त ) और उत्तमरूप से गुणगान करो और ( अर्चन्त ) उपासना करो । हे ( पुत्रकाः )

पुरषों को दुःखों से ग्रन्थ करने हारे लोगो ! उसी की ( उत अर्चन्तु )  
प्रार्थना उपासना किया करो ।

उ १२ २३ २ ३ १४ ३ १ २  
[३६३] उक्थमिन्द्राय शस्य चर्द्धन पुरु निष्पिधे ।

उ १२ २३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२

शक्रो यथा सुतेपु नो रारयत् सख्येषु च ॥ ४ ॥ ऋ० २ । २० । १ ॥

भा०—( पुरु निष्पिधे ) इन्द्रियों या प्रजाओं में सब प्रकार की गति देनेहारे, श्यापक ( इन्द्राय ) आत्मा की ( चर्द्धन ) महिमा दर्शाने वाला, ( उक्थ ) वेदमन्त्र ( शस्य ) उच्चारण करना चाहिये । ( यथा ) जिसस ( शक्र ) वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर ( सुतेपु ) हमारे पुत्र पौत्रों या यज्ञों में और ( सख्येषु च ) मित्रों और मित्रता के कार्यों में भी ( न. ) हमें ( रारयत् ) प्रसन्न रखे ।

उ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[३६४] विश्वानरस्य चरुपतिमनानतस्य शवस ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

एतैश्च चर्पणीनामूनी हुवे रथानाम् ॥ ५ ॥

श० ८ । ६८ । ४ ॥

भा०—हे ( मरुत ) इन्द्रियगण ! या प्रजाओं ! ( विश्वानरस्य ) समस्त ससार के नेता, ( मनानतस्य ) किसी से न हारने वाले, ( शवस ) बल के ( पति ) पालक ईश्वर को ( चर्पणीनां ) सब प्रजाओं के ( एतैश्च ) श्यवहारों के लिये और ( रथानां ऊतये ) इन देहस्वरूप रथों की रथा के लिये ( व ) आप लोगों को ( हुवे ) आह्वान करता हू ।

उ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[३६५] स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्त्तम्य शमत ।

उ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

ऊती स बृहतो दिवो द्विपो अहो न तरनि ॥ ६ ॥

श० ६ । २ । ४ ॥

समान तेजस्वी आत्मा, या प्रकाशित मूर्धाभाग के ( अन्तेभ्य परि ) दिशाओं के परल सिर या प्रातभागों से ( पतत्रिण्य ) उद्नेहार ( वष ) पड़िगण्य के समान परमहम विद्वान्गण, और अर्थात्म में इन्द्रिषगण्य ( द्विपात् ) और दा पाये मनुष्य और ( चतुष्पात् ) चौपाये पशु ( चित् ) भी ( प्रारन् ) गति करते हैं । यह उपा के रूपक में चित्तिशक्ति का बखान किया गया है। सौ=मूर्धा । पतत्रि=ज्ञान इन्द्रिषगण्य । द्विपात्=हाथ, चतुष्पाद=पैर आदि । विशोका प्रश्न का उदय ही उपा का उदय कहा गया है ।

३ १४ २२३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २

[३६८] अग्नी ये देवा स्थन मध्य आरोचने दिव ।

१ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २

षड् श्रुत कद्मृत का प्रत्ना घ आहुति ॥ ६ ॥

म० १ । १०५ । १ ॥

भा०—( य अग्नी देवा ) जो य देवगण्य ( आरोचने ) काचित्तमान् ( दिव मध्ये ) चौलोक के मध्य में ( स्थन ) विद्यमान हैं । हे देवो 'मैं आप से प्रभ करता हू कि ( व ) आप जगों का ( श्रुत कद् ) साथ २ तत्व क्या है ? ( कद् अमृतम् ) आपका अमृतस्वरूप किस प्रकार का है ? ( व ) आपको ( प्रत्ना ) प्राचीन ( आहुति ) स्मरण करने और तपण्य कान का पदांश क्या है ? अर्थात् आपका प्राचीन मूळभूत नाम और वास्तविक द्रव्य क्या है ?

इन तीनों प्रश्नों के क्रम से उत्तर देखिये अ० १ । मू० १०५ । मन्त्र १२, १५, १६ ।

३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३६९] अच साम यजामहे याम्या कर्माणि हृण्वते ।

१४ २४ ३ २ ३ १ २

वि ते सदसि राजता यक्ष देवेषु यत्तत ॥ २० ॥

भा०—( याम्या ) जिन ऋग्वेद और सामवेद में ( कर्माणि ) यज्ञ आदि समस्त सत्कार के कर्म ( हृण्वते ) करते हैं उन ( अच ) ज्ञानमय



जजनुः च ) अपना इन्द्र प्रभु भी प्रकट करते हैं । अध्यात्मपक्ष में-इन्द्रियों ने जीव को अपना स्वामी चुनते हैं । देखो ( बृहदारण्यक उप० ६ । १ । १ )

१ २                      ३ १ २ ३ २ ४    ३ २ ४    ३ १ २    ३ २ ३ २  
[३७१] अत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन्यहस्युर्ग्रयं विधेरपः ।

२ २ ३ १    २ ३ १    ३ २ ३ १    २    ३    २    ३ १ २  
उभे यत्त्वा रादसी धावतामनु भ्यसात्ते शुष्मात्पृथिवीचिदद्रिय २  
श्र० १० । १४७ । १ ॥

भा०—हे ( अद्रिव. ) अखण्ड ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! ( प्रथमाय ) सबसे श्रेष्ठतम, सबसे पूर्व विद्यमान, सब के आदि कारण ( मन्यवे ) माननीय या ज्ञानस्वरूप ( ते ) तुम्हें ( अत् दधामि ) सत्य रूप मानकर धारण करता हूँ, तुम्हें सत्य ज्ञानस्वरूप मानता हूँ । ( यद् ) क्योंकि तू ( दस्युं ) नाशक उपदधी को ( अहन् ) मारता है और ( नयं ) मनुष्यों के हितकारी ( अपां ) जल आदि पदार्थों कर्मों और ज्ञानों को ( विवे. ) प्रकट करता है । ( यत् ) और क्योंकि ( एवा ) तेरे बल पर ही ( रोदसी ) द्योलोक और पृथिवी लोक ( उभे ) दोनों ( धावताम् ) गति कर रहे हैं । हे ( अद्रिव. ) ज्ञान और बल से युक्त सब के सहकारिन् ! ( पृथिवी चित् ) यह अतिविस्तृत अन्तरिक्ष भी ( ते शुष्मात् ) तेरे बल से ( अनु भ्यसात् ) भय करता है ।

३ २ ३ २    ३ १ २    ३ १ २    ३ २ ४                      ३ १ २    १ २ ३ १ २  
[३७२] समेत विश्वा अोजसा पतिदिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम्  
२ ३ १ २    २ २    ३ १    २ ३    १ २ ३ १ २ २ २    ३ २ ३ २  
स पूर्यो नूतनमाजिगीपन्तं यर्तनीरनुवाचुत एक इत् ॥३॥

भा०—हे ( विश्वा ) समस्त प्रजाधो ! ( अोजसा ) अपने अोज या तेज से ( यः एकं पृथ्वीम् ) जो स्वयं अकेला, सामर्थ्यवान् सत्स्वरूप,

३७१—'अहन्यहस्युर्ग्रयं' इति 'उभे यत्त्वा भवतो रोदसी अनुरोजत' इति च श्र० ।

समस्त जगत् का उत्पादक है, ( जनानाम् अतिथिः ) और जो समस्त प्राणियों के भीतर स्थापक है, उस ( पति ) सब के पालक परमेश्वर की शरण में ( सन् एत ) आताओ । ( स पूर्वम् ) वह सबसे पूर्व विद्यमान होकर ( नूननम् ) पुनः बाद में उत्पन्न ( आजिगीपन्तं ) इस ससार की शक्तियों पर विजय चाहने वाले मानव पुरुष के लिये ( एक इत् ) एक ही ( घर्तनीः ) मार्ग ( अनु वाचते ) है ।

‘स पूर्वेषामपि गुरः कालेनानवच्छेदात् ।’ यौ० सू० ।

नान्यः पन्था विद्यते श्रयनाय । यजु० ।

३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[३७३] इमे त इन्द्र ते वय पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।

२ ३ ३ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २

नदि तद्दन्वो गिर्विषा गिरः सघत् क्षोणीत्वि प्रति तद्धर्ष नां वच ४

श्रु० १ । ५७ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हे ( प्रभूवसो ) ! अभूत धनसम्पन्न ! हे ( पुरु-स्तुत ) सब प्रजाओं से स्तुति किये गये ! ( ये वय ) जो हम ( त्वा आरभ्य ) तुझ से ही प्रारम्भ करके ( चरामसि ) यात्रा कर रहे हैं । ( इमे ते ) ये वे हम सब ( ते ) तेरे ही हैं । हे ( गिर्विषा ) वाणियों के एकमात्र विषय ! ( गिर ) इन सब वेदवाणियों को ( त्वत् भग्यः ) तुझ से दूमरों को ( नदि सघत् ) प्राप्त नहीं होता अर्थात् वे सब तेरी ही स्तुति करते हैं । ( तत् ) इसलिये ( नः वचः ) हमारी वाणी को तू ( क्षोणीः इव ) माता पृथ्वी के समान ( प्रति हर्ष ) स्वीकार कर, श्रवण कर । जैसे सब पदार्थ ऊँके जाकर भूमि पर ही आ गिरते हैं उसी प्रकार सब वाणिषा ईश्वर पर ही आ गिरती हैं । इम कारण हे भगवन् ! हमारी वाणियों को भी तू ही स्वीकार कर ।

उ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २  
 [३७४] चर्षणीधृत मघवानमुक्थ्या३ मिन्द्रं गिते बृहतीरभ्यनूपत ।  
 उ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाण दिवेदिवे ॥५॥  
 अ० १ । ५२ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगों ! ( चर्षणीधृत ) समस्त मनुष्यों को धारण करने हारे, ( मघवान ) ऐश्वर्यसम्पन्न, ( उक्थ्या ) वेदमन्त्रों से स्तुति करने योग्य, ( वावृधान ) महिमा में बसे, ( पुरुहूत ) प्रजाधों से पूजित, ( अमर्त्य ) अमर, नित्य ( दिवेदिवे जरमाण ) प्रतिदिन स्तुति किये गए ( इन्द्र ) परमेश्वर को ( बृहती गित ) हमारी बृहती इन्द्र की वेदवाक्यिणी अथवा अति ज्ञानसम्पन्न, बहुतसी स्तुतियां ( अभि अनूपत ) साथ स्वरूप वर्णन करती हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३७५] अच्छा व इन्द्र मतय स्वर्युं सध्रीधीर्विभ्या उशतीरनूपत  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 परिष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्यु मघवानमूलये ॥६॥  
 अ० १० । ५३ । १ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( मर्यं पतिं ) अपन पतिरूप पुरुष को ( जनय ) क्षियों ( परिष्वजन्त ) आश्लिष्यन करती हैं और जिस प्रकार अभीष्ट प्राप्ति के लिये ( शुन्ध्यु ) व्यवहार में शुद्ध, ( मघवान न ) महाजन के पास प्रजा आती हैं उसी प्रकार ( स्वर्युं ) आनन्द और स्वर्ग के सुखका संग कराने वाली, ( सध्रीधी ) एकसाथ पड़ी गई ( विभ्या मतय ) समस्त स्तुतियों ( व ) आप लोगों की ( अशती उशती ) उत्तम रूप से कामना करती हुई ( इन्द्र अनूपत ) उस परमेश्वर की ही स्तुति करती हैं ।

उ २४ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 [३७६] अभि त्वं मेवं पुरुहूतमृगिमयामन्द्र गीर्भिर्मदता वस्यो अर्णमम्  
 २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 यस्य घावो न विचरन्ति मानुष भुजे महिष्ठमभिप्रमर्चत ॥७॥

अ० १ । ५२ । २ ॥

भा०—( त्व ) उस चिरस्मरण्य, ( मेव ) सब सुखों के वर्णनेहारे, ( पुरुहूत ) प्रतापों के स्तुतिपात्र, ( अगिमय ) अग्निमयों अर्थात् वेदमन्त्रों में प्रतिपाद्य, ( वस्य अर्णवम् ) सब जीवनोपयोगी साधनों, प्राणों और वास कराने हारे ब्रह्माण्डों के एकमात्र महासमुद्र, ( महिष्ठ ) दानशील, ( विप्र ) ज्ञानी, ( इन्द्र ) उस ईश्वर को ( भुजे ) अपने पालन पोषण के निमित्त ( अभि अर्चत ) निरन्तर स्तुति करो, ( यस्य ) जिसकी ( घाव न ) ज्ञानमय किरणें ही माना ( मानुष विचरन्ति ) मनुष्यलोक को माना प्रकार से व्यापती हैं ।

२४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३७७] त्व सुमेध महया स्वर्विद् शत यस्य सुभुव साकमीरत ।  
 २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 अत्य न वाज हवनस्यद् रथमन्द्र वृत्त्यामत्से सुवृत्तिभिः ॥८॥

अ० १ । ५२ । २ ॥

भा०—हे मनुष्य ! ( त्व ) उस ( सुमेध ) उत्तम सुखों के वर्णक, ( स्वर्विद् ) स्वर्ग मोक्ष का आनन्दलाभ करानेहारे की तू ( महय ) पूजा कर । ( यस्य सुभुव ) जिस उत्तम सत्तावान्, सबके मूलकारण ईश्वर के यनाय ( शत ) सैकड़ों कार्यस्वरूप ब्रह्माण्ड ( साकम् इरते ) एक साथ गति कर रहे हैं । मैं ( अथसे ) रक्षा के लिये ( सुवृत्तिभिः ) उत्तम स्तुतियों द्वारा ( अथ वाज न ) अतिक्रमण करनेहारे घाव के समान ( हवनस्यद् ) उत्तम स्तुतियों से हृदयों में दबिन जाने वाले, ( रथम् ) रथगाय, परम मनोहर, रथ स्वरूप ( इ द ) समस्त देवियों के स्वामी, परम ईश्वर को ( आ वृत्त्या ) पुनः २ वर्षों तक, पुनः स्मरण करू, जपू ।

३ १ २ ३ १ २      ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २  
 [३७८] वृत्तपती भुवनानामभिधार्थी पृथ्वी मधुदुघ सुपेजला ।

१ २ ३ ५ २    १ २ ३ १ २ ३ १ २      ३ १ ३ ५ २  
 छायापृथिवी वरुण्य धर्म्या विष्कभिते अजर भूरिरतसा ६ ॥

श्र० ६ । ७० । १ ॥

भा०—( वतयती ) दीक्षे स युक्त, ( भुवनानाम् अभिधार्थी ) समस्त भुवनो का आध्वरूप ( उर्वा ) बहुत दही, ( पृथ्वी ) बहुत विस्तृत, ( मधुदुघं ) समस्त प्राणियों क जावास्व रस का दाह्य करनहारी, ( सुपेजला ) सुन्दर मनाहारी स्व वाली ( भूरिरतसा ) वस्तु प्रकार के स्थावर जगमों क बाजा का धारण करन हारी ( छायापृथिवी ) सूर्य और पृथिवी ( वरुण्य धर्म्या ) सर्वधर्म सभके धरण करने योग्य परमेश्वर क सामर्थ्य से ( विष्कभिते ) अथवा आकाश में दहा है ।

० २ २ ३ १ २      ३ २ २ १ २  
 [३७९] उमे याद द्र गोदसी आप्रमायापा इय ।

० १ २      ३ १ २ २ १ २      ३ २  
 महान्त त्वा महीना सम्प्राज चर्षणीताम् ।

३ १ २    २ २      ३ २      २  
 दधी जनित्र्यर्ज जगद्भद्रा जीनयनीजनत् ॥ १० ॥

श्र० १० । १३४ । १ ॥

भा०—हं ( इमं ) परमेश्वर । यन् ( जा ) ( उमे ) दा ॥ ( गदमी ) की और पृथिवी को उपा इव) प्राप्त कालिक तृणप्रभा क समान ( आ प्रमाथ ) चारों धार से प्रकाशित कर दन हा इमी कारण ( महीना महा १ ) यहाँ में दही ( चर्षणीता ) मनुष्यों क ( सम्प्राज ) सामान्यरूप आपकी ( दधा जनित्रा ) दिव्य गुणवाली बदमाशा ( जगद्भद्रा ) पैया ही प्रकट करती है, ( भद्रा जनित्री ) कल्याणकरिणी बदमाशा ( जगद्भद्रा ) पैया ही प्रकट करती है ।

२३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [३८०] प्रमन्दिने पितुमदचंता यथा य कृष्णपर्मा नरहृष्टिभिन्ना ।  
 ३ २३ १० ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 अतस्यो वृषण वज्रदक्षिण मरुत्वन्त सख्याय हुवेमदि ॥११॥  
 श्र० १। १०१। १॥

भा०—( प्रमन्दिने ) उत्कृष्ट हर्ष, आनन्दयुक्त ईश्वर के लिये ( पितु मत् ) मारवाम् ( वत् ) चाणिया ( अर्धत ) उच्चारण करो । ( य ) जो घपन प्रभाव से ( कृष्णपर्मा ) पाप को अपने भीतर धरनेहारी दुष्प्रवृत्तियों को ( श्रिगिश्चना ) साक्ष ज्ञान स ( नि अहन् ) नाश करता है । ( अथ स्यव ) रक्षण की दृष्टा करने हारे ( वृषण ) सुख घर्षण करने हारे ( वज्रदक्षिण ) विघ्नविनाशकों में श्रेष्ठ ( मरुत्वन्तं ) प्राणों क ओर प्रजाओं के आश्रय परमेश्वर को हम ( सख्याय ) अपने मित्रभाव के लिये ( हुवेमदि ) आह्वान करते है ।

इति नवमी दशति । तृतीय खण्ड ।



॥ ८० १० ॥ अथे — १ नारद । २, ३ गोकुलपदवृत्तिनी । ४ पर्यन्त ।

५-७, १० विद्वन्मना वैषथ । ८ नृमेरु । ९ गौतम ॥ इन्द्रो

दवता ॥ उष्णिक् । अथम ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३८१] इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीप उरुध्यम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

विदे वृषस्य दक्षम्य मर्षां हि य ॥१॥ अ० ८। १३। १ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन्<sup>१</sup> ( सुतेषु सोमेषु ) सामरूप इषंकारी ज्ञान दशाए उररत्न होने पर ( उरुध्य प्रतु ) वेदानुकूल कर्म और ज्ञान को ( दक्षस्य वृषस्य विदे ) अत्यन्त श्रेष्ठ हुए वज्र के लाभ के लिये ( पुनीपे )

३८०— इवाम<sup>२</sup> इति अ० ।

३८१—दक्षया महादि स इति अ० ।

प्राप्त करता है । क्योंकि ( महान् इति स ) यह ईश्वर महान् है । सर्वोप  
द्वियों की प्राप्ति के अनन्तर अग्निमादि सिद्धिया का जय होता है, तथा  
यह महान्, सम्राट् आदि बनता है ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २

[३८२] तमु अभि प्र गायत पुरुहूत पुरुद्वृतम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२

इन्द्र भीर्भिस्तापमग्निजासत ॥२॥ अ० ८ । १२ । १ ॥

भा०—( पुरुद्वृत ) समस्त प्राणा या प्रजाभा स स्मरण किय गय  
( पुरुद्वृत ) प्राणा या प्रजाभा द्वारा स्तुति किय गय ( तम् उ ) उमका  
ही ( अभि प्रगायत ) कोत्तन करो । हे विद्वान् आगा ! ( तावप ) महान्  
( इत् ) ईश्वर को ही ( भा विधासत ) सब के सामन प्रकट करो, उसकी  
उपासना करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[३८३] त त मद गृणामसि वृषण प्रजु सासहिम् ।

३ १ २ ३ १ २

उ लोकहृत्नुमादिवो हरिभियम् ॥ ३ ॥ अ० ८ । १२ । ४ ॥

भा०—हे ( आदिव ) ज्ञानसम्पन्न ! ( त ) तरे ( त ) उम ( वृषण )  
सब प्राणियों के पापक ( वृष सासहिम् ) सब सघनों में मो कभी नष्ट न  
हान वाले, सब से बड़कर ( साकृत्नु ) समार के उत्पादक ( हरिभियम् )  
हरयशज, ज्ञानियों के आशय छेमे योग्य ( मद ) आनन्दनस की ( उ )  
ही ( गृणामसि ) शर्षा करें ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[३८४] यन्सेमीमन्द्र विष्णुयि यद्वा ध त्रित आप्यं ।

१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १२ २२

यद्वा महत्सु मन्द्मे समिन्दुमि ॥४॥ अ० ८ । १२ । १६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! ( यत् सोमम् ) जिस सोम, सधेक प्रेरक, सर्वोत्पादक वीर्य या परमानन्दरस को ( विष्णुवि ) सधेष्वापक ईश्वर में ( यद् वा घ ) या ( आष्ये ) परम समाधि में प्राप्त ( त्रिते ) तीनों भूमियों को क्रमण करने वाले योगी आत्मा में, ( यद् वा मरुत्सु ) जो प्राणों, इन्द्रियों या भूमियों में या प्रजाओं में विद्यमान पाते हैं उन सध ( इन्दुभि ) आनन्दों से हे देव ! तू ही ( सुमन्दसे ) आनन्दस्वरूप प्रकट होता है ।

आनन्द की मीमासा देखो ( तैत्तरीय उप० आनन्दवल्ली )

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २

[३८५] एद् मधोर्भदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः ।

३ २ ४ ३ १ २ २ २ १ २

एवा द्विधीर स्तवते सदावृधः ॥५॥ अ० ८। २४। १६ ॥

भा०—हे (अध्वर्यो) अहिंसक पालक (सदावृधः) सदा बढने वाला, महामहिम, ( धीरः ) सामर्थ्यवान्, प्रभु (एवा द्वि) ही (स्तवते) स्तुति किया जाता है । अतः ( मधोः अन्धसः ) मनोहर आनन्दकारी अन्न के (मदिन्तरं) अति अधिक आनन्दप्रद तृप्तिकारी अन्न को उसी के लिये (आ सिञ्च) धा से चन कर । अन्न और मधु की विवेचना बृहदारण्यक उपनि० में स्पष्ट की है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[३८६] एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिवाति सोम्यं मधु ।

१ २ २ ३ २

प्र राधांसि चादयते महित्वना ॥६॥ अ० ८। २४। १३ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! ( इन्द्राय ) उस इन्द्र के लिये ( इन्दुम् ) आह्लादकारी, कान्तिसम्पन्न, ज्ञानमय सोम का ( आसिञ्चत ) सेचन करो, वह ( सोम्यं मधु ) शान्तिदायक मधु का ( पिवाति ) पान करे, वही ( महित्वना ) अपनी महिमा से ही ( राधांसि ) बहुतसी विमूर्तियों ( प्र चादयते ) प्रकट करता है, प्रदान करता है ।



१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [३=७] एतोन्विन्द्र स्वयाम सखाय स्तोम्य नरम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

वृषीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥७॥ अ० ८ । २४ । ६६ ॥

भा०—हे (सखाय) हे मित्रो ! (एत उ तु) आधा । और (स्तोम्य) स्तुति के योग्य, (नर) नेता (इन्द्र) पृथ्वर्यय नू परमेश्वर की (सखाम) स्तुति करें । (य) जो (विश्वा कृष्टी) समस्त मनुष्यों पर (एक इत्) अकेला ही (अभि अस्त) व्यापक शानक है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ० ३ २  
 [३=८] इन्द्राय माम गायत विषाय वृहते घृडत् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

ब्रह्महृते विपश्चिते पनस्यवे ॥८॥ अ० ८ । २८ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् सामगायका ! (वृहते) महान् (विषाय) विद्वान् (ब्रह्महृते) ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने हार (विपश्चित) सधावी, (पनस्यवे) स्तुति के योग्य (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (घृडत् साम) वृहत् नामक साम (गायत) गान करें ।

२ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३=९] य एक इन्द्रियते वसु मर्ताय दाशुषे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

ईशानो अशनिष्कृत इन्द्रो अङ्ग ॥९॥ अ० १ । ८४ । ७ ॥

भा०—(य) जो (एक इत्) अकेला ही (दाशुषे मर्ताय) दान शील पुरुष को (वसु विद्वने) नाना रूप से धनधान्य देना है (अङ्ग) हे मनुष्यो ! वह (इन्द्र) परमेश्वर (अशनिष्कृत) सपथ बद्दकर, किमी से भी पराजित न होने वाला (ईशान) सपथा स्वामी है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३=१०] सखाय आजिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वजिणे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

स्तुष ऊपु या नृतमाय घृण्यथ ॥१०॥ अ० ८ । २४ । १ ॥

भा०—हे ( सत्य ) मित्रता<sup>१</sup> ( वरिष्ठे ) सर्व वि. निरकरक वज्ररूप  
 शान को धारण करन द्वारे ( इन्द्राय ) परमेश्वर के प्रति। अर्पण क्रिय ( वज्र )  
 येइ प्रतिपादित वज्रज्ञान की ( आशीर्वादात् ) कथा बधा करते हैं । ( व )  
 अथ लोगों क प्रति नै ( उ मृतमाय ) उस पुत्रभोगम ( अणुव ) समय  
 बढ़ जाने और सबको पराजय करने द्वारे परम वशी परमेश्वर के ( सुरतुय )  
 यथार्थ हरण का वर्णन करता ह ।

इति दशमी दर्शा । अथुय एवम् ।

इति द्वितीयाऽध्यायः । अथुय प्रयागथ समाप्तम् ॥



अथ पञ्चम प्रपाठक ( प्रथमोऽर्क )

॥० १॥ अथि — १ प्रयाग । २ भरद्वाज । ३ मृतम् । ४ वर्णम् । ५

० इतिमिदि, ६ विश्वमना । ७ वर्णम् ॥ देवता-१-४, ८

इन्द्र । ९ ० आशिर्वात् । १० अग्नि । ११, -१-०

अणुव् । १२ विश्वमिदि ॥ अथम् ॥

३ ३ १ १ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २

[ ३६१ ] गृण्यं तदिन्द्र ते गय उपमा देवतातय ।

१२ २२ ३ १२ २२

यद्वंसि वृत्रमोजस्रा शनीपते ॥१॥ ए० ५। १०। ८ ॥

भा०—हे इन्द्र<sup>१</sup> ( अथ ) यथोक्ति मृ ( अतिमा ) अथो माः अर्धे  
 और वर से ( वृत्रम् ) आवात्कारी अथवा अन्धकार को ( शनि )  
 विनाश करता है । हे ( शनीपते ) सर्वशत्रुमन्<sup>१</sup> ( म । मर ( मर )  
 वज्र की ( देवतातय ) विश्वानों के क्रिय ( उपमा ) अणुव्य ( गृण्य )  
 श्रुति करता ह । अर्थात् वज्र क सभी बाणों से इन्द्र का हा उपमा दे  
 जाता है ।

२ ३ ११ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३६४] यस्य त्यच्छम्बर मदे दिवोऽश्राप्ताय रन्धयन् ।

३ ११ १ ३ ११ २२  
 अथ स सोम इन्द्र ते सुत पिव ॥ २ ॥

श्र० ६ । ४३ । १ ॥

भा०—( यस्य मदे ) जिसके तृप्तिकारक प्रसाद और ध्यान इ स्वरूप ( दिवाऽश्राप ) प्रकाश के आश्रयस्थान सूप, घादित्य महाधारी के लिये ( त्यत् शम्बर ) उस शान्तिवर्षक मद्य या धर्ममद्यत्थ आत्मा के स्वरूप को ( रन्धयन् ) साधता हुआ इ ( इन्द्र ) परमधर ' ( स साम ) यह साम, साधक पागी आपधिरस के समान ( ते ) तरी प्राप्ति के लिये ( अथ ) यह ( सुत ) तैयार हुआ है । तू उस ( पिव ) पान कर, अपने शरण में ल, स्वाकार कर।

१ २ ३ १ २  
 [३६५] एन्द्र नो गधि प्रिय मन्त्राजिद्गोह्य ।

३ २१ ३ १ २ ३ ११ २२ ३ २

। गतिर्न नश्यत पृथु पानर्दिध ॥ ३ ॥ श्र० ८ । १८ । ४ ४

भा०—हे इन्द्र ! हे प्रिय ! सबसे उत्कृष्ट ! हे ( मन्त्राजि ) सबका विनय करने वाले ! हे ( गोह्य ) अगाध्य सब के प्रति प्रकाश करने योग्य ! कभी न क्षीन होने ! तू ( दिध पति ) सूप का भी स्वामी ( गतिर्न ) पवत के समान ( विधत पृथु ) सब प्रकार से विराल है । तू ( न ) हमारे समीप ( आ गधि ) आ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३६६] य इन्द्र सोमपातमो मद् शविष्ठ चेतति ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

येनाहसि न्यरात्रण तमीमहे ॥ ४ ॥ श्र० ८ । १२ । १ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवान् ! हे ( शविष्ठ ) बलिष्ठ ! ( य ) जो ( सोमपातम ) अति अधिक साम, आनन्दरस पान करने में धेष्ट ( मद् ) अत्यन्त तृप्त हूँ या दत्तचित्त होकर तू ( चेतति ) जानवान् हुआ जाता है

हमात् वाधागतक भित्ता शशु का दूर का और (दुर्भतेम्) दृष्ट मति वाङ्  
 पुत्र्य गया दु स्याया दु सकल्य का ( घप सधत ) दूर का । ( न ) हों  
 ( अहस ) पाया स ( युवातन ) गृषक का ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १  
 [३६८] ावा मानप्रिन्द्र मन्नु त्वाऽय ते सुप २ ह्यऽयदि ।  
 ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

सात्तुधात्तुभ्या सयनो नाया । ८८ । अ० ७ । १२ १ ॥

भा०—इ ( इत् ) आत्ता । ( सामन् रिय ) साम आत्तरम का  
 पान कर । इ इयथ ) हरणशाल अधर्य प्राण स चुक् । ( सात्तु )  
 प्रस्था करन हात् सारथि क ( धात्तुभ्यां ) वाहुमा म । मुपत ) उत्तम  
 रूप म नियन्त ( अया न ) घक् क समन ( स ) वद् आत्तरस  
 ( यम् ) त्रिषका ( अदि ) मघ क सत्स वरण करन वाला धममर  
 समाधि ( त ) तर त्रिव ( सुवात्र ) उपल करता है वद् ( त्या मन्नु )  
 तुक्का आनन्दित कर ।

इति प्रथमा दशति । पञ्चमः पत्रः ।

। १० २ ॥ आत् — १ — ६ ६ १० सौभरि । ७ ८ नव्य । ११ १,  
 २ ४ १ ७ — १० इत् ३ ६ मरत् । कर्तुप् करत् ॥

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [३६९] अध्रात्तुया अना त्वमात्तापदिन्द्र ननुया सतादभि ।  
 ३ २ १ २  
 युवशात्तुमिच्छसे ॥ १ ॥ अ० ८ २१ । १३ ।

भा०—इ इत् । ( थ ) नू ( ननुया ) अन्न पकट हान क काल म  
 हा ( अध्रात्तुय ) शप्ररहित अजाशशु ( अता ) विनाजा क विनायक  
 ( अनापि ) वन्धु वाधवा म रहित अद्विनाय ( सनद् ) पुराय पुत्र्य

( अस्ति ) है । तो भी ( युधा इन् ) योग द्वारा ही ( आपित्वम् ) तुम वन्धुता को ( इच्छसे ) चाहते हो, स्वीकार करते हो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[४००] या न इदमिदं पुरा प्रवस्य आग्निनाथ तमु च स्तुपे ।

१ २ ३ १ २ ३ २  
सखाय इन्द्रमूनये ॥ २ ॥ अ० ६ । २१ । १ ॥

भा०—हे ( सखाय ) मित्रो ! जो ( न ) हमारे लिये ( इदम् इदम् ) पढ़, पढ़, माना प्रकार का, उत्तम उत्तम, ( पुरा ) पढ़ले कल में, पूर्व जन्म में ( वस्य ) आच्छादन योग्य, या नियाम्ययोग्य भोग्य दृष्ट आदि ( प्र आग्निनाथ ) प्राप्त कराता रहा, ( तम् उ इन् ) उसी आत्मा या परमेश्वर की ( न ) आप के प्रति ( स्तुपे ) स्तुति करता हू ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[४०१] आगन्ता मा रिपत्यत प्रस्थावाना मापस्थाना समन्यव ।

३ १ २  
दृष्टा चिद्यमधिष्णव ॥ ३ ॥ अ० ६ । २० । १ ॥

भा०—हे महतो, प्राणो ! और विद्वान् पुरयो ! आप लोग ( आगन्त ) आओ, ( मा रिपत्यत ) मरो मत, दुखी मत होओ । हे ( प्रस्थावान ) निरन्तर गति करने वाले ( समन्यव ) शोधयुक्त या ज्ञानयुक्त होकर ( मा अपस्थान ) बुरे मार्ग पर मत भटका, क्योंकि आप लोग ( दृष्टा चिन् ) दृष्ट, बलवान् पदार्थों को भी ( यमधिष्णव ) नियमन कर लेते हो, वश करने में समर्थ हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[४०२] आयाहायामिन्दधे श्वपते गोपेन उर्वरापते ।

सोमं सोमपते विव ॥ ४ ॥ अ० ६ । २२ । ३ ।

भा०—हे ( श्वपते ) इन्द्रियों के स्वामिन् ! हे ( गोपते ) घासी के माजिक ! हे ( उर्वरापते ) प्रजनन-शक्ति के स्वामिन् ! हे ( सोमपते ) !

ज्ञानवान् ! तू ( सोमं पिब ) सोम, ज्ञान, आनन्द और बल का पान कर, उसका लाभ कर ।

१ २                      ३ २ ३ १ २ २  
[४०३] त्वया ह स्विष्टुजा धयं प्रति श्वसन्तं वृषभ मृवीमहि ।

३ १ २ २ ३ १ २                      श्व० ८ । २१ । ११ ॥  
संस्थे जनस्य गोमतः ॥ ५ ॥

भा०—हे ( वृषभ ' ) सर्वश्रेष्ठ ! ( त्वया ह स्विष्टु ) तुझे ही ( तुजा ) सहायक द्वारा ( गोमत. ) वाणी से सम्पन्न ( जनस्य ) पुरुषों के ( संस्थे ) संघ में ( श्वसन्त प्रति ) आस लेते हुए प्राणी के प्रति ( मृवीमहि ) तेरी स्तुति करते हैं ।

१ २                      २ २ २ ३ १ २  
[४०४] गावश्चिद्वा समन्यवः सजात्येन महतः सवन्धवः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १                      श्व० ८ । २० । २१ ॥  
रिहते ककुमां मिथः ॥ ६ ॥

भा०—हे ( महतः ) महद्गाय ' प्राणो ! विद्वानो ! आप लोग ( गावश्चिद् ) गतिमान्, ज्ञानवान् रहते हुए ही ( समन्यव ) ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति से युक्त ( सवन्धव. ) सब समानभाव से एक स्थान पर ही बंधे हुए, प्रेम से युक्त (सजात्येन) समान स्थान पर या समान जाति में उत्पन्न होने के कारण ( मिथः ) परस्पर ( ककुम. ) विस्तृत होकर भी ( रिहते ) परस्पर भिन्नते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[४०५] त्वं न इन्द्रामर ओजो नृमण शतक्रतो विचरंषे ।

३ १ २ ३ १ २                      श्व० ८ । १८ । १० ॥  
या वीरं पृतनासहम् ॥ ७ ॥

भा०—हे ( शतक्रतो ) सैकड़ों प्रज्ञावाले ! हे ( विचरंषे ) सब लोकों के दृष्ट ! हे ( इन्द्र ) आरामन् ! हमें ( नृमणं ) धन और ( ओज. ) बल (शामर) प्राप्त करा और ( पृतनासहं ) सेनाओं का मुखावका

करने हारे या प्रजा का भार सहन करने हारे (वीरं) वीर, सामर्थ्यवान् पुराण को ( आ भर ) प्राप्त करा ।

२ ३ ४ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[४०६] अथा दीन्द्र गिर्वण उप त्वाः काम इमहे ससृग्महे ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

उदेव गमस्त उद्भिः ॥ ८ ॥

श० ८ । १८ । ७ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! हे ( गिर्वण. ) वायिपों के एकमात्र पात्र ! ( उदा इव ) जिस प्रकार जल ( उद्भि. ) अन्य जलों में ( गमस्त ) मिल जाते हैं उसी प्रकार हम ( काम ) अपनी कामनाओं द्वारा ( त्वा उप इमहे ) तेरे पास आते हैं और ( ससृग्महे ) तेरे साथ मिल जाते हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
[४०७] सीदन्तस्ते यथा यथा गोभीते मधौ मदिरे विवक्षणे ।

३ १ २ २ २

अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ॥ ९ ॥

श० ९ । २१ । १ ॥

भा०—( यथा यथा ) हरिमणों के समान ( गोभीते ) घोरस से मिथित, ( मधौ ) मधुर, ( मदिरे ) भानन्दमद ( विवक्षणे ) विशेष सुरा या मुक्ति में खोजने वाले, ( से ) तेरे स्वरूप में हम ( सीदन्त ) विराग मान होकर हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( त्वाम् ) तेरी ( अभि नोनुमः ) प्रायश्च रूप से स्तुति करते हैं, अर्थात् तेरे भानन्द-रस में गमन होकर हम तेरी स्तुति करते हैं ।

३ २ ३ १ २ २ १ ४ ३ १ २ ३ १ २  
[४०८] ययमु त्वामपूर्थं स्पूर न कश्चिद्भ्रान्तोऽवस्यथः ।

१ २ ३ १ २

वाग्धिष्ठिन्नं हवामहे ॥ १० ॥

श० ८ । २१ । १ ॥

भा०—हे वसिन् ! हे ( अपूर्थं ) अपूर्व ! मयसे चादि में विद्यमान ( यय ) हम लोग ( अथवथ ) अपनी रक्षा चाहने हारे, ( स्पूरं न )

गुणों में अधिक स्थितिमान् पुरुष को जिस प्रकार ( कर्त्तृत्वे ) कोई प्रजा  
लोग भरण दाय्य करते हैं उसी प्रकार ( चित्रं ) पूजायोग्य ( वा ) तुम्ह  
को ( भरन्तः ) भरण या धारण करते हुए ( हयामहे ) हम तेरी स्तुति  
करते हैं ।

इति द्वितीया दशतिः । पृष्ठं खण्ड ॥



॥ द० ३ ॥ अग्नि — १—८ गौत्रमः । ९ प्रिनः । १० अवन्युः ॥ देवताः—१—८  
इन्द्र । ६ विभेवाः । १० अश्विनौ ॥ पश्चिच्छन्तः ॥ पञ्चमः ॥

३ १ ५ ७ २ ३ २ ३ १ २

ऋ १२

[४०६] स्वाद्योरित्या विपूवनो मधो विवन्ति गौर्य ।

३२ २२ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १

या इन्द्राय सयावरीं कृण्वा मदानि शोभया वस्वीरनु स्वराज्यम् ?

क० १ । ८४ । १० ।

भा०—मूर्ध और राजा के दृष्टान्त से आत्मा और ईश्वर का वयंन  
करते हैं । ( गौर्य ) शुभ्र किरणों या गमनशील सेनाओं क समान इन्द्रिया  
या विसृष्टिया, और प्रजापं ( विपूवन ) सर्वव्यापक, ( मधो ) सब  
जनोद्धार गुणों से युक्त, मधुर, ( स्वादो ) तृप्तिकारक, परमानन्द रस का  
( हृत्वा ) इस प्रकार से ( विवन्ति ) पान करती है कि ( या ) जो व  
( कृण्वा ) सब परम ध्यानन्द भरसानेहार इस इन्द्र के माय ( सयावरी )  
गमन करती हुई ( मदानि ) ध्यानन्द लाभ करती हैं और ( वस्वी )  
आवाम करन हारी वे ( स्वराज्यम् ) अपने ही राष्ट्र के समान देह या हम  
संसार रूप ईश्वर के कुटुम्ब की ( अनु शोभया ) शोभा ददाती है ।  
( मधु की व्याख्या देखो बृहदा० २ । ५ )



३ २४ ३ २४ ३ ११ ३ २३ ११  
 [४१०] इत्या हि सोम इन्मदो प्रह्य चकार वर्धनम् ।

१ २ ३ १२ ३ १२ २२ ३ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २  
 शशिष्ठ पञ्चिघ्राजसा पृथिन्या नि शशा अहिर्मर्षन्ननु स्वराज्यम् २  
 अ० १।८०।१।

भा०—हे ऋषिन् ! हे ( शशिष्ठ ) सर्वराजिन् ! ( इत्या ) इस प्रकार से । हि ) निश्चय ( सोमे ) उस आनन्दरस क बल पर ( इत् ) ही ( मद् ) आनन्दयुक्त विद्वान् जिस प्रकार ( प्रह्य ) वेद द्वारा ( वर्धनम् ) अपने ज्ञान की वृद्धि या उन्नति ( चकार ) करता है । ( अहिम् ) सूर्य जिस प्रकार मेष का भेदन करता है उसी प्रकार ( स्वराज्य ) अपने राष्ट्र या प्रताप को ( अनु अर्चन् ) प्रकट करते हुए आप अपने ( भोजसा ) बल से ( पृथिन्या ) इस पृथिवी के आवरणकारी विघ्न को ( नि शशा ) विनाश करते हैं । अध्यात्म वादियों की स्वराज्य की चर्चा उपनिषदों में स्थान २ पर है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ११ २२  
 [३११] इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभि ।

२४ ३२ ३ २ ३ ११ २२ ३ १२ २२ ३ १ २  
 ताममहत्स्वाजिपूतमर्भे हवामहे स वाजपु प्र नोऽधिपत् ॥३॥  
 अ० २।८२।२।

भा०—( इन्द्र ) परमेस्वर ! ( मदाय ) प्रजाजनों के हर्ष करने के लिये और ( शवसे ) बल क लिये ( वावृधे ) बहुत बढ़ा है । यह ( वृत्रहा ) सब विघ्नों का नाश करने वाला ( नृभि ) अपनी प्रजाओं के साथ ( वाजपु ) सम्राटों और ज्ञान यज्ञों में ( न प्र अधिपत् ) हमारी रक्षा करता है । ( अतिम् ) अपनी रक्षा स्वरूप ( तम् इत् ) उसका ही ( महत्सु ) बड़े २ ( वाजपु ) ज्ञान चर्चा के स्थानों या सम्राटों, और यज्ञों में और ( अर्भे ) सूक्ष्म हृदयावास में भी ( हवामहे ) हम उसका स्मरण करते हैं ।

अग्नि, अल्प, वज्र टहर आदि का विवरण छान्दाग्य और कन दोनों उप-  
निषदों में स्पष्ट है । अग्नि=चरम सामा । राजा क पक्ष में-अग्नि=सप्राप्त ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

उक्त २२

[४१२] इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवाऽनुत्त वज्रिन्वैर्यम् ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

यद्दस्य मायिन मृग तत्र त्यन्मायया वधीर्चक्षनु स्वराज्यम् ॥४॥

श्र० १ । ८० । ७ ॥

भा०—हे ( इ-इ ) परमधर । हे ( अदिव ) मेघपति के समान  
आगन्द और ज्ञान क धन । अन्वयद या अस्त्रयिदत शक्तिशालिन् । हे ( व  
ज्रिन् ) वीर्यसम्पन्न । ( तुभ्यम् इत् ) तारा ही ( वार्यम् ) बल सामर्थ्य  
( अनुत्तम् ) कहीं रुका नहीं है । ( यद् इ ) क्योंकि ( त्य ) उस ( मायिन )  
माया, अज्ञान या प्रकृति क जाज में पड़े ( मृग ) ज्ञान क विलापक चार  
क समान दह और मनका अथवा ( मृग ) सुख क खाजी पशु के समान  
प्यासे तृष्णालु जीव को ( मायया ) अपन प्रज्ञा क बल स ( स्वराज्य  
अनु अर्चन् ) स्व महिमा की सत्ता को प्रकट करता हुआ तू ( वधी )  
विनाश करता है, मारता है । या प्राप्त होता है, ( तव त्यत् वीर्यम् ) वह  
भी तेरा ही बल प्रताप है ।

१ ३ १ २ ३ २ ४ ३ २ ३ १ २

[४१३] प्रह्वभीदि धृष्णुदि न ते वज्रो नि यसते ।

१ २ ३ २ ४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्र नृष्णु दि ते शरो हनो धृत्र जया अपोर्चक्षनु स्वराज्यम् ॥५॥

श्र० १ । ८० । ३ ॥

भा०—( स्वराज्यम् अनु ) आत्मा क मात्सरूप स्वराज्य प्राप्त करन के  
लिये ( अचन् ) साधना करते हुए, हे ( इ-इ ) आत्मन् । ( प्रेहि ) छोड़ो आभा ।  
( धमि इ हि ) सम्मुख आओ । ( धृष्णुदि ) बाधाओं को दबाओ । ( त वज्र )  
तेरा वज्र ( व ) कहीं नहीं ( नि यसते ) दबता । हे ( इ-इ ) आत्मन् ।

४१२—'यत् तस्यन्मायया' इति श्र० ।

( ते ) तुम्हे ( नृभ्य हि ) निधय से ऐश्वर्य प्राप्त होगा । तू ( शव ) अपने बल से ( वृत्र हन ) वृत्र रूप विद्वि अज्ञान को मार और (अप जय) सब कर्मों, प्रजाओं पर विजय प्राप्त कर ।

२ ३ १ २    ३ १ २    ३ १ २    ३    १ २

[४१४] यदुदीरत आजयो धृष्यन् धायत धनम् ।

३ १ २ ३ २    २ ३ २ ३ १ २    १ ३    १ २ ३ १ २

युद्धया मदच्युता हरीकहन क वसौ दधोऽस्मा इन्द्र वसौ दध द

अ० १। ८२। ३ ॥

भा०—( यद ) जब ( आजय ) समाप्त या महाकथा प्रसङ्ग ( उद् ईरते ) उठ खड़े होते हैं तब ( धृष्ये ) सब का पराभव करनेहारे के सम्मुख ( धन ) धन, प्राप्तव्य पदार्थ ( धीयते ) रक्खा जाता है । हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( मदच्युता हरी ) हर्ष वषांने बाल और हरणशील अपने प्राण और अपान दोनों अर्थों को ( युध्व ) अपने रथ में लगा । [प्र० १] ( क हन ) तू किस शत्रु या विद्वि का नाश करता है ? और [प्र० २] ( क वसौ दध ) तू किस सहायक, साधन या योगाङ्ग को ( वषौ ) अपने देश या बिल में ( दध ) धारण करता है ? [ उ० १ ] हे इन्द्र ! ( वसौ ) इसी आवास स्थान, अन्तरात्मा में ( दध ) धारण कर और [ उ० २ ] इमें धारण कर । यह भद्रों का भगवान् क प्रति, इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, प्रजा का राजा क प्रति समान रूप से वचन है ।

२ ३ १ २    ३ १ २ ३ १

[४१५] अक्षधमीमदन्त ह्यप्रिया अधूपत् ।

१ १    १ २    ३ २    ३ १ २    ३ २ ३ ३ २ ३ १ २

अस्तोपत स्वभानवा विप्रा नग्निष्ठया मती योजान्विन्द्र ते हरी ७

अ० १। ८२। २ ॥

भा०—( स्वभानव विषा ) स्वय योगाभ्यास और तपस्या से प्रदीप्त होने वाला, विद्वान्, मेधावी लोग ( अधन् ) सब प्रकार क आनन्दों का भोग करते हैं, ( अमिमदन्त ) और हर्ष को प्राप्त हाते हैं । ये

(प्रिया) सबको प्रिय लगाने वाले काम्य पदार्थों और कामनाओं को (अथवा अवधूत) परित्याग करते, भाड़ देते, गिरा देते हैं वे सर्व-यागी, अवधूत हो जाते हैं। हे (इन्द्र) परमात्मन् ! वे (नविष्टया) अस्यन्त प्रशसनीय (मती) शुभ सकल्प या स्तुति से (अस्तोपत) तेरी स्तुति करते हैं। अतः उन पर प्रसन्न होकर (ते हरी) तू अपने अर्थों, हरगुणालि बाहनों ज्ञान और कर्म रूप घोड़ों का या समग्रज्ञात और असमग्रज्ञात समाधियों की (अनु योज) साधना कर।

३ १ २ ३ २ ४ ३ १ २ ३ १ २

[४२६] उपा पु शृणुही गिरो मधव-माऽतया इव ।

३ १ २ ४ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ४ २ २ ३ १ २

कदा न स्रुतावत कर इदधयास इद्याजान्विन्द्र ते हरी ॥८॥  
अ० १ । ८२ । १ ॥

भा०—हे (मधवन्) पृथर्ववन् ! आत्मन् ! (उप सु शृणुहि उ) तू सावधान होकर सुन (गिर) तू हमारी वाकियों की (अतया इव) प्रति वृत्त, शत्रु के समान (मा) उपेक्षा भत कर। हे (इन्द्र) पृथर्ववन् ! (स्रुतावत) सत्य और प्रिय वाणी बोलने वाले (न) हमको तू (कदा इद्) कब (कर) अपनापण ! (अर्धयास इव) आपस प्रार्थना ही की जाती है। हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते हरी योजानु) तू अपने अर्थों, व्यापक साधन प्राण अणुओं को अथ लगा। अथवा सर्वजि निर्वाज दोनों का अभ्यास कर।

३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २

[४१७] चन्द्रमा अप्स्वाभतरा सुपर्णो धायत दिवि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

न वो हिरण्यनमय-पद विन्दन्ति प्रियतो वित्त मे अस्य रोदसी ६  
अ० १ । १०५ । १ । ॥

भा०—(अनु अन्तरा) स्थान धारणाओं, सकल्पों, विकल्पों या वासना जालों में से (चन्द्रमा) अत्यन्त आरहादकारी, (सुपर्ण) उत्तम गतिशील आत्मा, (दिवि) यौ जाल में चन्द्र के समान, या सूर्य में प्रकाश-

स्वरूप परमात्मा की ओर (धावते) गति करता है। हे (विद्युत्) विशेषरूप में प्रकट होने वाली विद्युत्स्वरूप कान्तियो ! हे (हिरण्यनेमयः) सुवर्ण के समान चित्कार्पक धाराओं वाली कान्तिया ! हमारे इन्द्रियगण या अज्ञानी जनसाधारण अज्ञान में होने से ( व. पद् न विन्दन्ति ) तुम्हारा स्वरूप ज्ञान प्राप्त नहीं करते। हे (रोदमी) सौ और पृथिवी, ऊर्ध्वगामी सौस्वरूप प्राण अधोगामी पृथिवीस्वरूप अपान, आप दोनों के (अस्य) इस रहस्य का ज्ञान ( मे वित्त ) मुझ लाभ कराओ।

[४१८] प्रति प्रियतम रथ वृषणं यस्तु वाहनम् ।

स्तौता वामश्विनावृषिः स्तामेभिर्भूपति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम्  
श्र० ५। ७५। १॥

भा०—हे (श्विनौ) प्राण और अपान ! (यस्तु वाहन) आवासकारी आत्मा को चढ़ान करने हारे, (वृषण) कर्मफल भोग की वर्षा करने वाले (प्रियतम) अत्यंत प्रिय, (प्रतिरथं) प्राणैक रथ रूप देह में (श्वपि) तत्त्वदर्शी (स्तौता) सत्य गुणों का वर्णन करनेहारा, (स्तोमेभिः) वेदमन्त्रों द्वारा (वां) आप दोनों को (प्रति भूपति) उत्तम रूप से अर्पित करना चाहता है। हे (माध्वी) मधुविद्या, मद्य विद्या के जानने हारो ! (मम हव) मेरी स्तुति, गुण-वर्णना को (श्रुतं) ध्वज्य करो।

इति तृतीयो दशतिः । सप्तमः खण्डः ।

॥ ६० ४ ॥ अग्नि — १, ७ वसुध्वन आत्रेयः । २, ४ विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुध्वं वासुको वा । ३ सत्यश्रवाः आत्रेयः । ५, ६ गौतमो राहूगणः । ७ कुलमन्ः सैत्यपिः । ८ अधोमुखावामदेव्यः ॥ देवता—१, २, ७ अग्नि । ३ उषाः ।

४ सोमः । ५, ६ इन्द्रः । ७ विषदेवाः ॥ छन्दः—१—७ पक्तिः । ८

उपरिष्ठाद् ब्रह्मती ॥ स्वरः—१—७ पञ्चम । ८ मध्यम ॥

४१८—'स्तोमेन प्रति भूपति' इति श्र० ।

१ २                      ३ १ २    ३ १ २  
 [४१६] आ ते अग्न इधीमहि धुमन्तं देवाजरम् ।

३ २ ३ १ २                      ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २    ३ २ ३    १ २  
 यद्म स्या ते पनायसी समिद्दीदयति घृणीपं स्तोतृभ्य आ भर ?

शु० ५ । ६ । ४ ॥

भा०—हे ( देव ) प्रकाशस्वरूप ( अग्ने ) ज्ञानवन् ! ( धुमन्तं ) प्रकाशस्वरूप ( अजरम् ) अविनाशी ( ते ) आपको ( इधीमहे ) प्रक्षेप करते हैं, चैतन्य करते हैं । ( अवि ) अलोक में ( यद् ) जो ( स्या ) वह ( ते ) आपकी ( पनीयसी ) प्रशसनीय ( समिद् ) कर्मित ( दीदयति ) धमक रही है । ( स्तोतृभ्य ) माय गुण वर्णन करने हारों को हे देव ! आप ( इयं ) अन्न और ज्ञान की प्रेरणा ( आ भर ) प्राप्त कराओ ।

५ २                      २ २    ३ १ २  
 [४२०] आग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणोमहे ।

३ १ २ ३ १ २                      ३ २ ३ १ २ ३ १ २    ३ १    २ ३ १ २  
 शौरं पावकशोचिपं विघां मदे यद्मपु स्तीर्णवदिष विवृष्टसे ॥२॥

शु० १० । २१ । १ ॥

भा०—हे देव ! ( विवृष्टसे ) आप सबको धारण करने हारे सबसे महान् हो । इमालिये ( स्ववृक्तिभिः ) उत्तम, दोष रहित निवृत्त स्तुतियों से हम लोग ( शौरं ) सबके भीतर ज्ञानरम रूप से शयन करने हारे, ( पावक-शोचिपं ) पवित्र करने वाली दीप्ति से पुत्र, ( वः ) हमारे और तुम्हारे ( विमदे ) विशेष आनन्द प्राप्त करने के लिये ( यद्मपु ) यज्ञों में ( स्तीर्णवदिषम् ) बर्हि = धान्य या कुरा, आसन या इन्म देह को फँसाये हुए ( होतारं ) सबको जीवन योग्य उत्तम पदार्थों के देने हारे या सबको अपने पास बुलाने वाले ( त्वा ) तुम्ह ( आग्निं ) ज्ञानस्वरूप इंधन का ( होतारं न ) अपने यज्ञ के होता के समान ( आवृणीमहे ) पाण करते हैं ।

४२०—'यदाय म्यीर्णं बर्हिष विघो मदे शौर पावकशोचिष विवृष्टसे' इति शु० ।

उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ २ उ १ २  
 [४०१] मह ना अद्य बाधयोषो राये दिवितमती ।

१ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ २ ३ १ २  
 यथाचिन्ना अयोधय सत्यथगति चार्ये सुजाते अश्वसूनेते ॥३॥  
 अ० ५।७९।१४

भा०—इ ( अश्वसूनेत ) आत्मा की सत्यस्वरूप वाधि ' इ ( सुजात )  
 उत्तमरूप स प्रकट होने वाला ' ( चार्य ) बरख करन पाय ' ( सत्य  
 थवसि ) सत्य ब्रह्मज्ञान में ( यथाचित् ) जिस प्रकार पहल ( न अयोधय )  
 हम ज्ञानवान् प्रबुद्ध किया था उसी प्रकार ह उप ' इ सब पापों क रहन  
 करन हारी ( दिवितमती ) उपाति स्वरूपा तू ( मह ) बड़ मारी ( राय )  
 दिव्यधन, ब्रह्मज्ञान् की प्राप्ति क लिय ( अद्य ) आज ( बाधय ) हमें,  
 जगा, ज्ञानवान कर ।

उ २ उ १ २ उ २ उ १ २ उ १ २  
 [४२२] भद्र ना अपि वातय मनो दक्षमुत प्रतुम् ।

१ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २  
 अथा त सख्ये अन्धसा रि घा मद्र रणा गागो न ययस विवहस ॥४॥  
 अ० १०।२५।१॥

भा०—हे परमेश्वर ' ( विवहसे ) आप महान् हो । आप ( न )  
 हमारे ( मन ) मन और ( दक्षम् ) आत्मा या बल को ( उत ) और ( प्रतुम् )  
 कर्म को ( भद्र ) कष्टपाय के प्रति ( अपि वातय ) प्रति करो । ( अथा ) और  
 ( ते ) तुम्ह ( अन्धस ) अन्धकार को दूर करने और प्राय पाप कानेहार  
 प्रभु के ( मद्रो ) इर्ष्याही ( सख्ये ) प्रेम में हमें ( ययस ) प्राप्त क प्रेम में ( रणा  
 गागो न ) आनन्द प्रसन्न गौषों क समान ( विव ) शर्वाकार करो, अपनाओ ।

१ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २  
 [४२३] प्रत्या महां अनुप्यथ भाम आ वायुते शय ।

उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २ उ १ २  
 अथ अन्ध उपाकपोनिशिप्रा हारयान् दध इस्तयोत्रिअमायसम् ५  
 अ० १।२२।५॥

४२२—'रणा गागो' इतिपाठ, क० । अन्धरे (१०।२०।२) शब्द 'मद्रो'  
 दि 'मनो'न्ट पाठ एव हेतुम् ।





आत्मन् ( ते हरी ) सुम अपने अर्थ=प्राण अपना दोनों को ( योज तु ) इस समय समाधि योग से जोड़े ।

३ १ २ २ ३ २ ३ ३ २ १ २ १ २ ३ १ २

[४२५] अग्निं त मन्ये या यसुरस्त य यन्ति धेनु ।

३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

यस्तमर्षन्त आशुघोस्तं नित्यासौ वाजिन इय स्तोतृभ्य आभर ॥७  
अ० ५। ६। १ ॥

भा०—( त ) उसको ( अग्नि ) ज्ञानवान् सब का नेता आचार्य या ईश्वर ( मन्ये ) मानता हू या उसको अग्नि तेज रूप से मनन करता हू ( य यसु ) जो वसु अर्थात् सबके भीतर वास करन द्वारा, सबको वास देने द्वारा है । ( य ) जिसमें ( धनुव ) वायु, इन्द्रियाँ और हरिमणी हैं वसी प्रकार जैसे गौण ( अस्त ) घर में ( यन्ति ) आती हैं या ( अस्त यति ) आभय को प्राप्त होती हैं और ( आशुव ) व्यापन स्वभाव वाले ( अर्षन्त ) प्राण या वायु अग्नि पञ्च भूत ( अस्त ) गृहस्वरूप जिसमें आधय होते हैं और ( नित्यास ) नित्य, अविनाशी, ( वाजिन ) ज्ञानवान् मुक्त आत्माएँ, विद्वान् लोग भी जिसका ( अस्त ) अपना गृह या शरण समझ कर आधय करते हैं । हे सर्वाधय ! ( स्तोतृभ्य ) शताता विद्वान् छात्रों को ( इय ) अथ एव अपनी ज्ञान प्रेरणाएँ ( आ भर ) प्राप्त कराओ ।

२ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २

[४२६] न तमहा न दुरित देयान्वा अष्ट मर्ष्यम् ।

३ १ २ १ २ ३ १ ३ १ २ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २

सजोपसो यमर्षमा मिश्रो नयनि यरुणो अतिद्वय ॥८॥

अ० १०। १२६। १ ॥

भा०—हे ( देवस्य ) विद्वान् पुरुष ! ( यम् ) जिस ( मर्ष्यं ) मारुधर्मी देववान् पुरुष को ( अर्षमा ) वह व्यापकारी ( मिश्र ) सब का प्रेमी, ( यरुणः ) सबको पाप से बचाने द्वारा उगरीश्वर ( सजोपस )

अत्यन्त प्रेम पूर्वक ( द्विप अति ) विप्र या वाधाकारिणो<sup>१</sup> या अप्रीति करन  
हारो स दूर कर जाता है ( त ) उसका ( अह न अष्ट ) पाप नहीं स्पर्श  
करता, ( दुरित ) और दुष्ट चरित भी उसका नहीं व्यापता ।

इति चतुर्थी दशति । अष्टम खण्ड ।



॥ ६० ५ ॥ अपि — ६ व्यक्त प्रसम्भू । ७ वसिष्ठ । ८ वामदेव । ९ वातिला  
स्तुति । १२, १-५, १० ऐश्वर्य विष्णुवा अग्नय ॥ १० वना-१-६, १० परमान ।  
७ मरुत । ८ अग्नि । ९ वात्रिन ॥ छन्द — १ ३, ४, ५, ७ १०  
द्विपया पक्ति । ८ पदपक्ति । ९ परोष्णिक । १२, ६ त्रिपया अनुष्टु  
पविपीलिकामध्या ॥ स्वर — १, ३ ८, १० पञ्चम । १२, ६  
गान्धार । ६ अश्रम ॥

२ ३ २ १      २      ३      २ ३ १ २      ३ १ २      २

[४२७] परि प्र धन्वे द्राय साम स्वादुर्मित्राय पूष्य भगाय ॥१॥

अ० ६ । १०५ । १ ॥

भा०—हे ( साम ) आनन्दरस को बहान वाले, सब दु सों के  
आपधिरूप परमास स्वरूप प्रवर्षवन्<sup>१</sup> ( स्वादुः ) आपधिरस क समान  
परम आनन्दद्रायक आप ( मित्राय ) सबका स्नह करनहार ( पूष्ये ) सब  
का पापण करनेहार ( भगाय ) सबक भजन, सबन करन याग्य ( इदाय )  
उस ऐश्वर्य क इन्द्रुक जीव क लिय ( परि प्र धन्व<sup>१</sup> ) चारों और उत्तमरूप  
स गति कर बहा ।

२ १ २    २ ३ १ २      ३ १ २    ३ १ २    २ १ २

[४२८] पर्यु पुप्र धन्व घानमातय परि वृषाणि सज्ञाणि ।

३ २ ३ १ २      ३ १ २

द्विपस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥२॥ अ० ९ । ११० । १ ॥

४२७—<sup>१</sup> पन्तितितिकमा, ( नि० ) त्रिपि रवि धवि गत्यर्था । म्बा० ।

४२८—'द्वम' इति अ० ।

भा०—हे परमेश्वर ! ( वाजसातप ) ज्ञान या धन या अन्न क लाभ क लिये ( वृत्राण्य ) सध आवरणकारी विघ्ना का ( सघण्यि ) सहनशाल होकर आप ( परि प्रधन्व ) चारों आर स मार मगाया । ( अच्यया ) अन्ना क नाश करने हारे आप ( द्विप ) अभीति स घतन घाल शशुआ क ( तरथ्यै ) विनाश करन क लिय ( न ) हम ( ईरस ) प्रार्थित करा ।

१ २            ३ १   २ ३ २   ३ २ ३ २ ३ २   ३ १ २   २ २  
[४२१] पवस्व सोम महान्समुद्र पिता दवाना निध्याभि धाम ॥३॥  
अ० ६ । १०६ । ४ ॥

भा०—हे ( सोम ) सबरु प्रेरक परमात्मन् ! आप ( महान् समुद्र ) बड़े भारी समुद्र हैं, समस्त रसों और आनन्दों के स्रोत और भयदार हैं, ( देवानां ) समस्त देवों, भूतों और इन्द्रियों के ( पिता ) पालक और प्रेरक हैं, अत ( विधा धाम ) समस्त तत्त्वों का या समस्त आत्मा क निवासस्थान रूप देहों या हृदयों के प्रति ( परि पवस्व ) आप द्रवित हाइय । उनमें स्वय आनन्द रस का संचार कीजिये ।

१ २            ३ २ ३   ३ २   ३ २   ३ २   ३ १ २   २ २  
[४३०] पउस्य सोम महे दक्षायाश्वो न निरुो धानी धनाय ॥४॥  
अ० ६ । १०६ । १० ॥

भा०—हे सोम ! ( निरु ) रनात किया हुआ निर्यात ( वाजा ) ज्ञानवान् विद्वान ( अथ ) क्रिय निष्ठ सघाया हुआ पुत्र्य और घाया जिस प्रकार ( धनाय ) धनापाजन या सम्पत्ति के लिय जाता है उमा प्रकार ( महे ) बड़ ( धनाय ) गतिशील या धन्य ( दक्षा ) कर्मनिष्ठ साधक जीव के लिय आप ( पवस्य ) द्रवित हों कृपायुक्त हों, आनन्द रूप में प्रकट हों ।

१ २   ३ २   ३ १ २   ३ २   ३ १ २ ३   १ २   १ २  
[४३१] इन्दु पविष्ट चारुमंदायापामुपम्य कविभंगाय ॥ ५ ॥  
अ० ६ । १०६ । ११ ॥

अत्यन्त प्रेम पूर्वक ( द्विप, अति ) विघ्न या बाधाकारिण्यै<sup>१</sup> या अमीति करने  
हारों से दूर कर लेता है ( त ) उसको ( अह न अष्ट ) पाप नहीं स्पर्श  
करता, ( दुरितं ) और दुष्ट अहित भी उसको नहीं व्यापता ।

इति चतुर्था दशति । षष्ठम खण्डः ।

॥ २० ५ ॥ अपि — ६ त्वरुण प्रसरन्तु । ७ वसिष्ठः । ८ वामदेव\* । ६ वायिना  
स्तुत्रिः । १, ३-५, १० ऐश्वरा पिष्यथा अग्नयः ॥ इवना-१-१, २० पवमान ।  
७ मरुतः । ८ अग्नि । ९ वाजिन ॥ छन्द — १, ३, ४, ५, ७, १०  
द्विपदा पक्तिः । ८ पदपक्तिः । ९ परोष्णिक् । २, ६ त्रिपदा अनुष्टु-  
पपिपीलिकामभ्या ॥ स्वराः—१, ३-८, १० पञ्चम । २, ६  
गान्धार\* । ६ श्रवमः ॥

२ ३ २ १      २      ३      २ ३ १ २      ३ १ २      २  
[४२७] परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मिश्राय पूषण भगाय ॥१॥  
श्र० ६ । १०९ । १ ॥

भा०—हे ( सोम ) आनन्दरस को बढ़ाने वाले, सब दु सों के  
ओषधिरूप, परमरस स्वरूप पेशवर्षवन्<sup>१</sup> ( स्वादुः ) ओषधिरस के समान  
परम आनन्ददायक आप ( मिश्राय ) सबको स्नेह करनेहार ( पूष्ये ) सब  
को पोषण करनेहार ( भगाय ) सबके भजन, सेवन करने योग्य ( इन्द्राय )  
उस पेशवर्ष के इच्छुक जीव के लिये ( परि प्र धन्व<sup>१</sup> ) चारों और उत्तमरूप  
से गति कर, बहो ।

२ १ २    २ २ ३ १ २      ३ १ २    ३ १ २    २ १ २  
[४२८] पर्यु पू प्र धन्व याजन्मातय परि वृश्राणि सज्ञाणि ।  
३ २ ३ १ २      ३ १ २  
द्विपदस्तरप्या ऋणया न ईरसे ॥२॥ श्र० ९ । ११० । १ ॥

४२७—१. धन्वतिपक्तिर्मा, ( नि० ) रिदि रवि धि गन्धर्वाः । म्वा० ।

४२८—'ईयमे' इति श्र० ।

भा०—हे परमेश्वर ! ( वाजसातथ ) ज्ञान या धन या अक्षय क लाभ के लिये ( वृत्राणि ) सब भावणकारी विद्या को ( सङ्घ्नि ) सहजशील होकर आप ( परि प्रधन्व ) चारों ओर स मार मगाया । ( ऋषयः ) ऋषियों क नाश करने हारे आप ( द्विष ) अघ्नीति से बतने वाल शत्रुघ्ना क ( तरप्यै ) विनाश करने के लिये ( न ) हम ( ईरसे ) प्रार्थित करा ।

१२                      ३१    २३२    ३२    ३२    ३२    ३५२    २२  
[४२६] पवस्य सोम महान्तसमुद्रः पिता देवानां त्रिभ्याभि धाम ॥३॥  
अ० ६।१०६।४ ॥

भा०—हे ( सोम ) सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप ( महात्सु समुद्र ) सबे भारी समुद्र हैं, समस्त रसों और आनन्दों के स्रोत और भण्डार हैं, ( देवानां ) समस्त देवों, भूतों और इन्द्रियों के ( पिता ) पालक और प्रेरक हैं, अतः ( विधा धाम ) समस्त तेजों को या समस्त आत्मा क विकासस्थान रूप देहों या हृदयों के शक्ति ( परि पवस्य ) आप क्षवित होइये । उनमें स्वयं आनन्द रस का संचार कीजिये ।

१२                      ३२५    ३२    ३२    ३    २    ३५२    २२  
[४३०] पवस्य सोम महं दक्षायाश्चो न निक्तो वाजी धनाय ॥४॥  
अ० ६।१०६।१० ॥

भा०—हे सोम ! ( निक्त ) स्नान किया हुआ, निष्क्यात ( वाजी ) ज्ञानवान् विद्वान्, ( अथ ) क्रियानिष्ठ, सधायी हुआ पुरुष और घोड़ा जिस प्रकार ( धनाय ) धनापार्जन या संग्राम के लिये जाता है उसी प्रकार ( महं ) सबे ( धनाय ) गतिशील या धन्य ( दक्षाय ) कर्मनिष्ठ साधक जीव के लिये आप ( पवस्य ) क्षवित हों, कृपायुक्त हों, आनन्द रूप में प्रकट हों ।

१२    ३२    ३१२    ३२    ३१२३    १२    २२  
[४३१] इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे ऋविर्भगाय ॥ ५ ॥  
अ० ६।१०६।१३ ॥

भा०—( अयाम् उपम्ये ) जलों के समीप या प्रजाओं के समीप या कर्म और ज्ञानों के बीच में ( मदाय चारु ) इधे उत्पन्न करने में धेष्ठ, ( कवि ) क्रान्तदर्शी विद्वान् ( मगाप ) सौभाग्य, ऐश्वर्य या उचित कर्म फल के आनन्दभोग के निमित्त ( इन्दु ) ऐश्वर्यशालि सोम ( पविष्ट ) गति करता है या प्रकट होता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[४३२] अनु हि त्वा सुन सोम मदामसि महे समयैराज्ये ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे ॥६॥ अ० ९ । ११० । २ ॥

भा०—हे सोम ! ( महे ) बड़े भारी तैरे ( अर्षराज्ये ) धेष्ठ, जितेन्द्रिय पुरुषों के राष्ट्र में ( त्वाम् अनु ) तैरे अनुकूल ( समदामसि ) रहने में सुख प्रसन्न होते हैं । हे ( पवमान ) सबके प्रेरक शासक ! ( वाजान् अभि ) शत्रुमा या इन्द्रियों, ऐश्वर्यों के पति तू निर्विघ्न होकर ( प्र गाहस ) गति करता है, उनमें रमण करता है । राजा आत्मा और परमात्मा के प्रति प्रजाओं, इन्द्रियों और भद्रों का वचन है ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
[४३३] क ई व्यक्ता नर सनीडा रुद्रस्य मया अथा स्वश्या ॥७॥

अ० ७ । ५६ । १ ॥

भा०—( ई ) ये ( व्यक्ता ) प्रकट हुए, ( सनीडा ) एक ही दह में आश्रय किये हुए, ( मया ) देहधारी प्राणियों का हितकारी ( अथा ) और ( स्वश्या ) सुख से पदार्थों का भोग करने वाले ( रुद्रस्य ) इस समस्त ससार की रहाने वाले, उस देव, मुख्य प्राण क (के) कौन ई ? इम आश्रय से किये प्रकटा उत्तर अ० म० ६ । २६ सूक्त का अगली अध्याओं में दिया है ।

३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २  
[४३४] अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमै ऋतु न भद्र हृदिस्त्वृशम् ।

३ १ २ ३ १ २

ऋषामा त आदौ ॥८॥ अ० ४ । १० । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! ( अथ ) आज हम ( भोदैः ) आह्वान करने योग्य ( स्तोमैः ) स्तुतिपूर्ण सूक्तों द्वारा ( अथं न ) अथर्व के समान समस्त संसार के घटान करने हारे, ( ऋतुं ) रचयिता शिल्पी के समान ब्रह्माण्ड के बनाने हारे, ( भद्रं ) कल्याणकारी, ( हृदिस्पृशं ) हृदय तक को छूने हारे, हृदयंगम ( तं ) उस प्रसिद्ध तुम्हको लक्ष्य कर ( ष्वप्याम ) स्तुति करते हैं, साधना करते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[४३५] आधिर्मर्या आ वाजं वाजिना अगमन् देवस्य सवितु सवम् ।

३ १ २

स्वर्गां ५ अर्वन्तो जयत ॥६५

भा०—( वाजिनः ) ज्ञानवान् ( मर्या ) मरणधर्मा प्राणी, ( देवस्य ) सबके दाता, ( सवितुः ) सबके प्रेरक परमात्मा के ( वाज सर्वं ) ज्ञान सम्पन्न सर्ग या प्रेरणा, आदेश को ( आधि. अगमन् ) प्रकट रूप से प्राप्त करते हैं । हे ( अर्वन्तः ) ज्ञानशील पुरुषों ! ( स्वर्गान् ) सुख और आनन्द के प्राप्त कराने वाले उस मुक्ति सुखों को ( जयत ) विजय करो, उनको प्राप्त करो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २

[४३६] पवस्व सोम शुम्नी सुधारो महा अवीनामनुपूर्व्य ॥१०॥

शु० १ । १०६ । ७ ॥

भा०—हे सोम ! ( पूर्व्यः ) सबसे पूर्व, सबका आदि मूलकारण, ( शुम्नी ) कान्तिमान्, ( सुधारः ) समाज और संसार को उत्तम रूप से धारण करनेवाला ( अवीनां ) गतिशील, आत्माओं में सबसे ( महान् ) बड़ा परम-आत्मा तू ( अनु पवस्व ) सबको पवित्र कर, सन्मार्ग में प्रेरणा कर ।

इति पञ्चमी दशति । नवमः खण्डः ।

॥ ६० ६ ॥ अग्निः—३ अस्तदस्तु । ७ सम्पातः ॥ शेषाणां ऋषयो नोपलभ्यन्ते ।  
देवता—१-५, ८-१० इन्द्रः । ६ विश्वेदेवाः । ७ उषा । पक्ति ॥ पञ्चमः ।

भा०—हे उप <sup>१</sup> तृ ( वनसा ) तेज के साथ ( आयादि ) या, प्रकट हो । ( गाव ) जिस प्रकार गौवं दूध मरे यनों से सबको पुष्ट करती हैं उसी प्रकार ( गाव ) तरी इरिमयी ( ऊधभि ) यहनशील शत्रियों द्वारा सबको पाछन पायण करके ( वर्त्तिनि ) तेरे मार्ग का ( सघत्त ) प्राप्त करती हैं, तेरा अनुगमन करती हैं ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[४४४] उप प्रक्ष मधुमति क्षियन्त पुष्यम रयि धीमहे त इन्द्र ॥८॥

भा०—हे ( इन्द्र ) परमरवर <sup>१</sup> ( मधुमति ) मधुर फल से सम्पन्न ( प्रक्ष ) घट आदि वृक्ष पर आश्रय लेकर जिस प्रकार परिगण और राजा का आश्रय लेकर जीव प्रजागण जिस प्रकार सुख और पृथय प्राप्त करते हैं उसी प्रकार ( प्रक्षे ) विशाल ब्रह्माण्ड में ( क्षियन्त ) निवास करते हुए हम जीव ( इरिम् ) अपने उत्तम कर्मफल का ( पुष्यम ) प्राप्त करें और उन से वृद्धि का प्राप्त हों और ( ते धीमहि ) हम तारा ध्यान करें ।

ब्रह्माण्ड रूप परम प्लक्ष या चमस का वर्धन उपनिषदों में तथा वेद मन्त्रों में वर्णित है । इसी प्लक्ष से पौ भूमि घनाई गई है । वहां कर्मफल या मोक्षरूप मधु है । दक्षो वृद्धारण्यक और द्वादाश्व क मधुविद्याकरण जिसमें वृषिधी आदि का मधु कहा है । मस्तकरूप चमस में जैसे इन्द्रिय शय का आत्मा क प्रति बचन भी स्पष्ट है ।

१ २ ३ २ ३ १ ३ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[४४५] अर्चन्त्यर्के मरुत स्वर्का आस्तामति धृता युवांस इन्द्र ॥९॥

भा०—( स्वर्का ) उत्तम कान्तिसम्पन्न शामी ( मरुत ) प्रताप या प्राणगण ( अर्क ) अपने शत्रुद्वारा सूर्यरूप आत्मा या परमगमा का ( अर्चन्ति ) स्तुति करते हैं । ( स ) वह ( युवांस ) ब्रह्मवान् ( इन्द्र )



परमेश्वर ( श्रुतः ) विख्यात कीर्ति वाळा, ( आस्तोभति ) उनकी रक्षा करता है, उनके शत्रुजनों का सब दिशाओं में विनाश करता है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २  
[४४६] प्र य इन्द्राय वृषहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोपते १०

भा०—( व. ) आप लोग ( वृषहन्तमाय ) शत्रुओं को विनाश करने में श्रेष्ठ, ( विप्राय ) ज्ञानवान्, ( इन्द्राय ) परमेश्वर के लिये ( गाथं ) ऐसी गान या स्तुति को ( प्र गायत ) गाओ ( यं ) जिसको यह ( जुजोपते ) चाहता है, रचोकार करता है, जो उसके यथार्थ गुणों का वर्णन करती है ।

इति षष्ठी दशति० । दशमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।



॥ ८० ७ ॥ श्रुतिः—१ पृथक्त्वः काण्वः सम्पादो वा । २ बन्धुः । ३, ४ बन्धुः सुबन्धुर्निप्रबन्धुश्च । गौपायना लौपायना वा । ५ संवर्तः । ६ भौवन काण्वः । ७ कवच ऐक्ष्यः । ८ मरुद्वायः । ९ आनेयः । १० वसिष्ठः ॥ देवता—१, २ अग्निः । ३, ४, ८, १० इन्द्रः । ५ उषाः । ६, ७, ९ विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—१, २, ६, ७ द्विषदापक्तिः । ३, ४ पञ्चदशाक्षरा गायत्री । १० एकपदा अष्टाक्षरा गायत्री । ६, ८, ९ द्विषदा त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—१, २, ६, ७ पञ्चमः । ३, ४, १० षड्जः । ६, ८, ९ धैवतः ।

१ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ ३ १ २  
[४४७] अचेत्यग्निश्चिकित्तिर्हव्यवाङ् न सुमद्रथः ॥ १ ॥

क० म । २६ । २ ॥

भा०—( सुमद्रथः ) शोभायुक्त, रमणीय, लुप्तिकारी रत्न से युक्त या परम कान्ति या गतिसाधन देह से युक्त, ( चिकितिः ) ज्ञानवान्, ( अग्नि ) परमात्मा हृदय या ब्रह्माण्ड में और आत्मा देह में ( हव्यवाङ् न ) अज्ञादि चर खाने वाले भौतिक अग्नि के समान ( अचेति ) चैतन्य है, जागृत है ।

४४७—'चिकित्तिः' 'हव्यवाङ्' इति श्रु० ।

[४४८] अग्ने त्व नो अन्तम उन धाता शिवो भुग वरुध्य ॥ २ ॥  
 श० ५ । २४ । १ । पूर्वर्षि ॥ यजु० ३ । २६ । १६ । ४८ पू० ॥

भा०—हे ( अग्ने ) ज्ञानवन् ! परमेस्वर ! ( त्व ) तू ( नः ) हमारा ( अन्तम. ) समीपतम ( धाता ) रक्षक, ( शिव ) कल्याणकारी, शिवस्वरूप और ( वरुध्य ) सेनानायक के समान धारण करने योग्य ( भुव ) हो ।

[४४९] भगो न चित्रो अग्निमहोना दधाति रत्नम् ॥ ३ ॥

भा०—( महोना ) बड़े २ देवों के बीच में ( अग्नि ) महान् परमेश्वर ( भगं न ) सूर्य के समान ( चित्र ) ध्वन कराने योग्य, अद्भुत या पूना करने योग्य है । दध ( रत्नम् ) रमणीय शक्ति को ( दधाति ) धारण करता है ।

[४५०] विश्वस्य प्रस्तोभ पुरो वा सन्याद् वेह नूनम् ॥ ४ ॥

भा०—हे ( विश्वस्य प्रस्तोभ ) सबके सद्गुरु, सबके उत्कृष्ट पूजा-पात्र ! तू ( पुर वा ) पूर्वकाल में भी ( सन् ) विद्यमान रहा ( यदि वा ) और ( इह ) इस वर्तमान काल में भी ( नूनम् ) तू निश्चय से विद्यमान है । अर्थात् जैसे तू पहले था वैसे अब भी है । तू त्रिकाल में सत् है ।

[४५१] उपा अप स्वसुष्टम स यत्तयति वर्तनि सुजातता ॥ ५ ॥  
 श० १० । १०२ । ४ ॥

भा०—( उपा ) अन्धकार को नष्ट करने वाली उपा ( स्वसु ) निम्न प्रकार शक्ति के ( तम. ) अन्धकार को ( सुजातता ) अपने उत्तम प्रादुर्भाव के कारण ( अप ) दूर कर देती है और राहगीर को ( वर्तनि ) सन्मार्ग में ( संवर्तयति ) रखती है, उसी प्रकार विशोका प्रज्ञा का उदय भी ( स्वसु ) स्वयं सारण करने वाली अविद्य के अन्धकार को दूर करती और आत्मा के पास गन्तव्य द्रष्टव्य मार्ग को प्रकाशित कर देती है ।

३ १ ४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 [४५२] इमा नु कं भुवना सीपधेमन्द्रश्च विश्वे च देवा ॥ ६ ॥

अ० १०। १२७। १ ॥

भा०—( इन्द्र च ) आत्मा और ( विश्वे देवा च ) सब इन्द्रियरूप देव मिलकर ( इमा भुवना ) इन समस्त भुवनों, पदार्थों को हम (सीपधेम कम्) प्राप्त करें, वश करें।

२ ३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ४ २ ३ १ २  
 [४५३] वि श्रुतया यथापथा इन्द्र त्वद्यन्तु रातय ॥ ७ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( पथा ) मार्ग पाकर ( रातय ) बहने वाली जलधाराएँ बह जाती हैं उसी प्रकार ( रातय. ) नाना पदार्थों की दानराशियाँ, हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! ( त्वद् ) तुझ से ( वि यन्तु ) विविध प्रकार से निकल कर हमें प्राप्त हों।

३ १ ४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [४५४] अया वाज देवदित सनेम मदेम शतहिमा सुवीरा. ॥८॥

अ० ६। १०। १५ ॥

भा०—( अया ) इस प्रकार की परमेश्वर की गुणस्तुति से ( देवदित ) परमेश्वर के दिये हुए ( वाज ) ज्ञान, बल और अन्न को ( सनेम ) हम प्राप्त करें, कावें और ( सुवीरा. ) उत्तम पुरुषों से युक्त, वीरवान् सामर्थ्यवान् होकर ( शतहिमा ) सौ वर्षों तक ( मदेम ) आनन्दित, सुप्रसन्न, सन्नुष्ट होकर रहें।

३ २ ३ १ ४ २ ४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [४५५] ऊर्जा मिश्रो वरुण पिन्वतेडा. पीत्रतीमिष वृणुवी न इन्द्र द

भा०—( मिश्रो वरुण ) मित्र और वरुण, सूर्य और मेघ मिलकर ( ऊर्जा ) विद्युत् रूप बल पराक्रम से युक्त होकर ( इडा ) जिस प्रकार भूमियों को जलों से ( पिन्वत ) सेवन करते हैं उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा दोनों मिलकर समाधिबाल में आत्मा की मना भूमियों को धर्त-

मेघ के रस से भा सेवित करें । और हे ( इन्द्र ) मेघ ! आप (इपं) अन्न की फसल को ( पीवर्षां ) खूब अधिक मात्रा में, ज़ोरों पर कसरत से ( कृणुहि ) उत्पन्न करते हो उसी प्रकार हे आत्मन् ! आप ( इपं ) अभिलाषायोग्य परम सुख की अधिक मात्रा को ( कृणुहि ) उत्पन्न करो ।

[४५६] इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥ १० ॥

भा०—( इन्द्रः ) ऐश्वर्यवान् परमात्मा ही ( विश्वस्य ) समस्त, प्र ह्यायुध को ( राजति ) प्रकाशित करता है । और उसमें स्वयं प्रकाशित होता है उस पर शासन करता है ।

इति सप्तमी दशतिः । एकादश एवम् ।

॥ द० ८ ॥ अग्निः—१, १० गुप्तमदः । २ गौराङ्गिरमः । ३, ५, ९ परच्छेपः । ४ रेमः । ६ एववामस्त । ७ अनानतः पारुच्छेपिः । ८ नकुलः ॥ देवता—१, ३, ४, १० इन्द्रः । २ सूर्यः । ५ विश्वेदेवाः । ६ मरुतः । ७ पवमानः । ८ सविता । ९ अग्निः ॥ इन्द्रः—१, ३, ५, ७, ९ अग्न्याग्निः । २, ४, ६ अतित्रगती । ८, १० अतिशक्ती ॥ स्वर.—१, ३, ५, ७, ९ गान्धारः । २, ४, ६ निताः । ८, १० पंचमः ॥

[४५७] त्रिकटुकेषु महिषां यथाशिरं तुविद्युष्मत्स्यसोममपिब  
द्विष्युता सुतं यथावगम् । स ई ममाद् महिकर्म कर्तव्यं  
महामुरु सैन सद्यद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥ १० ॥

भा०—( महिषः ) बड़ा पूजनीय, ( तुविद्युष्मः ) बड़ा बलशाली, ( त्स्य ) सबको हल करने द्वारा आत्मा ( त्रिकटुकेषु ) तर्कों खोंकों में

४५७—'तुप्तसोम', 'यथावगम्', 'सत्यमिन्द्र सत्य इन्दुः' इति श्रु० ।

( विष्णुना ) सर्वव्यापक परमेश्वर से ( सुत ) श्रेष्ठ या उत्पादित, ( यवा-  
शिर ) यव आदि अन्न से मिले हुए ( सोम ) आंशुधिरसों के समान ज्ञान  
और आनन्द को ( यथावश ) अपनी शक्ति के अनुसार ( अपिबद् ) पान  
करता है । ( स इ ) यही इस प्रकार ( भद्रि कर्म ) षडे ० काम ( कर्त्तव्य )  
करने के लिये भी ( ममाद ) सदा प्रसन्नाचेष्ट रहता है । वह ( महाम्  
उदसत ) षडे भारी, नाना दिशा में, नाना प्रकार की शक्तिरूप सेनाओं  
के स्वामी, विरवत्सेन ( देव ) परमात्म देव को ( देव ) प्रकाशमान ज्ञान  
वान् होकर ( सरच्चत् ) प्राप्त होता है । वह ( सय इन्दु ) सधा, सध का  
आज्ञाद करने हारा या पृथ्वी और विभूतिमान् होकर ( सधम् ) सत्यस्वरूप  
( इन्दम् ) परमेश्वरान् परमेश्वर को भी प्राप्त होता है ।

सायण्यमहाशास्त्रेण—“स एतान् स्तोमान् अपरयत् ज्योतिर्वीरायुरिति ।  
इमे वै श्लोका स्तोमा । अथमेव ज्यातिरयम्ध्यमो गौरसावुत्तम आयुः ।  
अरभाष्ये द्यानन्दस्तु 'त्रिकटुकुपे लोकेपु' ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[ ४५८ ] अथ सहस्रमानयो दश कवीना मनिर्ज्योतिर्विधर्म ।  
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
ब्रध्न समीचीरुपस. समैर्यदरेपस सचेतसः स्वसरे  
३ १ २ ३ २  
मन्युमन्तश्चिता गो ॥ २ ॥

भा०—( अय ) यह ( सहस्रमानव ) सइसों मननशील विद्वानों  
से उपासित, ( दृश ) दर्शनीय, ( कवीना ) श्रान्तिदर्शी, मेधायी लोगों से  
( मति. ) एकमात्र मनन करने योग्य, ( ज्योति ) प्रकाशस्वरूप, ( विधर्म )  
नाना प्रकार की प्रजाओं को धारण करने हारा, ( ब्रध्न ) सबको प्राणसूत्र  
में बाधने हारा, महान्, सूर्य के समान परमात्मा ( स्वसरे ) स्वयं सरण  
करने हारे, दिन=जीवनकाल में या इस संसार में ( समीची ) उत्तम प्रकार  
से हृदय में प्रवेश करने हारा, ( अरेपस ) तम और पाप के क्षेप से रहित,

रजा भाव स शुद्ध, ( सचतस ) ज्ञानयुक्त ( उपस ) विशुद्ध ज्यातिर्मय  
दशाशौ उपाशौ, प्रशाशौ का ( सम् एवत् ) उत्तम रीति स प्ररित करता  
है । ना ( गो ) स्य क ( मयुमन्त ) अयन्त ज्ञान प्रकाशवान् नाना  
( चिता ) एकत्र हुए किरणों क समान हाता है ।

[४५६] ए द्र याहुप न परावना नायम छा विदथानीव सत्पतिरस्ता ।  
राजस सत्पति । हवामह त्या प्रयस्वन्त सुतप्यापुत्रासा  
न पितर वाजसातय महिष्ठ वाजसातय ॥३॥ श्र० ३।१५।३।१ ।

भा०—ह ( इद ) आम्नु<sup>१</sup> जिस प्रकार ( अयम् ) यह ( सत्पति )  
सज्जनों का या सत्य का प्रतिपालक यजमान ( विदथानि ) यज्ञों म  
( राजा इव ) राजा क समान ( सत्पति ) सज्जनों का पालक हाकर ( अस्ता  
राजा इव ) शत्रुओं पर बाण आदि फकन वाला वार धनुधारा राजा जिस  
प्रकार शत्रु आदि क सकटा का दूर करन क लिय प्राप्त हाता है उसा प्रकार  
तू ( न ) हमार पास ( परावत ) दूर दशों स भी ( उप आयाहि न )  
था ही ता जा । ( पुत्रास पितर न ) जिस प्रकार पुत्र लाग पिता की ( वाज  
सातय ) दायभाग की प्राप्ति क लिय स्तुति करत ह उसी प्रकार हम भी  
( प्रयस्वन्त ) अग्नादि हवि का आपक अर्पण करन क लिय अपने हाथों  
में लिय हुए ( वाजसातय ) अन्न और ज्ञान क लाभ क लिय ( सुतेषु )  
हम यज्ञ स्थानों में ( महिष्ठ ) सबसे बड़ दानशील ( त्वा ) तुम्हका ( आ  
हवामह ) आह्वान करत हैं, आदर स याद करत हैं ।

[४६०] तामि द्र जाह्वीमि मघवानम्प्र क्षत्रा दधानमप्रतिष्कृत  
अयासि भूरि । महिष्ठा गीभिषा च याज्ञया चवर्त राय ना  
त्रिभ्या सुपथा कृणोतु यज्ञी ॥४॥ श्र० ८ । ०७ । १३ ॥

भा०—( तं ) उस ( मघवानं ) धन धान्य सम्पत्ति, विभूतियों से सम्पन्न, ( उग्रं ) वेगवान्, ( सत्रा ) सत् पुरुषों के प्राजा, ( भूति यवांसि ) नाना प्रकार की बल, शक्तियों, ज्ञानों, वेद श्रद्धाओं को ( दधानम् ) धारण करते हुए ( अग्रनिष्कृतम् ) किसी से भी न पराजित, ( इन्द्रं ) वीर राजा के समान परमेश्वर को ( जोहवीमि ) स्मरण करता हूँ। वह ( मंहिष्ठः ) सबसे महान् दानशाल ( गीर्भिः ) वेदमन्त्रों द्वारा ( यज्ञिया ) यज्ञ के कार्यों में ( आ ववर्त्त ) पुनः २ स्मरण किया जाता है, आवृत्ति किया जाता है। वह ( वज्री ) सब विघ्नों का नाशक ( नः ) हमारे लिये ( राये ) धन प्राप्त करने के लिये ( विधा ) सब ( सुपथा ) उत्तम २ मार्ग, द्वार, साधन ( कृणोतु ) करे, खोल दे।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १  
 [४६१] अस्तु धौपद् पुरो अग्निं धिया दध आ नु त्यच्छर्द्धो दिव्यं  
 ३ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 वृष्णीमहे इन्द्राय वृष्णीमहे । यद्वा प्राणा विवस्वते नाभा  
 ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३  
 सन्दाय नव्यसे । अथ प्र नूनमुपयन्ति धीतयो देवो  
 ३ २ ३ १ २

अच्छ न धीतयः ॥५॥ अ० १। १३६। १ ॥

भा०—( धिया ) आधानकर्म या ध्यानबल से ( पुर ) साक्षात् ( अग्निं ) प्रकाशस्वरूप देव अग्नि को ( दधे ) धारण करता हूँ, ( त्यत् शर्द्धाः ) उसके बल में ( दिव्य ) प्रदीप्त ज्योति को (अनु वृष्णीमहे) निरन्तर प्रत्यक्ष धारण करते या प्राप्त करते हैं और ( इन्द्राय ) आत्मा और प्राण दोनों को ( वृष्णीमहे ) साक्षात् करते हैं। ( यत् ) जो दोनों ( इ ) निश्चय से ( नव्यसे ) सदा नवीन ( विवस्वते ) सूर्य या सूर्य के समान आत्मा के ( नाभौ ) आकर्षण शक्ति में ( सन्दाय ) अच्छी प्रकार अल्प २ प्राणों को अर्पण करके, जोड़कर ( प्राणा ) समस्त देहों को रचते हैं। ( अथ )

और हम ( धीतय ) ध्यान योग से उपासना करने हारे या अभ्यसन द्वारा ज्ञान सम्पादन करने हारे ( धीतय इव ) रश्मियों के समान या विद्वानों या आगे जाने हारी अगुलियों या शिष्यों के समान ( देवान् ) देवों विद्वानों के ( नून प्र उपयन्ति ) अत्यन्त समीप पहुँचत हैं ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १  
 [४६२] प्र घो महे मतया यन्तु विश्वेषे मरुवत गिरिजा पय्या  
 २ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ६  
 मरुत् । प्र शर्द्धाय प्र यज्यव सुखादये तवसे भन्ददिष्टये  
 १ २ ३ १ २  
 धुनिप्रताय शवसे ॥६॥ अ० २ । ८७ । १ ॥

भा०—जिस प्रकार ( मरुवते ) पवनों वाले मेघ के क्षिप (गिरिजा) विभुक्षियां चलती हैं । उसी प्रकार ( ध मतय ) आपकी बुद्धियां या स्तुतियां ( गिरिजा ) बड़े मस्तक वाले विद्वान् प्रवराओं से उपग्र हुई हुई ( महे ) बड़े ( मरुवते ) वायुओं और प्राणों के बलों से युक्त या प्रजाओं से युक्त, ( विश्वेषे ) व्यापक जगदीश्वर को ( यन्तु ) पहुँच । (पय्यामरुत्) और प्राणों को चखानेवाला मुख्य प्राणस्वरूप आत्मा भी उसी ( शर्द्धाय ) बलवान्, ( यज्यवे ) जीवनयज्ञ के सम्पादक, ( सुखादये ) उत्तम आयुषों से भूषित ( तवसे ) धीरवान् ( भन्दद्-इष्टये ) कल्याणकारी यज्ञ के पात्र ( धुनि प्रताय ) सब को कम्पन करने वाले, कर्म करनेहारे ( शवसे ) बल स्वरूप उस ईश्वर के ( प्र यातु ) खोज में प्रवृत्त हाँगायें ।

३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १  
 [४६३] अया रुचा हरियाया पुनाना विश्वा द्वेषासि तरति सयु  
 २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १  
 ग्भि सुरा न सयुग्भि । धारा पृष्ठस्य रोचने पुनाना  
 २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 अरुपा हरिः । विश्वा यद्रूपा परिपास्युग्भि सतास्येभि  
 १ २  
 श्रंभि ॥ ७ ॥ अ० ९ । ११ । १ ॥



भा०—( सयुग्मभि ) साथ योग देनेहारे सहायकों द्वारा ( सूर न ) जिस प्रकार प्रेरक नेता ( विश्वा द्वेषासि तरति ) सब शत्रुओं को तर जाता है उसी प्रकार ( सयुग्मभि ) अपने सहायक इन्द्रियगणों, अर्धों, योग-साधनों द्वारा ( सूर ) सबका प्रेरक, विद्वान्, सूर्य क समान तेजस्वी ( हरि ) गतिशील आत्मा ( अया ) इस ( हरियया ) अज्ञान हरने वाली ( रुचा ) उद्योति से ( पुनान ) मन्त्र आदि का परिशाधन करता हुआ ( विश्वा द्वेषासि ) सब प्रकार के विराधियों को ( तरति ) पार कर जाता है । उम ( वृष्टय ) सबके धारण करने हार सोम की ( धारा ) धारण पोषण करनेहारी शक्ति ( रोचते ) सर्वत्र प्रकाशित जाती है । वह ( हारे ) सर्व-व्यापक, सर्वदु खहारक, ( अरूप ) सर्व प्रकार से प्रकाशमान, ( पुनान ) सबको प्रेरित करता हुआ ( यद् ) जो वह ( विश्वा रूपा ) सब पदार्थों या आकाशस्थ पियदों को ( अश्वाभि ) प्रकाश ज्ञानयुक्त ( सप्तस्योभि ) शिरोगत सप्त प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या विशाल ब्रह्माण्ड में सब नक्षत्रों को चलाने हारे सात महाकयुर्गों द्वारा ( परि यासि ) घेरे बैठा है, व्यापक है ।

४१४      ७   २ ३   १२ ३६ २१ ३ १   २ ३ १   २   ३ १   २  
 [४६४] आभि त्य देव सवितारमौणयो ऋषिर्वतुमर्चाभि सन्यस्रधं  
 ३   २ २ २ ३ २   ३ २   ३ २ ४   ३ २ ३ १ २   २ २ ३  
 रत्नधामभिप्रिय मतिम् । ऊर्ध्वां यस्यामातमा अदिद्युत-  
 १   २   ३   १ १   ३ ३ २ ३ १   २  
 त्सवीमनि हिरण्यपाणिर्मिर्मति सुन्तु कृपाभ्य ॥ ८ ॥

यजु० ४। २५ ॥ अथ० ७। १४। १, २ ॥

भा०—( ओणयो सवितार ) सौ और पृथिवी के उत्पादक, ( ऋषि-  
 क्तु ) शान्तदर्शी, एवं ज्ञानसम्पन्न मेधावी ( सत्यसव ) सत्य को प्रकट  
 करने हारे, ( रत्नधाम् ) रमणीय विभूतियों का धारण करने वाले, ( अ

४६४—प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्था क्तुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिह इत्यधिक पाठ,

यजु० 'कृपात् स्व' इति शक्यं० ।

भिप्रियं ) सबके प्रिय, ( मति ) मनन योग्य ( त्वं देव ) उस देव की ( अभि अर्चामि ) साक्षात् स्तुति करता हूँ । ( यस्य ) जिसकी ( ऊर्वा ) ऊर्ध्व=ऊपर को जाने वाली या सबसे ऊपर विद्यमान ( मा ) सूर्यरूप तेज कान्ति, ( अमति ) अचिन्त्य, अद्वितीय (सवीमनि) जगत् के उत्पत्ति कार्य में ( अदियुतत् ) सर्वत्र प्रकाशित होती है । यह ( हिरण्यपाणिः ) किर्यारूप या गतिरूप हाथों वाला, अथवा तेजोमय किरणों वाला (सुक्रत्) उत्तम कर्तार ( कृपा ) अपने सामर्थ्य से ( स्व ) सब प्रकाशमान सूर्य आदि दैत्यों और परमसुख को ( नि -अमिमात् ) बनाता और दता है ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ १२ ३ १ २ ३  
 [४६५] अग्नि होतार मन्ये दास्वन्तं वसोः सुनु सहस्रो जानवेदसं  
 २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 त्रिभं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वधरो देवो देवाच्या  
 ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 कृपा घृतस्य विभ्राष्टिमनुशुक्रशोचिप आजुहानस्य  
 ३ १ २  
 सर्पिषः ॥ ६ ॥ अ० १ । १२७ । १ ॥

भा०—मै ( दास्वन्तं ) दान करने वाले, सबके दाता, ( वसो ) उस घास करने वाले ( सहस्र. ) बलरूप जीवन्मा के ( सुनुं ) प्रेरक, ( जात-वेदसं ) समस्त भूतिमान् धनादि पदार्थों के उत्पन्न करने हार, ( विद न ) विश्व, मेघाकी पुरुष के समान ( जातवेदसं ) समस्त उत्पन्न हुए पदार्थों के जानने हारे, ( अग्नि ) परमेश्वर को ( होतारं ) इस महा ब्रह्मायद्रूप यज्ञ का कर्ता ( मन्ये ) स्वीकार करता हूँ ( यः ) जो ( ऊर्ध्वया ) ऊपर घा काश में स्थित उवाला द्वारा ( स्वधरो, ) उत्तम अहिंसित अभिनागी, ईश्वरहित यज्ञ का करनेहारा ( देवाच्या ) देवों तक पहुँचने हारे ( कृपा ) सामर्थ्य से ( शुक्रशोचिप ) अत्यन्त दीप्त कान्ति वाले, ( सर्पिषः ) सर्व स्पर्शी, प्रसरणशाल ( घृतस्य ) कान्तियुक्त सूर्य या अग्नि में आहुति किये

धी के समान ( विद्महिम् अनु ) विशेष भर्जन करने वाले प्रताप और तेज के साथ स्वयं ( वष्टि ) विराजमान, प्रकाशित होरहा है ।

२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
[४६६] त्व त्य न्ये नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्ये दिवि प्रवाच्य

३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ ०

कृतम् । यो देवस्य शवसा प्रारिणा असुरिण्यप । भुवो

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ४

विश्वमभ्यदेवमाजसां विदेदूर्जे शतक्रतुर्विदेद्विपम् ॥१०॥

क० २। १२। ४ ॥

भा०— हे ( नृत ) समस्त संसार को नचाने वा अपनी इच्छानुकूल चवाने हारे! ( त्यत् ) वह ( अप ) कर्म ( प्रथमं ) सबसे उत्कृष्ट ( दिवि ) द्यौलोक में भी ( पूर्यं ) सबसे पूर्व ( प्रवाच्यं ) उत्तम रीति से बर्णन करने योग्य ( कृतं ) किया हुआ सर्व ( त्व ) तेरा ही है । ( यः ) जो ( शवसा ) अपने वेग या बल से ( देवस्य ) प्रकाशमान, विजिगीषु, महाशयधारी हिरण्यगर्भ के ( असुम् ) पवनरूप प्राण को ( रिण्यु ) गति देता हुआ ( अपः ) नाना लोकों को ( प्र अरिणः ) प्रकृष्ट वेग से चला रहा है । और वह देव ( विश्वम् ) समस्त ( अभ्येवं ) न प्रकाशित होने वाले, मृतशय, नाना पृथिवी आदि लोकों, दिव्यों को भी ( आजसा ) अपने बल से, कांक्षित से ( भुवत् ) व्याप्त होकर उनमें ( ऊर्जेम् ) अथादि खाद्य पदार्थ और जीवनमय पदार्थ ( विदेद् ) प्राप्त कराता है, उत्पन्न करता है वह ( शतक्रतु ) सैकड़ों कर्मों को करने हारा शिष्यी ( ह्यं विदेत् ) हमें जीवन, प्राण्य और अन्न दे ।

इति अष्टमी दशतिः । इति द्वाविंशः खण्डः ।

इति ऐन्द्रं काण्डम् ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

## अथ पावमानकारणम् ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।



॥ ६० ६ ॥ अग्निः—१, ५ अमहीयुः । २ मधुच्छन्दाः । ३ भृशुनक्तिनिः अमद-  
शिरा । ४ त्रिनः आसयः । ६ वरयथः । ७ अमदग्निः । ८ पृच्छन्तु आगस्त्यः ।  
१, २० काश्यपोऽसिनः । पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ ५३७ ॥

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २  
[४६७] उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्याद्दे ।

उग्रं शर्म महि श्रवः ॥ १ ॥ अ० १ । ६१ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! ( ते ) तेरे ( अन्धसः ) प्राणधारण सामर्थ्य  
से ( जातं ) उत्पन्न हुए ( दिविसद् ) धौलोक, सूर्य में विद्यमान ( उग्रं )  
उग्र, उत्कृष्ट, ( शर्म ) सुख, शरण और ( महिः श्रवः ) महान् ज्ञान या  
बल, अन्न को ( भूमि ) भूमि पर के पुरुष भी ( आददे ) प्राप्त करते हैं ।  
अर्थात् सूर्य में विद्यमान जीवन, सुख और ज्ञान दीप्ति आदि को हम भूमि  
पर भी प्राप्त करते हैं ।

२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[४६८] म्यादिष्टया मदिष्टया पवस्य सोम धारया ।

१ २ ३ १ २ ३ २  
इन्द्राय पातवे सुनः ॥ २ ॥ अ० १ । १ । १२ ॥

भा०—हे ( सोम ) सबके प्रेरक ईश्वर ! आप ( म्यादिष्टया ) अत्यन्त  
रम्य दायक ( मदिष्टया ) अत्यन्त हर्ष या आनन्दकारक ( धारया ) अपनी  
धारण शक्ति से ( पवस्य ) सब में व्यापक हो । ( इन्द्राय ) इस आत्मा के

४६७—'दिविसः' इति अ० ।

४६८—१. पवतिर्गतिङ्गमां ( नि० २ । १४ )

( पातये ) पान करने के लिये यह सोम, ज्ञानानन्द रस ( सुत ) उपब्र किया जाता है ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २</sup>  
[४६६] धृष्या पयस्व धाग्या मरुत्वते च मत्सरः ।

<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> विभ्या दधान औजसा ॥ ३ ॥ अ० ६ । ६५ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू ( धृष्या ) धर्मस्वरूप, सुखों का वर्षक, सपत्ने भेष्ट, ( मत्सरः ) सपत्नी मृत करनेहारा और आनन्दस्वरूप होकर सबके दुःखों में व्यापक, ( मरुत्वते ) प्राणों और समस्त वायुओं और प्रजाओं के स्वामी आत्मा, सूर्य, ईश्वर और राजा के लिये ( धारया ) अपने धारक पोषक शक्ति द्वारा ( विरया ) समस्त प्राणियों, खोंकों और प्रजाओं को अपने ( औजसा ) बल से ( दधानः ) धारण करता हुआ ( पयस्व ) प्रकाशित हो ।

<sup>१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
[४७०] यस्त मदी घरेण्यस्तेनापयस्थान्धसा ।

<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> देवार्थीरघशंसदा ॥ ४ ॥ अ० ६ । ६६ । ११ ॥

भा०—हे ( सोम ) परमेश्वर ! ( यः ) जो ( ते ) तैरा ( मदीः ) आनन्द या हृष्य प्रकाश, ( देवार्थीः ) देवों, विद्वानों या इन्द्रियमण्डल में प्रकट होता है और जो ( अघ-शंसदा ) पाप की विद्या देने वाले दुष्ट पुरुष या अधेननता और अज्ञान का नाशक ज्ञान और काम क्रोधदि दुष्ट भावों का भी नाश करता है ( तेन ) उस ( अन्धसा ) प्राणशक्ति से ( का पयस्व ) प्रकट हो ।

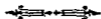
<sup>३ १ ४ ३ १ १ ३ १ १ ३ १ १</sup>  
[४७१] तिष्ठो वाच उदीरते गायो मिमन्ति धेनवः ।

<sup>१ १ १ ३ १ १ ३ १ १</sup> हरिरेति कनिमदत् ॥ ५ ॥ अ० ६ । ६७ । १४ ॥

भा०—जित प्रकाश ( धेनवः ) दुग्धा ( गावः ) गौवं ( मिमन्ति ) अपना दूध देने के लिये हंभाती हैं उसी प्रकार ( तिष्ठः वाचः ) हीनों

बीच ( हित ) विद्यमान ( दिव ) सूर्य या ज्योति के ( प्रिया ) प्रिय ( वयासि ) आमाओं जीवों तक वह ( कथिक्रु ) ज्ञानानुसार कार्य करने हारा ( स्वान ) ब्रह्मज्ञान को प्रकट करने हारे विद्वानों द्वारा ( परि याति ) सर्वत्र प्रचलित हो जाता है, सर्वत्र चर्चा किया जाता है ।

इति नवमी दशति । प्रथम खण्ड ।



॥१०॥ १०॥ ऋषिः—१ ऋषिर्मेधावी । २ श्यावाश्व । ३ विण । ४, ८ अमहीयु ।  
५ शृगु । ६ काश्यप । ७ निभ्रुवि काश्यप । ८, १० काश्यपोऽसित् । ॥  
पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्ज ॥

१२ २२ ३ २३ १२ ३ १ २  
[४७७] प्र सोमासो मदच्युत अथसे नो मघोनाम् ।

३ २ ३ १ २

सुता विदधे अक्रमु ॥ १ ॥ ऋ० १ । ३२ । १ ५

भा०—( मदच्युत ) आनन्द को वहाने वाले ( सोमास ) सौम्य स्वभाव वाले विद्वान् या आनन्दरस ( विदधे ) यज्ञ या ज्ञान के अवसर पर ( सुता ) नियुक्त या अभिषिक्त द्रवित होकर ( मघोना ) हवि या धनादिसम्पन्न ( न ) हमारे ( अथसे ) ज्ञान कीर्ति, अथ प्राप्त करने के लिय ( प्र अक्रमु ) उत्तम रूप से प्रवृत्त होते हैं ।

१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[४७८] प्र सोमासो त्रिपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्भय ।

१ २ ३ १ २

वनानि महिषा इव ॥ २ ॥ ऋ० ६ । ३३ । २ ॥

भा०—( ऊर्भय ) जिस प्रकार समुद्र की तरंगें पुरुषों को समुद्र से नाना दशों के भीतर पहुँचा देती हैं या जैसे ( महिषा ) बड़े २ छाटू पशु

४७७—'मघोन' इति ऋ० ।

४७८—'नयन्ति' इति ऋ० ।

ऐसे आदि पीठ पर उठाकर, उनके वाहन बन कर दूर देशों तक पहुंचा देते हैं उसी प्रकार ( विपश्चितः ) विद्वान्, ज्ञानवान्, कर्मवान् ( सोमासः ) सौम्य स्वभाव वाले जन ( अपः ) प्रजाओं को ( वनानि ) उत्तम सेवन करने योग्य पदार्थों के प्रति ( नयन्त ) प्राप्त कराते हैं ।

[४७६] पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने ।

विश्वा अप द्विषो जहि ॥ ३ ॥ अ० ६ । ६१ । २८ ॥

भा०—हे इन्दो ! हे विद्वन् ! आत्मन् ! ( सुतः ) तू तैयार होकर ( जने ) राष्ट्र में ( पवस्व ) प्रकट हो । और ( नः ) हमें ( यशसः ) कीर्तिसम्पन्न ( कृधि ) बना, ( विश्वा द्विषः ) समस्त द्वेष करने वालों को ( अप जहि ) नारा कर ।

[४८०] वृषा ह्यसि भानुना घुमन्तं त्या हवामहे ।

पवमान स्वर्शम् ॥ ४ ॥ अ० ६ । ६५ । ४ ॥

भा०—हे विद्वन् ! आत्मन् ! हे ( पवमान ) सबको पवित्र करने-हारे ! ( वृषा हि असि ) तू सब सुखों के वर्णन करनेहारा है । ( भानुना ) सूर्य, या कान्ति से ( घुमन्तं ) दीप्तिमान् ( स्वर्शम् ) सुख या सब के दशा ( त्या ) तेरी हम ( हवामहे ) स्तुति करते हैं ।

[४८१] इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कधीना मतिः ।

सृजदश्व रथीरिव ॥ ५ ॥ अ० ६ । ६४ । १० ॥

भा०—( चेतनः ) चेतनास्वरूप ( कधीना ) शान्तदर्शी तावर्षों का ( प्रियः ) अत्यन्त आदर और प्रेम का पात्र ( मतिः ) मननशील ( रथीः इव ) सारथी के समान ( अधम् ) अधः=हृदिपगण को ( सृजद ) प्रेरणा करता हुआ ( पवते ) स्पवहार में प्रवृत्त होता है ।

[४८२] असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अभ्या ।  
<sup>१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २</sup>

शुक्रासो वीरयाश्व ॥ ६ ॥ ऋ० ६ । ६४ । ४ ॥

भा०—( वाजिन ) बलवान् ( आश्व ) शक्तिकारी आश्वसराहित  
 ( शुक्रास ) कान्तिमान् ( सोमास ) वागिजन, ( गव्या ) गौ या वाणी  
 की कामना स ( अभ्या ) अश्व अर्थात् इन्द्रियों को बरा करने की इच्छा  
 से और ( वीरया ) वीर्य, सामर्थ्य लाभ करने की इच्छा से ( प्र असृक्षत )  
 प्रयत्न करत हैं ।

[४८३] पयस्व देव आयुपगिन्द्र गच्छतु ते मद ।  
<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २</sup>

वायुमारोह धर्मणा ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ६३ । २२ ॥

भा०—हे ( देव ) द्योतमान रसस्वरूप आत्मन् ( पयस्व ) तू प्रकट हो  
 और ( आयुपक् ) साथ ही ( ते मद ) तेरा आनन्दनवाह ( इन्द्र गच्छतु )  
 आत्मा के पास जावे । और तू ( धर्मणा ) धर्म धारक प्रयत्न से ( वायु )  
 प्राणवायु को ( आरोह ) बरा कर, उस पर आरुह हो ।

[४८४] पयमानो अजीजनाह्वक्षिप्र न तन्यतुम् ।  
<sup>१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २</sup>

ज्योतिर्यश्चानर वृहत् ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ६५ । १९ ॥

भा०—( पयमान ) अन्तःकरण और बुद्धितत्व को विमल करने  
 वाला साथक योगी सूर्य के समान ( दिव ) पुलाक, मूर्धा के ( चित्र )  
 विचित्र आदर योग्य ( वैशानर ) सब नरों में व्यापक, ( वृहत् ) विराट  
 ( ज्योति ) प्रकाश को ( तन्यतु न ) बितली के समान ( अजीजान् )  
 प्रकट करता है ।

[४८५] परि स्वानास इन्द्रो मदाय वहणा गिरा ।  
<sup>१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २</sup>

मथा अपन्ति धारया ॥ ९ ॥ ऋ० १ । १० । ४ ॥

४८५—पर स्वानास, 'इन्द्रो मदाय' इति ऋ० ।



भा०—( स्वानासः ) सवन किये, सुसम्पादित, ( इन्द्रवः ) ऐश्वर्ययुक्त  
विद्वान्जन ( मदाय ) अति आनन्द के लिये ( बहैया ) बहुत षष्ठी ( गिरा )  
वेदवाणी से ( मधो. ) मधु, सारभूत आनन्दरस की ( धारवा ) धारा या  
धारवा शक्ति से ( परि अर्पन्ति ) सर्वत्र प्रकाशित होते, या व्यापते हैं ।

[४८६] परिप्रानिष्यदत्कविः सिन्धोः।रुर्माविधिधितः ।

कारु विभ्रत्पुरुस्पृहम् ॥ १० ॥ अ० ६ । १४ । १ ॥

भा०—( कवि- ) तत्त्वदर्शी, विद्वान् ( सिन्धोः ) आनन्दमय समुद्र के  
( ऊर्मा ) तरङ्ग में ( अधिधित ) बहता हुआ ( पुरुस्पृहं ) प्रजा के प्रेमपात्र  
( कारुं ) आत्मारूप शिवपी को ( विभ्रत् ) धारवा करते हुए जहाज के  
समान ( परि प्र अस्निष्यदत् ) सब ओर वेग से गमन करता है ।

इति दशमी दशतिः । द्वितीयः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः । पञ्चमः प्रपाठकश्च समाप्तः ॥



अथ षष्ठः प्रपाठकः ( प्रथमोऽर्धः ) ।

॥ ६० १ ॥ अर्थः—१, ८, ६ अमहीयुः । २ बुद्धन्मतिराङ्गिरसः । ३ काश्यपोऽ-

सिद्धः । ४ प्रभूत्वम् । ५ मेध्यातिथिः । ६, ७ निभ्रुवि काश्यपः । १०

उच्यते ॥ पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्जः ॥

[४८७] उपोषु जातमप्तुर गोभिर्भङ्ग परिष्कृतम् ।

इन्दु देवा अयासिषुः ॥ १ ॥ अ० ६ । ६१ । १३ ॥

भा०—( देवाः ) विद्वान् लोग या इन्द्रियगण ( सुजातं ) उत्तम गुणों  
से सम्पन्न उत्तम रूप से उत्पन्न, ( अप्तुरं ) प्रजाओं या इन्द्रियों वा ऊर्मों,  
जानों में व्यापक, गतिमान्, ( गोभिः ) गौओं, उनके दुग्धों, बाणियों,  
रश्मियों से ( परिष्कृतम् ) सुशोभित, सुमिश्रित, ( भङ्गं ) सब दु.सों और

शत्रुघ्नो के ताड़ने हारे ( इन्द्र ) इस आत्मरूप सोम या परमेश्वर के आनन्दरस को ( उप अयासिषु ) प्राप्त करत है । ईश्वर, आत्मा, राजा और सोमरस धर्मों पक्षों में स्पष्ट है ।

[४८८] पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणि ।

शुभान्नि विप्र धीतिभि ॥ २ ॥ अ० ६ । ४० । १ ॥

भा०—( विचर्षणि ) विविध प्रजाधर्मों का द्रष्टा ( सोम ) आत्मा ( विश्वा ) समस्त ( मृध ) सप्रायों को ( पुनान ) पवित्र करता हुआ, सबक कलह मिटाता हुआ ( अभि अक्रमीत् ) प्रयत्नरूप से सबको व्यवस्थापक रूप में पार कर जाता है वह सबसे ऊंचा हाकर विराजता है । उस ( विप्र ) मेधा बुद्धि से सम्पन्न ज्ञानी का विद्वान्जन ( धीतिभि ) अपनी मतिधर्मों और स्तुतियों से ( शुभान्नि ) अलंकृत करत है ।

[४८९] आविश-कलश सुतो विश्वा अर्पयामि धिय ।

इन्द्रुद्रिद्राय धीयते ॥ ३ ॥ अ० ६ । ४२ । १६ ॥

भा०—( सुत ) अभिविक्त राजा जिस प्रकार राष्ट्र में प्रवेश करता है उसी प्रकार विद्वान् ज्ञानी साधक योगी का आत्मा ( कलश ) सालह कलाधर्मों से बने इस धर्मो मस्तक या मद्राष्ट में ( आविशन् ) ग्याप्त होता हुआ ( विश्वा ) समस्त ( धिय ) उत्तम आश्रयस्थानों, सम्पदाधर्मों, ज्ञानादियों एवं सब लोकधर्मियों में ( अभि अर्पत् ) ग्याप्त होता है । ( इन्द्रु ) वही इन्द्रु परमेश्वरसम्पन्न सिद्धयागी, ( इन्द्राय ) उस महान् पृथर्ववान् आत्मा को प्राप्त करने के लिये ( धीयते ) प्रस्तुत होजाता है, उसका ध्यान करता है ।

[४९०] असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चर्म्वो सुत ।

कार्मन्वाजा न्यक्रीत् ॥ ४ ॥ अ० ६ । ४६ । १ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( रष्यः ) रथयोग्य ( वाजी ) वेगवान्  
 अथ ( कार्मन् ) आकर्षण करनेहारा ( सुतः ) प्रेरित होकर ( चम्बोः ) दोनों  
 सेनाओं के बीच ( पवित्रे ) पैतरे पर ( नि-अक्रमीत् ) वेग से दौड़ता है ।  
 उसी प्रकार यह आत्मा ( सुतः ) ऐश्वर्य से युक्त होकर ( चम्बोः ) निष्पादन  
 फलकों, सौ और पृथिवी, प्राण और अपान के बीच ( पवित्रे ) पवित्र करने  
 हारे प्राण वायु में ( कार्मन् ) सब इन्द्रियों को कर्षण करता हुआ ( रष्यः )  
 इस देह के योग्य ( वाजी ) वेगवान् अति बलवान् ( असर्जि ) होकर  
 ( नि-अक्रमीत् ) नाना स्थानों में गमन करता है । सोम और रथ के  
 घोड़े के दृष्टान्त से मुख्य प्राण और ब्रह्माण्ड के विधारक सूत्रात्मा वायु  
 का वर्णन है ।

<sup>२४</sup> [४६१] प्र यद्रावो न भूर्णयस्त्वेपा अयासो अक्रमु ।  
<sup>१ २ ३ २४ ३ १ २</sup>

घनन्तः कृष्णामपत्यचम् ॥ ५ ॥ अ० ५ । ४१ । १ ॥

भा०—( यत् ) जो ( गाव न ) किरणों के समान ( भूर्णय. ) सब  
 के पावन करने हारे वा सिप्रगामी, ( स्वेपाः ) कान्तिमान् ( अयास. )  
 गतिशील, ( कृष्णा ) कृष्ण, कर्षण करने वाली, हानिकारक ( त्यचम् )  
 त्वचा, ऊपर की खाल या देखावे, अन्धकार, रोग, देहबन्धन को ( घनन्तः )  
 विनाश करते हुए ( प्र-अक्रमुः ) विचरते हैं ।

<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २</sup>  
 [४६२] अप घ्नपवसे मृधः क्रतुवित्साम मत्सरः ।

<sup>३ १ २ २ ३ १ २</sup>  
 नुदस्वा देवयुं जनम् ॥ ६ ॥ अ० ६ । ६१ । २४ ॥

४६१—प्रवे गावो' इति अ० ।

४६२—मृधः=मृधि उन्दने भ्वादिः, उन्दन वलेदन । मृध. सङ्क्षोषा, बन्धनानि  
 कर्मासङ्गा इति वा ।

भा०—हे ( सोम ) विद्वन् । हे रसरूप ( मास्तर ) इपेंकारी होकर विचरने हारा तू ( ऋग्वित् ) सब उच्छृष्ट ज्ञान और कर्मों का जानने और लाभ कराने हारा ( मृध ) परस्पर के कलहों, संग्रामों या बन्धनों को ( अपमन् ) विनाश करता हुआ ( अदेवयु ) देवों, विशानों के प्रतिकूल नास्तिक ( जन ) पुरुष को ( नुदस्व ) परे कर ।

[४६३] अया पयस्व धारया यथा सूर्यमराचय ।

हिन्वाना मानुषीरप ॥ ७ ॥ ऋ० ६ । १३ । ७ ॥

भा०—हे विद्वन् । रसरूप ( यथा ) जिस ( धारया ) धारा या धारण पोषण शक्ति स ( मानुषी ) मनुष्य ( अप ) प्रजाओं या प्राणों को ( हिन्वान ) प्रेरित करता है ( यथा ) जिससे ( सूर्य ) सूर्य के समान सबके प्रेरक राजा या विद्वान् गुरुको ( अरोचय ) सब में प्रकाशित करता है ( अया ) उस धारा से ( पयस्व ) तू भी सर्वत्र प्रकाशित हो ।

[४६४] स पयस्व य आविधेन्द्र वृत्राय हन्तव्य ।

यमिवास मदीरप ॥ ८ ॥ ऋ० ६ । ११ । २२ ॥

भा०—हे रसरूप ! ( य ) जो ( मदी ) बहुत सारे ( अप ) नलों, कर्मों, प्राणों या जिंग-शरीरों और प्रज्ञानों को ( यमिवास ) आवरण किये, रोके हुए ( वृत्राय ) आवरणकारी मय क समान अज्ञान अन्वकार या कर्मबन्धन को ( हन्तव्ये ) विनाश करने के लिये ( इन्द्र ) सूर्य के समान आत्मा को ( आविध ) रचा करता है ( स ) यह तू ( पयस्व ) प्रकाशमान हो ।

[४६५] अया यीना पारस्त्रय यस्त इन्द्रो मदेप्या ।

अप्राह्नवतीर्नय ॥ ९ ॥ ऋ० ६ । १२ । १ ॥

भा०—हे रसरूप ! ( ते ) तरे ( मदेपु ) आनन्द रसों में बह कर ( इन्द्र ) आत्मा ( नवती नव ) ११ वर्ष ( य ) जो ( अपाहन् ) पार

कर जाता है ( अया ) इस ( धीती ) रीति से ( परिश्रव ) देह में व्याप्त रह, गति कर । ऐतिहासिक पद्य में इन्द्र का १६ शम्बर की पुरियों का विनाश करना आदि आलंकारिक है ।

[४६६] परि<sup>१ २</sup> शुचं<sup>३ ५</sup> सनद्रयि<sup>१ २ ३ ५</sup> भरद्वाजं<sup>३ १ २</sup> नो<sup>३</sup> अन्धसा<sup>३ २</sup> ।

स्वानो<sup>३ १</sup> अर्प<sup>२</sup> पवित्र<sup>३ २ ३</sup> आ ॥ १० ॥ अ० ६।५२।१ ॥

भा०—हे (सोम) विद्वन् ! आनन्दमय ! (नः) हमें (अन्धसा) जीवन-धारण सामर्थ्य से, (शुचं रयिं) कान्तिस्वरूप धन को (परि सनद्) प्रदान कर, और (न. वातं भरद्) हमें अन्न और ज्ञान भी प्राप्त करा । हे (सोम) विद्वन् ! (स्वानः) सम्पादित होता हुआ, ऐश्वर्यवान् तू (पवित्र) पवित्र करनेद्वारे दशा पवित्र नामक बल्लखण्ड के समान पवित्र, शुद्ध हृदय या मद्य में तू (आ अर्प) स्वयं स्थापक, विराजमान हो और विचर ।

इति प्रथमा दशतिः । तृतीयः खण्डः ॥



॥ ६० २ ॥ अवि-१ मेध्यातिथिः । २, ७ मृगः । ३ ब्रह्मप्यः । ४ अक्सारः । ५, ६ निभ्रुविः काश्यपः । ८, ९ काश्यपो मारीचः । १० अग्निः । ११ कविः । १२ जमदग्निः । १३ अयास्य आङ्गिरसः । १४ अमरीशुः ।

पवमानो देवता । गायत्री । षट्त्रयः ॥

[४६७] अविश्रद्<sup>१ २</sup> वृषा<sup>३ २ ३</sup> हरिमंहान्मित्रा<sup>१ २ ३ २</sup> न दर्शतः<sup>३ १ २ २ ३ २</sup> ।

स<sup>१ २</sup> सूर्येण<sup>३ २</sup> दिद्युते ॥ १ ॥ अ० ९।२।६ ॥

भा०—(वृषा) वर्षणशील, (हरिः) सबको गति देने द्वारा, जगदीश्वर (महान्) सबसे बड़ा (मित्रः न) सबके प्रति खेही, सूर्य के समान

४६६—'परीश्रव' 'सनद्रयिः' 'स्वानो' इति अ० ।

४६७—'सूर्येण रोचते' इति अ० ।

( दर्शत ) दर्शनीय, ( स्र्येण ) अपने प्रेरक बल और तेज से ( स दिद्युते ) उत्तमरूप से प्रकाशित होता है ।

[४६८] आ ते दत्त मयोभुव बद्धिमद्या वृणीमहे ।

पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ २ ॥ श्र० ६ । ६६ । २८ ॥

भा०—हे प्रमो ! ( ते ) तेरे ( मयोभुव ) शान्ति और कल्याण के जनक, ( बद्धि ) सुखों के प्राप्त कराने वाला, ( पान्त ) पालक, ( पुरुस्पृह ) सबके अभिलाषा योग्य, ( दत्त ) बल की ( अद्य ) इस समय हम ( आ वृणीमहे ) सब प्रकार से याचना करते हैं ।

[४६९] अध्वर्यो अद्रिभि सुत सोम पवित्र आनय ।

पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३ ॥ श्र० ६ । ५२ । १ ॥

भा०—हे ( अध्वर्यो ) यज्ञनिष्पादक ! ( अद्रिभि ) पाषाण-खरहों से जिस प्रकार सोमरस निकाला जाता है उसी प्रकार ज्ञानोत्पादक गुरुओं द्वारा ( सुत ) निष्पादन किये ( सोम ) ज्ञान या आनन्द रस को ( पवित्र ) वशा पवित्र नामक बल खरह के समान विवकरालि धित में ( आनय ) प्राप्त करा और ( पातवे ) पान करनेहारे ( इन्द्राय ) आत्मा के लिये ( पुनाहि ) इस विमल, और स्वच्छ कर ।

[५००] तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धस ।

तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ श्र० ६ । ६८ । १ ॥

भा०—( स ) वह ( मन्दी ) स्तुति करने वाला, स्वतः कृत आत्मा ( तरत् ) इस देहबन्धा को तर जाता है । वही ( सुतस्य ) उत्पन्न हुए ( अन्धस ) अन्धकार के नाशक ज्ञान और आनन्दरस की ( धारा ) धारा, या शक्ति द्वारा ( धावति ) ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है । वही ( तरत् ) अज्ञान

को पार करके ( मन्दी ) अत्यन्त आनन्दमय होकर ( धायति ) परम शुद्ध होकर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है ।

[५०१] आ पत्रस्य सहस्रिण रयिं सोम सुवीर्यम् ।

अस्मै अवासे धारय ॥ ५ ॥ श० ६ । ६३ । १ ॥

भा०—हे ( सोम ) आनन्दरस रूप आत्मन् ' तू ( सहस्रिण ) सहस्रों ( सुवीर्यं ) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न ( रयिं ) धन को ( या पवस्व ) प्राप्त करा । ( धरमे ) हमें ( अवासे ) नाना ज्ञान और अन्न ( धारय ) धारण करा ।

[५०२] अन्नु प्रनास आयय पद् नवीयो अग्रमु ।

रुच्ये जनन्त सूर्यम् ॥ ६ ॥ श० ६ । २३ । २ ॥

भा०—(प्रनास ) पुराने, प्राचीन, शाश्वत ( आयय ) जीवन की कामना करने वाले पुरुष ( नवीय ) अत्यन्त स्तुतियोग्य, उत्तम ( पद् ) प्राप्तिय ब्रह्मपद या ज्ञातव्य ज्ञान को ( अन्नु अग्रमु ) अनुसरण करते हैं । वे ( रुचे ) अपनी दीप्ति-प्रकाश के निमित्त ( सूर्यं ) सूर्य के समान प्रेरक मुख्य प्राण को या परमेश्वर को ( जनन्त ) सामर्थ्यवान् बनाते, उसकी सब शक्तियों की भावना करते या साक्षात् करते हैं ।

[५०३] अर्पा सोम शुमत्तमोऽभि द्राणानि रोरुवत् ।

सीद्न्योनीं वनेप्या ॥ ७ ॥ श० ६ । १५ । ११ ॥

भा०—हे ( सोम ) सबके प्रेरक ! हे ( शुमत्तम ) प्रकाशमान् पदार्थों में सबस श्रेष्ठ ! ( वनेषु ) सेवन करने योग्य पदार्थों और कर्मपत्रों में या ब्रह्मपदार्थों में, ( योनौ ) अपने आश्रयस्थान पर ( सीद्न् ) विराजमान होकर ( आ ) विश्व और ( द्राणानि अभि ) द्रव्यशक्ति, विनाशशक्ति

( दर्शत ) दर्शनीय, ( स्येय्य ) अपने प्रेरक बल और तेज से ( स दिवुते ) उत्तमरूप से प्रकाशित होता है ।

[४६८] आ ते दत्त मयोभुव घद्धिमद्या वृणीमहे ।

पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ २ ॥ श्र० ६ । ६२ । २८ ॥

भा०—हे प्रभा ! ( ते ) तेरे ( मयोभुव ) शान्ति और कल्याण के जनक, ( घद्धि ) सुखों के प्राप्त कराने वाला, ( पान्त ) पालक, ( पुरुस्पृह ) सबके अभिलाषा योग्य, ( दत्त ) बल की ( भय ) इस समय हम ( आ वृणीमहे ) सब प्रकार से याचना करते हैं ।

[४६९] अश्वयो अद्रिभि सुत सोम पवित्र आनय ।

पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३ ॥ श्र० ६ । ५२ । २ ॥

भा०—हे ( अश्वयो ) मज्जनिष्पादक ! ( अद्रिभि ) पाषाण-खण्डों से जिस प्रकार सोमरस निकाला जाता है उसी प्रकार ज्ञानोत्पादक गुरुओं द्वारा ( सुत ) निष्पादन किये ( सोम ) ज्ञान या आनन्द-रस को ( पवित्रे ) दशा पवित्र नामक ब्रह्म खण्ड के समान विवेकशील चित्त में ( आनय ) प्राप्त करा और ( पातवे ) पान करनेद्वारे ( इन्द्राय ) आत्मा के लिए ( पुनाहि ) इस विमल, और स्वच्छ कर ।

[५००] तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धस ।

तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ श्र० ६ । २८ । २ ॥

भा०—( स ) वह ( मन्दी ) स्तुति करने द्वारा, स्वतः मृत आत्मा ( तरत् ) इस देहबन्धन को तर जाता है । वही ( सुतस्य ) वापस हुए ( अन्धस ) अन्धकार के नाशक ज्ञान और आनन्दरस की ( धारा ) धारा, या शक्ति द्वारा ( धावति ) ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है । वही ( तरत् ) अज्ञान



को पार करके ( मग्दी ) अत्यन्त धानन्दमय होकर ( धावति ) परम शुद्ध होकर मह्य को प्राप्त होजाता है ।

[५०१] आ पवस्व सहस्रिण रयि सोम सुवीर्यम् ।

अस्मं थवांस धारय ॥ ५ ॥ अ० ६ । ६३ । १ ॥

भा०—हे ( सोम ) धानन्दरस रूप धामन् ! तू ( सहस्रिण ) सहस्रों ( सुवीर्यं ) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न ( रयिं ) धन को ( आ पवस्व ) प्राप्त करा । ( अस्मे ) हमें ( थवांसि ) नाना ज्ञान और अन्न ( धारय ) धारण करा ।

[५०२] अनु प्रत्नास आयध पद नवीयो अक्रमु ।

रुचे जनन्त सूर्यम् ॥ ६ ॥ अ० ६ । २३ । २ ॥

भा०—( प्रत्नास ) पुराने, प्राचीन, शाश्वत ( आयध ) जीवन की कामना करने वाले पुरुष ( नवीय ) अत्यन्त स्तुतियोग्य उत्तम ( पद ) प्राप्त्य मह्यपद या ज्ञातव्य ज्ञान को ( अनु अक्रमु ) अनुसरण करते हैं । वे ( रुचे ) अपनी दीप्ति प्रकाश के निमित्त ( सूर्यं ) सूर्य के समान प्रेरक मुख्य प्राण को या परमेश्वर को ( जनन्त ) सामर्थ्यवान् बनाते, उसकी सब शक्तियों की भावना करते या साक्षात् करत हैं ।

[५०३] अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्राणानि रोर्यवत् ।

सिदन्त्यो नौ वनेष्या ॥ ७ ॥ अ० ६ । ६५ । १६ ॥

भा०—हे ( सोम ) सबके प्रेरक ! हे ( द्युमत्तम ) प्रकाशमान् पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ ! ( वनेषु ) सेवन करन योग्य पदार्थों और कर्मफलों में या मह्यपदों में, ( योनौ ) अपने आश्रयस्थान पर ( सिदन् ) विराजमान होकर ( या ) विचर और ( द्राणानि अभि ) दृवणशील, विनाशशील

इन कलशस्वरूप देहों में भी ( रोहवत् ) प्राणरूप से भाद करता हुआ तू ( आ अर्थ ) व्याप्त हो ।

[१०४] वृषा सोम घुमाँ असि वृषा देव वृषप्रतः ।

वृषा धर्माणि दधिपे ॥ ८ ॥ अ० ९। ६४। १ ॥

भा०—हे ( सोम ) आत्मन् ! ( वृषा ) सष काग्ध-सुखों के वर्षक आप ( घुमान् ) दीहि से युक्त ( असि ) हो । हे ( देव ) सुखों के देनेहारो ! ( वृषा ) तू सबसे अष्ट ( वृषप्रतः ) धर्मानुसृत कार्य करने और सुखों के वर्पाने वाले मेघ के समान ( वृषा ) स्वतः सर्वसुखों के वर्षक, धर्ममेघ स्वरूप होकर ( धर्माणि ) सबको धारण करने वाले नियमों को ( दधिपे ) धारण करता, निर्माण करता, स्थापन करता है ।

[१०५] इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः ।

इन्दो रुचाभि गा इहि ॥ ९ ॥ अ० ९। ६४। १३ ॥

भा०—हे ( सोम ) आत्मन् ! तू ( मनीषिभिः ) मनन करने वाले या मन को तेरे प्रति प्रेरणा करने वाले विद्वान् साधकों द्वारा ( मृज्यमानः ) विवेचना किया गया, परिशोधित किया हुआ होकर ( धारया ) निरन्तर ध्यानन्द के प्रवाह रूप में ( इषे ) अन्न और ब्रह्म सम्पादन के निमित्त ( पवस्व ) प्रकट हो । और ( रुचा ) अपनी कान्ति द्वारा ही हे ( इन्दो ) ऐश्वर्यसम्पन्न ! प्राणशील ! तू ( गाः ) धारियों या इन्द्रियों के प्रति भी ( अभि इहि ) प्राप्त हो ।

[१०६] मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः ।

अन्या वारेभिरसायुः ॥ १० ॥ अ० ९। ६। १ ॥

१०४—'दधिपे' इति अ० ।

१०६—'अन्यो वारेभ्यस्सायुः' इति अ० ।

भा०—हे सोम ! ( वृषा ) वर्षणशील, सुखों का वर्षक, ( देवसुः ) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों का हितकर तू ( मन्दया ) आनन्ददायक ( धारया ) स्वरूप धारा से ( पवस्य ) प्रवाहित हो, और ( धरमसुः ) हमारा हितकारी ( वारोभिः ) विद्वानिवारक बलों से ( अग्न्याः ) हमारी रक्षा कर ।  
अथवा—( अग्न्याः ) चित्ति शक्ति के ( वारोभिः ) धावाय करनेहारे कोशों में से भी तू ( पवस्य ) परित होकर प्रकट हो ।

[५०७] अया सोम सुकृत्यया महान्तसन्नभ्यवर्द्धया ।

<sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>३</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>२</sup>  
मन्दान इद् वृषायसे ॥ ११ ॥ अ० ५। ४७। १ ॥

भा०—हे ( सोम ) आत्मान् ! ( अया ) इस ( सुकृत्यया ) उत्तम सदाचाररूप विधि से तू ( महान् सन् ) बढ़ा होता हुआ ( अग्नि अवर्षया ) साक्षात् बढ़ा और ( मन्दान ) हर्ष से ( इद् ) ही ( वृषायसे ) मेघ के समान नाद कर ।

[५०८] अयं विचर्पणिर्दितः पवमान स चेतति ।

<sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup>  
दिव्यान आप्य वृहत् ॥ १२ ॥ अ० ५। ६२। २० ॥

भा०—( अयं ) यह आत्मा ( विचर्पणि ) सबको विशेष रूप से देखने वाला, ( पवमान ) सबको शुद्ध, पवित्र करता हुआ, सर्वभ्यापक ( सः ) यह ( वृहत् ) बहुत अधिक ( आप्यं ) प्रजाओं के हितकारी वस्तु अन्न और ज्ञान को ( दिव्यान ) प्रेरित करता हुआ ( चेतति ) जाना जाता, या स्वयं ज्ञानवान् होता, या ज्ञान प्रदण करता है ।

[५०९] प्र न इन्द्रा महं तुन ऊर्मिं न विभ्रदर्पासि ।

<sup>३</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup> <sup>३</sup> <sup>१</sup> <sup>२</sup>  
अग्नि देवाँ अयाम्यः ॥ १३ ॥ अ० ५। ४४। १ ॥

५०७—'सोम', 'महश्चिदभ्यवर्धन', 'मन्दान उशुवायते' इति अ० ।

५०९—'मोदतन' इति अ० ।

भा०—हे ( इन्द्रो ) ऐश्वर्यसम्पन्न । आप ( महे तुने ) विशाल ज्ञान प्राप्त करने के लिये ( न ) हमारे लिये ( उर्मिम् न ) तारु के समान ( विद्मद् ) हर्ष उत्पन्न करते हुए ( अर्पसि ) प्रकट हो और ( देवान् अभि ) देवों, विद्वानों ज्ञानयोगियों के प्रति ( भयास्य ) 'भयास्य' अर्थात् मुख्य प्राण रूप में प्रकट होने हो । 'भयास्य' का अर्थान् बृहदा० उप० में देखो ।

[५१०] <sup>३ १ २ ३ २ ६ २ ३ १ २</sup> अप घनन्पथते मृधोप सामो अराव्य ।

<sup>३ १ २ ३ २</sup> गच्छन्दिन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १५ ॥ अ० ६ । ६२ । २५ ॥

भा०—( सोम ) ज्ञानवान् आत्मा ( मृध ) काम क्रोध आदि आत्मा के साथ युद्ध करने वाले आन्पन्तर शत्रुओं को ( अपघ्नन् ) विनाश करता हुआ ( अराव्य ) अदानशील, कृपण वृत्तियों को भी ( अप ) दूर करता हुआ ( इन्द्रस्य ) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के ( निष्कृतम् ) मोक्षपद को ( गच्छन् ) प्राप्त होता है ।

इति द्वितीया दशति । अत्रुर्पं खण्ड ।

॥ द० ३ ॥ अथि — मद्वात्र काश्यपो गोतमोऽत्रिर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठश्चैते  
सप्तर्षयः । पवमानो देवता । बृहती । मध्यम ॥

[५११] <sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २</sup> पुनान साम धारयापा वसानो अर्पसि ।

<sup>१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> आ रत्न या यानिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो दिरण्ये ॥ १ ॥

अ० ६ । १०७ । ४ ॥

भा०—हे ( सोम ) आत्मन् ! तू ( धारया ) धारा से ( अप वसान ) ऊँचों और प्रजाओं प्राणों या लिङ्ग शरीरों में व्याप्त होकर सबको ( पुनान ) पवित्र करता हुआ ( अर्पसि ) विराजता है । ( रत्नया ) रमणीय पदार्थों

का पापक ( अतस्य ) इस जीवन या ज्ञान क ( यानिम् ) मूलकारण में ( आ सीदसि ) स्थित है । और स्वय ( हिरण्यय ) का तिरस्वरूप या सब इन्द्रियगण के लिये हित और रमण्य व हाता हुआ ( दव ) सबका तपक सबक प्रति ( ठास ) रस का सञ्चार करान हारा है । यहाँ शुक्र ज्ञान और यागसाधन स प्राप्त विशय ध्यान-दमय अनुभव का वयन है ।

२ ३ १ २                      ३ २ ४                      ३ १ २ ३ २ ३ २  
 [५१२] परीता विञ्चता सुत सामा य उत्तम हवि ।

३ १ २                      २ २ ३                      २ ३ २ ३ १ ३  
 दधर्गो यो नयो अस्वन्तरा सुपाव साममद्रिभ ॥२॥

अ० ६ । १०७ । १ ॥

भा०—( अश्वर्युं ) इस जीवनयज्ञ या यागयज्ञ का सम्पादक, ( सामम् ) अन्तरात्मा क ध्यान-द का ( अदिभि ) मघा स जल क समान और विद्वानों स ज्ञानों क सम न यागसाधनों द्वारा ( सुपाव ) पैदा करता है । ( य ) जा साम ( नय ) मनुष्या का हितकारा ( अश्वु ) प्रजाओं या कर्मों या प्रशाओं प्राणा क ( अतरा ) बाच में ( दध-वान् ) व्यात रहता है ( य साम ) जा साम ( उत्तम ) उत्तम ( हवि ) हवि वृत्ति परम स्थाय और परम ध्यान-द का साधन है उसका वह यागी ( इत ) इस हृदय स्थान स ( सुत ) उत्पन्न हुए का ( परिविञ्चति ) सब आर का बहाता है ।

१ २                      ३ १ २                      २ २                      ३ २ ३ १ २  
 [५१३] आ सोम स्वाना अद्रिभस्तिरा वाराण्यय्या ।

३ २ ३ २                      क २                      ३ २ ३                      २ ३ १  
 जनो न पुरि च्चर्वाविशदरि सदा वनपु दधिप ॥ ३ ॥

अ० ६ । १०७ । १० ॥

भा०—डे ( साम ) आ मन् । ( अदिभि ) यागसाधनों या योणियों द्वारा ( सुवान ) उत्पन्न या साक्षात् किया जाकर ( अय्या ) अवि भङ्ग क बालों के घन ध्यान क कपड़े क समान तमामप ( वाराण्यि ) आघारणों

भा०—हे ( साम ) आ मन् ' ( जागृवि ) जागरणशाल ( अग्नि )  
अग्नि, चतना या प्राण के ( वारे ) वृत्तियों, चष्टाष्टों या लडापाइों द्वारा  
( पुनान ) पवित्र करना हुआ ( प्रिय ) सबका प्रिय, ( विप्र ) मधावी,  
( त्व ) तू ( अङ्गिरस्तम ) सबसे अधिक प्रकाशमान, आनन्दरूप परमरस  
में ( परि अभव ) प्रकट हाता है । तू ( न ) हमारे ( यज्ञ ) नावन-यज्ञ  
का ( मध्वा ) उस आनन्दरूप मधु से ( मिमिष ) सोच दे, भर दे ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
[५२०] इन्द्राय पवत मद सोमो मरुत्वते सुत ।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

सहस्रधारा अत्ययमर्पति तर्मा मृजन्त्यायव ॥ १० ॥

अ० ६। १०७। १७ ॥

भा०—( सुत ) सामरस के समान तैयार किया हुआ, छाना हुआ,  
परिशोध हुआ ( मद ) आनन्दस्वरूप ( साम ) सोम ( मरुत्वत ) प्राणों,  
प्रजाओं और मध्यस्थानीय मरुद्गण के अधिपति ( इन्द्राय ) आत्मा गना  
और परमात्मा के लिये ( पवत ) बहता है । वह ( सहस्रधार ) सहस्रों  
शक्तियों के रूप में ( अत्ययम् ) अग्नि=चतनामय मन साधन को ( अग्नि )  
अतिक्रमण करके ( अर्पति ) प्रकट हाता है । ( तम् ) उस ( हं ) इस साम  
रस का ( आयव ) परम आयु से समस्त साधक लोग ( मृजन्ति ) और  
भी परिष्कृत करत हैं । अग्नि मपी रूप चतना का वर्धन अथर्व में विस्तार  
से है । जैसे—अग्निर्वै नाम देवततेन परीकृता । तस्या रूपेण न वृष्टा  
हरिता हरितस्रज । अथर्व० ( १०८। ३१ )

इसीका वर्धन वशा, ब्रह्मगवी, मपी, शतौदना, मधुकरा आदि नाना  
नामों से वेदों में आया है । वही सरपियों की ब्रह्मवती है जिसका सोम  
धस और छ ३ पात्र है, ब्रह्म और तप उसका दूध है । इत्यादि । अथर्व०  
८। १० ( ४ ) १४ ॥

[५२१] <sup>१ २</sup> पवस्य <sup>३ १ २ ३ ५</sup> वाजसानमाऽभि <sup>२ ३ १ २</sup> विश्वानि <sup>१</sup> वार्या ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ ५</sup> त्व समुद्र. <sup>१ २ ३ ५</sup> प्रथमे <sup>३ १ २</sup> विधर्मन् <sup>३ १</sup> देवेभ्य. <sup>३ १</sup> सोम मत्सरः ॥११॥

श्र० ६ । १०७ । २३ ॥

भा०—हे ( सोम ) आत्मानन्द ! ( विश्वानि ) समस्त ( वार्या ) आवरणकारी बाधाओं को ( अभि ) मुत्रायत्ना करके, उनको हटाकर ( वाजसातम. ) ज्ञान और बल से सम्पन्न होकर ( पवस्य ) प्रकाशित हो। ( त्व ) तू हे ( सोम ) परमरस ! हे ( विधर्मन् ) जाना प्रकार से पोषण करने वाले ( मत्सरः ) आनन्द रस में बहने वाला, ( समुद्र ) समुद्र के समान हृदय में उमड़ने वाला ( देवेभ्य. ) द्योतमान, प्रकाशमान, ज्ञानी, दिव्यगुणी, साधकों या इन्द्रियों के लिये भी ( प्रथमे ) श्रेष्ठ कर्म, सुख उपदेश में ( पवस्य ) प्रकट हो ।

[५२२] <sup>१ २</sup> पयमाना <sup>३ २ ३ २ ३ १ २</sup> अखृत्त परिप्रमतिधारया ।

<sup>३ १ २</sup> मरुत्वन्तो <sup>३ १ २ ३ ५ २</sup> मत्सरा <sup>२ ३ २ ३ १ २ २</sup> इन्द्रिया हया <sup>३ १ २ ३ ५ २</sup> मेधामभिप्रयासि च ॥२२॥

श्र० ६ । १०७ । २५ ॥

भा०—( पयमाना ) पवित्र, परिशोधित किये गये, ( मत्सरा ) आनन्दरस में विचरण करने वाल ( धारया ) अपनी धारणा के बल से ( पवित्रं ) पवित्र, पावन करनेहारे ज्ञान को ( अभि ) अतिक्रमण करके ( मरुत्वन्तो ) मरुत्, प्राणों से युक्त ( इन्द्रिया ) आत्मा के देशय में युक्त ( हया ) गतिशाल ज्ञानी होकर ( मेधाम् ) मेधा ( प्रयासि ) और बलों को ( अभि ) साक्षात् प्राप्त करत है ।

इति तृतीया द्वावि. । पञ्चमं सूत्रम् ।

॥ ६० ४ ॥ अवि — १, २ उराना वाण्व. । २ शुङ्गणो वामिष्ठ. । ३, ७ पराशरः  
 शारव्य । ४, ६ बर्हिष्ठो मैत्रावरुण. । ५, १० प्रवरानो देवोदामि । ८  
 प्रस्वण्व वाण्व. । पवमानो दक्षना । त्रिष्टुप् । धेवत ॥

[५२३] अ तु द्वेष परि कोशं निषीद् नृभि पुनानो आभवाजमर्ष ।  
 अथ नत्वा वाजिन मर्जयन्तच्छ्रा यर्हो रशनाभिर्नयन्ति ॥१॥

अ० ६।ख० १॥

भा०—इ ( सोम ) परम आनन्दरस । ( म दय ) मृ चरित हो । और  
 ( कोश ) कोश, मङ्गाएष्ट, मूर्धास्थान को ( परि निषीद् ) व्याप्त काके वि-  
 शागमान हो और ( नृभि पुनान ) विद्वान् पुराणों से पवित्र या विवेचित,  
 परिशोधित होकर ( वाजम् ) ज्ञान क प्रति ( अभि अर्ष ) साधान् प्रवाहित  
 हो, ज्ञान को प्राप्त हो । ( वाजिन ) यज्ञवान्, वेगवान् ( अथ न ) अथ को  
 जिस प्रकार ( मर्जयन् ) परिमार्जित करते हुए, मज्जते पोंछने हुए, या  
 सान्त्वना देते हुए ( रशनाभि ) वागों से पकड़ कर सप्तम न ले जाते हैं  
 उसी प्रकार ( वाजिन ) ज्ञान विभूति से युक्त सोमरूप अण्मा को परिमा-  
 र्जन, या शोधन करते हुए ( रशनाभि ) योगसाधनाओं से ( यर्हि. )  
 हृदयरूप वज्र में या मृदु मज्ज में ( नयन्ति ) लजाते हैं ।

[५२४] अ काण्वमुग्गेन प्रुवाणो देवो देवाना जनिमाभियन्ति ।  
 माह्वन्तः शुचिषन्धु. पायक. पदा यराहो अभ्येति रमन् २  
 अ० ०।१०।० ॥

भा०—( उराना इव, विद्वान् मेधावी, सोम्यस्वभाव, ( देव ) विद्वान्,  
 मुग्गप्रद होकर ( काण्व ) मुग्गर काण्व, वेदज्ञान या सत्ता के रहस्य को  
 ( म प्रुवाण ) उत्तम रीति से यज्ञेन, उपदेश करता हुआ ( देवाना ) वसुधो,  
 नृषो और आदियों, पृथ हृन्दिप गण, और प्राण्य भवतादि नभ प्राणों के



( जनिम् ) प्रादुर्भाव होने के रहस्य को ( चा विवर्ति ) स्पष्ट रूप से बत-  
 लाता है । और ( महिमतः ) विशाल कर्म और प्रज्ञा का करने वाला,  
 ( शुचिबन्धु ) अपने शुद्ध तेज द्वारा सबको अपने साथ बाधने द्वारा, सब  
 पवित्र हृदयों का बन्धु, ( पावकः ) सबको पवित्र करने द्वारा, अभिस्वरूप  
 ( वराह = वर आह ) श्रेष्ठ उत्तम धार्या का बाँधने द्वारा ( रेभन् ) उत्तम  
 ज्ञानोपदेश करता हुआ ( पदा ) प्राप्त करने योग्य ज्ञान रहस्यों को और उत्तम  
 स्थानों, ज्ञानदरा और सुख्यद दशाओं को । अभि पृति ) प्राप्त होता है ।

‘उरना — वरः कनसिरौषादि’ । वर कन्तौ अशादि ।

[१२५] तिष्ठन् वाच ईरयति प चाहन्तम्यधीति प्रहस्यो मनीषाम् ।

गात्रो यन्ति गात्रानि पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतया

वाग्जाना ॥ ३ ॥

श्र० ९ । ६७ । ३५ ॥

भा०— ( वाहि ) ज्ञान का बढान करने वाला ( तिष्ठ वाच ) श्वग्,  
 पशु, साम स्वरूप तीव्र वेदवाणियों को ( प्र ईरयति ) उत्तम रूप से प्रकट  
 करता है । ( अन्त्य ) सम्प, ज्ञान और धन का धारण काम वाला  
 ( मदाय ) मदा या वेदज्ञ को ( मनीषा ) मनको प्ररणा करने वाली  
 धार्या स्तुति का भी प्रेरित करता है । जिय प्रकार गौर्यं गात्रक क पाम  
 आ जाती है उसी प्रकार ये ( गात्र ) गौरुप वेदवाणियों मानो अपने रहस्य  
 तत्त्व ( पृच्छमाना ) पूछती हुई ( गात्रानि ) वेदवाणिया के परिपालक  
 विश्वन् क पाम ( यन्ति ) पहुच जाती हैं । मनय ) मननशक्ति या  
 सुन्दर विचर धाराए भी ( वाक्जाना ) अपने अनुकूल पात्रक की कामना  
 करती हुई ( साम ) उस शम, दन आदि सुखसम्पन्न तत्त्वज्ञानी के पाम  
 ( यन्ति ) चली जाती हैं ।

अपि वाक्क के मत से अहिरामा भवति । स तिष्ठो वाच ईरयति  
 प्रेरयति विद्यामवितुद्धिमताम् । अतस्यामनः कर्माणि मदायं मजाने ।

अथमेवेतत्सर्वमनुभवति, इति आत्मगतिमाचष्टे । अर्थात् वहि आत्मा है । वह तीन वाणियों को प्रेरित करता है विद्या मति और बुद्धि को । अतः अर्थात् आत्मा क कर्म ब्रह्म को अभिमत है । यह ही सब अनुभव करता है इस प्रकार इस मन्त्र में आत्मा की गति कही है । विवरणकार माधव के मत में विद्या अर्थात् महत् तत्त्व, बुद्धि अर्थात् अहकार, मन अर्थात् प्रधानता से पाँचों ज्ञानेन्द्रिया, आत्मा इनका प्रेरित करता है । अतः आत्मा को धारण करन वाणी मन की प्रेरणा ब्रह्म के अनुकूल होती है । इन्द्रिय रूप गौण गापति आत्मा स उसको पूजती है अर्थात् सोमरूप आत्मा की कामना स उसी में लीन हो जाती है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[५२६] अस्य प्रपा हेमना पूयमाना देवा दधेभि समपृक्त रसम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

सुत पवित्र पर्येति रेभन् मितेज सन्न पशुमन्ति दाता ॥४५

अ० १ । ६७ । १ ॥

भा०—( अस्य ) इस विद्वान् आत्मा क ( प्रेपा ) प्रेरण करने वाले ( हेमना ) स्वर्ण क समान कान्ति वाले तेज स ( पूयमान ) पवित्र परिशुद्ध होता हुआ ( देव ) अति हीसिमान्, या सधका आनन्दरस का देने हारा ( दधेभि ) इन्द्रियगण क साथ (रस) आनन्द रस का (सम् अपृक्त) समर्क कर देता है । उस समय ( सुत ) वह प्रकट हाकर ( रेभन् ) उपदेश करते हुए ज्ञाता के समान अनादित ध्वनि करता हुआ ( पवित्रम् ) परम पावन पद का ( परि-पृति ) प्राप्त दाता है और ( मितेज इव ) जिस प्रकार कायंकर्ता आकर ( पशुमान्त ) पशुओं से युक्त ( सन्न ) घर में जाता है और पशु का जोतकर रथ में लगाता है उसी प्रकार वह ( होता ) साधक ( मितेज ) शानी होकर ( पशुमन्ति ) पशुरूप इन्द्रियगण से युक्त ( सन्न ) इस शरीर को ( परि पृति ) पूर्ण वश कर लेता है । सोमरस के



प्रायेक अङ्ग में निवास करने वाला, आत्मा को ( अग्नि वावरात् ) नित्य कामना करती है अर्थात् अपना सब गुण रहस्य उसी क प्रति प्रकट करती है और यह ( यत्ना ) सब देहों में ( यत्नान् ) निवास करता हुआ ( वरुण ) सबको स्थापन करने वाला, सबके वरुण योग्य नदियों के लिये ( सिन्धु न ) महासमुद्र के समान ( वार्याणि ) सबके मनन करने वाले, वरुण योग्य धनों को ( रत्नधा ) रत्नों को धारण करने द्वारा, हाकर ( वि दपते ) नाना प्रकार से प्रदान करता या पाक्षण करता है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ ३  
[५२६] अनात्समुद्र प्रथमे विधर्मन् जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपा ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ ३  
गुपा पवित्र अधिस्तानो अग्रे बृहत्सोमो वावृथे स्वानो अग्निः ॥३॥

अ० ६। १०। ४० ॥

भा०—( बृहत् सोम ) वह बड़ा विशाल सोम, सबका प्रेरक और जगत्क परमात्मा और आत्मा ( स्वान ) प्रकट होता हुआ ( अग्नि ) कमी न होने वाला, अधेष्ट, नित्य, अमर आत्मा ( गुपा ) सब सुखों के परीने द्वारा, ( अग्रे ) अद्वितीय, विन्मय ( पवित्रे ) सबको पवित्र करने वाले ( स्वानो अग्निः ) आनन्दस्वरूप ब्रह्म में वा गूर्धो प्रदेश में ( वावृथे ) बसता है, अपना गहिमा को अनुभव करता है। वह ( समुद्र ) समुद्र के समान सब इन्द्रियों का एकमात्र आश्रयस्थान, ( प्रथमे ) अति उत्कृष्ट ( विधर्मन् ) माना आश्रयस्थानों में वा अन्तरिक्ष स्थानों में वा इन्द्रियों के विश्व देशों में ( प्रजा ) अरुनी प्रजाओं को, इन्द्रियगणों को, ( जनयन् ) उत्पन्न करता हुआ, ( भुवनस्य ) इस ब्रह्माण्ड और हम रहे का ( गोपा ) पाखण्ड ( अचान् ), सबको छींच कर बैठा है, वह सबके परे विद्यमान है।

इसका रहस्य गीता, बृहदारण्यक, ऐतरेय आदि में स्पष्ट किया है । आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में यास्क ने लगाया है ( यास्क परि० २ अ० ) ।

[५३०] कनिक्कन्ति हरिरासृज्यमान सौदन्वनस्य जठरे पुनान् ।

नृभिर्यत कृणुत निर्णोज गामता मति जनयत स्वधाभिः ॥२॥

श्र० ६ । १५ । १ ॥

भा०—( आसृज्यमान ) सय ओर से प्रकट होना हुआ ( पुनान् ) शुद्ध पवित्र रूप से प्रकट होकर ( हरिः ) सर्वव्यापक, आत्मा ( वनस्य ) भोग्य या सेवन करने योग्य इस देह के ( जठरे ) मध्य भाग में ( सदिन् ) विद्यमान, ( नृभिः ) मनुष्यों द्वारा, ( यत ) समत होकर ( गाम् ) वाणी को ( निर्णोज ) अति शुद्ध, परिमार्जित ( कृणुत ) कर देता है । ( अतः ) इसलिये आप लोग ( स्वधाभिः ) स्व=अपनी धारणा शक्तियों, या स्व=आत्मा को धारण करनेवाली चित्ति शक्तिद्वारा ( मति, मनन, विचार ( जनयत ) करो, उसकी साधना, उपासना, स्तुति आदि करो ।

[५३१] एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा वृष्ण परि पवित्रे अणा-

सहस्रदा शतदा भूरिदावा शश्वत्तम बर्हिःरावाज्यस्थात् ॥६॥

श्र० ६ । ८७ । ४ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( वृष्ण ) वर्षणशील ( ते ) तेरे ब्रिये ( एषः स्य ) यह वह ( सोम ) आत्मा सोम, आनन्दरूप रस ( वृषा ) आनन्द का वर्षक ( मधुमान् ) महज्ञान रूप मधु से युक्त ( पवित्रे ) पवित्र उपोत्तिर्मय रूप में ( परि यदा ) चारों ओर से आविष्ट होता है । वह ( सहस्रदा ) हजारों मुखों का देने वाला, ( शतदा ) सैकड़ों शक्तियों का देने वाला, ( भूरि-दावा ) बहुत आनन्द का देने वाला, ( शश्वत्तमं ) निरन्तर, इषापी, नित्य, ( बर्हिः ) मदान् आत्मा में ( वाजी ) बल, ज्ञान से सम्पन्न होकर ( अस्थात् ) स्थिति प्राप्त करता है ।

[५३२] <sup>१ २</sup> पयस्व <sup>३ १ २</sup> सोम <sup>३ २ ३ १ २</sup> मधुमौ <sup>२ २ ३ २ ३</sup> अतावापो <sup>२ २ ३ १ २</sup> वसानो <sup>३ १ २</sup> अधि <sup>३ १ २</sup> सानो <sup>३ १ २</sup> अय्ये ।

अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपान ॥१०॥  
अ० ६। ६६। १३ ॥

भा०—हे ( सोम ) आत्मन् ! ( मधुमान् ) मधुर महारस से युक्त, ( अतावा ) सत्यज्ञान से युक्त, ( सानो ) अधि ) हृदय दश या मस्तक भाग में ( अय्ये ) अति चेतना या प्राय के बने चित्त पर भी ( अप ) नाना ज्ञान वृत्तियों को ( वसान ) आच्छादित करता हुआ । ( घृतवन्ति ) दीप्ति या उषोति से सम्पन्न ( द्रोणानि ) कलशों, मलकों में ( मदिन्तम ) अति हर्ष आनन्द या आत्मा में सताप उत्पन्न करने वाला ( मत्सर ) हर्ष के रूप में हृदय में स्थापन वाला ( इन्द्रपान ) आत्मा के एकमात्र पान करने योग्य होकर ( अव रोह ) नीचे की ओर बह आ ।

इति चतुर्थी दशति । एव एव ।

॥ ६० ५ ॥ अति — १ प्रकृत १ २ १० परापर आत्य १ ३ इन्द्रप्रतिष्ठा  
मिष्ट । ४ अमिष्टो मेवावह १ ५ अगधुर्मुदोरो वा वासिष्ठ १ ६ नवा गौतम ।  
७ काशो धोर १ ८ मन्वुवासिष्ठ १ ९ कुतम वाङ्मत्सर १ ११ अरुपा मारीच ।  
१२ प्रम्वयव कापव ॥ परशानो इवना ॥ त्रिष्टुर् ए अवेन ॥

[५३३] <sup>१ २ ३ १ २</sup> प्र सेनानी <sup>१ २ ३ १ २</sup> शूरो <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> अग्ने <sup>३</sup> रथाना <sup>३ १ २</sup> गद्यमेनि <sup>३ १ २</sup> हर्षत <sup>३ १ २</sup> अय्ये <sup>३ १ २</sup> सना ।

भद्रान् वृथप्रिन्द्रहवान्तसविभ्य आ सोमो धरा रभसानि दत्ते ॥१॥  
अ० ६। ६६। १४ ॥

भा०—( सेनानीः ) सेना का नायक, ( शूर ) वक्रवान्, शूरवीर, सेनापति जिस प्रकार ( रथाना अग्ने ) रथों, रथाशही मैनिहों के आग । गद्यन् ) वृषिबी के विजय के क्षिपे ( प्र णति ) आग २ बहना है और

( अस्य सेना ) इसकी सेना ( हर्षते ) उत्साह से प्रसन्न होती है, यह ( सेना ) वीर राजा ( सखिभ्य, ) अपने मित्रों के लिये ( भद्रान् ) अति कल्याणकारी, सुखदायक ( इन्द्र-हवाम् ) ऐश्वर्ययुक्त राजोचित आह्वानों, पुकारों और आज्ञावचनों का ( कृणवन् ) करता हुआ ( रभसानि ) अति वेग वाले ( चर्मा ) टुक देने वाले शत्रु के आक्रमणों को ( आ दत्ते ) हटा देता है उसी प्रकार ( सेनानी ) इन्द्रियगणों का नेता ( रथानाम् अप्र ) रमण योग्य आनन्दप्रद देहों, या आभ्यन्तर रसों के मुख्य पद में स्थिर होकर ( गम्यन् ) वाणियों, या इन्द्रियसामर्थ्यों को, या आमभूमियों पर वश करता हुआ ( प्रपृति ) आगे बढ़ता है । ( अस्य सेना हर्षते ) इसके समस्त इन्द्रिय, प्राणगण, या साधक प्रसन्न होते हैं । ( सखिभ्य ) मित्र साधकों या प्राणगण को वह ( भद्रान् ) ऐश्वर्ययुक्त ( इन्द्रह वान् ) आत्मा के नाना ज्ञानसामर्थ्य प्रदान करता हुआ ( रभसानि वस्त्राणि ) अति वेग से युक्त प्रबल आच्छादक आवरणों का ( आदत्ते ) दूर कर देता है । इन्द्रियों तन्मुख होजाती हैं । इन्द्र अर्थात् आत्मा के समक्ष उस समय मंगल-जनक अचते हैं और तामस आवरण आत्मा के सामने से हटने लगते हैं ।

२ ३ २ ३ १ २                      ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ २

[ ५३५ ] प्र त धारा मधुमतीरसुप्रन्वारं यत्पूना अत्येप्यव्यम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २                      ३ २

पवमान पयस धाम गोना जनयन्त्सूर्यमग्निभ्यो अर्के ॥ २॥

५० ६ । ६० । ३२ ॥

भा०—हे सोम आनन्दमय ! ( मधुमतीः ) अति आनन्ददायक मधु से मिली हुई ब्रह्मज्ञान की ( ते धारा ) तेरी रस धाराएँ तब ( प्र यत्पून् ) मुख उतरती हैं ( यत् ) जब तू ( पून् ) छत्र हुए ओषधि रस के समान पवित्र होकर ( अप्यम् ) प्राणमय कोश में से ( अति पृथि ) पार हाकर प्रकट होता है । हे ( पवमान ) पवित्रकारक ! ( गोना ) इन्द्रियों के

भीतर तू अपना ( धाम ) तेजो रूप रस ( पवसे ) सुधाता है और बड़ा प्रकट होकर ( अर्क ) अपनी पवित्र किरणों से ( सूर्य ) सूर्य के समान तेजस्वी साधक को ( आपिन्व ) आनन्दरस से पूर्ण करता है । इस दशा में आदित्य के समान साधक तमलमाता है ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[५३५] प्र गायताम्यर्चाम देवान्त्साम हिनेत महन धनाय ।

स्वादु पवतामतिवारमव्यमासीदतु कलश द्व इन्दु ॥३॥

अ० ६ । ६७ । ४ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! ( महते ) बड़े भारी ( धनाय ) खजाने के प्राप्त करने के लिये ( प्र गायत ) उत्तम रीति से स्तुति मान करो । और ( देवान् ) विद्वानों की हम ( आभि अर्चाम ) सब प्रकार से अर्चा पूजा, साकार और प्राणों की साधना करें । ( साम हिनेत ) सोम, आःमानन्दमय रस को प्रेरित करो, प्राप्त करो । ( अव्य वार ) प्राणमय आवरण को ( अति ) पार करके ( स्वादु ) आनन्दकारक आनन्दरस ( पवताम् ) प्रसवित हा और ( इन्दु देव ) वह प्रकाशमान ऐश्वर्यान् द्व ( कलश ) हम घट, देह, हृदयाकाश, या सोलहाकला वाले आराम में घट में सोमरस के समान स्वच्छ होकर ( आसीदतु ) राष्ट्र में राजा के समान या विराजमान हा ।

[५३६] प्र हिन्वानो जनिता रोदम्या रथो न वाज सनिपद्ययासीत् ।

इन्द्रं गच्छन्नायुधा सशिशो भिश्वा वसु इन्द्रयोरदाधान ॥४॥

अ० ६ । ६८ । १ ॥

भा०—( हिन्वान ) सबको प्रेरण करने वाला ( रोदम्यो जनिता ) सूर्य और शूभिषी के समान प्राण और अपना दूनों का उत्पादक, या प्रक

५३०—'स्वादु पवन' 'इन्दुर्न' इति अ० ।

५३६—'सनिष्यन्' इति ।



( वाज सनिपन् ) ज्ञान, बल और अन्न का विभाग या प्रदान करता हुआ ( रथ न ) रथ या रथ्याप भूषण क समान योगी या स्वच्छ आत्मा ( प्र भयासीन् ) उकृष्ट मार्ग से गति करता है और ( आयुधा ) उत्तम हथियार, योगसाधनों से ( इन्द्रम् ) आत्मा या परमात्मा की ओर ( गच्छत् ) जाता हुआ ( सशिशान ) अच्छा प्रकार और भी तीव्र, प्रखर लज्जर्षी होता हुआ ( विषा वसु ) समस्त जीवन के वास हनु सम्पदाओं को ( हस्तया ) अपने बश में ( आधान ) करता हुआ ( प्र भयासीन् ) भाग २ बढ़ता चला जाता है ।

उ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २  
[५३७] तक्षद्यदी मनसो धनता यम ज्येष्ठस्य धर्मं युधोरनाक ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
आर्दीमायन्परमावायशाना जुष्ट पति कलश गाव इन्द्रम् ॥५॥  
अ० ६ । ६७ । २२ ॥

भा०—( वेनत ) कान्तिमान् अज्ञान, तम से पार ज्ञानी (मनस ) मननशील योगी की ( वाग् ) वाणी (यदि) जब आनन्दरस की (ज्येष्ठस्य) इस ज्येष्ठ इन्द्र आत्मा क । धर्मन् ) धारण करनहार, ( युधा ) प्रदीप्त, प्रकाशित तत्र क ( अनीके ) प्रमुख स्थान म ( तच्छत् ) प्रकट करता है । ( आत् ) तब (घर) वरण करने योग्य (जुष्ट) सेवनाय, (पति) अपने पालक (इन्द्रम् ईं) इस हृदय में साक्षात् द्रवित हान वाले आनन्दमय रस क पाम ( गाव ) हृदिय या प्राणमण । आ वायशाना ) अत्यन्त कामना करती हुई गौधों क समान ( आयन् ) आजाते हैं । आनन्द रस क वर्णन में जब वाणी मग्न होजाती है तब और हृदिय कृतिया भी अन्तमुख हाताती हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[५३८] साकमुक्षा मज्जयन्त स्वमारो दश धीरस्य धीतया धनुत्री ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
हरि पर्यद्रवजा स्यस्य द्रोण नक्ष अन्धो न वाजी ॥६॥  
अ० ६ । ६३ । १ ॥

भा०—( धारस्य ) ध्यानवान् योगी को ( साकमुच ) एक साथ ज्ञान या आनन्दरस का सचन करने हारी ( दश स्वसार ) दश बहनों क समान स्वयं सरण करनेहारी दश ( धनुषी ) प्रेरण करने वाली ( धीतिय ) ध्यानवृत्तिया, इन्द्रिया या स्तुतिया ( मर्जयन्तः ) आत्मा को निरन्तर अधि-काधिक पवित्र करती हैं । ( हरि ) सब दुखों का हरण करनेहारा आत्मानन्दरस ( सूर्यस्य ) कान्तिमान्, सुख, आदित्य के समान उज्ज्वल आत्मा क ( जा ) रित्रियों क समान उसक अधीन प्रकट चित्तवृत्तियों क प्रति ( पर्यवत् ) बढ़ता है । और वह स्वयं ( अत्य न वाजी ) वेगवान् अश्व के समान ( द्राण ) पात्र या कलश में साम रस के समान होनेवाली आत्मा में ( जनये ) व्याप्त हो जाता है ।

३ १ २      ३ १ २ ३ २ ३      १ २ ३      २ ३ २ ३ १ २      २ २  
[५३६] अत्रियदस्मिन्प्राजिनीशुभ स्पर्द्धन्त धिय सूर न विश ।  
५    १ २ ३ १ २ ३ १ २      ३ १    १ २ ३ १ २ ३ १ २

अपा वृणान पवत कधीया-व्रज न पशुवर्द्धनाय मन्म ॥७॥

अ० ६ । ६४ । २ ।

भा०—( वाजिनि इव शुभ ) जिस प्रकार घोड़े पर आभूषण एक से एक बढ़कर शोभा देत हैं और ( सूर न विश ) जिस प्रकार सूर्य क समान तेजस्वी राजा के समच प्रजा के लोग भेट चढ़ान में एक से एक बढ़ते हैं, उसी प्रकार ( विश ) अन्त प्रवेश करनेहारी ( शुभ ) शोभा-दायक, कल्याणकारिणी ( धिय ) चित्तवृत्तियां भी ( अस्मिन् ) इसक राजा रूप आत्मा के समच ( अधि स्पर्द्धन्ते ) एक रा एक बढ़ने का यान करती हैं । और ( मन्म ) जिस प्रकार अपने मन को हरने वाले ( व्रज न ) गौओं के बाड़े में गोपालक ( पशुवर्द्धनाय ) अपने पशुओं की वृद्धि करने के लिये जाता है उसी प्रकार ( कधीयान् ) क्रान्तदर्शी विद्वान्,

आत्मा ( अथ वृष्यान् ) चित्तवृत्तियों, या नाना कर्मों या प्राणगण या लिंग शरीरों को वश करता हुआ ( पशु वर्धनाय ) इन्द्रिय रूप पशुओं की शक्ति का बढान के लिये ( मन्म ) मनोभव सकल्पमय ( मन ) गमन या प्राप्त करने योग्य परमपद आत्मस्वरूप ब्रह्म में ( पवत ) प्रवेश करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २

[५४०] इन्द्रुर्वाणी परने गोन्याघा इन्द्रे सोम सह इन्वन्मदाय ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

हन्ति रक्षा यावते पर्यराति वरिष्ठाव्य वृज्जनम्य राजा ॥॥

श्र० ६ । ६७ । १० ॥

भा०—( वाजी ) ज्ञान और बल से सम्पन्न ( इन्दु ) हृदय में द्रवणशील ( साम ) आत्मानन्दरस ( मदाय ) आनन्द रूप की वृद्धि करन के लिये ( सह ) सहन करन योग्य बल को ( इन्द्राय ) आत्मा में ( इषन् ) प्रेरित करता हुआ ( वा नि आघा ) ररिमयों या ज्ञान वाकियों, शक्तियों का नीची तरफ बढान वाला होकर पद क समाप्त अथवा दुग्ध मिश्रित सोमरस क समान ( पवत ) परित हाता है । उस समय वह आनन्दरस ( रक्ष ) आत्माप्रति क बाधक विघ्न करन वाल कारण का भी ( बाधत ) दूर करता है और ( अराति ) त्रिय न लगन वाल अभिय कारण का ( परि बाधत ) दूर करता है । ( वृज्जनस्य ) समस्त बल का ( राजा ) स्वामी हाकर बड़ी ( वरिष्ठा ) वरण्याय आत्मगुप्त धन अग्निमादि सिद्धि और १२वृष्टियों का ( कृषवन् ) प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५४१] अथा पदापयस्वीनाचमूनिमाध्व्य इ दाम्गसि प्रचन्त्य ।

२ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २

मध्वध्वयथानोनजूति पुदमचाध्वित्य नर धान ॥६॥

श्र० ६ । ६७ । १२ ॥

५४०—'वराजीवति' इति श्र० ।

५४१—'मध्वध्वयथानोनजूति' इति श्र० ।

भा०—हे ( इन्द्रो ) हृदय में बहने वाले आनन्दरस ! ( अवा ) इस ( पवा ) पवित्र करने वाली धारा से ( एना ) इन ( वसुभि ) वास या जीवन के साधन प्राण या पृथ्वी को ( पवरव ) प्रेरित कर, प्रकट कर । हे ( इन्द्रा ) साम ! ( माश्रत्वे ) मन के एकमात्र गमनस्थान मनाहर ( सरसि ) जलाशय में जल के समान, कलश में भ्रूपि रस के समान, मानस हृदय में ( प्रधन्व ) द्रवित हो । ( यस्य ) जिस तरें ( जूर्ते ) धग का ( प्रधन ) सूर्य के समान रश्मियों और आकर्षण से अपन साथ इन्द्रियों का बाध रखने वाला आत्मा ( चित् ) भी ( वात न ) वायु के समान ( धात् ) धारण करता है और ( पुरमेधा ) नाना प्रकार की धारणावती बुद्धियों का मालिक, साधक ( नर ) नायक आत्मा को ( तद्वे ) परमपद तक पहुँचाने के लिये ( धात् ) धारण करता है ।

ब्रह्म - ब्रह्मातरौणादिनेक, ब्रह्मेश्च ब्रह्मनादश ( उणा० ३ । १ )

उ २ २      २ २      ३ १ २ २ ३ ५ २      २ २      ३ २  
[ ५४२ ] महत्तत्सोमा महिपश्चकारापामा यद्ब्रह्मोऽनुशीत दवान् ।

१ २ ३ २ २ १ २      ३ १ २      २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अदधादिन्द्र पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दु ॥१०॥

श्रु० ६ । ६० ४१ ॥

भा०—(महिप ) महान् आ मा ( महत् ) बड़ा भारी कार्य तो ( तत् ) यह ( चकार ) करता है ( यद ) कि ( अपा गभ ) सब ब्रह्मों प्रज्ञाओं और प्राणों को अपन भीतर ग्रहण करने में समर्थ होकर ( दवान् ) सब इन्द्रियों का ( अनुशीत ) अपन भीतर छुपा कर आवृत करके सुरक्षित रखता है । ( पवमान ) व्यापनशील प्राण ( इन्द्र ) आत्मा में ( आज ) बल और सज ( अदधात् ) प्रदान करता है ( यत् ) जिससे ( इन्द्रु ) शरीर में व्यापक एवं द्रव्यशील बीज, ( सूर्ये ) सबके प्रेरक और उत्पादक सूर्य रूप मुख्यप्राण में ( ज्योति ) प्रकाश, कान्ति, का ( अजनयत् ) उत्पन्न करता है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [५४३] असर्जिं वक्ष्या रथ्यं यथाजौ धिया मनाता प्रथमा मनीषा ।

२ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 दश स्वसारो अग्निं सानां अग्ने मृजन्ति वाक् सद्ने चच्छ । ११ ॥

श्र० १२ । ६२ । १ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( रथ्ये ) रथों से विजय करने योग्य ( आजौ ) समग्र में ( धिया ) प्रज्ञा और कर्म के विचारपूर्णक ( वक्षा ) सबको वचनोपदेश या आज्ञा करने वाला सेनापति ( असर्जिं ) नियत किय जाता है, उसी प्रकार इस ( रथ्ये ) शरीर-साधना योग्य अथवा परमरस के प्राप्त करने वाल एक से दूसरे देह में जन वाले आत्मा क हितकारी ( आजौ ) योग साधनों के यज्ञ रूप समग्र में ( धिया ) ध्यान, धारणा द्वारा ( वक्षा ) ओंकारादि जप और स्तुति मंत्रों को बोलने वाला साधक ही ( असर्जिं ) मेनापति के रूप में नियत किया गया है। वह स्वयं ( प्रथमा ) सब से श्रेष्ठ, ( मनीषा ) मन वा मनन करने वाले साधन की ईया प्रेरणा, वृत्त की आश्रय वित्त शक्ति है जिसमें ( मनोता ) मनकी मय वृत्तियों शोत श्रोत हैं। ( अग्निं सानां ) अग्नि उद्यत प्रदेश में ( दश स्वसार ) दश षडनों के समान एक ही आश्रय रूप आत्मा के अधीन स्वयं सरण करने वाली दश प्राण वृत्तियों ( वाक् ) सबके बहन करने वाले आत्मा को ( मृजन्ति ) परिवृत्त, सुशोभित करती हैं और ( सद्नेषु ) अपने १ स्थानों में ( अक्षु, प्राप्त होती हैं।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [५४४] अपामिन्नेदूर्मयस्तर्तुराणां प्र मनीषा इरते सोममच्छ ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 गमस्यन्तीदप च यन्ति स चाच विशन्त्युशर्तुरान्तम् १२ ॥

श्र० ६ । १२ । १ ॥

भा०—( मनीषा ) मनन करने वाले आत्मा की ईया अर्थात् चेष्टा करने वाली, ध्यानवृत्ति ही ( अपां उर्मय इव ) जलों की तरंगों के समान,

प्राणों की तरङ्ग ( तर्जुराणां ) अति घेगवती होकर ( सोम ) आनन्द  
रस रूप आत्मा को ( अन्तः ) उत्तम रीति से ( प्र ईरते ) अधिन  
करती है । वे ध्यानमयी बुद्धिबृत्तिया ही ( नमस्वन्ती ) उस आत्मा को  
आदर से नमस्कार करती हुई, उसके प्रति मुकती हुई, अन्तर्मुख होकर  
( उशान्तम् उशती ) कामनायुक्त प्रेमी को प्रेम करने वाली प्रियतमाओं के  
समान, मानों स्वयं कामना वाली होकर, या प्रकाशस्वरूप तेजोधारा के  
समान चमकती हुई स्वयं वे ( उशान्तम् ) प्रकाश के पुत्रस्वरूप आत्मा को  
ही प्रियतम के समान प्राप्त कर उसमें ही ( स विशन्ति च ) लीन हो  
जाती हैं, उसक संग सो ली जाती हैं । और ( आ च विशन्ति ) उसी रूप  
में प्रकट होती हैं, तन्मय हो जाती हैं ।

इति पञ्चमी दशति । सप्तम खण्ड ।

इति प्रथमाऽर्धे प्रपाठक ।

॥२० ६॥ अपि — १ आन्धीयु दयावाधि । २, ३ ययातिर्नाहुष । ४ मनु सावरण ।  
५, ६ अन्वीयश्चिञ्चानौ । ६, ७ अम्भसन् वाष्पपौ । प्रजापतिर्नादय ॥  
पवनानां दवना ॥ छन्द — १—६, ६ अनुण्डुप् । ७ वृशती ॥ स्वर —  
१-६, ८, ९ गान्धार । मध्यम ॥

३ १ २    ३ १ २    ३ १ २    ३ १ २  
[१४४] पुरोजिती वा अन्धस सुनाय मादयित्नवे ।

३ १ २                    ३ १ २                    ८ १  
अप भवान् अधिष्टन सखायो दीर्घजिह्वयम् ॥ २ ॥

श्रु० ६ । १०१ । १ ॥

भा०—हे ( सखाय ) मित्रो ! ( च ) आप लोग ( पुरोजिती ) आगे  
बहिर्मुखता को विजय करने हारी ( अन्धस ) जीवन को धारण करने वाली  
शक्ति से सम्पन्न सोम के ( सुनाय ) उररस, ( मादयित्नवे ) अतिपरम आनन्द-  
लनक रस को प्राप्त करने और उसकी रक्षा के लिये ( दीर्घजिह्वयम् ) लम्बी

जीम बाल दूर तक विषय रस लाने हारे । अतिवृष्णालु इस ( आनम् ) कुक्कुर के समान लाभी, भागी मनको ( अणु अधिष्टन ) विषयों के रस से दूर रख कर शिथिल करा ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २  
[२४६] अथ पूषा रयिर्भग सोम पुनानो अर्षनि ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २  
पतिर्विश्वस्य भूमना व्यत्यदोदसी उभ ॥ २ ॥

श० ८ । १०१ । ७ ॥

भा०—( पूषा ) पुष्टिकारक ( भग ) सब क भजा सेवन योग्य, वरपायकारी पृथर्ववान् ( रयि ) कातिजनक, परम धनस्वरूप ( अथ ) यह ( साम ) परमानन्द ( पुनान ) सब बाह्याभ्यन्तर का पवित्र करता हुआ या स्वय-शुद्ध पवित्र रूप में प्रकट होना हुआ ( अर्षनि ) दक्षिण हाता है । ( विश्वस्य ) समस्त ( भूमना ) विशाल, भूमास्वरूप आत्मा का ( पति ) पालक होकर ( रादमी ) चौं और पृथिवी दोनों का ( विश्वस्य ) अथवा तत्र से प्रकाशित करता है ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २  
[२४७] सुतासो मधुमत्तमा सोभा इन्द्राय मन्दिता ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २  
पवित्रवन्तो अक्षरन् दयान् गच्छन्तु वा मदा । ३ ॥

श० ९ । २०२ । ४ ॥

भा०—( मधुमत्तमा ) आभरतानुभव से युक्त ( मन्दिता ) आनन्द और इर्ष्ये के जनक । सुतास ) तैयार किये, प्रकट हुए ( सामा ) परमानन्द और विद्वान् जन ( पवित्रवन्त ) पवित्रस्वरूप का धारण करने वाले दीक्षितशा में वर्तमान ( इन्द्राय ) आत्मा के लिए ( अक्षरन् ) परित्र होत हैं । हे सामरसा ! ( वा ) तुम्हारे ( मदा ) आनन्द इर्ष्ये ( गच्छन्तु ) इन्द्रियगण या विद्वान् जनों का ( गच्छन्तु ) प्राप्त हो जिसमें वे तमुप हा जाय ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[५४८] सांमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्य गातुवित्तमा ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

मिश्रा. स्वाना अरेपसः स्वाध्य स्वर्दिद ॥ ४ ॥

श्र० १।१०२।१० ॥

भा०—( गातुवित्तमा ) मार्ग को उत्तम रीति से जानने हारे,  
( इन्दव ) आमा क प्रति साक्षात् द्रवित होने वाले, कान्तिस्वरूप,  
( सोमा ) मद्यरस या यागिजन ( मिश्रा ) हृदय अन्त करण के या  
सब के मित्र, ( अरेपस ) निर्दोष, निर्मल, निष्पाप, ( स्वाध्य ) उत्तम  
ध्यानयोग के साधक ( स्वर्दिद ) प्रकाश के प्राणक, सर्वज्ञता के दायक,  
( स्वाना ) प्रकट होते हुए ( पवन्त ) चरित हाते या विचरते हैं ।

सोमरस, आत्मानन्द और यागियों का समानरूप स वर्णन है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[५४९] अभी नो वाजलातम रयिमर्ष शनस्पृहम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्दा सहस्रभर्षस तुविद्युम्न विभासहम् ॥ ५ ॥

श्र० ६।१८।११ ॥

भा०—हे ( इन्द्रो ) दीप्यमान ! सोम ! विद्वन् ! ( न ) हमें ( वाज-  
सातम ) अज्ञ, ज्ञान, बल को दन वाले, ( शतस्पृह ) सैकड़ों की अभि-  
लाषा के पात्र, ( सहस्रभर्षस ) सहस्रों का भरण पोषण करनेहारे,  
( तुविद्युम्न ) बहुत पृथक् या तेज से सम्पन्न ( विभासहम् ) विशेष दीप्ति का  
भी मात करने वाले ( रयिं ) उस दिव्य धन आमा का ( अभि अर्षं )  
प्रकाश कर, उसको प्राप्त कर, उस तक पहुँच ।

५४८—श्रुवानाः, शनि श्र० ।

५४९—'अभि' 'पुस्तहम्' 'विभासहम्' शति श्र० ।



३ १ २      ३ १ २   ३ १ २   २ २   ३ १ २  
[५५०] अभी नवन्ते अद्भुह प्रियामेन्द्रस्य काम्यम् ।

३ २ ३   ३ ५ २ २   ३ १ २      ३ १ २  
यत्स न पूर्वं आयुनि जात रिहन्ति मातर ॥ ६ ॥

श० ६ । १० । १ ॥

भा०—( मातर. ) गौष् माताष् ( पूर्वं आयुनि ) पूर्व, पाल अवस्था में ( जात ) नये उत्पन्न हुए (वत्स) बच्चे को (न) जिस प्रकार ( रिहन्ति ) खाटती हैं, स्नह से चूमती हैं उसी प्रकार ( अद्भुह ) समस्त सगार के प्राणियों क प्रति दाह का त्याग करनेहारे, अहिंसा क पालक, साधक (इन्द्रस्य) भीतरी आमा क ( काम्य ) अत्यन्त कामना या स्नह क विषय, जीवनरस के ( अभी नवन्ते ) निमित्त मुकते हैं, उसकी रक्षा करत हैं, उसका स्नह करते हैं । योग क प्रथम भग अहिंसा का निरूपण किया है ।

‘अहिंसा, सर्वथा सर्वथा सर्वभूतानामनभिद्राह । इति व्यासभाष्यम् । अहिंसाप्रतिष्ठार्था तमन्निधौ वैस्वाम्य सर्वप्राणिनां भवति’ । ( यो० सू० । व्या० भा० ) सब कालों में सब प्रकार स प्राणियों का दाह न करना अहिंसा है । अहिंसा पालन स समस्त प्राणी वैर त्याग देत हैं ।

१ २ ३ १ २   ३ २ ३ १   २      ३ १ २  
[५५१] आ हर्षताय धृणुये धनुष्वन्ति पौम्यम् ।

३ २ ३   ३ १ २      ३ १ २   २ ५ २ २   ३ १ २  
शुक्रा वियन्त्यसुराय निर्णिज विषामग्र महायुज ॥ ७ ॥

श० ६ । १६ । १ ॥

भा०—( हर्षताय एष्यवे ) अति प्रेमयुक्त राजा के लिय जिस प्रकार उसके सैनिक ( पौष्य धनु तन्वन्ति ) बलयुक्त धनुष तानने हैं, जी-जान से शत्रु पर प्रहार करते हैं उसी प्रकार विद्वान्मन ( हर्षताय ) सबक अ भिलाषा क वाग्य कमनीय ( एष्यवे ) मय श्रुतियों को दधाने हारे, उम सोम अर्थात् आमा के दित के लिय (पौष्य) मर्दान्ता दर्शन बाल ( धनु )

धनुष, कामरूप धनु को ( तन्वन्ति ) साधते, वश करते हैं । अथवा परम पुमान् परमेश्वर के नाममय ओंकाररूप धनुष को तानते हैं उसका जप और मनन करते हैं । और ( महीयुव. ) मइश्व की आकांक्षा करने हारे आधक ( विद्याम् अग्ने ) विद्वान् मेधावी पुरुषा के समस्त ( धसुराय ) प्राणों के पेरक इम आत्मा के ( निर्णोज ) स्वरूप को शोधन करने के लिये ( वि यन्ति ) विशेष रूप से जाते हैं । पौंस्य धनुष का तानना=ब्रह्मचर्य का पालन और विद्वानों के पास जाना=स्वाध्याय है ।

ब्रह्मचर्यं गुह्येन्द्रियोपस्यसंयमः । ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां धीयेत्तामः । यस्व-  
त्तामाप्रतिमान् गुणान् अणिमादीन् उरकथंयाते । सिद्धय विनेयेषु ज्ञान-  
माधानुं समर्थो भवति ( व्यासभाष्ये ) । स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोग ( यो०  
मू० ) तस्य वाचकः प्रणवः । २७ । तज्जपस्तदर्पभावनम् । २८ । तत प्रायक्  
चेतनाधिगमोऽप्यन्नरायाभावश्च ॥ उपरथ इन्द्रिय का संयम ब्रह्मचर्य है ।  
इससे धीर्य प्राप्त होता है । इससे अखण्ड बल प्राप्त होता है इसी के बल  
पर आचार्य शिष्यों में ज्ञान स्थापन करता है । स्वाध्याय से परमेश्वर में  
भक्ति होती है । 'ओम्' परमेश्वर का नाम है । उसकी भावना से शीघ्र  
आत्मा का साक्षात् होता और सब विज्ञ दूर होते हैं ।

२ ३ १ २ ३ ४ २ १ ३ २ ३ १ २  
[५५२] परि त्य ह्येतं हरिं यश्च पुनन्ति चारेण ।

३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ ४ २ २  
यो देवान् विश्वाँ इत्परि मदेन सह गच्छति ॥ ८ ॥

अ० ६ । १० । ७ ॥

भा०—( हयंतं ) सब के मनो को हरनेवाले अग्नि कान्तियुक्त ( हरिं )  
सर्वध्यायक, सब दृष्टों के हरणकारी ( यश्च ) कान्तिमान्, सबके मरण  
पोषण करने हारे, ( त्यं ) उस आत्मा को ( चारेण ) वरण करने वाले  
भौतरी अन्न करण द्वारा या दोषों का वारण करने वाले प्रतिपद-भावना  
या वितर्क-स्थापन द्वारा स्वप्न करते हैं । ( यः ) जो आत्मा ( विद्यान्

दधान् ) समस्त देवों, इन्द्रियगण को भी ( मदेन ) आनन्द रस क ( सह ) साथ ( परि गच्छति ) भर दता है प्राप्त होता है ।

वितकंवाधने प्रतिपद्यभावनम् । वितकों हिंसादय कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृत्युमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपद्य भावनम् । ( या० सू० २ । ३३ ३४ ) । प्रतिपद्यभावनना से वितकों क नष्ट होजाने पर योगी को सिद्धि क शीघ्र ही लक्षण प्रकट होते हैं ।

१ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२

[५५३] प्रसुन्वानायान्धसा मर्तो न वष्ट तद्वच ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२

अप श्वानमराधस हता मय न भृगव ॥ ६ ॥

श्र० ६ । १०१ । १३ ॥

भा०—( अन्धस ) अज्ञान अधकार के नाश करने वाले, परमा नन्दस्वरूप सोमरस का ( प्रसुन्वानाय ) उत्पन्न करने हार साधक क लिय प्रकट हुई ( तत् वच ) उस सोम की अनाहत धारणा का ( मर्त ) साधारण मरणवर्मा पुरुष जिसका अमृत सामरस प्राप्त नहीं हुआ, वह ( न वष्ट ) नहीं प्राप्त कर सकता । ( भृगव ) ज्ञानाक्षि स अज्ञान और पाप को भून डालने वाले ज्ञानी ज्ञान विम प्रकार ( मय न ) कर्मकाण्ड का दूर कर देते हैं उसी प्रकार ( अराधस ) साधना न करने हार, ( श्वान ) कमजोर क सामा कुकुर के समान व्यक्तियों को पुन २ खाइने वाले, घान्तारी, चित्त का ( अप इत ) मारा ।

इति षष्ठी द्वावि । अष्टम खण्ड ।

॥ ६० ७ ॥ अथि — १ — ३, २ कविभागः । ४ अथिगणः । ६ निवृत्ता निवा यरी, त्वि [ अथिगणो (१) वा । ७ वसुधैवकुर्वित् । ८ वेनो भागव । ९ भागवतो वसु । १० वसु । ११ अथिगणः । १२ पवित्र आङ्गिरस । पत्रमानो देवता ॥ जगती ॥ निशा ॥

६६३—'प्र सुन्वानस्य' वृत्त्यय ' इति ख० ।

३ २ ३ १ २      ३ १ २      ३ १ २      ३ २ ३      ३ २ ३  
 [५४] अभि प्रियाणि पवतं चनोहितो नामानि यद्वा अधि येषु  
 १ २      १      २ २      ३ २ ३ २ ३      ३ २ ३ १ २  
 वर्द्धते । आ सूर्यस्य गृहतो गृहप्रधिरर्थं विष्वञ्चमरुहदि-  
 २ ३  
 चक्षुः ॥ १ ॥      अ० ६। ७५। १ ॥

भा०—( चनोहितः ) पाकयोग्य अन्न के समान पचन करने योग्य परिपक्व ज्ञान के निमित्त धारण किया गया, ( यह ) महान् आत्मा ( येषु ) जिन विशेष गुणों के आधार पर ( अभि वर्द्धते ) समस्त प्रजाओं के हृदयों में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है उन सब ( प्रियाणि ) अत्यन्त मिय ( नामानि ) नामों, या विशेषणों या सबको नमाने वाले महान् कर्मों में ( अभि पवते ) साक्षात् रूप से प्रकट होता है । वही ( गृहतः ) सबको बसाने वाले ( सूर्यस्य ) सबके प्रेरक परमात्मा के बनाये ( विष्वञ्चं ) समस्त प्राणियों को प्राप्त होने वाले ( रथं ) हृदय देह रथ को ( विचक्षुः ) साक्षी, दृष्टास्वरूप होकर ( अभि-आ मरुहद् ) अधिरोहण करता है, उस पर शासन करता और उसका भोग करता है ।

३ १ २      ३ १ २ ३ २      ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [५५] अचोदसो नो धन्वभियन्द्व प्र स्थानासां गृहदेवेषु हरयः ।  
 १ २      ३ २ ३ २ ३ १ २      ३ १ २      ३ १ २      ३  
 वि चिदश्राना इपयां अरातयोर्नो नः सन्तु सनिषन्तु नो  
 १ २  
 धियः ॥ २ ॥      अ० ६। ७६। १ ॥

भा०—( हरयः ) स्वयं हरणशील, गतिशील, ( अचोदसः ) बिना किसी के साहाय्य के स्वयं प्रेरित ( इन्द्वः ) ऐश्वर्यवान् जीव ( स्थानासः ) प्रकृत रूप से प्रकट हुए ( देवेषु ) देवों, दिव्यगुणयुक्त विद्वानों या इन्द्रियों के बीच में ( नः ) हमें ( गृहद् ) गृह ( धन्वन्तु ) प्राप्त हों और ( नः ) हमारे ( अर्थः ) अधि-शाश्वत्स्वरूप, ( अरातयः ) मृत्यु, कायफल के न देने

५५—‘प्रवृत्तानासो हरयिषु हरयः । विचक्षण इव वाराणपाडयो नरन्तु सनिषन्तु नो धियः’ इति अ० ।

वाल ( इत्य ) कवल कामावभाग या अन्न की कामना करन वाल कामी,  
 तृष्यास्तु इन्द्रियगण ( अभावा ) भाग करत हुए ( वि चित् ) न ( सन्तु )  
 रहें । ( न ) हमें ( धिय ) उत्तम ध्यानवृत्तियों ज्ञान और उत्तम कर्मों  
 का ( सन्निपन्तु ) प्रदान करें ।

३ २ ४      ३ १ २      ३ १ २      ३ २ ३ १ २ ३      १ २  
 [१५६] एष प्रकाश मधुमौ अचिन्नादिन्द्रस्य वज्रावपुषो वपुष्म ।  
 ३ २ १ २ ३ १ २      ३ १ २      ३ १ २      ३ १ २  
 अभ्यन्तस्य सुदुघा घृतश्चुता वाधा अर्पन्ति पयसा  
 १ २  
 च धारा ॥ ३ ॥ १० १ । ७७ । १ ॥

भा०—( एष ) यह साम ( इन्द्रस्य ) भारमा क ( वज्र ) वज्र क  
 समान सब विघ्नो और पापों का नाशक ( वपुष् ) धीजों को धरन करन  
 हारे स भी अधिक ( वपुष्म ) धीन वारन करन वाला, वीर्यवान् (काश )  
 हृदय काश, आभ्यन्तर मनोमय काश क वीर्य में ( मधुमान् ) मद्भागन्द  
 क मधुर रस से पूर्ण ( प्र अचिन्द्रस्य ) उकृष्ट रूप स अनाहत नाश उत्पन्न  
 करता है । जिस प्रकार ( वाधा ) इम्भारव करती हुई ( सुदुघा ) टूटन  
 दूध देने वाली ( धनव ) दूध पिछान वाली गौण ( पयसा ) दूध स  
 ( अर्पन्ति ) धाराए बहाती हैं उसी प्रकार ये ( घृतरचुत ) काति की  
 धाराए बहान वाल ( अतरप ) ज्ञान क ( सुदुघाः ) दाहन वाल परमा  
 नदरस ( च ) भी ( अर्पन्ति ) हृदय में धरित हान है, प्रकट हाते हैं ।

‘अतम्भरा तत्र प्रज्ञा । ( पात० सू० )

३ २      ३ २ ३ १ २      ३ २      ३ २ ३ १ २ २ २  
 [१५७] प्रो अयासीदिन्द्रुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा मस्युन प्रभिनाति  
 ३ १ २      १ २      ३ १ ३      १ २      ३ १ २      ३ १ २  
 सङ्गिरम् । मय इव युजातिभि समपति सोम वसथे  
 ३ १ २      ३ २  
 शतयामना पयो ॥ ३ ॥ १० १ । ७६ । १ ॥

१५६—‘वपुषो वपुष्म’ ‘मधीनृत्स्य’ ‘पयसा’ इति ऋ० ।

१५७—‘शतयामना’ इति ऋ० ।

भा०—( इन्दुः ) प्रकाशमय जीव, आत्मा ( इन्द्रस्य ) इन्द्र परमेश्वर का ( सखा ) समान नाम रूप धारण करने वाला उसके ( निष्कृत ) पर्द, ज्ञान, स्थान, मोक्ष को भी ( अथासीद् ) प्राप्त हो जाता है तो भी ( सख्यु ) अपने सखा परमात्मा की ( संगिर ) उत्तम वेदवाणी, आज्ञा या शक्ति को ( न ) नहीं ( प्र भिनाति ) पार करता, नहीं मापता, नहीं उल्लंघन करता । वह ( सोमः ) सोम्य स्वभाव होकर ( युवतिभिः ) युवतित्रियों के साथ ( मयं इव ) जिस प्रकार मर्द, युवा पुरुष ( सम् अर्पति ) सग करता है उसी प्रकार वह अपनी ( युवतिभिः ) सदा साथ रहने वाली प्राण्य और ज्ञानवृत्तियों सहित ( शतयामना ) सैकड़ों प्रकार से जाने योग्य ( पथा ) मार्ग से ( कलशं ) पौद्गल-कलासम्पन्न ब्रह्म या आनन्दमय कोश में ( सम् अर्पति ) विचरण करता है ।

[२५८] धृत्वा दिवः पयते कृत्व्यो रसा दत्तो देवानामनुमाद्यो नृभिः  
 हरिः सृजाना अत्यो न सत्वभिर्भुथा पाजासि कृणुषे  
 नदीष्या ॥५॥ अ० ६। ७६। २ ॥

भा०—(दिवः) आकाश के समान देहमें मूर्धाभाग, या प्रकाररूप सूर्य या ज्ञान का (धृत्वा) धारण करने वाला (कृत्व्य) योग साधनों द्वारा उत्तम रूप से ज्ञान करने योग्य, (रसः) आनन्दरस स्वरूप (देवानाम्) देव देवों इन्द्रियों और विद्वानों का (दत्तः) बलदाता, (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (अनुमाद्य) इष्ट प्राप्त करने योग्य, (अत्यः न) गमन करने वाले अथवा आत्मा के समान (सत्वभिः) अपने सात्विक विभूतियों द्वारा (नदीषु) अपनी अनादन नाद करने वाली धाराओं में नदियों में जल के समान (वृथा) बिना प्रयत्न के, स्वभावतः (पाजासि) नासा प्रकार के बल (कृणुषे) प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २  
 [५५६] वृषामतीना पत्रे विचक्षण सोमो अद्वा पतरीनोपसा  
 ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 दिव । प्राणा सिन्धूना कलशो अचिरुददिन्द्रस्य हाया  
 ३ १ २ ३ १ २  
 विशन्मर्गिपिभि ॥६॥ \* ऋ० ६ । ६६ १ ॥

भा०—( वृषा ) सुखों का वर्णन करन वाला ( साम ) सोम ( म  
 सीना ) मनन शक्तियों या ज्ञान वृत्तियों का ( विचक्षण ) विविध प्रकार  
 से साक्षात् करन वाला ( अद्वा ) दिनों, ( दिव ) आकाश और (उपसा)  
 प्रभान बलाधा क समान, प्राणों, मूर्धाभाग और तत्र दाहिनोंके (पतरीता)  
 सूय वदान वाला ( सिन्धूना ) दह की नादियों में (प्राणा) जीवन सम्चार  
 करन वाला ज्ञान-दरस (इन्द्रस्य) आत्मा क ( हादि ) हृदय में (मनीपिभि)  
 मन का प्रवर्थाओं द्वारा (आविशन्) प्रवेश करता हुआ (अचिरन्) भीतर २  
 नाद करता है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [५६०] त्रिरम्मै सप्तधेनवो दुदुहिर सत्यामाशिर परमे व्योमनि ।  
 ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २  
 चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिज चारुणि चम्ने यदतैरवर्द्धत ७  
 ऋ० ६ । ७० । १ ॥

भा०—( यद् ) जब ( अतै ) सत्य ज्ञानों स आत्मा स्वयं (अवर्द्धत)  
 समृद्ध हो जाता है तब ( अम्मै ) इस क लिय ( सप्त ) सात ( धेनव )  
 रसपान करान वाली गौवों के समान य सात इन्द्रिया या मस्तक क सात  
 दिनों में विराजमान हैं ( परम ) सब स उत्कृष्ट ( व्योमनि ) अपने  
 रक्षास्थान मूर्धा, या ब्रह्माण्ड कपाल में विराजमान होकर ( सत्याम् )  
 सत्यस्वरूप, यथाथ ( आशिर ) ज्ञानधारा का ( त्रि ) ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान  
 इन तीनों प्रकारों स ( दुदुहिर ) दाहन करता है । और ( अन्या ) अन्य  
 ( चत्वारि भुवनानि ) चारों दह क भागों या अवस्थाओं को ( निर्णिज )

२६०— दुदुहै 'दून्वै' इति ऋ० ।

परिशोधन करने के लिये वह ( आसुधि ) उत्तम कागि और बल से युक्त कर देता है ।

[५६१] इन्द्राय सोम सुपुनः परिस्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह ।  
 मा ते रसस्य मत्सत द्रयाविना द्रविणस्वन्त इह मन्त्रिन्दवः ॥५॥  
 अ० ५ । ८५ । १ ॥

भा०—हे ( सोम ) प्रह्वानन्दरस ! ( सुपुन ) उत्तम रीति से उत्पन्न होकर तू ( इन्द्राय ) आत्मा के लिये ( परिस्रव ) वह, प्रकट हो ( अमीवा ) शरीरगत रोग ( रक्षसा ) मनोगत बाधक विघ्नों के ( सह ) साथ ( अप भवतु ) दूर हो । ( द्रयाविना ) अमीवा और रक्ष अर्थात् शरीरगत रोग और मन की कुटिलता दोनों से भरे हुए पृथ्वी लोग ( ते रसस्य ) तेरे रस को ( मा मत्सत ) पाकर कभी प्रसन्न न हों । ( इह ) इस योगसाधना में ( इन्द्रवः ) अन्तःकरण में प्रकट होने वाले रस ( द्रविणस्वन्तः ) द्रुत गति वाले होकर बहते ( सन्तु ) रहें ।

[५६२] असावि सोमा अरुषा वृषा हरि राजेव दसमो अभि गा  
 अनिक्रदत् । पुनानो वारमत्यप्यव्यं श्येनो न योनि  
 घृतवन्तमासदत् ॥ ६ ॥  
 अ० ६ । ८२ । १ ॥

भा०—( राजा इव ) राजा के समान ( दसम ) दर्शनीय, सबका शरण्य, ( अरुषः ) अरुणवर्ण, देशीप्यमान, कान्तिमान्, ( वृषा ) मेघ के समान सुखों का वर्षक, ( हरिः ) सबको हरण करने वाला या सर्वव्यापक नेता, ( सोमः ) योगी आत्मा ( असावि ) तय्यार किया गया है । जो ( गा अभि ) इन्द्रियों, वाणियों और जलों क प्रति ( अचिक्रदत् ) अपना नाद करता है । और ( पुनानः ) प्रकाशमान होता हुआ ( अव्यय ) कभी



छांय न हाने वाले, अमेघ (वार) निवारक, रुकावट को भी (अग्नि एषि) पार कर जाता है। और (श्येन न) गतिशील आत्मा याज्ञ के समान अपने (धूमन्त) धूमन्त दामि युक्त (योर्णि) मूलकारण, आद्य परमे श्वर को (आसद्) प्राप्त करता है।

उ२३ उ १२ उ २ ३१ २ उ २ ३ २३  
 [५६३] प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्द्रयाऽभिस्यदन्त गात्र आ न  
 ३१२ उ १२ उ १२ ३ १२ उ १२ ३ १२  
 धेनघ । वहिषदो वचनन्त ऊधमि परि स्रुतमुखिया  
 उ १२  
 निर्णिज धिर ॥ १० ॥ अ० ६ । १८ । १ ॥

भा०—( मधुमन्त ) मधुर रस वाले, मद्यज्ञानी ( इन्द्र ) सौम्य गुणसम्पन्न, सबके आलङ्कारक, मद्य की तरफ जानेहार योर्णि, ( धेनव गात्र न ) दूध देनेहारी गौण जिस प्रकार अपने वच्छ के प्रति ( प्र आसिष्यदन्त ) अपना दूध प्रवाहित करती है उसी प्रकार ( देव ) प्रकाशस्वरूप उपारथ देव के प्रति ( अच्छा ) साक्षात् ( प्र आसिष्यदन्त ) गति करते हैं। और वे ( वहिषदो ) महान् मद्य में रमण करने वाले ( वचनन्त ) घदवाक्यों का अनुसरण करते हुए, ( ऊधमि ) ऊर्ध्वं मूर्धास्थान में आनन्दरस धारण करने हारे स्थानों से ( परिस्त्रुत ) चुप हुए ( निर्णिज ) अग्नि शुद्ध पवित्र आनन्दरस को ( टस्त्रिया ) सूर्य की किरणों क समान प्रकाशमान होकर ( धिरे ) धारण करते हैं, या पान करत हैं।

१ २३क १२ उ १२ उ १२ उ २ ३क २२  
 [५६४] अञ्जत व्यञ्जते ममञ्जते क्रतु रिहन्ति मध्नाऽभ्यञ्जते ।  
 १ २ उ २ ३१२ ३१२ उ २ ३२ ३ १  
 सिन्त्रोरुऽच्छास पतयन्तमुक्षण हिरण्यपात्रा पशुमप्सु  
 १  
 गृह्णन्ते ॥ ११ ॥ अ० ९ । ४६ । ४६ ॥

५६३—'वचनावन्त' इति अ० ।

५६४—'मधुनाऽभ्यञ्जते', 'पशुनाऽ' इति अ० ।

भा०—यागी साधक भजन ( अन्नत ) साक्षात् करत है ( वि  
 अन्नत ) उसका नाना प्रकार स प्रकट करत है ( सम् अन्नत ) उसमें  
 उत्तम रीति स अन्न को लीन करत है तब ( क्रु ) कम करनहार आत्मा  
 क आनन्द का ( रिदन्ति ) आस्वादन करत है उसका रस लेत है उसका  
 सन्पूर्ण हृद्यों स पान करत है । ( मन्वा अभि अन्नत ) उसका भातरी  
 आनन्दरस क साध पुररस कर लेत है व ( हिरण्यपावा ज्ञान स आत्मा  
 का परिष्कार करन व ल ( सिन्धा ) सगुण क समान सवप्र गतिश ल था  
 कमव धनों स बध नीवा का धारण करनहार आनन्द क अगाध सागर  
 परमात्मा क ( वृक्षास ) अवन आर ऊपरकी तरफ प्रबल आस या प्राण  
 क आकर्षण बल में ( पतयन्त ) गति करत हुए ( उच्यते ) आनन्दवर्षी  
 ( पशुम् ) दृष्टा नीव का ( अप्सु ) अवन हा प्रज्ञाना में ( गृभ्यते ) प्रदण्य करत  
 है, ज्ञान करत है । अथवा ( सिन्धा ) गतिशाल प्राणों क ( उच्यते )  
 ऊर्ध्व अर्धाणु प्रसरण की आर की गति म ( पावन्त उच्यते पशु ) धवन  
 करत हुए आनन्दवर्षी दृष्टा जीवात्मा का ( हिरण्यपावा ) हिरण्यमय र्शमे  
 मान् दहन को भी पार करन हारे साधक ( अप्सु गृभ्यते ) अवन की  
 प्रज्ञानों या प्राणों क बीच में साक्षात् करत है ।

३ १ २ ३ १ २                      ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [५८५] पवित्र त वितत प्रदण्यरूप प्रभुगात्राणि पर्येति विश्वत ।  
 १ २ ३ ३ ३ १ २                      ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
 अतस्तन्नून तदामा अश्नुते शृणास इद्वहन् स तदागत ॥ १० ॥  
 अ० १ । ८३ । १ ॥

भा०—इ ( प्रदण्यरूपते ) ज्ञानरूप प्रदण्य क रचामेव प्रमा ( त )  
 तारा ( पवित्र ) पवित्र ज्ञान ( वितत ) बड़ा बिलूत सवत्र व्यापक है ।  
 ( प्रभु ) प्रकृत सामर्थवान् आप ( विश्वत ) सब प्रकार स ( गात्राणि )

सब देहों में ( परि-वृषि ) व्यापक हो । ( अतस्तत्तन् ) इस शरीर को तप-  
स्याओं, योगसाधनाओं द्वारा तप्त न करने वाला तपहीन (आम) कथा पुद्गल  
( तद् ) उस तेरे पवित्र ज्ञानगण स्वरूप को ( न भरनुते ) नहीं प्राप्त  
करना । ( शतास ) तपोमय अग्नि में परिपक विश्वान् ( इत् ) ही ( विहग्न )  
ज्ञान को स्वयं धारण करने द्वारे ( तद् ) उस मुख को ( सम् आयत )  
उत्तम रीति से प्राप्त करते और मागतें हैं ।

इति मत्स्यो दशति । नवम खण्ड ।

॥ ५६६ ॥

॥ ५६० ॥ वृषि — १ ७, ११ अधिशापुः । २ चतुर्मानवः । ३, ४, ९, १०  
पञ्चनारसी वाददन्धावप्सरसी वा । ५ त्रिण काण्वः । ६ मनुरात्मवः । ७, १२

द्विण काण्वः । इन्द्रो देवता । उरिग्नः । अयम ॥

२ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५६६] इन्द्रमच्छुत्सुता इम वृषण्य वन्तु हरयः ।

३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २

श्रुष्टे जानास इन्द्र स्वर्विद ॥ १ ॥ व० ९ । ५८ । १ ॥

मा०—( इमे ) ये ( सुता ) उपवृषि कृष्ण ( हरयः ) हरयशील,  
गनोहर ( श्रुष्टे जानास ) व्यापक आत्मा में प्रादुर्भाव कृष्ण, वा सुखस्वरूप  
हृष्य में लीन कृष्ण, ( स्वर्विद ) प्रकाश, ज्ञान, श्रीर आनन्द कायाम करनेवाले,  
( इन्द्रव ) मौम्य गुण वाले, माधक योगी ( वृषण्य ) सुखों के वर्षक  
( इन्द्रम् ) उम परमात्मा को ( भरतु वन्तु ) भली प्रकार प्राप्त होते हैं ।

३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५६७] प्र धन्या संताम जागृत्रिनिन्द्रावेन्दो परिस्त्रय ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

शुभन्ते शुष्ममागरे स्वर्विदम् ॥ २ ॥ व० १ । १०२ । १ ॥

मा०—हे ( संताम ) मौम्यगुण वाले ! ( इन्द्रो ) इन्द्र के प्रति । य  
प्रवाद के समान रीति करनेवाले साधक ! ( जागृत्रि ) जागरयशील, कभी

आलस्य तन्दा को न प्राप्त होकर, ( इन्द्राय ) उस ईश्वर या आत्मा को स्तव्य करके ( परिश्रव ) बड़, आगे बढ़ ! ( द्युमन्तं ) कान्तियुक्त, (स्वर्विदम्) समस्त पदार्थों का ज्ञान लाभ कराने वाले ( शुभम् ) आत्मज्ञान रूप बल को ( आ भर ) सन्वित कर ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[५६८] सखाय आ निधीदत पुनानाय प्रगायत ।

३ २ ३ १ २ २ ३ २

शिशु न यज्ञै परिभूपन श्रिये ॥३॥ अ० ६ । १०४ । २ ॥

भा०—हे ( सखाय ) मित्रगण ! ( आ निधीदत ) आओ बैठो । ( पुनानाय ) योग साधन द्वारा अपने त्रिविध मलों का शोधन करनेहारे आत्मा के विषय में ( प्र गायत ) उत्तम रूप से सत् स्तुति करो उसका वर्णन करो । और ( शिशु न ) जैसे बालक को (श्रिये) मात्र शोभा के लिये सम्राते हैं उसी प्रकार उस ( शिशुम् ) सबके भीतर शयन करने हारे आत्मा को ( यज्ञै ) ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार क यज्ञों द्वारा ( श्रिये ) ज्ञान संगति प्राप्त करने के लिये ( परि भूपत ) सब प्रकार से प्रलभ्य करो, उसकी शोभा बढ़ाओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[५६९] तं ष सखायो मदाय पुनानमभिगायत ।

२ २ ३ १ २ ३ १ २

शिशु न हृद्वै स्वदयन्त गूर्त्तिभि ॥४॥ अ० ६ । १०५ । १ ॥

भा०—हे ( सखाय ) मित्रो ! ( व ) आप लोग ( त ) उष ( पुनान ) तपस्या आदि से मलों को शोधन करने हारे साधक, या सुराप प्राण की ( मदाय ) आनन्द की प्राप्ति के लिये ( अभि गायत ) सादात् गुण स्तुति करो । और ( गूर्त्तिभि ) स्तुतियों द्वारा और ( हृद्वै ) उत्तम सात्त्विक पदार्थों और विचारों द्वारा ( शिशुम् न ) जिस प्रकार मधुर अन्न का ( स्वदयन्त ) रस खसाकर बालक को बरा करत व उसी प्रकार

( शिशुम् ) सयके भीतर विद्यमान आत्मा को ( स्वदपन्त ) प्रभुत का रसा  
स्वादन कराकर अपने वश कर, उस तक पहुँचा ।

[५७०] प्राणा शिशुर्मर्दाना हिन्वन्नस्य दीप्तिम् ।

विश्वा परिप्रिया भुजदध द्विता ॥५॥ अ० ६ । १०१ । १ ॥

भा०—( प्राणा ) देहों को प्राण देने वाली ( महीनाम् ) यही भारी  
ईश्वरीय शक्तियों में ( शिशु ) प्रभुत रूप से विद्यमान, व्यापक धिन् रूप  
आत्मा ( घृतस्य ) सत्य ज्ञान की ( दीप्तिम् ) दीप्ति किरण या धारणा  
को ( हिन्वन् ) प्ररित करता हुआ ( विश्वा ) समस्त ( प्रिया ) उत्तम प्रिय  
पदार्थों का ( द्विता ) दो प्रकार से, समष्टि स्पष्टि रूप में, स्थूल और सूक्ष्म  
भेद से, या गृहीत और ग्राह्य, या विषयी और विषय भेद स ( परि भुवन् )  
व्याप्त करता है ।

[५७१] परस्य देवधीनय इन्दा धाराभिरोजसा ।

आ फलश मधुमान्तोम न सद् ॥७॥ अ० ९ । १०६ । १० ॥

भा०—हे ( सोम, ) रस स्वरूप है ( इन्दा ) पृथर्वचन्द्र ( देवधीनये )  
देवों, विश्वों, इन्द्रिया, पञ्चमूर्तों को कान्तिमान्, यज्ञवान्, ज्ञानवान्  
करने के लिये तू ( धाराभिः ) अपनी धारण पापण करन हारी शक्तियों  
द्वारा ( ओजसा ) अपने यज्ञ से ( परस्य ) प्रकट हो । धीर ( मधुमान् )  
ज्ञानवान् तू ( न ) हमारे ( कजरा ) देह या घन्त करण में ( आसद् )  
अधिष्ठित रूप में आ विराजमान हा ।

[५७२] सोम पुनान आमणान्य धार विवापति ।

अप्र धाच पवमानः कानेकन्दन् ॥७॥ अ० ६ । १०६ । १० ॥

भा०—( पुनानः सोम ) सोम इसके समान स्वच्छ कान्तिमान आनन्दरस या मलादि रहित अन्त करण वाला, शमादि गुणों से सम्पन्न सोमनाम योगी जन ( ऊर्मिष्ठा ) अपनी ऊर्ध्व गति से ( अथवा वारं ) अज्ञान के आवरण को ( विधावति ) पार कर जाता है । ( पचमान. ) वह और भी अधिक उज्वल और पवित्र होकर ( पाच ) वेदवाणी के ( अग्ने ) उत्तम, रहस्य भाग में ( फनिकदत् ) गति करता हुआ स्तुतियों में मग्न हो जाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[५७३] प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उच्यते ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

मूर्ति न भरा मतिभिर्जुजोषते ॥८॥ अ० ६।१०३।१॥

भा०—( वेधसे ) स्वयं कर्म के विधाना मेधाधी ( पुनानाय ) अन्त-करण को मलादि से रहित करने वाले ( सोमाय ) शम दम आदि सौम्य गुणों से युक्त आत्मा या योगिजन के लिये ( वच ) सब अभ्यास वाणियों का ( प्र उच्यते ) प्रवचन किया जाता है उपदेश किया जाता है । ( मतिभि. ) अपने मनन-क्रियाओं द्वारा स्वयं उपासक ( जुजोषते ) उस सोमस्वरूप अपने ही आत्मरस का सेवन करता है । हे उपासक लोगो ! जिस प्रकार ( मूर्ति न ) शमी को नियम से भरण पोषण को द्रव्य या आर्जाविका दी जाती है उसी प्रकार उस आत्मा की शक्ति को बढ़ाने वाली ( मूर्ति ) भरण पोषणकारिणी चित्ति शक्ति को ( भर ) नियम से अभ्यास द्वारा बढ़ाओ ।

द्विती नाम ऋषि, स्वामानं प्रत्याह, इति सायणः । सोमाय 'मेधाविने' इति माधव ।

५७३—'वच उच्यते' इति अ० । 'उच्यते' इति सायण. ।

[१७४] गोमत्र इन्द्रो अश्वमत्सुत सुदत् धनिव ।

शुचि च वर्षमधि गोषु धारय ॥६॥ अ० ६ । १०२ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्रा ! सोम्यगुणयुक्त ! आत्मन् । हे सुदत् ! उत्तम कर्म के साधक ! ( न ) इमें ( गोमत् ) ज्ञानवाणियों स युक्त ( अश्वमत् ) सम्पन्न, अधिक सामर्थ्य वाली इन्द्रियों स युक्त धन ( धनिव ) दो । और ( गोषु ) हमारी वाणियों या इन्द्रियों में ( शुचि च वर्षं च ) कान्तियुक्त तेजस्वी वर्ष को ( धारय ) धारण करा ।

[१७५] अस्मभ्य त्वा वसुविदमभि वाणीरनुपत ।

गाभिष्ट वर्षमभि वासयामसि ॥१०॥ अ० ६ । १०४ । ४ ॥

भा०—( अस्मभ्य ) इमें ( वसुविद ) प्रायों ऐश्वर्यों का ज्ञान, जीवन का लाभ काने हारे ( त्वा ) तुम्हका ( वाणी ) सव वदवाणिया ( अनुपत ) यथार्थ वर्णन करती हैं । हे आत्मन् ! ( ते वर्षम् ) तेरे धारण करने योग्य स्वरूप को ( गाभि ) इन वदस्तुतियों द्वारा ( अभि वासयामसि ) आच्छादित करत हैं, ढकत हैं, अलङ्कृत करते हैं ।

[१७६] पत्रते हर्यतो हरिरतिहरासि रहा ।

अभ्यर्ष स्तोतृभ्या वीरवश ॥११॥ अ० ६ । १०६ । ४ ॥

भा०—( हर्यत ) हरण-गमन करने योग्य सब का प्राप्य, ( हरि ) सोम, आमा ( रहा ) वेग से ( हरासि ) कुटिच, कष्टकारी विघ्नों का भी ( अति पवत ) अतिश्रमण करके चमचमाता है । हे साम ! ( स्तोतृभ्य ) स्तुति करनेहारों, यथार्थ गुणवक्त्राओं का ( वीरवत् ) सामर्थ्यसम्पन्न ( वश ) तेव ( अभि धर्षं ) प्रदान कर ।

१७४—पत्रते शुचि च वर्षं च गोषु धारय इति अ० ।

१७६—'गम्यते' इति अ० ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [५७७] परि कोश मधुश्रुत सोम पुनानो अर्पति ।  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अभिनालीर्क्षणीया सप्तानूपत ॥१२॥ ऋ० ९ । १०३ । १ ॥

भा०—( पुनान ) मल आदि रहित, प्रकट होने वाला या चरित  
 हानकाला ( सोम ) आत्मा ( मधुश्रुत ) मधुर आनन्द रस का पुमान  
 वाल आनन्दमय ( कोश ) कोश का ( परि अर्पति ) व्याप्त कर लता  
 है । ( अर्पणीया ) ब्रह्माण्ड या मूर्धादश में स्थित सातों प्राणस्वरूप ऋषियों  
 की ( सप्त वाणा ) मात वाणिया, सातों ज्ञानप्रवाह ( अभि अनूपत )  
 आत्मा की साक्षात् स्तुति करत हैं ।

इति अष्टमी दशति । इति दशम खण्ड ।



॥ २० ६ ॥ अवि -> गौरिवीति शक्य । २ उन्वसप्ता आङ्गिरस । ३, ८  
 अजिषा भारद्वाज । ४ वृत्तयशा आङ्गिरस । ५ अणव आङ्गिरस । ६ शक्ति-  
 वासिष्ठ । ७ उर्राङ्गिरस । पवमानो देवता । १-४, ६ वृक्ष ।

ववम्भ्या गायत्री । ७, ८ प्रगाथ । १-४, ६ अणव ।

५ पडन । ७, ८ मध्यम ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५७८] पत्रस्य मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मद ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

महि सुत्ततमा मद ॥ १ ॥ ऋ० १ । १०८ । १ ॥

भा०—इ (साम) परमेश्वर । हे (मधुमत्तम) सब से अधिक आनन्द  
 और ज्ञानसम्पन्न । ( क्रतुवित्तम ) ज्ञान की प्राप्ति और कर्मों का  
 ज्ञान करने वा कराने हारों में सर्वत्र ग्रह ( मद ) आनन्दस्वरूप आप  
 (इन्द्राय) विभूतिसम्पन्न आत्मा के ज्ञेये (पत्रस्य) प्रकट हादय आप (मद)



अत्यन्त आनन्दस्वरूप होकर ( सुष्ठुतम ) सब दिव्य, तेज मग्न पदार्थों में आप ही सबसे श्रेष्ठ और ( महि ) सबसे महान् हैं ।

उ २ उ २ उ २ उ २ उ २ उ २ उ २ उ २

[५७६] अभिद्युम्नं वृहद्गण इपस्पत दीदिहि देव देवयुम् ।

१२ १२ ३२ २

वि शोश मध्यम युव ॥२॥

शु० ६ । १०८ । ९ ॥

भा०—हैं ( इपस्पते ) अन्न, एवं ज्ञान और मानस प्रेरणा के रवो-मिन् ' हे देव ' ( देवयु ) विद्वानों और समस्त दिव्य जगत् को आपन बर करनेहारे, आपके प्रति हम प्रार्थना करते हैं कि ( वृहद् गण ) बहुत अधिक यश, अन्न, ज्ञान, सामर्थ्य ( युम्नं ) और धन, बल को ( अभि दीदिहि ) साक्षात् प्रकाशित करो, और ( मध्यम ) बीच के ( कोश ) आवरण करने वाले मनोमय, विज्ञानमय कोश को ( वियुव ) काट दा धर्मात् उन कोशों को काट कर आप आनन्दमय कोश को पवेश कराओ ।

१ २ उ १ २ उ २ उ १ २ २ ३ २ उ १ २

[५८०] आ साता परि पिञ्चताश्वन्न स्तामममुर रजस्तुरम् ।

उ १ २ उ १ २

वनप्रक्षमुदमुतम् ॥ ३ ॥

शु० ९ । १०८ । ७ ॥

भा०—हे साधकगण ! ( स्तोम ) स्तुति योग्य, ( अमुर ) ज्ञान और कर्मों से प्राप्त करने योग्य, ( रजस्तुरम् ) समस्त लोकों में व्यापक ( वनप्रक्षम् ) सबक आमाओं में कूटस्वरूप से व्यापक, जलों को जिस वृद्ध देता है उसी प्रकार सेवन करन योग्य आनन्दरसों का देने वाले ( उद मुतम् ) ज्ञान से परिपूर्ण, शान्ति के दायक, आत्मारम को ( आसोत ) अपने हृदय में प्रकट करो । ( परि पिञ्चत ) पुनः उसके आनन्दमय रसों का आ सचन करो ।

५७६—'दवयुः' इति शु० ।

५८०—'वनप्रक्षम्' इति शु० । 'वनप्रक्षम्' इति क्वचित् ।

[५८६] एतमु<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> त्य मद्रच्युत सहस्रधार वृषभ दिवो<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> दुहम् ।

विश्वो<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> वसूनि विधनम् ॥ ४ ॥ श० ६ । १०८ । ११ ॥

भा०—( एतम् उ ) इस हा ( मद्रच्युत ) हयें रस के बरसान हार ( सहस्रधार ) सहस्रों लोकों का धारण करन वाले, या सहस्रों सुखधाराओं क बहाने वाले ( वृषभ ) सुखों क वर्षक, (दिव ) सूर्य क समान प्रकाशक, लोकों या ज्ञान प्रकाश का ( दुहम् ) दोहन करन वाले ( विश्वो वसूनि ) सब प्राणों और समस्त वास क देने हार वसु रूप लोकों का ( विधन ) धारण करन वाले आत्मा, परमात्मा का प्राप्त करत हैं ।

[५८७] स सुन्वे<sup>१ २ ३ १ २ २ ३ २ २ १ २ २</sup> यो वसूना यो रायामानता य इल्लानाम् ।

सोमो<sup>२ ३ १ २ ३ २</sup> य सुक्षितीनाम् ॥ ५ ॥ श० ९ । १०८ । १३ ॥

भा०—( य ) जा (रायो) पृथवों, ( वसूना ) समस्त प्राणों और सूर्यादि लोकों क और ( इल्लाना ) समस्त भूमियों, ज्ञानधाराओं और अज्ञों का ( आनता ) प्राप्त करान हारा है और ( य सुक्षितीनां ) जा उत्तम निवाम्य शरीरों चत्रों का नेता, निर्माणकर्ता है ( स सोम ) वह सबका प्रक आत्मा और परमात्मा ( सु-य ) हृदय देश में साक्षात् किया जाता है ।

[५८८] त्व ह्यद्विग<sup>२ १ २ २ १ २ ३ १ २</sup> दैव्य परमान जनिमानि सुमत्तम ।

अमृतताय<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> चापयन् ॥ ६ ॥ श० ६ । १०८ । १५ ॥

भा०—( अमृतताय ) हे सर्वव्यापक जगदाधार<sup>१</sup> ( सुमत्तम ) सर्वसे अधिक कान्तिमान् ( त्व दि ) तू हा ( दैव्य ) दिव=अतारण शुद्धाक या देव पञ्चभूता और दिव्य गुणयुक्त समस्त पृथिवी आदि लोकों की ( जनिमानि ) उत्पत्तियों और प्रकट हान वाले अमृत २ विकासों क मूल

५८६—'दिवो दुह' इति श० । 'विदुह' इति सा० ।

५८८—'त्वस्य' न दैव्या, 'दपय' इति श० । 'दपे' इति सा० ।

कारणों का ( अमृत वाय ) नित्य निरंतर विद्यमान अमृतस्वरूप मात्र का प्राप्त करने के लिये ( वायव्य ) उपदेश करता है ।

[५८६] एष म्य धारया सुतोऽया धारैभि पयत मदि-तम ।

श्रीड नूभिः पाभिः ॥ ७ ॥

श० ६ । १०६ । २ ॥

भा०—( सुत ) निरपेक्ष अभिव्यक्त ज्ञान-दरस ( अस्या धारभि ) विद्विशाक्ति क आधरणों से पार होकर ( मन्त्रितम ) अति अधिक ज्ञान-द से समृद्ध ( अपा जलों के ऊर्ध्वे इव ) प्रवाह या तरंग के समान जनों कर्मों का तरंग ( धारया ) अपना निरंतर धारा या धारक शक्ति से ( अहन् ) समार में श्रेष्ठ सी करता हुआ जाना करता हुआ ( एष एव ) जिसका दूधत है वह यह ( पवन ) हृदय दश में प्रकाशित जाना है ।

[५८७] य उन्निया अपिया अतरश्मनि निगा अहृ-तद् जना ।

अभि प्रज ततिपे गयमश्व्य धर्मो घृष्युः शरुन ॥ १०६ । १०८ । १ ॥

भा०—( य ) या साम ( उन्निया ) ऊपर गति करने वाला ( अस्या ) कम और ज्ञान की बना हुई ( गा ) गतिशील इन्द्रियों का ( आजसा ) अपन बल से ( अत अरमनि ) अरमा स्थापक वा प्रस्तर के समान किसी से न हारने वाले परिपक्व अरम स्वयं नामक मुख्य प्राण के भीतर ( निर अहन्तत् ) बनाता है निमाण करता है और जा ( गय ) ज्ञान सम्बन्धा धर्म ( अश्व्य ) कम या मन सम्बन्धी ( जज्ञ ) इन्द्रियगण का ( अभि ततिपे ) अपन चारों ओर विस्तारित करता है इ ( एषा ) सबका विजय करने हार परमात्मन् । नू हमारे ( धर्मो इव ) कथधारी सुरक्षित वादा के समान ( आ रत ) सब विज्ञ बाधाभा का दूर कर ।

इति नमो देवि । एता - गत ।

इति पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

इति पाथमाऽष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ।

## अथ षष्ठोऽध्यायः ।

अथ आरण्यकं काण्डम् \*

॥ ८० १० ॥ अथि — १ भद्राजः । २ वसिष्ठः । ३, ६ वामदेवः । ४ शुनःशेषः ।  
५ गृहसमदः । ७, ८ अमहीयु । ९ आत्मा । १०-११ इन्द्र । १२ वरुणः । १३, १४,  
१५ पथमानः । १६ विश्वेदेवाः । १७ अश्वम् । १८ इहती । १९, २० त्रिष्टुपः । २१, २२, २३  
गायत्री । २४, २५ चतुष्पदा गायत्री । २६ एकपदा गायत्री । २७ मध्यमः । २८, २९  
धैवतः । ३०, ३१ षड्जः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[५८६] इन्द्र ज्येष्ठ न आभर ओजिष्ठं पुपुरि श्व ।

१४ २२

३ १ २ ३ १ २ २

यदिष्टुक्षेम वज्रहस्त रांसी उभे सुशिप्र पत्राः ॥ १ ॥

शु० ६।४६।२ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! ( ज्येष्ठं ) अत्यन्त प्रशसनीय (ओजिष्ठं)  
काम्ति और बल से युक्त, ( पुपुरि ) पूर्ण करने वाला, ( श्वः ) ज्ञान  
( नः ) हमें ( आभर ) प्राप्त कराओ । हे ( वज्रहस्त ) सब विघ्नों को नि-  
वारण करने हारे ज्ञान और वैराग्यरूप वज्र को अपने हाथ में छिपे हुए, या  
ज्ञानरूप वज्र से तमका हनन करने हारे परमात्मन् ! हे ( सुशिप्र )  
उत्तम दाढ़ों या शरिणियों वाले तेजस्विन् ! समस्त संसार के प्रलयकाल में  
मरण करने वाले ! अथवा उत्तम ज्ञानी और बलशाली ! ( षट् ) जिसको

\* इतिहिन्यासु काण्डमिदं न लभ्यते, अत्र स्व तासु 'य उक्षिपा' इति  
श्रुचोऽन्वयशादाभ्यासो दृश्यते इति हेतौ रजैव पूर्वाधिक्यस्य समाप्तिरिति विज्ञायते, इति-  
ह्याभ्यासो न दृश्यते, षष्ठोऽध्यायश्च तृतीयार्थप्रपाठनरूपेणैव लभ्यते । केचिदिममभ्याय  
परिशिष्टमिव मन्वते । विविधा हि देवता अत्र स्तूयन्ते इति प्राग्परिगणितयाण्ड्यवाद्  
भिन्नमिदमारण्यकं काण्डं व्यवहरन्ति ।

२८६— आभर, 'ये नेमे चित्र वज्रहस्त', 'ओभे' इति शु० ।

( दिश्वेम ) हम धारण करना चाहत हैं उस ज्ञान को ( उभे रोदसी ) इस लोक परलोक दोनों में ( पत्रा ) पूर्ण कर, प्राप्त करा। अथवा धारण करने याग्य समस्त ज्ञान और चेतना का प्रज्ञाण्ड में तू पूर्ण कर रहा है।

१ ३ २ ३ १ २                      ३ १ २ २ ३ २                      ३ १ २ ३ १ २  
 [१८७] इन्द्रा राजा जगतश्चर्षणीनामधिष्ठामा विश्वरूप यदस्य ।  
 १ २                      ३ २ ३ १ २                      ३ २ ३ १ २                      ३ २  
 ततो ददाति दाशुषे वसुनि च दद्राध उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥२॥  
 अ० ७ । २७ । ३ ॥

भा०—( इन्द्र ) परमात्मा ( जगत ) जगत् प्राणिसत्ता का और ( चर्षणीनाम् ) मानवों का और ( अधिष्ठामा ) इस पृथिवी पर ( विश्वरूप ) नाना प्रकार के पदार्थ, जीव, या प्रज्ञाण्ड ( यत् ) जो भी हैं ( अस्य ) इस सब का ( राजा ) स्वामी है। ( तत ) वह सर्वव्यापक ईश्वर ( दाशुषे ) दानशील पुरुष को ही ( वसुनि ) जीवनोपयोगी माना पृथक् ( ददाति ) देता है। वही ( उपस्तुत ) सबसे स्तुति किया गया ( राध ) धन और ज्ञान ( अर्वाक् ) हमें ( चोदयत् ) वे।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३                      ३ २ ३ २ ३  
 [१८८] यस्यदमा रज्जोयुजस्तुजे जने वन स्व ।  
 १ २ ३ १ २ ३ २  
 इन्द्रस्य रम्य वृहत् ॥ ३ ॥

भा०—( यस्य ) जिस ( रज्जोयुज ) कान्ति, ज्योति स युक्त या प्रकृति के रज्जोयुक्त से योग करने हारे आत्मा का ( तुजे जने ) दानशील पुरुष में ( इद ) वह ( स्व ) सुखकारी, दिव्य, समस्त ( वन ) सबन करन योग्य नाना सम्पदा हैं उस ( इदस्य ) परमात्मा का ( रम्य ) रमणीय पेश्य भी ( वृहत् ) बहुत अधिक बढ़ा है।

१ इस्तो इन्द्रे ( ति० ), २ दिव्य सपते ।

५८७—'अभिनि', 'विपुस्य', 'वस्तुन' इति ३० ।

[५८६] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> उदुत्तम वरुण पाशमसद्भात्रम वि मध्यम अधाय ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अधादित्य मते वयन्तवानागसा अदितये स्याम ॥ ४ ॥

अ० १। २४। ५ ॥

भा०—हे ( वरुण ) सर्वव्यापक, सब पापों का निवारक, सर्वश्रेष्ठ परमात्मन् ! ( उदुत्तम ) उत्कृष्ट अपने ( पाश ) पाश प्राकृतिक तन्नामय सात्विक बन्धन को ( उद् अधाय ) उत्तम भोगों द्वारा शिथिल कर और ( अधम ) निरुद्ध तामस, काम माहादि बन्धन को ( अध अधाय ) नीच निरुद्ध कोटि के भोगों द्वारा ढीला कर । और ( मध्यम ) मध्य स्थानीय रातस-बन्धन आवश श्राध लोकैषणा आदि का ( विश्रथाय ) नाना प्रकार के भोगों से शिथिल कर । ( अध ) और ह ( आदि य ) सब को अपने भीतर लेने द्वार ' तजस्विन् ' ( तब व्रत ) तेरी नियम व्यवस्था म ( वय ) हम ( अनागस ) निरपराध निष्पाप होकर ( अदितय ) दीनतारहित होने में ( स्याम ) समर्थ हों ।

[५६०] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> त्वया वयम्पवमानेन सोम भरे कृत विचिनुयाम शश्वत् ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> तन्नो मित्रा वरुणा मामहन्तामादति सिन्धु पृथिवी उत द्यौ ॥ ५ ॥

भा०—हे सोम ! जगदीश्वर ! ( पवमानेन ) समस्त ससार को पवित्र करने द्वारे ( त्वया ) तुम्ह सहायक स ( भर ) फल प्राप्त कराने द्वारे इस जीवन में ( शश्वत् ) निरन्तर ( कृत ) अपने उत्तम किय कर्म ही ( वि चिनुयाम ) विशय रूप से समझ करें । ( मित्र ) स्नेहवान्, ( वरुण ) सब पापों का निवारक ( अदिति ) कभी न खण्डित ज्ञानबला चश्वत् ( सिन्धु ) समुद्र का समान सर्वव्यापक, सब का आश्रय, ( पृथिवी ) पृथिवी के समान सबको धारण करने द्वारा ( उत ) और

( सी ) मूर्धे क समान प्रकाशस्वरूप ( न ) हमें ( तत् ) वह अभिलषित उत्तम फल ( मामहन्ता ) प्रदान कर ।

[५६१] इम वृषणं कृणुनैकमिन्माम् ॥ ६ ॥

भा०—इ प्रणो ! विद्वानो ! ( इम मा ) इस मुझ ( एक ) अच्छे को ( वृषण ) सब सुखों का वर्णन कराने द्वारा ( कृणुत इत् ) बनाओ ।

[५६२] स न इन्द्राय यज्यथ वरुणाय मरुद्भ्यः ।

चारिवाचित्परिच्छेद ॥ ७ ॥ श्र० ६। ६१। १२ ॥

भा०—( स ) यह साम ( न ) हमारे ( इन्द्राय ) पेश्यशक्ति, ( यज्यथे ) जीवनयज्ञ क कर्त्ता ( वरुणाय ) व्यवस्थापक वरुणस्वरूप आत्मा ( मरुद्भ्यः ) और प्राणस्वरूप इन्द्रियों या, भीतरी पञ्च प्राणों के लिये ( चरितोवित् ) हितकारी पदार्थों को दाता होकर ( परि छेद ) हमारे प्रति प्रकट हा ।

[५६३] एता विश्वान्यर्यं शुम्भानि मानुषाणाम् ।

सिपासन्तो वनामहे ॥ ८ ॥ श्र० ६। ६१। ११ ॥

भा०—हे जगदीश्वर ! आप ( भय ) सब क स्वामी ( मानुषाणां ) मनुष्यों के ( विश्वानि ) समस्त ( एता ) य ( शुम्भानि ) धन राज जाति ( आ ) हमें प्राप्त करायें । हम ( सिपासन्तः ) उनके सेवन करने या सब में बाट देने की इच्छा से ( वनामहे ) याचना करते हैं ।

[५६४] अद्भमस्मि प्रथमजा ऋनस्य पूर्वे द्येभ्यो अमृतम्य नाम ।

यौ मा ददाति स इदं मायद्दमधमधमदन्तमग्नि ॥ ९ ॥

भा०—( अहम् ) मैं महान् आत्मा, परमात्मा ( अंतराय ) इस सत् अभिस्वप्न जगत् से ( प्रथमजा ) प्रथम ही हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ ( अस्मि ) हूँ । ( देवेभ्य ) देवताओं, पञ्चभूतों, इन्द्रियों से भी ( पूर्व ) पूर्व में विद्यमान रहा । मैं ही ( अमृतस्य ) कभी विनाश न होने वाला, नित्य आत्मा का ( नाम ) स्वरूप हूँ । ( य ) जो ( मा ) मुझको, मेरे स्वरूप को अग्नियों के प्रति ( एव ) इस प्रकार से ( ददाति ) दान करता अर्थात् जो ब्रह्म या आत्म ज्ञान का उपदेश करता है ( स इत् ) वही ( मा ) मेरी ( आवात् ) रक्षा करता है । ( अहम् अहम् ) मैं अन्न के समान प्राण को धारण कराता हूँ । मैं ही ( अन्नम् ) अन्न रूप से सबका धारण कराता हूँ । मैं ही ( अदन्तम् ) कर्मफल का भोग करने वाले जीवों को ( अग्नि ) अपने में मग्न कर लेता हूँ ।

ब्रह्म की अष्टोपासना उपनिषदों में कही है । 'अत्ता चराचरग्रहणात्' ( वेदा० सू० )

इति दशमी वसतिः । प्रथमः खण्डः ।



॥ २०२१ ॥ अग्नि — १ अक्षरभू । २ पवित्रः । ३, ४ अनुच्छन्दो वैधामिनः ।  
 ५ अथ । ६ गृहसप्तः । ७ सुमेधपुत्रमेधै ॥ देवता-१, २, ४, ७, इन्द्र ५ पञ्च-  
 मान । ६ विधेऽवा । ६ वायु ॥ छन्द-१, ३, ४ ६ गायत्री २ ज्ञानी ।  
 ६ त्रिष्टुप ॥ ७ अनुष्टुप ॥ स्वरः १, ३, ४, ६ षड्ज । २ निषाद । ३  
 धैवतः । ७ गान्धर ॥

२ ३ १ २      ३    २ ३ १ २

[५६५] त्वमेतदधारय कृणुषु रोटिणीषु च ।

१ २    ३ २ ३ १ २

परुणीषु रुगतपयः ॥ १ ॥ अ० ६ । १३ । १४ ॥



भा०—हे धामन्<sup>१</sup> ( त्व ) तू ही ( कृणामु ) प्राणों को कर्षण करने  
 हारी पिङ्गला नाम नादिया और ( राहियोषु ) प्राणों का रोहण, परिवर्धन  
 करने वाली इडा नादियों म और ( परुणीषु<sup>२</sup> ) पौरु २, या अग २ में निवास  
 करनेहारी, ज्ञानवाहिनी चित्कुरुण्डालिनी सुषुम्ना आदि नादियों में ( रशत् )  
 कान्तिमय ( पय ) तेज या रस को मूर्ध क समान ( अधारय<sup>३</sup> ) धारण करता  
 है<sup>३</sup>। सूर्यपक्षमें—कृष्णा=रात्रियें, रेहियो=उषाएँ परुणी<sup>३</sup>=दिन मध्याह्नवत्ता।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 [५६६] अरुरुचदुपस पृश्निरप्रिय उदा । ममति भुवनेषु वाजयु ।  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 मायाविनो मनिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरा गर्भमादधु ॥२॥  
 अ० ६ । ८३ । ३ ॥

भा०—( उपस ) साधक की साधना के अवसर पर त्रिपुरी में  
 प्रकट होने वाली कान्ति का ( पृश्नि ) आदित्य ही ( अप्रिय उदा ) सब  
 स प्रथम सुखों का सेचन करने हारा, ( भुवनेषु ) समस्त प्राणों और प्राण  
 कोशों में ( वाजयु ) बल की कामना करन हारा ध्यानन्धन आत्मा,  
 ( अरुरुचद् ) प्रकाशित होता है । ( मायाविन ) चित्ति शक्ति या प्रज्ञा,  
 प्रेरणा या ज्ञान से सम्पन्न दशरूप इन्द्रिया या अग्नि आदि पाचों भूत ( अत्य  
 मायवा ) इषकी ही माया, प्रकृति, या ज्ञान शक्ति से सम्पन्न होकर  
 ( नृचक्षस ) मनुष्यों के दृष्टा ( पितरा ) सबक पावन करने हारे ( मनिरे )  
 पदार्थों का ज्ञान करत हैं या सृष्टि के पदार्थों की रचना करते हैं और  
 ( गर्भम् ) हिरण्य गर्भस्वरूप विराटरूप को ( आदधु ) धारण करते हैं ।  
 आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में स्पष्ट है । अथात्म में—( पितरा ) प्राणायाम ।

२. द्रष्टव्यं अथावदभिभाष्यभूमिवायाम् श्म मे गङ्गे यमुने शशादिनास्तान्  
 ( प्र० ३० ) । ३१ परम व्याख्यया धटिना ।

६०६—उषा निनेति मुत्तानि शति अ० ।

२ ३ २४ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [५६७] इन्द्र इन्द्र्योः सचा समिश्ल आ वचो युजा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २  
 इन्द्रा वज्री हिरण्ययः ॥३॥ अ० १ । ७ । २ ॥

भा०—( इन्द्र इत् ) आत्मा ही ( वचोयुजा ) वाणीमात्र से योग रखने वाले ( हर्वा ) इरण्य करने वाले अर्थात्, शक्तियों ज्ञान कर्म और इन्द्रियों को ( सचा ) एक साथ ( समिश्ल ) मिला कर रखने वाला है । वही ( वज्री ) संहारक शक्ति से युक्त और ( हिरण्यय ) सूर्य के समान कान्तिमानरूप वाला या स्वतः दित, प्रिय, रमणीय, और गतिशील आत्मा है ।

१ ३ १ २ ३ १ २  
 [५६८] इन्द्र वाजपु नोऽऽ सहस्रप्रधनेषु च ।

३ २ ३ १ ३ १ २  
 उग्र उग्रामिह्लातमि ॥४॥ अ० १ । ७ । ४ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! ( उग्र ) उग्र स्वभाव के धार ( उग्रामि उक्तिभि ) अति बेगवाली शक्तियों द्वारा ( वाजपु ) ज्ञानों और बलों के कार्यों में और (सहस्रप्रधनेषु च) बलशाली सहस्रों अर्थात् के एकत्र होने के अवसरों, या युद्धों में ( न. ) हमारी ( अथ ) रक्षा करो ।

१ २ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 [५६९] प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हवियत् ।

३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 धातुर्थनानात्सवितुश्च रिष्णा रथन्तरमाजभारा वसिष्ठः ॥५॥

अ० १० । १८१ । १ ॥

भा०—( यत् ) जिसके ( प्रथ ) विस्तार करने वाला, प्राण्य और (सप्रथ) उस विस्तार करने वाले का साथी अपान यह दोनों ही ( नाम ) स्वरूप हैं वह ( वसिष्ठ ) मुख्य आत्मा ( आनुष्टुभस्य ) प्रतिदिन स्तवन करने योग्य ( यत् ) जो ( हविष हवि ) ग्रहण करने योग्य द्रव्य हवि का भी हवि, अर्थात् उनाम है उस 'अमृत' ( रथन्तर ) देहरूप रथ को चलाने, प्रेरणा करने वाले मुख्य प्राण्य को ( धातु. ) सबके पालन पोषण करने

हार और ( सवित्रु ) सबके उत्पादक ( दिव्यो ) सर्वव्यापक परमामा के पास स ही ( आ जमार) प्राप्त करता है ।

उ १ २      उ १ २    उ १ ३ १ २  
[६००] निप्रुत्वा-त्रायत्रागत्र शुक्रा अयाभि ते ।

गन्तासि सु-वतो गृहम् ॥ ६ ॥      श० २ । ४१ । २ ॥

भा०—ह ( वाया ) प्राण ' या व्यापक आत्मन् ' आप (वियुत्वान्) नियमकारी यज्ञा स सम्बन्ध ( आ गहि ) इमें प्राप्त हों । ( अय ) यह ( शुक्र ) काग्निमान् सूर्य और इह में वीर्य आज ( ते ) तेरे ( अयाभि ) नियम में बधा है । आर ( सु-वन ) योग साधना करन हार, ( गृहम् ) ग्रहण कान वाल आन्तर इन्द्रिय, मन में भी ( गन्तासि ) प्राप्त होते हैं ।

१ २      ३ १ २      १ ३ २  
[६०१] यज्ञायथा अह्वर्यं मघवन् वृत्रहत्याय ।

तत् पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्रा उतो दिवम् ॥ ७ ॥

श० २ । २६ । ५ ॥

भा०—ह ( अह्वर्यं ) अद्वितीय ' आदि मूलकारण ' इ ( मघवन् ) समस्त विभूतियों के स्वामिन् ' ( यत् ) ता तू ( वृत्रहत्याय ) आवरण कारी तामम घ-घन का नाश करन क लिय ( जायथा ) प्रकट होता है ( तत् ) यह तू ( पृथिवीम् ) इस विशाल भूमि का भी ( अप्रथय ) प्रकट करता है और ( दिवम् उत् ) चौलाक का भी ( अस्तभ्रा ) मध्य आकाश म भीमता है ।

इत् एव गी दशति । इति द्वितीय उच्छ ।

॥ ६० १२ ॥ अग्नि — २, ३, ७, १० नामद्वयः । २, ३ गौतमः । ७ मधुच्छन्दा ।  
 ६ गृन्समदः । ८, ९ भरद्वाजो वाहेस्पत्यः । ११ हिरण्यस्तूप । १०, १३ विधा-  
 मित्रः । दक्षः—१ प्रजापतिः । २, ३ पवमानः । ४—६, १३ वासः । ७ रात्रि ।  
 ८ वैश्वानर । विद्वदेवाः । १० लिङ्गोक्तः । ११ इन्द्रः । १२ सवात्मा । छन्द-  
 २, ७ अनुष्टुप् । २, ३, ४, ६, ९, ११—१३ त्रिष्टुप् । ४ गायत्री । ८ जाती ।  
 १० महापक्तिः । स्वर—१, ७ गान्धारः । २, ३, ५, ६, ९, ११—१३ पैतः ।

४ षड्जः । ८ निषादः । १० पञ्चमः ॥

२ ३ १ ३ २ ३ १ १२ ३ २ ३ १ १२

[६०२] मत्रि चर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पय ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्याभिय दंहतु ॥१॥ अथर्व० ६ । ६६ । ३ ॥

भा०—( परमेष्ठी ) परम, उत्तम स्थान पर स्थित, परमात्मा ( प्रजा-  
 पतिः ) समस्त स्थानर और जंगम प्रजा का पालक ( दिवि ) आकाश में  
 त्रिस प्रकार ( धाम् इव ) सूर्य को स्थित करता है उसी प्रकार ( मयि )  
 मुझ में ( चर्च ) बल, तेज, ( अथो ) और ( यशः ) यश ( अथो ) और  
 ( यज्ञस्य ) आत्मा या परमेश्वर का ( यत् ) जो ( पयः ) मोक्ष नामक  
 परम आनन्दरस है उसको ( दहतु ) नित्य बनाये रखे ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १२ ३ १ २

[६०३] सं ते पयांसि सनु यन्तु याजाः संवृण्वान्यभिमातिपाहः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि अवास्त्युत्तमानि विप्य ॥ २ ॥

अ० २ । ११ । १८ ॥

भा०—हे ( सोम ) परमात्मन् ! ( अभिमातिपाहः ) अभिभाग करने  
 होने पुरखों को दण्ड देने वाल ( ते ) तेरे ( पयांसि ) पोषक ज्ञानरस,  
 ( याजाः ) समस्त पेश्वर्ष और भद्र, ( संवृण्वानि ) समस्त यज्ञ ( सं यन्तु )  
 प्राप्त हों और तू भाव ( आप्यायमान ) स्वयं परिपूर्ण होगा हुआ ( अमृताय )

इस अमृत, जीव के लिये ( दिवि ) मोघरूप स्वर्ग में ( उत्तमानि ) उत्तम ( धवासि ) ज्ञानों, बलों और सुखों को ( धिष्व ) धारण करा ।

५ २ ३ १२ २१ ३ २ १ २ ३ १ ३  
[६०४] त्वमिमा ओषधीः सोमं त्रिभ्यास्त्वमपो अजयनयस्त्वं गाः ।

१२ २१ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ २

त्वमातनारुर्धाश्न्तरित्तं त्व ज्योतिषो वि तमो घवर्थं ॥३॥

श्र० १ । ६१ । २२ ॥

भा०—हे ( सोम ) परमात्मन् ! ( त्व ) तू ( इमाः ) इन ( विधा. ) समस्त प्रकार की ( ओषधी ) ओषधियों, वनस्पतियों को ( अजयन ) उत्पन्न करता है । ( त्वम् अप. ) तू ही समस्त रसों को उत्पन्न करता है । और ( त्वं गा ) तू ही समस्त गौ आदि पशुओं और भूमियों को पैदा करता है । ( त्व ) तू ही ( ज्योतिषा ) सूर्य आदि क प्रकाश से ( तम. ) अन्धकार को ( वि ववर्थ ) विविध प्रकारों से दूर करता है । यथात्मपत्र में—ओषधि—देह । अप—ज्ञान और कर्म । गा—इन्द्रिय, चित्तवृत्तिषा । सोम—आत्मा । तमः—तानस आवाण ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २  
[६०५] अग्निमोडे पुरोहितं यज्ञस्य दनमृधिजम् ।

१ २ ३ १ २

होतारं रत्नधानमम् ॥४॥ न० १ । १ । १ ॥

भा०—( यज्ञस्य देवम् ) समस्त यज्ञों, उपामनाओं के उदास्य देव ( पुरोहितम् ) प्रकाशमान, ज्ञानवान् पूज्य, साक्षीरूप से अन्धकार में दीपक के समान ज्ञान प्रकाश प्राप्त करने के लिये आगे मुल्य स्थान पर स्थापित ( अ-रुधिजम् ) अनुष्ठान आदियों और प्रायों द्वारा पूजनीय, ( होतारं ) सबको धारण करने और सब सुखों को प्रदान करनेवाले, सबके प्रतिपादक ( रत्नधानम् ) समस्त रमणीय पदार्थों को धारण करने वाले, ( अग्निम् ) ज्ञानस्वरूप सबके अग्रणी, प्रकाशक परमात्मा की ( ईडे ) स्तुति करता हूँ ।

१ २ ३ ४ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २  
 [६०६] ते मन्वन् प्रथमन्नाम गोनाभिः सप्त परमन्नाम जानन् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
 ता जानतीरभ्यनूपत सा आविर्भुवन्नक्षणीर्वशसा गात्र ॥ ५ ॥

अ० ४। १। २६ ॥

भा०—( ते ) वे विद्वान् लोग ( गोना ) वेद वाणियों के ( प्रथमं ) सबसे प्रथम, श्रेष्ठ, आदिमूल ( नाम ) उत्पत्ति स्थान को ( मन्वन्त ) मनन करते हैं और वे ( भि. सप्त ) इक्कीस प्रकार से ( परमं नाम ) परम नाम की ( जानन् ) जिज्ञासा करते हैं । ( ता ) वे वाणिया ( जानती ) सब रहस्य जनाती हुई ( साः ) अपनी निवासभूमियों आदि मूत्रकारणों की ( अभिनूपत ) स्तुति करती हैं । और ( यशसा ) तेज से ( अरप्यीः ) अरुण वर्ण वाली, ( गावः ) किरणों के समान वाणियों में ( आविर्भुवन् ) प्रकट होती हैं ।

वाणियों के २१ प्रकार के नाम २१ प्रकार के छन्द हैं जैसे—गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप्, वृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती ये सात । अतिजगती, शकरी, अतिशकरी, अष्टि, अत्यष्टि, छति, अतिछति ये सात । और कृति प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अतिकृति, अह्नि ये सात । सब मिल कर २१ हुए ।

२ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ २

[६०७] समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्धन्नक्षस्पृगन्ति ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

तमू शुचिं शुचयो दीदियासमपात्रपात्रमुपयन्त्याम् ॥ ६ ॥

अ० २। ३६। ३०

६०६—'नाम पेनो' 'सप्त मातुः परमाणि विन्दन्' 'दृग्गान्त्रीरभ्यनूपत सा अवि-  
 भवन्नक्षणीर्वशसा गोः, इति अ० ।

६०७—'अना नपात्र परितस्त्रुपात्र.' इति अ० ।

भा०—जिस प्रकार (अन्याः नद्यः) भिन्न २ नदियों (सं यन्ति) परस्पर मिल जाती हैं और (अन्याः) भिन्न २ नदियों (उपयन्ति) समीप देशों में गमन करती हैं और (समानं) समानरूप से एक ही (ऊर्वं) विशाल समुद्र को (पृणन्ति) भरा करती हैं, उसी प्रकार (आपः) ईश्वर तक को प्राप्त कराने वाली (नद्यः) समुद्र स्तुति वाणियों अथवा आप्त प्रज्ञाप (अन्या) नाना प्रकार की प्राणधारी जीव प्रज्ञाप (सयन्ति) एक साथ मिलजाती हैं और (अन्या उपयन्ति) बहुतसी समीप ही एक प्रकार के धर्म का बोध कराती हैं और (समानम् ऊर्वम्) समान ही रूप से उस विशाल महान् परमेश्वर को (पृणन्ति) स्तुति करती हैं और वे (आपः) ज्ञान और कर्म का उपदेश करने वाली वाणियों (शुच्यः) शुद्ध प्रकाश करनेवाली (तम् उ शुचिम्) उसही शुद्ध पवित्र (दी०देवासम्) देदीप्यमान (अपा नपातम्) समस्त वेद के ज्ञानों और कर्मों के एकमात्र आश्रय ईश्वर को (उपयन्ति) प्राप्त होती हैं । (आपः=वाणियां, युद्धिया, प्रज्ञापं, आप्तजन, लोक, नद्यः=स्तुतिपां, वाणिया, नदिया) ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २२  
[६०=] आप्रागाद्द्रा युवतिरह, केतून्समीर्षति ।

१ २ ३ २ ३ ५ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अभूद्द्रा निवेशनी त्रिभ्वस्य जगतो रात्री ॥ ७ ॥

भा०—(रात्री) सुख के देनेवाली रात्रि के समान प्रह्लादिद्या (विधस्य) समस्त (जगत) जगम ससार का (निवेशनी) आश्रयस्थान और (भद्रा) कल्याणकारिणी है । वह (भद्र) कभी नष्ट न होने वाले, अमर, सूर्य, आत्मा या अमर परमेश्वर की (युवति) उद्यकालीन सूर्य के साथ सगत उषा और तेजस्वी पुरुष के सग ही के समान ही सदा ससंगति करानेवाली, (भद्रा) साधकों को सुख देनेवाली (आ) सब और

( प्रागात् ) प्रकट होती है और ( कंग् ) किरणों के समान ज्ञानों को ( सम् इति ) प्राप्त कराती है ।

[६०६] <sup>३ २ ३ १ २</sup> प्रहस्य घृष्णो <sup>३ २ ३ २ ४</sup> अरुपस्य <sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> नू मड प्र नो वचो विदधा  
<sup>३ १ २</sup> जातयेदमे । <sup>३</sup> वैश्वानराय <sup>१ २</sup> मतिर्ग्रह्यसे <sup>३ १ २ २ ३</sup> शुचिः <sup>२ ३</sup> सोम इव  
<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> पवने चारुग्रये ॥ ८ ॥ अ० ६। ८। १ ॥

भा०—( प्रहस्य ) सय के भीतर सम्पर्क करने द्वारे, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, ( घृष्णः ) सुखों के वर्षक, ( अरुपस्य ) कान्तिमान्, ( जात-वेदसे ) समस्त पदार्थों के जाननेद्वारे परमेश्वर क ( मड. ) पूजनीय भेज को ( विदधा ) ज्ञान काल में, या वज्र में ( न' ) हमारी ( वच. प्र ) वाणी उत्तम रूप से वर्णन करे, ( नव्यसे ) स्तुति करने योग्य ( वैश्वानराय ) समस्त भगों में नाना प्रकार से व्यापक ( अग्रये ) उस ज्ञानस्वरूप, सबके अप्रणी, परमात्मा के लिये ( शुचिः ) शुद्ध, ( मतिः ) ज्ञान, संकल्प, ( सोम इव ) प्रेरक प्रधानन्द के समान ( चारु. ) चापन्त उत्तम रूप में ( पवते ) प्रकट होता है ।

[६१०] <sup>१ २ ३ ३</sup> विश्वे देवा मम शृण्वन्तु <sup>३ २ ३ १ २ २ २</sup> यश्चमुभे रादसी <sup>३ १ २ २ ३</sup> अपात्रपाच्च  
<sup>१ २ ३ ३ १ २</sup> मग्मः । मा वो वचांसि <sup>३ १ २</sup> परिचक्ष्याणि <sup>३ ३ २ ३</sup> घोचं <sup>३</sup> सुम्नेष्विद्वो  
<sup>१ २</sup> अन्तमा मदेम ॥ ९ ॥ अ० ६। ९। १४ ॥

भा०—हे ( विश्वेदेवाः ) समस्त दिव्यगुण सम्पन्न विद्वानो ! आप लोग ( मम ) मेरे ( म-म ) मनन करने योग्य ( यश्चम् ) इष्ट उपासना को ( शृण्वन्तु ) सुनो । यह ( उभे रादसी ) वी और पृथिवी दोनों लोक और ( अपा नवात् च ) समस्त प्राणियों, पशुओं और कमों का आश्रय ईश्वर भी उसको श्रवण करता है । ( व. ) चापके ( वचांसि ) वचनों को ( मा









( पवसा ) अन्न, ज्ञान, पुष्टिकारक पदार्थ के साथ ( रयि ) जीवन और ( वषः ) बल और कान्ति, रक्षा सामर्थ्य ( अद्वा ) प्रदान कर ।

३ १२ १२ ३ १२ २२  
[६१६] वसन्त इक्षु रन्त्यो ग्रीष्म इक्षु रन्त्यः ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२  
वर्षायनु शरदो हेमन्तः शिशिर इक्षु रन्त्यः ॥ २ ॥

भा०—( वसन्त इत् ) वसन्त ही ( नु ) निश्चय से सम्यक् करने योग्य है । और ( ग्रीष्म ) ग्रीष्म भी ( इत् नु ) निश्चय से ( रन्त्य ) आनन्द प्राप्त करने योग्य है । ( वर्षाणि ) वर्षाकाल और ( अनु शरदः ) बाद में आने वाले शरत् के दिन और ( हेमन्तः ) हेमन्त और ( शिशिर ) शिशिर ( इत् ) ये सभी ( नु ) निश्चय से ( रन्त्यः ) जीवन का आनन्द प्राप्त करने के लिये ही हैं ।

अनुनासों से ईश्वर को याद किया गया है । ( वसन्त ) सब प्राणियों को बसाने द्वारा वह परमात्मा ( इत् नु ) ही तो केवल ( रन्त्य ) आनन्द प्राप्त करने योग्य है । ( ग्रीष्मः ) सबको आस करने द्वारा परमात्मा भी आनन्द ही देता है । ( वर्षाणि ) सब सुखों की वर्षा करने वाली ( अनु शरदः ) तथा उनके समान ही सब दुखों का नाश करने वाली शक्तियों और ( हेमन्तः ) सब पशुओं को भेराया या ताड़ना करने वाला और ( शिशिर ) शरीर : २ अत्यन्त पदार्थ की आयुबल और शरीर को पिसाने वाला काल रूप परमात्मा ( इत् नु ) ही ( रन्त्य ) एकमात्र आनन्द प्राप्त करने वाला है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
[६१७] सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

१२ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
स भूमि सर्वतो वृत्यान्यतिष्ठद्दण्डगुलम् ॥३॥

अ० १०।२०।४० अनु० ३१।४॥

६१०—'स भूमि विररता वृशा' इति अ० । 'सर्वतो वृशा' इति पाठः ॥  
६११—'सहस्रशीर्षा' इति अनु० ।

भा०—( सहस्रशीर्षा ) सहस्रों शिरों वाला, ( सहस्राक्ष ) हजारों आँखों वाला, ( सहस्रपात् ) हजारों पैरों वाला, ( पुरुष ) पुरुष, ईश्वर विशाट् ( स ) वह ( भूमिम् ) प्रह्लाण्ड नामक भुवन को (यत्वा) धरकर, व्याप्त होकर और भी ( दशाङ्गुलम् ) दश अङ्गुल अर्थात् दशों दिशाओं से भी ( अति अतिष्ठत् ) परे तक विरानमान है ।

१० अङ्गुल-परमात्मा के दशों दिशा में फैलने वाली व्यापक शक्ति-या हैं । आत्मपद में भूमि नाभि, दश अङ्गुल दश इन्द्रिय । सर्व व्यापक सर्वान्त्यामी और सब का नियामक होने से समस्त प्राणियों क लक्षों शिर, आँखों और पैरों को लक्ष्य करके ईश्वर का सहस्रशीर्षा आदि विशा पयों से गौण रूप से दर्शाया है । अथवा प्रह्लाण्डगत नाना दौलाक उस के शिर हैं, प्रकाशमान नाना सूर्य उसकी चक्षुषु और नाना वास धाम्य भूमिया उसके चरण हैं ।

३ २ ३ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[ ५१८ ] त्रिपाद्वृत्त उदैत् पुरुष पादोस्यद्वाभयत्पुन ।

२ ३ २ ३ ४ २ २ ३ २ ३ २

तथा त्रिपद् व्यक्तमदशनानशन अभि ॥ ४ ॥

श्र० १० । ६० । ४ । यजु० ३१ । ४ ॥

भा—( पुरुष ) इस महान् प्रह्लाण्डरूप पुर म शयन करने द्वारा सर्व-व्यापक, परमात्मा ( त्रिपात् ) सत्, चित्, आनन्दस्वरूप ( उदैत् ) सबसे उत्कृष्ट हाकर सब पर चश किये हुए अधिष्ठाता क समान होकर वर्तमान है । ( अस्य ) इसका ( पाद ) ज्ञान और क्रियारूप शासन ही ( इह ) इस प्रह्लाण्ड पर ( पुन ) बार बार ( अभवत् ) सत्तारूप में प्रकट होता और विलीन होता है । ( तथा ) और वही ( विधत् ) सर्वत्र ( अशनानशन अभि ) भोजन करने द्वारे प्राणियों और न भोजन करन द्वारे स्थावर, जड़ पदार्थों में भी ( वि प्रह्लाम् ) व्यापक है ।

[६१६] <sup>१ २ ३ २३ ३ २ ३ २३ ३ १ २</sup> पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतम् यच्च भाव्यम् ।

<sup>१ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥५॥

अ० १० । ६० । २ पूर्वार्धे, ३ उत्तरार्धे, यजु० ३१ । २ पू० । ३ उ० ॥

भा०—( यद् भूत ) जो अबतक उत्पन्न जगत् है, ( यत् च भाव्यं ) और जो भविष्यत् काल में उत्पन्न होने वाला जगत् है ( इदं सर्वं ) यह सब ( पुरुष एव ) पुरुष ही है । अर्थात् ( सर्वा ) समस्त ( भूतानि ) उत्पन्न हुए पदार्थ और प्राणिमण्य ( अस्य पाद. ) इसके चरण हैं, इससे श्याम हैं या इसके एक चतुर्थांश हैं, या कार्य होने से उस प्रभु स्वामी के ज्ञापक हैं । और ( अस्य त्रिपाद् ) इसके तीन चरण ( दिवि ) अपने प्रकाशस्वरूप में ( अमृतं ) विनाशरहित, अमृतरूप सत्, चित्, आनन्द हैं । अर्थात् कार्यरूप जगत् विकार को प्राप्त होता है । वह मझ का एक पाद है और अमृतस्वरूप मीन शशिषां सत्, चित्, आनन्द यह उसके निज अमृत, अविनाशी, अविकारी कारणस्वरूप है ।

<sup>१ २ ३ २३ ३ १ २ ३ १ २</sup> [६२०] तावानस्य महिमा ततो ज्यायाश्च पूरुषः ।

<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>

उतामृतत्वस्येशानो यदधेगानिरोहति ॥ ६ ॥

अ० २० । ६० । ३ ॥ यजु० ३१ । ३ पू०, २ उ० ॥

भा०—( तावान् ) इस संसार में जितना ( अस्य ) इस जगत् का ( महिमा ) विस्तार है ( ततः ) उससे भी ( ज्यायां ) यद्वा यह ( पूरुष ) पुरुष परमेश्वर है । ( उत ) और वही ( अमृतत्वस्य ) इस समस्त जीव संसार का ( ईशानः ) स्वामी है ( यत् ) जो ( अधेन ) अन्न या कर्मफल भोग के द्वारा ( अनिरोहति ) मूल कारण से कार्य को उत्पन्न करता है अर्थात् संसार को उत्पन्न करता है ।

१ २ २ १ २      ३ २ ३ २ ३ १ २  
 [६२१] ततो विराडजायत विराजो अथि पुरुषः ।

२ ३ १ २    २ २      ३ २    ३ १ २ ३ २  
 स जानां अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ७ ॥

अ० १० । ६ । २ ॥ यजु० ३ । ५ ॥

भा०—( ततः ) उस पुरुष से ( विराट् ) हिरण्यगर्भ नामक महा-  
 राड ( अजायत ) उत्पन्न हुआ । ( विराजः अथि ) उस विराट् से ( पुरुषः )  
 पुरुष, जीव उत्पन्न अर्थात् प्रकट हुआ, ( सः ) वह विराट् ही ( अति  
 अरिच्यत ) सपसे बढ़ा रहा । ( पश्चात् ) उसके पश्चात् उसने ( भूमिम् )  
 इस भूमि को और ( मथो पुरः ) इन देहों को या इन सौर जगत्तों को भी  
 उत्पन्न किया ।

१ २      ३ १ २    ३ १ २ २ २      ३ १ २  
 [६२२] मन्ये वां चावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेधाममितम-  
 १ २ २ २    १ २      ३ १ २      ३ १ २    २ २      ३  
 भियोजनम् । चावापृथिवी भवतं स्यान्ते ते नो मुच्यत-  
 १ २      भवतं ॥ ८ ॥      अथर्व० ४ । २१ । १ ॥

भा०—हे ( चावापृथिवी ) सबको प्रकाश देनेहारें गुरो ! सृष्टि के स-  
 मान प्रकाशक परमात्मन् ! और पृथिवी के समान विस्तृत विशाल प्रकृति !  
 मैं ( वाम् ) आप दोनों को ( सुभोजसौ ) उत्तम पालन करने वाले ( मन्थे )  
 मानता व जानता हूँ । आप दोनों ( अमितं ) अपरिमित अनन्त ( योजनं )  
 इस संसार को ( अप्रथेधाम् ) विस्तृत कर रहे हो । हे ( चावापृथिवी )  
 पूर्वोक्त पुरुष और प्रकृति ! आप हमारे लिये ( स्यान्ते ) सुखकारक ( भवतं )  
 होओ । ( ते ) वे दोनों आप ( नः ) हमें ( अहसः ) पाप से ( मुच्यतम् )  
 मुक्त करो ।

६२२—“मन्ये वा वावा”... ममिता योयानि । प्रथेधे अभवत् अथो ते नो”

इति अथर्व० ॥

[६२३] <sup>१ २</sup> हरी त <sup>३</sup> इन्द्र <sup>१ २ ३ १ २ ३ २ ३, १ २</sup> श्मश्रूयुना त <sup>१</sup> हारता <sup>२</sup> हरी ।

<sup>३ १ २</sup> तन्वा स्तुवन्ति <sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> कथयः पुरुषासा वनगवः ॥ ९ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवन् ! ( ते ) तेरा ( श्मश्रूयि ) किरणों ( हरी ) हरणशील, सर्वव्यापक है ( उत उ ) और ( ते हरी ) तरे गतिमान् अथ, प्राण और अपान ( हरितौ ) सब शरीरों को गति में रखने वाले व सर्वत्र विद्यमान हैं । ( तं त्वा ) उस परम स्मरणाय तुम्हको ( वनगवः ) सुन्दर घाणियों वाले ( कथयः ) मेधावी ( पुरुषासः ) पुरुष ( स्तुवन्ति ) स्तुत करतें हैं ।

[६२४] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ २ ३ १ ३ २</sup> यद्वाचो हिरण्यस्य यद्वा <sup>३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २</sup> वचो गवामुत ।

सत्यस्य ब्रह्मणो वचस्तेन मा ससृजामसि ॥ १० ॥

भा०—( हिरण्यस्य ) हरणशील मन, सुवर्ण या सूर्य का ( यद् वचः ) जो बल, तेज है ( उत वा ) और ( यत् ) जो ( वच ) तेज, बल ( गवां ) इन्द्रियों का या किरणों का है और जो ( वचः ) तेज ( सत्यस्य ) सत्यस्वरूप ( ब्रह्मणः ) वेद का है ( तेन ) उससे हम ( मा ) अपने आत्मा को ( ससृजामसि ) युक्त करें ।

[६२५] <sup>१ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अहस्तत्र इन्द्र ददयाज इमे <sup>२ ३ १ २</sup> ह्यस्य महतो <sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> विरापिणः ।

<sup>२ ३ १ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> कर्तुं न नृमण्यं मथावरुच्य याज नृमपु शश्रूग्मसहना कृधीनः ॥ ११ ॥

भा०—हे ( इन्द्र ) परमात्मन् ! हे ( विरापिणः ) हे सत्यज्ञानमय ! ( नः ) हमें ( तत् ) वह ( सद्. ) बाधक, शोषों को श्वासे वाला सदन बल और ( याजः ) तेज, पराक्रम ( शब्दे ) प्रधान कर्म जिसमें आप ( अस्य महतः ) हम महान् ससार पर ( ईश ) प्रभुता करत हो । हे ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवन् ! स्वामेन् ! ( नः ) हमारे आप ( कर्तुं न ) कर्म के समान ही ( नृमण्य ) उपभाग योग्य धन धान्य और ( स्यविरम् ) स्थिर ( वाज ) बल, अथ और



पेश्यं ( कृधि ) करो और ( न ) हमारे ( सहना ) हृदियारों वाल  
 हिसक ( शत्रू ) शत्रुओं को ( वृत्रपु ) नाना विघ्नों में ( कृधि ) डाल ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[६२६] सहर्षमा सहवत्सा उदेत त्रिभवा रूपानि त्रिभ्रन्तीर्द्विभ्यूमी ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

उरु पृथुरय चो अस्तु ताक इमा आप सुप्रपाणा इह स्त ॥१२

भा०—हे गौधा ! आप (सहर्षमा) साड़ों के साथ और (सहवत्सा)  
 बड़ों के साथ (द्विभ्यूमी) दाहर स्तनमण्डल का चढ़न करती हुई  
 (त्रिभवा) नाना प्रकार के (रूपानि) रूप (त्रिभ्रन्ती) धारण करती हुई  
 (उत्पेन) उद्यत का प्राप्त हाधा । (अयं लोक) यह लोक (व) तुम्हारे  
 लिये (उरु पृथु) खूब बड़ा विशाल (अस्तु) रहे । (इमा) ये (आप)  
 जल (सुप्रपाणा) उत्तम पान करने वाले स्थानों से साग्जित रहे । (इह  
 स्त) तुम यहा रहो । शरिमयों के पक्ष में अक्षय्य सूर्य, वसु प्रहादि धार  
 रस धारण करन हार दा ऊधम मेघ और पर्वत हैं । इन्द्रियों के पक्ष में—  
 अक्षय्य आत्मा परमात्मा । वसु-मन, दा ऊधस् ज्ञान धरे कर्म, आप -  
 प्रज्ञान और लोक ।

इति त्रयोऽशी दशति । अतुथ लक्षण ।



। द० १४ ॥ अपि — १ वैश्वानर । विभ्रात् मूलपुत्र । २ कुस । ४-६ नापे  
 राक्षी । ७ १४ प्रस्वणव वाणव ॥ १७-१ ७ वि समान । २-१४

सुर ॥ १४ २ चण्डी । ३ त्रिभ्रुव । १ ४ १४ गायत्री ॥ स्वर

१ निवा । ३ धवन । १, ४ १० ४ २ ॥

३ २ १ २ ३ २ ० २ ३ १

६०७] अग्नि आयूरे परम आत्मानर्जमि र च न ।

३ १ २ २ १ २

आरे वाप्रस्य दुष्टताम् ॥१॥ द० ६ । ६६ । १ ॥

भा०—हे ( अग्ने ) ज्ञानवन् ( न ) हमें ( आयुषि ) आयु ( पयस ) प्रदान कर । ( न ) हमें ( ऊर्जम् ) बल और ( ह्य ) अन्न ( च ) भी दे । ( दुष्ट्यनाम् ) बुरे पागल कुत्तुर के समान लाभ और क्रोध से अन्ध पुरुषों को ( धार ) दूर ही । बाधस्व ) पीड़ित कर ।

३ २ २ ३ १ २      ३ २ ३      ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६२८] विभ्राद् वृहत्पियतु साम्यमध्यायुर्द्वयश्रपतायपिडुतम् ।

१ २      ३ १ २ ३ १ २ ३      १ २      ३ १ २      ३ १ २

वातजूतो या अनिरक्षति त्मना प्रजा अपर्षति बहुधा

विराजति ॥२॥ अ० १०। १७०। १ ॥ यजु० ३१। ३० ॥

भा०—( विभ्राट ) विशपरप स देखीप्यमान सूर्य क समान स्वत प्रकाश, परमात्मा ( वृहत् ) बड़ा भारी । साम्य ) उत्पादक और मेरक गुणों से युक्त ( मधु ) जलिनरस को ( पिषतु ) पान अर्थात् अपन भीतर धारण कर । और ( पशवौ ) यज्ञ जीवनयज्ञ या अन्य देवपूजा आदि सस्कर्मों क अनुष्ठानता पुरष को ( अविहुनन् ) सरल, अकुटिल धर्मिक ( आयु ) जीवन् ( दधन् ) धारण कराता है । ( य ) जो परमात्मा ( वातजूत ) वात, वायु क समान गतिम न् शक्तियों स युक्त होकर ( त्मना ) स्वयं ( प्रजा ) प्रजाओं को ( अभि रक्षति ) रक्षा करता है, ( विपर्षि ) पालन पोषण करता है और ( बहुधा विराजति ) बहुत प्रकारों स सबके ऊपर शासक रूप से विराजमान है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६२९] विभ्रं देवानामुद्गादनीकञ्चलुमिषस्य चक्षुभ्याम् ।

१ ३ १ २      ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २      ३ १ २ २ ३ १ २

आप्रा चावापृथिरी अन्तरिक्षा सूर्य आत्मा जगनस्तस्थुपथ ॥३॥

अ० १। ११। १२। १ ॥

भा०—( देवाना ) दिव्यगुण वाले विद्वानों और सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि वसु और प्राण्यदि रदों और १२ अक्षियों क ( अनीक ) प्राण,

बल देनेहारे, प्रमुख ( चित्र ) पूजनीय, ( मित्रस्य ) स्नेहवान्, ( धरणस्य ) पापनिवारक ( अग्नेः ) प्रकाशस्वरूप लोकों के ( चक्षुः ) प्रकाशक या दृष्टा और ( आवापृथिवी ) द्यौलोक, पृथिवीलोक और ( अन्तरिक्ष च ) अन्तरिक्ष का भी ( आत्मा ) व्याप्त करनेहारा ( जगत ) जगत् ससार और ( तस्युप च ) स्थावर ससार का ( आत्मा ) गति देनेहारा, उनका आत्मास्वरूप अधिष्ठाता, ( सूर्य ) सबका प्रेरक और उत्पादक है ।

५२ २२ ३१ २३ ३१ २३ १  
[६३०] आयङ्गौ पृश्निरङ्गमीदसदन्मातरउपुर ।

३१ २ ३१ २  
पितरञ्च प्रयन्त्स्य ॥ ४ ॥

शु० १० । १८६ । १ ॥ यजु० ३ । ६ ॥

भा०—( अय ) वह ( गौ ) गमनशील, सर्वप्रणायक या वेदवाणीस्वरूप, ( पृश्नि ) सर्वान्तर्यामी समस्त ससार के तेज पुञ्जों को स्पर्श करनेहारा, ( पुर ) साक्षात् ( आ अङ्गमीन् ) प्रकट होता है । और ( मातर ) ज्ञान क प्राप्त करने हारे ज्ञाता के ( पुर ) समष्ट ही ( असदत् ) विराजता है और ( पितर ) अपनी प्रजाओं और तारुमानीय इन्द्रियों के पालक को भी ( स्य ) सुखस्वरूप होकर ( प्रयन् ) प्राप्त होता है ।

जिस प्रकार सूर्य, पृथिवी, मातापिता और अन्तरिक्ष में व्याप्त है उसी प्रकार परमेश्वर विद्वानों और प्रजापालकों के हृदय में प्रकट होता है । ये ईश्वर के प्रेम से प्रजा का पालन और उपकार करते हैं ।

२ १ २ ३ २ ३ १ १ ३ २  
[६३१] अन्तश्चरन्ति रोचनाभ्यघ्राणादपानती ।

१२ ३१ २२  
व्यल्पन्माहिषो दिनम् ॥ ५ ॥

शु० १ । १८६ । २ ॥

भा०—( अस्य ) इस परमेश्वर की ( रोचना ) सबको रचिकर, प्रेम मयी दीप्ति ( प्राणद् ) प्राण प्रदान करती हुई ( अपानती ) प्राण वायु को बाहर करती हुई ( अन्त ) देह के भीतर ( घ्रात्रि ) गति करती है,

कर्मफल-भोग करती है । ( मद्दिष ) यह महान् परमात्मा ( दिवन् )  
सूर्य को भी ( वि प्रलयत् ) प्रकाशित करता है ।

३ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३२] त्रिशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

प्रति वस्तोरह शुभि ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १८६ । ३ ॥

भा०—वह परमात्मा ( वस्तो ) दिन के ( त्रिशद् धाम ) तीसों  
स्थान, तीसों घड़ियों तक ( शुभि ) दीक्षियों से ( विराजति ) हृदय में विरा-  
जता है । ( वाक् ) यह वेदवाणी, उसी ( पतङ्गाय ) सर्वव्यापक ईश्वर के  
द्विये ( प्रति धीयते ) प्रत्येक पुरुष द्वारा मनन करने योग्य है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३३] अप त्य तायथो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभि ।

१ २ ३ १ २

सूराय विश्वचक्षसे ॥७॥ ऋ० १ । ५० । २ ॥

भा०—( यथा ) जिस प्रकार ( अक्तुभि ) रात्रियों के साथ २ ( न-  
क्षत्रा ) नक्षत्र ( विश्वचक्षसे ) सब के दर्शक, प्रकाशक, ( सूराय ) सूर्य के  
कारण ( अप यन्ति ) ताप को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार हे परमात्मन् !  
( विश्वचक्षसे सूराय ) समस्त प्राणियों के प्रकाशक, सब क प्रेरक आपक  
उदय होने के कारण ( त्य ) वे ( तायथ ) हृदय के घोर काम, शोष,  
लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि भीतरी पाप ( अप यन्ति ) दूर भाग  
जाते हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[६३४] अदृधन्नस्य केतवा वि रश्मयो जर्नो अन्तु ।

१ २ ३ १ २

आजन्तो अग्नयो यथा ॥८॥ ऋ० १ । ६० । ३ ॥

भा०—( आजन्तो ) प्रकाशमान् ( अग्नय ) तेजस्वी ज्ञानी पुरुष  
( यथा ) जिस प्रकार सब प्राणियों पर दृष्टि रखते हैं उसी प्रकार ( अन्तु )

इस परमह्य परमेश्वर के ( कतव ) ज्ञान कराने वाले ( रश्मय ) किरण ( जनान् धनु ) जन्म लेने वाले प्राणियों को ( अदृग्धन् ) बराबर देखते हैं ।

३ १ २ ३ १ २

५ १ २

[६३५] तरणिविश्वदर्शनो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।

२ ३ १ २ ३ २

विश्वमाभासि राचनम् ॥१॥ ऋ० १ । २० । ४ ॥

भा०—दे ( सूर्य ) सबके प्रेरक परमात्मन् । आप ( तरणि ) सबको इस भवबन्धन के पार तारने वाले, ( विश्वदर्शत ) समस्त सत्ता में एकमात्र दशनाय ( ज्योतिष्कृद् ) समस्त सूर्य आदि प्रकाशमान ज्योनियों को पैदा करने वाले, ( असि ) हैं । आप ही ( विश्व ) समस्त ( राचन ) मनाहर कान्तिमान् सुन्दर पदार्थों का ( आभासि ) प्रकाशित करत हा । सूर्य एक सैकण्ड में २२०० यात्रन जाने स्य और रोगों स पार करने के कारण 'तरणि' और प्रदों का प्रकाशित करने वाला होने से 'ज्योतिष्कृद्' कहात्ता है ।

५ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २

[६३६] प्र यद् दृजाना विज प्रत्यङ्मुदेपि मानुषान् ।

३ १ ३ ६ १ २ ३ २

प्रत्यङ् विश्व स्वर्द्धजे ॥१०॥ ऋ० १ । २० । ५ ॥

भा०—हे परमेश्वर । आप ( देशाना ) विद्वानों प्राणों और सब सूर्य चन्द्रादि दिव्य पदार्थों के ( विश्व ) भीतर निवास करने वाली प्रजाधों के ( प्रत्यङ् ) सामने और ( मानुषान् ) मानव करन हार प्राणियों के ( प्रत्यङ् ) सम्मुख और ( स्व ) यौलोक आनन्दमय माण्ड के ( पुरा ) दर्शन करने के निमित्त ( विश्वम् ) समस्त सत्ता के ( प्रत्यङ् ) प्रति ( उद् एपि ) उदय का प्राप्त होत है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[६३७] येना पारक चक्षसा भुरगयन्त जर्ता अन्तु ।

१ २ ३ १ २

स्व घृण्य परपत्ति ॥११॥ ऋ० १ । २० । ६ ॥

भा०—हे ( पावक ) सबको पवित्र करनेहारे ! हे ( वरुण ) सब अनिष्टों का वारण करने हारे परमात्मन् ! ( येन ) जिस ( चक्षुषा ) चक्षु से ( जनान् ) जन्तुओं को ( भुरग्यन्तं ) भरण पोषण करने हारे तुमको हम देखते हैं उसी प्रेममय चक्षु से ( त्व ) तू समस्त जीवों को ( पश्यसि ) देखता है ।

११ २२ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[ ६३८ ] उ दामेपि रज पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः ।

<sup>२ ३ १ २</sup> पश्यज्जन्मानि सूर्य ॥ १२ ॥ अ० १ । ५० । ७ ॥

भा०—हे ( सूर्य ) सबके प्रेरक, उत्पादक परमेश्वर ! ( अक्तुभिः ) व्यापनशील, शक्तियों द्वारा ( पृथु ) विशाल ( रज. ) समस्त लोकसमूह को ( ग्रह ) और ( दाम् उ ) समस्त सूर्य और चौलोक के भी ( जन्मानि ) जन्म देने वाले समस्त पदार्थों और प्राणियों को ( पश्यन् ) देखता ( एपि ) रहता है ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ १ १ २  
[ ६३९ ] अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरौ रथस्य नप्यः ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> ताभिर्थाति स्वयुक्तिभिः ॥ १३ ॥ अ० १ । ५० । ९ ॥

भा०—( सूर ) सबको प्रेरणा करने द्वारा परमात्मा ( रथस्य ) सब देहों में आत्मा के साथ ( शुन्ध्युवः ) शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने वाली, ( नप्यः ) कुमार्ग पर न गिराने वाली इन्द्रियों को ( अयुक्त ) जोड़ देता है और ( ताभिः ) उन द्वारा ही ( स्वयुक्तिभिः ) अपनी शक्तियों के द्वारा ( याति ) वह सर्वत्र व्यापक है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
[ ६४० ] सप्त त्वा हरिता रथे वहन्ति देव सूर्य ।

<sup>३ १ २</sup> शौचिर्केशं विचक्षण ॥ १४ ॥ अ० १ । ५० । १० ॥

भा०—हे (स्यं) सबके प्रेरक और उत्पादक ! हे (देव) प्रकाश-  
मान ! हे (विषय) सबके आत्मन् ! (स्ये) इस शरीररूप रथ में  
(त्वा) मुझको (शोचिश्केशं) कान्तियुक्त किरणों वाले (सप्त हरितः) सात  
ज्ञान प्राप्त कराने वाले हृन्दिगण्य (वहन्ति) धारण करते हैं अर्थात् वे तेरी  
शक्ति से अनुप्राणित हैं ।

इति चतुर्दशी दशति. । पञ्चमः खण्डः ।

इति पशुः प्रयाठकः समाप्तः ॥

इति पद्योऽध्यायः । इत्यारण्यकं काण्डम् ।

इति सामवेद-संहितायां पूर्वार्चिकः समाप्तः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालकारपदवीविभूषितेन भीमासावीर्षोपाध्यतकृत्वेन श्री पण्डितदयदेव-  
शर्मणा विरचिते सामवेदस्थालोकभाष्ये आग्नेयेन्द्रपावमानारण्यककाण्डचतुष्टयात्मकः  
सामवेदसंहितायां पूर्वार्चिकारूपो भागः समाप्तः ।



ओ३म्

## अथ महानाम्न्यार्चिकः \*

प्रजापतिर्ऋषिः । इन्द्रश्चैत्रलोकायाम्ना देवता ।

[१]

[६५१] विदा<sup>३ १ २</sup> मघवन्<sup>३ २ ३ १ २ २</sup> विदा<sup>३ १ २</sup> गातुमनुशंसिषो<sup>३ १ २</sup> दिशः ।

शिला<sup>१ २</sup> शचीनाम्पते<sup>३ १ २</sup> पूर्वोणाम्पुरुषसो ॥१॥

[६५२] आभिन्वमभिष्टिभिः<sup>३ २ ३ १ २ ३</sup> स्वाऽश्चोणुः<sup>२ २</sup> ।

प्रचेतन<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २</sup> प्रचेतयेन्द्र<sup>३ १ २ ३ २</sup> सुम्नाय न इपे ॥२॥

[६५३] एवा हि शको राये वाजाय वाज्रिव ।

शविष्ठ<sup>१ २</sup> वाज्रिन्नृजसे<sup>३ २ ३ १ २</sup> महिष्ठ<sup>३ २ ३</sup> वाज्रिन्नृजसे ।

आ याहि<sup>१ २ ३ १ २ १ २</sup> पिव मत्स्व ॥३॥

मा०—(१) हे मघवन्! परमेश्वर! (विदा) आप सब कुछ जानते हैं ।  
सनः ( गातुं ) मार्ग को (विदा) आप प्राप्त करावें, आप (दिशः) दिशाओं  
का ( अनुशंसिषः ) उपदेश करें, हमें लक्ष्य तक पहुँचने की दिशा दर्शावें।  
हे ( पूर्वोणा ) पूर्ण ( शचीना ) शत्रियों के ( पते ) स्वामिन् ! हे ( पुरु-  
षसो ) समस्त प्रजाधों के भीतर बसने और उनको बसाने वाले ! या  
अति अधिक धन सम्पन्न ! (शिष्ठ) हमें शिक्षा करो, नियमों का उपदेश करो

\* अथमार्चिकः ननु इन्द्रमार्चिकं नास्तुत्तरार्चिकं । सर्वत्र एवमत्र पूर्वोत्तरयोर्मध्ये  
पठित्वात्परिशिष्टमिति चेत्त्रि । तदुक्तम् । सर्वत्र सामसहितान्तु लघोपलब्धे । यद्ये  
च होतुः कृष्टेऽन्व विनियोगदर्शनाच्च । १. सोममर्गाया अस्याश्वर्वाः सामगे सगडवय  
कृतम् । सत्र प्रथमे आजपाद्द्वयमुपमार्गे द्वितीये मध्यमपाद्द्वयमुपमार्गे तृतीये चान्निमपाद्  
उपमार्गे । शेषैः सप्तभिः पारैरष्टाधरैः षड्पचाशदशरा शशरी पूर्वते । सर्वत्र रेखाङ्कित्याः  
पादा उपसर्गाः सेयाः ।



( २ ) हे प्रैलोभ्यते ! हे ( प्रघतन ) उ कृष्ट चेतनासम्पन्न !  
 विभ्रमय जगदीश्वर ! हे ( इन्द्र ) परमैश्वर्यवन् ! आप ( स्व न ) सबको  
 प्रेरणा करने वाले सूर्य के समान ( अयु ) सर्वव्यापक, ( आभि ) इन  
 ( अभिष्टिभि ) अभीष्ट उपासनाओं से ( इषे ) सब और जीवन प्राप्त  
 करने क क्षिय और ( शुभ्नाय ) ज्ञानस्वरूप प्रकाश प्राप्त करने के लिये ( न )  
 हमें ( प्रघतय ) उत्तम रीति से ज्ञानवान् करो ।

( ३ ) हे ( महिष्ठ ) सबसे बड़े दाता और पूता  
 के योग्य ! हे ( वज्रिव ) पापों का वर्जन करने वाले, ज्ञान से सम्पन्न !  
 आप ( शक्र ) शक्तिमान् ( एव हि ) ही हैं । अत हे ( शविष्ठ ) सबसे  
 अधिक बलशालिन् ! सर्वव्यापक, वज्रिन् ! आप हमें ( रावे ) धन, ज्ञान,  
 शक्ति, तंज और ( वाजाय ) बल, अथ क निमित्त ( अय्यसे ) समर्प  
 करो । हे वज्रिन् ! ( अय्यस ) आप हमें समर्प घनाओ । ( आयादि ) आप  
 हमारे हृदय में प्रकट होओ । ( पिब ) यह ज्ञान, स्तुतिमय भस्त्रिरस मेरे  
 हृदय पात्र में से पान करो या स्वीकार करा ( मारव ) और धानन्दमय  
 हाकर विराजा ।

[ १ ]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 [ ६४४ ६५६ ] विश रावे सुधीत्यम्भरा वाजानाम्पतिर्यशो अनु ॥

१ २ ३ १ ३ १ २ १ २ ३ १ २  
 महिष्ठ वज्रिन्वज्रमे य शत्रुश्च शुण्णाम् ॥४॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 या मांष्टुो मघानामशुर्ध्रै गोन् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 निश्वरो आम ना नयन्द्रा विरे तमु स्तुदि ॥५॥

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 ईश हि शत्रुस्तमूनये हयामहे जेतारमपराजितम् ।

१ २ ३ १ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १  
 स न. स्वपदति द्विषं प्रतुष्टुन्द क्रतु गृहन् ॥६॥

भा०—हे त्रैलोक्यपते ! आप हमें ( राये ) श्रेष्ठ धन, आत्मज्ञान के प्राप्त करने के लिये प्रथम ( सुवीर्य ) उत्तम वीर्य, सामर्थ्य ब्रह्मचर्य को ( विदा ) प्राप्त कराया । ( य ) जो ( शूराणाम् ) शूरवीरों में भी ( शविष्ठ ) सब से अधिक बलवान् है, हे ( महिष्ठ ) सबसे महान् ! ( वज्रिन् ) बलवान् ! पापनाशक ! आप ( वाजाना पति ) समस्त पृथ्वी ज्ञानों और बलों के पनि ( भव ) हैं । और ( वशान् ) आपक वशीभूत समस्त लाकों के ( भनु ) अनुकूल हितके लिये उनपर ( अम्जस ) वश करते हो ॥४॥

भा०—( य ) जो ( मघोना ) समस्त ऐश्वर्य वालों में ( महिष्ठ ) सबसे बड़ा दाता है वही ( अशु न ) समस्त ससार में अपनी प्रसन्न-शील शक्तियों से व्यापक सृष्टि के समान ( शाचि ) शुद्ध, कान्तिमान् है । हे ( चिकित्थ ) सर्वज्ञ ! आप ( इन्द्र ) समस्त ऐश्वर्यशाली ( न ) हमें भी ( विद ) ज्ञान और बल को प्राप्त कराने के लिये ( अभि नय ) आगे ले चला । हे मनुष्य ! तू ( तम् ) उसकी ही ( स्तुति ) स्तुति कर ॥५॥

भा०—( हि ) क्योंकि ( शक्र ) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर ही ( ईशे ) सृष्टि का शासन करता है इसलिये ( उतये ) अपनी रक्षा के लिये ( अपराजित ) किसी से भी न हारे हुए ( जतार ) सब पर विजय करने वाले उस परमात्मा को ( हवामहे ) हम स्मरण करते हैं । ( स ) वह ( न ) ( हमारे ( द्विप ) शत्रुओं को ( सु अर्षद् ) विनाश करे । वह महान् परमेश्वर ही ( ऋतु ) सब दृष्टियों का कर्ता ( अन्द् ) वेदज्ञानमय, सब का रक्षक, ( अतम् ) सत्यस्वरूप और ( वृद्त् ) सबसे बड़ा है ॥६॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[ ६४७ ] इन्द्र धनस्य सानये हवामहे जतारमपराजितम् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
स न स्वर्पदति द्विप स न स्वर्पदति द्विप ॥७॥

[ ६४८ ] <sup>१ २ ३ १ २</sup> पूर्वम्य यत्त <sup>३ १२ २२</sup> अद्रिचोऽशुम्भेनाय ।  
<sup>३ १२</sup> सुम्न आ <sup>३ २</sup> धेहि नो <sup>३ २</sup> यसो <sup>३ २</sup> पूति शविष्ठ शस्यते ।  
<sup>३ २</sup> वशी हि <sup>३ १ ३ १२</sup> शक्रो नून तन्नव्य <sup>२२ ३ १ २</sup> सम्भ्यसे ॥८॥

[ ६४९ ] <sup>३ १२ १२</sup> प्रभा जनस्य <sup>३ २ ३</sup> वृत्रह तमयेषु <sup>२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> प्रगाहै ।  
<sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> श्रो या गोषु <sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> गच्छन्ति <sup>२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> सखा सुशेनो <sup>२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> अद्र्युः ॥९॥

भा०—( धनस्य ) परमैधर्यं को ( सातये ) प्राप्त करने के लिये हम ( अपराजित जेतार ) न हारे हुए, पराक्रमी विजेता ( हन्द ) परमात्मा को ( हवामहे ) पुकारते हैं । ( स न द्विष अति स्वयंद् २ ) वह हमें शत्रुओं से पार करे, वह हमारे शत्रुओं से पार करे ॥७॥

भा०—हे ( अद्रिच ) ज्ञानस्वरूप, अखण्ड ! सबके प्रलय करने हारे ! ( पूर्वम्य ) सबके पूर्व विद्यमान मूल कारण तेरा ( यद् ) जो स्वरूप ( अशु ) सर्वन्यापक ( मदाय ) आनन्द देने के लिये है, हे । वयो ) सबका घसाने हारे ! वह ( न सुशे ) हमारे सुख के लिये हमें ( आ धेहि ) प्रदान कर । हे ( शविष्ठ ) सर्व शक्तिमान् ! तेरा ( पूति ) सबका पाहलन पोषण करने वाला स्वरूप ही ( शस्यते ) प्रशंसा किया जाता है । ( नून ) निश्रय से आप ( शक्र ) शक्तिमान् होकर ( वशी ) सब पर वश करने हों हों । ( तत् ) इसीलिये उस ( नम्य ) स्तुतिवाच्य आपका ही ( स भ्यसे ) मैं अपने हृदय में आराध्यदेव के समान स्थापन करता हू ॥८॥

भा०—हे ( प्रभा, वृत्रहन् ) समर्थ ! हे विद्याविनाशक ! हम रीति पुन्प, गुरु या शिष्य ( जनस्य ) प्राणियों के ( अययु ) बड़े २ स्वामियों के भी ऊपर विद्यमान ( प्रवावहै ) तेरी स्तुति करते हैं । ( य ) जो आप ( गोषु ) वेदवाणियों में ( गच्छन्ति ) प्रतिपाद्य अर्थ के रूप में व्याप्त हैं वह ( सखा ) हमारे आशा के मित्र ( सुशेन ) उत्तम रीति से सहा करने योग्य ( अद्र्यु ) एकमात्र अद्रितोय है ॥ ९ ॥

अथ पञ्च पुरीषपदानि

३३३ ३३

[६५०] (१) एवाहोऽ३३३३३

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर आप (एव) ऐसे (हि) ही (एव) निश्चय से हो ।

(२) एवा ह्यग्ने

हे ( अग्ने ) प्रकाशस्वरूप ! (एवं हि) आप ऐसे प्रकाशस्वरूप ही हो ।

(३) एवाहीन्द्र

हे ( इन्द्र ) सर्वैश्वर्यसम्पन्न ! सब के प्रकाशक, स्वयं प्रकाशमान ! (एव हि) निश्चय आप ऐसे ही हो ।

(४) एवा हि पूषन्

हे ( पूषन् ) सबके पोषण करने वाले परमात्मन् ! ( एव हि ) आप ऐसे ही हो ।

(५) एवा हि देवा.

हे ( देवा. ) हे समस्त देवगण ! दिव्यगुणों से सम्पन्न पदार्थों ! एवं विद्वानो ! ( एव हि ) आप सब परमेश्वर के गुणों से ही इस प्रकार के ही ।

इति पञ्च पुरीषपदानि ।

इति महानाम्न्याचिक्रुः समाप्तः ।

इति प्रतिष्ठितविशालकार-मीमांसानीश्रीपाप्यलकृतेन श्रीपण्डितजयदेवशर्मणा विरचिते  
सामवेदस्थालोचभाष्ये सामवेदसंहिताया. महानाम्न्याचिक्रुः

भा. पू. सि. प्र. गा. ॥

\* श्लो३म् \*

# सामवेदसंहितायाः



## उत्तरार्चिके

प्रथम प्रपाठक ( प्रथमोऽर्ध )

अथ प्रथमोऽध्यायः

अपि — १ असित' काश्यपो देवलो वा । २ कश्यपो मारीच । ३ वैपानसा  
आङ्गिरस । ४ भरद्वाज । ५ विश्वामित्रो नमग्निर्वा । ६ हरिमिठ । ७ विश्वामित्रो  
गायिन । ८—१० अमहीयुराङ्गिरस । ११ वसिष्ठ । १२ धामन्वे । १३  
लोषा काशीवत । १४ कलि प्रागाथ । १५ पुष्वलोऽग्नि । १६ सहिष्ठ । १७  
शफ । १८ श्यावास्य । १९ आन्धीगव । २० अग्निर्वैश्वानर । २१ सावमस्य ।  
२२ सौमरि । २३ मूमथ ॥ देवा—१—३, ८—१०, १५—१९ सोम ।  
४, २०, २१ अग्नि । ५ मित्रावरुणौ । ६, ११, १३, १४, २२, २३ इन्द्र ।  
७ इन्द्राग्नी । १२ सर्वे देवा ॥ छन्द — १—८, १२, १५, २१ गायत्री । ९,  
११, १३, १४, २० वृहती । १० त्रिष्टुप् । १६, २२, २३ कतुप् । १७  
उष्णिक् । १८ अनुष्टुप् । १९ गगती ॥ स्वर — १—८, १२, १५ २१  
पद्म । ९, ११, १२, १४, २० मध्यम । १० धैवत । १६, १७, २२,  
२३ अक्षम । १८ गान्धार । निशा ॥

१ २                      ३ १ २                      ३ १ २  
[६५१] उपास्मै गायता नर पथमानायैन्दवे ।

३ २ ३ १ २ २

अभि देवा इयन्ते ॥ १ ॥

[६५२] <sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २ २</sup> अग्निं ते मधुना पयोऽधर्वाणो अशिधयुः ।

<sup>३ २ ३ १ २ ३ २</sup> देवं देवाय देवयु ॥ २ ॥

[६५३] <sup>१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २</sup> स न पवस्य श गवे श जनाय शमवते ।

<sup>१ २ ३ २ २</sup> श राज्ञोऽधर्वाभ्यः ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ६। ११। १-३ ॥

भा०— (१) हे ( नरः ) मनुष्यो ! ( अग्निं ) इस ( पवमानाय ) शुद्धिकारक ( देवा अग्निं ह्यसते ) देवों, विद्वानों के प्रति अपना ज्ञान प्रदान करते हुए ( इन्द्रवे ) परमेश्वर की ( उप गायत ) स्तुति गान करो, उपासना करो ।

(२) ( ते ) तेरे ( देवं ) दिव्यगुणसम्पन्न ( देवयुः ) देवों, विद्वानों से अभिलषित, ( पयः ) पोषणकारी भ्रानन्द रस को ( अधर्वाणः ) अर्द्धिसक तपस्वी लोग ( मधुना ) मनन करने योग्य ब्रह्मज्ञान के संग ( अशिधयुः ) मिलाकर आस्वादन करते हैं ।

(३) हे ( राजन् ) देदीप्यमान परमेश्वर ! ( सः ) वह तू ( नः ) हमारे ( गवे ) ज्ञानेन्द्रियगण या पशु सम्पत्ति में ( शं ) कल्याण, सुख ( पवस्य ) प्रदान कर । ( जनाय ) हमारी समस्त प्रजाजन को, ( शं ) सुख कल्याण हो और ( अवेते ) कर्मेन्द्रियों या अश्वदि सेनाओं में ( शं ) शान्ति सुख हो । और हमारे ( अधर्वाभ्यः ) उष्णता, प्रताप या तेज को धारण करने वाले लोगों को भी ( श ) सुख हो ।

[६५४] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २</sup> द्विद्युत्तन्या रुचा परिष्टाभन्था कृपा ।

<sup>१ २ ३ १ २ २</sup> सामा शुक्रा गवाशरः ॥ १ ॥

[६५५] <sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ - क २ २</sup> हिम्वानो हेतुभिर्दित आ घाज घाज्यकमीत् ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> सीदन्तो वनुपो यथा ॥ २ ॥

[६५६] <sup>३ १ २</sup> ऋधन्सोम <sup>३ १ २</sup> स्वम्नय <sup>३ २</sup> संजग्मानो <sup>३ १ २</sup> दिया कवे ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ २</sup> पवस्व सूर्यो दृशे ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ६ । ६५ । २८-३०॥

मा०—(१) ( सोमा ) सौम्य गुणों से युक्त विद्वान् योगजन, ( शुक्रा ) शुक्ल-कर्म अर्थात् निष्पाप कर्म करने हारे, ( गवाशिरः ) अपनी इन्द्रियों पर पश करने हारे, ( दविद्युताया ) अधिक प्रकाशमान ( रुचा ) कान्ति और ( परियेभन्या ) सर्वत्र गुणवर्णन करने हारे ( कृपा ) प्रशंसनीय सामर्थ्य से युक्त रहते हैं ।

(२) ( यथा ) जिस प्रकार ( वनुष० ) हिंसक घोड़ा लोग ( सीदन्त० ) विशेष पैतरों पर रहते हुए आक्रमण करते हैं, या जिस प्रकार ( वाजी ) बलवान् घोड़ा ( हेतृभि ) हृष्टरों से ( हिन्वान० ) लाड़ा गया ( वार्ज ) युद्ध के मैदान में ( अक्रमीत् ) दौड़ता है उसी प्रकार ( धाजी ) ज्ञानवान् पुरुष ( हेतृभि० ) लौकिक कष्टों या डेय, त्याज्य दुःखों से ( हिन्वान० ) प्रेरित होकर ( हित० ) सन्मार्ग में आकर ( वाज ) ज्ञानपथ पर ( अक्रमीत् ) क्रदम रख देता है ।

(३) हे ( कवे ) क्रान्तदर्शिन ! मेधाविन् ! हे ( सोम ) सौम्यगुणों से युक्त महामुभाव ! विद्वन् ! ( दिवा ) प्रकाश, ज्ञान के बल पर ( अघक् ) दूर २ भी, लोक के ( स्वस्तये ) कल्याण के लिये ( संजग्मान० ) गमन करता हुआ तू ( सूर्य० ) सूर्य के समान ( दृशे ) सबको साथ पशुओं के दर्शाने के लिये ( पवस्व ) सर्वत्र जा ।

[६५७] <sup>१ २</sup> पवमानस्य <sup>३</sup> ते <sup>२ ३ १ २</sup> क्रवे वाजिन्सर्गो असृष्टत ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अवेन्तो न धवस्यव ॥ १ ॥

[६५८] <sup>१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अच्छा कोशं मधुक्षुतमसुप्र वारे अय्यय ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> अश्रावशन्त धीतयः ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 [६५६] अचक्षा अमुद्रमिन्द्रवाऽस्त गात्रो न धेनव ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २

अग्मभृतस्य यानिमा ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० ६। ६६। १०-१२ ॥

भा०—(१) हे (कव) मघाविन् । विद्वान् पुरुष । हे (धाजिन्) ज्ञान-  
 वन् । ( अवंन्त न ) जिस प्रकार रथ दौड़ाते हुए पुरुष क घाड़े घावर  
 सरपट होजाने हैं उसी प्रकार ( ते पवमानस्य ) यागसाधना के मार्ग पर  
 गमन करत हुए तरे ( धवस्यव ) ज्ञान का प्राप्त करन हार (सगां) प्रयत्न  
 ( अस्पृत ) आप स आप सफल होने लगते हैं ।

(२) ( धीतय ) ध्यान करन हार साधक लोग ( अम्यय ) कभी न  
 क्षीय हुान वाले या प्राणमय ( वारे ) आवरण क ऊपर ( मधुरसुत) मधु,  
 अज्ञानन्द रस को चुबाने वाले ( काश ) आनन्दमय काश का ( अचक्षा )  
 उत्तम रीति से ( अस्पृ) प्रकट करत हैं और (अवावशन्त) उसी की कामना  
 करते हैं । अर्थात् तामस आवरण पार करके व ज्ञानमय आनन्द को प्राप्त  
 करते हैं और उसी में सन्न होजाते हैं ।

(३) ( धनव गाव ) दुधारी गौए जिन प्रकार ( अस्त न ) घर को  
 स्वय आजाती हैं उसी प्रकार ( इन्द्रव ) पृथर्वसम्पन्न ज्ञान से प्रकाशित  
 चित्त वाले विद्वान् लोग ( समुद्र ) उत्तम राति स उमड़न वाले आनन्द  
 सागर, परम धाम, (अतस्य यानिन्) स य ज्ञान और समस्त यज्ञ क मूल  
 कारण परमेश्वर को ( अरुद्र ) भली प्रकार ( या अग्मन् ) प्राप्त हात हैं ।

इति प्रथम पाद ।

— ० —

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [६६०] अग्नि आयाहि धीतये गृणाना ह्य्यदातय ।

३ २ ४ ३ १ २

नि होता सति स्यादग्नि ॥ १ ॥



[६६१] तं<sup>१</sup> त्वा<sup>२</sup> समिद्धि<sup>३</sup>रंगिरो<sup>४</sup> घृतं<sup>५</sup>न<sup>६</sup> यर्धयामसि ।

वृद्ध<sup>३१</sup>त्रा<sup>३</sup>चा<sup>३</sup> यरिः<sup>३</sup>श्व ॥ २ ॥

[६६२] स<sup>१</sup> न<sup>२</sup> पृथु<sup>३</sup> धवाप्यमच्छा<sup>४</sup> देव<sup>५</sup> विवाससि ।

वृद्ध<sup>३१</sup>ग्ने<sup>२</sup> सुवीर्य<sup>२</sup>म् ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ६ । १६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकज्ञ सत्या [१] पृ० १ ॥

(२) हे ( अगि र ) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! ( त ) तस प्रसिद्ध ( त्वां ) तुम्ह परमेश्वर को ( समिद्धि. ) दीक्षि के साधन ज्ञानों और ( घृतेन ) देदीप्यमान तेज से ( यर्धयामसि ) हम आपको बढ़ाते हैं, आपकी विशालता प्रकट करते हैं अत हे ( यरिःश्व ) सबसे अधिक सामर्थ्य वाले ' सर्वशक्तिमन् ' ( वृद्ध ) आप अति अधिक ( शोच, हृदय में प्रकाशित हो ।

(३) हे देव ! अग्ने ! विद्धन् ! प्रभो ! आप हमें ( पृथु ) अति विशाल ( वृद्ध ) बड़े, ( सुवीर्य ) उत्तम सामर्थ्य युक्त ( धवाप्य ) धवण करने योग्य वेदज्ञान को ( अच्छ ) भली प्रकार ( विवाससि ) प्रकट करें ।

[६६३] धानो<sup>१</sup> मित्रावरुणा<sup>२</sup> घृतै<sup>३</sup>र्युतिमुदानम् ।

मध्या<sup>२</sup> रजासि<sup>३</sup> सुकतू ॥ १ ॥

[६६४] उरुशसा<sup>३</sup> नमोवृधा<sup>४</sup> मद्वा<sup>५</sup> दक्षस्य<sup>६</sup> राजथ ।

द्राधिष्ठाभि<sup>३</sup> शुचिघना ॥ २ ॥

[६६५] गृणाना<sup>३</sup> जमदग्निना<sup>४</sup> यानावृतस्य<sup>५</sup> सीदतम् ।

पात<sup>३</sup> सोममृतावृधा<sup>४</sup> ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० ३ । ६२ । ६१-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकज्ञ सत्या [२२०] पृ० ११३ ॥

(२) हे ( मित्रावरुणा ) प्राण और अपान ! तुम दोनों ( शुचिघना ) शुद्ध पवित्र कर्म करनेवाले, ( उरुशसा ) अति प्रशसनीय, ( नमोवृधा ) ज्ञान

बल, अन्न और स्तुति से बढ़ने वाले ( दक्षस्य ) आत्मा के ( महा ) महान् सामर्थ्य से और ( दाघिष्ठाभि ) अति दीर्घ इष्टियों से आप (राजस्यः) प्रकाशित होते और सबके ऊपर विराजमान रहते हैं ।

(३) तुम दोनों ( अतावृधा ) सत्य और ज्ञानपज्ञ के बढ़ाने हारे, ( जमदाग्निना ) हृदय के भीतर प्रकाशित, अग्निस्वरूप आत्मा या परमेश्वर के ज्ञान से प्रखलित आत्मा वाले योगी द्वारा ( गृणानौ ) अपने सामर्थ्य को प्रकट करते हुए आप प्राण और अपान ( अतस्य ) इस जीवनपज्ञ या उपासना या योगपज्ञ के ( योनौ ) मूल भाग में ( सीदतम् ) स्थिति को प्राप्त करो और ( सोम ) सर्वप्रेरक बल को ( पात ) प्राप्त करो ।

[६६६] आयाहि सुपुमाहि न इन्द्र सोम पिवा इमम् ।

१ २ ३ ४ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
२ ३ ३ १ २ ३ २ २  
एदं यद्वि सदे मम ॥ १ ॥

[६६७] आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
२ ३ १ ३ ३ २  
उप ब्रह्मायि नः शृणु ॥ २ ॥

[६६८] ब्रह्माणस्त्वा युजा वय सोमपामिन्द्र सोमिनः ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २  
३ १ २  
सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥ ६ ॥ ख० १ । १७ । २ ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो मन्त्र सत्या [१६१] पृ० १०२ ॥

(२) हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( ब्रह्मयुजा हरी ) महान्, ब्रह्मविद्या या वेद-मन्त्रों के ज्ञानपूर्वक योग युक्त, समाहित होने वाले ( हरी ) गतिशील प्राण और अपान, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय ( केशिना ) दीप्तियों से युक्त होकर ( त्वा ) तुम्हको ( वहताम् ) आगे, उन्नति पथ पर लेजावें । और नू ( नः ) हमारे ( ब्रह्मायि ) वेदमन्त्रों को ( शृणु ) सुन और मनन कर । ज्ञानों पुरुषों का अपने आत्मा के प्रति सम्बोधन है ।

(३) हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! ( वयम् ) हम ( ब्रह्माण्यः ) ब्रह्महानी लोग ( सोमपा ) सोमरस का पान करने वाले ( सुतावन्तः ) सत्पादित सोम

मय आनन्दरस को प्राप्त होकर (युजा) समाधि द्वारा (त्वा) तुम्ह (सोमपाम्) सोम, समस्त विध का पान अर्थात् आदान या वश करने हारे परमेश्वर को (इवामह) पुकारते हैं।

[६६६] इन्द्राग्नी आगतं सुन गीभिर्नभो वरेण्यम् ;  
 १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ४ १ २  
 ३ २ २ ३ ३ ३ २  
 अस्य पातं धियेपिता ॥१॥

[६७०] इन्द्राग्निं जरितुं सचा यज्ञो जिगाति चतन ।  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २  
 ३ १ २ ३ २ ३ २  
 अया पातामम सुतम् ॥२॥

[६७१] इन्द्रमग्निं कविच्छुदा यज्ञस्य जूत्या वृणे ।  
 १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 १ २ ३ २  
 ता सोमस्थेह तुम्पताम् ॥३॥७॥ । ऋ० ३ । १२ । २, ३॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्यवान् आचार्य ! और ज्ञानसम्पन्न अग्ने ! उपदेशक ! जिस प्रकार वायु और सूर्य सब जगत् की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार (अस्य मध्ये) इस सत्तार के बीच में (इपिता) समस्त बातों का ज्ञान कराने हारे (गीभिर्) अपनी वाणियों से और (धिया) अपनी धारणावती बुद्धि स (नभ) समस्त जगत् की ओर (वरेण्य सुत) वरण करने योग्य, श्रेष्ठ पुत्र की (पात) रक्षा करा। अथवा—(नभ) सब को एक सूत्र में बांधने वाले (वरण्य) श्रेष्ठ (सुत) ज्ञान और आनन्द का (पात) उत्तम रीति से स्वयं पान करो, और अन्वियों का कराओ, उपदेश करो।

(२) हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्य के स्वामिन् इन्द्र ! राजन् ! और अग्ने ! ज्ञान के स्वामिन् ! विद्वन् ! ब्राह्मण ! जो (चेनना) चेतनारूप (यज्ञ) आत्मा (युवा) आप दोनों को (जिगाति) प्राप्त है आप उस (जरितु) सत्य गुणगान करन हारे पुरस् के (सचा) साथ रहकर (अया) इस प्रत्यक्ष शक्ति से (इम सुत) इम उत्पन्न सत्तार का (पात) पावन करो।

(३) में ( कविच्छरी ) मेधावि पुरुष के आच्छादन, सत्सग और रचा करने वाले ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवान् और ( भूमि ) ज्ञानवान् पुरुष को ( यज्ञस्य ) इस पूज्य आत्मा में ( जूया ) भीतरी उपेति से ( वृषो ) धरया करता हू, अचनाता हू । ( तौ ) वे दोनों ( इह ) इस ससार में ( सामस्य ) समस्त ऐश्वर्य के द्वारा ( तृपता ) स्वयं तृप्त हों, और सबको तृप्त करें ।

इति द्वितीयं पण्ड ।

[६७२] उच्चा<sup>३ १ २</sup> ते जातमन्धसो<sup>३ १ २</sup> दिवि<sup>३ १ २</sup> सदभूम्याददे<sup>३ १ २</sup> ।

उम्रं शर्म महि<sup>३ १ २</sup> थय ।

[६७३] स न इन्द्राय यज्यथ धरण्याय मरुद्भय<sup>३ १ २</sup> ।

थरिषो॥ उत्पारिस्त्रय ॥२॥

[६७४] एना विश्वान्यथे आ धुम्नानि मानुषाणाम् ।

सिपासन्तो घनामहे ॥३॥ ८॥ अ० ६। ११। १०, १२, ११॥

भा०—इन तीनों आत्माओं का क्याह्यान क्रम से देगो अविच्छ सत्या [४६०] पृ० २३६, और [२६२, २६३] पृ० २६८ ॥

[६७५] पुनातं सोम धारयापो यसांना अथेसि ।

आ रत्नया यानिमृगस्य मीदन्मुत्सो देवो विरत्यय ॥१॥

[६७६] दुदान ऊरुदिव्य मधुभिय प्रतः सधन्धमासदन् ।

आ पृच्छ्य धरुण वाज्ययोस नृभिर्जात विचक्षाण ॥२॥ ६॥  
अ० ६। १००। ४, २ म

भा०—(१) इमही क्याहया देगो अविच्छ सत्या [२११] पृ० २६०।  
(२) ( विषयस्य ) चतुर, बुद्धिमान्, ( वापी ) ज्ञानी, ( ऊप ) उच्चति के पथ में ले जाने वाले, ( दिव्य ) दिव्य ( चीनम् ) मछ और

भीतरी पापा आदि से मुक्त, शुद्ध पवित्र (विप) उत्तम, (प्रन) प्राचीन आनादि (सधस्थ) नित्य साथ रहने वाला (मधु) मनन योग्य आत्मानन्द या ज्ञान को (आसद्) प्राप्त हो जाता है और बाद में वही योगी (वृभि) ज्ञानवान् पुरुषों स भी (आपृच्छ्य) गुरुओं से प्रश्न पूर्वक ज्ञान करने योग्य (धरुण) सबके आध्ययन इंधर को (अपंसि) प्राप्त होता है ।

[६७७] प्रो तु द्रव्य परिवोश निपीद वृभि पुनाना अभिवाजमर्ष ।

अथ न त्वा जाजित मजेयन्तान्छा यदिरशनाभनेयन्ति ?

[६७८] स्वायुध पवत द्य इन्दुरशस्तिहा वृजना रक्षमाण ।

पिता दवाना जनिता सुदत्ता विष्टम्भो दिवो धरुण

पृथिव्या ॥२॥

[६७९] ऋषिर्विप्र पुरपता जनानामृभुधरि उशना फल्येन ।

स इन्द्रिवेद निडित यदासामपाच्येद्गुह्य नाम गोनाम् ।

॥३॥१०॥

सू० ६ । ८७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सत्या [२२३] पृ० २६६ ॥

(२) ( इन्दु ) परवर्यशील, ( देव ) देव, ईश्वर और राजा ( स्वायुध ) उत्तम आयुषों स युक्त ( अशस्तिहा ) शासन न मानन वालों का नाश करने वाला, ( वृजना ) सनाथलों की ( रक्षमाण ) रक्षा करता हुआ, ( देवाना पिता ) सब देवों, विद्वानों का पालक ( सुदत्त ) उत्तम बल शाली, कार्यकर्ता ( दिव ) ज्ञान प्रकाश और दिव्यगुण सम्पन्न सूर्य, दौलोक और सात्विक पुरुषों को ( विष्टम्भ ) धामने वाला, वशकारक ( पृथिव्या ) इस पृथिवी और राष्ट्र का एकमात्र धारण करने हारा है ।

६७८—(२) वृजिना' इति श्र० ।

( ३ ) (अवि.) अतीन्द्रिय ज्ञानों का दृष्टा, (विप्र) ज्ञानवान् मेधावी,  
 ( जनानां पुर. एता ) समस्त जनों, जीवों का नायक के समान अग्नेयर,  
 (अशु) साथ ज्ञान से अति प्रकाशमान, (धीर) कर्म और प्रज्ञानों का दाता,  
 ( उशनाः ) सब पर वश करने वाला, एकमात्र यागी ( काभ्येन ) ज्ञान-  
 मय वेद साहित्य द्वारा ( आसा ) इन ( माना ) वेदवाकियों का (अपिच्य)  
 मनोहर, गुप्त, ( गुह्य ) हृदय से जानने योग्य ( निहित ) भीतर रक्खा हुआ  
 ( नाम चिद् ) सार ( विवेद ) स्वयं जाने और औरों को जनावे ।

इति तृतीय खण्डः ।

[६८०] अ० ३।१।२ शू० नो०नुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।

इ०शानमस्य जगत. स्वर्देशमीशानमिन्द्र तस्थुपः ॥१॥

[६८१] न त्वा० अ०यो दिव्या न पार्थि० न जातो न जनिष्यते ।

अ०श्वा०न्तो मघव०मिन्द्र वाजिनो ग०य०न्तस्तथा ह०यामदे ॥२॥

। ११॥

अ० ७।३२।२२-२९ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविक्कल संख्या [२३३] पृ० ११६ ।

( २ ) हे ( मघवन् ) पृथर्वेवन् ! राजन् ! परमेश्वर ! ( त्वावान् ) तेरे  
 जैसा ( अन्य ) दूसरा ( दिव्य ) दिव्य गुणों से युक्त ( न जात ) न  
 पैदा हुआ और ( न जनिष्यते ) न पैदा होगा । और तेरे जैसा अन्य  
 ( पार्थिव ) इस पृथ्वी का कोई पदार्थ, या पृथ्वी का माणिक भी ( न जान.  
 न जनिष्यते ) न हुआ और न होगा । हम ( अश्वावन्त गयन्त ) अश्व  
 और गौर्धों या प्राण्य और कर्मेन्द्रियों को चाहने वाले, ( वाजिनः ) ज्ञान  
 और बल के इच्छुक होकर ( त्वा हयामदे ) तेरी स्तुति करते हैं ।

६८१—(१) 'अ० मवान्निभिः' इति अ० ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[६८२] कया नक्षिप्र आभुवदूर्ता सदावृध. सरा ।

२ ३ १ २ ३ २

कया शचिष्ठया घृता ॥ १ ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २

[६८३] कस्त्वा सत्यो मदाना महिष्ठो मत्सदन्धसः ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २

दृढा चिदारुजे घसु ॥ २ ॥

३ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २

[३८४] अभी पु ण सखीनामविता जरितृणाम् ।

३ १ २ ३ १ २

शतं भवास्यूनये ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ४ । ३१ । १-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अतिक्रम सख्या [१६३] पृ० ६३ ।

( २ ) ( महिष्ठ ) पूजनीय, ( सत्य ) सत्यस्वरूप ( मदाना ) हर्षो, आनन्दों के बीच में ( क ) कौनसा ( अन्धस ) जीवन धारण काबे वाझा या अन्धकार का नारा करने वाला परम रस है जो ( आरुजे ) आरोग्य के लिये और ( दृढ चिद् घसु ) दृढ वास याग्य जीवनरूप धन होकर (त्वा) आपको ( मत्सत् ) आनन्दित करे ।

( ३ ) हे इन्द्र ! आप ( न ) हमारे ( सखीना ) मित्र ( जरितृणां ) सद्धिष्ठा का उपदेश करने वाले विद्वानों के ( ऊतये ) रक्षा के लिये ( शतं ) सौ वर्षों तक ( अविता ) रक्षक ( भवासि ) बन रहें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ २२

[६८५] तं घो वसमूर्तीपह घसोर्मन्दानमन्धस ।

३ २ ३ १ २ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अभि वत्स न स्वसरेषु घेनत्र इन्द्र गीर्भिर्नरामहे ॥१॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ १ २

[६८६] घुत्त सुदानुं तचिर्पाभिरावृत्त गिरिं न पुरुभाजसम् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २ २२

घुमन्त धाज शतिन सहस्रिण मद्गु गोमन्तमीमहे ॥ २ ॥

॥ १३ ॥

अ० ८ । ८८ । १-२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अदिकल संख्या [२३६] पृ० १२० ।

( २ ) ( शुचं ) दिव्य गुणों में निवास करन हारे ( सुदानुं ) उत्तम दाता, ( तद्विधाभिः ) बलों से ( आवृतम् ) घिरे हुए, परिपूर्ण, ( पुरुमोजस ) प्रजाओं के पालक से हम ( धूमन्तं ) निवास योग्य गृहादिमग्नय ( शक्तिं ) शक्तियों ( सद्दृष्टियं ) सद्दृष्टियों सुखों और लाभों से युक्त ( गोमन्तं ) गोधन से पूर्ण ( वाज ) ज्ञान और ऐश्वर्य को ( ईमदे ) याचना करते हैं ।

१ २            ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६८७] नरोभिर्गो विद्वसुमिन्द्र सयाय ऊनये ।

३ १ २ २ २    ३ १ २            ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

वृहद्वायन्त सुतसामे अघरे हुये भरं न वारिणम् ॥१॥

२ ३    ३ १ २ २ ३ २    ३ २ ३ १ २    ३ १ २ २

[६८८] न यं दुधा वरन्ते न स्थिरा मूरा मदे सुशिप्रमन्यसः ।

२ ३ १ २ ३ १ २    ३ १ २ २ ३ २ ३ २ २ २

य आदृत्या शशमानाय सुन्वत दाता जारत्रे उक्थ्यम् ॥२॥

॥ १४ ॥

अ० ८ । १६ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अदिकल सख्या [२३७] पृ० १२१ ।

( २ ) ( यं ) जिस ( सुशिप्र ) उत्तम ज्ञानवान् पुरुष या आत्मा को ( दुधाः ) बड़ी कठिनता से रोके जाने योग्य, अदम्य श्रेय, काम आदि के योग भी ( न वरन्ते ) कारण नहीं करते, या नहीं घेरते और ( स्थिरा न ) स्थिर, सामसभाव या आन्तर्य आदि भी जिसको राक नहीं सकते । और जिसको ( मुर ) मरणशील अशुभभाव भी विचलित नहीं कर सकते, वह आत्मा ( अग्नय ) सोमरस, जीवनदायक, अज्ञान नाशक उपोत्ति रू ( मदे ) आनन्द में ( शशमानाय ) स्तुति उपासना करते हुए ( सुन्वते ) बोग साधना करनेहारे ( वारिणे ) अग्नियों को सन्विदा का उपदेश करनेहारे साधु पुरुष को ( उक्थ्यं ) वेदमय ज्ञान को ( आदृत्या ) अर्द्धपूर्वक ( दाता ) प्रदान करता है ।

इति चतुर्थं सर्गः ।



[६६६] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३</sup> भ्रात्रिष्टु ग मदिष्टुवा पत्रस्व सोम धारया ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ २</sup> इन्द्राय पातये सुतः ॥ १ ॥

[६६०] <sup>३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> रक्षोहा विश्वचरिणिरभियोनिमयोहते ।

<sup>१ २ ३ २ ३ १ २</sup> द्रोणे सधस्थमासदत् ॥ २ ॥

[६६१] <sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> वरिवो धातमो भुवा मदिष्टो वृत्रहन्तम ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup> परि राया मघोनाम् ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० ६ । १ । १-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो भविकल संख्या [ ४६८ ] पृ० २२६ ।

( २ ) ( रक्षोहा ) राक्षसों, दुष्ट पुरुषों का नाशक ( विश्वचरिणः ) संसार का द्रष्टा, प्रभु ( अयोहत द्रोणे ) जोह के बने कूडे में जलराशि के समान ( अयोहते ) गतिदायक शक्ति से गतिमान् ( द्रोणे ) जगत् में व्यापक होकर (सधस्थ) साथ ही स्थिर रहने वाले स्वाभाविक (योनि) इस अन्तरिक्ष को ( अभि आसदत् ) सर्वत्र व्याप्त किये हुए हैं ।

( ३ ) हे ( वृत्रहन्तम ) आवरणकारी तम, अज्ञान के नाशक परमात्मन् ! आप ( वरिवः धातम ) नाना प्रकार से वरण करने योग्य धर्मों, रत्नों को धारण करने वाले, ( मदिष्ट ) और सब से बड़े दानी ( भुवः ) हैं । आप ही ( मघोनाम् ) बड़े २ धनाइयों का भी ( राध ) धन ( परि ) देकर पूर्ण करते हो ।

[ ६६२ ] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> पत्रस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुयित्तमो मदः ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> माहं शुद्धतमो मदः ॥ १ ॥

[६६३] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> यस्य ते पीत्वा वृषभा वृषायतेऽभ्य पीत्वा स्वर्षिदः ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> स सुप्रकेतो अभ्यकमीदिषोच्छ्रा वाज नैतश ॥ २ ॥ १६ ॥

अ० ६ । १०८ । १-२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देता अविच्छेद स० [२७८] पृ० २६१।

( २ ) हे परमात्मन्<sup>१</sup> ( ते ) आपक ( यस्य ) तिस आनन्दकारक  
 रस का ( पीया ) पान करक ( शृणुम ) श्रवण अन्तरात्मा में मुख का  
 श्रवण करान द्वारा आत्मा ( शृणुयत ) गारुण इन्द्रियो में भाजा क  
 समान उनमें बल का आधान करता और उनका भाग करता है और  
 ( स्वर्विद् ) मुख और प्रकाश का प्राप्त करानहार ( अस्य ) इस सामरस्य का  
 ( पीया ) पान काक ही ( स ) वह ( सु प्र क्त ) उत्तम ज्ञान करनहारा  
 आत्मा ( इय ) सब मन की कामनाओं का ( यभि चकभीन् ) इस प्रकार  
 पार कर लेता है जैसे (प्लवा वाजन) वायान् घादा या सशर सग्राम का।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ १२ ३ १ २

[६६४] इन्द्रमच्छु सुता इम शृणुय यन्तु हरय<sup>२</sup> ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

श्रुष्ट जातास इन्दय स्वर्धिद् ॥ १ ॥

३ १ १२ ३ १ १२ ३ १

[६६५] अय भराय सासिरिन्द्राय परने सुत ।

३ २ १ १ ३ १ २ ३ २

सोमो जैगम्य चतति यथा विद् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ ३ १ ३ १ ३ २

[६६६] अस्यदिन्द्रो मदेप्या ग्राम गृभ्णानि साननिम् ।

१ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ २

यस्य च शृणुय भरत्समप्नुजित् ॥ ३ ॥ १७ ॥

अ० १।ख० ६।१-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देता अविच्छेद स० [२६६]। पृ० २८६।

( २ ) ( अय ) यह ( साननिः ) सबक मनस और भजन करन योग्य,  
 ( सुत ) ज्ञापक आनन्दरस ( इन्द्राय ) आत्मा क ( भराय ) भरत  
 पोषण उन्नति क श्रिय अन्धिरस क समान ( यथा ) यथा तथा  
 है। यह ( ग्राम ) साग्य रहभाव सबका मेरु करन हारा वागा ( जैगम्य )

काम क्रोधादि पर वश करने हारे आत्मा को ( चेतते ) उसे जान खता है ( यथा विद् ) माना उसे साक्षात् प्राप्त ही कर खता है।

( ३ ) ( इन्द्र ) आत्मा ( मदसु ) अपने आत्मिक ज्ञान के आनन्द प्रवाहों में ( सान्निभे ) सेवन भजन करन और ( प्राभ ) प्रदण करने योग्य ( यज्ञ ) काम क्रोधादि क वर्जन करन में समर्थ ज्ञानशक्ति का (या अक्षय) चारों ओर फेंक फैलाव । ( अप्सुजित् ) क्रिपामों, प्रज्ञानों और प्राणों पर विनय प्राप्त करन द्वारा योगी ( स भरत् ) अज्ञान का नाश करता हुआ या ज्ञान का समूह करता हुआ ( वृषण ) सुखों की वषों करन हारे उस परमात्मा का ( गृह्णाति ) पकड़ता, उसका आश्रय खता या प्राप्त हो जाता है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[६६७] पुरोजिनी वा अग्धस सुताय मादयि नये ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २७ २९  
थय ध्यान अधिष्ठन सखायो दीर्घजिह्वयम् ॥१॥

१ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
[६६८] यो धारया पाथकया परिप्र स्यन्दते सुत ।

२ ३ २ ३ २ २  
इन्द्रुरग्यो न कृत्य ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
[६६९] त दुरोपमभी नर सोम विश्वाच्या धिया ।

३ १ २ ३ १ २  
यथाय सन्वद्रय ॥३॥१८॥ य० ३ । २०१ । १-३ ॥

भा०—( १ ) इषाण्या दसा अविच्छ स० [२४२] २० २७३ ।

( २ ) ( इन्द्र ) वह परम पथर्षे, विभूतियों में सम्पन्न योगी ( यथ न ) अथ क समान ( कृत्य ) कर्म करन में कुशल होता है। ( य ) जो ( पाथकया ) पवित्र करन वाछा ( धारया ) धारया या ज्ञान धारा में ( सुत ) निष्पन्न निष्पन्न, उसमें निष्ठ होकर ( परिप्र स्यन्दते ) चारों तरफ अपने ज्ञान उपदहों द्वारा विचरण करता है।

( ३ ) ( त ) उस ( दुरोप ) दु खकारी रोप या दाह प्रताप या तेज वाले ( सोम ) शोण्य वागी के पास ( नरः ) लोग ( विशाच्या धिया ) विश्वम्पायी प्रेमबुद्धि से । अभि) भाते हैं । मनुष्यों को चाहिये कि वे ( भ्रदय ) पर्यंत के समान स्थिर अभेद्य हृदय या भेष के समान आदरपूर्ण, उदार हृदय होकर ( पश्याप ) दान आदि शुभ कार्यों के निमित्त ( सन्तु ) लगे रहें ।

[७००] अभि प्रियार्षि पवते चनेो हितो नामानि यद्धो अधि येषु  
<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३</sup>  
 वर्धते । आ सूर्यस्य बृहती बृहन्नधि रथ विश्वश्चमयह  
<sup>३ २</sup>  
 द्विचक्षण ॥ १ ॥

[७०१] ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं घक्ता गतिर्धियो अस्या-  
<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १</sup>  
 अदाभ्य । दधानि पुत्र. पित्रोरर्षिच्यरे नाम तृतीयमधि-  
<sup>२ ३ २ ३ २</sup>  
 रावन दिव. ॥ २ ॥

[७०२] अथ ह्युनां कलशां अचिक्रदधृभिर्यमाण कोश आ  
<sup>३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
 द्विरययये । अर्भा ऋतस्य दोहना अनूपताधि त्रिपृष्ठ  
<sup>३ २ २ १ २</sup>  
 उपसो विराजन्ति ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ६ । ७५ । २-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० स० [५६४] पृ० २७६ ।

( २ ) ( अतस्य ) सत्यवादी, योगाभ्यासी की ( जिह्वा ) वाणी ( प्रियं ) अति उत्तम, हृदय को तृप्त करन वाले, ( मधु ) आनन्दजनक रस और ज्ञान को ( पवते ) बढ़ानी है । ( अस्या ) इस ( धिय. गति ) सत्य धारणा या बुद्धि का स्वामी और ( पत्रा ) सत्य वाणी का बोलने द्वारा ( अदाभ्य ) कर्मा नाश नहीं किया जा सकता, पापियों से मार कर दबाया नहीं जा सकता ।

७००—(२) 'अधितोचने' इति अ० ।

(३) 'अभोवृत्तस्य' 'विराजन्ति' इति अ० ।

तब वह यागी ( पुत्र ) थापन मा थाप का सुपुत्र ( पित्रो ) मा थाप से भी ( अर्थात् ) अज्ञात ( मृतीय ) सासर ( दिव्य अधि रोचन ) दिव्य गुण वाले ज्ञानप्रकाश स युक्त, सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाश करने वाला, विद्वानों के समाज की शोभा बढ़ाने वाला ( नाम) स्वरूप या तेजस्वी पद ( दधति ) प्राप्त करता है । एक माता का प्रेम का नाम, एक पिता का व्यावहारिक नाम, साँसरा वह प्रतिष्ठित नाम जिससे दुनिया उसका आदर करती है, जैसे महर्षि, महात्मा लोकमान्य दशबन्धु आदि । यहाँ सत्यवाणी सोम है ।

( ३ ) वह यागी आ मा ( द्युतान ) दीक्षिमाद् होकर ( मृभि ) नयन करन द्वार प्राणों स ( यमाय ) नियन्त्रित होकर ( द्विरयय ) द्विरयमय आनन्दमय ( कोश ) काश में ( अथ अचिकृद् ) शनै २ प्रवेश करता है । ( अतस्य ) सत्यमय ज्ञान के ( दोहना ) दोहन या पूर्ण करने वाले प्रवाद ( इम् ) इमका ( अमि अनूपत ) स्तुति करते हैं, प्रकट होते हैं । ( त्रिष्टुठ ) तान प्राणों के स्पर्श या सगम-स्थान त्रिपुरी स्थल पर ( उपस ) प्राप्त प्रभा के समान विशोका प्रज्ञाओं के बीच (अधि विशात्सि) विशाजमान होता है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[७०३] यक्षायक्षा यो अग्रये गिरागिरा च दक्षसे ।

१ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २

प्र प्र घयममृत जातघदस प्रिय मित्र न शसिपम् ॥

३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[७०४] ऊर्ध्वो नपात स्व दिनायमभ्युदशिम ह्य्यदातये ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

भुयद्वाजेप्ययिता भुयद्दृध उत प्राता तनूनाम् ॥ २० ॥

श्र० १ । ४८ । १, २ ॥

भा०—( १ ) स्वारथा देसो अयि० स० [ ३२ ] पृ० १२ ।

( २ ) ( ऊर्ध्व ) बल को ( नपात ) न चीथ होने देने वाले इस 'अग्नि' का मैं वर्णन करता हू । ( स ) वह ( दिना ) तो सदा ( अरमयु )

हमारा हितकारी है । ( हृष्यदाभये ) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को दान करने वाले उस परमात्मा को हम भी ( दाशेम ) अपना आत्मा सम-पण करें । वह ( वाजेपु ) संघामों या बल के कार्यों में ( शविता ) रचक ( भुवद् ) होता है और ( वृधे ) हमारी उन्नति के अवसरों पर ( तनूनाम् ) देहों और देहधारियों का ( प्राता ) पालक ( उत्त ) भी ( भुवद् ) होता है ।

२ ३ १ २ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

[७०४] एह्यपु ब्रह्मणि तऽग्नि इत्येतरा गिरः ।

३ १ २ ३ १ ३

एभिर्यर्धाल इन्दुभिः ॥ १ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[७०६] यत्र क च ते मनो दत्तं दधस उत्तरम् ।

२ ३ १ २

तत्र योनिं कृण्वसे ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

[७०७] न हि ते पूर्वमक्षिपन्नुवन्नमानां पते ।

२ ३ १ २

अथा दुवो वनवसे ॥ ३ ॥ १२१ ॥ अ० ६ । १६ । १६-१८ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविच्छेद सं० [७] पृ० ४ ।

( २ ) हे ( अग्ने ) ज्ञानी आत्मन् ! हे परमात्मन् ! तू ( ते ) अपने ( मन ) चित्त या मनन करनेदार आत्मा का ( उत्तरं ) उत्तर ( दत्त ) कर्म ( दधसे ) धारण कर । ( तत्र ) वहाँ तू ( योनिं ) आश्रयस्थान ( कृण्वसे ) बना ।

( ३ ) हे ( अग्ने ) ज्ञानवन् आत्मन् ! हे ( नेमानां ) इन्द्रियों और शरीर के ( पते ) पालक ! प्रभा ! ( ते पूर्वम् ) तेरा पूर्ति या तृप्ति करने वाला तेज या बल ( अक्षिपद् ) इन्द्रियों का नाश करने वाला ( नहि ) न ( भुवद् ) हो । ( अथ ) और हम कारण ( दुवः ) परिचर्या, सेवा या साधना को ( वनवसे ) स्विकार कर ।

[७०८] वयमु त्थामपूर्यं स्थूर न कश्चिद्भ्रूत्ताऽवस्यधः ।

१ २ ३ १ २

घञ्जिश्चिभ्रं हवामहे ॥ १ ॥

[७०६] उप त्वा कमन्दूनये स ना युवाप्रश्नकाम यो धृपत् ।  
 त्वामिन्द्रयंवितारं वष्टुमह सराय इन्द्र सानसिम् ॥२॥२२॥  
 अ० ङ । २१ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अतिकूल सं० [४०८] पृ० २०७ ।

( २ ) हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! ( कमन्दू ) समस्त कामों में (कृतये) रक्षा और ज्ञान के निमित्त (त्वा) आपको ( उप ) उपासना करते हैं । ( सः ) यह (युवा) बलवान् ( उप्र ) तेजस्वी है (यः) जो ( धृपत् ) शत्रु काम, क्रोधादि को पराजित करता है । हे ( इन्द्र ) प्रभो ! ( त्वामिन्द्रि ) तुम्हें ही हम ( सन्धाय ) मित्र जीवण्य मिलकर ( सानसि ) सबके प्रति समान रूप से आश्रय करान योग्य ( अवितारं ) रचक रूप से ( वष्टुमहे ) करते हैं ।

[८१०] अघ्रादीन्द्र गिर्यण उप त्वा काम इमहे सख्यमहे ।  
 उदेव ग्मन्न उदभिः ॥ १ ॥

[७११] घाणं त्वा यस्याभिवृद्धन्ति शूर प्रह्लाणि ।

घावृष्यांस चिदद्रियो दिवेदिये ॥ २ ॥

[७१२] युजन्ति हरी इधिरम्य गाथयारी रथ उरुयुगे घचीयुजा ।  
 इन्द्रवाहा स्वयिदा ॥३॥२३॥ अ० ङ । १८ । ७-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अतिकूल सं० [४०६] पृ० २०७

( २ ) हे ( अदिव ) न विनाश होने वाले ज्ञान को धारण करने वाले ! हे शूर ! नदियों से ( वाः न ) जिस प्रकार जलमय समुद्र भरता है उसी प्रकार ( दिवेदिये ) प्रनादिन ( प्रह्लाणि ) प्रह्लाजान या घेदमन्त्र ( घावृष्यांस ) सबसे बड़े महान् ( त्वा ) तुम्हें ( यस्याभिः ) तुम्हें तक पहुंचने वाली स्तुतियों से ( यजन्ति ) बढ़ाते हैं, प्रभात् वे तैरी महिमा को उमस और बढ़ाते हैं ।

( ३ ) ( इयिस्य ) सबका प्रणय करने वाले ईश्वर की ( राधया ) स्तुति द्वारा हा यागी जाग ( वरयुग ) विशाल २ समाधि वाले ( रथ ) रमय-भाग्य स्थान इस दृष्ट या रसस्वरूप आत्मा में रथ में, घाँवों क समान (वचायुजा) वाणी द्वारा हा समाहित या वरा हाजान वाले (हरी) हरयुगाल प्राण्य और अपान दानों का (युग्जगति) याग स अपने वरा कर खत हैं । व ही दानों ( स्वर्विदा ) ज्य ति और सुख का प्राप्त करान हार ( इ द्रघाहा ) आत्मा के बहन करने वाले दा अथ क समान है ।

इति षष्ठं पटलम् ।

इति प्रथमाऽध्यायः । इति प्रथमार्थं प्रपाठकम् ॥



## अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

द्वितीयार्थं प्रपाठकम् ।

श्रुति — १ ४ श्रुतयुग २ १४ १५ वसिष्ठ । २ मेघ्य तिविप्रियमथी । ५ श्रिमिठि ६ कुमीर काण्व ७ त्रियोक । ८ वाण्व प्रियमेध । ९ विश्वामिप । १० मधुचन्द्रम् । ११ शुन श्रेय । १२ नारद । १३ नाम ४ । १६ अथ सार । १७ १८ असिन काश्यपो वनहोयुर् । १९ २१ न्यागाथ । २० भरद्वाज दध सप्त ऋषय । २२ प्रथमम-अस्व न्यागाथ द्वितीयम अस्व प्रव पति तृतीयम अस्व अन्वरीप ॥ देवता १ १२ १३ । १३ १६ अग्नि १६ उप । १९ अश्विनौ । १७ २२ सोम ॥ छन्द — १ ११ १६-१६ २२ गायत्री १२ षण्णिक । १३ १५ २० वृद्धी । २० प्रथमद्वितीयम-अथो षण्णिक तृतीयम-अथो गुण्डम् ॥ स्वर — १ ११ १६-१९ २१ २२ एतज् । १२ न्ययम ।

१३ १६ २० मध्यम ॥



२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 [७१३] पान्तमा वा अन्धस इन्द्रमाभि प्र गायन ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २  
 विश्वासाद् शतक्रतु महिष्ठु चर्षणीनाम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २  
 [७१४] पुरुहूत पुरुष्टुत गाथान्याऽऽसनध्रुतम् ।

२ ३ १ २  
 इन्द्र इति प्रवीतन ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 [७१५] इन्द्र इन्द्रो महोना दाता वाजानां नृतु ।

३ १ २ ३ १ २  
 महो अभिश्शायमत् ॥ ३ ॥ १ ऽ ऋ० ८ । १२ । १-३ ॥

भा०—( १ ) श्वात्था दम्बो अविफल स० [१५५] पृ० ८७ ।

( २ ) ( पुरुहूतं ) इन्द्रियों द्वारा, या प्रजाओं द्वारा अपनी रक्षा के निमित्त पुकारे गये, ( पुरुष्टुतं ) प्रजाओं या इन्द्रियों द्वारा स्तुति किये गये, ( गाथान्यं ) गाथारूप, वेदवाणियों के श्रवण द्वारा प्राप्त करने योग्य, (सनध्रुत) सदाकाल से गुरुपदेशों में सुने गये, विशेष पुरुष-आत्मा को (इन्द्रः) इन्द्र (इति) इस प्रकार (प्रवीतन) कहे । राजा, आत्मा, परमात्मा सर्वत्र समान है ।

( ३ ) ( इन्द्र इत् ) परमेश्वर ही ( न ) हमें ( महोनां ) दिव्य तेजों से युक्त महान् ( वाजानां ) अश्वों और घोड़ों का दाता, ( नृतु ) सबको अपने बल पर मचाने वाला ( महान् ) सबसे बड़ा ( अभिष्ठु ) सर्वज्ञ ( श्वायमत् ) सबको व्यवस्था में बांधता है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [७१६] प्र थ इन्द्राय मादत हर्यश्याय गायन ।

१ २ ३ १ २  
 श्वाय' सोमपात ॥ ७ ॥

१ ३ ३ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २  
 [७१७] शसेदुकथ सुदान उ न सुहं यथा नटः ।

३ १ ३ १ २  
 चरुमा सत्यरात्रसे ॥ २ ॥

( २ ) हे वज्रिन् ! हे ज्ञान वज्र के धारक इन्द्र ! ( अपस ) कर्म के ( नविष्टौ ) प्रारम्भ में मैं ( अन्धद् ) और किसी का ( न घ ईन् आपपन ) स्तुति नहीं करता । ( तव इत् उ ) तेरा ही ( स्तोमै ) स्तुतियों द्वारा ( चिकेत ) ज्ञान करता हू ।

( ३ ) ( देवा ) विद्वान् लोग या इन्द्रियगण ( सुन्वन्त ) प्रेरणा या आज्ञा करते हुए या साम सवन या इश्वरोपासना करते हुए या ज्ञान पेश्वर्य लाभ करत हुए पुरुष को ही ( स्पृहयन्ति ) प्रेम करत हैं । ( स्वमाय ) साते हुए आलसी पुरुष को ( न स्पृहयन्ति ) प्रेम नहीं करते । ( भतन्दा ) आलस्य रहित हाकर ही ये विद्वान् देव या इन्द्रियगण ( प्र-माद ) अत्यन्त हर्ष को ( यन्ति ) प्राप्त होते हैं ।

[७२२] इन्द्राय मद्धने सुत परिष्टोभन्तु ना गिरः ।

अकमचन्तु कारः ॥ १ ॥

[७२३] यस्मिन् त्रिधा अत्रिधियो रणन्ति सप्त सप्तद ।

इन्द्र सुते हवामहे ॥ २ ॥

[७२४] त्रिकटुकेषु चेतन देवासो यज्ञमन्तत ।

तामद्वज्जन्तु ना गिरः ॥३॥ ४ ॥ ऋ० ८ । १२ । १६-२१ ॥

भा०—(१) ग्याख्या देखा अबिकल स० [१२८] पृ० ८८ ।

( २ ) ( यस्मिन् ) जिस इन्द्र में ( विधा त्रिय ) समस्त विभूतिया ( अधि ) अधिक शाभा दनी हैं और जिसमें ( सप्त सप्तद ) उत्तम प्रकार से अपने स्थिति प्राप्त किय हुए हाता स्वरूप सात इन्द्रियगण ( रणन्ति ) ज्ञान-पक्ष में आनन्दलाभ करत हैं उस ( इन्द्रम् ) आत्मा को ( सुते ) योग यज्ञ में अतम्भरा सिद्ध होने पर ( हवामहे ) पुकारते हैं उसका स्मरण, चिन्तन, स्तुति करते हैं ।

[७२८] आ नू न इन्द्र जुमन्त चित्र प्राभ सङ्गृभाय ।

महाहस्ती दाक्षणेन ॥१॥

[७२९] विद्या हि त्वा तुविकूर्मिन्तुवदप्य तुर्व मघम् ।

तुविमात्रम गोभि ॥२॥

[७३०] न हे त्वा शूरदवान मत्तासो इत्तमन्तम् ।

भीम न गा वारय ते ॥३॥ ६॥ ऋ० ८ ८१ । १३॥

भा०—(१) व्याख्या दक्षा अविकल सख्या [१६७] पृ० ६३ ।

(२) हे इन्द्र (त्वा) तुम्हका हम ( अवाभ ) तरी रक्षाओं, ज्ञानों और कृपाओं क कारण ( तुविकूर्मिम् ) बहुत स कर्मों क करनहार ( तुविदप्य ) बहुतस धन सम्पदाओं का दाता, ( तुवामघम् ) बहुत उचाम धनों, ज्ञानों स सम्पन्न ( तुविमात्र हि ) बहुतस ज्ञान साधनों से युक्त भा ( विद्य ) जानत हैं ।

(३) हे शूर ! ( भीम ) भयजनक ( गा न ) जिस प्रकार साइ का काइ हट न का साइम नों करता उसी प्रकार ( भीम ) सबका भयजनक, सर्व-यापक ( दिक्षन्त ) दान की कामना करत हुए तुम्हका ( न दवा ) न विद्वान् जाग और ( न मत्तास ) और न साधारण जाग ( वारयन्त ) वारय करत हैं ।

[७३१] आभ त्वा वृषभा सुते सुत सृजामि पीतय ।

सृम्पा व्यशुही मदम् ॥१॥

[७३२] मा त्वा मूरा अत्रिभ्यर्वा मापहस्वान आदभन् ।

माकां ग्रहादियं वन ॥२॥

[७३३] इह त्वा गोपरीणम महे मन्द-तु राधसे ।

सरो गौरो यथा पिर ॥३॥७॥ अ० ८ । ४५ । २२ २४ ॥

भा०—(१) श्यारया दसा अवि० स० [१६१] पृ० ८६।

(२) हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( मूला ) मूल ( अविष्यव ) तुम्हे पावन पोषण की चेष्टा करने हारे भागी विलासी बोन ( त्वा ) तुम्हे ( मा दमन् ) नाश न करें । ( मा उपहस्वान ) तुम्ह पर उपहास करनेहारे, तेरे उपहासकारी भी तरा विनाश न करें । और ( ब्रह्मद्विष ) यद् और ब्रह्मज्ञान का प्रेम न रखने वाला तेरा कभी सेवा न करें, तेरा कभी आनन्द लाभ न करें ।

मूल क्षाग दह की पालना कर आत्मा का नाश करते हैं उपहासकारी लगा नास्तिक भी आत्मा का नाश करते हैं, पापों में बह जात हैं और वेद और ब्रह्मविद्या के द्वयी भी आत्मज्ञान का आनन्द नहीं पाते ।

(३) ( यथा ) जिस प्रकार ( गौर मृग ) गौर मृग ( सर ) जल से भर तालाब पर जाकर जल पीता है उसी प्रकार हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! तू यहा इस हृदय में विराज कर ब्रह्मानन्द करस का ( पिव ) पान कर । ( इह ) यहा ही ( गो परीणस ) इन्द्रियगण स परिवृत जितन्द्रिय ( त्वा ) तुम्हका ( महे राधसे ) बड़ा भारी ब्रह्मज्ञान साधना क द्विये ( मन्दन्तु ) साधक लगा आनन्दित करत हैं, जगात हैं ।

[७३४] इह वसा सुनम-व पिवा सुपूर्णमुदरम् ।

अनाभयिन् ररिमा ते ॥१॥

[७३५] नृभिर्घात सुनो अश्रनैरव्यायारि-परिपूत ।

अश्वो न नित्तो नदीपु ॥२॥

[७३६] त ते यव यथा गोभि स्वादुमकर्म थीणन्त ।

इन्द्र त्वास्मिन्सध्रमादे ॥३॥८॥ अ० ८ । २ । १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [१२४] पृ० ६६ ।

(२) ( नदीपु ) नदियों में ( निऋः ) स्नान कराये गये ( अघ० न ) अघ के समान ( नृभिः ) नेता लोगों द्वारा ( धौतः ) मलादि छुड़ाकर शुद्ध किया गया ( अरनैः ) सूक्ष्म तत्वों तक पहुँचने, एवं आत्मानन्द का भोग करने हारे विद्वानों द्वारा ( सुन० ) उत्पन्न किया, सोमरस, आत्मज्ञान ( अघ्या. ) चित्ति शक्ति या प्राण के ( वारैः ) प्रकट करने हारे योगाङ्गरूप साधनों द्वारा ( परिपूत. ) परिशोधित, ( नदीपु निऋ. ) प्रवाह के रूप में बहने वाली ज्ञानधाराओं में शुद्ध होता है ।

(३) ( यथा ) जिस प्रकार हम ( गोभिः ) गो-रसों से ( धीणन्तः ) मिजाते और परिपाक करते हुए ( यवं ) यव के बने पकाय को ( स्वादुं ) आनन्ददायक यवागू पाक ( अकर्म ) बना लेते हैं उसी प्रकार ( तं ) उस ज्ञानमय आत्मा को ( ते ) वे साधक लोग ( गोभिः ) जानेन्द्रियों से प्राप्त रसों या तेजोमय ध्यानरश्मियों से ( धीणन्तः ) मिजाते, परिपाक या दृढ़ करते या अभ्यास करते हुए ( अरिमन् ) इस ( सधमादे ) आनन्द-जनक समाधि-दशा में हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( स्वा ) तुम्हको ( स्वादुं ) स्वादु, अति हर्षदायक रूप से ( अकर्म ) साक्षात् करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।



३१२      २४      ३ १ २  
[७३७] इदं ह्यन्धोजसा सुतं राधानां पते ।

२ ३ २      १ ३  
पिवा त्वाऽऽश्म्य गिर्वण ॥१॥

२ ३ १ ३ ३ १२ २२ ३ १२ २२      ३६ २२  
[७३८] यस्ते अनु स्वधामसत्सुत नियच्छ तन्वम् ।

१ २  
स त्वा मगच्छ सोम्य ॥२॥

[७३६] प्र ते अश्नोतु कुक्षयो मेन्द्र ब्रह्मणा शिर ।

प्र वाहू शूर न प्रसा ॥२॥६॥ अ० ३ । २१ । १० । १२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखा अवि० स० [१६१] पृ० ६२ ।

(२) ह इन्द्र ( ते ) तरा ( य ) जा ( स्वधाम् ) स्व अर्थात् अपने स्वरूप में धारणा करन क ( अनु ) अनन्तर ( असत् ) प्रकट होता है ( सुते ) उस उत्पन्न आनन्द में तू हे आत्मन् ( तन्व ) अपने स्वरूप को ( नि यच्छ ) नियमित कर, समर्पित कर । ह सोम्य ( सोमरस क पान करन याम्य आत्मन् ) वह ज्ञानरस ( त्वा ) तुम्हका ( ममत्तु ) अति आनन्दित करे ।

(३) हे (इन्द्र) आत्मन् ( वह ज्ञानरस और आनन्दरस ( ते कुक्ष्या ) तरे दानों ज्ञान और कमरूप पाशों का और ( शिर ) शिर का ( ब्रह्मणा ) ब्रह्मज्ञान द्वारा (अभानु) व्याप्त कर वा दु खों का बाध । और हे शूर ( त वाहू ) तेरी बाहुओं का ( राधया ) बल पक्षयें स पूर्ण कर ।

आत्मा क दानों काखा और शिर का व्याख्यान देखा ( तैत्ति० उप० १ )

[७४०] आ त्वे ता निपीदतन्द्रमभि प्र गायत ।

सराय स्तामवाहस ॥१॥

[७४१] पुरुतम पुरुणामीशान वार्याणाम् ।

इन्द्र सोमि सचा सुत ॥२॥

[७४२] स घा ना य ग आभुवत्स राय स पुरन्ध्या ।

गमद्वाजेभिरास न ॥३॥१०॥ अ० १७ । ५ । १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखा अवि० स० [१६४] पृ० ६१ ।

(२) (पुरुणा) प्राणा और इन्द्रियों में सबस (पुरुतमम्) श्रेष्ठ (वार्याणाम्) वरण करने योग्य ज्ञानों और धनों के ( ईशानम् ) स्वामी (इन्द्रम्)

राजा और आमा की ( सुते सोम ) उत्पन्न किये इस आनन्दकारी, सबके प्रेरक, भोग्य रस या ज्ञानरस, या ऐश्वर्य में मग्न होकर सब (सचा) साथ मिलकर ( अभि प्र गापत ) गान करो, उसकी स्तुति करो ।

(३) ( स घ ) वही आत्मा ( न ) हमारी ( योगे ) समाधिदशा में ( आभुवत् ) साक्षात् होता है । ( स राये ) वही नाना ज्ञान, तप रूप धनसाति क अन्तर में और ( म ) वही ( पुरन्ध्या ) नाना पदार्थों को स्मृतिरूप से या दह को धारण करने वाली बुद्धि द्वारा भी ( आभुवत् ) प्रत्यक्ष साक्षात् होता है । ( स न ) वह हमारे पास ( वाजेभिः ) ज्ञानों द्वारा ( गमत् ) प्राप्त हो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

[७५३] यागे यागे नवन्तर वाजवाजे हवामहे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

सखाय इन्द्रमूनये ॥१॥

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[७५४] अनु प्रत्नम्यौकसो हुवे तुविमति नरम् ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २

य त पूर्वं पिता हुवे ॥२॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[७५५] आ वा गमयदि श्रवत्सहस्रिण्यं भिरुनिभिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

वाजेभिरुप ना हवाम् ॥३॥११॥अ० १ । ३० । ७, ६, ८ ॥

भा० - (१) व्याख्या देखिये अवि० स० [१६३] पृ० २१ ।

(२) ( प्रनस्य ) बहुत पाचीन ( ओकसः ) परप आश्रयरूप मोक्ष के प्रति (नरं) लगाने वाले ( तुविमति) बहुओं की कामना पूर्ण करने वाले परमेश्वर को ( अनु हुवे ) पुन २ प्रतिदिन स्मरण करता हू । ( यं ) जिस ( ते ) तुम्हें ( पिता ) हमारे पालन करनेवाले साक्षात् गुरु, आचार्य आदि ( पूर्वं ) हमसे पहले ( हुवे ) स्तुति करते रहे ।

(३) ( यदि ) यदि वह परमेश्वर ( न ) हमारी ( हवाम् ) स्तुति को ( धवन् ) सुनले तो वह ( सहस्रिणीभिः ) सहस्रों यज्ञशास्त्रिणी ( ऊतिभिः )

रक्षा करनेहारी शक्तियों से और ( वाजमि ) सदृशों सत्य ज्ञानों क सहित  
( उ आगमत् घ ) साक्षात् प्रकट ही ज्ञातावे ।

[७४६] इन्द्र सुतेषु सामेषु क्रतु पुनीष उरुयम् ।

विदे वृषस्य दक्षस्य महा द्वि प ॥ १ ॥

[७४७] स प्रथमं व्योमनि देवाना सदने वृध ।

सुपार सुथरस्तम समप्सुजित् ॥ २ ॥

[७४८] तमु हुने वाजसानय इन्द्र भराय शुमिणम् ।

भगान सुम्न अन्तम सखा वृधः॥३॥१२॥ १०८॥ ३।१-३।।

भा०—( १ ) व्याख्या दक्षो अविकल स० [३८१] पृ० ११७ ।

( २ ) ( स ) वह परमधर ( प्रथम ) सबसे श्रेष्ठ ( व्योमनि )  
विशय रूप से शरण प्राप्त करन योग्य ( देवाना सदने ) विद्वान् ज्ञानी और  
सुक्र पुर्यों क आश्रय या निवास करने योग्य लोक में ( वृध ) सबसे बड़ा  
है । वह ( सुपार ) उत्तम रूप स ज्ञान करन योग्य और कष्टों से तरान व जा  
( सुथरस्तम ) उत्तम वश और ज्ञान का धारण करनेहारा, ( समप्सु  
जित् ) समस्त कर्मबन्धनों या बन्धनों में फसे जीवों में सबसे उकृष्ट एवं  
आदि मूल कारण प्रकृति पर भी वश करने वाला है ।

( ३ ) ( तम् ) उस ( भराय ) भरण पोषण करनेहारे, अथवा  
( भराय=हराय ) कर्मजाल को हरण करके सुत्रिमार्ग में खोजने वाले  
( शुमिणम् ) सर्वशक्तिमान् का ही मैं ( इन्द्र ) इन्द्र नाम स ( हुने )  
पुकारता हू । वह परमात्मा ( न ) हमारे ( सुम्ने ) सुगम्यति और ( वृधे )  
वृद्धि करने के निमित्त ( अन्तम ) अति समीप का, अन्तरंग (सखा) मित्र है ।

इति तृतीय खण्ड ।



[७४६] एना वा अग्निं गममानां नपातमाहुरे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
प्रय चातप्रमर्गति स्वधर विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥

[७५०] स याजन अरुपा विश्वमानसा स दुद्रुधत्स्वाहुन ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ क २ २  
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
सुत्रहा यज्ञ सुशर्मा वसुना देव राधा जनानाम् ॥२॥१३॥  
श्र० १० । ६ । ५ । यज्ञ० ३ । ५ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दत्ता अचिकल स० [४५] पृ० २० ।

( २ ) ( स ) वह परमात्मा ( अरुपा ) दासिमान् ( विश्वमानसा ) विश्व समस्त ससार का भाग कराने हार पालक सूर्य और पृथिवी दोनों का ( याजत ) नियुक्त करता है । वह ( स्वाहुत ) उत्तम रूप स कार्त्तिक परमात्मा हा ( दुद्रुधत् ) सबप्र व्यापक है । वही ( सुशर्मा ) उत्तम ज्ञानवान् सबका उपात्क है और वही ( यज्ञ ) महादाना यज्ञस्वरूप, (सुशर्मा) उत्तम शांत गुण सम्पन्न है । ( वसुना ) वास करने हार ( जनाना ) जन्तुआ क ( राध देव ) उस आराधनाय देव का उपासना करा ।

[७५१] प्रयु अदृश्यापत्युऽऽहृती दुहिता दिव ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २  
अपा मदीगृणुत चक्षुपातमो न्योनिष्करोति स्नरी ॥१॥

[६५२] उद्गाम्रया सृजत सूर्य सचा उग्रसक्षत्रमचिपत् ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
तवदुपा व्याप सूर्यस्य च स भक्तन गमेमहि ॥२॥१४॥  
श्र० ७ । ८ । १, २ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दत्ता अचिकल स० [३०३] पृ० १२५ ।

( २ ) ( सूर्य ) सबका प्रक उपात्क परमात्मा ( उक्षिया ) वायु करने योग्य किरणा और भूमिओं का (सचा) एक साथ सूर्य के समान (उग्रसृजत) प्रकट करता है और (उग्रन्) उदित हाता हुआ भा स्वयं ( न चित्रम् ) अपन स्थान स स्युन न हाने वाल नचित्र के समान स्थिर तथा



३ २ ३ २४ ३ १ २ ३ १ २  
 [७५५] अथ्य प्रत्नामनुद्युन शुम् दुदुहे अह्य ।  
 १ २ ३ १४ २४

पय सहस्रसामृपिम् ॥ १ ॥

३ १४ २ १४ ३ २ ३ १४ २४

[७५६] अथ सूर्य इजोपद्वगय सरासि धावति ।

३ २ ३ २२ ३ १४ २४

सप्तप्रवत आदियम् ॥ २ ॥

३ ४ २४ ३ १४ २४ ३ १ २

[७५७] अथ विश्वानि निष्ठति पुनानो भुवनापरि ।

१ २ २ १४ २४

सोमा देया न सूर्य ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ६ । २४ । १, ३ ॥

भा०—( १ ) ( अथ्य ) इस सोमस्वरूप परम आत्मा की ( प्रनाम् ) अनादि काल से चली आई, पुरानी ( शुतम् ) वेदज्ञानरूप कान्ति को ( अनु ) अनुसरण करके ( अह्य <sup>१</sup> ) नि सकोच, माननीय, विद्वान् लोग, ( सहस्रसाम् ) सदस्यों फलों को देने वाले, ( शुक्ं ) शुद्ध, पापरहित (अथि) अतीन्द्रिय बातों को दिखलाने हारे ( पय ) ज्ञान, वेदराशि का ( दुदुहे ) दोहन करते, उससे ज्ञान प्राप्त करते हैं ।

( २ ) ( अथ ) यह सोम ( सूर्य इव ) सूर्य के समान ( उपरग् ) समस्त पदार्थों और सब प्राणियों, सब लोकों का दण्ड है ( अथ ) यह सोम ( सरासि ) समस्त लोकों में (धावति) व्यापता प्रकाशित करता और गति देता है, ( दिवम् ) आकाश के ( सप्त ) सात प्रकार के ( प्रवत ) गतिमान्, पदार्थों को चलाता है । अध्यात्मपक्ष में—जीव, प्राणात्मा ( सरासि ) इन्द्रियों में स्वयं गति करता है और चौ अर्थात् मूर्धास्थान में ( सप्त प्रवत ) सात शरिण्यय प्राणों को भी गति देता है ।

( ३ ) ( अथ ) यह ( सोमा ) सोम, परमात्मा ( सूर्य न ) सूर्य के समान ( विश्वानि ) समस्त ( भुवना अपरि ) लोकों के ऊपर ( पुनान )

उत्तको गति देना हुआ और पवित्र करता हुआ ( तिष्ठति ) उत्तर शामन करने वाले अधिष्ठाता के रूप में विराजमान है ।

३२ ३२ ३१ २ ३१ ३१ २ ३२

[७५८] एष प्रत्नेन जन्मना देवां देवभ्यः सुतः ।

१ २ ३ १ २

हरिः पवित्रं अर्पति ॥ १ ॥

अ० १ । ३ । १ ॥

३२ ३२ ३ १ २ ३२ ३२ ३ १ २

[७५९] एष प्रत्नेन मन्मना देवां देवभ्यस्परि ।

३१ २

पवित्रिषेण वावृधे ॥ २ ॥

अ० १ । ४२ । २ ॥

३ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २

[७६०] दुहानः प्रत्नमित्पयः पवित्रं परिविच्यसे ।

१ २ ३ १ २

मन्दन् द्यां अजीजनः ॥ ३ ॥ १७ ॥ अ० १ । ४२ । २ ॥

भा०—( १ ) ( एष ) यह सोम ( देव ) ज्योतिर्मय आत्मा ( प्रत्नेन ) अनादिब्रह्म से चले आये ( जन्मना ) जन्म, जननशक्ति, सामर्थ्य से ( देवभ्यः ) इन्द्रियों के लिये भोगार्थ ( सुतः ) प्रकट होकर ( हरिः ) हरणशोभ, उत्तको गति देनेहारा होकर ( पवित्रे ) प्राण और अपान के बने मक्षशोधन करने वाले, साधन में ( अर्पति ) गति करता है ।

प्राणापानौ पवित्रे । तै० ३ । ३ । ४ । ४ ।

( २ ) ( एष ) यह सोमस्वरूप जीव ( प्रत्नेन ) अनादिब्रह्म से चले आया ( मन्मना ) मनन शक्ति द्वारा ( देवभ्यः ) अथवा दिव्यगुण वाली इन्द्रियों के भोग के निमित्त ( देव ) स्वयं प्रकाशस्वरूप, चेतन ( कविः ) मेधावी, ज्ञानी होकर भी ( विषेण ) मेधावी परम ब्रह्म प्रज्ञावति के साथ ( परिविवृधे ) सब प्रकार से उन्नति को प्राप्त होता है ।

मत्तापवित्रे विप्रः, देवाः विशाः । शतपथ ३ । ३ । १ । १६ ॥

( ३ ) हे सोम ! ( प्रथम् इत् ) पुराने, धनादिकाल से पहले भाये ( पय ) प्राण जीवन का ही ( दुहान ) रस या जीवनरूप में दुहता हुआ तू ( पवित्र ) पवित्र करने द्वारे प्राण और अपान या परम पावन ज्ञान के द्वारा ही ( परि सिच्यस ) पवित्र किया जाता है । ( क्रन्दन् ) शब्द करता हुआ, 'माह' का नाद करता हुआ या 'ओं' का नाद करता हुआ तू ( देवान् ) इन्द्रिपगण का ( अजीजन ) प्रकट करता है ।

प्राणा पय ॥ शत० ६ । २ । ४ । १५ । और ६२ । ३ । ३ । ३१ ।  
अन्तर्हेतमिव वा एतद् यत् पय । ताण्ड्य० ८ । ६ । ३ ।

१ २            ३ १ २    ३ २ ३ १    २ ३    १ २  
[७६१] उप शिक्षापतस्थुपो भियसमा धेहि शत्रवे ।

१ २            ३ २ ३ २  
पत्रमान विदा रयिम् ॥१॥ अ० ९ । १९ । ६४  
२ ३ २    ३ २ ३ ०    ३ १ २ ० १    २ २

[७६२] उपोषु जातमन्तुर गोभिर्भङ्ग पारिष्टम् ।

१ २ ३ १ २  
इन्दु दवा अयाम्पि ॥२॥ अ० ६ । ६१ । ११ ॥

[७६३] उगाम्भै गायता नर पत्रमानायेन्द्रये ।

३ २    ३ १    २ २  
अभि देर्वा इयक्षने ॥३॥ १८ ॥ अ० ६ । ११ । १ ॥

भा०—(१) इ ( पत्रमान ) पावन करने वाले । हे ( सोम ) पेश्वे वन् ( अपतस्थुप ) नीचवृत्ति से स्थिति रखने वालों को ( उपरिष्ठ ) शिक्षा दो कि वे अपनी पुरी शक्ति का छोड़कर भजे मार्ग में आवें । ( शत्रवे ) शत्रु को ( भियसम् ) मय ( अपेहि ) दिलावो । हे प्रभो ! ( रयिम् ) धन का ( विदा ) प्राप्त कराया ।

अग्निर्वापि पत्रमान । ऐ० २ । ३० ॥ प्राणो वै पत्रमान ॥ श० २ । २ । १ । ६ ॥ आत्मा वै पत्रमान । तां० ७ । ३ । ७ ॥ पुष्ट वै रयि । श० २ । ३ । ७ । १३ । वीर्यं वै रयि । श० १३ । १४ । २ । १३ ॥ पशवो वै रयि ।

(२) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८७] पृ० २४३ ।

(३) व्याख्या देखो अवि० सं० [६२१] पृ० ३२८ ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[७६४] <sup>१</sup>प्र <sup>२</sup>सोमासो <sup>३</sup>निपश्चिताऽ<sup>४</sup>पो <sup>५</sup>नयन्त <sup>६</sup>ऊर्मयः ।

<sup>१</sup>घनानि <sup>२</sup>मदिषा <sup>३</sup>इष ॥१॥

[७६५] <sup>३</sup>अभि <sup>४</sup>द्रोणानि <sup>५</sup>यभ्रयः <sup>६</sup>शुक्रा <sup>७</sup>भ्रूतस्य <sup>८</sup>धारया ।

<sup>१</sup>वाज <sup>२</sup>गोमन्तमत्तरन् ॥२॥

७६६ <sup>१</sup>सुता <sup>२</sup>इन्द्राय <sup>३</sup>दायध <sup>४</sup>वरुणाय <sup>५</sup>मरुद्भयः ।

<sup>१</sup>सोमा <sup>२</sup>अप्यन्तु <sup>३</sup>उपस्थुः ॥३॥ १६३ अ० १ । ३३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४७८] पृ० २४० ।

(२) ( यभ्रय ) यभ्रु पर्ण वाले काषाय वस्त्रधारीविद्वान् लोग ( अतस्य ) ज्ञान और तप की ( धारया ) धारणा से ( शुक्राः ) कान्तिमान्, ( अभि द्रोणानि ) शस्त्रों के प्रति ( अभि ) आकर ( गोमन्तम् ) वेदवाणी से युक्त या पशुादि से समग्र ( वाज ) ज्ञान या धन को ( अभि चरन् ) उत्पन्न करते, प्रदान करते हैं । अथवा अस्यात्म मे—( यभ्रय ) पुष्टिकारक प्राण और ( अतस्य ) सायज्ञान के ( धारया ) धारण करने वाली अतंभरा प्रज्ञा से ( शुक्राः ) कान्ति या अप्तानि स समग्र हांकर ( द्रोणानि ) शस्त्र-गिदियों के प्रति ( अपरन् ) प्रवादित होते हैं । और ( गोमन्त ) वाणी से युक्त ( वाज ) ज्ञान को ( अभि चरन् ) साधान् प्रकट करत हैं ।

शस्त्रं द्रोणकच्छराः । ता० ६ । ६ । १ । प्राणा वै दोषकच्छराः ता० ।

६ । २ । १२ ।

७६७—'भावां प्रवृत्तयः' इति क० ।

७६६—'भान्ति' इति ख० ।

(३) ( सुता सोमा ) उत्पन्न हुए ये ज्ञान या आनन्दप्रद समस्त पदार्थ ( चायवे ) प्राणस्वरूप ( वरणाव ) ज्ञानी ( विष्णवे ) सर्वव्यापक ब्रह्म में लीन ( इन्द्राय ) आत्मा के लिये और ( भरुद्रप. ) विद्वानों के लिये ( अर्धन्तु ) प्राप्त हों ।

[७६७] प्र सोम देव प्रीतये । सन्धुर्न पिण्णे अर्णवाः ।

अर्णो पयसा मादरा न जागृरिच्छा काशं मधुश्चतम् ॥१॥

[७६८] आहर्था अर्जुना अक अज्यत प्रिय सन्धुर्न मर्त्ये ।

तर्मा हिन्वन्त्यपसो यथा रथं नदीवागमस्त्यो ॥२॥२०॥

श० ६ । १०७ । १२, १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [२१४] पृ० २२४ ।

(२) ( हर्षत ) हरण करन योग्य, प्रिय ( अर्जुन ) इन्द्र, आत्मा ( प्रिय. ) प्राणों का प्रिय, इष्ट ( मनुः न ) पुत्र के समान ( मर्त्य ) संभाल कर, धो, पोंछ कर, साफ स्वच्छ करने योग्य है । वह ( आकं ) सर्वव्यापक ब्रह्म में ( आ अज्यत ) मग्न होजाता है और ( तम् ईं ) उसको ही ( गमस्त्यो ) दीप्तिस्वरूप प्राण और अपान, इष्टा और पिण्डा क बीच की ( नदीषु ) धाराओं या नदियों में ( अपस ) वेगवान् प्राण या अपान गृह्णितों को उसी प्रकार ( आ हिन्वान्ति ) प्रेरित करता है ( यथा ) जिस प्रकार ( अपसः ) वेगवान् सुभट ( रथं ) अपने रथ को प्रेरित करते हैं, भागे बढ़ाते हैं ।

१. अर्जुनो इ वा इन्द्रो यदस्य गुणं नाम ॥ श० ६ । ४ । ३ । ७ ॥

[७६६] प्र सोमासो मदव्युन अथसे नां मर्धानाम् ।

सुता विदधे अरुमु ॥१॥

[७७०] आर्दीं हसां यथा गण विश्वन्याधीशश्नमतिम् ।

अत्यो न गोभिरज्यने ॥ २ ॥

[७७१] आर्दीं त्रिनस्य योषणो हारं द्विन्यत्याडभिः ।

इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ ३ ॥ २१ ॥ अ० १० । ३२ । १, ३, २१

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविफल स० [४७७] पृ० २४० ।

( २ ) ( आर् ) और ( गण ) उत्पन्न होने वाले ( ई ) इस शरीर-गत प्राणगण को ( हस ) आत्मा ( यथा ) जिस प्रकार से ( अवावशात् ) बरा करता है उसी प्रकार वह परमात्मा ( विश्वस्य ) समस्त संसार के ( नति ) मनो को भी ( अवीवशात् ) बरा करता है । और ( अत्यः न ) जिस प्रकार अध ( गोभि ) नाना प्रकार की आत्मा से ( अज्यते ) अपने गुण प्रकट करता है उसी प्रकार वह आत्मा अपनी इन्द्रियों की नाना सुख, दुःख, ज्ञान आदि गतियों से और वह प्रभु अपने बनाये गतिशाल पिण्डों और वेदवाणियों से अपनी सत्ता और स्वरूप को प्रकट करता है ।

[७७२] अथा पत्रस्य देवयूरभन पयैपि विश्वतः ।

मयोर्धारा असृक्षत ॥ १ ॥ अ० ६ । १०६ । १४ ॥

[७७३] पवते हर्यता हरिरतिहरासि रद्या ।

अभ्यर्ष म्तीतृभ्यो धीरवद्यश ॥ २ ॥ अ० ६ । १०६ । १३ ॥

[७७४] प्रसुन्वानाशान्धसा मत्तो न वष्ट तद्वचः ।

अपश्चानमरायस हता मखे न भृगव ॥ ३ ॥ २२ ॥

भा०—( १ ) हे सोम ! योनिन् ! ( देवयु ) अर्धों का प्रकाश करने वाले विद्वानों और इन्द्रियगणों से युक्त इंकर ( अथा ) इस ( धारया )

७७२—(१) द्वितीयदृशीवपादसोर्विभवेय, कावरे ।



धारया ज्ञान और आनन्द की धारा द्वारा ( पवत्व ) प्रकट हा । तब ( रभन् ) स्तुति करता हुआ तू ( विश्व ) सब प्रकार सब ( पयावि ) व्याप्त या निष्ट हा और तब ( मधा ) मधुर आनन्दजनक ( धारा ) ज्ञानधारा और आनन्दरस की धाराएँ ( असृषत ) उ पच हों ।

( २ ) व्याख्या दक्षिण अदिकल स० [ १७६ ] पृ० २१०

( ३ ) व्याख्या दक्षिण अदिकल स० [ ११३ ] पृ० २६८

इति पठ स्यात् ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

इति द्वितीयाऽर्ध । इति प्रथम प्रपाठकः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

अथ द्वितीय प्रपाठक ( प्रथमाऽर्ध ) ।

श्राप — जमात्र । २, ५, १२ अमरीशु । ३ बदयप । ४ १० मृगुता रुगिजन निवा । ६ ७ मधात्रिषि काव । ८ मधुच्छन्ता वैशामित्र । ९ वमिष्ठ । ११ उपमन्युर्वामिष्ठ । १२ शत्रुवाहपाव । १३ प्रमकत्र काव । १४ नृमधा । १६ ननुषा मानव । १७ मिकयानिवात्री व्याघ्रवाहयो वृष्णोऽनामस्य । १८ सुतकञ्ज सुतसो वा । १९ जेवा माधुच्छन्दम ॥ देवता—१—५, १०, १५—१७ परमान सोम । ६ अग्नि । ७ मित्रावरुणौ । ८, १२—१४, १८ १६ इन्द्र । ९ इन्द्राग्नी छन्द — १—१०, १२, १८ गायत्री । ११ त्रिष्टुप । १२—१४ प्रागाथ । १६, १६ अनुष्टुप् । १७ गीर्वा ॥ स्वर — १—१०, १२, १८ पञ्च । ११ द्वेव । १२—१४ मध्यम । १६, १६ गान्धार । १७ निवार ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [७७५] पवस्य वाचा अग्रय सोम चित्राभिरूतिभिः ।

३ १ २ २ ३ १ २  
 अभि विश्वानि काव्या ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ २ १ २ २ ३ १ २  
 [७७६] त्वं समुद्रिया अपाप्रिया वाच इंरयन् ।

१ २  
 पवस्व विश्वचर्पणे ॥ २ ॥

२ ३ १ २ २ ३ १ २  
 [७७७] तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे ।

१ २ ३ १ २  
 तुभ्यं धावन्ति धेनवः ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० १ । १२ । २५-२७ ॥

भा०—( १ ) हे सोम ! सबके प्रेरक ! आप अपनी ( चित्राभिः ) पूजनीय ( ऊतिभिः ) शक्तियों और रत्ना-कार्यों और ज्ञानों सहित ( वाचः ) हमें वेदवाणिया ( पवस्व ) प्राप्त कराते हो । और ( विश्वानि ) समस्त ( काव्या ) अन्तर्दशी, मेधावी पुरुषों की वाणियों के ( अभि ) साधान् वाच्य हो ।

( २ ) हे ( विश्वचर्पणे ) समस्त संसार के देखने द्वारे ! हे (सोम) सर्वोत्पादक ! जिस प्रकार मेघ या वायु स्वरूप सोम शब्द करता हुआ समुद्र से भरे जल को पृथ्वी पर बरसाता है इसी प्रकार ( अग्रिय ) सबके अग्रणी सबसे प्रथम वर्त्तमान, सबसे गुण्य, अनादि ( वाच ) वेदवाणियों को ( इंरयन् ) प्रकट करते हुए आप ( समुद्रिया ) भली प्रकार उपति की ओर लेजाने वाले ( अप ) कर्मों को ( पवस्व ) उपदेश करते हो ।

( ३ ) हे ( कवे ! ) मेधाविन् ! हे ( सोम ) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक, रसस्वरूप ! ( महिम्ने ) विशाल महिमास्वरूप ( तुभ्यं ) तेरे लिये ( इमा भुवना ) ये समस्त जाक ( तस्थिरे ) स्थिर हैं । ( तुभ्य ) तेरे लिये ये ( धेनव ) वाणिया और नदिया ( धावन्ति ) गति कर रही हैं, प्रकट होती

७७५—(२) 'विश्वमेव' इति श्रु० । (३) 'तुन्दमवन्ति मित्थवः' इति श्रु० ।

हैं, दौड़ रही हैं । अर्थात् ये समस्त लोक और वेदवाणिया, नदियाँ काम-  
धुक भूमिया तेरी ही महान् सत्ता को प्रकट करने के लिये हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
[७७८] पवस्येन्दो वृषा सुत. कृषी नो यशसो जने ।

२ ३ २ ३ १ २  
विश्वा अप द्विषा जहि ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २  
[७७९] यस्य ते सत्ये वयं सासह्याम पृतन्यतः ।

१ २ ३ १ २ ३ २  
तवेन्दो शुम्न उन्नमे ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
[७८०] या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे ।

३ २ ३ २  
रक्षा समस्य नो निदः ॥ ३ ॥ २ ॥ श्र० १ । ६२ । २८, ३० ॥

भा०—(१) हे ( इन्दो ) ऐश्वर्यवान् ! आप ( सुतः ) सामर्थ्यवान्  
( वृषा ) सब सुखों के वर्षाने वाले ( पवस्व ) हमारे समीप प्रकट होओ ।  
और ( जने ) जगसमूह में ( नः ) हमें ( यशसः ) यशस्वी ( कृषि )  
करा । और ( विश्वा ) समस्त ( द्विषा ) हमसे अप्रीति करने हारे, हमारे  
अनिष्टकारियों को ( अप जहि ) दूर करो ।

(२) हे ( इन्दो ) ऐश्वर्यवान् ! ( यस्य ते ) जिस तेरे ( सत्ये ) मित्र  
भाव में रहते हुए ( पृतन्यतः ) सेनाएं लेकर चढ़ाई करने हारे विरोधियों  
को ( सासह्याम ) पराजित करें उस ( तव ) तेरे ( उत्तम ) उत्तम ( शु-  
म्नम् ) तेज या ऐश्वर्य या बल के अधीन हम सदा रहें ।

(३) हे प्रभो ! ( या ) जा ( ते ) तेरे ( तिग्मानि ) तीक्ष्ण ( आयुधा )  
हथियार ( धूर्वणे ) हिसाकारियों के लिये ( सन्ति ) हैं उन द्वारा ( नः )  
हमारी ( समस्य ) समस्त ( निदः ) निन्दाकारियों से ( रक्ष ) रक्षा कर ।  
राजा के प्रति योजना भी स्पष्ट है ।

१ २            ३ १ २ ३    १ २    ३ १ २  
 [७८१] वृषा सोम धुर्मो असि वृषा देव वृषप्रतः ।  
 २ ३ १ ३

वृषा धर्माणि दधिपे ॥१॥

१ २ ३ २    ३ २ ३ २    ३ २ ३ १    २ ३ २  
 [७८२] वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा सुतः ।  
 १२    २४३ १२    २४

स त्वं वृष-वृषेदासि ॥२॥

२    ३ १ २    ३ २ ३ १२    २४ ३ १२ २४  
 [७८३] अथो न चक्रदो वृषा सं गा इन्द्रो समर्वतः ।

१ २    ३ १२    २४  
 वि नो रायं दुरो वृधि ॥३॥३॥ अ० ६ । १४ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [२०४] पृ० २२० ।

( २ ) हे वृषन् ! सबसे महान् सब सुखों के वरों करने हारे ! हे ( सोम ) सर्वोत्पादक ! सर्वभरक ! ( वृष्णः ) वर्षणशाल ( ते ) तेरा ( शव. ) बल और ज्ञान ( वृष्ण्यं ) सुखवरोंक है । तेरा ( वनं ) भजन सेवन भी सुखदायक है और ( सुतः ) तेरी प्रेरणा भी सुखदायक है । ( स त्वं ) वह तू ( वृषा इन् ) सया सुखवरोंक ( असि ) है ।

( ३ ) हे ( इन्द्रो ) ऐश्वर्यवान् ! ( वृषा ) सब सुखों के वरोंक आप ( अथः न ) भोजन आत्मा के समान ( गा. ) ज्ञानेन्द्रियों को ( सं चक्रदः ) अर्घ्या प्रकार नादित करो, ज्ञानवान् करो । और ( अर्वतः ) अथ के समान दीकने हारी प्राणेंद्रियों को भी ( सं चक्रद. ) बलवान् करो । अथवा ( अथः न ) राष्ट्र या राजा जिन प्रकार अपने गौ आदि पशुओं को अधिक समृद्ध और बलवान् बनाता है उसी प्रकार आप सर्वोत्पादक सर्वभर होकर ( गाः ) देववाणियों का उपदेश करो और ( अर्वतः ) ज्ञानी पुरुषों को उपदेश करो । आप ( नः ) हमारे ( दुर ) द्वारों को ( राये ) इष्ट ज्ञानरूप धन के निमित्त ( वि वृधि ) और अधिक खोल दो ।

७८१—(२) 'वृषान्' 'सत्वं' इति ख० ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [७=४] घृषा ह्यलि भानुना घुमन्त त्वा हवामहे ।

१ २ ३ १ २  
 परमान स्वदृशम् ॥१॥

२ ३ १ २ १ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [७=५] यदग्निं परिषिन्यस मर्हृज्यमान आयुभि ।

१ २ ३ २ ३ १ २  
 द्रोणे सधस्थमशुष ॥२॥

१ २ ३ २ ३ १ २  
 [७=६] आ परस्व सुधीं मन्दसानं स्वायुध ।

३ १ २ ३ १ २  
 इहोऽग्निन्द्रागहि ॥३॥ ४॥ ऋ० ६ । ६२ । ४, ६, ६ ॥

भा०—( १ ) श्याख्या देखा अवि० स० [४८०] पृ० २४१ ।

( २ ) इ ( सोम ) आत्मन् । ( आयुभि ) मनुष्यों या प्राणों द्वारा ( मर्हृज्यमान ) परिशोधित होकर ( यद् ) जब ( अग्नि ) योगाभ्यास क कर्मों द्वारा, या ज्ञान, धारणाओं द्वारा ( परिषिन्यस ) पुन २ स्वच्छ किया जाता है तब ( द्राण ) इस मूर्धास्थल या दह में ( सधस्थम् ) अपन साथ ही स्थिर, कूटस्थ परम आत्मा का भा ( अरनुषे ) प्राप्त कर लेता है ।

( ३ ) हे ( स्वायुध ) उत्तम आयुधों से सम्पन्न समाधि में ध्येय इष्ट इव के सग मिलने क क्रिय उत्तम यम नियम क साधनों से सम्पन्न आत्मन् । आप ( मन्दसान ) ध्यान-दमक होकर ( सुधीं ) उत्तम सां मर्ष्य का ( आ परस्व ) प्रकट करा । हे । इ-१ ) ऐश्वर्यवन् । द्रवणशील, रस रूप स बढ़ने वाले । ( इह उ ) यहा ही इस अत कारण में ( सुधा गहि ) उत्तम रूप से आ, प्रकट हो ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 [७=७] परमानस्य ते धय परित्रमभ्युन्दत ।

३ १ २  
 सधित्यमावृणीमहे ॥१॥

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
[७८८] ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिहरन्ति धारया ।

<sup>१ २</sup>  
तेभिर्नोः शोम मृळय ॥२॥

<sup>१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
[७८९] स नः पुनान आ भर रयिं वीरवतीमिपम् :

<sup>१ २ ३ १ २</sup>  
ईशानः सोम विश्वतः ॥३॥ ५ ॥ अ० ३। ६१। ४-६ ॥

भा०—(१) हे परमात्मन् ' (पवित्रम्) समस्त शरीर को पवित्र करने वाले मेरे आत्मा या अन्तःकरण को ( अभि उन्दत. ) साक्षात् द्रवित करते हुए, आपकी तरफ बढ़ते हुए भावयुक्त बनाते हुए ( पवमानस्य ) सयके परम पावन ( ते ) आपके ( सखिष्वं ) मित्रभाव का हृम ( आ शृणीमहे ) वाण करते हैं ।

(२) हे ( सोम ) समस्त संसार के उत्पादक ! शेरक ! ( ते ऊर्मयः ) तेरी शक्तियां ( धारया ) समस्त संसार को धारण करने वाली शक्ति के रूप में ( पवित्रम् ) हमारे अन्तःकरण में ( अभि हरन्ति ) प्रकट होती हैं नू ( तोभिः ) उनसे ( न ) हमें ( मृढय ) सुखी कर ।

(३) हे ( सोम ) सर्वेश्वरक ! ( स ) वह अतिप्रसिद्ध आप ( ईशानः ) समस्त संसार पर वश करन हारे स्वामी ( नः ) हमें ( पुनानः ) पवित्र करते हुए ( रयिं ) प्राण और रयि-चितिशक्ति या ऐश्वर्य को ( आ भर ) प्राप्त कराइये और ( वीरवतीम् ) बलमग्न ( इपम् ) अन्न आदि पदार्थों वा इच्छा शक्ति को ( विश्वतः ) सब ओर से प्राप्त कराइये ।

इति प्रथम खण्डः ।

— ० —

<sup>३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
[७९०] अग्निं दूनं शृणीमहे होतां विश्रवोदसम् ।

<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>

अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ १ ॥

[७६१] <sup>३ १ २</sup> आग्निमग्नि <sup>३ १ २</sup> हवीमग्नि <sup>३ १ २</sup> सदा <sup>३ १ २</sup> हवन्त विशपातम् ।

<sup>३ १ २</sup> हव्यवाह <sup>३ १ २</sup> पुरुषियम् ॥२॥

[७६२] <sup>१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०</sup> अग्ने देवो इहायह <sup>३ १ २</sup> जज्ञानो <sup>३ १ २</sup> वृक्यवर्षिणे ।

<sup>१ ३ १ २ ३ १ २</sup> अलि हाता न ईड्य ॥३॥६॥ अ० १ । १२ । १ ३ ॥

भा०—( १ ) अथारया दसा अग्नि स० [ ३ ] पू० २ ।

(२) विद्वान् आप ( अग्निम् अग्निम् ) सबके आगे विद्यमान प्रकाश-स्वरूप, ज्ञानप्रद आचार्यरूप सर्वोत्तम अग्नि और सब पापों के विनाशक ( विशपति ) सब प्रजाओं के स्वामी, ( पुरुषिय ) समस्त प्रजाओं के प्रेम पात्र, ( हव्यवाह ) समस्त स्तुतिया को धारण करने वाले परमात्मा को ही ( हवीमग्नि ) स्तुति करने योग्य मन्त्रों से ( सदा ) नित्य ( हवन्ते ) स्मरण करते हैं, पुकारते हैं ।

(३) हे ( अग्ने ) प्रकाशस्वरूप ! आप ( देवान् ) दिव्यगुणयुक्त सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि देवों और विद्वानों को ( वृक्यवर्षिणे ) देह बन्धनों का काट देनेहार जीव-मुक्त, कुशल पुरुष के लिये ( इह ) इस भवार में ( जज्ञान ) उनका सब रहस्यों का प्रकट करते हुए ( आ वट ) हमें प्राप्त कराओ । आप ( होता ) सबका अपने भीतर आदितिरूप में ल लेन हारे पय सबको सुख पृथक् क दाता होकर ( न ) हमारे ( ईड्य ) एकमात्र स्तुति योग्य हैं ।

[७६३] <sup>३ २ ३ १ २</sup> मिष वय <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> हवामहे <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> वरुण <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> सोमपीतये ।

<sup>२ ३ २ ३ १ २</sup> या जाना पूतदक्षमा ॥ १ ॥

[७६४] <sup>३ २ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> ऋतन यावृतावृधावृत्तस्य <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> ज्योतिषरूपनी ।

<sup>२ ३ १ २ २ ३ १ २</sup> ता मित्रावरुणा हुवे ॥ २ ॥

[७६५] वरुण. प्रांगता भुग्मित्रो विश्वाभिरुतिभि ।

करतां न सुराधस. ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० १।२३।४-५ ॥

भा०—(१) ( वर्ष ) हम लोग ( सोमर्पातये ) समाधि से उत्पन्न होने वाले उस ब्रह्मानन्द रस का पान करने के लिये ( मित्र ) स्नेह करने योग्य प्राण, मन, चित्त और ( वरुण ) शरीर के विघ्नों का धारण करने हारे अपान को (द्वामहे) परस्पर में भाहुति देने या उनको बर्ण करत हैं । ( या ) जा दोनों ( पूनश्चसा ) पवित्र कर्म करने हारे, मल के शोधक होकर ( जाता ) विद्यमान एवं प्रकट है ।

(२) मैं ( नौ ) उन मित्रावरुणा) मित्र और वरुण दोनों को ( हुवे ) पुकारता हू ( यौ ) जो दोनों ( अनेन ) जीवनमय यज्ञ से या मत्स्य के बलपर ( अतावृषो ) वास्तावक सत्य और जीवन की वृद्धि करने हारे ( अतस्य ) सत्य आत्मा को ( ज्योतिष.पता ) आनन्दमय विशोका, ज्योति के पालन करने हारे हैं ।

(३) ( वरुण ) वरुणस्वरूप अपान ( अविता ) दह को हु खों से बचाने वाला ( प्र भुवन् ) होता हुआ और ( मित्र ) मित्र, प्राण विश्वाभिः सब प्रकार की ( उतिभि ) रक्षण शक्तियों से ( न. ) हमारे ( सुराधस. ) उत्तम साधनाएं ( कारताम् ) सिद्ध करें ।

[७६६] इन्द्रमिद्राधिनो वृद्धिन्द्रमर्केभिराकेण ।

इन्द्रं वासीरनूपन ॥ १ ॥

[७६७] इन्द्र इन्द्रयो. सचा माम्भरु आ वयो युजा ।

इन्द्रो वज्री हिरण्य ॥ २ ॥

[७६८] इन्द्र वाजपु नोऽय सहस्रप्रधनेषु च ।

उम उमाभिरुतिभि. ॥ ३ ॥



१ २ ३ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २  
 [७६६] इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्य रोह्यदिति ।

वि गोभिराद्रिमैर्यत् ॥ ४ ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ७ । १, २, ४, ३ ॥

( १ ) व्याख्या देखो अतिकूल स० [१६८] पृ० १०४ ।

( २ ) व्याख्या दखा अतिकूल स० [२६७] पृ० ३०१ ।

( ३ ) व्याख्या दखा अतिकूल स० [२६८] पृ० ३०१ ।

( ४ ) ( इन्द्र ) पृथ्वंशील परमात्मा ( दीर्घाय ) दूर देश तक के पदार्थों को ( चक्षसे ) दशन करने अर्थात् दिखलाने क लिये ( दिवि ) आकाश में सूर्य क समान ठीक ज्ञान में ( सूर्य ) हेजस्वी विद्वान् को ( आ प्रयत् ) स्थापित करता है । और ( गोभि ) रश्मियों द्वारा ( अद्रिम् ) मघ के समान आनन्दवर्षी आत्मा को ( प्रयत् ) विशेष रूप में प्रेरित करता है ।

१ २ ३ १२ १२ ३ १ २ ३ १२ २२  
 [८००] इन्द्रे अग्ना नमो बृहत्सुवृत्किमैर्यामहे ।

३ १२ २२ ३ १ २  
 अर्धया घेना अयस्यव ॥ १ ॥

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ २ १ २  
 [८०१] ता हि शश्वन्त ईडत इत्या विप्रास ऊतय ।

३ २ ३ १ २  
 स राधो वाजमानये ॥ २ ॥

३ २ ३ १ ३ ३ २ ३ १ २  
 [८०२] ता घो गीभविपन्यत्र प्रयस्वन्तो हवामहे ।

३ १ २ ३ १ २  
 मधमाता मनिष्यव ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । ३४ । ४-६ ॥

भा०—( १ ) ( इन्द्र ) पृथ्वंशील, ( अग्नी ) ज्ञानप्रकारा से प्रकाशित और अन्धकारमय अज्ञान भागों में अग्नि के समान पथदर्शक विद्या प्रदाता अग्निस्वरूप परम आचार्य में ( नमः ) आदरपूर्वक नमस्कार और ( बृहत् ) बहुत ( सुवृत्किम् ) उत्तम गुण स्तुतियों का ( आ हवामहे ) प्रयोग करें। और ( अयस्यव ) ज्ञान, रक्षा, तज और उत्तमगुणों की कामना वाले

हंकर हम् ( धिया ) ध्यान और मननपूर्वक ( धेनाः ) ज्ञानरस पान कराने वाली वेदवाणियों का उच्चारण करें ।

( २ ) ( विद्यास. ) मेधावी विद्वान् लोग ( ता ) इन्द्रस्वरूप और अग्निस्वरूप परम गुरुओं के प्रति ( शशन्त. ) घनादि काल से ( उतये ) आत्तरसा और ज्ञान प्राप्त करने के लिये ( इत्था ) इसी प्रकार की सत्यवाणियों द्वारा ( सबाधः ) एक दूसरे से समान रूप से बंधे हुए विद्वान् जन ( वाजसातये ) ज्ञानप्राप्ति के लिये ( इंदते ) स्तुति करते हैं ।

( ३ ) हम् ( विपन्यवः ) विशेष स्तुतिकर विद्वान्जन ( प्रवश्यत. ) ज्ञानी ( मेघसातौ ) पवित्र ज्ञान और बुद्धि की प्राप्ति के लिये ( सनिप्यवः ) भजन करने की कामना से ( गीर्भि. ) वेदवाणियों द्वारा ( ता वा ) उन प्राप दोनों को ( हवामहे ) स्तुति करते हैं ।

इति द्वितीयः पण्डः ।



[८०२] <sup>१ २</sup> धृषा <sup>३ १ २</sup> पवस्व धारया । <sup>३ १ २</sup> मरुत्वत च <sup>३ २</sup> मत्सरः ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup> विश्वा दधान अजसा ॥ १ ॥

[८०३] <sup>१ २ ३ १ २ ३ २</sup> तं स्वा धर्तारमोषयाऽऽप्यवमान स्वदंशम् ।

<sup>३ १ २ २ ३ १ २</sup> दिव्य वाजेषु वाजिनम् ॥ २ ॥

[८०४] <sup>३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २</sup> अया निस्ता विपानया हरिः पवस्व धारया ।

<sup>३ २ १ २</sup> युजं वाजेषु चोदय ॥ ३ ॥ १० ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० सं० [ ४६२ ]

( २ ) हे ( पवमान ) समस्त संसार को गति देने हेतु परमात्मन् ! ( मोषयोः ) दुःखों को दूर करने वाले, आकाश और पृथिवी दोनों के ( धर्तारं ) धारण करने वाले ( स्वदंशम् ) परमसुख या ज्ञान के प्रकाश को

दशान हार ( वाचिन ) ज्ञान और बल क अहार आपका ( वाजपु ) बल क कापों सप्राम आदिक अवसरों पर ( हिव ) स्मरण करता ह ।

( ३ ) ङ साम<sup>१</sup> ( हरि ) सब दुखों क हरण करने हारे आप ( अपा ) इस ( विपानपा ) विशप रूप स पाग करन याभ्य ( धारपा ) ब्रह्मानन्द की धारा स ( चित ) स्वानामय स्वरूप स पृथक् प्रकट हाकर ( वाजेषु ) ज्ञानों और पथ्यों में आप ( युगम् ) याग करन हार इस साथक का ( च दय ) प्ररित करा ।

२ ३ १ २      ३ १ २      ३      ३ १ २      ३ २ २ २  
[८०५] ज्या शाखा अभि फनिऋदद्वा नदयन्नपि पृथिवीमुन याम् ।

१ २    २ ३ २    २२      ३ १ २ ३ १ २      ३ २ ३ २  
इन्द्रस्य च वग्नुरा शृग्व आजौ प्रचोदयन्नपांसि वाचमेमाम् ॥

[८०६] रत्नाय्य पयसा पिन्वमान ईरयन्नेपि मधुमन्तमशुम् ।

१ २    २    ३ १ २    ३ १ ३ २      ३ १ २  
पवमान सन्तनिमेपि कृश्वन्निन्द्राय सोम पारपिच्यमान ॥

[८०७] पया पयस्व मदिरा मदायोदग्राभस्य नमयन् बधस्तुम् ।

२ ३ २ ३ १ २      २ १ २      ३ १ २      ३ १ २      ३ २  
पार वर्ण भरमाणा रुशन्त गद्युर्नो अर्प परि साम सित्त  
॥ ३ । ११ ॥      श्र० ६ । ६७ । १२—१५ ॥

भा०—( १ ) ( शोण ) गतिमान् सर्वत्र-पापक ( वृषा ) सब सुखों की वर्षों करन हारा परमात्मा ( कनिऋद् ) शब्द या ज्ञानापदेश करता हुआ या मध निस प्रकार ( गा ) भूमियों का जलम संचिता है और महावृषम निस प्रकार गर्जेता हुआ गौधों में वीथ सचन करता है और आघाप निस प्रकार गम्भार उपदेश स शिष्यों रूप भूमियों का या उनकी चित्त भूमियों का ज्ञान स संचिता है उसी प्रकार ( नदयन् ) प्रनिध्वनि करता हुआ

८०५—( १ ) 'न यन्नति' प्रचलनप्रति इति श्र० ।

[ २ ] नमयन् बध्ने' इति श्र० ।

( पृथिवीम् ) पृथिवी ( उत धाम् ) और आकाश में सर्वत्र ( ऐषि ) व्यापक है ( इन्द्रस्य इव ) भीतर घेठ २ धपन अन्तरात्मा के समान उसकी ( यानु ) वाणी ( आजौ ) हृदय में ( शयव ) सुगता हू । घट नू ( प्रचो-दयन् ) अन्त करणों को प्ररित करता हुआ, सब आत्माओं को ज्ञानवान् करता हुआ ( इमाम् वाचम् ) वदवाणी या स्तुति को ( अयंसि ) सर्वत्र प्रकट करता, एवं प्राप्त हाता है ।

१. शुन गतौ हापरमाच्छरण ।

( २ ) हे ( सोम ) सर्वोत्पादक ! ( रसात्य ) आनन्द रस से परिपूर्ण, ( पयसा ) ज्ञान से ( पित्वमान ) वृत्त करता हुआ, ( मधुमन्त ) मधुर, ज्ञान, मद्भविष्य से युक्त ( अशुम् ) व्यापक आत्मा का नू ( एषि ) प्राप्त होता है । नू ( पवमान ) समस्त आत्माओं को पवित्र करता हुआ ( इन्द्राय ) अन्तरात्मा के लिये ( परिपिच्यमान ) रसक समान सेचन किया जाता हुआ, पुन २ ध्यान किया गया ( सन्तानि ) निरन्तर बधी धारणा को ( वृषवन् ) दृढ़ करता हुआ ( ऐषि ) हृदय में आ विराज ।

( ३ ) हे ( साम ) आनन्दमय ! रसरवरूप ! ( मदिर् ) इनें को जागृत करने हारा ( उद् प्रामस्य ) सत्य ज्ञान क प्रदण करने हारे आत्मा क ( कथस्तु ) विस्तुद् द्वारा तादना करन पर अक्षय करने वाले मय के समान, प्राणों क वश करन पर धमभेष द्वारा आनन्द रसका कथां देनेहार, चित्त या आत्मा को ( नमपन् ) अपने अधीन करता हुआ ( पवस्व एवं ) अवश्य प्रकट हों । और ( रुशसो ) कान्ति से समृद्ध । वण्ये ) वरण करने योग्य स्वरूप का ( परि भरमायाः ) सब धार से धारणा करता हुआ ( सित्र ) सर्वत्र व्याप्त या आनन्द से पूर्ण होकर ( गभ्यु ) समस्त इन्द्रियों को प्रेरणा करता हुआ ( अर्ष ) स्तवित हो, प्रकट हो ।

इति नृसीप सग्य ।

[८०८] <sup>१२</sup> त्थामिद्वि <sup>२२</sup> ह्यामहे <sup>३,१</sup> मनीं <sup>२२</sup> वाजस्य <sup>३,१,२</sup> कारय. ।

<sup>२</sup> ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २  
त्थां वृत्राणिन्द्र सत्पाति नरस्य्या काष्ठास्यवत ॥ १ ॥

[८०९] <sup>१२</sup> म त्व <sup>२२</sup> नाक्षित्र <sup>३,१,३,१</sup> घञ्जहस्त <sup>२,३,१</sup> घृण्युया मह. स्तवानो <sup>१</sup> अद्रिवः ।

<sup>१</sup> २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
गामश्व रस्यामिन्द्र सङ्घिर सथा वाज न जिग्युषे ॥ २ ॥ १ ॥

श्व० ६। ४६। १-२ ॥

भा०—व्याख्या देखो अवि० सं० [२३४] पृ० १२० ।

(२) ह ( चित्र ) पूतनीय ! समस्त प्राणियों को ज्ञान और चेतना के देने हारे ! ( वज्रहस्त ) वज्र के धारण करने वाले वीर पुरुष के समान ज्ञानमय वज्र का अज्ञान अन्धकार के नाश के लिये धारण करने हारे ! ह ( अद्रिव ) अनेक, अक्षय्यदानीय बलधारक ! परमात्मन् ! ( घृण्युया ) आप सबका धर्षण करने वाले, ( महः ) महान्, तेज-स्वरूप ( स्तवानः ) सबकी स्तुतियों के पात्र होकर ( जिग्युषे ) इन्द्रियों पर विजय करने हारे पुरुष क प्रति ( वाजं न ) जिस प्रकार ज्ञान धैर्य आप देते हैं उसी प्रकार ( रस्य ) हम रथरूप देह के हितकारी हमें ( गाम् ) गौ=ज्ञानेन्द्रियों और ( अश्वम् ) अश्व, कर्मेन्द्रियों को भी ( सथा ) उत्तम रीति से ( संघिर ) प्रदान करो ।

[८१०] <sup>३</sup> १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
आम प्र घ सुराद्यसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।

<sup>१</sup> २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
या जरितृभ्या मघवा पुरुवसु. सहस्रेणैव शिक्षति ॥ १ ॥

[८११] <sup>३</sup> १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
शतानीकैव प्रजिगाति घृण्युया हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।

<sup>३</sup> १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
। गतरस्य प्र रसा अस्य पिन्धिर दत्राणि पुरुभोजसः ॥ २ ॥

॥ १३ ॥ श्व० ८। ४६। १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखा अवि० सं० [२३५] पृ० १२० ।

(२) ( घृण्युया ) अपनी इन्द्रियों पर और चित्तक शत्रु काम, क्रोधादि को वश करने वाला पुरुष या ( शतानीक इव ) सैकड़ों सेनाओं के पति

विज्ञेगोषु पुरुष कं समान (प्रजिगति उत्तम प्रकार स आगेबढ़ कर विज्ञपकर  
 लेता है। हे (दाशुषे) आत्म समर्पण करने हार क लिये (वृत्राणि) उसका  
 घेर लेने वाल पाप विकल्पों का भा घड़ प्रभु ( हन्ति ) विनाश करता है।  
 (अस्य) इव (पुरुषोत्तम) इन्द्रियों के भेग भागन हार आत्मा के (द्वाराणि)  
 त्याग किये हुए विषय ही ( गिते इव वृत्राणि ) मघ से बरसे जलों क  
 समान या पर्वत से झरते झरनों के समान आनन्दों को बहान वाले आ-  
 नन्द घन, ज्ञानापदेशक परमधर से बड़ते ( रसा ) आनन्दरस ही उसका  
 ( प्र विन्विरे ) अति अधिक तृप्त और पूर्ण करते है।

[=१२] न्वार्गमन्दा ह्यो नरोऽर्षीण्यन् भायन् भूर्णयः ।  
 १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुद्युप स्वस्मरमा गाढे ॥१॥  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २

[=१३] मत्स्वा सुशिप्रिन् हरिवस्नर्गमिंह त्वया भूपन्ति घघसः ।  
 २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २  
 तप थवांस्युपमान्युक्थ्य सुतोष्विन्द्र गिर्षण ॥ २॥ १४ ॥  
 अ० ८। १९। १-२॥

भा०—(१) क्यास्वा देखो अविकल स० [३-२] पृ० १२४  
 ( २ ) हे ( सुशिप्रिन् ) उत्तम ज्ञानसम्पन्न ! ( हरिव ) व्यापनशील  
 शक्तियों से युक्त ! हे ( गिर्षणः ) वाणियों के एकमात्र पात्र ! ( सं ) उस  
 तुम्ह हृष्टदेव को हम ( ईमह ) प्राप्त होते हैं। हे देव ! ( घेघस ) विद्वान्  
 मेधावी लोग ( त्वया ) तुम्ह से, तरे उत्तम गुणों से ( भूपन्ति ) अपने  
 आपको अलंकृत करते हैं। मू स्वपं ( मास्व ) अपन ही में आनन्दस्वरूप  
 होकर रह। हे ( उक्थ्य ) प्रशंसा के योग्य ( अवांसि ) सब अवण करने  
 योग्य श्रुतियों ( ते ) तेरी ही ( उपमान ) ज्ञान देने हारी हैं।

इति चतुष खण्ड ।

[८१३] यस्त मदी श्रेयम्ने ॥ पवस्वान्प्रना ।

देवानां घशमहा ॥१॥

[८१४] अग्निं तृप्रमामत्रिय सस्त्रिज दिवे दिवे ।

गोपातिरश्वसा प्रभि ॥ २ ॥

[८१६] साम्मशलां श्ररुपा भुव सूयस्थाभर्न धेनुभि ।

सीदञ्छुधेना न योनिमा ॥३॥१५॥ श्र० ६।६१ । १९-२१ ॥

भा०—( १ ) 'पाष्या दस्तो अविक्त्र स० [४७८] पू० २३७ ।

( २ ) ह ( साम ) सवात्पादक 'सर्वश्रेक' ( स्वम् ) तू अमित्रिये मिश्रता या स्नेह स शून्य ( वृत्र ) हृदय को अज्ञान से घेरने वाले पाप को ( जज्ञि ) नाश करन वाला है । और ( दिवे दिवे ) दिनों दिन ( वाज ) ज्ञान, बल और अज्ञ, पुष्टि का ( सस्त्रि ) देने एसा है । और तूही ( गो साति अश साति ) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को भी शक्ति देन वाला ( अस्त्रि ) है ।

( ३ ) हे ( साम ) सर्वैधर्ववन् ! ज्ञान क दात ! ( सूयस्थाभि धेनुभि न ) सुषम समीप प्राप्त होन वाली, सुशील गोए जिस प्रकार मधुर दुग्ध प्रदान करती हैं उसी प्रकार तू ( सूयस्थाभि ) आचार्य के समीप जाकर सुख स प्राप्त करन योग्य ( धेनुभि ) ब्रह्मास्वाद इस का पान कराने हारी वद और उपनिषत् का ह्युति वाकियों स ( सामिश्रण ) उत्तम रीति से युक्त होकर ( अश्य ) अतिराचक काण्डिसम्पन्न ( भुव ) हाता है और तभी ( श्येन न ) वाज क समान शीघ्र गतिकारा एवं ज्ञानवान् आत्मा रूप ( योनिम् ) अदन आश्रय रूप शरण्य परमेश्वर में ( आसीदन् ) विराजमान होता है ।

अथवा—( स्वस्थाभिर्न धेनुभिः ) सुशील गायों स जिस प्रकार ( अरुण ) लाल साठ ( समिरल भुव युक्ररह और जिस प्रकार ( रथन न मानिम् आसादत् ) बाज़ अथन आधय स्थान पर जाता है उसी प्रकार उत्तम रूप स स्थिर रहन वाली रसप्रद इन्द्रियों या वाशियों द्वारा युक्र हाकर आत्मा अथन गृह क समान परम आश्रयप्रद शरण, परमह्य में मग्न होगता है ।

[२१७] अथ पूषा रयिर्भग सोम पुनानो अर्षति ।

२ ३ १ २ ३ १ २ क २२ २ १ २ ३ ३  
पतिर्धैवस्य भूमना व्यत्यदोदधी उभे ॥१॥

[२१८] समु प्रिया अनूपन गाग मदाय धृष्यय ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
सोमास वृशयते पथ पवमानास रन्दय ॥२॥

[२१९] य आजिष्ठन्तमाभर पवमान धवाप्यम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
य पञ्च स्वर्षणीराभर रथि यन यनामह ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ६।१०१, ७ ६ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दक्षा अतिकल स० [२४६] पृ० २०४ ।

( २ ) ( प्रिया ) मनाहर ( गाव ) वाशिया या इन्द्रिया ( धृष्यय ) परस्पर स्वर्षा करता हुई या अनि तने युक्र हाकर ( मदाय ) ज्ञान-द प्राप्त करन क लिय ( समु अनूपत ) आत्मा की स्तति करता है । ( पवम नास ) हृदय का विमल करन हुए ( इ दय ) परमैश्वर्यसम्पन्न साधक ( सोमाम ) शमदम आदि स सम्पन्न हाकर मुमुक्षु गण ( पथ ) माच साधनों का ( कृषवत ) करत है

( ३ ) ह ( पवमान ) सबव हृदयों का पवित्र करन हारे परमामन् ।  
( य ) जा तू ( आजिष्ठ ) सबल अधिक वह कान्ति और तन स युक्र है वह तू ( धवाप्य ) धवण करन माग्य, श्रुति स ज्ञान करन माग्य



रसरूप है । (तम्) उस परम आनन्द रस को हमें (आमर) प्राप्त कराओ ।  
( य पञ्चवर्षीः ) जो पाचों ज्ञानदष्टा इन्द्रियों का व्यास करता है, जिस  
स हम ( रसि ) पुष्टि वीर्य या वैश्व को ( वनामदे ) प्राप्त किया चाहते हैं  
वह भी हमें प्राप्त कराओ ।

[८२०] <sup>१ २ ३ १ २</sup> <sup>२४ ३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>२८</sup>  
सुपा मनीना पयत विचक्षुष सोमो अह्ना प्रतरीतापसे  
<sup>३ २ ३ १ २ २ ३ १ २</sup>  
दिग् । प्राणा सन्धूना कलशा अन्विददिन्द्रस्य हाया-  
<sup>३ १ २ ३ १ २</sup>  
ग्निशन्मनीपिभि ॥ १ ॥

[८२१] <sup>३ १ २</sup> <sup>३ २ ३ १ २ २ ३ २ ४ ३ १ २</sup>  
मनीपिभि पयने पूर्वं कविर्नुभिर्घत परि कोशा अवि-  
<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ २ २</sup>  
ष्यदत् । त्रितस्य नाम जाय-मधु चरन्दिन्द्रस्य वायु  
<sup>३ १ २ ३ १ २</sup>  
मख्याय वर्धयन् ॥ २ ॥

[८२२] <sup>३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> <sup>३ २ १</sup> <sup>२ २</sup>  
अथ पुतान उपमा अरोचग्दय सिन्धुभ्यो अभयदु लो-  
<sup>३ १ ३ २ ४ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३</sup>  
कथत् । अथ त्रि सत दुदुहान आशर सामो हृदे पयत  
<sup>१ २ ३ २</sup>  
चरु मत्सर ॥ ३ ॥ १७ ॥ श्रु० ६ । ८६ । २०-२२ ॥

भा०—(१) ( पूर्वं ) सबसे आदि में वर्तमान, अज, ( कवि ) ज्ञानी  
मेधावी, आत्मा ( मनीपिभि ) मन को सन्मार्ग में प्रेरित करने वाले विश्वान्  
( नुभिः ) पुरुषों द्वारा ( पयत ) सपत्त, नियमित क्रिया शक्त ( पयते )  
प्रकट हाता है और ( कोशान् ) पाचों कोशों को ( परि अविष्यदन् ) व्याप  
कता है उनपर अपना अधिकार कर लेता है । ( त्रितस्य ) तीनों स्थानों पर  
अर्थात् कण्ठ के ऊपर शिर, मध्यभाग और मूल इन तीनों स्थानों पर व्यास  
( इन्द्रस्य ) आत्मा के ( नाम ) स्वरूप का ( जनयन् ) प्रकट करता हुआ  
( मधु ) ज्ञानस्वरूप अमृत रस को ( चरन् ) लुभाता हुआ ( वायुम् )  
प्राणवज्र का ( सत्त्वा ) अनुकुल रूप में ( वर्धयन् ) बढ़ाता है, पुष्ट करता है ।

(३) (अय) यह सोम (पुनानः) धरित होता हुआ (उत्स) प्रकाशित तेज पटल को (अराचयत्) और अधिक उज्ज्वल कर देता है। (अय) और यह सोम (सिन्धुभ्य) शरीर के भीतर बढ़ने वाली ज्ञान-धाराओं या नादियों को (उ) भी (लोककृत्) अधिक कान्तिमान् करने वाला (अभवत्) होता है। (अय सोम) यह साम ब्रह्मानन्दरस (त्रि-सप्त) २१ प्रकारों से (आशिर) आनन्दरस को (दुदुहान) उत्पन्न करता हुआ (हृदे) हृदय में (मत्सर) आनन्द बहाता हुआ (चाप) उत्तम रूप से (पवत) प्रकट होता है।

[८२३] एवाह्यति धीर्युरेवा शूर उत स्थिर ।

एवा है राध्य मन ।

[८२४] एवा रातिस्तुमीमघ विश्वेभिर्घाधि धातृभि ।

अ राधि दिन्द्र न सचा ॥२॥

[८२५] माधुब्रह्म तन्द्रयुभुवा वाजाना पते ।

मत्स्वा सुतस्य गोमत ॥३॥१८॥ अ० ६। १८। २८-३०॥

भा०—(१) स्वात्वा देवो अविकल सत्वा [२३२] पृ० ११८

(२) हे (तुमीमघ) ऐश्वर्यवन् (इन्द्र) आ मन् (विश्वेभि) समस्त (धातृभि) धारण करने वाले लोग (राति) तारे दिये दान को (एव) ही (घाधि, धारण करते हैं) (अध धित्) और हे (इन्द्र) आ मन्! आप (न) हमारे (सचा) सदा सहायक हो।

(३) हे (वाजाना पते) ज्ञानों, एश्वर्यों वलों के स्वामिन्! आप (ब्रह्म इव) ब्रह्मा वेदके विश्वान् के समान सदा सावधान रहते हुए (तन्द्रयु) कभी आलस्ययुक्त निकम्मा (मा न यु भव) नहीं रहते मर्युत (गामत) इन्द्रियों के सम्पादित ज्ञान से भिन्न (सुतस्य) योग्य

सुख को ( मत्स्य ) आनन्द लाभ करो । प्राय कबल ज्ञानी लोग अजगरी  
 वृत्ति धारण कर लेते हैं । पर तु ज्ञान बल दोनों से युक्त पुरुष को तो  
 उत्तम कर्म सदा करते रहना उचित है ।

[८२६] इन्द्र त्रिभ्या अदीवृधन्समुद्रयचस गिर ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 रथी तम रथाना वाजाना स पति पतिम् ॥१॥

[८२७] सत्य त इन्द्र वाजिता मा भेम शत्रसन्पते ।

३ १ २ ३ २ ३ १  
 त्वामाम नोनुमा जतारमपराजितम् ॥२॥

[८२८] पुषादिन्द्रस्य रातयो न विदस्यन्त्यूनय ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 यदा वाजस्य गोमतस्तौत्विभ्या महते मधम् ॥३॥१६॥

श्र० १ । ११ । १ ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [३४३] पृ० १७८

(२) हे ( शवसस्यत ) बलों क स्वामिन् ! हे ( इन्द्र ) ऐश्वर्य क देने  
 हार ! ( त सत्य ) तेरे प्रेम भाव या मित्रभाव में रहते हुए हम ( वाजिन )  
 वज्रशाली, पृथक्वान् ज्ञानी हाकर ( मा भेम ) भय न करे ( जतार )  
 सयमे उक्त ( अपराजित ) किसी स पराजित न हाने वाले ( त्वा ) तुम्ह  
 को ( आभि प्र नोनुम ) साक्षात् प्रणाम करते हैं ।

(३) ( इन्द्रस्य ) उस ऐश्वर्य क दाता परमेश्वर के ( पुषी ) सच स  
 आदि काल से बल धाय ( रातय ) दिये दान और ( उतय ) रक्षा  
 ( न विदस्यन्ति ) कभी नाश का प्राप्त नहीं होती, ( यदा ) क्योंकि  
 वह ( स्तानृम्य ) सद्गुणों क प्रकाशक विद्वानों का ( गोमत ) ज्ञान  
 वेदवाणियों स युक्त ( वाजस्य ) बल या ज्ञान क ( मधम् ) ऐश्वर्य को भी  
 ( महते ) प्रदान करता है ।

इति षष्ठ खण्ड ।

इति तृतीयोऽध्याय । इति द्वितीयप्रपाठस्य षष्ठोऽध्यायः ॥

## अथ चतुर्थोऽध्यायः

### द्वितीयोर्ध्व ।

ऋषि — १ जमदग्नि । २ मृगुर्वाणिर्जमग्निर्वा । ३ कविर्भागव । ४  
 ऋषयः । ५ मध्यादिषु काण्व । ६ ७ मधु-छन्दा वैश्वानिष १८ मध्याजो  
 वाइभ्यन्व । ९ सतपथ । १० परागर । ११ पुरुदन्मा । १२ मध्यादिषु  
 काण्व । १३ पसिष्ठ । १४ प्रित । १५ यवाग्निर्नाहुष । १६ पवित्र । १७  
 सौभरि काण्व । १८ गोवृ-यक्ष्मूत्तिर्ना वाण्वायनी । १९ तिर-नी ॥ दशता—  
 ३—४, ६, १०, १४—१६ पवमान सोम । २, १७ अग्नि । ६  
 निशानरणी । ७ मस्त इन्द्रश्च । ८ इन्द्रानी । ११—१३ १८ १९ इन्द्र म  
 छन् — १—८, १४ गायत्री । २ इहती सताइहती दिव्या क्रमण । १०  
 निष्ठुप । ११ १३ मगाय १० इहती १५ १६ अनुष्ठुप । १६ जपती ।  
 १७ ककुप् सतोइहती च क्रमण । १८ उष्णिक् ॥ स्वर — १—८ १४  
 पञ्च । २ ११—१३ मध्यम । १० धैवत । १५ १६ गान्धार । १६  
 निषा । १७, १८ श्रुतम ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[८३०] एत अक्षप्रमिन्दवस्तिर परिभ्रमाशर ।

१ २ ३ १ २  
 त्रिभ्वा-न्य भिसौभगा ॥ १ ॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[८३१] विचान्ता दुरिना पुरु सुगा ताकाय वाजिन ।

१ २ ३ २ ३ २ १ २  
 त्मना कृयन्ता अर्षत ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २

[८३२] कृयन् ता पवित्रो गवेऽभ्यर्षन्ति सुष्टुतिम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

इडा मरुमभ्य सयतम् ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ६ । ६२ । १—६ ॥

( १ ) जिस प्रकार ( तिर ) तिरछे रूप स घाम हुण ( पवित्र ) दशा  
 पवित्र नामक धन्न खण्ड पर ( एत ) य ( घास ) शीघ्र गति करनहारे

साम ओषधि के रस ( विधानि ) समस्त ( सौभाग्य ) सौभाग्यों को ( अभि ) प्राप्त करने के लिये ( असृप्रम् ) छोड़े जाते हैं, प्रवाहित किये जाते हैं । उसी प्रकार ( आशव ) व्यापनशील ( इ दव ) आह्लादकारक, आनन्द रस ( एत ) य ( तिर ) सत्स्वरूप, ( पवित्र ) शुद्ध, मन्त्रादि दापों से रहित चित्त में ( विधानि सौभागानि अभि ) समस्त पृथकों के साक्षात् करन के लिये ( असृप्रम् ) प्रवाहित होते हैं ।

इस मन्त्र से समस्त सृष्टि उपलब्ध हुई ऐसा बहुतसे विद्वानों का मत है । तदनुसार सृष्टि प्रकरण में ( आशव ) गतिशील ( इ दव ) प्रकाशमान विष्ट ( एत ) य सय ( विधानि सौभागानि अभि ) समस्त पृथकों को साक्षात् प्रकट करन के लिये ( तिर पवित्रम् ) सत्स्वरूप, परम प्रज्ञरूप मूलकारण से ( असृप्रम् ) उपलब्ध होते हैं ।

( २ ) ( वाजिन ) ज्ञानवान् साम शम दमन्नादि साधनों से सम्पन्न विद्वान् जाग ( पुरु ) बहुत से ( दुरिता ) दुष्ट कर्मों को ( विघ्नन्त ) नाश करत हुए ( रमना ) अपन सामर्थ्य से ( अवन ) प्राणों की ( कृष वन्त ) साधना करते हुए ( ताकाय ) अपने सन्तान के लिये अथवा अपने विविध दुष्टों के नाश करन के लिये या अगली जन्म परम्परा के सुधार लिये ( सुगा ) सुखपूर्वक अनुगमन करन योग्य उत्तम मार्ग बनाते हैं ।

( ३ ) और वे ही विद्वान् जाग ( गव ) ज्ञानस्वरूप प्रज्ञ के लिये ( मुस्तुतिम् ) उत्तम रगुनि ( कृषवन्त ) करत हुए ( अस्मभ्य ) हमारे लिये ( परिष ) धन और ( इडाम् ) उत्तम अन्न और ( सपत ) उत्तम व्यवस्था ( अभि अपेन्ति ) प्रकट कराते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २

[ २२ ] राजा मेधाभिरीयन् परमानो मगायधि ।

३ १ २ ३ १ २

अन्तरिक्षाय यातये ॥ १ ॥

[८३४] आ न सोम सदा जुगो रूप न वर्चसे भर ।

सुप्राणां देववीतये ॥ २ ॥

[८३५] आ न इन्दो शतग्विन गया पोषं स्वशय्यम् ।

यहा भगतिमूनय १३॥२॥ अ० ६। ६५। १६, १८, १७ ॥

भा०—( १ ) ( राजा ) प्रकाशमान रूप में ( पवमान ) प्रकट होता हुआ, आशमानन्द रस ( अन्तरिक्षेण ) अन्तरिक्ष से मेघ के समान अन्त करण से ( यातवे ) जाने क लिये ( मनौ अथि ) मननशील चित्त के भीतर ( मेधाभि ) प्रज्ञाओं, कर्मों द्वारा ( हंपते ) व्याप्त होता है ।

( २ ) हे ( सोम ) आशमन् ! तू ( देववीतये ) विद्वानों के इष्टसिद्धि के लिये ( सुप्राणा. ) स्वन उपपन्न होता हुआ ( न ) हमें ( वर्चसे ) दीप्त कान्तिमान् तेजस्वी होने क लिये ( सह ) सहनशीलता ( जुव ) योग और ( रूपं ) कान्ति ( आ भर ) प्राप्त करा ।

( ३ ) हे ( इन्दा ) ऐश्वर्यवन् ! आप ( न ) हमारी ( उतये ) रक्षा के लिये हमें ( शतग्विन ) सैकड़ों गौओं और ( श्वरय्य ) उत्तम > घोषों से युक्त ( पोषं ) पुष्टिकारक पदार्थ और ( भगतिम् ) सेवन करने योग्य, उत्तम ऐश्वर्य ( आ सह ) प्राप्त कराइय ।

[८३६] त रमा नृमणानि ऽथ्रत सधस्थेषु मदां दिष्य ।

चारुं सुरान्यये महे ॥ १ ॥

[८३७] सवृक्तशृणुमुक्य्य मदा मां द्रवत मदम् ।

शतं पुरो रुचक्षिम् ॥ २ ॥

[८३८] अतस्त्वा रयिरभ्ययद्राजान सुप्रतो दिष्य ।

सुप्राणां अश्वधा भरत् ॥ ३ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ०  
 [८३६] अया ह्यिह्यान् इन्द्रियं ज्याया महित्वमानशे ।

३ १ २ ३  
 अभिष्टिहृद्विचर्यणि ॥ ४ ॥

१ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २  
 [८४०] विश्वस्मा इत्स्वर्दशे साधारणं रजस्तुरम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २  
 गापामृतस्य विर्मरत् ॥५॥३॥ अ० ६ । ४८ । १-२ ।

भा०— १ ) हे परमेश्वर ! ( नृम्यानि ) नाना धनों को ( विभ्रतं ) धारण करते हुए ( ते ) उस ( दिवः ) पौलोक वा सूर्य के ( सघस्येषु ) समान स्थान, अन्तराकाश में विद्यमान अनन्त लोकों में ( चार्त् ) स्वापक ( मद्. ) महान् ( रवा ) तुम्हको हम ( सुहृदप्ये ) उत्तम पुण्य कर्म करके ( इमहे ) प्राप्त होते हैं ।

( २ ) और पुन ( संवृकृष्टं ) आत्मा का धरण करने द्वारे काम मोधादि नाना शशुषों का मूष काट डालने वाले, ( उक्थ्यं ) वेदमन्त्रों में स्तुति करने योग्य, ( महामहिमतं ) बड़े भारी पूजनीय कर्म करने वाले, ( शत पुर ) सैकड़ों देहों के समान ब्रह्माण्डों के भोजी, या सैकड़ों देहधारियों को ( रुरधिणं ) उच्च शोक-मोह में उठा खेने वाले आपको हम प्राप्त होते हैं ।

( ३ ) ( अतः ) इसी कारण ( रवा राजान ) तुम्ह समस्त संसार के प्रकाशक स्वामी के पास हे ( सुकतो ) उत्तम कर्म में सम्पन्न ! ( दिवः ) सूर्यलाक का भी ( रपि ) समस्त यज्ञ और ऋषयै ( रवा अग्नि अयद् ) तुम्हको ही प्राप्त है । तू ही ( सुपर्णः ) उत्तम ज्ञान और शक्ति में सम्पन्न होकर समस्त संसार को ( अद्यधी ) बिना क्यथा या पीड़ा अनुभव किये ही ( भरत् ) प्राप्तन पोषण और धारण करता है ।

( ४ ) ( अथ ) और ( विचर्यणि. ) सब संसार का दया, निर्दिष्टक र्त् ( अभिष्टिहृद् ) सबको अभीष्ट कर्मफल देने चाहा होकर ( इन्द्रियं ) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा से पुत्र देहों को प्रेरित करता हुआ ( ज्यायः ) बहुत

बड़े ( महिष ) महान् सामर्थ्य को ( धारण ) धारण करता है । अथवा ( हृन्दिष्य ज्याय महिषम् धारणो ) परमैश्वर्यं युक्त, सधमे अधिक बड़े महान् सामर्थ्य का प्राप्त है ।

( १ ) ( वि ) दृष्ट भे दृष्टान्तर में गति करने द्वारा, पक्षि क समान बड़ जीव आत्मा ( विश्वमा ) सब प्रकार के ( इ ) ही ( एष ) सुखों या ज्ञानों का ( हृषो ) दर्शन करने के लिये ( साधारण ) समस्त खोहों को समान रूप से धारण करने द्वारा, ( रजस्तुर ) समस्त खोहों को गति देने द्वारा ( श्वतस्य ) समस्त जगत् धीर ज्ञान की ( गोषाम् ) रक्षा करनेद्वारे परमात्मा को ( भवत् ) अपने चित्त में धारण करे ।

[ ८४१ ] इष पञ्चम्य धारया मृज्यमानो मनीषिभि ।

इन्द्रो रुचाभि गा इहि ॥ १ ॥

[ ८४२ ] पुनाना चारयम्हृष्यूर्जे जगाम गिर्षण ।

हरं सृजान आशिरम् ॥ २ ॥

[ ८४३ ] पुनानो देवगीतय इन्द्रम्य यादि निष्कृतम् ।

स्युतानो वाजिभिर्दितः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

। भा०—( १ ) इषावया इष्टा अविद्वज्ज म० [ ५०२ ] पृ० २२० ।

( २ ) हे ( गिर्षण ) अविषा क एकमात्र पात्र ! प्रभो ! ( आशिर ) इस शीर्ष्य होम पात्र देह को ( मृज्यमानः ) बनाता हुआ, ( पुनान- ) ईश्वर, मन्त्रादिन पवित्र बन्धन रहित हाकर भी ( जगाम ) आपस होने द्वारा इस मनुष्य के लिये ( गिर्वि ) ज्ञानरूप उत्तम धन, और ( रुजं ) अन्न आदि वस्तु ( हृषि ) उत्पन्न कर और प्रदान कर ।

( ३ ) हे परमात्मन् ! ( वाजिभि ) विद्वानों द्वारा ( दित ) समान्ति में साक्षात् किया हुआ और धारण किया गया ( पुनान )



( पुनान ) सब मलों को शोधता हुआ ( देवर्षीतये ) दिव्यगुणों के प्राप्त कराने के लिये ( इन्द्रस्य ) आत्मा क ( निकृतम् ) आवासस्थान हृदय देश में ( याहि ) था, विराजमान हो।

इति प्रथम. खण्डः ।

—१७१७—

[८४४] <sup>३ २ ३ १ २ २</sup> अग्निनाग्निं <sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> सामध्यते कार्गृहपतिर्युवा ।

<sup>३ २ ३ २ २</sup> हव्यवाह जुह्वास्य ॥ १ ॥

[८४५] <sup>१ २ ३ १ २ ३</sup> यस्तगमग्नं हविष्पनिर्धृतं <sup>१ २ ३ १ २</sup> देश सपयति ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> तस्य मम प्राविता भव ॥ २ ॥

[८४६] <sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> यो अग्निं देवर्षीनये हविष्मां आ विद्यामति ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> तस्मै पायक मृडय ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० १ । १२ । ६, म. २ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार (अग्निना) अग्नि से (हव्यवाह) चरु आदि हवि पदार्थों को जलवायु आदि पदार्थों तक पहुँचाने वाला (जुह्वास्य) जुहु नामक पशु पात्र या ज्वालारूप मुख वाला (अग्नि) आहवनाप अग्नि (ममिष्यते) प्रज्वलित किया जाता है। अथवा जिस प्रकार एक अग्नि से दूसरा आग्न जला लिया जाता है। उसी प्रकार (युवा) तरुण (कवि) विद्वान् मेधावी दूसरे विद्वान् से ज्ञान प्राप्त करता और (गृहपतिः) एक गृहस्थ भी दूसरे गृहस्थ से अन्नो सत्ता को पाता है।

(२) हे अग्न ! (य) जा (हविष्पति) सब हव्य पदार्थों का स्वामी जीव (स्था) तेरा (सपयति) भजन करता है, हे देव ! (तस्य) उसके भाव (मम प्राविता) रक्षा करने हार (भव) होइये।

(३) (य) जो (हविष्मान्) उत्तम अर्थों और पदार्थों का स्वामी (देवर्षीतये) विद्वानों या भौतिक दिव्य गुणों और पदार्थों को प्राप्त करने के

खिय ( अग्नि ) अग्नि क समान ज्ञानस्वरूप, सर्वप्रकाशक परमात्मा के ( आविवापति ) वपासना करता है । हे ( पाषक ) सबका पवित्र करनेहार परमधर ! आप ( तस्मै ) उसका ( मृदय ) सुख शान्ति दें ।

३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[८४७] मित्रं हुवे पूतदक्ष वरुण च रिशादसम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २

त्रिय घृतार्ची साधन्ता ॥ १ ॥

३ १ २

[८४८] ऋनेन मित्रावरुणावृतावृथावृतस्पृजा ।

१ २ ३ १ २

फतु मृदन्तमाशाये ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[८४९] कधी नो मित्रावरुणा तुग्जिता उरुक्षया ।

१ २ ३ १ २

दक्ष दधाते अपसम् ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० १ । २ । । ७-६ ॥

भा०—( १ ) मैं ( पूतदक्ष ) पवित्र, निष्पाप कर्म करने हारे, पवित्र बल वाले, मित्र) सबके खेही और सबको मृत्युके भय से बचानेहार, मद्गाण्ड में वर्तमान सूर्य के समान और देह में वर्तमान प्राण के समान (रिशादस) शत्रुओं क समान कष्टापी रोगों का विनाश करने वाले, (वरुणम्) बलिष्ठ प्राणवायु या भीतरी अपान वायु और उसक समान सब कष्टों क निवारक मेरा ( हुवे ) रहस्यपूर्ण अप्पास पदार्थों क ज्ञान के माध्य २ ज्ञान करना हूँ ! ( घृतार्ची ) जिस प्रकार सूर्य और वायु जल को ऊपर और सब देशों में खेजाते है उसी प्रकार व दोनों प्राण और अपान भी शरीर की कान्ति को बढ़ाने वाले घृत या शुद्धरूप रस को सर्वत्र प्राप्त कराने हारी ( धियं ) क्रिया को (साधन्ता) साधन वाले होते हैं । उसी प्रकार हे परमेश्वर ! स्यायु से प्राण करने वाला स्नेहमय और दुःखों का निवारक मेरा मृद और वरुणीय दोनों रूप ही ! घृतार्ची धिय साधन्ता ) आनन्दरस को प्राप्त कराने वाली बुद्धि को साधते है ।

( २ ) ( मिश्रावरणौ ) मित्र और वरुण दोनों ( अतस्य ) गति, ज्ञान और सत्य क बल पर ( अतावृषौ ) जल से बढ़ने हार वायु सूर्य के समान, अतरूप ब्रह्म की शक्ति से बढ़ने वाले ( अतरुषा ) बल के द्रावक सूर्य, वायु क समान ( अतवृषौ ) ज्ञान का सर्वप्र प्रचार करन हारे ( वृद्धन्त ) बढ़ भारी ( मनु ) ससार रूप यज्ञ को ब्रह्मायज्ञों और विषयों को ( आशाथ ) स्थापन किय हुए हैं ।

( ३ ) ( मिश्रावरणौ ) मित्र और वरुण ( कवी ) आन्तदशीं मन्त्र प्रकार के व्यवहारों का दर्शन करने हारे, ( तुविजाता ) बहुत से कारणों से प्रसिद्ध, ( उरुवशा ) माना जगत् क पदार्थों में व्यापक ( दृष ) बल और ( अपस ) क्रिया को ( दधाते ) धारण करत हैं, स्थापन करते हैं ।

[८५०] इन्द्रेण स हि दक्षसे सजेग्मानो अविभ्युषा ।

मन्दू समानवर्षसा ॥ १ ॥

[८५१] आदह स्वधामनु पुनर्गर्भस्वमेरिरे ।

दधाना नाम यक्षियम् ॥२॥

[८५२] घौडु चिदाग्जनुमिगुदा चिदिन्द्र यक्षिभि ।

अग्निन्द उक्षिया अनु ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० १ । ६ । ७, ४, ५ ॥

( १ ) हे प्राण ! तू ( अविभ्युषा ) भयाहित ( इन्द्रेण ) इन्द्रस्वरूप आत्मा के साथ ( सजेग्मान ) गति करता हुआ ( स वृषसे हि ) दित्तार्ह दत्ता है । हम कारण तुम दोनों प्राण और आत्मा ( समानवर्षसा ) समान कालित वाले होकर ( मन्दू ) आमन्द के उल्पादक होले हो । जीव और परमात्मा क पद में, एव सूर्य और वायु के पद में भी एवह है ।

( २ ) मरुत्प्रगय, इन्द्रियां या हर्षो प्राण ( स्वधाम् अनु ) धरने स्व-रूप, या देह को स्वय धारण करन में समर्थ जीवात्मा क साथ ( आदह )

बाद में ( पुन ) फिर ( गर्भं यम् ) गर्भरूप स ( परिरे ) प्रकट हात हैं और ( यज्ञिय ) जीवनरूप यज्ञ के योग्य ( नाम ) संज्ञा को ( दधाना ) धारण करता हैं । आधिदैविक पक्ष में स्वभा=जलके साथ वायुष् भाकाश में गर्भित हाकर यज्ञ के योग्य जलवर्षा करात हैं ।

( ३ ) जिस प्रकार मूष का तज गुहा अर्थात् अन्तरिक्ष में किरणों द्वारा पढ़ायों तक पहुचता है और उनके भीतर प्रवेश करन डारी वायुओं स अन्तरिक्ष में जल का धारण करता है उसी प्रकार हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( गुहा चित् ) भीतरी गुहा गर्भस्थान में भी ( योडु चित् ) अति दृढ स्थान को ( आरुज्जनुभि ) पीदित करत हुए ( वह्निभि ) वहन करन वाल प्राणों स प्रकट हाकर ( अनु ) पश्चात् ( उधिया ) अपनी किरणस्वरूप इन्द्रियों द्वारा ( अनु अविन्द ) तू ज्ञप पढ़ायों को प्राप्त कर । अथवा हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! तू गुहारूप हृदय देश में विराजमान होकर भी दद शरीर के भागों को फाड़ कर जीवन का वहन करन वाल हन प्राणों स अपन ( उधिया ) ज्ञानन्द्रियों का प्राप्त कराता है ।

[ ८५३ ] तां हुवे ययोरिक्षं पन्न विश्वं पुराकृतम् ।

इन्द्राग्नी न मधेत ॥१॥

[ ८५४ ] उग्रा विघनिता मृध इन्द्राग्नी हयामह ।

ता नो मृडात इदंश ॥२॥

[ ८५५ ] हथा वृत्राणयाया हथा दासानि सत्पती ।

हथा विश्वा अप द्विय ॥३॥ ८० ६ । १० । २-३॥

भा०—( १ ) मैं उन ( इन्द्राग्नी ) इन्द्र और अग्नि या परमात्मा आत्मा दोनों को ( हुवे ) स्तुति करता हूँ ( मया ) जिनके आधार पर

( इद ) यह ( विधम् ) विध ( पम ) व्यवहार योग्य प्रसिद्ध होता है ।  
 और ( ययो ) जिन्हों क आधार पर यह जगत् ( पुराकृतम् ) प्रथम काल में भी  
 बनाया गया था, जा इसका ( न मधत ) विनाश नहीं होने देते ।

( २ ) उन ( मृध ) हिंसक शत्रुओं को ( विघनिता ) विघ्नरूप से  
 आघात करन हार ( उग्रा ) वेग वाले ( इन्द्राग्नी ) पूर्व उग्र इन्द्र और  
 अग्नि दोनों का ( इधामह ) स्वीकार करत, स्तुति करते हैं जिनक आधार  
 पर हम आर ( ता ) ने दाँों ( न ) हमें ( इंदृश ) इस प्रकार क जीवन  
 समाप्त में भी ( मृधत ) सुखी करें ।

( ३ ) ( आर्या ) उत्तम गुण कर्म स्वभाव वाले वे दोनों ( वृत्राणे )  
 मर्षों क समान आयरक विघ्नों का ( इध ) आघात करते, या नाश करते हैं ।  
 ( सधती ) और वे दोनों सज्जनों के पाजक ( दासानि ) नाशकारी पदार्थों  
 का ( इध ) विनाश करत हैं और ( विधा ) समस्त ( द्विप ) शत्रुओं को  
 ( अप इध ) दूर मार भगाते हैं ।

इति द्वितीय खण्ड ।

- ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [८२६] अभि सोमास आगव पवन्त मध मदम् ।  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 समुद्रस्याधाराष्टप मनीषणा मन्सरासा मद्रप्युत ॥१॥
- १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २  
 [८२७] तरत्समुद्र परमा ऊर्षिणा राजा देव ऋत पृहत् ।  
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २  
 अर्षा मित्रस्य घरुणस्य धर्मणा प्र दिन्वान ऋत पृहत् ॥२॥
- १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 [८२८] नृभिर्येमाणो हर्यता रिचक्षणा राजा देव समुद्रप ॥४॥  
 ॥६॥ श० ६ । १०७ । १४ १३॥

८२६—१ 'मन्सरासा न्वर्षि' इति श० ।

२ 'अर्षा मित्रस्य,' प्रदिन्वान' इति श० ।

३ 'देव समुद्रिय' इति श० ।

भा०—(१) श्याख्या दक्षा अविर्जल स० [११८] पृ० २५६ ।

(२) ( पवमान ) समस्त मलों का शाधन करन द्वारा ( राजा ) सृष क समान यागी ( देव ) विद्वान् ( ऊर्मिणा ) अथवा उच्चगति द्वारा ( वृद्धत् ) वृद्ध ( अतस् ) सत्यज्ञान स्वरूप परिष्कृत ( समुद्र ) समस्त मला के आश्रय बल को ( तरत् ) प्राप्त हा जाता है । और ( मित्रस्य ) सर्वक स्नहशील प्राणस्वरूप ( बह्वस्य ) सब पापों क निवारक परमात्मा का ( धर्मणा ) यम नियम पूर्वक प्राप्त धाक बल से, या सदाचार से । दि न्वान ) स माग में गति करता हुआ स्वयं ( वृद्धत् ) वृद्ध ( अतस् ) सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त बल का ( प्र अप ) प्राप्त हाता है ।

(३) ( नृभि ) विद्वान् नत शौं या प्राणोंक द्वारा ( यमाण ) सुव्यवस्थित ( राजा देव ) प्रकाशस्वरूप यागा भा ना हयत सबक प्रमका पात्र ( विच लण ) और सभ का साथी रूप हाकर ( समुद्र ) महान् रससागर म थानद् प्राप्त करन वाला हाकर उसी में मग्न हा जाता है ।

[८५६] तिस्रा पात्र ईरयनि प्र वह्निर्नम्य धीति ब्रह्मणा मनीषाम् ।  
 गावो या त गोपति पृच्छमाना सोम यन्ति मतया वाय  
 शागा ॥२॥

[८६०] सोम गावो धेनवा वायशाना साम त्रिधा मतिभि पृच्छ  
 माना । सोम सुत ऋच्यन पूयमान साम अकाधिष्टुम  
 सध्वजन्त ॥२॥

[८६१] पत्रा १ साम परिविच्यमान श्रापयन्त्य पूयमान अस्ति ।  
 इन्द्रमविशश् वृहता मदेन चङ्गया शान् जनया पुरन्धिम्  
 ॥३॥१०॥ अ० ६ । ६७ । ३४ ३६ ॥

गमन युक्त होकर इस ( सुत ) अपने उत्पन्न किये पुत्ररूप संसार के प्रति ( कदा ) कब ( आगम ) आएंगे, कब कृपादृष्टि और आनन्ददृष्टि करेंगे ?

अथवा भक्त अपने आत्मा के प्रति कहता है—हे (वसो) आत्मन् ! बहुत से ज्ञानी अपने ज्ञानमय हृदय में तुम्हें ही स्वरसे गाते हैं । जिस प्रकार प्यासा जल के प्रति जाता है उसी प्रकार तू भी उत्कण्ठित होकर, उत्तम मेघ-वान् वायु के समान मनोहर गति वाजा होकर कब हृदय-देश में प्रकट होगा और धर्म मेघ रूप में सुख की वर्षा करेगा ?

(३) हे ( मघवन् ! ) सम्पूर्ण धनों और यज्ञों के स्वामिन् ! हे ( विचर्यन्ते ! ) समस्त संसार के द्रष्टा ! हे ( धृष्यो ) सहनशील ! समस्त संसार के भार को वहन करने हारे ! सब कष्टों और दुष्टों को दूर करन हारे ! आप ( कश्येभि ) मेधावी पुरुषों के निमित्त ( सहस्रिणम् ) सहस्रों ऐश्वर्यों से युक्त ( धृषद् ) बाधक विरोधियों को पराजित करने वाले ( वाज ) बल का ( आर्षि ) देते हैं । उम ही ( विशङ्करं ) अत्यन्त मनाहर, पीतवर्ण क, सुवर्ण आदि और ( गामन्तम् ) गौ आदि पशुओं से युक्त ( वाज ) धन की ( मत्सु ) निरन्तर दान ( ईमहे ) याचना करत हैं ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[८६७] तरणिरित्सपति वाज पुरन्ध्या युजा ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २

आ व इन्द्र पुरुहन्त नमे गिरा नेमि नष्टय सुष्टुयम् ॥१॥

१ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[८६८] न दुष्टुतिर्द्विषादपु शस्यंत न स्त्रेयन्त रयिर्नशत् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १ २ २ ३ २

सुशक्तिरिन्मघवन् तुभ्य माप्रते दप्य यत्पार्थे दिवि ॥२॥

॥१३॥

श्र० ७ । ३२ । २०—२१ ॥

(१) व्याख्या देखो अधिकल स० [२३८] पृ० १२१ ।

(२) ( द्रविणोदेषु ) द्रविण-धन और ज्ञान के दान करने हार उदार पुरुषों के विषय में ( दु.-स्तुति. ) बुरी निन्दा ( न शस्यते ) नहीं कही जाय और ( स्तेघन्तं ) दूसरों की हिसा करने हारे पापी पुरुष को ( रवि ) धन प्रजा और पुष्टि ( न नशात् ) प्राप्त हो ( यत् ) जो ( पार्य ) पालन करने हारे ( दिवि ) आकाश या सूर्य में ( मावत ) मेरे जैसे पुरुष के लिये ( देष्यं ) दान करन योग्य तज जल घृष्टि आदि पदार्थ हैं । हे मघवन् ! ( तुभ्य इत् ) तेरी ही वद ( मुशक्ति ) उत्तम शक्ति है ।

इति चतुर्थ. खण्ड. ।

[८६६] निष्ठा वाच उक्षीरत गावो मिमन्ति धेनवः ।

हरिरेति कनिक्वदत् ॥ १ ॥

[८६७] अभि ब्रह्मीरनूपत यक्षीर्क्षितस्य मातरः ।

मजयन्तीदिव शिशुम् ॥ २ ॥

[८७१] राय. समुद्राश्चतुराऽस्मभ्य सोम विश्वतः ।

आपत्रस्व सहस्रिणः ॥ ३ ॥ १४ ॥ अ० ९ । ३३ । ४-६ ॥

भा०—( १ ) ग्याख्या देशो भविकल सं० [४७१] पृ० २३७।

( २ ) ( ब्रह्मी ) ब्रह्म वेद की वाणियों ( अतस्य मातर ) सत्य का ज्ञान कराने वाली ( दिव ) आकाश में सूर्य के समान, परम तेज और दिव्यगुणों में ज्ञान के स्वरूप में ( शिशुं ) शायन करने वाल, स्यापक परमात्मा को ( अभि अनूपत ) साक्षात् रूप से स्तुति करती हैं ।

( ३ ) हे ( सोम ) सबके उत्पादक ' परमेश्वर ' ( अस्मभ्य ) हमारे लिये ( सहस्रिणः ) सहस्रों पशुओं से सम्पद्य ( राय ) धनों से पूर्ण



( चतुर ) चारों ( समुदान् ) समुद्रों का उद्भूति क साधन रूप या नाना पृथवों और सुखों के उत्पादक धर्म, अर्थ, काम और माद्य चारों को ( आ पवस्व ) प्राप्त करा ।

[८७२] सुतासा मधुमत्तमा सोमो इन्द्राय मदिन ।  
 ३ १ ३ १ २      ३      २ ३ १ २      ३ १ २  
 ३ १ २      ३ १ २      ३ १ २  
 पविश्रन्तो अक्षरन् दवान् गच्छन्तु या मदा ॥ १ ॥  
 २ ३      २      ३ १ २ ३ १ २

[८७३] इन्दुरिन्द्राय पवत इति द्यासो अग्रुन् ।  
 ३ १      २      ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 वाचस्पतिर्मलस्यते विश्वस्यशान आजस ॥ २ ॥  
 ३ १ २      ३ १ २      ३ २

[८७४] सहस्रधार पवत समुद्रो वाचमीह्वय ।  
 २ ३ १ २      ३ १      १ २      ३ १ २  
 सामस्पती रथ्याणां सखन्द्रस्य दिवेदित्रे ॥ ३ ॥ १५ ॥  
 श्र० १ । १०४ । ४-६ ॥

भा०—( १ ) श्यासवा दस्रो अविक्ल स० [१४७] पृ० २६४।

( २ ) ( इन्दु ) साम्य गुणवाला आनन्दस्वरूप साममय ईश्वर ( इन्द्राय ) इस धामा के हित क लिय ( पवन ) प्रकट हाता है । ( इति ) इस प्रकर ( दवास ) विद्वान् ज्ञारा ( अग्रुन् ) कहत हैं । और वही साम ( अजस ) विशय बल और प्रभाव क कारण ( विश्वस्य ) समस्त ससार का ( ईशान ) प्रभु और ( वाचस्पति ) वदवाणियों का स्वामी हाकर ( मलस्यत ) यज्ञों द्वारा पूजा करन योग्य है ।

( ३ ) ( सहस्रधार ) सहस्रों धारण शक्तियों से सम्पन्न, ( समुद्र ) समस्त रसों का भण्डार या समुद्र क समान महान्, ( वाचम् ईह्वय ) समस्त विध की वदमय वाणियों का प्रकट करन द्वारा, ( रथ्याणां ) समस्त जड़ और चतन पदार्थों और पृथवों का ( पति ) स्वामी और ( इन्द्रस्य )

इस आत्मा का ( सखा ) परम मित्र ( सोम. ) सबका प्रेरक और उत्पादक परमात्मा ( दिवेदिवे ) प्रतिदिन ( पवते ) प्रकट हो ।

[८७५] पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राण्यप्येपि विश्वतः ।

अतस्तनुने तदामा अश्रुते गृतास इहहन्तः स तदागत ॥ १ ॥

[८७६] नपोष्यवित्र वितत दिवस्पदेऽर्चन्तो अस्य तन्मवो व्य-

स्थिरन् । अवन्त्यस्य पवितारमाशवो दिवः पृष्टमधिरो-

हन्ति तेजसा ॥ २ ॥

[८७७] अरुरुचदुपस, पृश्निग्निय उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयु ।

मायाविनां मामिरे अस्थ मायया नृचक्षस, पितरो नर्भमादधुः

॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ६ । ८३ । १-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अथिकल सं० [२६५] पृ० २६५।

( २ ) ( तपो ) समस्त सक्षार को तपाने हारे, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर का ( पवित्रं ) पवित्र करने हारा, परम पावन स्वरूप, ( दिवः ) समस्त दिव्य तेशोमप्र प्रदायी में ( विततं ) व्याप्त है । ( अस्थ ) इस परमेश्वर के ( अर्चन्तो ) गुणों को प्रकट करते हुए ( तन्मवो ) नाना तन्तु, यज्ञमय सूत्र ( व्यस्थिरन् ) नाना प्रकारों से विद्यमान हैं । ( अस्य ) इसके ( आशवः ) इषापक और अति घेगवान् सामर्थ्य या शक्तिवा ( पवितारं ) सबके शोधक सूर्य और वायु को ( अवन्ति ) नष्ट होने से बचाते हैं । और ( तेजसा ) तेज के रूप में ( दिवः ) आकाश के ( पृष्टं ) सबसे उन्नत भाग में भी ( अधिरोहन्ति ) पहुँचे हुए हैं ।

( ३ ) व्याख्या देखो अथिकल सं० [२६६] पृ० ३०० ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[८७८] प्र मंडिष्ठाय गायत क्रमन्ने वृहतः शुक्रशोचिषे ।

उपस्तुतासा अग्नये ॥ १ ॥

[८७९] आ वंसते मघवा धीरवद्यशः समिद्धो द्युम्याहुनः ।

कुयिन्नो अस्य सुमतिर्भवी यस्यच्छ वाजभिरागमत् ॥२॥ १७॥

श्र० ८ । १७३ । ८, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१०७] पृ० २७ ।

( २ ) ( मघवा ) ऐश्वर्यवान् ( समिद्धः ) प्रकाशमान, ( द्युम्नी ) यशस्वी, कान्तियुक्त, ( आहुतः ) विद्वानों से पुकारा गया परमात्मा ( धीरवद् ) सामर्थ्य से पूर्ण पुत्रा मृत्यु मित्र आदि से युक्त ( यश ) अन्न और तेज ( आ वंसते ) प्रदान करता है । ( अस्य भवीयसी ) सबसे अधिक शक्तिशाली ( सुमतिः ) उत्तम मगन या सकल्प शक्ति ( न ) हमें ( वाजभिः ) नाना बलों ऐश्वर्य और ज्ञानों सहित ( कुवित् ) बहुधा ( आगमत् ) आवे, प्राप्त हो ।

[८८०] न ते मद गृणीमसि वृषण पृक्षु सासहिम् ।

उ लोककृत्नुमद्रियो हरिश्चियम् ॥ १ ॥

[८८१] येन ज्योतीष्यायवे मगधे च विधेविध ।

मन्दानो अस्य शिषो विराजसे ॥ २ ॥

[८८२] तदद्या नित्त उन्धिनोऽनुष्टुवन्ति पूर्वथा ।

पृषपत्नीरपो जया विवदिये ॥३॥ १८ ॥ श्र० ८ । १८-१९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [३८३] पृ० १६८ ।

( २ ) ( येन ) जिस सामर्थ्य से हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! आप ( आयवे ) जीवन के साधक, प्राणायाम के अभ्यासी और ( मगधे ) मगधराज्य पुरष

के प्रति अपनी ( ज्योतीषि ) ज्ञानदीप्तियों को ( विवेदिष ) प्राप्त कराते हो, प्रकाशित करते हो, उस ही सामर्थ्य से ( मन्दानः ) आनन्दपूर्ण होकर ( अस्य इत्त ( वर्हिष ) महान् प्रकाशरूप यज्ञ के आश्रय बन कर ( विराजसि ) विराजते हो ।

(३) हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! ( उक्थिनः ) ज्ञानी लोग ( अथ चित् ) आज तक भी ( पूर्वथा ) पहले के समान ही ( ते ) तेरी ( अनुप्नुवन्ति ) निरन्तर स्तुति करते हैं । तू ( वृषपत्नी. ) भीतरों आनन्दरस वषण करने हारे इन्द्र के सामर्थ्यों का पालन करने हारी ( अपः ) शक्तियों और बुद्धियों को ( दिवेदिवे ) प्रतिदिन नित्य ( जय ) विजय कर उन पर वश कर ।

[८८३] <sup>३ १ २४ ३२५</sup> श्रुती हव तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति । <sup>३ १ २ ३१२</sup>

<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> सुधीर्यस्य गामतो रायस्पूर्द्धिर्माहा आसि ॥ १ ॥

[८८४] <sup>१ २ ३ १ ० ३ १ २ ३ १ १४</sup> यस्त इन्द्र नवीयसी गिर मन्द्रामर्जाजनत् ।

<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> चिकित्विन्मनसं धियं प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम् ॥ २ ॥

[८८५] <sup>१ २ ३ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ २</sup> तमु एवाम य गिर इन्द्रमुक्थ्यानि वावृधुः ।

<sup>३ १ २ ३ १ ३ १ २</sup> पुरुययस्य रीस्या सिपासन्ता वनामहे ॥३॥१६॥

श्र० ८ । ६५ । ४-६ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविफल सं० [ ३४६ ] पृ० १७६ ।

( २ ) हे इन्द्र ! ( यः ) जो ( ते ) तेरे द्विये ( नवीयसीम् ) अति सुन्दर, अति स्तुति करने हारी ( मन्द्रा ) गम्भीर ( गिरं ) वाणी को ( अर्जाजनत् ) प्रकट करता है उस ज्ञानी, मननशील पुरुष को तू ( अतस्य ) सत्यज्ञान के ( पिप्युषीम् ) पुष्ट करनेहारी ( प्रत्ना ) अति प्राचीन ( चिकित्विन्मनसं ) ज्ञानशील मन से संयुक्त ( धियं ) बुद्धि या धारणा शक्ति को प्रदान करता है ।

( ३ ) ( तं ) उम ( इन्द्र ) ऐश्वर्यशील परमात्मा को ( उ , ही इम  
नित्य ( स्तवाम ) स्तुति करें ( यं ) जिसकी ( उवधानि ) वेदमन्त्र ( वावृवुः )  
सदा महिमा बढ़ाने हैं । हम अल्पगत्रि जीव ( अस्य ) उस परमात्मा के  
( पुरुषि ) नाना प्रकार के ( पौरुषा ) बल से किये जाने वाले विश्वसर्जन,  
धारण और प्रलय आदि पौरुष कर्मों को, वा बलयुक्त नाना ऐश्वर्यों को  
( सिपासन्तः ) नाना प्रकार से उपयोग और सेवन करते हुए ( वनामहे )  
उसकी स्तुति या भजन करते हैं ।

इति षष्ठः खण्डः ।

इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

इति द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ तृतीयः प्रपाठकः ( प्रथमोऽंशः ) ।

श्रुति — १ वाक्यमागमः । २ अमहीतु । ३ मेभ्यातिथिः । ४, १२ बृहः  
न्यति । ५ मयुर्वारुणिरमसि । ६ सुतभर आग्नेव । ७ एममदः । ८, २१  
गोनमो राहूणः । ९, १३ वमिष । १० छन्द्युत आग्नेयः । ११ सक्षीयः ।  
१४ रेम वाश्यप । १५ पुरहन्मा । १६ अस्तिनः कादवपो देवतो वा । १७  
शक्तिवरक्ष क्रमेण । १८ अग्निः । १९ प्रवर्दनी देवोदासिः । २० प्रयोगो भार्गव  
अग्निर्वा पावको वाहस्पत्यः, अर्वाग्नी गृध्रपतिर्वनिष्ठौ सहस ह्यौ तयोर्वान्दहरः ॥  
देवता—१—५, १०—१२, १६—१९ पवमान सोमः । ६, २० अग्निः ।  
७ मित्रावरुणौ । ८, १३—१५, २१ इन्द्रः । ९ इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—१, ६  
खण्डी । २—५, ७—१०, १२, १६, २० गायत्री । ११ बृहती सतोवृहती च  
क्रमेण । १३ विराट् । १४ अतिष्णती । १५ प्राणाव । १७ बहुप् च सतोवृहती

च त्रमेण । १८ उल्लङ्घ् । १९ विष्टुष । २१ अनुष्टुप् ॥ स्वर — १ ६, १४  
 निपाद । २—५, ७—१०, १२ १६, २० षडन । २१, २३, २५, २७  
 गण्यम । १८ ऋषभ । २६ धेनव । २१ मान्धार ॥

[८८६] प्र त आश्विनी पवमान धेनवा दिव्या असृग्रन् पयसा  
<sup>१ २</sup> धरीमणि । प्राप्तरिज्ञात् स्थाविरीस्ते असृजन् ये त्वा  
<sup>३ १ २</sup> मृजन्त्यपिपाण वेधस ॥ १ ॥

[८८७] उभयन पवमानस्य रश्मयो ध्रुवस्य सत परियन्ति  
<sup>३ १ २</sup> केतव । यदी पवित्र अधिमृज्यते हरि सत्ता नि योनी  
<sup>३ १ २</sup> कलशेषु सिदति ॥ २ ॥

[८८७] पशवा भ्रामानि विश्वचक्ष ऋभ्यस प्रभाष्टे सत परियन्ति  
<sup>३ १ २</sup> केतव । ध्यानशी पवस सोम धर्मणा पतिविश्वस्य भुव  
 नस्य राजाम ॥३॥१॥ अ० ५। २६। ४ ६, ६, ॥

भा०—(१) हे ( पवमान ) परमपावन व्यापक परमात्मन्<sup>१</sup> (ते) तेरी  
 (आश्विनी ) सर्वत्र व्यापक, ( दिव्या ) दिव्यगुणयुक्त, (स्थाविरी ) निरन्तर  
 स्थिर रहने वाली, ( धेनव ) सबका आनन्दरस का पान कराकर तृप्त  
 करने वाली शक्तिया ( पयसा ) ज्ञान और बल और आनन्दरस एवं जल  
 क द्वारा ( धरीमणि ) धारण करन हार आत्मा या अन्तरिक्ष में ( प्र  
 असृग्रन् ) उत्तमरूप से प्रकट होता है । हे ( ऋषिपाण ) ऋषियों, मन्त्रद्रष्टा  
 ज्ञानी पुरुषों द्वारा भजन करन योग्य आत्मन् परमात्मन्<sup>१</sup> ( ये ) जो  
 ( वेधस ) विद्वान् पुरुष ( त्वा मृजन्ति ) तरे शुद्ध रूप को साक्षात्

( १ ) 'पवमान भीजू', 'प्राप्तकपय स्थाविरीसुक्ष्म' इति अ० ।

३ 'ध्यानशि' 'धर्मि' इति अ० ।

करते हैं ( ते ) वे ( स्याविरी ) स्थिर कृटस्थ धारारूप धारणाओं को ( अन्तरिक्षात् ) अपने अन्त करण रूप भीतरी साक्षात् करने वाल साधन मन या अन्त करण स ( प्र अस्त्वत् ) तेरा ज्ञान सम्पादन करते, तेरी साधना करत हैं, निदिध्यासन करत हैं । आत्मपत्र में—अपि= इन्द्रियगण ।

(२) ( पवमानस्य ) समस्त ससार में व्यापक, सब को गति देने हारे, परमेश्वर क ( कतव ) ज्ञान कराने वाल ( रश्मय ) किरण ( ध्रुवस्य सत ) सत्स्वरूप उस कृटस्थ ब्रह्म के ( उभयत ) जड़ और जगम दोनों प्रकार क ससार क प्रति ( परियन्ति ) व्याप्त होरह हैं । ( यद्द् ) जब भी ( हारि ) समस्त ससार को गति देने और समस्त दुःखा को हरन द्वारा ईश्वर ( पवित्रे ) पवित्र अन्त करण में ( अधिमृज्यते ) विवक द्वारा साक्षात् किया जाता है तब ( सत्ता ) हृदयों में सत्त्वस्वरूप होकर विराजमान बड़ ( कलशेषु ) सब शरीरों में भी विद्यमान ( यानौ ) उनके मूल आश्रय, अन्तरात्मा में घुसकर ( सीदति ) विराजमान है ।

(३) हे ( विध्वज्व ) समस्त ससार का दखने वाले परमात्मन्<sup>१</sup> ( सोम ) सबके उत्पत्तिक<sup>२</sup> ( सत ) सत्स्वरूप, महान् ( प्रभा ) सर्व शक्तिमान्, ( त ) आपके ( कतव ) मूर्य के किरणों के समान महिमा को जनज्ञान वाल चिह्न और ज्ञापक शक्तिया ( विधा ) समस्त ( धामानि ) लोकों में ( परि यन्ति ) फैली हुई हैं । और आप ( स्यान्शी ) सर्वव्यापक ( विश्वस्य भुवनस्य पति ) समस्त संसार के स्वामी ( धर्मणा ) अपने धारण करन हारे बल से ( विराजसि ) सबसे ऊपर विराजमान है ।

१ २५

३ २ ३ १२ २२ ३ २

[ ८८६ ] परमानो अजीजनद्विषक्षिप्र न तन्यतुम् ।

१ २

३ २ ३ २

ज्योतिर्वैश्वानर वृहत् ॥१॥

[८६०] <sup>१ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३</sup> पवमान रसस्तव मदी राजन्नदुच्छुनः । <sup>३ २</sup>

<sup>२ ३</sup> वि चारमव्यमर्षनि ॥२॥

[८६१] <sup>१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २</sup> पवमानस्य ते रसो दत्तो विराजति शुमान् । <sup>३ २</sup>

<sup>२ ३ २ ३ २ ३ २</sup> ज्योतिवश्व स्वर्दश ॥३॥२॥ श्र ६ ६ । ६१ । १६ ।-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अतिकूल स० [४८४] पृ० २४२ ।

( २ ) हे [ पवमान ] सर्व व्यापक ! परमपावन परमेश्वर ! ( तव ) तेरा ( रसः ) रस, आनन्दमय ( मदः ) हर्ष कारक ( अदुच्छुनः ) दुष्ट कुत्ते के समान भोग तृष्णावाली इन्द्रियों के स्पर्श से दूर, अथवा पागल कुत्ते के समान दु खदायो काम, क्रोधआदि भीतरी शत्रुआ से रहित होकर ( अव्यं ) आत्मा के ( चारं ) वरण करने योग्य स्वरूप को ( वि अपैति ) व्याप लेता है ।

( ३ ) ( पवमानस्य ) अन्त करण को पवित्र करने हारे, या प्रकाशित करने हारे ( ते ) तेरा ( रसः ) आनन्दरस ( दत्त ) ज्ञान और बल रूप ( शुमान् ) कान्तिमय होकर ( विराजते ) विशेष रूप स चमकता है । और वह ( ज्योतिः ) ज्योति स्वरूप ( विधम् ) समस्त ( स्वः ) सुखा को ( दृशे ) प्रकाशित कर दर्शाने हारा है ।

[८६२] <sup>२ ३ ३ १ ३ २ ३ १ ३ १ २</sup> प्र यद् गावो न भूष्यस्त्वेषा अयासा अत्रतुः ।

<sup>१ २ ३ २ ३ ३ १ २</sup> घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ॥१॥

[८६३] <sup>३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ २</sup> सुवितस्य वनामडेऽति सतु दुराध्यम् ।

<sup>३ २ ३ १ २ ३ २</sup> साह्याम दस्युमघ्नतम् ॥२॥

[८६४] <sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २</sup> शृण्वं वृष्टेरिव स्वन पवमानस्य शुष्मिणः ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ २</sup> चरन्ति विद्युतो दिवि ॥३॥



[८६५] आ पवस्य मक्षीमिष गोमदि दौ हिरण्यवत् ।

अश्ववत्सोम वीरवत् ॥४॥

[८६६] पवस्य विश्वचर्षण आ मही रोदसी पृण ।

उपा सूर्यो न रश्मिभि ॥ ५ ॥

[८६७] परि न शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वत ।

सरा रस्य विष्पम् ॥६॥ ३० १ । ४१ । १-६॥

भा०—(१) व्याख्या दत्ता अदिकज स० [४६१] पृ० २४२ ।

(२) ( सुवितस्य ) सब ससार को उत्तम रूप से शासन करने हारे, सबके प्रक परमात्मा की ( मनामह ) हम शरण में जाते और ध्यान करत हैं जिसस ( सतुम् अति ) मर्यादा और सामाजिक बंधन व्यवस्था को तोड़ने हारे ( दुराव्यम् ) कष्टसाध्य, वकाबू दुर्दान्त ( अत्रतम् ) कर्तव्य कर्मों स गिर हुए निकम्म ( दस्युम् ) प्रताक विनाशक डाकू आदि अपराधी, या आत्मा के नाशक काम क्रोध आदि को ( सामह्याम् ) हम विजय करें ।

(३) जैसे ( दिवि ) आकाश में ( विद्युत् ) विजुलिया ( चरन्ति ) गति करती हैं उसी प्रकार जब आत्मा की या महान्-दरस की ( विद्युत् ) विशप कातिषा दीक्षिया, ( दिवि ) समस्त ससार में या मूर्धारूप महान् राट में ( चरन्ति ) बग से गति करती हैं तब ( शुभिम्य ) अति बलवान् ( पवमानस्य ) अत करण का पवित्र करन द्वार और आनन्द का वर्णन करन हारे महान् का ( स्वन ) घाय ( वृष्ट ) मघ क समान ( शृण्व ) सुनता ह । धर्ममघ समाधि क अवसर में अनाहत आत्मरूप पञ्च-य ध्वनि का यह वर्णन है ।

८६५—'मनामहे' दुराव्य' 'साहासो' 'अश्वत् वाजवत्सुन' इति श्र० ।

८६६—'स पवस्य विचरण इति क० ।

(४) हे ( सोम ) परमात्मन् ! ( इ दा ) ऐश्वर्य के स्वाधिन् ! आप हमें ( गोमत् ) गौओं वाणियों और इन्द्रियों से सम्पन्न ( अश्वत् ) घोड़ों और प्रायों और वेगवान् माधनों से युक्त ( वीरवत् ) पुत्रादि वीर पुरुषों स युक्त, ( इष ) अन्न, प्रबल इच्छा शक्ति और शासन आदि ऐश्वर्य का और ( महीम् ) बड़ी प्राप्ति का ( आ पवस्व ) प्राप्त कराओ ।

(२) हे ( विश्वचरण ) समस्त ससार का देखने वाले परमात्मन् ! ( हरिमभि, ) किरणों से ( सूर्ये न ) जिस प्रकार सूर्य ( उपा ) उपा के समयों में ( मही रोदसी ) बह भारी आकाश और पृथिवी दोनों का पूर्ण करता है उसी प्रकार आप भी उनका पूर्ण करत और पालन करत हो । आप हमारे प्रति ( पवस्व ) अपनी कृपा दर्शाइये ।

(६) हे सोम ! ( रसा इव ) जिस प्रकार जल से पूर्ण नदी ( विष्ट पम् ) मैदान में बहती है, उसी प्रकार आप भी ( शर्मयन्त्या ) सुख देने वाली ( धारया ) अपनी धारण समर्थ शक्ति या आनन्दरस की धारा से ( विश्वत ) सब ओर से ( न ) हमारे प्रति ( परि सर ) प्राप्त होइये ।

इति प्रथम साष्टकम् ।



[८६८] <sup>३ १ २</sup> आशुरर्षं <sup>३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> बृहन्मते परि प्रियेण धाम्ना ।

१ <sup>१ २ ३ २ ३ ३ १ २</sup> यत्र दद्या इति ध्रुवन् ॥१॥

[८६९] <sup>३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३</sup> परिष्कृत्यश्निवृत्त जनाय यातयन्निप ।

१ <sup>३ २ ३ १ २ २</sup> उष्टि दिव परिस्त्र ॥२॥

[९००] <sup>३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २</sup> अय स यो दिवस्पति रघुयामा पवित्र था ।

१ <sup>१ २ ३ १ २ २</sup> सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत् ॥३॥

[९०१] <sup>३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २</sup> सुत पति पवित्र था त्थिपि दधान अजसा ।

१ <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> विश्वज्ञाणा विराचयन् ॥४॥

[६०२] आ३ वि१ गो२ मत् ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 परा३ यना १ अया २ अर्वा३ वत ४ सुत ५ ।

इन्द्रा१ य २ सि३ च्यते ४ मधु ५ ॥५॥

[६०३] स३ मी५ चीना २ अनृ३ पत ४ ह॒रिं ३ द्वि॒न्वन्त्या॑द्रिभि ५ ।

इन्द्रा२ यि ३ द्राय ४ पौनये ५ ॥दि॥३॥ अ० ६ । ३६ । १-६ ॥

भा०—(१) हे ( गृहन्मेत ) महान् ज्ञानसम्पन्न परमात्मन्<sup>१</sup> आप ( आशु ) सर्वत्र व्यापक हाकर ( मियथ ) अतिमन हर अष्ट ( धाम्ना ) धारणशील तत्र स ( परि अर्थ ) व्याप्त हा रह हैं । ( यत्र देवा ) जहाँ २ विद्वान्गण, या दिव्यगुण स युत्र पृथ्वी जल वायु आदि पदार्थ हैं वहाँ ही आप भा व्यापक हैं व आप स भिन्न बलें नहीं रखत । ( इति ) इस प्रकार आप ( सुवन् ) उपदेश करते हैं ।

(२) हे (सोम) परमात्मन्<sup>१</sup> (प्र निष्कृतम् ) सस्कार या परिस्कार रहित स्थान, गर्भाशय, या भूमि का ( जनाय ) जन्तुओं क उत्पत्ति के लिये ( परिष्कृतवन् ) सस्कृत स्वच्छ परिष्कृत करत हुए ( इय ) मनो कामनाओं, पुष्टिकारक पद्यों वा शोषधियों और अशों का ( यातयन् ) बड़ा स्वय उ पन्न करत हुए आप ( दिव ) सूर्यलाक आकाश या पुरप दोनों पक्षों स ( वृष्टिं ) जलवर्षण वज्रवपन आदि क्रिया क कार्य का ( परिष्व ) करवात हैं । समष्टि और शोषण रूप स सृष्टि की उत्पत्ति समान रूप स वर्णित है ।

(३) ( य ) जा सोम ( दिव परि ) सूर्य में ( रघुयामा ) हलका सूक्ष्म रूप ह कर विचरता है ( स ) यह ( पवित्र ) मघादि द्योय रहित ( सिन्धो ) स्वयण करण द्वार जल क ( ऊर्मो ) सघात रूप में ( वि अत रन् ) नाना प्रकार स चरित हाता है ।

(४) ( सुत ) सदाका प्ररक यह साम सवात्पादक ( अोजसा ) अपन सामर्थ्य स ( पवित्र ) स्वच्छ मखरहित पदार्थों में ( श्विपिम् ) कान्ति का

( दधानः ) धारण करता हुआ ( वि शेषयन् ) नाना पदार्थों को प्रकाशित करता और ( विचक्षणः ) ममस्त पदार्थों का देखता और दिखता हुआ अति ( प्राप्ति ) सर्वप्रख्यापक है ।

( १ ) ( सुतः ) वह सबका प्रेरक, सर्वोपादेक ( परावतः ) दूर के ( अयो ) और ( अर्वावतः ) समीप के लोकों का ( आविवासत् ) प्रकाशित करता है । ( इन्द्राय ) ऐश्वर्यशील सृष्टि या आत्मा के जन्म के निमित्त ( मधु ) आनन्दकारी मधुर ज्ञानरूप से ( सिच्यत ) सेचन किया जाता है ।

( ६ ) ( समीधाना ) उत्तम उद्देश्य से एकत्र हुए विद्वान् लोग ( हरि ) सर्वप्रख्यापक परमात्मा को ( अदिभि ) दृढ़ साधनों द्वारा ( हिन्वन्ति ) साक्षात् करते हैं, और ( इन्द्राय ) अपने आत्मा के ( पालये ) ज्ञान और आनन्दरस के पान कराने के लिए ( इन्दुम् ) हृदय में कान्ति रूप से द्रवित होने वाले आनन्दरस की ( अनूपत ) स्तुति करते हैं ।

[ १०४ ] <sup>३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> हिन्वन्ति सुरमुन्नय स्वसांगे जामयस्परिणम् ।

<sup>३ १ २ २ १ ३ १ २</sup> महामिन्दु महोयुव ॥ १ ॥

[ १०५ ] <sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> पवमान रुचारुत्वा देव देवेभ्यः सुतः ।

<sup>२ ३ १ ३ १ २</sup> त्वभ्या वसून्याविश ॥ २ ॥

[ १०६ ] <sup>१ २ ३ १ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ ३ २</sup> आ पवमान सृष्टुति वृष्टि देवेभ्यो दुवः ।

<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> इपे पवस्व सयनम् ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० १ । ६५ । १-३ ॥

( १ ) ( उन्नय ) गतिशाल, ( स्वसांग ) स्वयं सरण या गमन करने वाली ( जामय ) आराधना या भगिनिर्घो के समान च इन्द्रियों या प्रजागण ( महोयुवः ) महत्त्व की आकांक्षा करती हुई ( महा ) पूजनीय, ( इन्दुं )

आह्लादक उस आनन्दमय ( सूर ) प्रेरक और उत्पादक ( पति ) पति के समान पालक को ( दिव्यन्ति ) स्तुति करती और प्राप्त होता है ।

( २ ) ह ( पवमान ) सर्वव्यापक, परमपावन परमात्मन् । ( देवभ्य ) विद्वानों के निमित्त ( सुत ) प्रकट हाकर धार ( विधा ) समस्त ( वसूनि ) आवास-याग्य लोकों में ( आविश ) व्यापक है ।

( ३ ) हे ( पवमान ) परमपावन, सर्वव्यापक । ( देवभ्य ) दिव्य-गुण सम्पन्न विद्वानों की ( दुव ) प्रार्थना/पसना और कामनाओं को पूर्ण करन के लिये ( सुस्तुति ) उत्तम प्रशंसा याग्य स्तुतिरूप वदवाणी और ( इव ) अत्रादि पदार्थों के लिये ( वृष्टि ) आनन्दरस की वृष्टि को ( भवतम् ) नियमपूर्वक ( पवस्व ) प्रदान कीजिये । अर्थात्-हे परमेश्वर । विद्वान् पुरुषों के सुख के लिये अर्घों के लिये, नियमपूर्वक वृष्ट और भजन और उपासना के लिये उत्तम स्तुति रूप वेदवाणा प्रदान करें ।

इति द्वितीय खण्ड ।

[६०७] जनम्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्नि सुदक्ष सुविताय  
 नव्यक्षे । घृतप्रतीको बृहता दिधिस्पृशा द्यमद्विभाति  
 भरतेभ्य शुचि ॥ १ ॥

[६०८] त्वामग्न अङ्गिरसा गुहाहितमन्यग्नि-द्विच्छ्रियाण वन  
 वन । स जायस मन्यमान सहा महत्त्वामाहु सहस  
 म्पुत्रमङ्गिर ॥ २ ॥

[६०९] यज्ञस्य केतु प्रथम पुरोहितमग्नि नररत्रियघस्थे समि  
 न्रते । इन्द्रेण देवै सरथ स रत्रिये सोदन् नि हाता  
 यजथाय सुम्तु ॥ ३ ॥ ६ ॥ श्र० ५ । १२ । १ ६, २ ॥

भा०—( १ ) ( जनस्य गोपाः ) समस्त जनों और जन्तुओं का रक्षक, ( जागृविः ) सदा जागरणशील, कभी झालस्य न करने वाला ( सुदृषः ) उत्तम बल से सम्पन्न, ( घृतप्रतीकः ) घृत, दीप्ति विशेष, अज्ञास्विता से सर्वत्र पहिचानने योग्य, ( शुचि ) शुद्ध, स्वच्छ भक्त करण वाला, निष्कपट ( अग्निः ) सबको आगे ले चङ्कने वाला, आचार्यस्वरूप, अग्नि के समान तेजस्वी नायक, परम पुरुष, सबके ( नध्यसे ) मये २ अपूर्व ( सुविताप ) कल्याण के लिये ( अजनिष्ट ) प्रकट होता है। और वही ( सृष्टना ) बड़े भारी ( शिविष्टया ) आकाश तक को स्पर्श करने वाले सूर्य समान तेज से ( भरतेभ्यः ) भरण पोषण करन हारे विद्वान् पुरुषों के लिये ( ध्रुमत् ) ज्ञानमय प्रकाशस्वरूप होकर ( विभाति ) विशय रूप से शोभा देता है। अग्नि और सूर्य के दृष्टान्त से विद्वान् और ईश्वर का वर्णन किया गया है।

( २ ) हे ( अग्ने ) ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! ( वन वने ) जिन प्रकार जंगल २ में, या काष्ठ २में आग गुप्तरूप से रहती है उसी प्रकार जात्र, जीव में ( शिथ्रियाण ) व्यापक ( गुहाहितं ) हृदय में छुपे हुए ( स्वां ) तुम्हको ( अगिरसः ) ज्ञानी लोग प्रत्येक पदार्थ में ( अनु आविन्दन् ) खोज करते और प्राप्त करते हैं। ( सः ) वह आप। ( सहः ) सर्वशक्तिमान् ( मध्यमानः ) हृदयदेश में पुनः प्रत्याहरण या मनन करने योग्य, ( महत् ) महान् है। हे ( अगिरः ) ज्ञानस्वरूप ! ( स्वा ) आपको ( सहसरपुत्र ) योगशक्ति, या योगबल से पुरुष की पापों से रक्षा करने हारा ( आहुः ) कहते हैं। आत्मा, विद्वान्, परमात्मा और अग्नि चारों पक्षों में स्पष्ट है।

( ३ ) ( नरः ) विद्वान् लोग ( यज्ञस्य ) देवपूजा एवं संगति आदि धर्मकार्य के ( केतुं ) बतलाने वाले, ( प्रथमं पुरोहितं ) सब से प्रथम, साधोरूप से स्थित परमेश्वर को ( त्रि-सधस्ये ) तीन प्राणों के एकत्र होने के प्रदेश त्रिपुटी में ( समिन्धते ) प्रवृजित करते हैं। ( सः ) वह ( बर्दिवे ) हृत् जीवन यज्ञसे सम्पन्न, बराबर पुष्टि को प्राप्त, ज्ञान और जीवन रूप

यज्ञ में ( इन्द्रेण ) इस आत्मा और ( देवैः ) इन्द्रियों के साथ (होता) सबको अपनी ओर बुजालन द्वारा, सब सुखों का दाता ( सुकृत् ) उत्तम प्रज्ञान और कर्म करने द्वारा, सबका रचयिता परमात्मा ( यज्ञधाय ) यज्ञ सम्पादन या आनन्द प्रदान करने के लिये ( सरथं ) समान रूप से रमण करने योग्य हृदय दश में ( नि सिदिन् ) विराजमान होता है । आधिदैविक पद में—इन्द्र=महान् विष्णुत् और देव=अन्य पंचमृत और बहिः=अन्तरिक्ष, यज्ञध=महायज्ञ रूप यज्ञ ।

[६१०] <sup>३ ३ २</sup> अथ वा मित्रावरुणा <sup>३ १ २ २</sup> सुतः सोम क्रतावृधौ ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup> ममदिद् द्युत ह्यम् ॥ १ ॥

[६११] <sup>१ २ ३ १ २</sup> राजानान्नाभिष्टुहा <sup>३ १ २ २ ३ २</sup> ध्रुवे सदस्युत्तमे ।

<sup>३ १ २</sup> सहस्रस्थूण आशाते ॥ २ ॥

[६१२] <sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup> ता सम्राजा घृतासुती <sup>३ १ २ २ ३ १ २</sup> आदित्या दानुनस्पती ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> सचेते अनवह्वरम् ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० २ । ४१ । ४-६ ॥

भा०—( १ ) हे ( मित्रावरुणौ ) मित्र और वरुण, प्राण और उदान क समान अध्यापक और शिष्य ! ( क्रतावृधौ ) सत्य ज्ञान और जीवन का बढ़ाने वाल ( वा ) आप दोनों के लिये (अथ) यह (सोम-) भोपधियों का रस, या जीवन का रस, या ज्ञान ( सुत ) तय्यार है । ( मम इत् ) मेरा ही ( इव ) आद्वान, आदेश ( द्युतम् ) आप लोग अवश्य करो ।

जिस प्रकार प्राण और उदान सब रस ग्रहण करके जीवन को बढ़ाते हैं, उसी प्रकार सत्यज्ञान के वर्षक अध्यापक और शिष्य भी ज्ञान का रस लेते हैं । उनके प्रति सब लोग अपना प्रेम प्रकट करें ।

( २ ) हे मित्र और वरुण ! प्राण और अपान आप दोनों (राजानौ) इस शरीर के राजा, ( न्नाभिष्टुहौ ) परस्पर दोह न करने हारे ( उत्तमे )





हे । इस अक्षरकार में ध्यान धारणा स सम्पन्न योगी आत्मा दर्शाचि है । उसका ब्रह्मज्ञानपदराक शिरोभाग जो प्राण और उदान को ठाक गति का शिष्य करता है मस्तक भाग में है । काम आधादि पर वश करन वाला इन्द्र आत्मा उसी चित् केन्द्र का खान करता है निसक प्राण और अपान वश में हैं । वह उसको मध्य मस्तक में पाता है और ८१० प्रकार की मनोवृत्तियों पर वश करता है । यह अक्षरकार है ।

( ३ ) गायत्र्या देता अवि० स० [ १४७ ] पृ० ८१ ।

[ ६१६ ] इय वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्यस्तुति ।

अभ्राद्वाष्टरिजनि ॥ १ ॥

[ ६१७ ] शृणुते जरितु इवमिन्द्राग्नी वनत गिर ।

ईशाना पिप्यत धिय ॥ २ ॥

[ ६१८ ] मा पापत्वाय नो नरेन्द्राग्नी माभिश्स्तये ।

मा ना रीरचत निद ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ७ । ९४ । १-३ ॥

भा०—( १ ) इ ( इन्द्राग्नी ) सूर्य और अग्नि सदश गुरु शिष्य, ब्रह्म और जाव ( वाम् ) आप दानों का इय ( इव ) पूर्यस्तुति ) पाचन या पूर्ण सूर्य गुण वर्णन ( मन्मन ) मननशाल विद्वान् पुरुष से ( अभ्राद् ) मेघ से ( शृष्टि इव ) वषा क समान ( अजनि ) प्रकट हाता है ।

( २ ) हे ( इन्द्राग्ना ) गुरु शिष्य क समान ब्रह्म और जीव ( जरितु ) स्तुति करने हार विद्वान् क ( इवम् ) ब्राह्मण या स्तुति का तुम दानों ( शृणुते ) श्रवण करा । और ( गिर ) वदवाणियों का ( वनत ) सवन करो । आप दानों ( ईशाना ) पृथर्ववान् होते हुए ( धिय ) सब प्रकार क कर्मों को ( पिप्यत ) पूर्ण करते और सफल करत हो ।

( ३ ) हे ( नरा ) नेताम्ना । ( इन्द्राम्नी ) गुरु शिष्य । वा अज्यापक उपदेशक ! वा परमेश्वर और आचार्य । सूर्य और अग्नि के समान प्रज्ञ और जीव ! आप दोनों ( न ) हमें ( पापत्वाय ) पापकार्य के लिये और ( अभि शस्तये ) परार्धीनता या दिंसा कार्य के लिये और ( निद्र ) निन्दा-जनक कार्य, या निन्दा करन क लिये ( मा शीरधत ) कभी किसी के वश में न होने दें ।

इति तृतीय खण्ड ।

[ ११६ ] <sup>१ २</sup> परस्व <sup>३ १ २</sup> दक्षसाधनो <sup>३ १ २</sup> देवेभ्य <sup>३ १ २</sup> पीतये हरे ।

<sup>३ १</sup> मरुद्भ्यो <sup>२ ३ २ ३ १ २</sup> वायवे मद्र ॥ १ ॥

[ १२० ] <sup>२ ३ १</sup> स देवै <sup>२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २</sup> शोभत वृषा <sup>३ १ २ ३ २</sup> कप्रियोनायाधि प्रिय ।

<sup>१ २</sup> पवमाना <sup>३ १ २</sup> अदाभ्य ॥ २ ॥

[ १०१ ] <sup>१ २</sup> पवमाना <sup>३ २ ३ २ ३ २</sup> धियोऽभियोनि कनिप्रदत् ।

<sup>१ २</sup> धमेणा <sup>३ २ २ २</sup> वायुमारुह ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ६। २५। १, २, २ ॥

भा०—( १ ) श्याह्या दसो अदिकल स० [ ४०५ ] पृ० २३६ ।

( २ ) ( वृषा ) सप्त सुतो का वर्णन करन वाला, ( पवमान ) सप्त को ज्ञानदान स पवित्र करन हारा, ( अदाभ्य ) किसी से दिंसा न करने योग्य, ( प्रिय ) सबको प्रिय ( कवि ) विद्वान्, ग्राम्तदर्शी, मेधाधी ( योनौ अधि ) अपने आश्रय में ही ( देवै ) अल्प विद्वानों, वा सदृश इन्द्रियगणों, वा वायु आदि देवों क साथ ( शोभत ) शोभा दता है ।

राजा, योती आत्मा, परमामा सप्त के पक्ष में समान है ।

११९—'वृषदा देवदीप्य' इति अ० ।

१२१—'वायुमारुह' इति अ० ।

( ३ ) हे ( पवमान ) आत्मन् ! ( धिया ) ध्यान के बल से ( आभि-  
योनि ) अपने मूलस्थान, आश्रय, हृदयदेश में ( दितः ) स्थिर होकर  
( कनिऋद् ) अनाहत नाद या ईश्वर की स्तुति करता हुआ ( धर्मणा ) अपने  
धारक प्रपन्न द्वारा ( वायुम् ) प्राणवायु पर ( आ अरह ) वश कर ।

[६२२] तवाह साम रारण सत्य इन्दो दिवोदिवे ।

पुरुषि वध्रो निचरन्ति मामव परिधौ रति ताँ इहि ॥१॥

[६२३] तवाह नक्तमुत् सोम ते दिवा दुहानो वध्र ऊधनि ।

घृणा तपन्तमति सूर्य पर शकुना इव पतिम ॥२॥१॥ ।  
शु० ९ । २०७ । १९-२० ॥

( १ ) व्याख्या देखो अविक्ल सं० [२१६] पृ० २२५ ।

( २ ) हे ( सोम ) परमात्मन् ! हे ( वध्रो ) समस्त संसार के भरण  
पोषण करने वाले परमेश्वर ! ( नक्तं ) रात में ( तव ) तेरे ( उत ) और  
( दिवा ) दिन में भी ( ते ) तेरे ही ( ऊधनि ) रसमय कौर में ( अहं )  
मैं ( दुहान ) रस प्राप्त करता हुआ ( ऊधनि शकुना इव ) उपाकाल के  
अवसर में परिधौ या रश्मिधौ के समान हम ( घृणा ) दीप्ति से ( तपन्तं )  
जागृत्यमान ( सूर्यम् ) सूर्य के समान सर्वाधार । परः ) परमदेव आपको  
देखकर ( अति पतिम ) कर्मबन्धन को पर करके मोच को प्राप्त हो जाय ।

[६२४] पुनानो अरुमीदभि विश्वा मृधो विचरपिणः ।

शुम्भन्ति विध्र धीनिमिः ॥ १ ॥

[६२५] आ योनिमरुणा रुहद् गमदिन्द्रा घृपा सुनम् ।

ध्रुव सदसि सीदतु ॥ २ ॥

\* २२—'सल्पाव वध्र' इति श्रु० ।

\* २४—'गमदिन्द्रा घृपा सुनः' इति श्रु० ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [६२६] नू ना रयि महामिन्दोऽस्मभ्य सोम त्रय्यत ।  
 १ २ ३ १ २

आ पञ्चस्य सहस्रिराम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ६ । य० । १-३ ॥

( १ ) व्याख्या दत्ता अयिकल्ल स० [ ४८८ ] पृ० २४४ ।

( २ ) ( अरुण ) अरुणवण कान्तिमान्, साम ( यानिम् ) मूल स्थान हृदय-दश में ( अरुणद् ) प्रकट होता है और ( वृषा ) सुखों का बंध ( इन्द्र ) आत्मा ( सुतम् ) आनन्दस्वरूप में प्रकट हुए उसक प्रति ( यमद् ) मुक्त जाता है । वह आनन्दस्वरूप परमात्मा मरे ( भुव ) स्थिर ( सदसि ) आध्यात्मस्थान, आत्मा में ( सीदन्तु ) सदा विराजमान है ।

( ३ ) ह ( इन्द्र ) साम <sup>१</sup> ( अस्मभ्य ) हमारे लिये ( सहस्रिण्य ) सब सुखा से युक्त ( मदी ) विशाल रयिन् ) पञ्चय का ( विधत ) सब ओर से ( न आ पञ्चस्य ) प्राप्त कराया ।

इति ऋगुप रण्ड ।



२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [६२७] पिवा साममिन्द्र मन्दन्तु त्वा य तं सुपाय हर्षभ्यादि ।  
 ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३  
 सोतुर्वाहृभ्या सुयता नागो ॥ १ ॥

१ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [६२८] यस्ने मदी युज्यन्वाहृस्ति येन वृत्राणि हर्षशर्षा हंसि ।  
 १ २ ३ २  
 स त्वामिन्द्र प्रभूषसा ममत्तु ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 [६२९] योधासु म मघन्वाचमेमा या त वासष्टा यचेति प्रशस्तेम् ।  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 इमा मल्ल स प्रमादि युषन्त्य ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० ७ । २२१२-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दत्ता अयि० स० ( ३१८ ) पृ० २०४ ।

( २ ) हे ( हयथ ) दारुणदि अथवा इन्द्रियों की मन स युद्ध आत्मन् <sup>१</sup> ( यः ) जा ( त ) तदा ( युज्य ) यात ममधि स इत्यत्र दान वाजा ( मद् ) आनन्द ( वाहृ ) मनाहृ, उपभोग करने वाग्य ( अति )

है और ( यन ) जिसके बल पर नृ ( वृत्राणि ) आवरणकारी विष्टों, काम, क्रोध आदि शत्रुओं को ( हसि ) विनाश करता है । ह ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवन् । आमन् । ह ( प्रभूवमा ) समस्त प्राणियों में बसन होरे । ( स ) वह ( या ) तुम्हें ( ममत्तु ) आनन्दित करे ।

( ३ ) हे ( मघवन् ) ऐश्वर्यवन् । ( वमिष्ठ ) वमिष्ठस्वरूप, इन्द्रिय या मुख्य प्राण या विद्वान् पुरुष ( यां ) जिस ( प्रशस्ति ) उत्तम गुण वर्णन कराने वाली ( वाच ) वाणी का ( अर्चति ) प्रकट करता है ( इमा ) इस ( म ) मरा वाणी का ( सुवाध ) तू उत्तम रूप स ज्ञान कर । और ( इमा ) इन ( मस्य ) वेदमन्त्रों का ( सधमाद् ) एकत्र हर्ष प्राप्त कराने के स्थान यज्ञ आदि, अथवा त्रिपुटी या हृदयदश में ( जुपस्व ) सवन कर, उनका मनन कर ।

[६३०] निश्वा पृतना अभिभूतरश्न सजूस्ततजुग्निं जजनुश्च  
 राजस । ऋत्ये धरे स्पेमन्यामुरे मुताप्रमाजष्ट तरस  
 तारास्यनम् ॥ १ ॥

[६३१] नेमि नमन्ति चक्षसा मय जिषा अभि स्वर ।  
 सुदीतया वो अद्दुहोऽपि कर्णे तरन्विन समृक्ताम ॥ २ ॥

[६३२] समु रमाप्सो अस्वराश्रद्द्र सामस्य पीतये ।  
 स्व पतिर्यदी वृथ घृतमती ह्योजन्वा समूताभि ॥२॥१४॥

श्र ८ । ६७ । १०, १२, १२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दक्षिण अवि० स० [ ६७० ] पृ० १६१ ।

( २ ) ( जिषा ) मघावा ज्ञाना जाय ( चक्षसा ) अपन दशन कराने हार आलाक म साक्षात् करके ( अभिस्वर ) गायन में (नेमि) नमन कराने हारे ( मय ) सूप या मेघ के समान सुखों के वर्षाने वाले उम परमात्मा को ही

कार का नाशक ( वज्रः ) ज्ञानमय वज्र ( प्रतिधायि ) धारण किया है, वह ( दर्शात ) दर्शनीय ( महा ) महान्, ( देव ) सब सुखों का दाता, (सूर्यं. न) सूर्य के समान सब ज्ञानों का प्रकाशक और प्रेरक है ।

इति पञ्चम खण्डः ।

— 0 —

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २  
[६३५] परि प्रिया दिव करिर्धयासि नप्यो र्हितः ।

३ १ २ ३ १ २

भ्वानैर्याति कविमनु ॥१॥

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[६३६] स सनुमातरा शुचिर्जातो जाते अरोचयत् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

महान्मही क्रानावृधा ॥२॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३७] प्र प्र क्षयाय पन्यसे जनाय जुष्टा अद्दुह ।

३ २ ३ १ २

धात्यप पनिष्टये ॥३॥१६॥ श्र० ९ । ६ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविच्छल सं० [४७६] पृ० २३६ ।

(२) ( स ) वह सर्वोत्पादक परमेश्वर ( सनु ) पुत्र के समान हर्ष का सन्धारक, समस्त पेश्यों का देने वाला, सब लोकों का प्रेरक ( जात ) होकर ( शुचि ) स्वच्छ, कान्तिमान् ( महान् ) यशस्वी है ! वह ( जाते ) प्रसिद्ध हुए ( ऋतावृधा ) सत्य ज्ञान और जीवन को बढ़ाने वाले ( मा-तरा ) मा याप दोनों को पुत्र के समान, आकाश और पृथिवी, गुरु शिष्य और स्त्री पुरुष, राजा और प्रजा दोनों को ( अरोचयन् ) उज्ज्वल करता है ।

( ३ ) ( पन्यसे ) व्यवहार या स्तुति करने द्वारे ( जनाय ) पुरुष के लिये ( जुष्ट ) प्रेम से सेवन करने योग्य ( अद्दुह ) दूध से रहित, हे परमेश्वर ! आप ( क्षयाय ) निवास और ( पनिष्टये ) व्यवहारसिद्धि,

स्तुति और ( वीती ) रक्षा और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (प्र) अर्घ्य प्रकार ( अर्घ्य ) हमें प्राप्त हो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [६३८] त्व ह्याशङ्क दैव्य परमान जनिमानि शुभत्तम ।  
 ३ १ २ ३ १ २

अमृतत्प्राय घाययन् ॥१॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 [६३९] येना नवग्वा दध्यदपोलुत येन त्रिग्राम आपिर ।  
 ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 देवाना सुम्न अमृतस्य चादृणा येन श्रवास्याशतः ॥१७॥  
 क्र० ६। १०८। ३, ४ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दत्ता अतिकूल सं० [६८३] पृ० २६३ ।

(२) ( नवग्वा ) सदा अभिनव वदवाणियों को प्राप्त करने वाला, नव शिषित ( येन ) जिस परमब्रह्म क द्वारा ( दध्यद् ) विद्वान्, स्थानवान् होकर ( अप ऊर्णते ) ज्ञान प्रकट करता है । ( यन ) जिसके बल पर ( विशास ) विद्वान् मेधावी जन वेदमन्त्रों क तरह वा परमपद को ( आपिरे ) पहुचते हैं । और यन जिसके बल पर ( दवानां ) विद्वान् दिव्यगुणसम्पन्न महामात्रों के ( सुम्ने ) सुखकारी यज्ञादि स्थानों में ( चादृण ) उत्तम ( अमृतस्य ) आत्मा क ( श्रवासि ) ज्ञान रहस्यों को ( आशत ) विद्वान् लोग प्राप्त करते हैं । हे परमेश्वर ! वही तुम हमें प्राप्त होवो ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २  
 [६४०] सोम पुनान ऊर्मिणाथ्य चार विधावति ।  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २

अग्ने घान्य परमान कनिप्रदत् ॥१॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [६४१] धीभिर्मजनि वाजिन यने व्रीडन्तमत्परिम् ।  
 ३ १ २ ३ २ ३ १ २

अभि त्रिपृष्ठ मतय समस्वरन् ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 [६४२] असर्जि कलशा अभि मीद्वान् त्सतिर्न वाजयु ।

३ १ २ २ ३ १ २

पुनानो वाचजनयन्नतिष्यदत् ॥ ३ ॥ १८ ॥

शु० ६ । १०६ । १०-२३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखा अविकल स० [१७२] पृ० २८८ ।

( २ ) ( वन ) शरीर में ( फ्रीडन्त ) नाना कर्मों का या फ्रीडा, विनोद, करते हुए ( वाजिन ) अति बलवान्, ज्ञानी ( अत्यविम् ) शरीरबन्धन को अतिक्रमण करक विराजमान, अतीन्द्रिय आत्मा को ( धाभि ) धारणावाली बुद्धियों और उत्तम कर्मों द्वारा ( मृजान्ति ) परिशाधन करत, उसका स्वप्न और समाहित करक और भी अधिक विवक से उसके दर्शन करते हैं । ( म तप ) मननशील मुनि लोग ( त्रिष्टुष ) मन, वाक्, काय तीनों स्थानों पर विराजमान उस आत्मा का ( अभि सम् अस्वरन् ) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

( ३ ) ( मीद्वान् ) आनन्दधन, वह सोम ( वाजयु ) सप्राम में जाने हारे ( सति न ) अन्न के समान ( कलशान् अभि ) सकल देहों में ( असर्जि ) प्रकट होता है । और ( पुनान ) सब मलों का दूर करता हुआ ( वाचम् ) वाणी का ( जनयन् ) प्रकट करता हुआ ( अतिष्यदत् ) दवित होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १  
 [६४३] साम परते जनिता मनीना जनिता दिवो जनिता

२ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ २ ३ १ ३ ३

पृथिव्या । जनिताग्नजनिता सूय्यस्य जानतेन्द्रम्य जान

१ २  
 तान विष्णा ॥१॥

३ २ ३ १ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[६४४] ब्रह्मा देवाना पदवी कवीनामृषिर्निप्राणा मद्धिपा मृगाणाम् ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

श्यना गृध्राणा स्वप्रितिवनाना साम पविमत्यति रेभन् २॥



१ २      ३ २ ३ २      ३ २ ३ २ ३ २ ३ २      ३ ३ २  
 [६४५] प्राथीविपद्वाच ऊर्मि न तिन्युर्गिरस्तामान्यप्रमानो मनीषाः

अन्तः पश्यन्वृजनेमात्राख्यानिष्ठति च्युभो गांषु जानन्  
 ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ६ । ६६ । ६, ७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविच्छन्न स० [२२७] पृ० २६२ ।

(२) ( सोमः ) सोम (देवानां) इन्द्रियों और विद्वानों के बीच में (महा) समस्त विद्या के ज्ञाता के समान, ( कर्षणां ) अन्तर्दर्शी तावज्ञानियों का ( पदवी. ) सामदर्शक, ( विशाखा ) मध्यावी पुरणों में ( ऋषिः ) मन्त्रों के ऋषियों का द्रष्टा, ( मृगायां ) मृगों के बीच में ( मदिप. ) मदिप के समान चलवान्, ( गृभायां ) गृभ आदि पशुओं में ( रवेन ) रवेन के समान आर्काशा शीलों में चलवान् ( वनात् ) जंगल के वृक्षों के बीच ( स्वधिति ) कुष्ठर के समान कर्मवृत्तियों के नाश करने हारा ( सोम ) आत्मा ( रवेन् ) अनाहत गान करता हुआ ( अति एति ) सब जातों को पार करके ( पवित्रं ) शुद्ध निर्मल मह्य को प्राप्त होता है ।

यारकाचार्य के मत से अथवा पद्य में—( महा देवता ) यह आत्मा देवतकर्मों, वीदार्यां इन्द्रियों का महा अर्थान् सायी है । ( पदवी कर्षणा ) चेतन के समान काम करने वाली, पद्यों का ज्ञान करण वाली इन्द्रियों के पद को जानने वाली है । ( ऋषि विद्यायां ) व्यापन कर्मों इन्द्रियों को गति देने वाली है । ( मदिप मृगायां ) विषयों को सोचने वाली इन्द्रियों में से सबसे बड़ा है । ( रवेन मृगायां ) विषयभिन्नार्थी ज्ञानराल इन्द्रियों के बीच यह आत्मा रवेन चेतन ज्ञाता है । ( स्वधिति वनात् ) विषयों के सेवने वाली इन्द्रियों के कर्मों को स्वयं अपने में धारण करता है । येमा सोम, आत्मा ( पवित्र ) इन्द्रियों पर ही ( रवेन् ) स्वयं श्रुति विद्या जाकर ( अति एति ) उन द्वारा सब अनुभव करना, सबसे ऊपर विराजता है ( निद० प० अ० १ । १२ ) ।

[१६६] त्वं सोम नृमादन पवस्व चर्षणीघृति ।

सन्निर्यो अनुमाद्य ॥ ५ ॥

[१६६] पवस्व वृत्रहन्तम उपथोभिरनुमाद्य ।

शुचि पात्रो अद्भुत ॥ ६ ॥

[१६७] शुचि पात्रक उच्यते सोम सुत स मधुमान् ।

देवार्तिरघशसहा ॥ ७ ॥ ३ ॥ श्र० १ । २४ । १-७ ॥

भा०—( १ ) ( पवमानम् ) अमण करत हुण, ( इदम् ) ज्ञान-सम्पन्न, ( सामास ) बहते जलों के समान सौम्य गुणों से युक्त, शमदमादि के साधक, शान्त स्वभाव मुन्नजन ( शीथाना ) अपने अनुभव और ज्ञान में परिपक्व या तपस्वी होकर ( आसु ) प्रजाओं या खाकों में ( वृन्जते ) अमण करते हैं ।

( २ ) ( गाव ) गमनशील, ज्ञानी, विद्वानजन, ( प्रवता ) प्रकृष्ट उत्तम मार्ग में ( वती ) गमन करते हुए ( आप न ) जल प्रवाहों के समान ( अभि अथन्विपु ) बराबर आगे बढ़ते जाते हैं । और वे ( पुनाना ) सब विघ्नों को पार करत हुए और अपने आत्मा को नित्य पवित्र करते हुए ( इदम् ) ऐश्वर्यशालि उस सबके प्रभु को ( आशत ) प्राप्त होजाते और आत्मानन्द का लाभ करत हैं ।

( ३ ) हे ( पवमान ) गतिशील ! हे ( सोम ) विद्वन् शिष्य ! तू ( इदम् ) आचार्यरूप इन्द्र के लिये ( मादनः ) अति प्रसन्नता का कारण होता हुआ ( प्र धन्वसि ) उत्तम दशा को, उत्तम ज्ञान को प्राप्त हो और ( नृभि ) सन्मार्ग के नेता गुरुओं द्वारा ( वत ) नियमों में व्यवस्थित होकर ( वि नीयसे ) विनयपूर्वक शिषित किया जावे ।



[६६६] स<sup>१२</sup> द्वि<sup>२१</sup> ष्मा<sup>३२</sup> जरितृ<sup>३</sup>भ्य<sup>३</sup> आशज<sup>३</sup> गोमन्त<sup>३</sup>मिन्धति ।

<sup>१२</sup> पथमान<sup>३</sup> सहस्रिणम् ॥ २ ॥

[६७०] परि<sup>२३</sup> विश्वान<sup>१</sup> चेतसा<sup>३</sup> मृज्यसे<sup>३</sup> पथसे<sup>३</sup> मती ।

<sup>१२</sup> स न<sup>३</sup> सोम<sup>३</sup> शर्धो<sup>३</sup> विद् ॥ ३ ॥

[६७१] अभ्यर्ष<sup>१२</sup> बृहद्यशो<sup>३</sup> मघज<sup>३</sup>द्भ्यो<sup>३</sup> ध्रुव<sup>३</sup> रयिम् ।

<sup>१२</sup> इष<sup>३</sup> स्तोतृभ्य<sup>३</sup> आभर ॥ ४ ॥

[६७२] त्व<sup>१</sup> राजज<sup>१२</sup> सुप्रतो<sup>३</sup> गिरः<sup>३</sup> सामा<sup>३</sup> पिवेशिय ।

<sup>३</sup> पुनानो<sup>३</sup> यज्ञे<sup>३</sup> अद्भुज ॥ ५ ॥

[६७३] स<sup>१२</sup> षड्विरप्सु<sup>३</sup> दुष्टरो<sup>३</sup> मृज्यमानो<sup>३</sup> गभस्त्वो ।

<sup>१२</sup> सोमश्च<sup>३</sup> मूपु<sup>३</sup> सीदति ॥ ६ ॥

[६७४] श्री<sup>३</sup>लिर्मखा<sup>३</sup> न महयु<sup>३</sup> पावज<sup>३</sup> सोम<sup>३</sup> गच्छसि ।

<sup>१२</sup> दधत्<sup>३</sup> स्तोत्रे<sup>३</sup> सुवीर्यम् ॥ ७ ॥ ४ ॥ श्र० ९ । २० । १-७ ॥

भा०—( १ ) मण्डुचारी ( कवि ) क्रान्तदर्शी, विद्वान् वाग्मी, मेधावी ( दधतीतय ) ज्ञान से प्रकाशमान विद्वानों को प्राप्त होने के लिये ( अग्न्या वारेभि ) भेद क वालों से बने कग्गलों द्वारा ( अग्न्यत ) अपने को टापता है और ( विश्वा ) समस्त ( अभिरपृथ ) प्रतिस्पर्धी शत्रुओं के समान भागे भागे वाली बाधाओं को ( साद्भान् ) पराजित करता है । अथवा ( अग्न्या ) रक्षा करने हारी विश्वा क ( वारेभिः ) आवरणों, वस्तुओं, साधनों से ( अग्न्यत ) अपने को युक्त करता है ।

( २ ) ( स द्वि ) और षष्ठी ( पथमान ) सर्वत्र गमन करता हुआ ( जरितृभ्य ) विश्वा का उपदेश करने हारे आचार्यों के लिये ( सहस्रिण्य )

सदस्यों सुखों के देनेहारे ( गोमन्ते ) गवादि पशु से सम्पन्न धन को ( इन्वाति ) गुरुदक्षिणा में लाकर देता है ।

( ३ ) हे ( सोम ) ब्रह्मचारिन् ! तू ( चेतसा ) अपने ज्ञान से ( वि-  
भानि ) सबको ( परिभृज्यसे ) परिशोधित करता है, विवेक करता है ।  
और ( मती ) मनन करने द्वारा शक्ति से ( पयसे ) साथ तक पहुँचता है ।  
( सः ) वही तू ( नः ) हमें ( भवः ) वेदज्ञान को ( विद् ) प्राप्त करा ।

( ४ ) हे ( सोम ) ब्रह्मचारिन् स्नातक ! ( बृहद् ) बड़े ( यशः )  
यश को तू ( अग्नि अर्पे ) प्राप्त हो और ( मघवद्भ्यः ) बड़े धनाढ्य पुरुषों  
से तू ( भुवं ) स्थिर ( रयिं ) धन को भी प्राप्त कर । और ( स्तोतृभ्यः )  
साथ ज्ञान का उपदेश करने वाले गुरुओं के लिये ( इषं ) उनकी इच्छा-  
नुकूल अन्न, धन ( आ हर ) लेजा ।

( ५ ) हे ( सोम ) हे स्यातक ! हे ( वद्वे ) ज्ञान को धारण करने हारे !  
हे ( अद्भुत ) हे अभूतपूर्व विद्वन् ! तू ( सुवतः ) उत्तम व्रतनिष्ठ, सदा-  
चारी ( पुनातः ) सर्वत्र गमन या पवित्र करता हुआ ( राजा इव ) स्तुति  
पात्र राजा के समान ( गिरः ) वेदवाणियों के ( आ विवोशीथ ) मर्म में  
प्रवेश कर अथवा स्तुतियों को प्राप्त कर ।

( ६ ) ( सः ) वही ( धद्धि ) ज्ञान का नेत्रा ( सोमः ) ब्रह्मचारी,  
शान्त, तपस्वी ( अशु ) प्रजाओं के भीतर ( दुस्तरः ) दुर्गम, अजेय  
( गमस्योः ) ज्ञान और कर्म द्वारा ( मृग्यमानः ) शूद्र पवित्र होकर  
( यम्यु ) सर्पाओं में, प्रजा के हृदयों में ( सीदति ) स्थिति पाता है ।

( ७ ) हे सोम ! ( ऋद्भि ) क्रीड़ा करने वाला, किशोर-दशा में वर्त्त-  
मान, सुप्रसन्न तू ( मल्लः न ) यज्ञ के समान ( मंहयुः ) पूतनाप  
( पवित्रं ) पवित्र व्रत में ( मष्दसि ) आचाण्य करता है और ( स्तोत्रं )  
साथ गुण के प्रकाशक गुरु के अधीन ( सुवीर्यं ) उत्तम ज्ञान को और बल  
को ( दधत् ) धारण करता है ।

[६६६] स हि प्मा जरितृभ्य आवाजि गामन्तमिन्धति ।  
<sup>१ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup>

पशमान सहस्रिणम् ॥ २ ॥

[६७०] परि विश्वान चेतसा मृज्यसे पवसे मती ।  
<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup> <sup>३ २ ३ १ २</sup> <sup>३ २</sup>

स न सोम धर्षो विद् ॥ ३ ॥

[६७१] अभ्यर्षं बृहद्यशो मघरद्भ्यां ध्रुव रयिम् ।  
<sup>१ २</sup> <sup>३ २ ० १ २</sup> <sup>३ २ ३ २</sup>

इष स्तोतृभ्य आभर ॥ ४ ॥

[६७२] त्व राज्ञ सुव्रतो गिरः सामा विवैशिथ ।  
<sup>१</sup> <sup>१ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>१ २ २ १ २</sup>

पुनानो वहे अस्तुन ॥ ५ ॥

[६७३] स वह्निरप्सु दुष्टरो मृज्यमानो गमस्त्रयो ।  
<sup>१ २ ३ १ २</sup> <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup>

सोमश्चमूयु सीदति ॥ ६ ॥

[६७४] व्रीळ्मंखा न मह्युः पावन्न सोम गच्छति  
<sup>३ २ ३ १ २</sup> <sup>१ २ ३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup>

दधत्स्तोत्रे सुवीयम् ॥ ७ ॥ ४ ॥ ३०

भा०—( १ ) मल्लचारी ( कवि ) भान्तद

धाधा ( दधवीतये ) ज्ञान से प्रकाशमान

लिये ( अग्न्या कारेभि ) भेद क वालों से

धपने को हापता है और ( विश्वा ) स

शत्रुघों के समान भागो भान वाली पाधाघो

करता है । अथवा ( अग्न्या ) रक्षा करने हारी विधा

रखों, मत्तो, साधनों से ( अभ्यत ) अपने को युक्त करता है ।

( २ ) ( स हि ) और वही ( पवमान ) सर्वत्र गमन करत,

( जरितृभ्य ) विधा का उपदेश करने हारे आचार्यों कलिय ( सहस्रिण्य

६६६—दधवीतये इत्या 'वारभिरपति' ९६९—'मृज्यन पवसे' इति ३० ।

सहस्रों सुस्रों के देनेहारे ( गोमन्तं ) गवादि पशु से सम्पन्न धन को ( इन्वति ) गुरुदक्षिणा में लाकर देता है ।

( ३ ) हे ( सोम ) ब्रह्मचारिन् ! तू ( खेतसा ) अपने ज्ञान से ( विश्वानि ) सबको ( परिमृज्यसे ) परिशोधित करता है, विवेक करता है । और ( मती ) मनन करने हारी शक्ति से ( पवसे ) सत्य तक पहुँचता है । ( स ) वही तू ( न. ) हमें ( भवः ) वेदज्ञान को ( विद ) प्राप्त करा ।

( ४ ) हे ( सोम ) ब्रह्मचारिन् स्नातक ! ( वृहद् ) बड़े ( पश० ) पशु को तू ( अभि धर्षं ) प्राप्त हो और ( मधवद्गम्य. ) बड़े धनाढ्य पुरुषों से तू ( ध्रुवं ) स्थिर ( रथिं ) धन को भी प्राप्त कर । और ( स्तोतृभ्यः ) सत्य ज्ञान का उपदेश करने वाले गुरुओं के लिये ( इषं ) उनकी इच्छानुकूल अन्न, धन ( आ हर ) लेजा ।

( ५ ) हे ( सोम ) हे धातक ! हे ( वद्वे ) ज्ञान को धारण करने हारे ! हे ( अद्भुत ) हे अभूतपूर्व विद्वन् ! तू ( सुप्रतः ) उत्तम व्रतनिष्ठ, सदाचारी ( पुमानः ) सर्वत्र गमन या पवित्र करता हुआ ( राजा इव ) स्तुति पात्र राजा के समान ( गिरः ) वेदवाणियों के ( आ विवोरीथ ) मर्म में प्रवेश कर अधवा स्तुतिधों को प्राप्त कर ।

( ६ ) ( स. ) वही ( वद्वि ) ज्ञान का नेत्रा ( सोम० ) ब्रह्मचारी, शान्त, तपस्वी ( अप्सु ) प्रजाओं के भीतर ( दुस्तरः ) दुर्गम, अजेय ( गभस्वोः ) ज्ञान और कर्म द्वारा ( मृग्यमानः ) शूद्र पवित्र होकर ( चमूपु ) सत्पात्रों में, प्रजा के हृदयों में ( सीदति ) स्थिति पाता है ।

( ७ ) हे सोम ! ( श्रीद् ) श्रद्धा करने वाला, किशोर दशा में वर्तमान, सुप्रसन्न तू ( मस्तः न ) पशु के समान ( मंहयुः ) पूजनीय ( पवित्रं ) पवित्र व्रत में ( गच्छसि ) आचरण करता है और ( स्तोत्रे ) सत्य गुण के प्रकारक गुरु के अधीन ( सुवीर्यं ) उत्तम ज्ञान को और बल को ( दधत् ) धारण करता है ।

[६७५] <sup>१ २</sup> यव <sup>३</sup> यवं <sup>१ २</sup> नो <sup>३ १ २</sup> अन्धसा <sup>३ १ २ ३</sup> पुष्ट <sup>१ २</sup> पुष्ट परिस्त्रव ।

<sup>१ २</sup> विश्वा च <sup>३</sup> सोम <sup>१ २</sup> सौभगा ॥ १ ॥

[६७६] <sup>२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २</sup> इन्द्रो यथा तव <sup>३ १ २ २ २</sup> स्तवो यथा ते <sup>३ १ २ २ २</sup> जातमन्धसः ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup> नि योऽपि <sup>३ १ २</sup> प्रिये सद् ॥ २ ॥

[६७७] <sup>३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ २ २</sup> उत नो <sup>३ १ २</sup> गोविश्ववित्पवस्व <sup>३ १ २</sup> सोमन्धसा ।

<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> मन्तू तमोभिरहभिः ॥ ३ ॥

[६७८] <sup>२ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ १ २ ३ १ २</sup> यो जिनाति न जीयते हन्ति शश्रूमभीत्य ।

<sup>१ २</sup> स पवस्व सहस्रजित् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ऋ० २ । २२ । १-४ ॥

भा०—( १ ) हे ( सोम ) सबको उत्पन्न करने हारे प्राणों के प्रेरक परमात्मन् ! अन्नपले ! ( न० ) हमें ( अन्धसा ) प्राण धारण कराने हारे सामर्थ्य से ( पुष्ट पुष्ट ) सूब पुष्ट हुष्ट ( यवं यव ) यव तथा यव के समान अन्य धान्य भी ( परि स्त्रव ) प्रदान कर । ( विश्वा च ) और समस्त ( सौभगा ) सौभाग्य देनेहारे पदार्थ भी प्रदान कर ।

( २ ) हे ( इन्द्रो ) ऐश्वर्यवन् ! ( अन्धस ) जीवन धारण कराने हारे, प्राणों के प्राण, अथवा अन्धकार के नाराक तेरी ( यथा स्तवः ) जिस प्रकार सारंगगुण्य प्रकाशक स्तुति है और ( यथा ) जिस प्रकार तेरी प्रसिद्धि है ठीक उमी प्रकार सगुण्य होकर ( प्रिये ) सबको प्रिय लगने वाले ध्यार, उत्तम ( योऽपि ) सूर्य में तेज के समान, देह में आत्मा के समान विश्व में, या उत्तम आसन पर ( नि सद् ) विराजमान हो ।

( ३ ) हे ( सोम ) ऐश्वर्यवन् ! ( उत ) और ( गोवित् ) ज्ञानेन्द्रियों के वश करने हारे और ( अन्धवित् ) प्राणेंद्रियों के वश करने हारे आप ( अन्धसा ) प्राण के धारक आप ( मन्तूतमेभिः ) शीघ्र ही गुजर जाने वाले ( अहोभिः ) इन थोड़े से दिनों में ही ( न० ) हमें ( पवस्व ) प्राप्त हो ।



( ४ ) ( घः ) जो ( जिनाति ) स्वयं जीत लेता है और ( न जीयते ) दूसरों से नहीं जीता जाता और ( अभि इत्य ) सम्मुख आकर ( शत्रुम् ) शत्रु को ( हन्ति ) नाश करता है ( सः ) वह ( सद्व्यजित् ) हज़ारों को जीतने वाला, बलस्वरूप तू ( पचस्व ) हमारे प्रति आ, प्रकट हो, हमें प्राप्त हो ।

[१७६] यास्ते<sup>२</sup> धारा<sup>३</sup> मधुर<sup>१</sup>च्यु<sup>२</sup>नो<sup>३</sup>ऽसु<sup>१</sup>प्रमि<sup>२</sup>न्द<sup>३</sup> ऊतये ।

ताभिः<sup>१</sup> पवित्र<sup>२</sup>मासद्<sup>३</sup> ॥ १ ॥

[६८०] सो<sup>२</sup> अर्षेन्द्राय<sup>३</sup> पीतये<sup>२</sup> तिरा<sup>३</sup> वाराण्यव्यया<sup>२</sup> ।

सोदधृतस्य<sup>१</sup> यानिमा<sup>२</sup> ॥ २ ॥

[६८१] त्व<sup>१</sup> सोम<sup>३</sup> परिस्त्रय<sup>२</sup> स्वादिष्टा<sup>३</sup> अङ्गिरोभ्यः<sup>२</sup> ।

वारिवो<sup>३</sup> विद्<sup>२</sup> घृत<sup>३</sup> पयः<sup>२</sup> ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ६। ६२। ७-१ ॥

भा०—( १ ) हे ( इन्दो ) ऐश्वर्यवन् ! ( ते ) तैरी ( मधुरच्युतः ) मधुर रस को बहाने वाली, ज्ञान देने वाली, आनन्दरस ( धारा ) धारण करने वाली शक्तियाँ ( याः ) जो (ऊतये) रचा करने के लिये हैं ( ताभिः ) उन से ( पवित्रं ) पवित्र करने द्वारा वायु वा मृगं, प्राण में सूक्ष्म रूप से ( मासद् ) विशाजमान हो ।

( २ ) ( सः ) वह तू ( इन्द्राय ) इस अन्तरात्मा के ( पीतये ) पान के लिये, तृप्ति के लिये, ( अर्षया ) अग्नि अर्षात् चित् प्रकृति के ( वारा ) आवरण करनेवाले आवरणों को ( तिरा ) दूर ( अर्षं ) कर और ( अतरस्य ) प्रकाशस्वरूप सत्य के ( यानिम् ) आश्रय स्थान अक्ष को ( सोदन् ) प्राप्त होकर ( आ ) प्रकट हो ।

६८०—'नितो रोमाण्यव्यया सद्व्योता वनेषा' इति श्र० ।

६८१—'त्वमिदो पती' इति श्र० ।

( ३ ) इ ( साम ) आत्मन्<sup>१</sup> ( त्व ) नृ ( अगिराम्य ) ज्ञानी आत्माओं क लिय ( वरिवाविद ) वरय्य करन वाप्य सुखों आत्मानन्दों का प्राप्त करान द्वारा और ( स्वादिष्ट ) अत्यन्त अधिक रस का देने वाला होकर ( घृतम् ) अति प्रकाशमय ( पय ) अमृत रस को ( परिश्रव ) प्रदान कर ।

इति द्वितीय खण्ड ।

२ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१८२] तत्र श्रिया वर्धस्यय विद्युतोऽप्राक्षकित्र उपसामिवेनय ।  
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
यदापधीरभिष्टुष्टा धनानि च परि स्वय चिनुपे अजमासनि ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१८३] घातोपजूत इपितो वर्षो अनु तृपु यदघ्ना वेविपक्षि  
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
तिष्ठसे । आ ते यतन्ते रथ्याऽथेयथा पृथक् शर्द्धास्यग्ने  
३ १ २ ३ १ २  
अजस्य धक्षत ॥२॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१८४] मेधाकारं विद्धस्य प्रसाधनमग्निं हातार परिभूतर  
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
मतिम् । त्वामभस्य हविष समानमित्वा मदी वृणुने  
२  
नान्य त्यत् ॥३॥ ७॥ अ० २० । ६१ । २, ७ ८ ॥

भा०—(१) हे परमेश्वर ! (अग्ने) ज्ञान प्रकाशक (त्व) तरी ( श्रिय ) विभूतियों ( वर्धस्य ) मघ की ( विद्युत इव ) विद्युतों क समान ( उपसा ) प्रभात कालों में निकलती हुई ( ईतय ) किरणों क समान

१८२—'चित्राश्चित्रिण', 'उपसा न केतव 'अजमास्ये' इति अ० ।

१८३—'नामोपभूत' 'अजराणि धक्षत' इति अ० ।

१८४—'परिमृत्य' 'तमिदमैहविष्या समानमित्तिमिन्दे' इति अ० ।

( विक्रिते ) सर्वत्र जानी जानी हैं। ( यत् ) जब कि ( भोषधीः ) भोष-धियों और ( वनानि च ) वृषादि वनस्पतियों में भी ( अभिरुष्टः ) लग कर उनमें भी व्याप्त होकर, ( आसनि ) मुझ में ( अद्यम् ) अद्य के समान समस्त पदार्थों को ( स्वयं ) अपने भीतर लेकेता है।

भोषधि अद्यादि और वनस्पतियों को जिस प्रकार अग्नि अपने भीतर जलाकर मानों प्राप्त कर जाता है वही प्रकार परमेश्वर सब पदार्थों को अपने भीतर लीन करता है इसी प्रकार विद्वान भी समस्त भोषधि वृषादि को अद्य के समान जानकर उनका साधरूप से विवेक करे।

( १ ) ( चातोपनृतः ) गन्धन आदि गुणों के ज्ञान से सम्पन्न ( इक्षितः ) स्वयं इक्षया पूर्वक ( तृपु ) शीघ्र ही ( वरा ) कमनीय उत्तम गुण से युक्त वनस्पतियों का, ( अद्या ) और अर्थात् को ( वेषिषद् ) प्राप्त कर के ( वित्तिष्ठसे ) नाना प्रकार से प्रकाशित करता है। हे ( अग्ने ) प्रकार-स्वरूप ! विद्वन् ( अजराय ) कभी वृद्ध न होने वाले, ( धसत ) अग्नि के समान अज्ञान को भस्म करने वाले, ( स्वयः ) स्वयं अपने महारथी शूरवीर के छोड़े शस्त्र जिस प्रकार ( वृषक् ) वृषक् २ अर्थों पर जाते हैं वही प्रकार ( ते ) तेरे ( शर्धासि ) बल प्रयोग और ज्ञानरूप तेज भी ( वृषक् ) वृषक् २ नाना कार्यों में ( आपतन्ते ) लग रहे हैं, सज्ज हो रहे हैं।

( २ ) हे ( अग्ने ) ज्ञानवन् ( मेधाकारं ) ज्ञान और धारणावली बुद्धि के उत्पादक ( विद्वरथ प्रसाधनम् ) ज्ञान की परम उत्कृष्ट साधना के करने वाले ( अग्नि ) सबके आगे होकर चलने वाले दीपक के समान सर्व प्रकाशक, ( होतारं ) सबको अपने शस्त्र में लेने और सब सुखों के देने वाले, ( परिभूतम् ) सब और अपने सामर्थ्य या सत्ता का प्रकट करने वाले, ( मतिं ) मननशील ( त्वाम् ) तुम्हें ही ( अर्भय ) छोटे और ( महः ) बड़े, छोड़े और बहुत ( इविषः ) ज्ञान के बिचे भी ( समानम्-

इत् ) समान रूप से ही ( वृणत ) सब धरण करत हैं, पुनत हैं ( इत्  
अ य न ) तुम स दूसरे को नहीं ।

[६८५] पुरूरुणा चिद्धयस्त्यथा नून वा चरुण ।  
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
२ ३ १ २ ३ २

मित्र वसि वा सुमतिम् ॥१॥

१ २ ३ १ ३ १ ३ १ २

[६८६] ता वा सम्यग्दुद्वाणपमश्याम धाम च ।

३ १ २

वय वा मित्रा स्याम ॥३॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[६८७] पान नो मित्रा पायुभिरुत प्रायेथा सुत्रात्रा ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

साह्याम दस्यू तनूभि ॥३॥८॥ अ० ५ । ७० । १-३ ॥ १

भा०—(१) हे मित्र ! हे वरुण ! ( वा ) आप दोनों का ( अय )  
रक्षण सामर्थ्य और ज्ञान ( पुरूरुणा ) बहुत अधिक ( चित् दि ) ही  
( अस्ति ) है । ( नूनम् ) निश्चय से ( वा ) आप दोनों ही अपनी ( सुमतिम् )  
उत्तम ज्ञान को ( वसि ) देते हो ।

(२) ( ता ) वे दोनों ( वा ) आप लोग ( अद्दुहाणा ) किसी का दोह  
नहीं करत । हम आपको ( इपम् ) प्रेरण बल, अन्न और सकल्प बल और  
( धाम ) धारण सामर्थ्य तेन को ( अश्याम ) उपभोग करें, प्राप्त करें  
और ( वय ) हम ( वा ) आपको ( मित्रा ) मित्र ( स्याम ) होकर रहें ।

(३) आप दोनों ( मित्रा ) हमारे स्नेह करने वाल होकर ( पायुभि )  
अपने रक्षकों वा रक्षा साधनों से ( उत ) और ( सुत्रात्रा ) उत्तम प्राण  
कर्त्ता पालकों द्वारा ( न ) हमें ( प्रायेथा ) बचानें । हम ( तनूभि ) अपने  
शरीरों द्वारा ( दस्यून् ) नाराकारी पदार्थों और पुरुषों को ( साह्याम )  
बलपूर्वक परामित करें ।

मित्र और वरुण से प्राण और अपान, समापति और सेनापति, राजा और मन्त्री समझने चाहिये ।

[६८८] <sup>३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३</sup> आत्तुभ्राजमा सह पीत्वा शिषे अवेपय ।

<sup>१ २ ३ २ ३ २</sup> सोममिन्द्र चमूसुतम् ॥१॥

[६८९] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३</sup> अनु त्वा रादसी उभे स्पर्धमान मदेनाम् ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup> इन्द्र यद्दस्युक्षभयः ॥२॥

[६९०] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> याचमष्टापदीमह नवस्रक्तिमृतावृधम् ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup> इन्द्रात्परि तन्व ममे ॥३॥६॥ ३० ८। ७६। १०-१२ ॥

भा०—( १ ) हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( चमूसुतम् ) सेना दलों में अभियेक को प्राप्त पदाधिकारी क राजा या सेनापति के समान इन्द्रियों, प्राण और अपान रूप चमसों में उत्पन्न हुए ( सोम ) सबके प्रेरक आत्मा के बल वीर्य और प्राण को ( पीत्वा ) पान करके ( भोजसा ) बल और कान्ति सहित ( उत्तिष्ठन् ) उठत हुए आप ( शिषे ) अपने इनस्वरूप ज्ञान और कर्म की शक्तियों को ( अवेपयः ) गति देते हो । परमात्म पद में हन् छावावृथिवी ।

( २ ) ( यद् ) जब तू ( दस्युः ) विनाशक पशुओं और बाधक विघ्नों का शत्रुओं के समान नाश ( अभय ) करता है । हे ( स्पर्धमान ) सध से आगे बढ़ने हारे ( इन्द्र ) इन्द्रियों के स्वामिन् ! आत्मन् ! ( स्वा अनु ) तेरे पीछे २ तेरी शक्ति से ( उभे रोदसी ) दोनों प्राण और अपान या शरीर के ऊपर और नीचे के दोनों भाग ( मदेताम् ) आनन्द अनुभव करते हैं ।

( ३ ) मैं ( अष्टापदी ) आठ चरण वाली ( नवस्रक्ति ) नौ प्रकार की रचनावली ( अतावृधम् ) यज्ञ और सत्य की वृद्धि करने वाली ( तन्वं )

विष्टुः ( वाचं ) वाची का ( इन्द्रात् ) इन्द्रस्वरूप अपने आचार्य या उस परमगुरु परमेश्वर से ( परि ममे ) ज्ञान प्राप्त करता हूँ ।

अष्टापदी चार वेद और चार उपवेद ये वाची के आठपद अर्थात् विद्या के आधय स्थान हैं । नवसक्ति — नव छद्मय. रचना यस्या । १ शिक्षा, २ कल्प, ३, स्थाकरण, ४ निषण्डु, ५ निरुह, ६, छन्दः, ७ उपोत्थिप, ८ अर्मशास्त्र, और ९ मीमासा । ये नौ प्रकार की रचनाएं वेदों के आशय स्पष्ट करने के लिये हैं ।

[६६१] इन्द्राग्नी युवामिमेऽश्मि स्तोमां अनूपत ।

पिवतं शम्भुया सुनम् ॥१॥

[६६२] या यां सन्ति पुढस्पृहा नियुतो दाशुपे नरा ।

इन्द्राग्नी ताभिरागनम् ॥२॥

[६६३] ताभिरा गच्छतं नरोपद सघन सुतम् ।

इन्द्राग्नी सोमपीतये ॥३॥ १०॥ ४० ६ । ६३ ७-६ ॥

भा०—(१) हे ( इन्द्राग्नी ) विष्टुन् और सूर्य के समान समापति और सेनापति ! ( युवाम् ) आप दोनों के ( इमे ) ये ( सोमां ) प्रशंसा युक्त कार्य ( अनूपत ) वर्णन करते हैं । आप ( शम्भुया ) सबके सुख और कल्याण का कार्य करने हारे ( सुतम् ) इस दुग्ध आदि रस एवं भोजयिष्यों के रस और ज्ञान को ( पिवतम् ) पान करो । इन्द्राग्नी, से प्राण्य और अपान, गुरु शिष्य, समापति और सेनापति सूर्य और विष्टुत् आदि का ग्रहण उचित है ।

( २ ) हे ( नरा ) सबके नेताओ ! ( दाशुपे ) सबको शान्ति सुख देने हारे नरपति के निमित्त ( वां ) आपकी ( या ) जो ( पुढस्पृहा ) सबको शिव जगने वाली ( नियुत. ) अनेक निश्चित मतियें ( सन्ति ) हैं, हे

( इन्द्राग्नी ) सूर्य विद्युत् के समान ज्ञानोपदेश करने हारे अध्यापक और उपदेशक महोदयो ! आप ( ताभि ) उनके सहित ( आगतम् ) प्रजाओं में आओ ।

(३) हे (नरै) दोनों नेताओ ! (ताभिः) आप पूर्णरूप विवेचक शत्रियों के साथ ही ( इदं ) इस ( सुतं ) उपादित ( स्यन ) पशु में ( सोम-पीतये ) उत्तम आनन्दप्रद, सोमरस, या धर्मपथ प्राप्त कराने के लिये ( उप-आ गच्छतं ) आइये ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[६६४] अर्षा सोम द्युमत्तमोभिद्रोणानि रोरुवत् ।

सोदन्योनी वनष्वा ॥१॥

[६६५] अप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।

सोमा अर्पन्तु विष्णवे ॥२॥

[६६६] इपं तांकाय नो दधदसभ्यं सोम विश्वतः ।

आपवस्व सहस्रिणम् ॥३॥११॥ अ० ६। ६४। १६-२१ ॥

भा०—स्वाहया देशो अविकल सं० [२०३] पृ० २५६।

(१) ( इन्द्राय ) आत्मा के लिये, ( वायवे ) प्राण के निमित्त, ( वरुणाय ) अपान के लिये ( मरुद्भ्यः ) अन्ध ज्ञानेन्द्रियों और प्राणेंद्रियों के लिये और ( विष्णवे ) उस सर्व व्यापक प्रजापति परमात्मा के साक्षात् ज्ञान के लिये ( अप्सा. ) नाना ज्ञानों और कर्मों को स्वास करने हारे ( सोमाः ) आनन्दरस और विद्वान् जन ( अर्पन्तु ) प्राप्त हों ।

६६६—'सोदन् इयेनो न योनिगा, ६६५—'सोमा अर्पन्ति' शक्ति अ० ।

(३) हे ( सोम ) परमात्मन् ' आप ( न ) हमार ( तोकाय ) सन्तति को और ( अस्मभ्य ) हमें ( विधत् ) सब ओर से ( इष ) भक्त और ( सहस्रिणम् ) सहस्रों सुखों के देने वाले बलशाली प्राणात्मा को ( आपवत् ) प्रकाशित करो ।

[६६७] साम उ ध्याय सोतृभिरधिष्णुभिरनीनाम् ।

अश्वेषेव हरिता याति धाग्यामन्द्रया याति धारया ॥१॥

[६६८] अन्वो गामान् गोभिरक्षा सोमो दुग्धाभिरक्षा ।

समुद्र न सररणान्यग्मन्मन्दी मदाय ताशते ॥२॥१२॥

श्र० ६ । १०० । ८-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [५१५] २६४ ।

( २ ) जिस प्रकार ( गोमान् ) गोपाल ( गोभि ) गौधों के साथ उनको चरान क लिये ( अन्वेषे ) निम्न देश में ( अथा ) जाता है उसी प्रकार ( साम ) व्यापक आनन्दरस ( दुग्धा ) दुग्ध क समान ज्ञानपूर्ण आनन्दमय धाराओं क साथ निम्न, हृदयदश में परित होते हैं । ( सवरणानि ) जल जिस प्रकार ( समुद्र न ) समुद्र की तरफ बहते हैं उसी प्रकार उत्तमरूप से वरण करन योग्य, सेवन करने योग्य आनन्दरस भी समुद्ररूप विज्ञाभ रहित आत्मा में प्रकट होते हैं और ( मन्दी ) आनन्द में मग्न आत्मा ( मदाय ) अग्नि हर्ष प्राप्त करने के निमित्त ( ताशते ) आगे बढ़ता है ।

[६६६] यत्सोमो चित्रमुक्थ्य दिव्य पार्थिव यसु ।

तत्र पुनान आभर ॥१॥



[१०००] वृषा पुनाग आयुषि स्तनयन्नाधि चर्हिषि ।

हरिः सन् यानमासदः ॥२॥

[१००१] युव हि स्थः स्वःपती इन्द्रश्च सोम गोपती ।

ईशाना पिप्यते धियः ॥३॥१३॥ अ० १। १६। १. ३, २, ॥

भा०—(१) हे ( सोम ) सर्वोत्पादक ! ( पुनाग. ) तू सर्वोत्पादक परमेश्वर ( नः ) हमें ( यन् ) जो ( चिन्त्रं ) समझ करने वाला उत्तम अद्भुत ( दिव्य ) दिव्यगुण सम्पन्न, ( पार्थिवम् ) इस पृथ्वी पर ( वसु ) धन है ( तत् ) वह ( आभर ) प्राप्त करा ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर ! तू (वृषा) सब सुखों का वर्षक (अधिचर्हिषि) यज्ञ में, इस देह में, अन्तरिक्ष में, (स्तनयन्) गर्जते मेघ के समान उप देशकरता हुआ (आयुषि) समस्त प्राणियों की आयुओं को (पुनाग) पुनः नया, शुद्ध पवित्र धराभरा करता हुआ (हरिः सन्) दुःखहारी होकर (योनिम्) हृदयदेश में (आसदः) आ विराजमान हो ईश्वर, परमेश्वर, प्रजापति, सोमरस और योगज ब्रह्मानन्दरस और राजा का समान रूप से वर्णन है । राजा के योनि अर्थात् आश्रय प्रजाएँ हैं ।

(३) हे (सोम) सर्वोत्पादक तू और (इन्द्रश्च) ऐश्वर्यवान् दोनों (गोपती) इन्द्रियों, प्रजाओं और शरिमयों के स्वामी (युव हि) आप दोनों (स्वपती स्थः) सब सुख और ज्ञान, उद्योगिर्मय विश्वों और सौलोक के स्वामी हो । आप (ईशाना) सबके ईश्वर हमारे (धियः) बुद्धियों को (पिप्यते) बढ़ाइये ।

सोम=परमात्मा इन्द्र=आत्मा अपवा इन्द्र=परमात्मा सोम आत्मा । आत्मा, और परमात्मा, जीव और मन, वायु और सूर्य, राजा और मन्त्री आदि का समान रूप से वर्णन है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

- [१००२] इन्द्रा मदाय घावृ ३ शयसे वृत्रहा नृभ ।  
 २४ ३२ ३२ ३१२ २४ ३१२ २४ ३१२  
 तामग्महस्त्राजपूतमर्भे हवामहे स वाजिपु प्र ना विपत् १
- [१००३] असि वि वीर सेन्यांशसि भूरि परादि । असि दध्नस्य  
 २ ३ १ २ ३ २४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 ३ १ २४ ३ १२ २४ ३ १ २  
 १ चद्धो यजमानाय शिघ्रसि सुन्यत भूत् ते वसु ॥ २ ॥
- [१००४] यदुदीरत आजया धृष्यय धीयते धनम् । युद्धेन्द्रा  
 २ ३ १ २ ३ २४ ३ १ २ २४ ३ १ २ ३ १ २  
 मदच्युता हरी क हन. क वसो दधाऽसा इन्द्र वसो दध  
 ॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० १ । ८१ । १-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखिये अवि० [४११] पृ० २०१ ।

( २ ) हे वीर ! ( सेन्य असि ) तू सेना का हितकर है । और (भूरि) बहुत ( परादि ) शत्रुओं को पराभव देने द्वारा है । और तू ( दध्नस्य ) स्वरूप धाढ़े मामर्ष्य धाढ़े निर्वल को (चिद्) भी (पृथ ) यज्ञान द्वारा (असि) है । तू ( सुन्यते ) सुखों के उत्पन्न करने हारे ( यजमानाय ) यज्ञ के कर्त्ता, या करदाताओं को ( ते भूरि वसु ) तू अपना बहुत धन ( शिघ्रसि ) देता है । जो 'ह्य' अर्थात् स्वामी या नेता के सहित होती है वह 'सेना' कहाती है । इन्द्रियगण आत्मा नेताके सग होने से सेना कहाती हैं । उनका हितकर, उनमें उत्तम आत्मा सेन्य' है । वह काम प्रोद्य आदि का पराभव करक स्वरूप ( दध्न ) दहराकाश को भी विशाल करता है और यजमान स्वरूप मुख्य प्राण को नाना प्रकार क ज्ञानन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त भोग्य वस्तु देता है ।

( ३ ) इसकी व्याख्या देखिये अवि० स० [४१४] पृ० २११ ।

- [१००५] स्वादारित्या विपूत्रो मधो विशन्ति गौर्य । या इन्द्रेण  
 ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ १ २ १ २ १ २ १ २  
 ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 सपावराशृणा मदन्ति शोभथा वस्थरिनु स्वगज्यम् ॥१॥

१००५—'मदन्ति शोभत' इति ऋ० ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१००६] ना अस्य पृथनायुव. सोमं ध्यायन्ति पृथयः। प्रिया इन्द्रस्य  
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

धेनवो वज्रं द्विन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१००७] ता अस्य नमसा सह सपर्यन्ति प्रचेतसः । व्रतान्यस्य  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सध्विरे पुरुणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥३॥ १५॥

अ० १ । ८४ । १०-१२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखिये अवि० सं० [४०६] पृ० २०८ ।

( २ ) ( ताः ) वे ( अस्य ) इस आत्मा के ( पृथनायुव ) स्पर्श, संग, या सन्निकर्ष चाहती हुई, या भोग्य पदार्थों तक पहुंचने की चेष्टा करने वाली ( पृथयः ) रस तक पहुंचने वाली, ( प्रिया ) प्रिय ( धेनवः ) गौओं के समान इन्द्रिया (सोमं) ज्ञान को ( ध्यायन्ति ) और भी परिष्कृत करती हैं, बढ़ाती हैं । और वे ( सायक ) नाश करने वाले, भंग कर डालने वाले ( वज्रं ) वैराग्य को ( द्विन्वन्ति ) उत्पन्न करती हैं और वे ( वस्वीः ) इस शरीर में वास करने वाले आत्मा की शक्तियां ( स्वराज्यं ) अपने निजी आत्मा के प्रकाशमय सत्ता के ( अनु ) अनुकूल, बश होकर उसमें ही विराजती हैं । साधक का अनुभव परिष्कृत होने पर इन्द्रिया ही स्वयं भोग को त्याग कर देती हैं । और वैराग्य होकर आत्मा में आभ्यन्तर ज्ञान-प्रकाश उत्पन्न होता है और उसके अनुकूल सब इन्द्रिया अन्नवृत्ति होकर रहती हैं ।

( ३ ) ( प्रचेतस ) उत्कृष्ट चेतनाशक्ति से युक्त होकर ( ता ) वे इन्द्रियरूप गौपं ( अस्य ) इस आत्मा के ( सह. ) सहनशक्ति या काम, क्रोध आदि पराजित करने वाले बल को ( नमसा ) शरीर के बल को अन्न के समान अपने प्राप्त अनुभव से ( सपर्यन्ति ) और भी अधिक आदर और अनुकूलता से बढ़ाती हैं । और ( पूर्वचित्तये ) पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने

के लिये ( वरुषी ) देह में बसी इन्द्रिय-वृत्तियाँ (अप्य) इसके ( पुरुषि ) बहुत स ( प्रतानि ) कमों और गुणों का ( स्वराज्यम् अनु ) आत्मशक्ति क पत्र की वृद्धि के लिये ( सश्रिरे ) सेवन करती हैं, पालन करती हैं, स्वीकार करती हैं ।

इति पञ्चम छन्दः ।

३ २ ३१४ २१ ३ १४ २१ ३ २  
[१००८] असत्यगुर्मदायाप्सु दक्षा गिरिष्ठा ।

३ २४ ३ १ २

श्वेनो न योनिमासदत् ॥ १ ॥

३ १४ २१ ३ १ २ ३ १ ३ १४ २१ ३ २

[१००९] शुभ्रमन्त्रो देववातमप्सु धौत नृभि सुतम् ।

१ २ २ २ ३ १ २

स्वदन्ति गाव पयोभि ॥ २ ॥

१ ३ २ ३ १४ २१ ३ १ २ ३ १ २

[१०१०] आरीमश्वन्न हेतारमश्वशमभ्रमृताय ।

२ ३ १ २ ३ १ २

मघो रस सधमादे ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ३ । १२ । ४-६ ॥

भा०—( १ ) श्याख्या देखा अविच्छेद सं० [४७३] पृ० २३८ ।

( २ ) ( देववातम् ) देव अर्थात् इन्द्रियों से प्राप्त (अप्सु धौत) प्वातवृत्तियों, या प्राणों द्वारा सस्कृत, (नृभि सुतम्) साधक पुरुषों, या प्राणों द्वारा उत्पादित ( शुभ्र ) शुद्ध, कान्तिसवरूप, ( अन्ध ) जीवन धारण कारि द्वारा आत्मानन्दस का ( गाव ) सूक्ष्म इन्द्रिय वृत्तियों अथवा ज्ञानी पुरुष ( पयोभि ) अन्न-रसों के साथ २ ( स्वदन्ति ) आत्मवाद डेते हैं ।

( ३ ) ( आत् ) तदनन्तर ( अघ न ) जिन प्रकार राज्ञ लोग युद्ध में अपने अघ का अपनी रक्षा के लिये नाना प्रकार के अस्त्रों और कवचों से सुसज्जित करते हैं वसी प्रकार ( हेतार ) सब के प्रक ( ईम् ) इस

( मधोः रसं ) मधुर आत्मसम्बन्धी आनन्दमय रस को ( सधमादे ) शरीर रूप पुरुष आनन्द प्राप्त करने के स्थान में ( अमृताय ) मोक्ष या अमृतत्व प्राप्त करने के लिये ( अशुशुभम् ) नामा साधनाओं से सुशोभित करते हैं ।

उ २ उ २ उरउ १ २                      उ १ २                      उ १

[१०११] अभिद्युम्नं पृहद्यश्च इषस्पते दिदीहि देव देवयुम् ।

१२ २२                      उ १ २

विकीर्णं मध्यमं युव ॥ १ ॥

१ २

उ २२ उ २ उ २२ उ १ उ १ २

[१०१२] आवक्ष्यस्य सुदक्ष चम्बोः सुतो विशां वद्विर्न विशपतिः ॥

उ २ उ १ २                      उ २ उ २२                      उ १ २ उ १ २

वृष्टिं दिवः पयस्य रीतिमपा जिन्वन् गविष्टये धियः ॥२॥

॥ १७ ॥

अ० ६ । १०८ । १-१० ॥

मा०—( १ ) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१७६] पृ० २६२ ।

( २, ३ ) हे ( सुदक्ष ) उत्तम बलसम्पन्न सोम ! ( विशां ) प्रजाओं की ( वद्विः ) सुखदयणा का भार वहन करने हूँ ! आत्मन् ( चम्बोः ) दोनों सेनाओं के बीच ( सुतः ) विराजमान ( विशपतिः न ) राजा के समान आप प्रजापति, परमात्मा ( गविष्टये ) गतिशील पशुओं, प्राणियों और पृथ्वी के समस्त जीवों के हित के लिये ( अपः जिन्वन् ) जलों को भीषे गिराते हुए ( दिवः ) अन्तरिक्ष से ( रीतिं ) अन्नों के देने हारी, विशाख ( वृष्टिं ) जलवृष्टि को ( आवक्ष्यस्य ) प्रेरित कर और ( धियः ) उत्तम बुद्धियों को ( पयस्य ) प्रेरित कर मेघ रूप प्रजापति पय में-छी और पृथ्वी 'धमू' है । अत्यात्म पय में-ज्ञानभूमि और कर्मभूमि, या ज्ञानेन्द्रिय और प्रायेन्द्रिय तद्नुसार मस्तक के ऊपर के और भीषे के दोनों भाग धमू हैं । धर्ममेघ समाधि में प्रकट होने वाली महारस की वृष्टि और अप=कर्म धयवा सिद्ध शरीरमय प्राणों और धियः=व्यायानवृत्तियों को प्रेरित करता हुआ आत्मा, गीः=इन्द्रियों के हित के लिये या स्वयं वृषभरूप आत्मा के हित के लिये सोम=शुद्ध कान्तिरूप में प्रकट होता है ।

३ १४ २३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१०१३] प्राणा शिशुमंहीना हिन्ध्रतस्य दीप्रितिम् ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

प्रिश्वा परि प्रिया भुजदध द्विना ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ ४ २ ३ २

[१०१४] उप त्रितम्य पाप्योऽऽरभक्त यद् गुहा पदम् ।

३ १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ २

यज्ञस्य सप्त ग्रामभिर्य प्रियम् ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[१०१५] श्रीणि त्रितम्य धारया पृष्टेपेरयद्रियम् ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

मिमीते अस्य योजना वि सुवतु ॥ ३ ॥ १८ ॥

श्र० ६ । १०२ । १-२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या श्रेणिये अवि० स० [१७०] पृ० २६२ ।

( २ ) ( यत् ) जव ( त्रितस्य ) मन, वाक्, काप तीनों से साधना करन हारे यागी आरना के ( पाप्या ) पापाय के समान कुचळ डालन वाले, प्राण और अपान दोनों के बीच में प्रकट होकर वह आनन्दरस ( गुहा ) भीतरी आकाशगुहा में ( पद ) स्थिति को ( उप अभद्र ) प्राप्त होता है, तब ( यज्ञस्य ) यज्ञस्वल्प आत्मा के ( सप्तग्रामि ) सातों ऊपर के धारणीय प्राणों से ( प्रियम् ) आनन्दकारी, उस आमानन्दरस का आस्वादन किया जाता है ।

( ३ ) ( त्रितस्य ) साधक आत्मा को ( धारया ) धारणा से केवल ( श्रीणि ) तीन रसस्थान प्रकट होते हैं । और उन तीनों ( पृष्टेषु ) रस के संचक मुख्य केन्द्रों में आत्मा अपने ( रियम् ) कान्तिमय पृथ्वी को ( पेरयत् ) प्रकट करता है । ( सुवतु ) उत्तम यागी साधक ( अस्य ) हम आत्मा के ( योजना ) तीनों याग द्वारा-जागृत स्थानों को ( वि मिमीते ) विशेष रूप से जान लेता है और साध लेता है । तीन स्थान-१ ब्रह्म प्र,

१०१६—'पृष्टेपेरय रियम्' इति श्र० ।

० भाज्ञाचक्र या सोमचक्र और ३ मणिपूर या स्वाधिष्ठान चक्र अथवा मूलाधार, हृदय और भ्रूमध्य ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
[१०१६] पवस्व वाजसातये पवित्रे धारया सुतः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यो मधुमत्तरः ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१०१७] त्वां रिहन्ति धीतयो हरिस्पवित्र अद्भुदः ।

३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २  
घत्सं जात न मानरः पवमान विधर्मण ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१०१८] त्वं घां च महिमत पृथिवीं चाति जिभ्रिये ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
प्रति द्रापिममुञ्चथाः पवमान महित्वना ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ई० । १०० । ६, ७, ८ ॥

भा०—( १ ) हे सोम ! ( वाजसातये ) ज्ञान प्राप्ति के लिये ( धारया ) धारणायती बुद्धि द्वारा निरन्तर ( सुतः ) साक्षात् किया गया, प्रेरित या उत्पन्न किया गया, त् ( मधुमत्तरः ) बराबर क्रम से अधिक २ आनन्द और सुख का देने हारा होकर ( इन्द्राय ) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा और ( विष्णवे ) सर्वव्यापक परमात्मा के प्रकाश के लिये और ( देवेभ्यः ) विद्वानों के दितार्थ या प्रायों के ज्ञान के लिये ( पवस्व ) प्रकट हो ।

( २ ) हे ( पवमान ) व्यापक रसस्वरूप ! ( मानरः ) नौष्ट ( जातं ) उत्पन्न हुए ( घत्सं न ) बड़ों को जिस प्रकार ( रिहन्ति ) घातती हैं । उसी प्रकार ( धीतयः ) ध्यानवृत्तियां ( विधर्मणि ) विशेष धारणा के स्थल, ( पवित्रे ) पवित्र शुद्ध धारणास्थान में ( अद्भुदः ) एक दूसरे का घात प्रतिघात या विरोध न करती हुईं ( हरिं ) सब दुःखों के हारक ( स्वा ) तुमको जानु-कता से ( रिहन्ति ) धारणा जती हैं तेरे आनन्द अनुभव करती हैं ।

( ३ ) हे ( महिमत ) महान् कर्मों के करने वाले परमारमन् । आप ( चां ) आकारा या सूर्य, और ( पृथिवी च ) पृथिवी दोनों लोकों को ( प्रति जग्निषे ) पार करके भी दोनों को ग्रहण किये हुए हो । हे ( पवमान ) सर्वव्यापक । ( महिावना ) अपनी महिमा से आप (दापि) रूपवान् जगत् को ऋच को वीरपुरुष के समान (प्रतिमुन्धया ) धारण कर रहे हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१०१६] इन्दुर्वाजी पवते गोन्वोधा इन्द्रे साम सह इन्वन्मदाय ।

२ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

हनि रक्षो वाधने पर्यराति धरिचस्तृण्यन्वृजनस्य राजा ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१०२०] अथ धारया मध्या पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रि दुग्ध ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २

इन्दुरिन्द्रस्य सख्य जुषाणा देवो देवस्य मत्सरो मदाय ॥२॥

३ १ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ २

[१०२१] अभि मतानि पवते पुनानो देवो देवान्स्तेन रंसन पृञ्चन् ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

इन्दुर्दमार्गयुतुधा वसानां दश क्षिपो अज्यत सानो अज्य

॥ ३ ॥ २० ॥ अ० ६ । ६७ । १०-१२ ॥

भा०—( १ ) स्वारुपा देवो अथिक्ल स० [ २४० ] पृ० २०० ।

( २ ) ( अथ ) और ( अद्रिदुग्ध ) दूध साधों द्वारा या धर्ममेष द्वारा रूपक किया गया (इन्दु) आनन्दरूप सीमरस (मध्या) ज्ञानसगर, मधुर, मनोहर ( धारया ) धारया द्वारा ( पृचानः ) संयुक्त होकर ( रोम ) व्यवधायक पशुओं को ( तिर ) पार करके ( पवते ) बढ़ता या प्रकट होता है । यह ( इन्द्राय ) आत्मा की ( सख्य ) मित्रभाव, प्रेम या आनन्दरूपता को ( जुषाण्य ) प्राप्त करता हुआ ( देव ) प्रकाशमान, ( मत्सरो ) आनन्द स्वरूप होकर ( देवस्य ) दश, आत्मा के ( मदाय ) हर्ष और आनन्द का कारण होता है ।



( ३ ) ( रवेन रसेन ) अथने आनन्द रस से ( देवान् ) विद्वानों वा इन्द्रियों को ( पूज्यन् ) नृत्य करता हुआ ( देवः ) सुख शान्तिप्रद, तेजोमय वीर्य, ( पुनानः ) स्वतः स्वच्छ और पवित्र एवं स्थापक होकर ( यतानि ) सब कर्मों को ( अभिपद्यते ) पवित्र कर सर्वत्र प्रकट होता है । ( इन्द्रः ) आत्मा ( श्रुत्या ) प्रत्येक श्रुत के अनुकूल, या प्राणों के बल से ( धर्माणि वसानः ) धारण-सामर्थ्यों वा नाना धर्मों अर्थात् गुणों को सम्पानन करता हुआ ( अग्रे सानो ) न गतिशील, प्राणमय, स्थिर सानु अर्थात् सुखप्राप्तक अन्तःकरण में ( दश विपः ) दशों विप्रगति करनेहारी इन्द्रियों को ( अभ्यत ) प्राप्त होता है ।

ऊर्ध्वरेता योगियों की साधना से वीर्य ऊर्ध्वगामी होकर उन में सब श्रुतियों में सहनशीलता उत्पन्न करता और इन्द्रियों में बल पैदा करता है ।

इति षष्ठः खण्डः ।



[ १०२२ ] आ ते अग्न इधीमदि धूमन्ते देवाजग्मू । यद्गस्था ते  
<sup>१ २</sup> <sup>३ २ ३ २ ३ १ २ २</sup> <sup>३ २ ३ १ २</sup> <sup>२ ३ २ ३</sup>  
 पनियिषी समिहीद्वयनि यवीर्यं स्तोतृभ्य आभर ॥ १ ॥

[ १०२३ ] आ ते अग्न ऋचा हविः शुकस्य ज्योतिषस्पते । सुखान्द्र  
<sup>१ २</sup> <sup>३ २ ३ २ ३ १ २</sup> <sup>३ १ २ ३ ३ २ १ २</sup>  
 दसा विशपते हव्यघटि तुभ्यं ह्यत इयं स्तोतृभ्य आभर ॥

[ १०२४ ] ओमे सुखान्द्र विशपते द्यौ धीष्णीष आसने । उतो न  
<sup>१ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup>  
 उत्पुपूया उक्थपु शयसस्पते इप स्तोतृभ्य आभर ॥ ३ ॥ २ ॥

अ० ५ । ६ । ४, ५, ६ ॥

भा०—( १ ) हे ( अग्ने ) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, परमात्मन् !  
 हे ( देव ) सबके प्रकाशक ! ( ते ) तेरी प्राप्ति के निमित्त या तुम्ह से हम

१०२३—'शोचिषस्पते' । १०२४—'ओमे सुखान्द्र सर्षिको' इति षष्ठः ।

( शुभ्रम् ) प्रकाशित, ( अन्नम् ) न जीये होने वाले, अन्न निम्न अपने आत्मा को ( इधोमदि ) प्रकाशित करते हैं । ( यत् ) और जो ( हवि ) नष्ट आकाश में ( पनीयसी ) व्यवहार करने योग्य, अतिस्तुत्य ( समिद् ) समान रूप से प्रकाशित होने वाली सूर्य रूप उद्योति ( दीदयति ) चमकती है ( स्य ) वह भी ( ते ) तेरा ही प्रकाश है । इस कारण हे परमात्मन् ! ( स्तानृभ्य ) सत्य गुणों के प्रकाशक विद्वानों को आप ही ( इष ) उत्तम ज्ञान और अन्न ( आ भर ) प्राप्त कराइये ।

( २ ) हे ( ज्यातिष स्पते, सूर्य आदि उपातियों के परिपालक परमात्मन् ! ( शुक्रस्य ) शुद्ध कर्तितत्त्वरूप ( ते ) आपको ( अच्चा ) अग्नि के ज्ञान द्वारा ( हवि ) समर्पण करने योग्य इस आत्मा रूप हवि का ( तुभ्यं ) आपके लिये ( आहूयते ) सब प्रकार से अर्पित किया जाता है । हे ( सु चन्द्र ) सबको उत्तम सुख, आह्लाद देने वाले हे ( दस्म ) सबके भीतर व्याप्त, वा विघ्नों के हर्ता हे ( ह० यवाट् ) समस्त ससार को वहन करने वाले हे ( विशपते ) समस्त प्रजाओं के स्वामी ( स्तानृभ्य ) सत्य गुणों के प्रकाशकों के निमित्त ( इषम् ) अन्न और उत्तम ज्ञान प्रेरणा को ( आ भर ) प्राप्त कराइये ।

( ३ ) हे ( सु चन्द्र ) सर्व उत्तम पेशियों के स्वामिन् ! सर्वसुखकारक, ( विशपते ) प्रजेधर ! हे ( शवस स्पते ) सर्वशक्तिमन् ! सब बलों के स्वामिन् ! आप ( उभे ) दोनों ( र्धा ) अज्ञान का दहन करने वाले ज्ञान और कर्म या सूर्य और पृथिवी को ( आसनि ) अपने मुखस्थानीय तप में ( श्रीणीये ) परिपक्व करते हो और ( उक्थयु ) प्रकाश करने योग्य धर्म-युक्त कर्मों में, यज्ञों में ( न ) हमें ( उत्पुण्यां ) उत्तम फलों द्वारा पूर्ण करें ( इष स्तानृभ्य , आ भर ) आप विद्वान् सत्यज्ञानी पुरुषों को अन्न और ज्ञान प्राप्त कराइये ।

[ १०२५ ] १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २  
इन्द्राय साम गायत विषाय वृद्धते वृद्धत् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
ब्रह्मवृत्ते विपश्चिते पनस्यवे ॥१॥

[१०२६] त्वामिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचय ।

विश्वकर्मा विश्वदेवो महो असि ॥२॥

[१०२७] विश्राजज्यातिवा स्याऽऽरगच्छो रोचनदिवः ।

देवास्त इन्द्र सरयाय येमिरे ॥३॥२२॥ अ० १।१८।१-२४

भा०—(१) व्याख्या देखो अविक्त सं० [३८८] पृ० २०० ।

(२) हे इन्द्र ! ( त्वम् ) आप ( अभिभूः ) सबसे अधिक सामर्थ्यवान् ( असि ) हो । ( त्वं ) आप ही ( सूर्यं ) सूर्य को ( अरोचयः ) प्रकाशित करते हो । और आप ही ( विश्वकर्मा ) समस्त संसार के बनाने वाले ( विश्वदेवः ) सबके प्रकाशक और उनके उपास्य देव सब पेशियों के दाता, सब देवों के देव और ( महान् ) सबसे बड़े पूजनीय ( असि ) हो ।

(३) हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! आप ( दिवः ) सूर्य आदि समस्त बौलोक के ( रोचनं ) प्रकाशक, आनन्दमय, सशक्त ( ज्यातिवा ) ज्योति से ( विश्राजन् ) विशेष रूप से देदीप्यमान होकर ( स्वः ) आनन्दमय मोक्ष में ( अगच्छः ) व्याप्त हो । ( देवाः ) सब विद्वान्गण और तेजस्वी पृथिवी आदि लोक भी ( ते ) तेरी ( सरयाय ) मित्रता के लिये ( येमिरे ) प्रयास करते हैं ।

[१०२८] असाधि सोम इन्द्र त शधिष्ठ घृण्यगोमहि ।

आ त्वा पृणक्तिन्द्रिय रजः सूर्यो न राशिमभिः ॥१॥

[१०२९] आ तिष्ठ वृत्रहनरथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी ।

अवाचीन सुने मनो प्रावा कृणोतु वग्नुना ॥२॥

[१०३०] इन्द्रमिद्धरी वहता प्रतिघृष्टशवसम् ।

कपीणां सुष्टुनीरुप यक्षं च मानुषाणाम् ॥३॥२३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविच्छेद स० [३४७] पृ० १८० ।

( २ ) हे ( वृत्रहन् ) विघ्नो के नाराक ! ( रथम् ) रथ्याय, अग्न्यन्त  
रथि, रस रूप हृदय वा धात्मा में, रथमें वार पुरुष के समान ( आतिष्ठ )  
आ, विराजः । ( ते ) तेरे ( हरी ) हरण करनेहारे, भजन करने वाले मन और  
वाणी दोनों को ( मन्त्राणां ) मन्त्र द्वारा ( युश ) वाणी ( वानुना ) मनो-  
हर ध्यान द्वारा हमें ( ते ) तेरे ( अर्वाचीनां ) अभिमुख ( सु-कृष्योतु )  
उत्तम प्रकार स करे जिससे तेरा साक्षात् करें ।

( ३ ) ( हरी ) हरण करने हारे मन और वाणी, ज्ञान और कर्म दोनों  
( अतिष्ठ-शव्यं ) अद्वय और असह्य, बलवान् ( इन्द्रे ) आत्मा को  
( अर्वाणां ) विद्वानों या इन्द्रियों की ( सुस्तुती. ) उत्तम स्तुतियों और अ-  
भिवाचनों को और ( मानुषाणां ) मनुष्यों के ( पशुम् ) पजन योग्य, उपास्य  
और सगति करने योग्य परमेश्वर को ( उप वदतः ) प्राप्त कराते हैं ।

इति सप्तमं खण्डः ।



इति द्वितीयोऽध्यायः ।

इति तृतीया प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥



अथ चतुर्थं प्रपाठकः ( प्रथमोऽध्यायः )

अथ सप्तमोऽध्यायः



अथि — १ ( १ ) आहुतामाया ( २, ३ ) विक्रान्तिवासी च । २, ११  
२११ । ३ मेषादिभिः । ४ हिरण्यमूषः । ५ अरत्तात् । ६ जमदग्निः । ७ कुत्स

आगिरसः । ८ वसिष्ठः । ९ विशोवः काण्वः । १० दशावाशः । १२ सप्तर्षयः ।  
 १३ अनदीयुः । १४ शुनः शेष आजीगतिः । १६ मान्धाता शौवनाशः । १५  
 मधुच्छन्दा वैशामित्रः । १७ असितः वाश्यपो देवलो वा । १८ ऋणचयः शाक्यः ।  
 १९ पर्वतनारदौ । २० मनु सावरणः । २१ कुत्सः । २२ बन्धुः सुवन्धुः श्रुतवः  
 न्युर्विप्रवन्धुश्च गौपायना लीपायना वा । २३ भुवन आप्तवः साधलो वा भौवनः ।  
 २४ अपि रजानः, प्रतीकत्रयः वा ॥ देवता—१—६, ११—१३, १७—२१  
 पपमानः सोमः । ७, २२ अग्निः । १० इन्द्राग्नी । ६, १४, १६, इन्द्रः । १२  
 सोमः । ८ आदित्यः । २३ विभेदेवा ॥ छन्दः—१, ८ जगती । २—६, ८—१२,  
 १३, १४, १७ गायत्री । १२, १५, वृहती । १६ मङ्गलहृत्किः । १८ गायत्री  
 स्तोत्रहृत्की च । १९ षष्ठी । २० अनुष्टुप् २१, २२ त्रिष्टुप् । २२ मुरिगृहृती ।  
 स्वरः—२, ७ निवाहः । २—६, ८—११, १३, १४, २७ षड्जः । १—१२,  
 २२ मध्यमः । १६ पञ्चमः । १८ षड्जः, मध्यमश्च । १९ ऋषभः । २० गान्धारः ।  
 २१, २३ भैरवः ॥

[१०३१] ज्यातिर्यज्ञस्य पयते मधुप्रिय पिना देवता जनिता  
<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २</sup>  
<sup>३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १</sup>  
 विभूयसुः । दधानि इत्नं स्वधर्यैरेपाच्य मदिग्तामो मत्सर  
<sup>१ ३ १ २ १ २</sup>  
 इन्द्रिया रस ॥१॥

[१०३२] अभिकन्दन् कलशं घाज्यर्षानि पतिर्दिवः शतधारो विभ-  
<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
<sup>३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३</sup>  
 क्षणः । हरिमित्रस्य सद्नेषु सीदति ममृजानोऽविभिः  
<sup>२ ३ १ २</sup>  
 सिन्धुभृषः ॥२॥

[१०३३] अप्रं । सन्धूनां पवमाना अप्रंम्यमे घाचा अप्रिया गोषु  
<sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
<sup>३ १ १ २ ३ १ ३ १ २</sup>  
 यद्वलसि । अप्रं घाजस्य भजसे महद्वनं स्वायुधः सातृभिः  
 स्तंम स्यसं ॥३॥१॥ अ० ६ । ८७ । १०—१२ ॥

भा०—(१) ( यज्ञस्य ) यज्ञ जीवन और समस्त महाएक का ( ज्योति ) प्रकाशक ( त्रियम् ) सबस उत्कृष्ट ( मधु ) मनन करने योग्य, याग समाधि द्वारा साक्षात् करने योग्य, ( देवाना पिता ) २४ देवों का पालक और ( जनिता ) उत्पादक, ( विभूवसु ) सर्वव्यापक होने से सब के भीतर वास करन और सबका वास कराने द्वारा, ( स्वधयो ) अपनी सत्ता से देव और विश्व को धारण कराने वाले, जीवात्मा और प्रकृति इन दोनों के भीतर ( अर्पीष्यम् ) अति सूक्ष्म, सर्वत्र व्यापक ( मदिन्तम ) सबसे अधिक आनन्दमय और ( मासर ) सबके हृदयों में आनन्द को बढ़ाने वाला ( इन्द्रिय ) पृथ्वीमय, अथवा इन्द्ररूप जीव आत्माओं का हितकारी, ( रस ) सर्वव्यापक, रसस्वरूप परमात्मा ( रत्न ) समस्त ज्योतिर्मय रिण्ड, द्विरण्यगर्भ को या अति रमण योग्य सुखमय मोच को ( दधाति ) धारण करता है ।

(२) ( वाजी ) सर्वशक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् ( दिव पतिः ) द्यौलोक का या सूर्यादि दिव्य पिण्डों का भी परिपालक, उनको नारा होने से बचाने वाला स्वामी, ( शतधार ) सैकड़ों धारण—शक्तियों से युक्त, ( विष्वङ्ग ) समस्त समार का दखने वाला, ( अभिक्रन्दन् ) नाद करता हुआ, गर्जता हुआ ( कलशेषु ) कलशों में, जीवधारियों के देहों में आत्मा के समान ( अर्पति ) व्याप्त रहता है । और वही ( हरि ) सबके कष्टों और तापों का हरन वाला, सबको गति देने द्वारा ( मिश्रस्य ) अपने छोड़पात्र आत्मा के ( सदनपु ) निवासगृह, देहों में भी ( सीदति ) व्यापक होकर विराजता है । वही ( वृषा ) सब सुखों का धरक ( सिन्धुभि ) विषयों के प्रति द्रुत गति से जाने वाली ( अविभि ) तन्मात्राओं या इन्द्रियों या प्राण शक्तियों द्वारा, धारणाओं द्वारा ( मर्त्यजान ) धार २ शोभा, या धार २ खाना, या परिष्कृत किया जाता है ।

(३) हे आत्मन् ! तू (सिन्धुनां) उन सूषम इन्द्रिय शक्तिों प्राणों के (अग्ने) भाग ही (यवमानः) ज्योति-स्वरूप होकर प्रकट होने वाला (वाचः अग्ने) वाणी के भी भाग और (गोपु) प्राणेंद्रियों के भी (अग्निः) नेता के समान (अग्ने) भाग होकर (गच्छसि) जाता है अर्थात् वह उनसे भी परे रहकर उनका ग्राह्य विषय नहीं होता। (वाजस्य) ज्ञान और बल का स्वामी प्राण के भी (अग्ने) भाग (महद् धनं) बड़े भाग। आनन्दरूप कोष को (भजसे) धारण करता है और (सु भायुध) उत्तम सःसग साधनों से युक्त या उत्तम शक्तिों से सम्पन्न होकर हे (सोम) सबके प्रेरक, आत्मन् ! (सोतृभिः) योगियों द्वारा तू (सूयसे) साक्षात् किया जाता है।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २  
[१०३४] अस्तुत्त प्र धाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।

३ १ २ ३ १ २ २

शुभासो वीरयाशत्रः ॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०३५] शुभमाना क्रुनायुभिर्मृज्यमाना गभस्तयो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

पवन्ते चारं अश्वय ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०३६] ने विश्वा दाशुषे धसु सोमा दिव्यानि पाथिया ।

१ २ ३ १ २ ३

पयन्तामान्तरिक्षया ॥३॥२॥ ४० ६ । १४ । ४-६ ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अदिकल स० [४८२] पृ० २२४ ।

(२) (अतायुभिः) सत्य, यज्ञ और आत्मा की कामना करने वाले शिष्य साधकों द्वारा (शुभमानाः) स्तुति किये गये, प्रार्थना किये गये या उनसे शोभा प्राप्त करने वाले, (गभस्तयो) अन्धकार को दूर करने वाले, ज्ञान और योगाभ्यास दोनों से (मृज्यमानाः) अपने को परिष्कृत छुद्ध, निष्पाप मलरहित, करते हुए (अश्वये) आत्मा से उत्पन्न, या

अल्प, अत्रिनाशी ( कोरे ) सब कष्टों के धारक, रक्षास्थान, अमय परमेश्वर में ( पवन्ते ) विचरते हैं ।

( ३ ) ( सें ) वे ( सोमा. ) सोम्यगुणसम्पन्न, विद्वान् बोगीजन ( दाशुषे ), आत्मसमर्पण करने हारे शिष्य के द्विषे ( दिग्घानि ) दिव्य, पारलौकिक और ( पार्थिवा ) इदलोक के और ( भ्रान्तरिष्या ) भ्रम्यमलोक के ( वसु ) वास योग्य ज्ञानरूप पेशवों को ( पवन्ताम् ) प्रदान करते और स्वयं प्राप्त करते हैं ।

१ २ ३ ११ २२ ३१ २ ३१ २  
[१०३७] पवस्व देववीरानि पवित्र सोम रथा ।

१ २ ३ ११ २२  
इन्द्रमिन्दो वृषा विश ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १  
[१०३८] आवच्यस्व महि प्सरां वृषेन्दो वृषवत्तम ।

११ २२ ३ २  
आ यानन्धर्णसिन्सद् ॥२॥

१ २ ३ ११ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१०३९] अधुत्तन प्रिय मधु धारा सुतस्य वेधसः ।

३ १ २ ३ १ १  
अपो भसिष्ट सुकतुः ॥३॥

३ १ २ ३ १ १ २ ३ १ २  
[१०४०] महान्तं त्यामहीगन्वापां अर्पान्तं सिन्धवः ।

११ २२ ३ १ २  
यद् गोभिर्वासयिष्यसे ॥४॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
[१०४१] समुद्रो अप्तु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः ।

१ २ ३ १ २ ३ १  
सोम पवित्रे अस्मयु ॥५॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ २  
[१०४२] अचिक्रद्दृषुपा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।

११ २२  
स सूर्येण विष्टते ॥६॥



1 2 3 1 2 3 1 2 3 1 2  
 [१०४३] गिरस्त इन्द्र भोजसा मर्मृज्यन्ते अपस्युवः ।

2 3 1 2 3 1 2  
 याभिमदाय शुम्भसे ॥७॥

2 3 1 2 3 1 2  
 [१०४४] तन्वा मदाय घृष्वय उ लोककृत्नुमीमहे ।

2 3 1 2 3 2  
 तव प्रशस्तये महे ॥८॥

3 1 2 3 1 2 3 1 2 3 2 3 2  
 [१०४५] गोषा इन्द्रो नृषा अस्पश्वसा घाञ्जसा उत ।

3 2 3 1 2 3 2  
 आत्मा यज्ञस्य पूर्यैः ॥९॥

3 1 2 3 1 2 3 1 2  
 [१०४६] अस्मभ्यमिन्द्रविन्द्रियं मधोः पशस्व धारया ।

3 1 2 3 1 2  
 गजंन्यो वृष्टिमौ इव ॥१०॥३॥ अ० ९ । २ । १-१० ४

भा०—(१) (देवताः) पृथिवी तारुं और प्राणो में भी व्यापक, उन को कान्ति देने द्वारा, वनको प्रेरित करने द्वारा, तू हे ( सोम ) आत्मन् ! ( रंदा ) वेग से ( पवित्रे ) हृदयदेग, मन को ( अति ) अतिव्यक्त करके ( पवस्व ) प्रकाशित हो । हे ( इन्द्र ) कान्ति और ऐश्वर्ययुक्त ! ( वृषा ) सुखों का वर्षक ! तू ( इन्द्र ) आत्मा का परमात्म के ऐश्वर्यमय स्वरूप में ( विश ) प्रवेश कर ।

(२) हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( वृषा ) सुखों का वर्षक ( सुमनवत् तमः ) अति अधिक तेजःसम्पन्न, यशस्वी, डोकर ( मदि ) बड़े ( पशरः ) ज्ञान को ( आ वपस्व ) प्रकट कर । और ( वृष्टिः ) घृतिच्छिन्न, ध्रुव डोकर ( मोनिन् ) अपने आशय स्थान, या स्वरूप में ( सदः ) प्रतिष्ठित हो ।

(३) ( सुतस्य ) योग साधनों से निष्पन्न ( वर्षसः ) स्वयं कर्ता, विद्वान् योगी की ( धारा ) धारणा शक्ति ( मियं मधु ) अति आनन्द

अमृत रस को (अधुप्रत) दोहती हैं, प्रकट करती हैं और (सुकृतु) उत्तम कर्मनिष्ठ योगी (अप) समस्त प्रज्ञानों और कर्मों और लोकों पर (धसिष्ट) वश करता है और उनमें वास करता है ।

मधु अमृतम् । सा० ।

(४) इ साम । (यत्) जब (गोमि) आदित्य की सी किरणों से तू (वासविष्यस) आच्छादित हो जाता है तब (स्वा) तुम्हें (महात्) महान् को (सिन्धव) गतिशील, व्यापक (मिंही) बड़े भारी (आप) प्राप्त हान पाय लाक (अनु अर्पन्ति) पीछे २ गमन करते अर्थात् अनुसरण करत, तरे वशवर्ती होते हैं ।

(५) (पवित्रे) महान् आकाश में (सोम) सूर्य (अस्मयु) हमारा आश्रय (दिग् धरुण) पौञ्जाक को धारण करन वाला (विष्टम्) नाना प्रकार क पिण्डों का स्तम्भक, आश्रय (समुद्र) समुद्रों को बहाने वाला हाकर (अप्सु) अन्तरिक्ष में जैसे (मासृज) पिशुद रूप में भासता है । उसी प्रकार योगी का आत्मा भी भीतर हृदयाकाश में आनन्दरस का सा हाकर विराजमान होता है ।

(६) व्याख्या देखो अविक्ल स० [ ४१७ ] पृ० २४१ ।

(७) इ (इन्द्रा) आत्मन् । (ते) तरे (आनया) चल से (अपरयुव) कर्म और इन्द्रा का प्रकाश करन हारी (गिर) वायुया (ममृज्यन्ते) परिष्कृत स्वरुद्ध शुद्ध हो जाती हैं (याभि) तिनसे (मदाय) आनन्द की प्राप्ति के लिये तू (शुम्भसे) प्रकाशित होता है ।

(८) हे सोम । परनाम्न । (मदाय) हृषं के लिये (धृत्वर्ये) आत्मा के स्पर्श करने वाले (मदाय) आनन्द को प्राप्त करने के लिये (लो कृहानु) दर्शन करने हारे, संपदठा या ज्ञान के उत्पादक या समस्त शक्ति के रक्षिष्ठा (ते) उस परमानन्दस्वरूप (त्वा) आपकी (गठे)

पदे भारी ( तत्र ) आपकी ( प्रशस्तये ) महिमा होने के कारण ( ईमहे ) प्राप्त होते हैं या प्रार्थना करते हैं ।

( ६ ) हे ( इन्दो ) ऐश्वर्यवन् ! आप ( गोपा ) वाणियों, गौओं, शरिणियों और ज्ञान इन्द्रियों के दाता ( नृपा ) पुत्र भृत्यादि तथा नेता अग्रणी पुरुषों के देने हारे, ( अश्रसा ) देहों में आत्मा, ब्रह्माण्ड में सूर्य और प्राणोन्द्रियों और धन में अर्थों के देने हारे, ( वाजसा ) ज्ञानबल और अन्न के देने वाले ( उत ) भी ( असि ) हो । आप ही ( यज्ञस्य ) आत्मा, ब्रह्माण्ड, जीवन और सब कर्मों के ( पूर्यः ) पूर्ण करनेहार, सबसे आदिम ( आत्मा ) आत्मा, कर्ता, स्वामी हो ।

( १० ) हे ( इन्दो ) ऐश्वर्यवन् ! ( मधो . ) अमृत की ( धारया ) धारणा शक्ति से ( इन्द्रियं ) आत्मा के बल को बढ़ाने वाले या उसके स्वरूप के दर्शन रस को ( धर्मभ्यन् ) हमारे लिये जिस प्रकार ( वृष्टि-मान् ) वर्षाने वाला ( पर्जन्यः ) मेघ रस को वर्षाता है उसी प्रकार ( पवस्य ) बरसाओ ।

इति प्रथम. खण्डः ।

—:0.—

१ २            ३ १ २ ३ १ २    ३ २ ३ १ २  
[१०४७] सना च सोम जेपि च पवमान महिश्चवः ।

१ २    ३ १ २

अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १ ॥

२ ३    २ ३ २ ३    २            १ २            ३ १ २

[१०४८] सना ज्योतिः सना स्वाऽऽविंश्या च सोम सौभगा ।

१ २    ३ १ २

अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २    ३ १ २

[१०४९] सना दक्षमुत क्रतुमप सोम मृधो जहि ।

१ २    ३ १ २

अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ३ ॥



११ ( ३ ) हे प्रभो ! हमें ( दक्षम् उत क्रतु ) बल और उत्तम कर्म करने का सामर्थ्य ( सन ) दो और ( मृष ) प्रतिस्पर्धी, विद्विंकारी हिंसकों को ( अथ जहि ) विनाश करो, ( अथ न० ) और हमें सब में श्रेष्ठ करा ।

( ४ ) हे ( पवितार ) प्रभु को साक्षात् करने हारे विद्वान् पुरुषो ! ( इन्द्राय पातुवे ) धारमा को पान करान के लिये ( सोम ) आनन्दरस या ज्ञान को ( पुनीतन ) उत्पादन करो, प्रकट करो ( अथ न० ) और हमें श्रेष्ठ करो ।

( ५ ) हे ( सोम ) परमात्मन् ! ( तव ) तेरे ( क्रवा ) ज्ञान सामर्थ्य या कर्म सामर्थ्य से और ( तव ऊतिभि ) तरी शक्तियों सत्त्व ) तू ( न ) हमें ( सूर्ये ) सबके प्रेरक आत्मा या परमात्मा में ( आ भज ) प्राप्त करा ( अथ न० ) और हमें सबसे उत्तम बना ।

( ६ ) हे ( सोम ) सर्वोत्पादक ! ( तव क्रवा ) तेरे ज्ञान से ( तव ऊतिभि ) तरी प्रेरणाओं स ( सूर्ये ) सूर्य के समान ज्ञान और प्रकाशस्वरूप तेरा ( उयोक् ) चिरकाल तक ( परयेम ) दर्शन करें ।

\* ( ७ ) हे ( सोम ) सर्वप्रेरक ! इ ( स्वायुध ) उत्तम साधनों, बलों से युक्त ( स्व ) तू ( द्विषईस ) दोनों हाकों में बढ़ाने वाले शक्ति) प्राणरूप सामर्थ्यको ( अभि अर्थ ) दे । और ( अथ न० ) हमें श्रेष्ठ बना ।

( ८ ) हे ( सोम ) प्रेरक ! ( समस्तु ) समान भाव से आनन्द के प्राप्त करने के अवसरों में हे ( वाजिन् ) बल और ज्ञान से सम्पन्न ! ( अन्ते पच्युत ) अविचल और ( सासहि ) अभ्यन्तर शत्रुओं का दवाने हारों देकर तू ( अभि अर्थ ) प्रकट हा ( अथ न० ) और हमें सर्वश्रेष्ठ बना ।

( ९ ) हे ( पयमान ) सर्व-यापक ! ( विधर्मणि ) अपने विशेषरूप से परिष्कृत और नाना शक्तियों के आश्रय स्थान आत्मा में ( यज्ञे ) कर्म, ज्ञान, तप आदि बलों द्वारा साधकजन ( दा ) तुम्हको ही ( अविद्विषर्त् ) बढ़ाते हैं और तू ( अथ न० ) हमें सबसे उत्तम बना । । । ३

( १० ) हे ( इन्द्रो ) परमेश्वर ! तू ( धिप्र ) समग्र करने योग्य नाना प्रकार के ( अधिनम् ) इन्द्रियों का धारण करने हारे ( विधायु ) समस्त आधु का दन वाल ( रथि ) आत्मिक सामर्थ्य, धीर्य को ( आ भर ) दे । और ( सध न० ) हमें श्रेष्ठ उत्तम बना ।

[१०५७] तरत्स मन्दी धायति धारा सुतस्यान्धसः ।

२३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १  
तरत्स मन्दी धायति ॥ १ ॥

[१०५८] उद्या षद् धसूनाम्मर्त्तस्य देव्यवसः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
तरत्स मन्दी धायति ॥ २ ॥

[१०५९] धाम्नयो पुरुषन्त्यारा सहस्राणि दग्धे ।

२३ २ २ १ २  
तरत्स मन्दी धायति ॥ ३ ॥

[१०६०] आ ययोश्चिग्न तना सहस्राणि च दग्धे ।

२३ २ ३ १ २  
तरत्स मन्दी धायति ॥ ४ ॥ ५ ॥ श्र० ९ । २८ । १-४ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देतो अविच्छेद स० [२००] पू० २४८ ।

( २ ) ( उद्या ) ऊपर की ओर खण्ड करने वाली ( देवी ) सुध और प्रकाश की दन वाली, प्रकाशस्वरूप, सामरूप शुक्र की धारा ( मर्त्तस्य ) मरणधर्म शरीर के भीतर ( धसूनां ) धाम करने हारे प्राणों को ( धवस ) बला करने का सामर्थ्य ( वेद ) प्राप्त कराती हैं । सभी ( तरत्स मन्दी धायति ) षड् योगी आत्मा आनन्दमय होकर, सब कष्टों को पार करता हुआ ब्रह्म की ओर चला जाता है ।

( ३ ) इम ( धाम्नयो ) दुःखों को ध्वंस करनेहारे, पापों को विनाश देने वाले ( पुरुषन्त्यारा ) पुरुषरूप आत्मा के सदा समीप वर्तमान प्राण और अपान दोनों के हे ( सोम ) परमेश्वर ! ( सहस्राणि ) हजारों आस प्रथम तथा बल,

कर्मों को हम (आदश) धारण करें, अपने वश करें। उन बलों से ही (तरस स०) वह आत्मा सैकड़ों कष्ट पार करके ब्रह्म की ओर चला जाता है।

( ४ ) हम ( यथा ) जिनके बल पर ( त्रिंशत् सहस्राणि ) तीस हजार ३०००० ( तना ) दिन रात अर्थात् लगभग ४०० वर्ष पर्यन्त ( आदश) जीवन ग्रहण करते हैं उनके बल पर ही ( तरस मन्दा धावति ) वह आनन्दमय जीव सब दुःखों को पार करके ब्रह्म की ओर चला जाता है।

[१०६१] एते सामा अखुत्त गृणाना शरसे महे ।

मदिन्तमस्य धारया ॥ १ ॥

[१०६२] अभि गव्यानि धीतेये नृम्या पुनानो अर्पसि ।

सनद्वाज परिश्रव ॥ २ ॥

[१०६३] उन नो गामतीरिपो रथ्या अर्प परिश्रुम ।

गृणानो जमदग्निना ॥ ३ ॥ ६ ॥ श० ६ । ६२ । २२-२४ ॥

भा०—( १ ) ( मदिन्तमस्य ) अति आनन्दकारक परमात्मा की ( धारया ) आनन्दरूप धारणा शक्ति से ( महे ) बड़ भारी ( शरसे ) ज्ञान प्राप्ति के लिये ( गृणाना ) षड् का अध्ययन, प्रवचन करते हुए ( एते सोमा ) ये विद्वान् गुरुजन ( अखुत्त ) उत्पन्न हों। 'शरसे' इति श० ।

( २ ) हे ( सोम ) परमात्मन् ! ( धीतेये ) सर्वत्र कामित या प्रकार करने के लिये ( गव्यानि ) ज्ञान वाणियों के योग्य ( नृम्यानि ) मनुष्यों के चित्तों का ( पुनान ) पवित्र करता हुआ तू ( अभि अर्पसि ) साक्षात् प्रकाशित होता है। हे ( सनद्वाज ) ज्ञान के देने वाले, बल के देने वाले ईश्वर ! आप हमें ज्ञान और बल ( परिश्रव ) प्राप्त करावें।

( ३ ) हे परमात्मन् ! ( जमदग्निना ) आत्मा को साक्षात् करने वाले योगी द्वारा ( गृणान ) स्तुति किये हुए ( न ) हमारे लिये ( गामती )

वेदवाचिणो से सम्पत् ( विधाः, इय ) सब कामनाओं और पेशियों को और ( परिस्तुभ. ) सब प्रार्थनाओं को ( उत ) भी ( अर्प ) पूर्ण स्वीकार कर प्रदान करो ।

[१०६४] इम स्तोत्रमहेते जातवेदसे रथमिउ सम्महेमा मनीषया ।  
 भद्रा हि न प्रमतिरस्य ससद्यग्ने सख्ये मा रिपामा घयं  
 तव ॥ १ ॥

[१०६५] भगामेधम कृणुयामा हवीषि ते चिन्तयन्त पथेणा पथेणा  
 वयम् । जीवातवे प्रतेरा साधिया धियोऽग्ने सख्ये मा  
 रिपामा घयं नय ॥ २ ॥

[१०६६] शकम त्वा समिधं साधिया धियस्त्ये देवा ह्यधिरदन्त्या-  
 हुनम् रिग्मादत्या आवह तान्हुऽदेऽश्मस्यग्ने सख्ये  
 मा रिपामा घय तव ॥ ३ ॥ ७॥ अ. १ । ६५ । १, ५, ३ ॥

भा०—( १ ) ( अहेते ) पूजनीय ( जातवेदमे ) तब के ज्ञाना, इम, विद्वान्, परमेश्वर और आचार्य के लिये ( मनीषया ) अपनी मति से ( रथम् इव ) उत्तम ज्ञानरस के समान सुखकारक ( स्तोमं ) गुण, कीर्ति ( संमहेम ) करें । ( संसदि ) समा में ( अस्य ) इमकी ( प्रमति ) उत्तम मति और ज्ञान ( न ) हमारे लिये ( भद्रा ) कल्याण और सुखकारीणी होती है । इमके ( सख्ये ) मित्रभाव में ( मा रिपाम ) हम कभी कष्ट न पावें । हे प्रभो ! और हे विद्वान् गुरु ! ( वयं सद्यं ) हम तुम्हारे हैं । इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, भद्रों का ईश्वर के प्रति और शिष्यों का गुरु के प्रति समानरूप से बंधन है ।

( २ ) हे अग्ने ! ज्ञानस्वरूप प्रकाशक ! ( ते ) तेरे लिये ( इधमं ) प्रदीप्त; तंत्ररथों हमें के सार्धनकों ( मराम ) हम प्रस्तुत करें । ( हवीषि )



ग्रहण करने योग्य नाना पदार्थों को ( कृणवाम ) सम्पादन करें । और ( वय ) हम ( ते ) तेरा ( पर्वणा ) पोरु २ पर या पूर्ण साधन या प्रति पर्व, या अध्याप २ द्वारा ( चित्तपन्त ) शक्ति और ज्ञान का लाभ करते हुए, ( जीवातवे ) अपने जीवन के निमित्त ( तव सत्य ) तेरे सहयोग या मैत्री में ( मा रिषाम ) कभी पादित न हों । और तू ( प्रतरा ) बहुत उत्तम प्रकार से ( धिय ) हमारी प्रज्ञाओं और कर्मों का ( साधय ) सुदृढ़ बना ।

( ३ ) हे ( भजे ) ज्ञानवन् ! प्रभो ! गुरो ! ( धिय ) हमारा बुद्धियों को ( साधय ) उत्तम बना । हम ( समिधम् ) उत्तमरूप से प्रकाशित होने वाले ( त्वा ) तेरी सेवा करने में ( शकम् ) समर्थ हों । ( त्वे ) तेरे आधार पर ( देवा ) विद्वान् लोग ( आहुतम् ) अद्वापूर्वक दान किये हुए अन्न आदि पदार्थों को ( अदन्ति ) भोग करते हैं । ( त्वम् ) और तू सूर्य के समान ( आदित्यान् ) किरणों, बारहों मासों, अधथा आदित्य के समान तेजस्वी या सवत्सर के अधीन रहने वाले मासों के समान गुरु के अधीन रहने वाले शिष्यों को यथायोग्य ( या वह ) प्राप्त कर, हम ( तान् ) उनको ( उपमसि ) खाते हैं । और हे ( भजे ) प्रकाशक ! ( तव सत्ये ) तेरी मित्रता में ( वय ) हम ( मा रिषाम ) कभी दुःख, पीड़ा प्राप्त न करें ।

शक्ति द्वितीय स्तुति ।

— ० —

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०६७] प्रति वा सूर उदिते मित्र गृणीषे चरुणम् ।

३ १ २ ३ १ २

अयंमण रिशादसम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१०६८] राया द्विगयया मतिरियमवृकाय शरसे ।

३ १ १ २ ३ १ २

इय त्रिषा मेघसातये ॥ २ ॥

[१०६६] ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभि सह ।

३ ४ २१

इय सृञ्च धीमहि ॥ ३ ॥ ८ ॥ अ० ७ । ६६ । ७-६ ॥

भा०—( १ ) ( सूर ) सूर्य के समाग सवके प्रेरक, मुख्य आत्मा के ( उदिते ) उदय होने पर, जागृत होने पर ( मित्र ) मित्र, ( वरुण ) और वरुण, प्राण और अपान ( वा ) आप दोनों को ( रिपादस ) विघ्नो के नाशक ( अर्थगणम् ) न्यायकारी स्वामी के समान पात्रक जानकर ( प्रति-गृणीष ) उन दोनों को उपदेश करता हू ।

( २ ) ( इयम् ) यह हमारी ( मति ) मति, बुद्धि, मननशक्ति, ( हिरण्यपा ) हितकारी, मनोहर ( राया ) सम्पत्ति द्वारा, ( अष्टकाय ) हिंसक, चोरों से अतिरिक्त साधु पुरुष के ( शवसे ) बल वृद्धि करने के लिये हो । हे ( विशा ) विद्वान् पुरुषो ! यह हमारा ज्ञान ( मेघसातये ) अन्य पवित्र दीक्षित, शिष्यों को ज्ञान दान करने क लिये हो ।

( ३ ) हे देव ! वरुण ! हे ( मित्र ) सृष्टु को मेटन हारे ! (सूरिभिः) तब के ज्ञाता विद्वानों के साथ हम ( स्याम ) रह । और ( ते ) तेरे ( इय ) अन्न, ज्ञान और ( स्व घ ) सुख, आनन्द-स्वरूप को ( धीमहि ) ध्यान और धारण करें ।

[१०७०] भिन्ध विश्वा अप द्विष परि घात्रो जनी मृत ।

घसु स्पाहं तदाभर ॥ १ ॥

[१०७१] यस्य ते विश्वमानुषभूरर्द्धत्तस्य वदति ।

घसु स्पाहं तदाभर ॥ २ ॥

[१०७२] यद्वाहात्रिद्र यन् स्थिर यत्पशाने परा भृत्तम् ।

घसु स्पाहं तदाभर ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ८ । ४६ । ४०-४२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखिये अवि० स० [ १३४ ] पृ० ७२ ।

( २ ) हे इन्द्र ( त ) तेरे ( भूरे ) बहुतसे ( यस्य ) जिस ( दत्तस्य ) दिये हुए दान के विषय में ( विश्वम् ) समस्त ससार ( आनुपम् ) बराबर सदा युक्त रह कर ( वेदति ) जानता या प्राप्त करता है ( तत् ) यह ( स्वाहं ) अभिलाषा करने योग्य ( वसु ) वासयोग्य जीवनरूप उत्तम धन ( आ हर ) हम प्राप्त करा ।

( ३ ) व्याख्या देखो अविकल स० [ २०७ ] पृ० १०८ ।

३२ ३ २४ ३ २ ३ २ ३ १२ ३ १२

[ १०७३ ] यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सखी वाजपु कर्मसु ।

१ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[ १०७४ ] तोशासा रथयावाना वृत्रहृणापराजिता ।

१ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[ १०७५ ] इव वा मदिग् मध्यधुत्तन्नद्रिभिर्नर ।

१ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् । ३ ॥ १० ॥ अ० ८ । ३८ । १-३ ॥

भा०—( १ ) हे ( इन्द्राग्नी ) इन्द्र, गुणो । और अग्ने । विद्वन् । आचार्य और अध्यापक आप दोनों ( यस्य ) हम महान् अध्ययनाध्यापन ज्ञान दानरूप यज्ञ और परमशर क ( ऋत्विजा ) यथाशक्त प्रवर्तक एवं प्राण साधना द्वारा उपासना करने हार ( स्थ ) हो । और ( वाजेषु ) ज्ञान यज्ञों में और ( कर्मसु ) सब कर्मों में ( सखी ) स्नातक पारंगत हो । ( तस्य ) उस ठरू यज्ञ के विषय में आप ( बोधतम् ) हमें ज्ञान कराइये ।

( २ ) आप दोनों ( रथयावाना ) रथरूप देह या रसस्वरूप प्रभु को प्राप्त होने हारे ( वृत्रहृणा ) समस्त अज्ञान आवरण का नाश करने हार, ( अपराजिता ) कभी पराजित न होने बाल, ( तोशासा ) विद्वों के नाशक

[१०६६] ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभि सह ।  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 ३ ४ २४

इय सृश्च धीमहि ॥ ३ ॥ ८ ॥ श्र० ७ । ६६ । ७-६ ॥

भा०—( १ ) ( सूरे ) सूर्य के समान सबके प्रेरक, मुख्य आत्मा के ( उदिते ) उदय होने पर, जागृत होने पर ( मित्र ) मित्र, ( वरुण ) और वरुण, प्राण और अपान ( धां ) आप दोनों को ( रिपादस ) विघ्नो के नाशक ( अर्थमणम् ) न्यायकारी स्वामी के समान पालक जानकर ( प्रति-गृणीषे ) उन दोनों को उपदेश करता हू ।

( २ ) ( इयम् ) यह हमारी ( मति ) मति, बुद्धि, मननशक्ति, ( हिरण्यया ) हितकारी, मनोहर ( राया ) सम्पत्ति द्वारा, ( अवृकाय ) हिंसक, चारों से अतिरिक्त साधु पुरुष के ( शवसे ) बल वृद्धि करने के लिये हो । हे ( विशा ) विद्वान् पुरुषो ! यह हमारा ज्ञान ( मेघसातये ) अन्य पवित्र दीक्षित, शिष्यों को ज्ञान दान करने के लिये हो ।

( ३ ) हे देव ! वरुण ! हे ( मित्र ) सृष्टु को मेटने द्वारे ! (सूरिभि ) तब क ज्ञाता विद्वानों के साथ हम ( स्याम ) रह । और ( ते ) तेरे ( इय ) अन्न, ज्ञान और ( स्व च ) सुख, आनन्द-स्वरूप को ( धीमहि ) ध्यान और धारण करें ।

[१०७०] भिन्ध विश्वा अप द्विपः परि वाधो जधी मृध ।  
 ३ २४ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २४  
 १ २ ३ १ २ २४ २४  
 वसु स्पाहं तदा भर ॥ १ ॥

[१०७१] यस्य ते विश्वमानुषभूरदक्षस्य वेदति ।  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 १ २ ३ १ २ २४ २४  
 वसु स्पाहंन्तदा भर ॥ २ ॥

[१०७२] यद्वाहाति द्र यत् स्थिर यत्पशाने परा भृगम् ।  
 २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
 १ २ ३ १ २ २४ २४  
 वसु स्पाहं तदा भर ॥ ३ ॥ ६ ॥ श्र० ८ । ४६ । ४०-४२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखिय अवि० स० [ १३४ ] पृ० ७२ ।

( २ ) हे इन्द्र ( ते ) तेरे ( भूरे ) बहुतसे ( वस्य ) जिस ( दत्तस्य ) दिये हुए दान के विषय में ( विश्वम् ) समस्त ससार ( प्राणु पम् ) बराबर सदा युक्त रह कर ( वेदति ) जानता या प्राप्त करता है ( तस् ) वह ( स्वाहं ) अभिलाषा करन योग्य ( पशु ) वासयोग्य जीवनरूप उच्चम धन ( आ हर ) हमें प्राप्त करा ।

( ३ ) व्याख्या देखा अदिकल स० [ २०७ ] पृ० १०८ ।

[ १०७३ ] यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्त्री वाजपु कर्मसु ।

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ १ ॥

[ १०७४ ] तोशासा रथयावाना वृत्रहृणा पराजिता ।

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ २ ॥

[ १०७५ ] इद वा मदिग् मध्यधुक्तस्रिभिर्नर ।

इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् । ३॥१०॥ इ० ८। ३८। १-३ ॥

भा०—( १ ) हे ( इन्द्राग्नी ) इन्द्र, गुरा । और अग्नि विद् । प्राणु पम् और अध्यापक आप दोनों ( यज्ञस्य ) इस महात्त प्राणवत्प्राणन ज्ञान दानरूप यज्ञ और परमभर के ( अविष्ठा ) अथास्तु प्रवक्त पर ज्ञान साधना द्वारा उपासना करन इष्ट ( स्थ ) है । और ( वाजपु ) ज्ञान बडों में और ( कर्मसु ) सब कर्मों में ( सस्त्री ) दानक लगान हो । ( तस् ) उस ठरू यज्ञ के विषय में आप ( वाधनम् ) इन ज्ञान कर्तृ ।

( २ ) आप दोनों ( रथयावाना ) रथरूप इष्ट वा रथप्राण ज्ञानों प्राप्त दान हारे ( वृत्रहृणा ) समस्त अज्ञान प्राणवत् इच्छा करने इच्छे ( अपराजिता ) कभी पराजित न होन बाद, ( इच्छा ; विच्छेद इच्छा -

हैं, ( इन्द्राग्नी ) आप इन्द्र और अग्नि परमात्मा और आचार्यस्वरूप दोनों  
सुभका उस यज्ञ का ज्ञान कराइय ।

( ३ ) ( नर ) विद्वान् मनुष्य ( अदिभि ) अखण्ड ब्रह्मों से ( वां )  
आप दोनों क ( इद ) इम दर्शनीय ( मधु ) अमृत, ज्ञान का ( अमुषन् )  
प्राप्त करत हैं ( तस्य ) उसका ( वाधतम् ) हमें भी ज्ञान कराइय ।

इति तृतीयं खण्डम् ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[१०७<sup>३</sup>] इन्द्रायेन्द्रो मरुत्वन् परस्व मधुमत्तम् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ १

अर्केस्य यानिमासदम् ॥२॥

२ २ १ २ ३ २ ३ १ २

[१०७<sup>५</sup>] तन्वा विशा चन्नापिद परिष्कृत्यन्ति धर्षसिम् ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

स त्वा मृजन्त्यायत् ॥२॥

[१०७<sup>६</sup>] रस ते मित्रो अर्यमा पिबन्तु वरुण कवे ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

पवमात्स्य मरुत ॥२॥११॥ ऋ० ६ । ४४ । २२-२० ॥

भा०—(१) व्याख्या द्रष्टो अधिकृत स० [ ४७२ ] पृ० २३८ ।

(२) इ प्रभा<sup>१</sup> ( घघादिव ) वेदवाणी का तरु जन्ने द्वारे वे ( वि  
श ) मेधाकी छाग ( त ) उस स्मरणीय ( धर्षसि ) समस्त समार को  
दइ क समान धारण करन द्वार ( त्वा ) तुम्ह परम आत्मा का ( परिष्कृ-  
त्यन्ति ) माना प्रकार स चत्वनत हैं । ( र्वा ) तुम्हका ही ( आयव ) मनुष्य  
छाग ( स मृजन्ते ) याग साधनों स स्नातत्र और आत्मा को पावित्र करते हैं ।

(३) इ ( कव ) कातदशिन् विद्वन्<sup>१</sup> ( मित्र ) मृत्यु से बचाने  
द्वारा प्राण और ( वरुण ) वरुणरूप अपात और ( अर्यमा ) समार और  
( मरुत ) शेष प्राणाय भी ( पवमानस्य त ) प्रकाशित होत हुए तरे  
( रम ) पल को ( पिबन्तु ) पान करें ।

[१०७६] <sup>३ १ २</sup> मज्जमान <sup>३ १ २</sup> सुदस्त्या <sup>३ १ २</sup> समुद्रे <sup>३ १ २</sup> वाचामन्वसि ।

<sup>३ १ २</sup> रति <sup>३ १ २</sup> पिशङ्ग <sup>३ १ २</sup> बहुल <sup>३ १ २</sup> पुरस्पृह <sup>३ १ २</sup> पवमानाभ्यर्षसि ॥१॥

[१०८०] <sup>३ १ २</sup> पुनानो <sup>३ १ २</sup> धार <sup>३ १ २</sup> पवमाना <sup>३ १ २</sup> अयये <sup>३ १ २</sup> वृषा <sup>३ १ २</sup> अचिक्रद्वने ।

<sup>३ १ २</sup> देवाना <sup>३ १ २</sup> सोम <sup>३ १ २</sup> पवमान <sup>३ १ २</sup> निष्कृत <sup>३ १ २</sup> गाभरञ्जाना <sup>३ १ २</sup> अर्षसि

॥२॥१२॥ अ० ६ । १०७ । २१-२२॥

भा०—(१) व्याख्या दशा अविकल स० [११७] पृ० २५५ ।

(२) ( अयय धार ) प्राणमय या कर्ममय आवरण म स ( पुान ) पवित्र हाता हुआ ( पवमान ) व्यापक आत्मा ( वृष ) सुखा का वपक हाकर ( वन ) इस अज्ञाण या अ तरेण में मय क समान ( अचिक्रत् ) अनाहत रूप स नाद करता धार सुखा का वर्षा करता है ( ह ( साम ) प्रक ( आप ( गीर्भि ) शरिमया स ( अजान ) अभिव्यक्त हत हुए ( देवाना ) समस्त प्रकाशमान पदार्थों क ( निष्कृत ) स्थान या मूलकारण का ( अर्षसि ) प्राप्त हा । आत्मपक्ष में-वद ( गाभि ) प्राणा से ( अनातः ) प्रकट हाकर हृदियों क आधय का प्राप्त है ।

[१०८१] <sup>३ १ २</sup> एतमु <sup>३ १ २</sup> य दश <sup>३ १ २</sup> क्षिपों <sup>३ १ २</sup> मृजन्ति <sup>३ १ २</sup> सिन्धुमातरम् ।

<sup>३ १ २</sup> समादित्याभिरक्ष्यन् ॥१॥

[१०८२] <sup>३ १ २</sup> समिन्द्रणात <sup>३ १ २</sup> वायुना <sup>३ १ २</sup> सुत <sup>३ १ २</sup> पाने <sup>३ १ २</sup> पवित्र <sup>३ १ २</sup> आ ।

<sup>३ १ २</sup> स म्यभ्य <sup>३ १ २</sup> शदिमभि ॥२॥

[१०८३] <sup>३ १ २</sup> स ना <sup>३ १ २</sup> भगाय <sup>३ १ २</sup> वायव <sup>३ १ २</sup> पूष्णा <sup>३ १ २</sup> पवस्व <sup>३ १ २</sup> मधुमान् ।

<sup>३ १ २</sup> चारुमिश्रे <sup>३ १ २</sup> वरुण <sup>३ १ २</sup> च ॥३॥१३॥ अ० ६ । ११ । ७-६ ॥

भा०—(१) ( एतम् ) इत् ( उ त्थ ) ही उत्स ( सिन्धुमातर ) दक्ष्य शाल प्राणों के माता अर्थात् उत्पादक या ज्ञाता आत्मा को ( दश द्विष ) बाहर फेंक गये दस गौण प्राण, इन्द्रियों ( मृज्जित ) परिष्कृत करती हैं । वह ( आदियामि ) किरणों के समान लगी ज्ञानन्द्रियों द्वारा ( सम् अ ल्यत ) भली प्रकार देखता है । परमेश्वर के पक्ष में—उत्स ( सिन्धुमातरं ) समस्त आकाश और सागर आदिक निर्माता प्रभुको दशों दिशाएँ सुशोभित करती हैं । वह सूर्य से सबको प्रकाशित करता है ।

(२) ( इन्द्र्य ) आत्मा ( उत वायुना ) और प्राण से ( सुत ) निष्पादित हाकर वह आलन्दरस ( सूर्यस्य ) सबके प्रेरक मुख्य प्राण को ( रश्मिभि ) किरणों से ( पवित्रे ) पवित्र करने द्वार अन्त करण में ( सम् आ प्ति ) उत्तम रीति से विदित होता या प्राप्त है ।

( ३ ) ( स ) वह ( मनुमान् ) अमृत स्वरूप ( भगाय ) ऐश्वर्यवान् ( वायवे ) प्राण स्वरूप ( पूषण ) शृष्टिकारक, आत्मा के निमित्त और ( मित्रे ) प्राण और ( वरुणे च ) अपान के लिय भी ( पवसव ) प्रकट हा । परमेश्वर पक्ष में—( मित्रे वरुणे च ) सर्व खडवान् और सब दु ख वारक के रूप में प्रकट होता है ।

इति चतुर्थ खण्डः ।



[१०८४] रेवतीर्षं स उमाद इन्द्रे सन्तु तुषिमाजा ।  
 उ २ ३ ३ २ २ ३ १ २

क्षुमन्ना यामिर्मदम ॥१॥  
 २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३

[१०८५] आ घ त्प्राजा मना युक्त स्तानृभ्यो घृण्णवीयान । ।  
 ३ २ ३ २ २ २ ३

ऋणारक्ष न चक्र्या ।



१२ २२ ३ १२ २२ ३ २  
 [१०८५] आ यदुत्र शतक्रवथाकाम जरितृणाम् ।

३ २३ ३ १२ २२

ऋणोरक्षं न शचीभि ॥३॥१४॥ अ० १ । ३० । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविक्ल स० [१५३] पृ० ८६ ।

(२) हे ( ऋणोः ) शत्रुओं के या काम श्रेधादि के धर्मण धर्मोत् मान मर्दन करने हारे ( चक्रयो. ) रथ के चक्रों का ( अच न ) धुग जिस प्रकार स्वयं अपने आश्रय रहकर भा रथ को दूर देश में पहुँचाता और आप भी जाता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! ( स्वावान् ) तेरे सदृश तू ही ( एमना युक्. ) स्वयं अपने आपमें समाहित होकर ( इयान. ) इसको अभोष्टक पहुँचाता हुआ ( भा ऋणोः ) मोच तक पहुँचता और साथ ही स्वयं भी वहां प्राप्त होता है ।

(३) ( अच न ) जिस प्रकार धुरा ( शचीभिः ) अपने में लगे भ्रों द्वारा रथ को दूर देश तक पहुँचा देता है । उसी प्रकार हे शतक्रतो ! सैकड़ों प्रज्ञानों से युक्त आत्मन् ! ( जरितृणाम् ) विद्वान् ज्ञानीपदेशकों को भी ( भाकाम ) उनकी कामनाओं के अनुसार ( दुव. ) उनके मनोरथ या प्रार्थित पदार्थ ( शचीभिः ) अपनी शक्तियों से ( भा ऋणोः ) प्राप्त करा देते हो ।

सर्वांसकाम मध्येदेशी जीवनमुक्क की दशा का वर्णन है । उसके साथ ही राजा और प्रभु का वर्णन भी स्पष्ट है ।

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ ३ १ २

[१०८७] सुरूपकृतनुमृतये सुदुधामिच गां दुहे ।

२ ३ २ ३ २

जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०८८] उप नः सप्रनागहि सोमस्य सोमपा. पिब ।

३ २ ३ ३ २ ३ १ २

गोदा इद्रेवतो मदः ॥२॥

[१०८६] अथा ते अन्तमाना विद्याम सुमनीनाम् ।

मा नो अतिरूप्य आगहि ॥३॥१५॥ अ० २ । ४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखा अविबल स० [१६०] पृ० ८६ ।

( २ ) ( सामपा ) सोम अर्थात् आत्मानन्द के रस का पान करने द्वारा, समस्त आत्म पदार्थों और ज्ञानों का रसक, साम्य गुणों को धारण करने हारे विद्वानों का पालक, सूर्य के समान विद्यार्थियों का प्रकाशक, आचार्य और परमात्मा ( सोमस्य ) उत्पन्न कार्य उगत के बीच में ( स वना ) ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों और ज्ञानों का प्रकाशित करने के लिये ( न ) हमारे ( उप ) समीप ( आगहि ) आवे और ( विव ) स्वयं ज्ञान प्राप्त करके अन्तों का पान करावे । ( मोदा ) ज्ञान की आत्मा को देने वाला ( इन् ) ही ( रेवत ) इष्ट पदार्थ को प्राप्त करने वाले जीव को ( मद ) हर्षकारी होना है ।

(३) हे परमेश्वर ! ( ते ) तेरे ( अन्तमाना ) समीप में प्राप्त ( सुमनीना ) उत्तम मेधावी ज्ञानियों के पास से ( विद्याम ) हम तेरा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करें ( न , आगहि ) आवे हमें प्राप्त होइये, ( मा नो अतिरूप्य ) हमें त्याग न कानिये ।

[१०८०] उभ यदिन्द्र राक्षसी आपप्रार्थाया इव ।

महान्त त्या मधीना सम्राज चर्षणीनाम् ।

देवा जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥१॥

[१०८१] दीर्घ ह्यइकुश यथा शक्ति विभर्षि मन्तुम ।

पूर्वेण मघयन् पदा चयामजा यथा यम ।

देवा जानित्र्यजीजनद्भद्रा जानित्र्यजाजत् ॥२॥

[१०६२] अत्र स्म दुर्हणायतो मत्तस्य तनुदि स्थिरम् ।

३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अत्रस्पद तमी कृत्रि यो अस्माँ अभिदासनि ॥

३ १२ २२ ३ १२ २२

देवी जनित्र्यज जनद्रुद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥३॥१६॥

अ० १०। १२४। २, ६, २ ॥

भा०—(१) व्याख्य. देखो अचिकल स० [३७६] पृ० १६६ ।

(२) हे ( मन्तुम् ) ज्ञानवान् ' सर्वज्ञ ' ( यथा ) जिस प्रकार आपु ( दीर्घ ) दूर तक जान वाल ( भकुशम् ) ज्ञानाकुश को ( विभर्षि ) धारण करते हो उसी प्रकार ( शक्ति ) उसके प्रयोग के सामर्थ्य और उपाय को भी जानते हो । हे ( मघवन् ) पृथर्वेवन् ! ( यथा ) जिस प्रकार मैं ( यम ) इन्द्रियो और उनक समाग लोको पर वश करन द्वारा ( अज ) अजन्मा आत्मा परममात्मा ( पूवण ) पूर्व ( पदा ) ज्ञान और सामर्थ्य से ( यथा ) व्यापक प्रकृति का वश करता है और तभी ( देवी ) दिव्यगुण वाली यह प्रकृति ( जनित्री ) समस्त ससार का उत्पत्त करने वाली ( अजीजनत् ) इन ससार का उत्पत्त करती है । ( भद्रा ) कल्याण और सुख को दन करती ( जनित्री ) प्रकृति ( अजाजनत् ) इस ससार का उत्पत्त करती है । और ( भद्रा ) वह सुखदात्री ( जनित्री ) माता क समान ससार की जननी होकर भी महिमा का प्रकट करती है ।

( ३ ) हे परमेश्वर ( दुर्हणायत ) दुष्ट चोर ( मत्तस्य ) मनुष्य की, ( स्थिर ) स्थिति का ( अवननु दि स्म ) नीचा कर । ( य ) जा, ( अस्मान् ) हमें ( अभिदासनि ) गुलाम बनाना चाहता है ( तम् ईम् ) उसको ही ( अघ पद ) नीच क स्थान में ( कृषि ) करदे । ( देवी जनित्री ) उस दिव्यगुण वाली सबकी माता प्रकृति तरी महिमा को

प्रकट करती है । यह कल्पयाणकारी सब की माता होकर भी तेरी माहिमा को प्रकट करती है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

५

[१०६३] परि स्वानो गिरिष्ठा पवित्रे सोमो अक्षरत् ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

मदपु सर्वथा अग्नि ।

३ १ २ ३ ३ ३ २ ३ १ २ २ २

[१०६४] न्य विप्रस्य कविर्मधुप्रजातमन्त्रस ।

१ २ ३ १ २

मदेषु सर्वथा अग्नि ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०६५] त्व विश्व सजापसो द्वास्त पीतिमशत ।

१ २ ३ १ २

मदपु सर्वथा अग्नि ॥३॥ १७ । अ० ६ । १८ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देवो अविच्छन्न स० [४०६] १० २२६ ।

(२) हे (साम) परमारमन् ( त्व ) तू ( विश्व ) मेधावी ( कवि ) अन्त्र दर्शी है । ( अन्त्रस ) अन्त्र स ( जातम् ) उत्पन्न हुए जीवन शक्ति के रूप में प्रकट हो गये ( मधु ) अमृतस्वरूप धीरे धीरे आनन्द को ( प्र ) प्रदान कर । तू ( मदेषु ) सब आनन्दों में ( सर्वथा ) समस्त सत्ता का धारण करने वाला है ।

(४) ( त्व ) तू ( विश्वे ) समस्त ( सजापस ) समान रूप से आप को प्रेम करने वाले ( द्वास्त ) विद्वान् लोग ( पीतिम् ) आपके रसास्वादादन का आनन्द ( आशत ) प्राप्त करते हैं और ( मदेषु ) सब आनन्दों में आप ही सबका धारण करने वाले हैं ।

[१०६६] न्य सुन्वे यो वसुना यो रायामानता य इडानाम् ।

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ १ १ २ २ २

सोमा य सुद्विर्तानाम् ॥१॥

[१०६७] यस्य त इन्द्र पिवाद्यस्य मरुता यस्य धर्मिणा भग ।

आ येन मित्रावरुणा करामहे एन्द्रमवसं मह ॥२॥१८॥

श्र० ६ । १०८ । १३-१४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अदिकल स० [१८२] पृ० २६३ ।

(२) हे ( सोम ) परमेश्वर ( यस्य ) जिस ( ते ) तेरे रस को ( इन्द्र ) यह आत्मा ( पिवात् ) पान करता है ( यस्य ) जिस तेरे रस को ( मरुत ) ये दश प्राण्य और समस्त विद्वान्प्राण्य और ( यस्य वा ) जिस तेरे रस या बल को ( धर्मिणा ) धर्मिणा अर्थात् समान वायु के साथ ( भग ) उद्दान वायु और सूर्य पान करते हैं और ( येन ) जिसके बल पर ( मित्रावरुणा ) प्राण्य और भवान देवों का ( आ करामहे ) परिचालित करते हैं और ( इन्द्रम् ) जिसके बल पर विद्वानजन आत्मा को ( आ ) साक्षात् करते हैं । वह तू ( मेहे अवसे ) बढ़ी रक्षा प्राप्त करने के लिये है तू ही शान्तिप्रद समय स्वरूप है ।

[१०६८] त व सखाया नदाय पुनानमाभेगायत ।

शिशुन्नहर्त्ये स्वदयन्त गृत्तिभिः ॥१॥

[१०६९] स वत्स इव मातृभिरन्दुहिन्वानो अज्यते ।

देवायामद्रो मातृभि परिष्कृतः ॥ २ ॥

[११००] अय दक्षाय साधनाभ्य शर्धाय धीतये ।

अय देवेभ्यो मधुमत्तर सुतः ॥३॥१९॥ श्र० ६ । १०९ । १५-१६ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अदिकल स० [१६६] पृ० २८७ ।

( २ ) ( मातृभि ) दूध पिलाने वाला माताओं द्वारा ( वत्स इव ) जिस प्रकार बच्चा ( हिन्वानः ) प्रेरित और परिधिहित और पालित

१०६८—३ 'मधुमत्तमः सुतः' इति श्र० ।

पोषित होकर ( अग्यते ) प्रकट होता है । उसी प्रकार ( इन्दु- ) सोम= विद्वान् शिष्य भी ( मातृभि ) विद्वान् ज्ञानियों द्वारा बालक के समान ( हिन्वान ) शिक्षित किया गया ( अग्यते ) विद्या आदि उत्तम गुणों से प्रकट होता है । यह ( देवावी ) विद्वानों के पास जाने हारा ( मद ) सबको हर्षकारक ( मतिभि ) विशेष मननयोग्य प्रज्ञाओं या मननशील विद्वानों द्वारा ( परिष्कृत ) परिष्कृत अलंकृत होता है ।

( ३ ) ( अय ) यह ( सोम ) उत्तम गुणों से युक्त ज्ञानवान् पुरुष ( दवाय ) बलशाली कार्य को ( साधन ) साधन करने वाला और ( अय ) यह ( शर्धाय ) बल या ज्ञान के प्राप्त करने ( धीतये ) और कान्ति, दीप्ति या तज प्राप्त करने के लिये यत्नवान् हो । ( अय ) यह ( देवेभ्य ) विद्वानों के हित के लिये ( मधुमत्तर ) माधुर्य आदि गुणों से और अधिक युक्त होकर ( सुय ) उत्पन्न या दीक्षित है ।

सोम के दृष्टान्त से स्नातक का वर्णन किया है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[११०१] सोमा पयन्त इन्द्वोऽहमभ्य गातुधित्तमा ।

३ ४ ३ १ ४ ३ १ २ ५ २ ४ १ २  
नित्रा म्याना अरेपस स्वाध्य स्वायँद ॥१॥

[११०२] त पूनासो विपश्चित सोमासो दध्याशिर ।

१ ४ ३ १ ४ ३ १ २ ४ १ २ ३ २ ३ २  
सूरासो न दर्शतासा जिगत्नयो ध्रुवा घृते ॥२॥

[११०३] सु प्राणासा व्यद्विभिश्चिनाना गारत्रि त्रचि ।

१ ४ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २  
इपमसभ्यमभिन समस्वरन्वसुविद ॥३॥२०॥

पृ० १ । १०१ । १०, १२, ११ ॥

भा०—(१) म्यात्पा देरा अविच्छ स० [५४८] पृ० २०५ ।

(२) ( ते ) वे ( पूनास ) पवित्र हृदय वाले ( विपश्चितः ) मेधावी ( सोमास ) सोम्यगुण वाले विद्वान् ( घृते ) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप ब्रह्म में ( जिगानव ) उन्नति की तरफ जाने वाले ( ध्रुवा. ) स्थिर, अखण्डित, दृढ़ ( सुरास. ) आदित्यों के समान तेजस्वी, विद्वान्, आदित्य ब्रह्मचारी होकर ( दर्शतास. ) दर्शनीय, भव्य हों ।

( ३ ) ( गो ) सूर्य के समान तेजस्वी गुरु के ( अधि त्वचि ) आश्रय या संरक्षकता में ( सु स्वानास ) ज्ञानवान् होते हुए ( अद्रिमिः ) विद्वानों द्वारा ( वि चिताना. ) नाना प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हुए ( वसुविद्. ) आत्मज्ञान के जानने द्वार ( अरमभ्यम् ) हमें ( अभितः ) सब ओर से ( ह्य ) ज्ञान का ( सम्-अस्वरन् ) उपदेश करें ।

३ २ ३ १ २ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[११०४] अवा पवा पयस्यैना वसुनि माश्चत्व इन्दो सरसि प्रधन्य ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ५ १ २ ३ १ २ ३ १ २

वसुश्चिद्यस्य वातो न जूर्ति पुरुमेधाश्चिस्तक्ये नरं धात् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[११०५] उत न पना पयया पवस्राधि श्रुते श्वाय्यस्य तीर्थे ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

पहि सङ्कल नैगुनो वसुनि वृक्षं न पकं धूनवद्रणाय ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[११०६] महौम अभ्य धूपनामशूषे मांश्चत्वे वा पृशने धा वधत्र ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

अस्रापशाङ्गुत स्नेह्यत्वापामिर्त्रो अपाचितो अचेतः

॥ ३ ॥ २१ ॥ अ० १ । २७ । २२-५४ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविकल स० [२४१] पृ० २७० ।

(२) हे ( सोम ) परमेश्वर ! ( अवाट्यभ्य ) श्रवण करने योग्य उपदेश के दाता तुम्हें प्रसिद्ध जगद्गुरु क ( तीर्थे ) ज्ञानसागर से तराने वाले स्थान, या आश्रमस्वरूप ( श्रुते ) वेद में ( अधि ) और भी अधिक (पना) इस प्रकार की (पयया) पवित्र करने वाली ज्ञान धारा या धारणा से ( नः )

हमारे लिये ( पवस्व ) उपदेश करो । ( वृष न पक्व ) त्रिष प्रकार फल चाहने वाला पक्व फलों से लड़ वृष का बल से कपाता है और सहस्रों फल नीचे था टपकते हैं उसी प्रकार आप ( नैगुत् ) जो मुख से कभी न कह जात हैं एस अत्यन्त गुह्य ज्ञानों के रहस्य हैं । आप ( पाँच सहस्रा ) ६० हजार या १०६० ( वसुनि ) ज्ञान रत्नों को ( रषाय ) आत्मा के आनन्द प्राप्ति के लिये ( धूनवन् ) हमें प्राप्त कराओ ।

( ३ ) ( अरय ) इस आत्मा के ( इम ) ये ( वृष नाम ) सुखों का चर्षण और उदत्तों का नमन य दानों काम ( मधी ) षड भारी ( शूषे ) सुखकारी मन के एकमात्र गतिस्थान हृदय में होते हैं । ह साधक ( वा ) और ( पुरान ) स्पर्शन करने वाल ( बधप्र ) हिंसा या पीड़ा से बचाने वाल आश्रय त्रिगुण्ड्रिय में ( त्रिगुत् ) शूषे हुए निगूढ काम और शोध आदि शत्रुओं को ( अस्वापयत् ) सुखाता हुआ ( स्नेहयत् ) और उन का नारा करता हुआ तू ( अभिप्रान् ) उन शत्रुओं और ( अचित्त अय ) ज्ञान रहितों का दूर कर और ( अचत ) चतना रहित उड़ पदार्थों मूषों, हृदयहीनों का भी ( अय ) दूर कर ।

इति षड सण्ड



२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ० २ १ १ २ ३ ४ २  
[११०७] अग्ने त्व नो अन्तम उन ज्ञाता शिवा भुग वरूध्य ॥१॥

१ २ ३ २ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[११०८] यमुरगिनयसुभगा अञ्छा नाक्षि शुमस्तमा रयि दा ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[११०९] ते त्वा शशिष्ट द्वादिप सुग्नाय नूनभीमह सतिभ्य ।  
॥३॥ २२ ॥ अ० ५ । २४ । १, २, ४ ॥

भा०—(१) श्यात्या दक्षा अविक्ल स० [४४८] पृ० २२६ ।

(२) ( यमु ) सपमें वास करने हारा ( यमुधवा ) ज्ञान का अवमू करने वाला ज्ञाघन ( अग्नि ) ज्ञानवन् ( शुमस्तम ) अति अधिक



तेजस्वी, आमा ( नधि ) हृदय में व्यापक है । वह तू हमें ( रधि ) समस्त जीवन रूप धन का ( दा ) दान कर ।

(३) हे ( शाचिष्ठ ) काति और तेज से युक्त 'ह ( दीदिव ) दीप्ति मान् अग्न ' प्रभा इम ( सुम्नाय ) सुख क क्षिय और ( मखिभ्य ) अपन समान एषाति वाल अपन मित्रों और बन्धुओं क क्षिय ( नून ) अवश्य ( इमह ) आप स वाचना करत हैं ।

[१११०] इमा नु क भुजना सीपधमेन्द्रश्च विश्वे च देवा ॥३॥  
<sup>३ २४ ३ १ २</sup> <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> <sup>३ २</sup>

[११११] यद्वा च नस्तन्यच प्रजा चादित्यौरन्द्र सह सीपधातु ॥ २  
<sup>३</sup> <sup>२४ ३ १ २</sup> <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup>

[१११२] आदित्यैरिन्द्रः सगणो महद्भिरस्मभ्य भेषजा करत्  
 ॥ ३ ॥ २३ ॥ अ० १० । १५७ । १, २ ३ ।

भा०—(१) व्याख्या दक्षा अविकल स० [४२२] पृ० २२७ ।

(२) ( न ) हमारे ( यजुम् ) आ मा का ( तन्य च ) और शरीर को ( प्रजा च ) और प्रजा सन्तति का ( इन्द्र ) परमात्मा ( आदित्यै ) द्वादश मासों, या आदित्य स्वरूप विद्वानों और प्राणों क ( सह ) साथ ( सापधातु ) रचा कर ।

(३) ( इन्द्र ) आत्मा ( महद्भि ) प्राणों और ( आदित्यै ) ज्ञानदियों द्वारा या वायुओं और अतुओं क द्वारा सूर्य क समान (सगण ) अपना अन्य सहायक शक्तियों सहित ( अस्मभ्य ) हमारे क्षिय ( भेषजा ) आरोग्यकारक उपाय ( करत् ) करें ।

[१११३-१४] प्रयोर्चोप ॥२४॥  
<sup>१</sup> <sup>२४</sup>

भा०—( १ ) ( य ) आप ज्ञान ( प्र ) परमेश्वर की उत्तम रूप से,

( २ ) ( यच ) स्तुति करा,

( ३ ) और ( उप ) उपासना करो ।

[ सायणाचार्य ने इस मन्त्र को एक ऋचा मान कर व्याख्या की है । माघव ने अपने विवरण में इस मन्त्रों को तीन मन्त्रों की एक सङ्घित प्रतीक माना है जो क्रम से 'प्र ष इन्द्राय०' 'अर्चमयकं०' 'उप प्र च मधुम०' इन मन्त्रों के भाष्य अणुओं से बनी है । इन तीनों मन्त्रों की क्रम से व्याख्या देखिये अथर्वकल स० [ ४४६, ४४५, ४४४ ] पृ० २२१, २२४ तदनुसार इनको यहाँ सङ्घेप से रह्य देने का प्रयोजन 'उदंशपुत्र' नामक ऊहान्त की दशाना मात्र है ।

इति सप्तम खण्डः ।

इति प्रथमोऽध्यायः प्रपाठकः ।

इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

### अथाष्टमोऽध्यायः

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य ( द्वितीयोऽर्थः )

अपि — १ वृग्वो वामि० । २ असित कारयपो देवलो वा । ११ भृशु-  
वांशनिर्ममदग्निः । ८ भरद्वाजो वाहस्पत्यः । ४ यजन आत्रेयः । ५ मधुच्छन्दो  
वैशामित्रः । ७ मित्रा निवावरी । ८ पुरइन्द्र्या । ९ पर्वतानारदौ शिखण्डिन्यौ  
कादम्प्यावप्सरसौ । १० अन्नवो विष्णवाः । २२ वरसः काश्वः । नृमेष । १४  
अत्रिः ॥ देवता—१, २, ७, ९, १० परमान सोमः । ४ मित्रावरणी । ५, ८,  
१३, १४ इन्द्रः । ६ इन्द्राग्नी । १२ अग्निः ॥ छन्दः—१, ३ त्रिष्टुप् । २,  
४, ६, ९, ११, १२ गायत्री । ७ अग्नी । ८ प्रागाय । ९ उष्णिक् । १०  
द्विपदा विराट् । १३ कतुप्, पुर उष्णिक् । १४ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१—३  
पैवठः । २, ४, ५, ६, १२ षड्जः । ७ निषादः । १० मध्यमः । ११ श्रवभः ।

१४ गान्धारः ॥

- १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 [१११६] प्रकाश्यमुशनेव वृषाणो देवो देवाना जनिमाविवक्ति ।  
 १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 महिमत शुचिवन्धु पात्रक पदा धराक्षो अभ्येति रंभन् ॥१॥  
 २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
- [१११७] ग्रहंसासस्तूपलायन्मुमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः ।  
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 अङ्गोपिणं पवमानं सखायो दुर्मर्षघाणप्रचदन्ति साकम् ॥२॥  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
- [१११८] स योजत उरुगायस्य जूर्ति वृथा क्रीडन्तं मिमते न गावः ।  
 ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 परीणसं कृणुते तिग्मशृंगो दिवा हरिर्दृष्टे नक्तमृजः ॥३॥  
 अ० ६। ६०। ७-६॥
- २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १  
 [१११९] प्र स्वानासो रथा इवावन्तो न धवस्यथ ।  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 सोमासो राये अक्रमुः ॥ ४ ॥
- [११२०] विन्वानासो रथा इव दधान्वरे गभस्तयोः ।  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 भरासः कारिणामिष ॥ ५ ॥
- [११२१] राजानो न प्रशस्तिभिः सोमासो गोभिरङ्गने ।  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 यज्ञा न सप्त धातुभिः ॥ ६ ॥
- [११२२] परिस्वानास इन्दवो मद्राय वर्हणा गिरा ।  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 मधो अपेन्ति धारया ॥ ७ ॥
- [११२३] आपानासो विवस्वतो जिन्वन्ति उपसो भगम् ।  
 २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 सूर्य अण्वं वितन्वने ॥ ८ ॥

१११७—'वृषल मन्त्रु', 'मागूष्य पवमान', 'दुर्मर्ष साकं प्रचदन्ति वाण' ।

१११८—'सहस्र उरुगायस्य' इति अ० । ११२३—'जन्तु वपसो भग' ।

- [११२४] अप द्वारा मतीना प्रतना ऋषन्ति कारय ।  
 २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 २ ३ १ २ ३ १ २  
 वृष्णा हरस आयव ॥ ९ ॥
- [११२५] समीचीनास आशन दाता न सत जानय ।  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 ३ १ २ ३ १ २  
 पदमकस्य विप्रत ॥ १० ॥
- [११२६] नाभा नाभि न आदद चक्षुषा मूर्ध्नि दग्ने ।  
 २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 ३ १ २ ३ १ २  
 कारपत्यमादुहे ॥ ११ ॥
- [११२७] अभि प्रिय दिवस्पदमध्वर्युभिर्गुहा हितम् ।  
 ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 १ २ ३ १ २  
 सुर पश्यति चक्षसा ॥ १२ ॥ १ ॥ अ० ६ । १० । १-६॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अदिकल स० [१२४] पृ० ४८७ ।

( २ ) ( इसास ) नीर छीर का विवेक करने हार हसों क समान सत्यासत्य का विवेक करने हार परमहस योगी लोग ( वृषला<sup>१</sup> ) सत्व, रजस् और तमस् तीनों को पार करक जाने हारे, या काम क्रोधघादि का प्रहार करने हारे, उन पर घसी, ( घग्नुम् ) रमणीय भनाहन नाद को ( अच्छ ) लक्ष्य करके ( वृषगणा ) उत्तम, धर्ममेघ समाधि के साधक योगिजन ( अमात्<sup>२</sup> ) अम्पक बल या ज्ञान से ( अस्त ) शरण-योग्य आत्मा को ( प्र अपासु ) प्राप्त होते हैं । ( सत्याय ) वे समान आत्मा नाम बाल, या परम प्रभु के प्यारे ( साक ) एक साथ ( पवमान ) व्यापक ( दुर्मर्ष<sup>३</sup> ) न सहन करने योग्य, असह्य तेज से युक्त ( अगाधिण<sup>३</sup> ) इस दह में

११२५—'भासते होतार' 'सत जायय' ।

११२६—'चक्षुषिरूर्ध्वं सत्वा' । ११२७—'अभिप्रिया दिवस्प' इति अ० ।

१ वृषल क्षिप्रघदारी, सुप्रघदारी सोमो वा इन्द्रो वा (निर० ५।२।७)

२ अमा पुनर्निर्मित भवति (निर० ५।१।८)

३ अ वा दाहे दीप्तौ च । दीप्त सोम इति (मा० वि०)

वसने हारे, कान्तिस्वरूप या स्तुति करने योग्य ( वाच्यं ) भोग्रा आत्मा को ( प्र वदन्ति ) उपदेश करते हैं ।

( ३ ) ( स ) वह योगी ( उरुगायत्र्य ) विशाल गुणों वाले, स्तुतियों से सम्पन्न परमात्मा को ( जूर्ति ) ज्योति या प्रेरणा को ( योजते ) समाधि द्वारा साक्षात् करता है । ( गात्र ) अन्य इन्द्रियगण या अन्य लोग ( वृथा ) अनायास ( श्रीदन्त ) नाना प्रकार से जगत् सर्जन प्रलय आदि लीला करते हुए उस परमात्मा को ( न ) नहीं ( मिमते ) ज्ञान करते । ( सः हरिः ) वह सब दुःखों को हरण करने वाला हरि ( तिग्मशृंगः ) तीक्ष्ण तेज से युक्त होकर आदित्य के समान ( परीणसं ) नाना प्रकार का तेज प्रकट करता है, और वह ( अन्नः ) विस्पष्ट प्रकाश से युक्त अजु मार्ग पर चलने द्वारा, धार्मिक, होकर ( दिवा नक्तं ) रात दिन ( दृशे ) प्रकाशित होता है ।

इसमें सूर्य और स्वराट् योगी का वर्णन है । जिसके मुख पर दिन रात तेज का मण्डल दीखने लगता है ।

( ४ ) ( स्वानासः ) विशुद्ध रूप में प्रकट होने वाले ( सोमासः ) ज्ञानी लोग ( रथा इव ) घेगवान् रथों के समान और ( अर्वन्तः न ) अर्धों के समान ( धवस्यवः ) अन्न, ज्ञान और परम ऐश्वर्य की कामना करने हारं ( राप ) अन्न साक्षात्कार या परमानन्द प्राप्ति के लिये ( अक्रमुः ) और आगे कदम रखते हैं ।

( ५ ) वे ( रथा इव ) रथों के समान प्रबल घेगवान् होकर और ( कारिणाम् ) योद्धाओं के ( भरासः ) संप्राम या यशकर्ताओं के कर्ताओं के समान ( दिन्वानासः ) आगे बढ़ते हुए । ( गभसयोः ) प्राण और अपान दोनों की साधनाओं द्वारा ( दधान्विरे ) साधना करते हैं ।

( ६ ) ( प्रशस्तिभिः ) उतम कीर्तियों, स्तुतियों से ( राजानः न ) राजाओं के समान और ( ससधातृभिः ) सात ज्ञान धारण

याज्ञिक आश्रितियों द्वारा या सात मुख्य प्राणों द्वारा आत्मा के समान ( गोभि ) प्रकाश की किरणों द्वारा ( अञ्जते ) आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं ।

( ७ ) ( इन्द्रव ) ज्ञान सम्पन्न योगिजन ( स्वानास ) महारस का सम्पादन करते हुए, ( बर्हया ) यदी महारूप ( गिरा ) वेदवाणी द्वारा ( मघो ) अमृत रस या आत्मानन्द की ( धारया ) धारक शक्ति से युक्त होकर ( मदाय ) ब्रह्मानन्द प्राप्ति के लिये ( परि अर्पन्ति ) और भागे बढ़ते हैं । [ देखो अवि० सं० ४८२ । पृ० २४२ ]

( ८ ) ( अय नास ) अपान को वश करने द्वारे योगिजन ( विवस्वत ) विद्युत् रूप से देह में निवास करने द्वारे आत्मा क ( उपस ) पापदाहक, तमोनाशक तज क ( भगम् ऐश्वर्य ) को ( जिन्वन्ति ) प्राप्त करते हैं । वे ( सुरा ) सूर्य के समान आदित्य योगी उस ( अएव ) अति सूक्ष्म आत्म-तत्व को ( वितन्वते ) विशेषरूप से साक्षात् करते हैं ।

( ९ ) ( प्राणा. ) पुरातन, उत्कृष्ट अभ्यासी ( कारव. ) योगिक्रिया के करने द्वारे ( वृष्ण ) वर्षणशील, सुखवर्षक आत्मा के ( हरस. ) स्वरूप का प्राप्त होने वाला ( भायव. ) उस तक पहुँचे हुए जन ( मतीनां ) मनन शक्तियों के ( द्वारा ) द्वारों को ( अय अस्वन्ति ) साक्ष्य दाढ़ते हैं ।

( १० ) जिस प्रकार यज्ञ में एक यज्ञमान का कार्य सम्पादन करने के लिये सात होता जोग बैठते हैं उसी प्रकार ( समीचीनास ) उत्तमरूप से गति या ज्ञान सम्पादन करने द्वारे, शान्तस्वरूप, सोमस्वरूप ( सप्त ) सात, या प्रसर्पणशील, प्राण्य ( होतार ) आत्मा का अनुसन्धान करनेद्वारे ( जानय ) ज्ञानोत्पादक इन्द्रियगण्य और विद्वान्जन ( एकसा ) एक ही आत्मा के ( पद ) स्थान, स्वरूप, ज्ञान या सामर्थ्य को ( विपत ) पूर्ण करते हुए ( आरात ) विराजते हैं, आनन्द का भोग करते हैं ।

( ११ ) ( नाभि ) सबको केन्द्ररूप होकर बाधने द्वारे आत्मा को ( न ) हम ( नाभा ) अपने शरीर के केन्द्र, या मुख्य बन्धनस्थान अपने मन में ( आदरे ) धारण करें जिससे ( चक्षुषा ) ज्ञान चक्षु से हम ( सूर्य ) सर्वत्रेरक प्रकाशक आदित्यरूप परमात्मा का ( दृष्टे ) दर्शन करें । ( कवे ) क्रान्तदर्शी मेधावी के ( अपत्यं ) अविनाशी, अपने आश्रित को नीचे न गिरने देने वाला मुख स्वरूप परमात्मा के ( आदुहे ) आनन्द रस का ग्रहण करें ।

अपत्यं कस्मादपत्यं भवति, न अनेन पत्यति इति (निरु० इ० १। १। १)

( १२ ) ( मूर ) सूर्य क समान आदित्य योगी, उत्तम योगबल से सम्पन्न होकर ( चक्षसा ) दिव्य चक्षु द्वारा ( अभिप्रेषं ) अत्यन्त मनोहर ( अध्वयुभि ) जीवन यज्ञ के सम्पादक, इन्द्रियों के सूक्ष्म सामर्थ्यों सहित ( गुहा हितम् ) हृदयाकाश रूप गुहा, या गुहारूप परमात्मा क भीतर ( दिव ) दीप्त तेजस्वरूप आत्मा के ( पद ) स्वरूप को ( परयति ) देखता है ।

दिवस्पद तस्यात्मन पदम् ( सा० ) ।

इति प्रथम मण्ड ।

[११२८] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अस्तुप्रमिन्द्र्यः पथाध्वभेष्टृतस्य सुधिय ।

<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> त्रिदाना अस्य योजना ॥ १ ॥

[११२६] <sup>२ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २</sup> प्र धारा मथा अध्रियो मदीर्या निगाहते ।

<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> हविर्हवि पु वन्द्य ॥ २ ॥

[११३०] <sup>१ ३ २ ३ २ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २</sup> प्र गुजा वाचा अध्रिया वृषा अचिक्रद्वन ।

<sup>२ ३ २ ३ १ २ ३ २</sup> सन्नामिसत्या अध्वर ॥ ३ ॥

- २ ३ १२ २२ ३ २३ १ २ ३ १२ २२  
 [११३१] परि यत्कान्या वज्रिर्गुम्णा पुनागे अर्पति ।  
 १२ ३ १ २  
 स्वर्वाजी मियामति ॥ ४ ॥  
 १ २ ३ २४ ३ २ ३ १ २  
 [११३२] पउमानो अमिष्पृत्रो विशा राजेष सीदति ।  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 यदीनृश्रन्ति येऽस ॥ ५ ॥  
 १ ३ २ ४ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [११३३] अया वारे परि त्रियां हरिजनेषु सीदति ।  
 ३ १ २ ३ २  
 रेभो वनुष्यते मती ॥ ६ ॥  
 २ ३ १२ २४ ३ १ २ ३ १२ २२  
 [११३४] स वायुमिन्द्रमभिवना साक मर्देन गच्छति ।  
 २ ३ १ २ ३ १ २  
 रणा यो अस्य धर्मिणा ॥ ७ ॥  
 १ ३ १२ २२ ३ २ ० १ २ ३ १ ३  
 [११३५] आ मित्र वरुण भगे मधो पउन्त ऊमय ।  
 ३ १ २ ३ १ २  
 विदाना अस्य शकमभि ॥ ८ ॥  
 ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २  
 [११३६] अम्मभ्य रोदसी रवि मभ्यो वाजम्य सानये ।  
 १ ३ १ २ ३ १ २  
 धर्षो ववृनि सञ्जितम् ॥ ९ ॥  
 १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [११३७] आ ते दक्ष मयोभुः यद्विमया वृणोमहे ।  
 २ ३ १ २ ३ १ २  
 पान्तमा पुदम्पृदम् ॥ १० ॥  
 २ ३ १२ २२ ३ २ ४ ३ १ २ ३ १ २  
 [११३८] आमन्द्रमाशरहयमाविश्रमा मर्तापिणम् ।  
 १ ३ १ २ ३ १ २  
 पान्तमा पुदम्पृदम् ॥ ११ ॥

११३१—'वृणा वसाना' । ११३३—'मया वार' ।

११३४—'मस्य धर्म' । ११३६—'मानिवा वरुण भग' इति श्रु० ।



[११३६] आ रथिमा सुचतुनमा सुक्रनो तनूपा ।

पान्तमा पुष्टस्पृहम् ॥ १२ ॥ २ ॥

आशा नव अ० ६ ७ । १-६ । शान्तिस्त अ० ६ । ६५ । १५-६० ॥

भा०—( १ ) ( इ दव ) आत्मसम्पत्ति स सम्पन्न शमादि गुणयुक्त यागीजन, ( ष्टतस्य ) स यज्ञान क ( धर्मन् ) धारण्य करन हार परमात्मा क स्वरूप में ( सुप्रिय , उत्तम रूप स आश्रय प्राप्त करने वाल ( पथा ) सत्य ज्ञान क मार्ग से ( अत्य ) इस ज्ञाना क ( याजना ) याग-समाधि द्वारा मिलापों क ध्यान-दों का ( विद्वाना ) लाभ करत हुए ( असृग्म् ) कृतकृत्य होजात है ।

( २ ) ( इविपु ) समस्त अभिलाषा योग्य, या इष्टदव को समर्पण करने योग्य पदार्थों में भी उत्तम ( इवि ) स्वीकार करन और धरने योग्य पदार्थ आमा ही ( व-य ) स्तुतियोग्य है । यह ( मही ) बड़ ( अय ) ध्यान धारणाओं, और कर्मों और प्रज्ञाओं को समुदों क समान ( विद्या हते ) पार कर जाता है और ( मधो ) असृत् की ( अप्रियः ) भागे प्रकट हान हारी, मुख्य, उत्तम ( धारा ) शक्तियों को ( प्र ) प्राप्त करता है ।

( ३ ) ( अप्रिय ) मुख्य या प्रबल ( शृपा उ ) सुखों का वर्षक आत्मा ही ( प्रयुजा ) प्रसाग करन योग्य ( वाच ) वाचियों का ( वन ) भजन करन योग्य ब्रह्म में ( अधिकृद् ) उच्चारण करता है । वह यागी आमा ( स यः ) स याचरण करन हारा, सज्जनों में श्रेष्ठ, ( अश्वर ) किष्ठी की हिंसा न करन हारा ( सद्य ) अपन आश्रयस्वरूप, परम शरण्य परमेश्वर का ( अनि ) प्राप्त हाता और साक्षात् करता है ।

( ४ ) ( यत् ) जब ( कवि ) मेधावी, ज्ञानवान् ( नृगणनि ) मनुष्यों के मनःशाल साधन, चित्त का ( पुनान ) शुद्ध पवित्र करता हुआ ( काष्ठा ) उत्तम वेदवाचियों का ( परि अर्पति ) ज्ञान प्राप्त करता है

तथ वह ( वाजी ) ज्ञानज्ञान् होकर ( स्व ) परमसुख मोक्षरूप आनन्द को ( सिपासति ) सेवन करता है ।

( २ ) ( यद् ) जब ( ईम् ) इस आत्मा को ( वेधस ) योगसाधक ज्ञानी लाग ( ष्यवन्ति ) प्राप्त करते हैं तब ( पवमान ) देदीप्यमान, आत्मा ( अभिसृष्ट ) स्पर्धा करने हारे, विप्रकारी, बाधक कारणों या व्युत्थान लक्ष्यों का दूर करक ( विश राज इव ) प्रजाओं पर राजा क समान ( सादति ) प्रबल होकर बैठता है ।

( ६ ) ( हरि ) दु श्लों के विनाशक आत्मा ( प्रिय ) अत्यन्त प्यारा होकर ( वनपु ) देहों में ( अन्व्या वारे ) धितिशक्तिरूप शक्ति क आवरण कारी, या धरण वाग्य त्रिपुटी आदि स्थान में ( परिस्तीदति ) विराचता है । और ( रेभ ) अप्रतिहत नाद करन हारा, या स्तुतिशील ( मती ) मनन शक्ति द्वारा ( वनुष्यत ) प्राप्त किया जाता है ।

वनुष्यतिर्हन्तिकमोऽनवगतसस्कारा भवति ( निरु० २ । १ । २ )

( ७ ) ( य ) जो ( अस्य ) इस साम क ( धर्मणा ) धारणवाग्य गुण या धारणा बल स ( रया ) रमण करता है, ( स ) वह आ मज्ञानी ( वायुम् ) प्राणवायु ( हृदम् ) आत्मा और ( अभिगौ ) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दानों को ( मदन ) आनन्द और हर्ष क साथ ( गच्छति ) वश कर लेता है ।

( ८ ) ( मधो ) हर्षकारक आनन्दरूप सामरस की ( ऊर्मय ) ऊर्ध्वगति या तरंगों ( मित्र ) प्राण और ( वरुण ) अपान ( भग ) और समान में ( पवन्त ) गति करती हैं । और साधकजन ( अस्य ) इस आत्मा की ( शक्-मभि ) शक्तियों द्वारा ( सन्विदाना ) उत्तम रीति स ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं ।

( ९ ) हे ( रादसी ) सूर्य और पृथिवी, प्राण और अपान तुम दानों ( स्रमभ्य ) हमें ( धानस्य ) ज्ञान और ( मघ ) आनन्दस्वरूप ब्रह्म की ( सावये )

शास्त्रि के लिये ( रयि ) प्राय सामर्थ्य, बल, ( धव- ) उपदेश, ( वसुनि ) जीवनोपयोगी पदार्थों पर ( सं जितं ) यश करावे ।

( १० ) हे सोम ! ( वयं ) हम लोग ( अथ ) आज ( मघोभुवं ) शान्ति को उत्पन्न करने हारे, ( वरिद्धि ) शत्रुियों के वधन करने हारे, ( पान्तं ) हमारे पालक, ( पुरुषपृह ) सब के कामना के योग्य, ( तं दृष्टं ) तेरे बल को ( आशुणीमहे ) उत्तम समझ कर प्राप्त करते हैं । अवि० [ ४६८ ]

( ११ ) हे ( सोम ) सर्वोत्पादक ! ( वरेण्यम् ) वर्य करने योग्य, सर्वोत्तम, ( विप्र ) मेधावी और ( मनीषिणं ) सबके हृदयों के मोखा करने हारे ( पान्तं ) सब के पालक ( पुरुषपृहम् ) सब के प्रेमपात्र आपको हम ( धा ) साक्षात् करते हैं ।

( १२ ) हे ( सुकृता ) उत्तम कर्म और ज्ञान से युक्त ! प्रज्ञा से सम्पन्न ! हे ( साम ) सब के प्रेरक ! ( रयिम् ) रयिस्वरूप ( सुधेनुतम् ) उत्तम ज्ञाता ( तनूयु धा ) हमारे दहों में भी व्याप्त ( पान्तं ) रचक ( पुरुषपृहम् ) प्रज्ञा के प्रेमपात्र और सबके स्नेही आपको ( धा ) वर्य करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[ ११४० ] मूर्ध्नि दिवो अरति पृथिव्या धैभ्यानरमृत आ जातमाग्रम् ।

कवि संघ्राजमतिवि जगानामावशः पात्र जनयन्त देवाः ॥१॥

[ ११४१ ] त्वा विभ्ये अमृत जयमानं शशुं न देवा अभि सं नयन्ते ।

तव कतुभिरमृतयमायन् धैभ्यानर यन्वित्रो दीदः ॥२॥

[ ११४२ ] नाभि यज्ञाना सदनं रयीणा महामादायमभि सं नयन्त ।

धैभ्यानर रथमश्रवाणां यज्ञस्य कतु जनयन्त देवाः ॥३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [६०] पृ० ३४ ।

( २ ) हे ( अमृत ) मरणहित अमृतस्वरूप ! हे ( अग्ने ) ज्ञानरव रूप परमात्मन् ! आत्मन् ! ( शिशु न ) लग बालक के प्रति जिस प्रकार प्रेम से आकृष्ट होकर उसको यार २ देखने की इच्छा से उस पर मुकते और प्रेम प्रकाश करते हैं ( विश्वे देवाः ) समस्त दिग्भ्यगुणयुक्त सूर्य, चन्द्र, वायु आदि पदार्थ और विद्वान् गण उसी प्रकार ( शिशु ) सर्वत्र गुप्त रूप से व्यापक ( जायमान ) अपने सामर्थ्य से सर्वत्र प्रकट होने द्वारे आपको ( अग्नि संनवन्ते ) साक्षात् कर स्तुति करते हैं । हे ( वैश्वानर ) समस्त मनुष्यों के हृद्यों में व्यापक ! वे विद्वान् योगी लोग ( तव ) आपके ही ( ऋग्भिः ) उपदिष्ट कर्मों और ज्ञानों द्वारा ( अमृतत्वम् आपन् ) अमृतत्व या मोक्षपद को प्राप्त करते हैं । और आपका रसरूप तेज (विश्वो) मात पिता के बीच में पुत्र के समान ही दह क पात्रक प्राण और अपान के मध्य सुषुम्ना नाडी में ( अग्निम् ) प्रकाशित होता है ।

( ३ ) ( यज्ञानां ) देवपूजा, सामग, मैत्री और समस्त दान पुण्य आदि परोपकार क कार्यों के ( नाभिं ) एकमात्र आधर, केन्द्र ( रयीणा सदन ) समस्त ऐश्वर्यों और धर्म-सामर्थ्यों के भण्डार ( महां ) यह भारी ( आदाव ) मृत्वा का शाक्त करन क निमित्त सब का अपने प्रति बुझाने वाले जलारण्य के समान जीवनाधार रस क समुद्र, आपको ( देवा ) विद्वान् लोग ( अग्नि म नवन्त ) साक्षात् स्तुति करते हैं । और उनका ( अश्वराणां ) समस्त हिमा रहित पवित्र कार्यों के ( रथम् ) महारथी के समान बहन करनेहार ( वैश्वानर ) समस्त हृद्यों में व्यापक, सबके नेता और ( यज्ञस्य ) आत्मा का ( केतुं ) शापक ( जनयन्त ) बतलाते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २  
[१.१४३] प्र शो मित्राय गायत यत्प्राय विषा गिरा ।

१ २ ३ २ ३ २  
मदि सत्रायुते मृदत् ॥१॥

उ २ उ २ उ १ २      उ २ उ १ २ २ २  
[११४४] सम्राजा या घृतयोनी मिश्रधोभा वरुणश्च ।

उ २ उ १ २      उ २  
देवा देवेषु प्रशस्ता ॥२॥

१ २      उ १ २      उ १ उ १ उ १ १  
[११४५] ता नः शक्तं पार्विवस्य महा रायो दिव्यस्य ।

१ २      उ १ उ १ २  
महि वां क्षत्रं देवेषु ॥३॥४॥ अ० ५ । ६ । १-३ ॥

भा०—( १ ) ( व ) भाव लोग ( मिश्राव ) जीवन को स्नेह करने हारे प्राण और ( वरुणाय ) दोषों का धारण करने वाले अपान को पा विज्ञान और उपदेशक को ( विपा ) ज्ञानयुक्त, मन से प्रेरित, सार्थक ( गिरा ) वाणी से ( प्र गावत ) स्तुति करो । हे मिश्र और वरुण, ( महि-पत्रा ) बड़े बलशाली भाव दोनों ( वृहत् ) बड़े भारी ( अन्नं ) सत्य आत्म-ज्ञान को प्रकाश करते हो ।

( २ ) ( वा ) जो (मिश्र च वरुण च) मिश्र और वरुण प्राण और अपान हैं वे (उभा) दोनों ( घृतयोनी ) कान्ति, प्रकाश और तेज के उत्पत्ति-स्थान और ( सम्राजा ) स्वयं उत्तम रीति से प्रकाश देनेहारे ( देवेषु ) दिव्य पदार्थों, विद्वानों और इन्द्रियगण में ( प्रशस्ता ) प्रशंसा योग्य ( देवा ) सुख के दाता हैं ।

( ३ ) ( ता ) वे दोनों ( नः ) हमारे लिये ( पार्विवस्य ) पृथिवी और ( दिव्यस्य ) आकाश से होने वाले ( महः ) बड़े भारी ( रायः ) ऐश्वर्य सामर्थ्य को ( शक्तं ) भोगने और धारण करने में समर्थ हैं । ( देवेषु ) समस्त दिव्य पदार्थों और विद्वानों में ( वां ) भाव दोनों का भी ( महि पत्रं ) बड़ा भारी बल है ।

१ २      १ २      उ २ उ २      उ १ २  
[११४६] इन्द्रा यादि विप्रभानो मुना इमे त्याययः ।

१ २ उ १ २ उ १ २  
अर्थाभिस्तना पूनासः ॥१॥

११ १२ ३ २ ३ ११ १२ ३ १ २  
 [११४७] इन्द्रायाहि धियेपितो विप्रजूतः सुतापतः ।

२ ३ १ २ ३ १ २

उप प्रह्लाणि वाघत ॥ २ ॥

२२ २१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[११४८] इन्द्रायाहि नू तुजान उप प्रह्लाणि हरियः ।

३ १ २ ३ १ २

सुते दधिप्य नश्चन. प्र३७५॥ श० २ । ३ । ४-६ ।

भा०—हे ( इन्द्र ) परमात्मन् ! हे ( विश्रमानो ) आश्चर्यकारक ज्ञानों और प्रकाशों से सम्पन्न ! ( आयाहि ) हमें नू प्राप्त हो । ( इमे ) ये समस्त ( मुना. ) संसार के पदार्थ ( स्वायव. ) सेरे आश्रय पर हैं और ( आयवीभि. ) कारणस्वरूप, सूक्ष्म प्रकाशावयवों द्वारा ( तना ) विस्तृत विरचिन और ( पूनासः ) पवित्र होने से ग्रहण करने योग्य हैं । अथवा ( आयवीभि पूनासः ) योगसाधनाओं से पवित्र ( मुनाः ) ये पृथक्पृथक् योगीजन ( स्वायव. ) तेरी कामना करते हैं, तुम्हें चाहते हैं, नू इन्हें प्राप्त हो ।

( २ ) हे ( इन्द्र ) परमात्मन् ! ( धिया ) बुद्धि वा उत्तम कर्म द्वारा ( इपिनः ) प्राप्त करने योग्य ( विदजूत. ) विद्वानों से जाना गया, ( मुना-वन ) ज्ञान से सम्पन्न ( वाघत. ) पदार्थों को जानने वाले विद्वान् मन्त्रियों के ( प्रह्लाणि ) वेद मन्त्रों द्वारा की स्तुतियों को नू (उप आयाहि) प्राप्त हो ।

( ३ ) हे ( इन्द्र ) विद्वन् वा प्राणवायो ! ( हरियः ) हरणशील अथवा इन्द्रियों के स्वामिन् ! ( नू तुजान. ) वेदवाच्य वाच्य ( मुने ) उपासक जगत् में स्वायव ( प्रह्लाणि ) वेद मन्त्रों की स्तुतियों वा उस के ज्ञाता विद्वानों को ( आयाहि ) प्राप्त करने हैं और ( न. ) हमारे ( घनः ) स्तुतियों को स्वीकार करो ।



[११५२] प्रो अयासीदिन्द्रुरिन्द्रस्य निष्कृत सया सत्युर्न प्रमिनाति  
 सङ्गिरम् । मयं इव युयतिभेः समर्पति साम कलशे  
 शनयामना पया ॥१॥

[११५३] प्र यो वियो मन्द्रयुयो विपन्युयो मनन्युय सवरणेप-  
 क्रमु । हरि श्रीदन्तमभ्यनूपत स्तुभो भि धेनव पयसे  
 दशिधयु ॥२॥

[११५४] आ न सोम सयत विपुयीमिवमिन्द्रो पयस्य पयमान  
 ऊमिया । या नो दादन्त त्रिरद्वसस्युयी जुमद्वाजयन्म-  
 धुमसुधीर्धम् ॥३॥ ७॥ श्र० ३ । ५८ । १६-२८ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देतो आविकल सं० [१५०] पृ० २८० ।

(२) हे ( सोमा ) विद्वान् पुरुषो<sup>१</sup> ( व ) आप लोगो की ( धिय )  
 ज्ञान, बुद्धि, वाणीयां ( मन्द्रयुव ) आनन्दस्वरूप परमात्मा की तरफ  
 खी हुई ( पनन्युव ) स्तुति करने की इच्छा करती हुई, ( विपन्यव )  
 भीरु स्तुति करती हुई ( सवरणेपु ) हृदयों में निरापराध से या विविध  
 यज्ञगृहों समास्थानों, विद्वान्-मण्डलों में ( अष्टगु ) फैलती हैं । ( स्तुम )  
 विद्वान् सोम ( श्रीदन्त ) जगत् का सज्जन और ( हरि ) प्रलय करने वाले  
 परमात्मा को ( इत् ) ही ( अभ्यनूपन ) मात्मान् स्तुति करते हैं और  
 ( धेनव ) इमपान करने करने वाले हो व्याख्याता लोग भी अपन ( पयसा )  
 वर्णरस से दुग्धरस से गीबों के समान उमका ही ( अमि अशिधयु )  
 अपना आधार बनाने हैं । अथवा ( धेनव ) वेदवाणियों ( पयसा ) अपने  
 ज्ञानरस से उमका ही अभिनेक करती हैं ।

११५२—१ 'अयासना' २. 'मिन्द्रनेपक्रमु' 'मम मनीषा मन्वद्वय' 'वयं  
 मदिधियु' 'पमानो कतिष' इति श्र० ।



(३) ( हे इन्द्रो ) तेजस्विन् ! सोम ! ( पद्यमान ) सर्वत्र व्यापक !  
 ( या ) जो ( नः ) हमारे लिये ( अहन् ) दिन में ( त्रि ) तीसवार ( अस्त  
 रजुषी ) बिना रोक टोक के ( धुमत् ) काँर्त्तियुक्त ( वाजवत् ) बलयुक्त,  
 ज्ञानयुक्त ( मधुमत् ) आनन्दरस से पूर्ण ( सुवीर्यम् ) उत्तम बल ( दोहते )  
 प्राप्त करावे ऐसी ( संयतं ) उत्तम रीति से सुप्रबन्ध युक्त ( पिथुषीम् ) सदा  
 वृद्धि करने हारी ( इषे ) समृद्धि को ( अर्मिणा ) अपनी अनन्त शक्ति से  
 ( पवस्य ) प्राप्त कराओ ।

[११५५] नक्तिष्टे कर्मणा गशद्यश्चकार सदावृधम् ।  
 इन्द्रो यज्ञेर्विश्वगृत्तमभ्यस्रमधृष्टे धृत्पुमोऽस्ता ॥ १ ॥

[११५६] अपादमुप्र पृतनासु सासाई यस्मिन्महीरुज्यः ।  
 सं धेनवो जायमान अनोनयुर्धावः क्षामोरनोनयुः ॥२॥

अ० ८ । रा० ४ । ३-४॥

भा०—( १ ) ध्याएया देखो अविहस्य सं० [२४३] पृ० १२४ ।

( २ ) ( यस्मिन् ) जिसके ( जायमाने ) प्रादुर्भाव होने पर ( उरज्यः )  
 प्रति वेगधान् पराक्रमी ( मही ) बड़ी २ ( धेनव ) गौओं के समान अधिक  
 सम्पत्ति देनेहारे प्रजागण या विद्वानगण ( अनोनयु ) भुङ्कते और स्तुति करते  
 हैं । उस ( अपाद ) अस्तछ ( पृतनासु सासाई ) सेनाओं में सबसे अधिक  
 सामर्थ्य वाले शामक के प्रति ( धाव ) तेजस्वी, उत्तम धैर्य के धनाढ्य  
 और ज्ञानी पुरुषगण या साधारण प्रजाएं ( क्षामीः ) पृथिवी के निवासी  
 जमींदार वा भूदाज भी ( अनोनयुः ) विनयपूर्वक स्तुति करते हैं । क्षामपद  
 में—पृतना=इन्द्रियगण । धेनवः—वायिषां, वेद-अथाएं आधिदैविक पद  
 वा महापद में, धेनवः=वेदवायिषां, धावः, क्षामीः=तेजोमय लोक और  
 पार्थिव लोक । इति चतुर्थः रा० ४ ।

- [१११७] <sup>१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२</sup> सप्तम्यथा निर्यादत्त पुनानाय प्रगायन ।  
<sup>१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२</sup> अशुभ यज्ञे पांशुपत श्रिये ॥ १ ॥
- [१११८] <sup>१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२</sup> सन्नी यत्न न मातृभिः सृजता गयसाधनम् ।  
<sup>१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२</sup> देवाभ्यांश्मदमभि द्विशवसम् ॥ २ ॥
- [१११९] <sup>१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२</sup> पुनाता दद्यासाधनं यथा शर्द्धाय वीतये ।  
<sup>१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२</sup> यथा मिश्राय धरुणाय शन्तमम् ॥ ३ ॥ ६ ॥

श्र० ६ । १०४ । १-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अथर्वकल सं० [१६८] पृ० २८७ ।

( २ ) ( मातृभिः ) मानाओं से जिस प्रकार (वर्षं न) बच्चे या बछड़े को उनका दूध प्राप्त करने के लिये मिलाया जाता है उसी प्रकार ( ईं ) इस ( सोम ) सोम रूप शुक्र को ( मातृभिः ) ज्ञान के साधन इन्द्रियों और मनन-शक्तियों से और ( सोमं मातृभिः ) जिज्ञासु शिष्य को ज्ञान कराने वाले गुरुओं से ( अग्नि स सृजन ) साधान् रूप से संयोजित करो । उस ( गयसाधनम् ) समस्त प्राणों को वश करने द्वारे, ( देवाभ्य ) दिव्य कान्ति, सामर्थ्य और बल के प्रेरक प्रकाशक या रक्षक ( मदम् ) हर्षकारक और ( द्विशवसं ) ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के बल को धारण करनेद्वारे वीर्य तथा शिष्य को ( अग्नि ) उत्तम रूप से सम्पादन करो शिषित करो ।

( ३ ) ( दद्यासाधन ) शरीर के बल को सम्पादन करने वाले इत्यसोम अर्थात् शुक्र को इत्य प्रकार ( पुनात ) सम्पादन करो, प्राप्त करो ( यथा ) जिस प्रकार बट्ट ( शर्द्धाय ) शरीर के बल की वृद्धि और ( वीतये ) कान्ति के निमित्त हो । और ( यथा ) जिस प्रकार ( मिश्राय ) प्राण और

१११९—'अग्नि द्विशवसम्' इति ब्रह्मिन् प्रामादिकः साधनादिवात्प्राणान्मि-  
 नद्वयवात् ।

( घण्टाय ) अथान इन दोनों जीवनाधारों के क्लिये भी ( शन्तमम् ) अति अधिक मुख्य और कल्याणकारक हो ।

[११६०] प्र वाज्यक्षा सहस्रधारस्त्रिनः पवित्र वि वारमव्यम् ॥१॥  
<sup>२ ५ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २</sup>

[११६१] स वाज्यक्षा सहस्ररेना अद्रिमृजानो गोभिः धीष्णानः ॥२॥  
<sup>२ ५ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २</sup>

[११६२] प्र सोम याहीन्द्रस्य कुक्षा नृभिर्बेमाणो अद्रिभिः सुतः  
 ॥ ३ ॥ १० ॥ ५० ६ । १०६ । १६-१८ ॥

भा०—( १ ) ( वाजी ) शत्रिमान्, ज्ञानी या आनन्दरस ( सहस्रधारः ) सहस्रों धारण करने वाली शत्रियों से युद्ध होकर ( अथ ) भुव, प्राणमय, ( पवित्र ) पावन करने वाले ( वारं ) वर्षाय, या दु स्रो के धारक आत्मा को ( तिरः वि प्र अथाः ) साक्षात्, नाना प्रकार से उत्तम रीति से प्राप्त हो ।

( २ ) ( सः ) वह सोम योगी का आत्मा या आनन्दरस ( वाजी ) ज्ञानवान्, बलवान्, ( सहस्ररेता ) सहस्रों पदार्थों का मूलधारण, सहस्रों शत्रियों से युद्ध ( अद्रिः ) कर्मों और प्रशासों ये ( मृजानः ) पवित्र होता हुआ, अधिक विस्पष्ट होता हुआ ( गोभिः ) वायुियों द्वारा ( धीष्णानः ) परिवर्त होकर ( अथाः ) हृदय में प्रकट हो ।

( ३ ) हे ( सोम ) आत्मान् ! ( नृभिः ) मन्त्रार्थों द्वारा ( बेमानः ) हृदय-देश में वम निषमा द्वारा या ईश्वर-प्रणिधान द्वारा विचार दिया जाकर ( अद्रिभिः ) स्थायी अखंडित तपःकर्मों, या ज्ञानी पुरुषों ये ( सुतः ) साधित होकर ( कुष्णैः ) आत्माकारण गुहा में ( अथादि ) आ, प्रकट हो ।

[११६३] य सोमास पगायाते य अर्थायाने मुन्यिरे ।  
<sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
 ये वाद् जयैणाति ॥ १ ॥

[११६४] य आजांकपु कृत्यसु ये मध्ये पस्तयानाम् ।  
<sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
 ये वा जनपु पञ्चसु ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [११६५] ते नो वृष्टिं दिवस्परि पवन्तामा सुवीर्यम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २  
 स्वाना देवास इन्दुः ॥३॥११॥ ऋ० १ । ६५ । २२-२४ ॥

भा०—( १, २, ३ ) ( ये ) जो ( सोमास ) सोम, विद्वान् लोग ( परावति ) दूर देश में और ( ये ) जो ( अर्वावति ) समाप देश में और ( ये वा ) जो ( शर्वयावति ) विषम अरवभूमि में और जो ( अर्जोकेषु ) ऋषु और सरल सम देशों में और जो ( परयानां ) गृहमेधी, गृहस्थियों के ( मध्ये ) बीच में ( वृष्वसु ) बनाये हुए गृहों में, ( ये वा ) और जो ( पञ्चसु ) पाचों प्रकार के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और पाचवें निपाद जो चारों ऋणों के भी धर्म पालन न कर सकने के कारण देश या नगर की सीमा स बाहर कर दिये जाने हैं उनमें भी ( सामास ) ज्ञान सम्पन्न विद्वान् लोग हैं ( ते ) वे ( न ) हमें ( दिव ) आकाश या प्रकार और शुभ पदार्थों की ज्ञान प्रकारा से उत्तम हितोपदेशों की ( वृष्टिं ) वर्षा अर्थात् अति अधिक राशि को ( परिपवन्ता ) दें और ( सुवीर्यं ) हमें उत्तम बल भी प्राप्त करावें । क्योंकि ( देवाय ) विद्या आदि शुभ दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् ( स्वाना ) ज्ञानी पुरुष ही ( इन्दुः ) साम या 'इन्दु' कहते हैं ।

इति पञ्चम सङ्गः ।



१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [११६६] आ त वत्सा मनो यमत्परमाश्रितसधस्थात् ।

२ ३ १ २ ३ २  
 अग्ने न्यां कामये गिरा ॥ १ ॥

३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 [११६७] पुरग्रा हि सट्टडसि दिशां निभ्या अनु प्रभु ।

३ १ २  
 समत्सु त्या हवामहे ॥ २ ॥

[११६८] <sup>३ २ ३ ११ २१</sup> समस्तस्वग्निमवसे <sup>३ १ २</sup> वाजयन्तो हवामहे ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> वाजेषु चिप्रराधसम् ॥३॥१२॥ ऋ० ८। ११। ७-९ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अतिक्रम सं० [ ८ ] पृ० ४ ।

( २ ) हे ( अग्ने ) परमात्मन् ! ( पुरुषा ) समस्त प्रजाओं को आप ( सद्गुरु ) समान दृष्टि से देखने वाले ( असि ) हो । ( विधा दिशः, अनु ) समस्त दिशाओं में ( प्रभुः ) आप ही ईश्वर, उत्तम धामध्यवान् हो । ( समाप्तु ) आनन्द, उत्सवों, यज्ञों और संग्रामों के अवसरों पर ( त्वा ) सेरी ही ( हवामहे ) याद करते हैं ।

( ३ ) हम ( समाप्तु ) एकत्र आनन्द उत्सवों, यज्ञों और संग्रामों के अवसरों में ( वाजेषु ) ज्ञान, बल और अज्ञादि के प्राप्ति, उत्पत्ति और वृद्धि के कार्यों में ( वाजयन्तः ) ज्ञानों और ऐश्वर्यों की कामना करते हुए वा बल प्राप्त करते हुए हम ( अवसे ) अपनी रक्षा के लिये ( अग्निम् ) आगे के नेता-स्वरूप, आचार्य, परमगुरु परमात्मा का ही ( हवामहे ) स्मरण करते हैं ।

[११६९] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> त्वं न इन्द्राभर ओजो नृम्यं शतक्रतो विचर्षणे ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup> आ धीरं पृननासहम् ॥ १ ॥

[११७०] <sup>११ २१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> त्वं हि न. पिता यसो त्वं माता शतक्रतो यभूविथ ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> अथा ते सुसमीमहे ॥ २ ॥

[११७१] <sup>३ २ ३ १ २</sup> त्वां शुष्मिन्पुरहृत वाजयन्तमुत्सुधे सहस्रकृत ।

<sup>३ १ ३</sup> स नो रास्य सुर्षायम् ॥ ३ ॥ १३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखिये अवि० स० [ ४०५ ] पृ० २०६ ।

( २ ) हे ( यमो ) सब में निवास करने वाले सर्वव्यापक ! ( त्वं हि ) आप ही हमारे ( पिता ) पादक हैं । ( त्व ) आप ( माता ) माता के

समान उत्पादक और ज्ञानदाता ( बभूविष ) हैं । ( अथ ) और हे ( शतक्रता ) सैकड़ों ज्ञानों, कर्मों का अनायास सम्पादन करने वाले । हम ( त ) आपक ( सुम्न ) आनन्द सुख की ( ईमहे ) प्रार्थना करते हैं ।

( ३ ) हे ( शुष्मिन् ) सर्वशक्तिमान् ! हे ( पुरहूत ) बहुतांश स्तुति योग्य हे ( सदस्कृत ) सब बलों और बलशाली शक्तिमान् पदार्थों के उत्पादक ! वाग्यन्तम् ) ज्ञान और बल को दान करने वाले आपसे मैं ( उपसुव ) प्रार्थना करता हूँ कि ( न ) हमें ( सुकीर्यम् ) उत्तम बल, वीर्य और पुत्र, सज और यश का ( रास्व ) प्रदान करें ।

[ ११७२ ] यदि<sup>१ २</sup>द्र चित्र<sup>३ २४</sup> म इहनास्ति<sup>३ १ २</sup> त्पान्दातमद्रिय ।  
राधस्तथो<sup>२ २ १ २</sup> विद्वस उभया<sup>३ १ २</sup> हस्त्याभर ॥ १ ॥

[ ११७३ ] यन्मन्यस<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> यत्पशामन्द्र<sup>२ २</sup> घृक्षन्तदामर ।  
विद्याम<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> तस्य ते<sup>३ १ २</sup> ययमकूपारस्य<sup>३ १ २</sup> दावनः ॥ २ ॥

[ ११७४ ] यत्ते<sup>१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २</sup> दिक्षु<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> प्रराधय मनो<sup>३ १ २</sup> अस्ति<sup>३ १ २</sup> श्रुनवृहत् ।  
तेन<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> दृढा<sup>३ १ २</sup> विदद्रिय<sup>३ १ २</sup> आ याज<sup>३ १ २</sup> दर्पि<sup>३ १ २</sup> सातये ॥ ३ ॥ १४ ॥

श्र० १ । ३३ । १-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दक्षा अवि० स० [ ३४१ ] पृ० १०६ ।

( २ ) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! ( यन् ) जा ( शुष्म् ) अथ धन और यश आप ( वरयथ ) वाण करने योग्य अष्ट ( मन्थम ) जानते हैं ( तद् ) वही ( आभर ) हमें प्राप्त करावे । ( तस्य ) उस अचिन्त्य महिमा वाले ( अकूपारस्य ) अनि सुन्दर अनिन्दनीय असीम परम आनन्द के

११७१—'उत्सव मद्रिय' इति श्र० ।

११७३—'दावनः' । ११७४—'दक्ष त्रिभु' इति श्र० ।

सागरस्वरूप सबको उत्तमरूप में पालन करने हारे ( त ) तुम्ह ( दावम )  
दानशील के दान को हम ( विषाम ) प्राप्त करें ।

( ३ ) हे ( अदिव ) ज्ञानस्वरूप या प्रलय करने हारी शक्ति के  
मालिक ! ( यत् ) जो ( ते ) तेरा ( दिशु ) समस्त दिशाओं में ( प्रराध्य )  
उत्तम रूप से आराध्य करने योग्य ( वृहत् ) बड़ा विशाल ( श्रुत ) श्रवण  
करने योग्य ( मन ) मनन करने योग्य ब्रह्म और ज्ञान है ( तन ) उम  
से ही ( दृढाचित् ) पुष्ट उत्तम ( वास ) ज्ञान और ब्रह्म का ( सातये )  
सबको समान रूप से दान करने के लिये ( आदर्षि ) रखद २ करके,  
अनुभव और विचारक्रम से देने हा ।

इति षष्ठं सर्गम् ।

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

इति चतुर्थं प्रपाठकं समाप्तम् । इत्यष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ पञ्चम प्रपाठकं ( प्रथमार्धं )

अथ नवमोऽध्यायः ।



प्राणाय । १६, २० शृणुष्व १७ दिवा विराट् । १६ उगिक् ॥ स्वर -२-११,  
१६, १८ षड्ज । १ धैवत । १२ निया । १३, १४ मध्यम । १६, २०  
गान्धार । १७ पञ्चमः । १६ श्रवण ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१६७५] शिशु जज्ञान ह्येत मजन्ति शुम्भन्ति विप्र मरुतो गणैः ।  
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
कविर्गोभिष्काव्येन कवि सन्त्सोम पवित्रमस्यानि रमन् ॥ १ ॥

१ २ १ १ २ ३ १ ३ २ १ २ ३ २ २ १  
[१६७६] ऋषिमना य ऋषिष्टस्पर्षा सहस्रनीथ पदसी कवी  
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
नाम् । तृतीयधाम महिष सपासन्त्सोमो विराजमनु  
राजनि ष्टुष ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
[१६७७] चमूपच्छयेन शकुनो विभृत्वा गाविन्दुर्द्रप्स शायु गानि  
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १  
विभृत् । अपामूर्मि सचमात् समुद्र तुरीये धाम महिषो  
विचक्ति ॥ ३ ॥ १ ॥ श० १ । ०६ । १७ । १९ ॥

भा०—( १ ) विश्व जोग ( मरुत गण ) अपने षण्णों के गण  
प्राण, अपान समान, उदान, स्यान दवदत्त, कृकल धनत्रय, नाग, कूर्म  
आदि अथवा मूर्धा स्थान के ७ षण्णों द्वारा ( जज्ञान ) ज्ञान प्राप्त करन  
हार ( ह्येत ) काम्तिस्वरूप, मरु का प्रकाशक ( वि० ) ज्ञान और कर्म  
स सम्पन्न ( शिशु ) शरीर में शयन करन हारे चामा को ( मृजन्ति )  
शुद्ध करत और ( शुम्भन्ति ) नाना गुणों स मुद्राभित करते हैं । ( कवि )  
अन्तर्दर्शी, तत्त्वज्ञानी मधावी, पुरुष ( काव्येन ) वा तर्दी परम ज्ञानी  
परमधर क ज्ञानमय चद्रमय काव्य म ( कवि ) अ यों का ज्ञान दन हारा  
( मन् ) परमगानि का प्राप्त मुष्ट हाकर ( साम ) साम्यगुणवान् आनन्द  
और शमादि स सम्पन्न आत्मा ( पवित्र ) सब पतितों क पावन परमात्मा



की ( रमेन् ) अर्चना, ध्यान, गुणगान करता, हुमा ( अति एति ) कर्म बन्धन को पार कर जाता है ।

( २ ) ( य. ) जो ( अविमनाः ) मन्त्रद्रष्टा के समान मनन शक्ति से युक्त, स्वयं ( अपिकृत् ) अपने आपको अपि, तत्त्वदर्शी बनाने द्वारा, विवेकी, ( स्वर्षाः ) स्वयं उत्तम २ सब पदार्थों के मर्मों का द्रष्टा, ( सङ्खनीधि ) सङ्ख्यों प्रकार से ईश्वर को स्तुति करने द्वारा, या सङ्ख्यों सुख और ज्ञान औरों का प्राप्त कराने द्वारा ( कवीना ) बहुत मेधावी प्रज्ञावान् पुरुषों को ( पदवी ) ज्ञान प्राप्त कराने द्वारा, सम्मार्ग का दर्शक स्वयं ( महिय ) महान् है, वह मुमुक्षु जीव ( तृतीयं ) तीसरे ( धाम ) लोक को अथवा इस कर्मबन्धन को पार करके प्राप्त होने योग्य परम उद्योति स्वरूप मोक्ष को ( सिपासन् ) प्राप्त करता हुआ ( विराजम् ) विराट परमेश्वर की ( इदुप् ) स्तुति करता हुआ ( अनु राजति ) उसके अनुग्रह से आनन्द प्राप्त करता है और सद्गति को प्राप्त होता है ।

( ३ ) ( धमूपत् ) अपनी प्राहक इन्द्रिय शक्तियों में पूर्ण रूप से विराजमान ( रयेन ) गतिशील आत्मा कर्मबन्धन को पार करके मोक्ष मार्ग से गमन करने द्वारा, ( शकुनः ) शक्तिसम्पन्न, ( विभृत्वा ) समस्त लोकों में विहार करने में स्वतन्त्र हाकर ( गोविन्दु ) समस्त ज्ञान रश्मियों और आदित्यमय लोक या परमग्रह को प्राप्त करने द्वारा जितेन्द्रिय या समस्त लोकों को प्राप्त करने द्वारा, ( आयुधानि ) सकल सामर्थ्यों को ( विभ्रत् ) धारण करता हुआ, ( महिय ) महिमा में सम्पन्न, महत्त्व को प्राप्त होकर ( अपा ) समस्त लोकों के ( ऊर्मिम् ) मेरु ( समुद्र ) समुद्र के समान एकमात्र उलूख सब के आश्रय परमेश्वर को ( स्तवमान ) भजन करता हुआ ( तुरीयं ) मोक्षस्वरूप ( धाम ) आनन्द को ( विवक्ति ) प्राप्त करता है । इन् सूक्त में परमहंस की परमगति का स्पष्ट वर्णन है, ऐसे परम मुक्ति लाभ करने वाले को वेद गोविन्दु, शकुन, रयेन आदि नामों से



। मा०—(१) ( एते सोमाः ) वे सोम्यगुणसम्पन्न विद्वान्गण ( अथ ) इस इन्द्र के ( वीर्य ) सामर्थ्य या यश को ( वर्धन्तः ) बढ़ाते हुए, फलाने हुए ( इन्द्रस्य ) ईश्वर के ( प्रिय ) उत्तम ( कामम् ) अभिलषित धर्म, सृष्टि के उत्पादन, रक्षा और परोपकार आदि को ( अचरन् ) प्रकाशित करते हैं ।

( २ ) ( चमूपदः ) अपने ज्ञान प्रदण शक्तियों में जितेन्द्रिय होकर विराजमान ( पुनानासः ) पवित्र होते हुए ( अधिना ) प्राण्य और अपना दोनों और ( वायुम् ) सबके प्रेरक आत्मा को ( गच्छन्तः ) उपलब्ध करते हुए ( तेन ) उस परमेश्वर या अपने भीतरी इन्द्र स्वरूप आत्मा के बल पर ( उ ) ही ( सुवीर्यम् ) उत्तम यश, बल और सामर्थ्य को ( धत्त ) धारण करते हैं ।

( ३ ) हे ( सोम ) साधक ! ( राधसे ) इन्द्रस्वरूप परमात्मा की आराधना के लिये ( हृदि ) हृदय में विराजमान ( देवाना ) देवगण, इन्द्रियों तथा पञ्चभूतों क ( आसदं ) प्रतिष्ठास्थान और ( योनिं ) मूलकारण चिति शक्ति का ( चोदय ) प्रेरित कर ।

( ४ ) हे ( सोम ) योगिन् ( त्वा ) तुम्हको ( दश ) दश ( विपः ) यम और नियम, या दश धर्मलक्षण, या दश प्राण्य ( मृन्ति ) पवित्र, परिशोधन करते हैं और ( सप्त ) सात ( धीतयः ) ज्ञानेन्द्रिय या मूर्धों में स्थित सप्त त्रिदों में प्रवाहित प्राणशक्तियों, या सात स्थानों में लगाई गई ध्यानवृत्तियाँ ( दिन्वन्ति ) तुम्हको पूर्ण आनन्दित करती, बढ़ाती हैं । ( विप्राः ) ज्ञानी पुरुष तुम्हको लक्ष्य करके, तेरे अनुकूल होकर ( अमादिषु ) प्रसन्न होते हैं ।

( ५ ) ( देवेभ्यः ) इन्द्रियगण या विद्वानों को ( मदाय क ) आनन्दलाभ करने और आनन्दकारी, ज्ञान से तृप्त करने के लिये ( मेष्यः ) आत्मा में

आनन्दरस वर्णन करने वाली प्राण शक्ति को (प्रति) पार करके (सृजान) वर्तमान आत्मानन्दरस का (गोभि) वेदवाणियों द्वारा (स वासयामसि) आच्छादित करते हैं। उसका वेदवाणियों द्वारा वर्णन करते हैं।

( ६ ) ( कलशेषु ) हृदय प्रदेशों में ( पुनान ) पवित्र होता हुआ ( भरुष ) कान्तिमान् ( हरि ) दुःखहारी, व्यापक आनन्दरस ( गम्यानि ) वेदवाणियों या प्राणों के वन ( वज्राणि ) आच्छादनों को ( परि अभ्यत ) धारण करता है, उनसे परे चला जाता है।

( ७ ) इ ( इन्द्रा ) आत्मान् । ( मघान ) सम्पत्तियों से युक्त ज्ञानवान् ( न ) हमारे प्रति तू ( आपवस्य ) प्रकट हा। और ( विश्वा ) समस्त ( द्विष ) दूसरे के प्रति अप्रम या द्वेष के भावों को ( अप ) दूर कर। ( सखायम् ) परम सखा परमात्मा म ( आविश ) प्रवेश कर, उसे प्राप्त कर।

( ८ ) हे ( साम ) साधक आत्मान् ( स्वर्दिद ) मेरे सुख का प्राप्त करने और जानने हार ( इ दपीत ) ईश्वर के अनुग्रह से या आत्मा के अपने ही रस से तृप्त ( नृचक्षुसम् ) समस्त प्राणियों को समान दृष्टि से देखने हारे ( खा ) तुम्हें इम ( मघामहि ) सवन करें और ( प्रजाम् ) उत्तम सत्तान और ( इपम् ) यज्ञ, अन्न और सत् ज्ञान को भी ( भृषी महि ) प्राप्त करें।

( ९ ) हे ( सोम ) परमात्मान् ( दिव ) अपने तेजमय प्रकाश से आकाश से मघ के समान ( पृथिव्या अधि ) पृथिवी के ऊपर ( वृष्टिं ) सुखों की वर्षा ( परिस्रव ) बरसा। और ( शुम्न ) तन, पग या धन और ( सह ) सहज शक्ति, या बल का ( न ) हमारा ( पृसु ) इन्द्रियों और प्रजाओं में ( धा ) धारण करा।

इति प्रथम खण्ड ।

- [११८७] सोम पुनातो अर्पति सहस्रवारो अत्ययिः ।  
 ३ १ २ २ ३ २  
 वायास्मिन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
- [११८८] पथमागमवस्यता विप्रमभिप्रगायत ।  
 ३ २ ३ १ २  
 सुध्वाण देवधीतय ॥२॥  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
- [११८९] पवन्त वाजसातये सोमा सहस्रपाजसः ।  
 ३ २ ३ १ २  
 गृणाना दधधीतये ॥३॥  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
- [११९०] उत नो वाजसातये पयस्व बृहतीारप ।  
 ३ १ २ ३ १ २  
 द्युमादिन्दो सुवीर्यम् ॥४॥  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
- [११९१] अत्या द्वियाना न हेतुभिरसुप्र वाजसातये ।  
 २ ३ १ २ ३ १ २  
 त्रिवारमध्यमाशत्र ॥५॥  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
- [११९२] शे न सहस्रिण रयि पयन्तामा सुवीर्यम् ।  
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 स्याता देवास इन्द्रव ॥६॥  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
- [११९३] वाथा अर्पतीन्द्रवोऽभि वत्स न मातर ।  
 ३ १ २ २  
 दधन्विरे गभस्त्यो ॥७॥  
 २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
- [११९४] जुष्ट इन्द्राय मत्सर पयमान कनिष्ठदत् ।  
 २ ३ २ ३ १ २  
 विश्वा अप द्विपो जहि ॥८॥  
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
- [११९५] अप धन्तो अराण पयमानाः स्वर्देश ।  
 १ २ ३ १ २  
 यानावृणस्य सीदत ॥९॥३॥ ऋ० ६। १३। १-९ ॥

भा०—( १ ) ( सोम ) आत्मा, ( पुनान ) पवित्र करने द्वारा ( सहस्रधार ) हज़ारों, अनक अगणित शत्रियों से सम्पन्न होकर (वाधो) सधैर्यापक ( इन्द्रस्य ) परमात्मा के ( निष्कृत ) कर्म बन्धनों से परे परम पद को ( अत्यधि ) प्राण्य के आवरण को पार करके ( अर्पति ) प्राप्त होता है ।

( २ ) ह ( अवस्यव ) रक्षा चाहने वाले विद्वान् लोगो ! ( पवमान ) सब को पवित्र करने हारे ( विप्रम् ) विशेष ज्ञान से और आनन्द से सबको पूर्ण करने हारे, ( देववीतये ) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये ( सुप्वाण ) उत्तम रूप से प्रकट होने हारे उत्तम ज्ञान का या प्रसव या उत्तम प्रेरणा करने हारे उस आत्मा को ( अभि प्र गायत ) जप्य कर स्तुति करो ।

( ३ ) ( सहस्रपाजस ) सहस्रों जानों से युक्त, सहस्रों आत्मिक बलों से युक्त ( सामा ) शमदम आदि गुण से सम्पन्न विद्वान् गण ( देववीतये ) परमात्मा का प्राप्त करन के लिये ( गृणाना ) उमकी स्तुति करत हुए ( पवन्त ) अपन आत्मा को पवित्र करत हैं ।

( ४ ) हे ( सोम ) सबके उत्पादक ! ( न ) हमें ( वाजसातये ) ज्ञान प्राप्त करन के लिये ( घृहती इय ) धरती २ प्रेरणायें, दीप्तियें, शत्रियें ( पवस्व ) प्रकाशित कर । हे ( इन्द्रो ) पृथर्ववन् ! हमें ( शुमत् ) दिव्य गुणों से युक्त ( सुवीर्यम् ) उत्तम सामर्थ्य भी दो ।

( ५ ) ( वाजसातय ) ज्ञान और सुख के लाभ के लिये ( द्वियाना ) प्रयत्न करते हुए ( आराव ) माघ या ज्ञान मार्ग से भी शीघ्रगति करते हुए विद्वान् लोग ( हेतृभि ) साधनों से ( अन्य वार ) तामस या प्राकृतिक या प्राणमय आवरण का ( वि प्रति असृग्न् ) पार कर जाते हैं ।

( ६ ) ( ते ) वे ( इन्द्रव ) षोडशत ( देवाय ) विद्वान् पुरुष ( स्वना ) सावना करते हुए ( न ) हमारे लिये भी ( सुवीर्यम् ) उत्तम बलयुक्त, यत्न उत्पादक ( सहस्रिण्य ) हज़ारों तलों के प्रदर्शक ( रपिम् ) ज्ञान और पृथर्व का ( पवन्ताम् ) प्रसू करें और प्रउट करें ।

( ७ ) ( वाधाः ) उत्तम उपदेश करनेहारे ( मातरः ) ज्ञान सम्पादन करने हारे (इन्द्रवः) विद्वानगण परमात्मा के प्रति इसी प्रकार ( भवन्ति ) जाते हैं जैसे ( मातरः वत्सं न ) गौधें अपने बच्छे के प्रति जाती हैं । और वे ( गभस्त्वो ) उसी प्रकार प्राण अपान दोनों के बल से अपने को ( दधन्विरे ) धारण करते हैं, स्थिर, दृढ़ बनाये रहते हैं ।

( ८ ) हे ( पवमान ) परमपावनकारी ! तू ( इन्द्राय ) परमात्मा के लिये ( जुष्टः ) प्रेम करने हारा साधक ( मातरः ) अपने ही में सदा सुप्रसन्न आत्मानन्द, स्वतः तुल्य ( कनिकृदत् ) सबको समान भाव से उपदेश करके ( विधाः ) समस्त ( द्विपः ) द्वेष करने हारे प्राणियों को और द्वेष बुद्धियों को ( जदि ) नाश कर अर्थात् अज्ञात शत्रु हो जा ।

( ९ ) हे ( पवमानाः ) समस्त ससार को अपने धर्माचरणों से पवित्र करते हुए, पत्रिपावन ( स्वर्शः ) मोक्ष सुख का दर्शन करने वाले आप लोग ( भ्रातृण्यः ) दान रहित, कद्वैकृत्तियों को ( अप धन्तः ) दूर करते हुए ( अतस्य ) सत्यज्ञान के ( योनौ ) परम आशय, ब्रह्म में ( सीदत ) प्राप्त होवो ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

—:०:—

[११६६] सोमा असप्रमिन्दवः सुता ऋतस्य धारया ।

इन्द्राय मधुमत्तमा ॥ १ ॥

[११६७] अभि विप्रा अनूरत गात्रो वत्सं न धेनवः ।

इन्द्रं सोमस्य पीतये ॥ २ ॥

[११६८] मदच्युत् क्षेनि सादने सिन्धोरूर्मा त्रिपश्चित् ।

सोमां गौरी अभिधेतः ॥ ३ ॥

- उ ११ २१ ३ २ ३ १ ३  
 [११६६] दिवा नाभा विचक्षणोऽग्न्या वारे महीयते ।  
 २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 सोमो य सुभक्तु कवि ॥ ४ ॥
- ११ २१ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 [१२००] य सोम कलशेष्या अन्त पवित्र आदित ।  
 २२ ३ १ २  
 तमिन्दु परिपस्वजे ॥ ५ ॥
- १२ ३ १ २ ३ ११ २१ ३ १ २  
 [१२०१] प्र वाचमिन्दुरिष्यति समुद्रस्याध विष्टपि ।  
 २ ३ १ २ ३ १ १  
 जिन्वन् कोश मधुश्रुतम् ॥ ६ ॥
- १ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१२०२] नित्यम्नोश्रो घनस्पतिर्धेनामन्त सधर्दुघाम् ।  
 ३ ११ २१ ३ २  
 द्वि-वानो मानुषा युजा ॥ ७ ॥
- १ १ ३ २ ३ १ २  
 [१२०३] आ पवमान धारय रयि सहस्रवचसम् ।  
 ३ १ २ ३ १ २  
 अस्म इन्दा स्वाभुजम् ॥ ८ ॥
- ३ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ २१ ३ २  
 [१२०४] अमि प्रिया दिव कविर्निप्र स धारया सुत ।  
 १ ३ ३ १ २  
 सोमो दिने परावति ॥ ९ ॥ ४ ॥ अ० ६ । १२ । १-६ ॥

भा०—( १ ) ( इन्द्राय , परमेश्वर के निमित्त ( मधुमत्तमा ) अमृतमय शानों से सम्राज ( अतस्य ) मत्स्य ज्ञान की ( धारया ) धारा, व्यवस्था, या वाणी से ( सुता ) प्रेरित हुए ( इन्द्रव ) शानैश्वर्यादि से सम्पन्न सब क आह्लादक ( सामा ) शुभ गुणों स युक्त विद्वान् लोग ( असृग्मम् ) उत्पन्न होत हैं ।

( २ ) ( वत्स न ) जिस प्रकार यज्ञके के प्रति ( धेनव ) दूधार ( गाव ) गौए हमारती हैं, प्रेम से उसको अपने प्रति बुलवाती हैं उसी प्रकार ( सानस्य पीतये ) ज्ञानरस का प्राप्न करने के लिए ( इन्द्र )



अपने आत्मा और ऐश्वर्यवान् परमात्मा को ( विप्राः ) मेधावी जोग प्रेम से ( अनूपत ) स्तुति करते हैं, उसके सत्यगुणों का स्मरण करके उस को पुकारते हैं ।

( ३ ) ( विपश्चित् ) ज्ञान और कर्म फल का सम्बन्ध करने वाला, ( मदस्युत् ) इष्यं और आनन्द का जनक, ( सोमः ) शमादि सम्पन्न, विद्वान् पुरुष, ( गौरी ) वेदमयी वाणी में ( अधिधितः ) आश्रय पाकर ( मदस्युत् ) ज्ञानी होकर ( सादने ) अपने आश्रय देने वाले ( उर्मौ ) ऊर्ध्व गति की तरफ लक्ष्मण द्वारा ( सिन्धौ ) सिन्धु के समान सब को गति देने, सबको बांधने और अपन में आश्रय देने वाले, प्राणों के प्राण और ज्ञान के समुद्र परमात्मा में ( चेति ) निवास करता है ।

( ४ ) ( विचक्षयः ) विशेष तत्व का दृष्टा, ( कविः ) आनन्दशील, मेधावी, ( सुकपुः ) उत्तम प्रज्ञावान्, ( दिवः ) समस्त यौक्तिक को ( नाभौ ) अपनी शक्ति में बांधने वाले ( अग्नाः धरे ) महान् प्रकृति को भी आवरण करने वाले परमात्मा या प्राण के बने अन्तःकरण में ( महीयते ) महत्त्व को प्राप्त करता, यही शक्ति प्राप्त करता है ।

( ५ ) ( षः ) जो ( सोमः ) आनन्दमय परमात्मा ( कञ्जेषु ) अन्तःप्राप्त देहों में अन्तर्गामी होकर विराजता और ( पवित्रे ) पवित्र हुए आत्मा के बीच ( आहितः ) विशेष रूप से प्रकट होता है ( तम् ) उसको ( हन्दुः ) ज्ञानी पुरुष, जीव ( परि सस्वजे ) जा चिपटना है, आश्रय कर लेता है, उसमें प्रविष्ट होता है ।

( ६ ) ( हन्दुः ) ज्ञानी पुरुष ( समुद्रस्य ) समस्त आनन्द-रसों के सागर परमेश्वर के ( अधिविष्टपि ) परम तेज या ज्ञानरूप परमपद में विराजमान होकर ( मधुरचुतम् ) परम आनन्दरस को देने वाले, आनन्दमय ( कोशं ) कोश को ( निवन् ) प्राप्त करता हुआ, मधुमय पुत्र कोश

को प्राप्त भौरे के समान ( वाच ) स्तुतिमय वेदवाणी के उत्तम ज्ञान को ( इष्यति ) प्राप्त करता है ।

( ७ ) ( वनस्पति ) समस्त लोकों का स्वामी ( नित्यस्तोत्र ) नित्य स्तुतिकर्ता ज्ञानी, ( युजा ) पाग सम्पादन करन हार ( मानुषा ) मनुष्यों क ( अन्त ) भीतर ( सबदुष्णाम् ) सुख, परमानन्द रस का दोहन करने वाली ( धेना ) सरस्वती या आनन्द पान कराने वाली ज्ञानमयी चित्ति शक्ति को ( हिन्वान ) प्रेरण करने और उसके फल को बढ़ाने हारा है ।

( ८ ) हे ( पवमान ) सर्वव्यापक ! हे ( इन्द्रो ) तेज स्वरूप ! ( सहस्रवचंमम् ) सहस्रों दीप्तियों स युद्ध, ( स्वामुक्मम् ) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न, ( रयिं ) ऐश्वर्य और बल को ( अस्मे ) हमें ( धारय ) धारण करा ।

( ९ ) ( कवि ) क्रान्तदर्शी, ( सुत ) ज्ञानसम्पन्न ! विद्वान् ( पशवति ) परम रक्षास्थान, परमात्मा में स्थित होकर ( विप्र ) मधावी ( धारया ) परमात्मा से प्राप्त अपनी धारणा शक्ति या रसधारा से ( स ) वह ( दिव ) सूर्य के समान ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल ( प्रिया ) अति उत्तम कान्तियुद्ध लोकों में ( अग्नि हिन्वे ) विहार करता है ।

इति तृतीय खण्ड ।

२ ३ १ २      ३ १ २ ३ १ २      ३ २  
[१२०५] उत्ते शुभ्रास ईरन सिन्धारूमैरिव स्तुन ।  
३ १ २      ३ २

घाणस्य चोदया पविम् ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २      ३ १ २ २ ३ २ १  
[१२०६] प्रमये न उदीरते निम्नो घाचो मस्यस्युव ।  
१ ३ ३ २ ३ १ २

यदव्य पपि सानवि ॥ २ ॥

१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
 [१२०७] अद्या धारैः परि प्रियं हरिं द्विन्वन्त्याद्रिमि ।

१ २ ३ १ २  
 पवमानं मधुश्रुतम् ॥ ३ ॥

[१२०८] आपवन्त्रमदिन्तमपवित्रधाराया कथे ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 अकम्प्ययानिमासदम् ॥ ४ ॥

[१२०९] एष पवस्यमदिन्तमगोभिरक्षानोऽशुक्रुभिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 एन्द्रम्यजठरं प्रिशा ॥ ५ ॥ ५ ॥ अ० ६। २०। १ २ ॥

भा०—( १ ) हे सोम ! ( विन्धो ) नदी या समुद्र के ( उमों ) उमड़ने वाले तरङ्ग का ( इव ) त्रिप प्रकार ( स्वनः ) स्वनि ( उत् हंरते ) उठता है उसी प्रकार ( ते ) तेरे ( शुष्मास ) बज्र और शत्रियों के तरङ्ग भी सर्वत्र उठते हैं, प्रकट होते हैं । तू ( वाणस्य ) इस संसार या इस शरीर के ( पवि ) वाणी या प्रवृत्तक शक्ति को ( चोदय ) प्रेरित कर ।

( २ ) ( ते ) तेरे ( प्रमवे ) प्रकट होने पर ( मधुश्रुतः ) तेरी अचेना के इच्छुक भक्तजन की ( तिस्र. वाच. ) तीनों प्रकार की वेदवाणियों ज्ञानमय गानमय और कर्ममय, श्रक, साम, यजु. स्वरूप उस समय ( उत् हंरते ) उठता है, प्रकट होती है । जब तू ( अम्ये ) चितिशक्ति या प्राण के बने ( सानो ) उन्नत महत्क दश या ज्ञानन्द प्रकट करने वाले अन्त करण में ( पवि ) धारणा द्वारा प्रकट होता है ।

( ३ ) विद्वान् ज्ञान ( प्रियं ) वृत्तिकर, उच्छृष्ट, ( हरिं ) दुःखों को दूर करने वाले, ( पवमानं ) हृदय को पवित्र करने वाले, ( मधुश्रुतम् ) अमृतस को चुसाने वाले उस प्रभु को ( अद्रिमिः ) योगसाधनों या गुरुओं, ज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट साधनों से ( अद्याः धारैः ) चितिशक्ति की वृत्तियों, धारणा और निदिध्यासनादि व्यापारों द्वारा ( द्विन्वन्ति ) साक्षात् - करते हैं, उपादन करते हैं ।

( ४ ) हे ( मदिन्तम ) सवस अधिक आनन्द प्राप्त करनेहारे आत्मन् !  
हं ( कवे ) मेधाविन् ! विद्वन् ! ( अकंस्य ) प्रकाशमान परमात्मा के  
( गोभि ) परम स्थान को ( आसद् ) प्राप्त होने के लिये ( धारया )  
अपनी धारणा शक्ति या वाणी स ( पवित्र ) स्वच्छ शुद्ध, उस पतितपावन  
के प्रति ( आपवस्य ) गति कर, उसका तरङ्ग छोट जा उसकी स्तुति कर ।

( ५ ) हे ( मदिन्तम ) आनन्द प्रदान करने हारे आत्मन् ! ( अ  
वुभि ) ज्ञान-साधनों और ( गोभि ) आदित्यरश्मियों, वेदवाणियों द्वारा  
( अञ्जान ) अभिष्यक्त और भी प्रकाशमान होकर ( स ) वह परम  
रूप हाकर ( पवस्व ) चरित हो, गति कर, उद्याग कर और ( इन्द्रस्य )  
पृथ्व्यंशील परमात्मा के ( जडर ) भातर गर्भ में ( विश ) प्रवेश कर,  
उसी में रम ।

इति चतुर्थं सूक्तम् ।



३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[१०१०] अया वीती परिश्रय यस्त इन्द्रा मदेत्या ।

३ १ २ ३ १ २ २  
अयाहृश्रयतीनेय ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२११] पुर सद्य इत्या धिये दिवा दासाय शयरम् ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २  
अत्र त्य तु श यद्रुम् ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २

[१२१२] परि नो अभ्वमभ्वयिट्गोमदिन्द्रो हिरायजत् ।

१ २ ३ १ ३ १ २  
क्षरा सहस्रिष्णोरिय ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० । १ । ६१ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखा अविच्छल स० [४६५] पृ० २४६ ।

( २ ) हे सोम ! ( इत्या धिये ) सव्य प्रज्ञानों स युक्त और सत्यकर्मां  
( दिवोदासाय ) सूर्य के समान जगामय प्रकाश में निवास करनेहार जीव-मुक्त  
पुत्र के लिये ( शयर ) सुख, कल्याण के बिनाशक उस ( तुर्वश )

हिंसक स्वभाव, क्रोध और ( वदुं ) नियम करने योग्य काम को ( अध ) भी ( अब भद्रन् ) नाश करता है ।

( ३ ) हे ( इन्द्रो ) रसरूप आत्मन् ! ( अश्विद् ) इन्द्रिय और मन को उत्तम रूप से लाम करने द्वारा, ( सोमत् ) ज्ञानेन्द्रियों और ( हिरण्यवत् ) हरणशील प्राणेन्द्रियों से युक्त ( अध ) मन को बरा करके ( न. ) हमें ( सहस्रिणी ) सहस्रों प्रकार से बतने वाली या बलवती ( इष. ) कामनाओं को ( पर ) पूर्ण कर ।

[१२१३] <sup>३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २</sup> अपन्नन् पयते मृधोप सोमा अराण्ण ।

<sup>२ ३ १ २ ३ २</sup> गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥

[१२१४] <sup>३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> महो ना राय आभर पप्रमान जहो मृध. ।

<sup>१ २ ३ ३ ३ १ २</sup> रास्वेन्द्रो धीग्वद्यशः ॥२॥

[१२१५] <sup>१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> न त्या शनं चन हुता पधो इत्सन्तमामिनन् ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> यत् पुनानो मखस्यसे ॥३॥७॥ अ० ६ । ११ । २६-२७ ॥

भा—(१) ( सोम ) परमात्मा ( इन्द्रस्य निष्कृते गच्छन् ) जीव आत्मा के पवित्र घन्त,करण में प्रकट होना हुआ ( अराण्यः मृधः ) सुख न देने हार, दुस्वदायी कारणों को ( अपन्नं ) विनाश करता हुआ ( पयते ) प्रकट होता है ।

( २ ) हे ( पप्रमान ) हे सबको पवित्र करने हारं परमात्मन् ! ( न ) हमें ( राय. ) नाना प्रकार की धन धान्य सम्पदाएं ( आ भर ) प्राप्त करा । ( मृध ) हिंसक शत्रुओं को ( जहि ) नाश कर । हे ( इन्द्रो ) वेधर्षशील हमें ( धीरवन् ) पुत्र पौत्रों से युक्त ( वश. ) वश और सम्पत्ति का ( राख ) दान कर ।

( ३ ) हे ( सोम ) परमात्मन् ! या आचार्य ! उपदेशक ! विद्वन् ! ( रायः ) ज्ञानरूप साधनों का ज्ञानोपदेश ( इत्सन्तम् ) करने की इच्छा

बाह्य ( त्वा ) आपका (शत चत) सैकड़ों भी ( हुन ) कुटिलाचारी हिंसक  
पुरुष ( न भ्रमितन् ) नहीं मार सकत । ( यत् ) क्योंकि (पुनान ) सबका  
पवित्र करत हुए आप (मस्तस्यस) सबको ज्ञान का प्रदान करना चाहत है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[ १२१६ ] अथा पवस्य धारया यया सूर्यमरोचय ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २  
द्विभ्यानां मानुषीरप ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[ १२१७ ] अयुक्त सूर एतश पयमानो भनारधि ।

३ १ २ ३ १ २  
अन्तरिक्षण यानवे ॥२॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[ १२१८ ] उत त्या हारतो रथे सुरा अयुक्त यानवे ।

२ ३ २ ३ १ २ २ २

इन्दुरिन्द्र इति सुवन् ॥३६८॥ ष० ३ १३ । ७-६ ॥

भा०—( १ ) आपका दत्ता अविच्छेद सं० [ ४६३ ] पृ० २४६ ।

( २ ) ( पवमान ) अरमा को पवित्र करने द्वारा ( सूर ) सूर्य के  
समान ज्ञानी ( मनो ) मननशील चित्त में ( अन्तरिक्षण ) भीतर के  
हृदयाकाश में या परममुख या मोक्ष मार्ग में ( यानवे ) जान क लिये  
( एतश ) अथ क समान गमन साधन मन को ( अयुक्त ) यागसमाधि  
द्वारा ईश्वर स मिला, उसक प्रति जादें ।

( ३ ) ( इन्दुः ) ईश्वर क प्रति हुतगति स जान द्वारा ( सुर ) ज्ञाना  
योगी ( उत ) भी ( त्या इति ) उन हरयशाब्द प्राणों को ( इन्दु )  
परमेश्वर ई। ( इन्द्र ) परम षधयवान् ई' ( इति ) इस प्रकार ( सुवन् ) कहता  
हुआ ( रथ ) अथन समय करन याग परमहा म ही आपका ( अयुक्त )  
यागसमाधि स जाद दे ।

इति पञ्चम खण्ड ।

[१२१६] अग्निं घो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे  
 ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १  
 २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 कृणुष्वम् । या मर्त्येषु निधुविर्ज्ञातावा तपुर्मूर्धा घृताघ्नः  
 ३ २  
 पाचकः ॥१॥

[१२२०] प्रोथदशो न यवसेऽविष्यन् यदा मङ् संवरणाद्ध्यस्थात् ।  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 आदस्य घातो अनुवाभि शोचिरय स्म ते व्रजं कृणु  
 ३  
 मस्ति ॥२॥

[१२२१] उद्यम्य ते नवजानस्य वृणोऽग्ने चरन्त्यजरा इधाना ।  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १  
 अल्ला घामरयो धूम एपि सं दूनो अन्न ईयसे हि देवान्  
 ॥३॥६॥ अ० ७ । ३ । १-३ ॥

भा०—( १ ) हे विद्वान् गण्य ! ( व० ) आप लोग ( अग्निभिः )  
 मूर्धादि अग्नियों के समान प्रकाश करने हारे विद्वानों के साथ ( सजोषाः )  
 समान रूप से प्रेम करने हारे, निष्पक्षपात, ( यजिष्ठ ) दानशक्ति पुण्यकर्मा  
 ( अग्निम् ) तेजस्वी, अग्निसम, विद्वान् को ( अध्वरे ) द्विसारहित धर्म  
 कार्यों और व्यवहारों में ( दूत ) दूत के समान अपना संदेशकर ( कृणु-  
 ष्वम् ) बनाओ ( य० ) जो ( मर्त्येषु ) मनुष्यों में ( निधुवि ) स्थ स्थिर  
 निश्चय वाला, धैर्यवान् ( ज्ञातावा ) सत्याचारी, सत्यकर्मा, ( तपुः ) तपस्या  
 युक्त सदनशोच और राजाओं को सापकारी, ( मूर्धा ) सभ में शिर के  
 समान मुख और ( घृताघ्नः ) तेजस्वी, सांख्यिक भाजन करने वाला  
 ( पाचकः ) पवित्रकारी है । अथारमपच में-शेष अग्नियों, इन्द्रियादि सात  
 उवाचार्चियों से युक्त उस अग्नि, ज्ञानवान् आत्मा को अपने जीवन रूप  
 अथारमपच में दूत, उपदेशक, या मार्गदर्शी, प्रेरक बनाओ जो मरत्यकर्मा  
 पुरुषों में भी आत्मा रूप से अथारम सत्यज्ञानी, तपस्वी, मूर्धन्य, तेजस्वी और

हृदय को पवित्र करने द्वारा है । परमात्म पत्र में—( अग्निभि सजोषा )  
सूर्यादि समस्त तेजों में भी व्यापक ( घृताघ्न ) तेजोयुक्त समस्त हिरण्य  
गर्भादि लोकों को प्रलय काल में अपने में खीन करने द्वारा ( तपु ) सप्त  
का तापक, ( पावक ) सप्त का शाधक ( निघ्नवि ) नित्य ध्रुव ( श्रुतावा )  
सप्त स्वरूप, सत्योपदेश है उसका अपने समस्त कार्यों में ज्ञानदाता  
गुरु समझा ।

( २ ) ( प्रोधन् ) शब्द करता हुआ ( अन्न न ) अन्न जिस प्रकार  
( अविष्यन् ) भोजन करने की कामना से ( यवसे ) घास पर जाता है  
उसी प्रकार ( यदा ) जब ( मद् ) महान् श्रेष्ठ ( सवरण्यान् ) सवरण्य  
निरोधस्थान या वरण्य वाग्य उत्तम ब्रह्मचर्याश्रम, या गुरुगृह से अपने यश  
और धनादि प्राप्ति और गृस्थादि भोग्य आश्रमों क लिये ( वि अस्थात् )  
बाहर आता है और ( आत् ) अनन्तर ( अह्य ) इसक ( शाचि ) तत्र  
क ( अनु ) अनुकूल ( वाति ) प्राण भी ( वाति ) गति करता है ( अध )  
तब ही हे विद्वान् ! ( ते ) तेरा ( व्रजन ) मार्ग या गमन करना ( कृष्णम् )  
समस्त लोकों का अपनी भार आकर्षण करन वाला ( अस्ति ) होता है ।  
ब्रह्मचर्य करन क बाद गृहस्थ में भी उत्तम सदाचार और स्वस्थता से व्यव  
हार और जीवन यापन करन वाले विद्वानों क जीवनपथ पर दुनिया भी  
खची खली आती है । मम वर्मानुवर्तन्त मनुष्या पार्थ सर्वश । गीता ।

( ३ ) हे अग्न ! ( नवजागस्य ) सावित्रा क गर्भ से अभी नव ही  
बाहर आय नवस्नातक, ( शृण्य ) ज्ञानों क वर्णन करन द्वारे ( यस्य ते )  
जिस तर ( अत्रा ) जगत्सहित होकर बलवान् प्रखर, ( इधाना ) तेज  
( उचरन्ति ) प्रकट होते हैं । और ( अह्य ) कान्तिमान् ( धूम ) प्रति  
पक्षियों में कम्पना उत्पन्न करन द्वारा हाकर ( धाम् ) सूर्य या तेज प्रका  
शक और ज्ञान का ( पृषि ) प्राप्त करता है वह तू हे ( अग्न ) ज्ञानवान् !  
( देवान् ) विद्वानों क प्रति ( दू ) ज्ञान सदा ख ज्ञान क लिये दून या





अति उग्रस्वभाव ( असृजः ) कमी न हिसित ( वज्रः न ) विघ्न नाशक  
 आयुध के समान ( गिरा ) वेदवाणी द्वारा ( सम्भृतः ) उत्तम रीति से  
 धारण किया गया ( वधवे ) ससार को धारण करता है ।

इति १४ खण्डः ।

- [१२२५] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अघ्नव्यो अद्रिभि सुन सोमं पवित्र आनय ।  
<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> पुनाहीन्द्राय पानवे ॥१॥
- [१२२६] <sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> तव न्य इन्द्रो अग्रमो देवा मधोव्याशत ।  
<sup>१ २ ३ १ २</sup> पवमानस्य मरुत ॥२॥
- [१२२७] <sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> दिव पीयूषमुत्तम सोमभिन्द्राय वज्रिणे ।  
<sup>३ २ ३ १ २</sup> सुनाता मधुमत्तमम् ॥३॥११ अ० १ । २१ । १, ३, २ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अदिकल्प सं० [४६६]पृ० २४८ ।

( २ ) हे ( इन्द्रो ) सोम ! आत्मन् ! परमात्मन् ! ( पवमानस्य ) पवित्र  
 करने हारे, या स्वयं पवित्र, ( मधो ) अमृतरसस्वरूप ते) तेरे ( अन्धम )  
 जीवन धारण करने की शक्ति या उपमोक्ष्य आनन्दरस का ( न्ये ) वे ( म-  
 रुत ) प्राणस्वरूप ( देवा ) देव अर्थात् तेजस्वी सृष्टि आदि और विद्वान्जन  
 ( वि आशत ) विविध प्रकार से उपभाग करते हैं ।

( ३ ) हे विद्वान् पुरुषा ! आप क्षाय ( दिव पीयूषम् ) आकाश को  
 आनन्द मे भर देने वाले, चन्द्राक्षोक के समान अति आनन्दजनक, ज्ञान-  
 स्वरूप प्रकाश के ( पीयूषम् ) अमृतरसस्वरूप, ( मधुमत्तम् ) अति मधुर,  
 आनन्दकारी, ( सोमम् ) अद्यानन्दरस को ( वज्रिण्य ) ज्ञान और वैराग्य रूप  
 वज्र के धारण करने हारे ( इन्द्राय ) आत्मा के लिये ( सुनाते ) उपयुक्त करे ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३  
 [१२२८] धत्ता दिवः पवते कृत्वो रसो दक्षा देवानामनुमाद्यो  
 नृभिः । हरिः सृजानो अरयो न सत्यभिर्धुधा पाजांसि

कृणुषे नदीया ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २  
 [१२३६] शूरो न धत्त आयुधा गभस्त्यो स्वाश्-सिपासन् रथिरो  
 गायष्टिषु । इन्द्रस्य शुभ्रमरयत्तपस्युभिरिन्दुहिन्वानो  
 अज्येत मनीषीभि ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 [१२३०] इन्द्रस्य सोम पवमान ऊर्मिणा तधिष्यमाणो जठरे  
 प्राप्तिश । प्रन-पिन्व त्रिदुदभ्रव रोदसी धिया नो वाजी  
 उपमादि शश्वतः ॥२॥१२॥ अ० ६ । ७६ । १-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविष्कृत सं० [५२८] पृ० २६ ।

( २ ) ( शूर न ) जिस प्रकार शूरवीर योद्धा अपने ( गभस्त्योः )  
 शत्रुओं हाथों में ( आयुधा ) नाना प्रकार के हथियार ( धत्ते ) धारण करता  
 है उसी प्रकार सोमस्वरूप साधक अपने प्राण और अपान नामक ग्रहण  
 साधनों से नाना ज्ञानसाधनों को, या इन्द्र को प्राप्त करने के साधनों को  
 धारण करे और ( रथिरो ) रथी, वीर के समान ( गायष्टिषु ) गौः=इन्द्रियों  
 या वेद मन्त्रों के इष्ट भागों में ( स्व. ) सुर्य को ( सिपासन् ) यथावत्  
 प्राप्त करता हुआ ( इन्द्रस्य ) अपने आत्मा के ( शुभ्रम् ) बल या प्राण को  
 ( इरपन् ) प्रेरित करता हुआ ( अपस्युभिः ) सिद्ध, कर्मयोगी ( मनीषीभि )  
 विद्वानों द्वारा ( दिन्वान. ) अपने योगमार्ग में ज्ञानोपदेश द्वारा प्रेरित  
 होता हुआ ( इन्दु. ) परमैश्वर्य सम्पन्न होकर ( अज्येत ) ज्ञान, प्रकारों  
 द्वारा देदीप्त हो ।

( ३ ) हे ( सोम ) महानन्द के साधक मुमुक्षो ! हे ( पवमान ) हृदय को पवित्र करने हारे ! तू ( तवित्पमाण ) महान् सामर्थ्यवान् होकर ( इन्द्रस्य ) परमात्मा के ( जठरेषु ) बनाये हुए या प्राणियों को उत्पन्न करने हारे लाकों में ( ऊर्मिणा ) ऊर्ध्वगति द्वारा ( आविश ) प्रविष्ट हो ! ( विद्युत् भग्ना इव ) जिस प्रकार विद्युत् उत्पन्न होकर मघों का जल धरसान क लिय पूर्ण करती है उसी प्रकार तू ( रादसी ) प्राण और अपान दोनों को पूर्ण कर और ( न ) हमारे लिये ( शघत ) बहुत से ( वाजान् ) बलों और ज्ञानों को ( उप माहि ) उत्पन्न कर ।

१ २ ३ २३ ३२ ३३ २२ ३ २ ३ १ २

[२१३१] यादेन्द्र प्रागपागुदग्न्यग्ना ह्यसे नृभि ।

१ २ ३ १२ २३ ३ २ ३ ३ १ २

सिमा पुहृन्पूना अस्यानवसि प्रगर्द्ध तुर्धशे ॥१॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२३२] यद्वा रुम रुशमे श्यावक कृप इन्द्र मादयसे सचा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

कृपासस्त्या स्तोमेभिर्द्रष्टाहस इन्द्रा यच्छ्रुत्यागाह

॥२॥१३ श० ८ । ४ । १-२ ॥

भा०—( १ ) श्यावका देखो प्रविच्छन्न स० [२७६] पृ० १३४ ।

( २ ) हे इन्द्र ! आप ( रुमे ) रुमणीय, ( रुशम ) हिंसक ( श्यावक ) शक्तिमान और ( कृपे ) सामर्थ्यवान् पुरुष में ( सचा ) समान भाव में ( मादयसे ) आनन्द और हर्ष को प्राप्त करात हा । ( मद्रवाहम ) ज्ञान धारण करने हारे ( कृपावस ) मध्यामी पुत्र्य ( रवा ) तुभको ( स्तोमेभि ) अपनी स्तुतिषों द्वारा ( यच्छ्रुते ) बाधते हैं यश करते या प्राप्त हात हैं । तू ( आगदि ) आ दर्शन दे । यहां आत्मा क प्रति सम्बोधन करक कहा गया है । 'रुम,' 'रुशम,' 'श्यावक' और 'कृप' ये चार शब्द द्राक्षणा, सत्रिय धैर्य और शुद्ध चारों प्रकार के स्वभावों को दर्शाते हैं । "जात पात पूजे नहीं कोई हरिको भजे सो हरिको होई ।"

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ० ३ १ १ २ २  
 [१२३३] उमरं शृणुष्व न इन्द्रो अर्थागिदं वचः ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २

सप्तम्या मघवान्त्सोमपीतये अधयां शत्रुषु आगमत् ॥१॥

२४ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२३४] तं हि स्वराज वृषभं तमोजसा धिपणे निष्पद्यतु ।

३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

उनोपमानां प्रथमो निपीदसि सोमकामं हि ते मनः

॥ २ ॥ १४ ॥ अ० ८। ६१। १, २ ॥

भा० —( १ ) व्याख्या देखो आविकल सं० [२६०] पृ० १४८ ।

( २ ) ( हि ) क्योंकि ( तं ) उस ( स्वराज ) स्वयं प्रकाशस्वरूप, स्वतः सबके प्रकाशक, ( वृषभम् ) समस्त सुखों के वर्षक, परमेश्वर को ( धिपणे ) आकाश और पृथिवी ( मोजसा ) अपने बल से ( निःस्पद्यतु ) धारण करती है । हे प्रभो ! तू ( उपमानां ) ज्ञानयोग्य अथवा अपने बनाये समस्त पदार्थों के भी ( प्रथमः ) प्रथम ज्ञानोपदेश करने द्वारा या रचने द्वारा होकर उनमें ( निपीदसि ) गुप्तरूप से व्यापक है । ( ते ) तेरे ( मनः ) मन, संकल्प या ज्ञान सामर्थ्य सदा ( सोमकामं हि ) सबको प्रेरणा करने वाला, सबका उत्पादक, इच्छामय कारणरूप संकल्प मात्र है ।

‘सोऽहामयत बहु स्या प्रजापेय’ इत्यादि प्रकार का सृष्टि रचने का भगवान् का संकल्प समस्त पदार्थों में व्यापक है, जो सर्वत्र अद्भुतरूप से स्थावर, जंगम एवं दिव्य सृष्टियों को धरावर बनाता है और उन सबमें भगवान् स्वतः व्यापक भी है । ( तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् । तदनुशविरय सद्यप्यामवत् निरुहं चागिरुहं च । इत्यादि ( तैत्तिरीय उप० ब्रह्मानन्द बर्षी २। अनु० ६। ) आकाश और पृथिवी परमात्मा को अपने भीतर धारण करती हैं । जैसे ( मुण्डकोपनि० २ सु० व० १. क० ४ ) “अग्निर्मूर्धो, वसुषी चन्द्र-

सूर्षो दिशः धाम्ने, वाग्बिभृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो, हृदयं विधमस्य, पद्भ्यां  
पृथिवी, ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा” । अथवा छान्दोग्य में, वैधानर प्रकरण में-

“तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैधानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चतुर्विधरूपः प्राणः पृथ-  
ग्वर्माऽऽश्मा संदेहो बहुलो, वस्तिरेव रयिः, पृथिव्येव पादावुर एव वेदिजो-  
मानि हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वहार्यपचनः आस्थमाहर्तनायः ॥” (छा० उप०  
श्र० ५ । सू० १७) अथवा स्वयं वेद धृति—“यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतो  
दरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।” (अथर्व० का० १०१  
सू० ८ । म० १)

इति सप्तमः खण्डः ।

[१२३५] पयस्य देव आयुषोऽग्नेन्द्रं गच्छतु तं मदः ।

आयुषोऽग्नेन्द्रं धमणा ॥ १ ॥

[१२३६] पवमान नि तौशसे रयिं सोम अवाव्यम् ।

इन्द्रो समुद्रमाविश ॥ २ ॥

[१२३७] अपपन्न पयस्ये मृधः क्रतुवितसाम मत्सरः ।

नुदस्रा देवयुं जनम् ॥३४१५॥ श्र० ६ । ६३ । २२-२४ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविच्छिन्न सं० [४८३] पृ० २४२ ।

( २ ) हे (पवमान) सोम ! विद्वन् ( आप (अवाव्यं) यश और कीर्ति के  
जनक अथवा वेद द्वारा अव्यय करने योग्य ( रयिं नितौशसे ) आत्मज्ञान  
रूप ऐश्वर्य का प्रदान करते हो एवं अन्यास करते हो । अतः हे ( इन्द्रो )  
ज्ञान-वकारक ! आप (समुद्रम्) समुद्र के समान गम्भीर, अगाध, ज्ञानमय  
परमेश ज्ञान में ( आविश ) प्रवेश करें ।

१२३५—‘प्रियः समुद्र’ इति श्र० ।

( १ ) अन्यास संश्लेष ‘अपपन्न पयस्ये मृधः’ प्यावदेव क्रकृप्रतीक  
मुपलभ्यते ॥

( ३ ) व्याख्या देखो अविच्छेद सं० [४१२] पृ० २४५ ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२३८] अभी नो वाजसातमं रथिमर्षं शनस्पृहम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्रो सहस्रमर्षं तन्तुविद्युम्नं विमासहम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२३९] वयं ते अस्य रावसो वसार्थसो पुरुस्पृहः ।

१ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २

नि नेदिष्ठतमा इपः स्याम सुम्ने ते अधिगो ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २

[१२४०] परि स्य स्वानो अक्षरदिन्दुरव्य मदच्युतः ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ २ ३ ३ २

धारा य ऊर्द्धो अक्षरे भ्राजा न याति गन्धयुः ॥३॥१६॥

अ० ६। ६८। १, ५, ३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविच्छेद सं० [५४६] पृ० २७५ ।

( २ ) हे ( अग्निगो ) श्रुव ! सबसे अधिक शक्तिशालिन् ! हे (यसो)

सबके अन्तर्यामिन् ! ( वयं ) हम लोग ( ते वसोः ) सब को भास देने  
 द्वारे और सब में बसने द्वारे तेरे ( पुरुस्पृह ) सब को प्रेम करने द्वारे  
 और सब के प्रेमपात्र ( अस्य रावसः ) इस आराधनीय ( इपः ) सब के  
 प्रेरक, सब के इच्छा के विषय जीवन और अन्नादिक शक्तिस्वरूप के  
 (नेदिष्ठतमाः) यति निकटवर्ती होकर हम ( ते सुम्ने ) तेरे सुखमय स्वरूप  
 में ( नि स्याम ) रहें ।

( ३ ) ( यः ) जो ( इन्द्रुः ) सोम अर्थात् वीर्य, ( गन्धयुः ) गौ=  
 इन्द्रियों में व्याप्त होने वाला या इन्द्रियों की शक्ति से युक्त ( न ) जिस  
 प्रकार ( भ्राजा ) अपनी हींसि से, ( अक्षरे ) हिंसारहित जीवन या

१२३८—अन्यासु सहितानु श्रुतीकमात्रम् 'अभी नो वाजसातमः' ।  
 १२३९—'वयं ते अस्य वृषदन् वयो बन्धः पुरुस्पृहः'—'स्याम सुम्नस्याग्निगो' ।  
 १२४०—'परिभुवानो अक्षरद्' 'भ्राजानेवि' इति ऋ० ।

प्राणायाम और योगसमाधि रूप यज्ञ में ( धारा ) धारण सामर्थ्य वा निष्ठा या शायीरूप से ( ऊर्ध्व ) ऊर्ध्व प्रदेशों में ( याति ) गमन करता है । ( स्य ) वही ( स्वान ) पुन सुषम नार्हाजालों में चरित होकर ( मदच्युतः ) आनन्द-रूप भ्रमृत का सवण करता हुआ ( इन्दु ) कान्तिमान् होकर ( अग्ने ) प्राणमय कोश में बल से ( अशरद् ) चरित होता वा प्रकट होता है ।

१२ ३१ २३२ ३२ ३२३ २ ३ १२ २२

[१२४१] परस्य सोम महान्तसमुद्र विना देवाना विश्वाभि ग्राम ॥१॥

३१ २ ३१ २ ३१ २ ३१२ २२ ३१ २

[१२४२] शुक्रः पवस्य देवेभ्य साम दिव पृथिव्यै श च प्रजाभ्य ॥२॥

३ २ ३ १ २ ३२ ३१२ ३१२ २२ ३ १ २

[१२४३] दिवो धर्त्तासि शुक्र पायूप सत्ये विधर्मन् वाजी पवस्व

॥ ३ ॥ १७ ॥ अ० ६ । १०६ । ४-६ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखिये अविच्छल स० [४२६] पृ० २१६।

( २ ) हे ( सोम ) सर्वोत्पादक ! तू ( शुक्र ) शुद्धस्वरूप, कान्तिमान् ( दिवः ) आकाश और दिव्य, जागवक्ष्यमान सूर्य में तज स्वरूप होकर ( पृथिव्यै ) पृथिवी में जलस्वरूप और अन्नस्वरूप होकर ( प्रजाभ्य ) समस्त प्रजाओं क लिये अन्न, औषधि और वीर्यरूप होकर ( श ) कल्याणकारक, शान्तिदायक और आनन्ददायक है ।

( ३ ) हे ( सोम ) सर्वोत्पादक ! तू ( शुक्र ) तज स्वरूप, शुक्ल, कान्तिमान् ( दिव ) सूर्य का भी ( धर्त्ता ) धारण करन द्वारा, ( स ये ) सायस्वरूप ( विधर्मन् ) विश्व को नाना रूप से धारण करने द्वार परमेश्वर में ( पीयूष ) समस्त जीवों द्वारा पान करन, उनको तृप्त कर अनुकूल सवेदन करन योग्य अनन्त आनन्दस्वरूप ( वाजा ) बलवान्, ऐश्वर्यवान् होकर ( पवस्व ) प्रकाशित हा ।

इति अष्टम खण्ड ।



[१२४४] <sup>१ २ ३ १ २</sup> प्रेष्टुं यो <sup>उ २ ३ १ २</sup> अनिधिं <sup>उ २</sup> स्तुपे मित्रमिव प्रियम् ।

<sup>२ ३ २ ३ १ २ २ २</sup>  
अग्ने रथं न नेत्रम् ॥ १ ॥

[१२४५] <sup>३ १ २</sup> ऋविमिव <sup>उ २ ३ २</sup> प्रणम्यं य <sup>उ २ ३ १ २ ३ २</sup> देवास इति द्विता ।

<sup>१ २ ३ २</sup>  
नि मत्स्येष्वद्भ्यु ॥ २ ॥

[१२४६] <sup>१ २</sup> न्य यविष्ट <sup>उ २ ३ १ २</sup> दाशुपो नैः <sup>उ १ २ २ २</sup> पाहि शृणुही गिर ।

<sup>१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २</sup>  
रक्षा तो ऽमुने ऽमना ॥ ३ ॥ १८ ॥ ४० ८ । ८४ । १-३ ॥

( १ ) व्याख्या देखो अविक्ल सं० [ ५ ] पृ० ३ ।

( २ ) ( देवास. ) विद्वान् जोग ( प्रणम्यं ) उत्तम रीति से स्तुति करने योग्य, ( ऋविम् इवाः ) कान्तदशी, मधावी के समान ( इति ) इस प्रकार प्रत्यक्षरूप से ( यं ) जिसको जानकर ( द्विता ) दो रूपों में ( मत्स्येषु ) मनुष्यों में ( नि-मत्स्येषु ) धारण करते हैं ।

विद्वानों की दृष्टि में आत्मा के दो रूप हैं—एक समस्त संसार में व्यापक सर्वमाही परमेश्वर और दूसरा कर्मकर्ता और फल भोगी जीव दोनों का सामान्य नाम 'आत्मा' है ।

( ३ ) हे ( यविष्ट ) सब में व्यापक 'सबसे अधिक शक्ति वाले' ( एव ) तु ( दाशुप ) दानशील बदर होकर ( नून ) मनुष्यों को ( पाहि ) पावन कर । ( गिर ) स्तुति वाणियों को ( शृणुही ) धवण कर । ( उत ) और ( अमना ) स्वयं अपने सामर्थ्य से ( तोकं ) बालक या उसके समान कार्य जगत् की ( रक्ष ) रक्षा कर ।

[१२४७] <sup>१ २</sup> पन्द्र नो गधि <sup>उ १ २</sup> प्रिय सत्राजिदगोहा ।

<sup>३ १ २ ३ १ २ २ ३ २</sup>  
गिरिर्न विश्वत पृथु पतिद्विव ॥ १ ॥

उ ११ २४ उ २ उ २ उ १ २  
 [१२४८] अग्नि हि सन्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी ।

११ उ २ उ ११ २४ उ २  
 इन्द्रासि सुन्वतो वृथ पातद्दिव ॥ २ ॥

१ उ २ उ १ २ उ २ उ ११ ११  
 [१२४९] त्व दि शश्वतीनामिन्द्र दत्तां पुगामसि ।

उ ११ उ १ २ उ २ २४ उ २  
 हन्ता दस्योमनो वृथ पातद्दिव ॥ ३ ॥ १६ ॥

श्व० ८ । १८ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अतिकूल स० [१६३] पृ० २०२ ।

( २ ) हे ( स्य ) सत्वस्वरूप परमात्मन् ! ( इन्द्र ) हे ऐश्वर्यवान् !  
 आप ( सोमपा ) समस्त ससार क पावन करने वाले, प्रलय काल में सब  
 ससार को स्वयं सूक्ष्म कारण रूप में अपने भीतर पान भरोत खीन करने  
 हार हो । आप ( उभ ) दोनों ( रोदसी ) खोंकों को या उत्पत्ति और  
 विनाशरूप दोनों मर्षादाओं को ( बभूथ ) बरा करने में समर्थ हो । आप  
 ( सुन्वत ) उत्पन्न होते या अपनी शक्ति से प्रेरणा करते हुए ( दिव ) सूर्य  
 या प्रकाश को भी ( वृथ ) बड़े भारी, बढ़ानेहारे ( पति ) मालिक हो ।

( ३ ) हे ( इन्द्र ) परमात्मन् ! आप ( शश्वतीना ) अनादिकाल,  
 से चल आये ( पुराम् ) देहरूप पुरों के ( दत्तां ) दारण करने हारे,  
 मुक्तिदायक ( असि ) हो । ( दस्य ) नाशकारी अज्ञान के ( हन्ता )  
 नाश करने वाले और ( मनो ) मननशील ज्ञानी आत्मा के ( वृथ )  
 बढ़ाने वाले और ( दिव ) सूर्य तथा उसके समान ददीप्यमान आदित्य  
 योगी पुरुषों और ज्ञानी और ज्ञान प्रकाश क भी ( पति ) स्वामी हो ।

१२४७—३ वृत्तां पुगाम् इति पाठ सायणमन्थन । परमात्मन्तु सायणोऽपि  
 दारयिता इत्येव परांशमुद्विषति । मुन्वरं अत्रमरादिमुद्विषतो 'वृत्तां'  
 इति पाठन्तु भाष्यकृद्भिरनाहत । 'पुराम्भिन्दुरित्यादिशुक्लान्तरविरोधात् ।

[१२५०] पुरा अभ्युद्युग कजिरामते जा अजायत ।

इन्द्रा जिश्वस्य कर्मणो धर्ता पृथ्वी पुरुदुत्त ॥ १ ॥

[१२५१] त्र्यं बलस्य गोमतो पाधग्द्विषो बिलम् ।

त्वा देवा आपभ्युपस्तुज्यमानास आग्निषु ॥ २ ॥

[१२५२] इन्द्रमीशानमोजसामिन्द्राभिरनूयत ।

सहस्र यस्य रानय उत वा सन्ति भूयसी ॥ ३ ॥ २० ॥

६० ६। ११। ५, ५, ८ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० स० [ ३५६ ] पृ० १८६ ।

( २ ) हे ( अग्नि ) दीर्घो या विनाश न होन वाले अविनाशी स्वरूप बाल आत्मन् । ( त्व ) तू ( गोमत ) इन्द्रियों से युग् ( बलस्य ) प्राण के ( बिलम् ) प्रवेशस्थान शरीर बन्धन को ( आप अब ) खोल देता है, ( देव ) समस्त अग्नि आदि देव ( आपभ्युप ) तेरी रक्षा में भय न करते हुए ( तुज्यमानास ) पीड़ित होकर अथवा तुम्ह से ही शक्ति प्राप्त करते हुए । ( त्वा ) तरे पास ( आ अग्निषु ) शरण में प्राप्त होते हैं ।

जैसा ऐतरेयापनिषद् में—' ता एता देवता सृष्टा अस्मिन् महत्पर्यंवे प्रापतन् ता एनमभ्युवन् आयतन न प्रजानेहि \*\* ताभ्य पुरुप-मानवत् । ता अयुवन् सुकृत वतेति पुरयो वाव सुकृतम् । ताः अयवीद् यथायतन प्रविशतति ॥ ३ ॥ अग्निवाग् भूवा मुख प्राविशद्, वायु शण्डो भूवा नासिक प्राविशद् आदित्यश्चक्षुर्भूवा अक्षिणी प्राविशद् ।' इत्यादि समस्त देवताओं का पुरुष शरीर में प्रविष्ट कराकर आत्मा हृदयरूप स्वयं मानव द्वार स प्रविष्ट होगया । ' स एतमेव सीमान विदार्य एतया द्वारा प्रापयत । सैषा विद्वतिर्नामद्वास्तदेतन्नान्दनम् ।' इत्यादि प्रकरण में इस मन्त्र का रहस्य खोला गया है । । एतय उप० अ० १ । ख० २ । ३)

१२५०—२. 'गोमतोऽपाव', ३ 'अभिस्तोना' इति अ० ।

( ३ ) हे विद्वानो ! ( श्रोजसा ) यजने श्रोज बल और वीर्य से ( ईरानं समस्त मंत्रों को बश करने हारे मालिक ( इन्द्र ) परम आत्मा की ( स्तांभैः ) वेदमन्त्रों द्वारा ( अभि धनूपत ) स्तुति करो । ( यस्य ) जिसके ( हातयः ) दिशे हुए दान हज़ारों और ( उत ) और भी ( भूयसीः ) बहुत अधिक ( सन्ति ) हैं ।

इति नवमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽध्यायः प्रपाठकः ।

इति नवमोऽध्यायः समाप्तः ।

### अथ दशमोऽध्यायः

अथ पञ्चमप्रपाठकस्य ( द्वितीयाऽर्धः ) प्रपाठकः ।

अग्नि — १ पराशरः । २ शुनःशेषः । ३ अस्तिः कारयपो देवलो वा । ४, ७ राहूगणः । ५, ६ नृमेधः प्रिःनेधश्च । ८ पवित्रो वमिष्ठौ बोभौ वा । ९ वसिष्ठः । १० वरसः काण्वः । ११ शत वैजानमाः । १२ सतपथः । १३ वसुभर्त्स्नाजः । १४ नृमेधः । १५ अग्रे प्रागाथः । १६ भरद्वाजः । १७ मयुरात्मवः । १८ अम्यरीष अजिथा च । १९ अन्नयो विष्ण्वाः ऐश्वराः । २० अमहीशुः । २१ निशोकः काण्वः । २२ गोतमो राहूगणः । २३ मधुच्छन्दा वैशामित्रः ॥ देवता—१—७, ११—१३, १६-२० परमान सोमः । ८ पावमान्वभ्येतृस्तुतिः । ९ अग्निः । १०, १४, १५, २१—२३ इन्द्र ॥ छन्दः—१, ६ त्रिष्टुप् । २—७, १०, ११, १६, २०, २१ गायत्री । ८, १८, २३ अनुष्टुप् । १३ जगती । १४ निचृश्वली । १५ प्रागाथः । १७, २२ उष्णिक् । १२, १९ द्विपदा पक्तिः ॥ स्वरः—१, ६ धैवतः । २—७, १०, ११, १६, २०, २१ पङ्क्तः । ८, १८, २३ गान्धारः । १३ निपादः । १४, १५ मध्यमः । १२, १९ पञ्चमः । १७, २२ अयमः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१२५३] अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मन् जनयन् प्रजा भुवनस्य  
 ३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 गोषा । वृषा पवित्र अधि सानो अध्ये वृहत्सामो वावृषे  
 ३ १ २ २  
 स्वानो अद्रिः ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१२५४] मरिचि वायुमिष्टय रा मसे नो मरिचि मिश्रावहणा पूषमानः।  
 २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १  
 मरिचि शर्धो मारुत मरिचि देवान् मरिचि चावापृथिवी  
 १  
 देव सोम ॥ २ ॥

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ २  
 [१२५५] महत्तत्सोमो महियञ्चकाराया यदुगमोऽपृथिवी देवान् ।  
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 अद्भ्यादिन्द्रे पृषमान आजाऽजनयन्सूर्योऽज्योतिरिन्दुः  
 ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० १। ६७। ४०-४१ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अदि० सं० [१२६] पृ० २३६ ।

( २ ) हे आत्मन् ! तू ( वायुम् ) वायु और प्राण को ( मरिचि ) प्रसन्न और चेतन करता है, ( इष्टे ) अभीष्ट प्राप्ति और ( राधसे ) आराधना के कारण ( नः ) हमको ( मरिचि ) आनन्दित करता है । ( पूषमानः ) सर्वत्र प्रकाशित होकर ( मिश्रावरणा ) मिश्र और वरण सूर्य और मेघ और प्राण और अयान दोनों को ( मरिचि ) इर्षित करता है, गति देता है । ( शर्धे ) बलस्वरूप होकर ( मारुत ) प्राण और प्रबल वायु को भी मरिचि इर्षित करता, मानों आनन्द में लभाता है । ( मरिचि देवान् ) समस्त सूर्य चन्द्रादि देवों एवं इन्द्रियों को ( मरिचि ) आनन्दित करता, उनको निवम, से गति देता है, और ह ( देव सोम ) सबके काशक और उत्पादक प्रेरक आत्मन् ! ( चावापृथिवी ) दौ और पृथिवी, ज्ञानी और अज्ञानी नर और नारी दोनों को ( मरिचि ) इर्षित करता, पृथ वृत्त करता है ।

( ३ ) व्याख्या देखो अदि० सं० [१५२] पृ० २७१ ।

- [१२५६] एष देवा अमत्यः पर्णैर्वारिव दीयते ।  
<sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>२ १ २</sup>  
<sup>३ १ २</sup> अभि द्रोणान्यासदम् ॥ १ ॥
- [१२५७] एष विप्रैरभिष्टुनोऽपो देवा विगाहते ।  
<sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup>  
<sup>२ ३ १</sup> दधद्रत्नाणि दाशुष ॥ २ ॥
- [१२५८] एष विश्वानि धार्या शूरा यन्निच सत्यभिः ।  
<sup>३ १ २</sup> <sup>२ १ ३</sup> <sup>२ १ ३</sup> <sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
<sup>१ २</sup> पयमानः सिपासति ॥ ३ ॥
- [१२५९] एष देवा रथर्यति पयमानो दिशस्यति ।  
<sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>२ २</sup>  
<sup>३ १ २</sup> आविष्कृणाति वग्धनुम् ॥ ४ ॥
- [१२६०] एष देवा विपन्युभिः पयमान भ्रूतायुभिः ।  
<sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup>  
<sup>२ ३ १ २</sup> हरिवाजाय मृज्यते ॥ ५ ॥
- [१२६१] एष देवा विपाकनोऽनिद्धरांसि धावति ।  
<sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup>  
<sup>१ २</sup> पयमानो अदाभ्यः ॥ ६ ॥
- [१२६२] एष दिवं विधावति तरो रजासि धारया ।  
<sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ ३</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>२ १ ३</sup> <sup>२ १ ३</sup>  
<sup>१ २</sup> पयमानः कनिकदत् ॥ ७ ॥
- [१२६३] एष दिवं व्यासरत्तिरो रजास्यस्तुनः ।  
<sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup>  
<sup>१ २</sup> पयमानः ऋधरः ॥ ८ ॥
- [१२६४] एष प्रन्नन जन्मना देवा देवभ्यः सुतः ।  
<sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup>  
<sup>३ १ २</sup> हरिः पयिञ्च अर्पति ॥ ९ ॥
- [१२६५] एष उ स्य पुरुग्रना जज्ञाना जमयात्रिपः ।  
<sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup>  
<sup>१ २</sup> धारया परते सुतः ॥१०॥२॥३०॥३१॥३२॥३३॥३४॥३५॥३६॥३७॥३८॥३९॥४०॥

भा०—( १ ) ( देव ) प्रकाशमान, ( अमर्यं ) मरणरहित, अमृत-  
स्वरूप जीव ( द्रोणकलशानि ) द्रोणकलशों, अर्थात् देहों के ( अग्नि )  
प्रति ( आसद्म् ) प्रकृत होकर उनमें विभाजने के लिये ( पृथ्वीः इव )  
पृथ्वी या किरणों से युक्त सूर्य के समान या पत्तों से युक्त वृक्ष के समान  
( दीपते ) प्राप्त होता या उनमें विभाजना है ।

द्रोण अर्थात् गति करने का स्थान और कलश अर्थात् कला या  
शयन २ सचय करक बना हुआ । फलत यह शरीर द्रोणकलश है ।  
इनमें शुक्रस्वरूप दीप्तिमय चतनावान् आत्मा 'सोम' है । वह इन शरीरों  
में निवास करने के लिये पिप्पले में पृथ्वी के समान आता है । इस  
आत्मा के साम और इन्द्र विषयक अलंकार का स्पष्टीकरण देखो ( यजुर्वेद  
अ० २० । मं० ८६-६६ ) यथा—'आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमाना गुदाः  
पात्राणि सुदुधा न धनुः । रयेनस्य पत्रं न प्रीडा शचीभिरासन्दी नाभिरदरं  
न माता ॥ ८६ ॥ इत्यादि ।

( २ ) ( एष ) वह आत्मा ( विप्रै ) मेधावी, ज्ञानों पुरुषों द्वारा  
( अग्निस्तुनः ) ऋक २ प्रकार से साक्षात् करके वर्णित किया हुआ ( देव )  
प्रकाशस्वरूप ( अय ) समस्त प्रज्ञानों, कर्मों और खोंकों को ( नि गार्हते )  
अमण करता है । और ( दाशुषे ) आत्म समर्पण करने श्रे साधक के  
( रत्नानि ) नाना रमण योग्य सुखों, पदार्थों, या देहों को ( दधन् ) पुष्ट  
करता या धारण करता, या देता है ।

( ३ ) ( एष ) वह ( पत्रमानः ) समस्त शरीर में व्यापक और  
गतिमान् या उसको पवित्र करता हुआ, या उसमें स्वतः पवित्र होता हुआ,  
( सावभि ) अपने सात्विक बलों से ( शूर इव धन् ) वीर योद्धा के स-  
मान गति करता हुआ ( विधानि ) समस्त ( कार्याणि ) धरण करने योग्य  
दानगर्हों, सुखों का ( सिधासोवि ) सेवन करता है ।

( ४ ) ( एष ) वह ( दव ) प्रकाशमान, ( पवमान ) समस्त शरीर और हृदय को पवित्र करता हुआ ( रथयति ) रथ के समान शरीर में रहता है और ( दिशत्यति ) उपदेश प्रदान करता और ( वय नुम् ) ज्ञानवाणी या स्तुति को ( आवि कृद्यति ) प्रकट करता है ।

( ५ ) ( एष ) वह ( हरि ) दुःख हरण करने द्वारा ( दव ) दव ( पवमान ) व्यापक आत्मा ( विपन्युभि ) विद्वान् सत्य अर्थों के प्रकाशक ( ष्टयायुभि ) सत्य कामना वाले विद्वान् द्वारा ( वाजाय ) बल की प्राप्ति के लिये ( सृज्यत ) और भी पवित्र किया जाता है ।

( ६ ) ( एष देव ) वह सुखों का दाता सर्वप्रकाशक आत्मा ( पवमान ) पवित्र किया हुआ ( विषा ) विशेष पालना करने वाली शक्ति से ( कृत ) सम्पन्न होकर ( अदाभ्य ) विना किसी रुकावट के, अदम्य या अविनाशी, असृत होकर ( ह्वरांसि ) समस्त कुण्डलि विचारों, या पापसकृषों, या बन्धनों को ( अति धावति ) पार कर जाता है ।

( ७ ) ( एष ) वह ( पवमान ) शुद्ध, पवित्र होकर ( रजासि ) समस्त रजोगुण के कर्मों और लोकों को ( धारया ) अपनी धारणा शक्ति द्वारा ( अति ) अतिक्रमण करके ( कनिक्रदत् ) अनाहत नाद या परमेश्वर की स्तुति करता हुआ ( दिव ) ज्ञानमय, प्रकाशमय मातृ को ( विधावति ) प्राप्त कर, विचारण करता है ।

( ८ ) ( एष पवमान ) वह गुत्रात्मा सोम ( अस्तून ) वासनाओं से बाधित न होकर ( सु अश्वर ) सुकृत कर्म करके कभी नाश का न प्राप्त होने वाला, होकर ( रजासि ) रजामय विग्रों का ( तिर ) एक तरफ़ दृष्टाकर ( दिव ) प्रकाशमान मोक्षलाक को ( वि आसरत् ) विशप रूप से प्राप्त होजाता है ।

( ९ ) ( एष ) वह ( दव ) प्रकाशमान ( सुत ) सम्यक् मार्ग में निष्ठ होकर ( हरि ) सब दुखों, या बन्धनों का काटने वाला, आत्मा



( देवेभ्यः ) विद्वान् पुरुषों के हितार्थ ( प्राप्तेन ) पुराने परिषद ( जन्मना ) उपार्जित उत्तम जन्म द्वारा ( पवित्रे ) परम पावन, परमात्मा में ( अपैति ) जा लागता है ।

( १० ) ( एष उ स्यः ) और वही यह ( पुरुषतः ) नाना सत्कर्म अनुष्ठान करने द्वारा ( जज्ञानः ) शरीर में आकर ( इष ) माना कर्मों, कर्मफलों को ( जनयन् ) उत्पन्न करता हुआ ( सुत ) गुरुओं से उपदेशों द्वारा उत्तम मार्गों में प्रेरित और ज्ञान समग्र होकर ( धारया ) अपनी धारणा शक्ति या वाणी, स्तुति द्वारा ( पवते ) उत्तम मार्ग में गति करता है ;

इति प्रथम खण्डः ।

—०—

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१२६६] एष प्रियायात्यग्न्या शूरो रथेभिराशुभिः ।

२ ३ १ २ ३ २

गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १ ॥

३ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २

[१२६७] एष पुरु प्रियायते बृहते देवतातये ।

२ ३ १ २ ३ १ २

यथामृतात्प्र आशत ॥ २ ॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२६८] एत मृजान्ति मर्ष्यमुपद्राणेन्यायनः ।

३ २ ३ १ २

प्र चक्राणु महीरिप ॥ ३ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

[१२६९] एष हिना विनीयनन्तः शुन्ध्यावता पथा ।

१ २ ३ २ ३ १ २

यदी तुञ्जन्ति भूषेय ॥ ४ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२७०] एष रुक्मभिरीयने घात्री शुधेभिरंशुभिः ।

२ ३ १ २ ३ १ २

पतिः सिन्धुना भयन् ॥ ५ ॥

[१२७१] <sup>३ १४ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ २ १ २</sup> एष शृङ्गाणि दौधुञ्छिशीते यूथ्यो ३ वृषा ।

<sup>३ १४ २२ ३ २ १</sup> मृ-णा दधान आजसा ॥ ६ ॥

[१२७२] <sup>३ २ २२ ३ १४ १४ ३ १४ १४</sup> एष वसूनि पिन्दन परुषा ययिर्वा अति ।

<sup>२ ३ १ २</sup> अत्र शदिषु गच्छति ॥ ७ ॥

[१२७३] <sup>३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> एषमु त्व दश क्षिपो हरिं दिन्वन्ति यातये ।

<sup>३ ३ ३ १ २</sup> स्वायुध मदिन्तमम् ॥ ८ ॥ ३ ॥

अ० ६ । १५ । १, २, ७, ३, ६, ४, ६, ८ ॥

भा०—( १ ) ( रथेभि ) रथों द्वारा जिस प्रकार ( शूर ) शूरवीर योद्धा सेनापति के पद पर अभिषिक्त होकर जाता है उसी प्रकार दूर तक स्थापन करने वाले सात्विक साधनों से युक्त हाकर ( एष ) यह समाधि गुणसम्पन्न योगी ( आशुभि ) शीघ्रगामी, दूरतक शीघ्र फैलन वाल (अवस्था) सूक्ष्म ( धिया ) प्रज्ञा, निदिध्यासन, उपासना कर्म या, साधना द्वारा ( इन्द्रस्य ) आत्मा और प्रभु परमात्मा के ( निष्कृणम् ) परम दिव्य धाम को ( गच्छन् ) जाता हुआ ( याति ) परम सुख को प्राप्त करता है ।

( २ ) ( एष ) यह आत्मा योगी उस ( वृहत ) बड़े मारी ( देवतातये ) दिव्यगुण सम्पन्न प्रभु को साक्षात् करने के लिए ( पुरु ) नाना प्रकार के सत्कर्मों द्वारा ( धियायते ) ध्यान करता और योग समाधि का अनुष्ठान करता है । अथवा ( धिया अयते ) ध्यान, ज्ञान और कर्म द्वारा मनसा, वाचा कर्मणा प्राप्त होता है । ( यत्र ) जहाँ जिसमें व ( अमृतास ) अन्य मुक्तात्मागण अमृत स्वरूप होकर ( आशत ) मोक्षसुख का भाग करते हैं ।

( ३ ) ( आयव ) दीर्घ आयु की कामना करने वाले, या जानी मनुष्य ( एत ) इस ( सोमम् ) शमदमादि साम्यगुणों से सम्पन्न ( मर्त्य ) प्रयत्न से शोधने योग्य, या खोजने योग्य ( मही ) बड़ी ( इष ) इच्छाओं को

या यज्ञ साधनाओं को ( प्र चक्रायाम् ) उत्तमरूप से करते हुए आत्मा को ( दोषेषु ) द्रुतगति वाले अति वेगयुक्त मानसध्यापनों या कोशों में ( मृजन्ति ) अत्यन्त परिष्कृत करते हैं ।

( ४ ) ( पृ० ६ ) जब ( मूर्ध्याय ) भरणशक्ति प्राण और अपान को यथास्थान, यथासामं में प्राणायाम द्वारा लेजाने वाले ज्ञानी पुरुष ( तुञ्जन्ति ) प्राण और अपान की आहुतिया प्रदान करते हैं तब ( पृ० ) यह सोम ( अन्तः ) भीतर ( हितः ) गुप्तरूप से विद्यमान ( शुभ्यावता ) शुद्धियुक्त ( पथा ) मार्ग से ( विनीयते ) प्राप्त कराया जाता है ।

( ५ ) ( पृ० ) यह सोम ( रुक्मिभिः ) उत्तम क्रान्ति से सम्पन्न, देहोप्यमान तेज वाले, ( शुभ्रेभिः ) अत शुद्ध ( अशुभिः ) किरणों से युक्त ( वाजी ) यज्ञवान् और ज्ञानवान्, ( सिन्धूर्ना ) गतिशील प्रवृत्तियों, प्राणों और प्रणवियों का ( पतिः ) पात्रक ( भवन् ) होता हुआ ( हृषते ) जाना जाता है ।

( ६ ) जिस प्रकार ( यूयः पृषा ) गोयूथ में विचरण करने द्वारा महावृषभ ( शृङ्गाधि दोषुवत् ) अपने सोंग दिखाता हुआ ( शिशीते ) समीप के पदार्थों को भी कपाता है उसी प्रकार ( पृ० ) यह विद्वान् अपने ( शृङ्गाधि ) किरणों को या प्रेरक बलों को ( दोषुवत् ) प्रेरित करता हुआ ( श्रोतसा ) अपने यज्ञ से ( नृभ्या ) प्राणों को ( दधानः ) धारण करता हुआ ( शिशीते ) सब प्राणों को भी कम्पित करता उनको संचालित करता है ।

( ७ ) ( पृ० ) यह ज्ञानी ( वसुने ) वास करने वाले प्राणों को ( पिबन् ) पीबित या प्रेरित करता हुआ ( परुषा ) प्रायेण पर्व या मन्त्रिण को ( अति यथिवान् ) पार करता हुआ ( शोषेषु ) कठिन तपस्याओं या अभिव्यो में ( अथ गच्छति ) प्रवेष्ट करता है ।

( ८ ) हरि ) हु सों के हरन बाल मन हर, सबके प्रेरक, सबके धारक,  
(त्यप्त ) उम इय ( सु-भायुधम् ) उत्तम साधनाओं स सम्पन्न, (मिदन्ति  
म ) अति आनन्द और हर्षयुक्त सामरूप साधक आत्मा को ( दश विप )  
दशों प्राणगण ( पातव ) प्राप्त करन वा आनन्दरस पाव कराने के लिये  
( द्वि-वन्ति ) प्रेरित करत हैं ।

ज्ञान द्वितीय सण्ड ।

३ २ ३ २ ४ ३ २ ४ ३ १ २

[१२७४] एष उ स्य घृषा रथाऽव्या धारभिरव्यत ।

२ २ १ २ ३ १ २

गन्धुन् वाज सहस्रिणम् ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२७५] एत त्रिनस्य दोषणा हरिं द्विन्यन्त्यद्रिभि ।

२ ३ १ २ ३ १ २

इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ २ ॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१२७६] एष स्य मानुषीप्या श्येना न विञ्चु सादति ।

१ २ ३ २ ४ ३ १ २

गन्धुञ्जारो न योपितम् ॥ ३ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ४

[१२७७] एष स्य मघो रसोऽरचष्टे दिव शिशु ।

४ ३ २ ३ ३ १

य इन्दुर्वारमाविशत् ॥ ४ ॥

३ २ ४ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१२७८] एष स्य पीतय मुना हाररर्पति धणसि ।

२ ३ १ १ ३ २ ३ २

धन्दन्यानिमभि प्रियम् ॥ ५ ॥

३ २ ४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२७९] एत त्य हरितो दश मर्मृज्यन्ते अपस्युव ।

२ ३ १ २ ३ १ २

याभिर्मदाय शुम्भते ॥ ६ ॥ ४ ॥

भा०—( १ ) ( स्य ण्य ) यह वह सोम अर्थात् राम आदि पट्क सम्पत्ति स युक्त मुमुक्षु जन ( वृषा ) सुखों का हृदयभूमि में वर्षण करने द्वारा ( रथ ) गतिशील सम्यक्स्वभाव, सर्वत्र प्रसन्न हाकर विचारने द्वारा, ( सहस्रिण्यम् ) बल स युक्त या नाना प्रकार क सुखों क दान पावे। ( वाज ) ज्ञान पथक का ( गच्छन् ) प्राप्त जाता है और वह ( अथ्या ) विलिशक्ति वा मुह्य प्राण क ( वार ) वरण माय साधनों स ( अत्यत ) मुक्तिमार्ग पर गमन करता है ।

( २ ) ( एत ) इस ( हरिम् ) दुखों के हारन वाल सबके नेता, मुमुक्षु आत्मा का ( त्रितस्य ) तीनों प्रकार क दु खों स परे और मानस, वाचिक, कायिक तीनों बलों स युक्त मुह्य प्राण क साथ ( वायणा ) प्रेम करने वाली, उमका सबन करन वाली, इन्द्रिय-वृत्तियां ( इन्द्राय ) परम आत्मा के ( शीतय ) आनन्दरस प्राप्त करन क क्षिय गद्भिर्धर्मित) प्रेरित करतीं या उस क बल की वृद्धि करती हैं ।

( ३ ) ( एव स्य ) यह वह योगी ( मानुषीयु ) मनुष्य ( विद्व ) प्रज्ञाओं में ( रथेन च ) पथियों में धगवान् गरुड क समान अधिक बल, सामर्थ्य और ज्ञान से सम्पन्न होकर और ( यावितम् ) स्त्री क प्रति ( गच्छन् ) गमन करत हुए ( जार न ) उमक द्वि पुरुष क समान गुत्तरूप स परमसुख का अभिलक्षा हाकर ( सीदति ) सम्मय भाव से विराजता है ।

( ४ ) ( य ) जा ( इन्द्रु ) परम पेश्वर्यसम्पन्न आत्मा ( वरम् ) वरण करन योग्य मातृमार्ग में ( आविशत् ) प्रवेश करता है ( एव स्य ) यह वह ( मयु ) अतिहर्षयुक्त ( रस ) आनन्दमय, रसमय होकर ( दिव ) प्रकाशमान उस परम आत्मा की गोद में, माता की गोद में ( शिशु ) बालक क समान, या मय्य आकाश में सूर्य के समान रहकर ( रावचरे ) समस्त भुवनों का दलता है ।

( ५ ) ( एष स्व ) यह वह सोम मुमुक्षु आत्मा ( पीतये ) आनन्द-  
रस पान करने क लिये ( सुत ) तैयार, निरपन्न होकर ( मन्दत् ) शब्द  
करता हुआ, स्तुति करता हुआ, ( हरि ) सब हृदियों का नेता, ( धर्मसि )  
सब प्राणों को धारण करने द्वारा होकर ( प्रिय ) अपने विष, उषम  
( योनिम् ) आश्रयरूप शरण परमेश्वर के ( अभि प्रवति ) प्रति गमन  
करता है ।

( ६ ) ( त्व पुन ) उस इमको ( अपरस्युव ) कर्म करने की इच्छा  
करने वाली चेष्टावान् ( दस ) दस ( हरित ) हरणशील इन्द्रियां, या  
प्राणवृत्तियां निरुद्ध होकर ( मर्भृग्यन्ते ) और अधिक उज्ज्वल होती हैं  
( याभि ) जिनसे वह मुमुक्षु ( इन्द्रस्य ) अपने भातर विराजमान ऐश्वर्य-  
शील आत्मा क ( मदाय ) परम आनन्द प्राप्त करने क लिये ( शुम्भते )  
स्वयं प्रकाशित, या सुरोभित, या तैयार होता है ।

इति तृतीयं मण्ड ।



३२ ३२ ३१४ २२ ३१४ २२ ३ १ २  
[१२=०] एष गार्गी दिता नृभिर्विभ्वविन्मनसरूपनि ।

२ ३ २३ १ २  
अथ्य धार विधायति ॥ १ ॥

३२ ३१२ ३ १ २ ३१ ३ १ २  
[१२=१] एष पवित्रे अक्षरस्पोमो देवभ्य सुत ।

२ ३ १ २ ३२  
विभ्वा धामान्या विशन् ॥ २ ॥

३२ ३१ २ ३२ ३ २ ३१ २  
[१०=२] एष देव शमायतेऽत्रि योनाधमर्त्य ।

३ १ २ ३ १ २  
मृत्रदा देवयोतम ॥ ३ ॥

[१०८३] एष घृषा कनिक्वद्दशभिर्जातिभिर्यतः ।

अभि द्रोणानि धावति ॥ ४ ॥

[१०८४] एष सूर्यमरोच्यत्पथमानो अवि चवि ।

पाचित्र मत्सरो मध ॥ ५ ॥

[१०८५] एष सूर्येण हासंत सवसानो धियस्यता ।

पनिर्वाची अदाभ्य ॥ ६ ॥ ५ ॥

“एष वाजी” इत्यारभ्य “एष सूर्यमरोच्य” दिश्यन्तं, अ० १ । २८ । १-४ ॥ पञ्चम्याद्यर्थे प्रथम पाद “पथमान” इत्यारभ्य “हासते” इत्यन्तं वादद्वयं च, अ० २० । १ । २५ ॥ “सवसान” इत्यारभ्य “अदाभ्य” इत्यन्तं अ० १ । २३ । ४ ॥

भा०—( १ ) (एष) यह सोम, आत्मा ( वाजी ) ज्ञानवान्, बलवान् सबका कपाने द्वारा विधिविन् समस्त भ्रमा के सब पदार्थों की व्यवस्था को जानने द्वारा, सर्वज्ञ (मत्सरोच्ये) सबके मनों और समस्त ज्ञानों का स्वामी, परमात्मा और देह में आत्मा (नृभिः) सब मनुष्यों और देह में प्राणियों द्वारा (दित) धारण किया हुआ है ! बड़ी अर्थों आत्मा वा प्राण के (वारं) बरस करने योग्य सीमा को भी (वि धावति) पार कर जाता है, उचरते परं है ।

( २ ) (एष) यह ( सोम ) सौन्दर्यगुणों से युक्त, सब का प्रेरक, परमात्मा ( देवभ्य ) । बलान् ज्ञानी पुरुषों के और समस्त दिव्यगुणयुक्त पदार्थों के निमित्त ( मुत् ) मूर्ध्मरूप से सब में प्रकट हुआ ( पवित्रे ) शुद्ध कश्चित्मय रूपों में ( अचरत् ) प्रकट होता है धीर ( विधा ) समस्त ( धामानि ) लोकों वा क्षेत्रों में ( आदिरन् ) व्यापक है ।

( ३ ) ( एषः देव ) बड़ी प्रकाशमान देव ( अम र्पः ) अमर्यधर्मों, अविनाशी, ( वृत्रहा ) सब आराध्यवारी अग्धवारों का नाशक, ( देवशतनः )

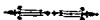
सब दिव्य वदार्थों को अपने भीतर रख लेने में सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, सब में व्यापक, सबका प्रकाशक ( योनौ अधि ) मूलकारण रूप प्रकृति में ( शुभायते ) भासमान है ।

( ४ ) ( वृषा ) समस्त काम्य सुखों का वर्णन करने द्वारा, ( एषः ) यह आत्मा ( दशभिः ) दश ( जामिभिः ) भगिनीस्वरूप दश दिशाओं से ( यतः ) धारण किया गया ( दोषानि ) समस्त लोकों में ( धावति ) व्यापक हो रहा है । आत्मपक्ष में— ( दश जामिभिः ) यह आत्मा ज्ञान उत्पन्न करने द्वारा दश इन्द्रियों सहित ( दोषानि धावति ) देहरूप फलशों में व्यापक है ।

( ५ ) ( एषः ) यह परमात्मा ( पवमानः ) सर्वत्र व्यापक ( अधि-धावि ) आकाश में सूर्य के समान ज्ञान प्रकाश में स्वयं ( मद्ः ) आनन्द स्वरूप ( पवित्रे ) पवित्र करने वाले आत्मा में ( मत्सरः ) आनन्दरस का स्त्रवण करने द्वारा होकर ( सूर्यं ) सूर्य के समान प्राण को भी ( अरोचयत् ) प्रकाशित करता है ।

( ६ ) ( एषः ) यह सोम सर्वव्यापक, शक्तिमान् परमात्मा ( विवस्वता ) दीप्तिमान् ( सूर्येण ) सबके प्रेरक सूर्य के साथ ( संवसानः ) समस्त संसार को आवृत करता हुआ ( वाचः ) समस्त वेदवाणी का ( अद्भ्यम् ) अद्वितीय ( यतिः ) स्वामी होकर ( आसते इ ) निश्चय से विराजमान है ।

इति ऋषेः शब्दः ।



[१२८६] एष कविरमिष्टुतः पवित्रे अधि तौशते ।

पुनानो घनपद्वियः ॥ १ ॥



- ३१ २१ ३१ २ ३१२ २२  
 [१२८७] एष इन्द्राय चापेवे स्वर्जितपरिषिच्यते ।  
 ३१२ ३ ११  
 पवित्रे दक्षसाधन ॥ २ ॥
- ३१२ ३१ २ ३ १ ३१२ २१ ३२  
 [१२८८] एष नृभिर्दिर्गायते दिवो मूर्ध्ना वृषा सुत ।  
 १ ३ १२ ३ २  
 सोमो वनेषु निश्ववित् ॥ ३ ॥
- ३२ ३ १२ ३ १२ ३२  
 [१२८९] एष गज्युर्निबद्धप्रथमानो हिरण्यसुत ।  
 १ २ ३१२ २२  
 इन्द्र सत्राजदस्वत ॥ ४ ॥
- ३२ २८ १२ ३१ २ ३ २ ३ १ २  
 [१२९०] एष शुष्यसिष्यदन्तारंक्षे वृषा हरि ।  
 ३ १२ ३ २ ३ २  
 पुनान इन्द्रिन्द्रमा ॥ ५ ॥
- ३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१२९१] एष शुष्यदाभ्य-सोम पुनानो अरंति ।  
 ३ १ २ ३ १  
 देवाधीरघशसहा ॥ ६ ॥ ६ ॥

अ० १० । १० । १-४, ६ ॥ १० । १० । ६ ॥

भा०—( १ ) ( एष ) यह ( कवि ) क्रान्तदर्शी, ज्ञानी, सर्वज्ञ परमात्मा ( दिव ) द्वेष करने हारे हुए पुरुषों को ( चापमान् ) दूर ही विनाश करता हुआ ( पुमान ) भवका पवित्र करने हारा, पवित्रसाधन ( अभिरुत ) उत्तम रीति से प्रार्थना और स्तुति किया गया ( पवित्रे ) शुद्ध, पवित्र दृश्य-दश में ( अधि सायत ) विराजता है ।

( २ ) ( एष ) यह सोम, सब का प्रेरक ( दक्षसाधन ) समस्त ब्रह्मों का साधक, उत्साहक ( स्वर्जित् ) समस्त उत्तम छान्छी आत्मन्, मौल्यमूर्तों का विज्ञाप करने हारा, ( चापेवे ) प्राणस्वप्न ( इन्द्राय ) आत्मा के लिये ( पवित्रे ) पवित्र दृश्य-दश में ( परि निरपते ) सब प्रकार से पदान्पुलियों द्वारा प्रकाशित, सम्प्राप्तित अर्थात् मन्त्रन किया जाता है ।

( ३ ) ( ष्य ) यह ( दिव मूर्धा ) महान आकाश या प्रकाश का मूर्धास्वरूप, मुख्य कन्द सब का प्रेरक, ( वृषा ) सब सुखों का वर्यक, ( सोम ) साम ( विश्ववित् ) सर्वत्र ( नृभि ) विद्वान् नता जोगों द्वारा ( वनपु ) सेवन करने योग्य कार्यो दहों और लोकों में ( विनीयते ) नाना प्रकार से प्राप्त किया जाता, एवं स्मरण किया जाता है ।

( ४ ) ( ष्य ) यह ( पवमान ) सर्वव्यापक, सब को पवित्र करने द्वारा, ( द्विरथयु ) समस्त प्रकाशमान लोकों में व्यापक, ( इन्दु ) ऐश्वर्यशालि, ( सत्राजित् ) समस्त ससार पर विजय करन हारा ( अस्तृत ) किसी स भी स्वयं हिंसित या विनाश न होन हारा अद्वितीय, ( गभ्यु ) समस्त गतिमान् पियदों में भी व्यापक सबका हितकारी, ( अचिकदत् ) वेद द्वारा उपदेश करता है ।

( ५ ) ( ष्य ) यह साम ( हरि ) सबका नेता सब दुखों का हर्ता ( वृषा ) सब सुखों का वर्यक, ( शुष्मी ) सर्वशक्तिमान् ( इन्दु ) सर्वैश्वर्यवान्, ( इ द्र ) भीतरी अन्तर आत्मा को ( पुनान ) पवित्र करता हुआ ( अन्तरिक्षे ) हृदयदेश में ( असिष्यदत् ) प्रवाहित होता है ।

( ६ ) ( ष्य ) यह ( अदाभ्य ) अमर, हिंसित न होने वाला, स्वतः पीदारहित ( देवावी ) सब इन्द्रियों देवों, पञ्चभूतों और दिग्य लोकों में भी व्यापक और उनका रक्षक ( अघशसदा ) पापवार्ता कहने हारे का विनाशक ( सोम ) सोम परमेश्वर ( पुनान ) सब का पवित्र और प्रकाशित करता हुआ ( अर्पति ) सर्वत्र व्यापक है ।

इति पञ्चम खण्ड ।



[१२६२] स सुत <sup>२ ३ २</sup> पीनये <sup>३ २ ३</sup> वृषा <sup>२ ३</sup> सोम <sup>१ २</sup> पवित्रै <sup>३ १ २</sup> अर्पति ।

<sup>३ १ २</sup> विष्णुप्रज्ञासि <sup>२ ४</sup> देवयु ॥ १ ॥

[१२६३] स पवित्रं विश्वक्षयो हरिरर्पति धर्षसिः ।

अभि योनिं कनिक्कदत् ॥ २ ॥

[१२६४] स याजी रोचने दिवः पवमानो विधावति ।

रक्षोटा धारमव्ययम् ॥३॥

[१२६५] स त्रितस्याधिसानीति पवमानो अरोचयत् ।

जमिभिः सूर्ये मह ॥४॥

[१२६६] स वृषदा वृषा सुतो वरियोविददाभ्यः ।

सोमो वाजमिधासरत् ॥५॥

[१२६७] स देवः कविनेपिनोऽभि द्रोणानि धावति ।

इन्दुरिन्द्राय महयन् ॥६॥७॥ क० १ । ३७ । २-६ ॥

भा०—( १ ) ( सः ) वह ( वृषा ) मेघ के समान आनन्द-रसों और सुखों का चरक ( सोमः ) रसरवरूप, सब का उत्पादक ( देवयुः ) विश्वानों और प्राणों की अभिजाया पूर्ण करने द्वारा, ( पीतये ) आनन्द पान करने के निमित्त ( सुतः ) निष्पन्न होकर ( पवित्रे ) पवित्र अन्तःकरण, और अन्तरिच में ( अर्पति ) व्याप्त होता है ।

( २ ) ( सः ) वह ( हरिः ) शक्तिमान्, सबे दुःखों का हर्ता, ( विश्वक्षयः ) सब का दह, ( धर्षसिः ) समस्त जगत् का धर्ता, ( कनिक्कदत् ) ज्ञानोपदेष्टा आत्मा ( पवित्र ) पवित्र, अन्तःकरण में ( अर्पति ) प्रकट होता है ।

( ३ ) ( सः ) वह आत्मा ( याजी ) वज्रवान् ज्ञानवान् ( दिवः ) सूर्ये और प्राण का भी ( रोचने ) प्रकाशक ( पवमानः ) सब को पवित्र करने वाला, ( रक्षोटा ) दुःखों, दुष्ट भावों और विघ्नों का विनाशक, ( धारमव्ययम् )



अधि अर्थात् प्राणों के बने ( चार ) स्थूल आवरण को ( विधावति ) विशेष रूप से पारकर, रसरूप से प्रकट होता है ।

( ४ ) ( स ) वह ( प्रितस्य ) प्राण के ( अधिसानवि ) विशेष-स्थान, त्रिपुटि में ( पवमान ) परिशुद्ध होकर ( जामिभि ) अन्य ज्ञानोत्पादक हृन्दिष वृत्तियों के ( सह ) साथ मिलकर ( सूर्यं ) सूर्य के समान सब क प्रेरक मुख्य, प्राण को ( अरोचयत् ) और अधिक दीप्त, प्रकाशित करता है ।

( ५ ) ( स' ) वह ( वृषदा ) सब विघ्नों का विनाशक ( सुत. ) निष्पन्न ( सोम ) सब हृन्दिषों और प्रजाओं का प्रेरक आत्मा ( अदाभ्य. ) किसी से हिंसित या पराजित न होकर ( चरिवेविद् ) सबसे उत्तम आत्मरूप या आत्मानन्द कोश=व्रजाने को ज्ञान द्वारा ( वाजम् इव ) युद्ध में शूरावीर के समान परम ज्ञानमय प्रह्ला की और ( असरत् ) गति करता है ।

) २०

( ६ ) ( स ) वह ( देव- ) देदीप्यमान प्रकाशस्वरूप ( कविना ) अग्रन्तदशों मेंधावी सर्वके गुरु आत्मा या परमात्मा द्वारा ( ईषित- ) प्रेरित होकर उसका प्रेमपात्र होकर ( इन्दु ) भीतर ही प्रवित होता हुआ ( इन्द्रा य ) हृन्दिषों के स्वामी आत्मा को ( महयत् ) आनन्द प्रदान करता हुआ ( द्रोणानि ) समस्त ज्ञान कलशों, काशों, दहों और खाशों में ( अभिधावति ) विचरण करता है ।

इति षष्ठः सूक्तः ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[१२६८] य पात्रमा गिरभ्येत्यृषिभिः सभूत रसम् ।

( ६ ) सर्वे च पुत्रमश्नाति स्पदितं मातरिपुत्रगा ॥ १ ॥ )

- ३ १४ ३ १४ १४ ३ १२ ३ १२  
 [१२६६] पावमानीर्यो अक्षय्योपीभि सभ्रव रसम् ।  
 २ ३ १२ ३ २ ३ १४ १२ ३ २  
 तस्मै सरस्यती हुड क्षीर मपिमधूदकम् ॥२॥  
 ३ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१३००] पावमानी म्प्रस्त्ययनी सुदुधा द्वि घृतश्रुत ।  
 १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 ऋषिभि सम्भृतो रसा प्राक्षणेभ्यमृत दितम् ॥३॥  
 ३ १ १ ३ २ ३ १४ १४ ३ २  
 [१३०१] पावमानीदधन्तु न इम लाकमथा श्रमुम् ।  
 २ ३ १ २ २ ३ ३ २ ३ १ २  
 कामा समर्क्षयन्तु नो देर्भेदेधे समाहृता ॥४॥  
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [१३०२] येन देवा परित्रणात्मान पुनगे सदा ।  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 तन्न सहस्रधाण्य पावमानी पुन-तु न ॥६॥  
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 [१३०३] पावमानी स्वस्त्ययनीस्ताभिर्वाण्ड्यति ना-दनम् ।  
 १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 पुगर्वाश्च भक्षान् भक्षयत्यनृततय च गच्छति ॥६॥८॥  
 भावे द्वे च० १ । ६७ । २१ ३२॥ शेषा श्रवण मोषलम्यगे ।

भा०—( १ ) जो ( ऋषिभि ) मन्त्र का साक्षात् दर्शन करने वाले ऋषियों द्वारा ( सम्भृतम् ) अर्घ्या प्रकार धरित, और प्राप्त एवं साक्षात् किये और अर्घ्यों को उपदेश किये हुए ( रसं ) आत्म ज्ञानस्वरूप मधु विषामय, रसरूप ( पावमानी ) साम, पवमान सरवन्धी अथाधों को (अभ्येति) , अक्षय्यम करता है, उनका तत्कार्य ज्ञान का ज्ञान करता है ( स ) यह ( सर्व ) सब ( मातरिधना ) अन्तरिक्ष में व्यापक परब्रह्म वा प्राणस्वरूप जीवन्शास्त्रि द्वारा वा ( मातृरि ज्ञानसाधन इन्द्रिय आत्मनि वा अयनि गच्छति इति मातरिधा मन ) ज्ञानसाधन इन्द्रियगणों वा आत्मा में निरन्तर गति करने वाले मन द्वारा ( स्वदित ) आस्वादन करन योग्य ( पूव ) परित्र ज्ञान का ( अरनाति ) खाभ करता है और उप योग करता है । 'मन पूव समाघात्' इति मनु ।

( २ ) ( य ) जो ( ऋषिभिः समृत रस ) मन्त्रद्रष्टा, विद्वान् ऋषियों द्वारा प्राप्त अर्थात् माहात् किय गये ज्ञान रसरस्वरूप ( पावमानी ) पवमान सोम सम्बन्धी वेद का ऋचाओं का ( अध्येति ) अध्ययन करता है ( तस्मै ) उसके लिये ( सरस्वती ) वेदवाणी ( चीर ) शुद्ध दुग्ध के समान आत्मज्ञान ( सर्षि ) घृत क समान स्नेहपूर्ण, उज्ज्वल, उषोति स्वरूप आत्मदर्शन और ( मधु ) मधु क समान आनन्ददायक मधुर ब्रह्मा, स्वाद और ( उदक ) जल के समान शीतल, शान्तिरस को ( दुहे ) दोहन करती है ।

( ३ ) ( या पावमान्य ऋच ) जो पवमान सोमसम्बन्धी ऋचाएँ हैं वे ( स्वस्वपनी ) कल्याण और योगसम को प्राप्त कराने वाली, ( सुदुधा ) सुलस ही परमानन्द रस को देने वाली, ( घृतरचुन ) ज्ञान और सात्त्विक प्रकाश क उत्पन्न करने वाली हैं । वे तो साक्षात् ( ऋषिभिः ) ऋषियों द्वारा ( समृत ) प्राप्त ( रस ) परम रसरस्वरूप ( ब्राह्मण्यु<sup>३</sup> ) वेद क विद्वानों के भीतर ( हितम् ) स्थापित ( अमृत ) कभी न नाश होन वाली अमृत, अध्यात्म ब्रह्मज्ञान के समान हैं ।

( ४ ) ( पावमानी ) पवमान सोम सम्बन्धी ऋचाएँ ही ( न ) हमें ( इम ) इस ( लोक ) लोक ( अथा ) और ( अमु लोक ) परलोक को ( दधन्तु ) धारण करावें । और वे ( दधी ) दिव्यगुणप्रकाशक होकर ( देवै ) विद्वान् ज्ञानी पुरुषों द्वारा ( समाहता ) उपदेशों और व्याख्यानों द्वारा सर्वत्र प्रकाशित इाकर ( न ) हमारे ( कामान् ) शुभसकरुषों को ( समर्धपन्तु ) पूर्ण करें ।

( ५ ) ( देवा ) विद्वान् धार्गी जन ( येन ) जिस ( पवित्रेण ) समस्त समार को पवित्र करने हारे उपाय स ( सदा ) नित्य अपने ( आत्मान ) आत्मा को ( पुनत ) पवित्र करत हैं ( तेन ) उस ( सहस्रधारण ) सहस्रों

३ विवाया विरजोऽविर्वारि सा भाङ्गो भवति । [ सू० उप० म० ४ ।

धारणा शश्रियों से सम्पन्न योगसाधन या पातितपावन ईश्वर प्रणिधान से हा यह ( पावमानी ) पवमान सोम सम्बन्धी ऋचाएँ भी ( न ) हमें ( पुनन्तु ) शक्ति करें ।

( ६ ) ( स्वमयपती ) कल्याण और पागलम को प्राप्त कराने हारी, ( पावमानी ) पावमान सम्बन्धी ऋचाएँ ही हैं । ( तामि ) उनसे आत्मा या साक्षात् ( ज्ञान्दन ) परमानन्द अथवा, मोक्ष का ( गच्छति ) प्राप्त होता है और ( पुण्यान् च ) पुण्य, ( मङ्गान् ) सेवन करन योग्य मुख्य भागों को ( भक्षयति ) उपभोग करता है और ( अमृतस्व च ) अमृतस्व रूप परमपद को भी ( गच्छति ) प्राप्त करता है ।

‘स एतमेव सीमान विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत सैषा विदृतिनाम द्वास्तदेतन्नान्दन तस्य त्रय आवसथा । त्रय स्वप्ना । अयमावसथाऽयमा वसथाऽयमावसथ इति । स जातो भूतान्यभिव्यैर्यत् किमिहान्य वावदि- पद् इति । स एतमव पुरुष ब्रह्म ततमपरयत् इदमदशमिति तस्मादिदमद्गो नाम इन्द्र इत्या चकते परोक्षन् । इत्यादि । एतरेय० उप० ४ । ४ ।

इति सप्तमं खण्डं ।



१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १  
 [१३०४] अगन्म महा नमसा यविष्ठ यो दीदाय समिद्ध स्वे  
 २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 दुगोण । विश्रभानु रोदसी अन्तरुर्वो स्वाहुन विश्वत  
 ३ १ २

प्रत्यञ्चम् ॥१॥

२ ३ १२ ३२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १  
 [१३०५] स महा विश्वा दुगितानि साहानग्निष्टे दम आ जात  
 २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 वेदा । स नोरक्षिपद् दुरितादघघादस्मान् गुणानि उत नो  
 ३ १ २  
 मघान् ॥२॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २'  
 [१३०६] त्र यरुण उम मित्रो अग्न त्रा यधन्ति मतिभिर्जसिष्ठा ।  
 २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 त्र यरु सुपणनानि सन्तु यूय पात स्यास्तभि सदा  
 न ॥ ३ ॥ ६ ॥ श्र० ७ । १२।१-३ ॥

भा०—( १ ) ( य ) जा ( स्वे ) अपने ( दुरोणे ) इस ब्रह्माण्ड रूप अनन्त ससार में ( समिद्ध ) प्रकाशमान होकर ( दीशय ) चमकता है । उस ( विधत् ) सर्वत्र ( प्रत्यञ्च ) व्यापक, ( उर्वो ) महान् ( रोदसी ), सौ और पृथिवी छाकों क ( धन्त ) योच ( स्वाहुत ) स्वयं सब को धर करन हार, सबक आश्रयरूप ( यविष्ट ) सबसे अधिक बलवान् सब में व्यापक, ( चित्रभानु ) पूजनीय, कातिमय परमेश्वर का ( महानमसा ) बड़ी विनय से ( अग्नम् ) हम प्राप्त हों ।

यदर्विमद् यदणुभ्योऽणु पारिमहोका निहिता लोकिनरच । ( मुण्डक० २ । २ । २ )

( २ ) ( स ) वह ( महा ) अपनी महिमा स ( विधा दुरितानि ) समस्त पापों का ( साहान् ) दूर करने हारा, ( अग्नि ) अग्निस्वरूप परमात्मा ( जातवदा ) समस्त पदार्थों का जानन हारा ( इम ) हमारे हृदयरूप या ब्रह्माण्डरूप गृह में या यज्ञस्थल में ( धा स्तव ) सर्व प्रकार से स्तुति किया जाता है । ( स ) वह ( न ) हमें ( अश्वात् ) निन्दनीय ( दुरितान् ) पापाचरण स ( रविपन् ) रक्षा कर । और ( गृणत ) स्तुति करन हार ( अस्मान् ) हम लोगों का बचाव । ( उत ) और ( मधोन ) ज्ञान धन समग्र ( न ) हमें पापाचरण स बचावें ।

( ३- ) हे अग्ने ' ज्ञानस्वरूप ( त्व ) तू ( यरुण , उत मित्र ) सब पापों स निवारण करन और सर्वश्रेष्ठ होने से यरुण' और सबको रनेह करने हारा और मृत्यु से बचाने वाला होने से मित्र' है । ( यसिष्ठा ) अपन २ यश में स्थित अथवा परमपद में दास करने हारे ज्ञानी अथवा



अपने स्वरूप में स्थित मुमुक्षु जोग या प्राणगण ( मतिभिः ) मननशक्ति-  
 यों द्वारा ( एषा ) तुझे या तेरी महिमा को ही ( वदन्ति ) बदाते हैं । ( एषे )  
 तुम में, तेरी साक्षिता में ( वसूनि ) समस्त ज्ञान, धन, ( सुपण्यानि )  
 उत्तम २ सुख प्रदान करने वाले अथवा सुख से दान करने वाल्य ( सन्तु )  
 हों । हे विद्वान् लोगो ! ( यूयं ) आप लोग भी ( न ) हमें ( सदा )  
 नित्य ( स्वस्तिभिः ) कल्याणकारी कार्यों, उत्तम उपायों और आशीर्वादों से  
 ( पात ) रक्षा करो ।

३२४      ३११      २१      ३१      २      ३१      २  
 [१३०७] महान् इन्द्रो य भोजसा पर्जन्यो वृष्टिर्मा इव ।

१२३ १ २  
 स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥ १ ॥

२   ३   २२   १२   १४   ३   १२   ३२   ३   १२  
 [१३०८] कएवा इन्द्रं यदकृत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।

३   १   २   ३   १२  
 जामि द्युवत आयुधा ॥ २ ॥

३   २३२   ३   १२३   १२   २२   ३   १२  
 [१३०९] प्रजाभृतस्य पिप्रत प्रयद्गन्त वल्लयः ।

१   २   ३२   ३   १२  
 विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥३॥१०॥ अ० ८ । ६ । १, ३, २ ॥

भा०—( १ ) ( वृष्टिमान् ) वृष्टि करने वाला ( पर्जन्यः इव ) मेघ  
 जिस प्रकार अपने सामर्थ्य से सर्वत्र फैल कर स्वयं वृष्टि करता है उसी  
 प्रकार ( एषः ) ओ ( इन्द्रः ) इन्द्र ( भोजसा ) अपने बल से ( महान् )  
 बड़ा होकर ( वत्सस्य ) वत्स के समान अपने आश्रम पर रहने वाले  
 समस्त संसार की ( स्तोमैः ) स्तुतियों द्वारा ( वावृधे ) बड़ा कीर्तिमान्,  
 प्रसिद्ध होता है ।

— ( २ ) ( कएवाः ) ज्ञानी स्तोतागण ( स्तोमैः ) अपने स्तोत्रों द्वारा  
 ( यद् ) जब ( इन्द्रं ) इन्द्र अर्थात् आत्मा ही को ( वत्सस्य ) जीवनरूप  
 वत्स का ( साधन ) साधन ( अकृत ) बना लेते हैं, तब विद्वान् जोग

( आयुधा ) अ य प्राणादि इन्द्रिय-साधनों का या यज्ञ क पात्रादि को ( जामि ) प्रयाजारहित हा ( जुवत ) कहत हैं । साधक ज्ञान जब अध्यात्म पक्ष करत हैं तब द्रव्ययज्ञ व्यर्थ जान पड़ता है ।

( ३ ) ( षट् ) जब ( पिप्रत ) पूर्ण करन हार ( चक्षुष ) अग्नि क समान द क्षिमान् ज्ञान का धारण न करन हार ( विप्रा ) मधावी ज्ञानी ज्ञान ( अतस्य ) सत्यज्ञान रूप आत्मा का ( प्रजा ) उत्तम रीति स प्रादुर्भाष हान द्वारा आत्मशक्ति और सत्यज्ञान या प्रजा शिष्य आदि का ( प्र भरत ) उत्तम राति स धारण करत हैं तभी व ( अतस्य ) ज्ञान और सत्य क ( वाहसा ) प्रापक बल स ही उसे धारण करत हैं ।

इति ऋतम खण् ।

— 0 —

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३१०] पवमानस्य । जघ्नतो हरश्च द्रा असृक्षत ।

३ १ २ ३ १ २

जीरा अजिरशोचिष ॥ १ ॥

[१३११] पवमानो रधीनम शुधमि शुश्रुगस्तम ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

हारश्चन्द्रा मरुदगण ॥ २ ॥

[१३१२] पवमान व्यश्नुहि रश्मिभिर्वाजसातम ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

दधत्स्तोत्र सुनीर्यम् ॥३॥११॥ श्र० ६ । ६६ । २१-२० ॥

भा०—( १ ) ( पवमानस्य ) पवित्र शब्द रूप म प्रकट हात हुए, ( हर ) समस्त दु खों का हरण करन हारे और ( जिप्रत ) समस्त अज्ञान पटलों का वार २ नाश करत हुए साम अथात् आत्मा की ( चन्द्रा ) आहादकरिया ( जीरा ) और दु खनाशिनी ( अजिरशाचिष ) अवि नाशशाल कतिपा ( असृक्षत ) उपस्र हाती हैं ।

( २ ) वह ( पवमानः ) परमपावन आत्मा ( रथीतमः ) इस देहरूप रथ पर गति करने हारा, सब से उत्तम रथी, ( अग्दः ) आह्लादक, ( हरिः ) दुःखनाशक ( मरुद्रथः ) प्राणराण के साथ वर्तमान ( शुभ्रेभिः ) शुभ्र तेजों से ( शुभ्रशस्तमः ) अति शुभ्रस्वरूप, कान्तिमान्, निर्मल है ।

( ३ ) हे ( पवमान ) सब को पवित्र करने हारे ! स्वयं पवित्ररूप में प्रकट होता हुआ तू ( स्तोत्रे ) विद्वान् पुरुष में ( सुवीर्यं ) यश, बल और पुत्रादि धन को ( दधन् ) धारण पोषण करता हुआ ( ररिमभिः ) अपने किरणों से ( वाजसातमः ) ज्ञान और बल का प्रदान करने हारा होकर ( व्यरनुहि ) निविध पेश्यों को प्राप्त कर ।

२ ३ १ २      ३ २ ४      ३ १ २ ३ २ ३ २

[ १३१३ ] परीतो पिञ्चता सुनं सोमो य उत्तमं इयिः ।

१३ १४ १२ ० २ २२ ३ २ ३ २ ३ २ २

दधन्वा यो नर्यो अन्ध्रवाइन्तरा सुपाव सोममद्रिभिः ॥१३

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २      ३ १ २

[ १३१४ ] नूनं पुनानो धिभिः गरिम्नवाद्ध्यः सुरभिन्तरः ।

३ १ २ ३ १ २      ३ १ २      ३ २ ३ २ ३ १ २

सुते वित्गण्णुमद्रामो अन्ध्रवा थीणन्तो माभिदत्तस्मृधरः

१ २ ३ १ २ २ ४      ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३      ३ २

[ १३१५ ] परि स्वानध्वक्षस देवभादन क्रतुग्निदुर्विचक्षणः ॥३१२६

अ० ६ । १०० । १-३ ॥

भा०—(१) (य. सोमः) जो सोम, शरीर में वीर्य, श्वायट में धारक नेत्र या सूर्यबल, देवों अर्थात् इन्द्रियों में आत्मा और पृथिवी आदि पियवों आकाश का रूप ( उत्तम ) उत्तम, श्रेष्ठ ( इयि ) उपादान करने योग्य अग्नि और स्वाद्य और जीवनप्रद आशय होता है और (यः) जो नर्यः) नेत्र, इन्द्रियगण और सूर्यादि लोकों के लिये हितकारी और ( अण्णु ) समस्त कर्मों, प्रज्ञानों और दह के जलीय दधिरादि भंसों और लोकों के भीतर विद्यमान रहना हुआ उनको ( दधन्वान् ) स्वतः धारण कर रहा है, उस (सोम)

सोम अर्थात् घीर्ष को ( अदिभि ) न दीर्घ होने हारे अखण्ड, ब्रह्मचर्यादि साधनों, विद्वानों और सूर्यादि ज्ञाकों से (आ सुपाव) उत्पन्न किया जाता है । अतः उस (सुत) उत्पन्न घीर्ष और तज का हे विद्वान् जागो (इत्.) इस मूल स्थान से ऊपर ( परिपिचत ) शिर आदि प्रदरों की आर दधित करा अर्थात् ऊर्ध्वरेता बनो । व्याख्या दत्ता [५१२] पृ० ।

(२) हे सोम ! तू (अदग्ध) किसी से दिसित न होने वाला, सध से अधिक बलशाली (सुरभितर) सध प्राणों से अधिक उत्तम गध और बल घाला (नून) निश्चय से (अदिभि) प्राणों द्वारा (पुनान) अति पवित्र होता हुआ (परि सव) समस्त शरीर में गति कर । और (सुतचित्) शरीर में उत्पन्न होने पर (अन्धसा) प्राण जीवन देने वाले अन्न और (गोभि) इन्द्रियों के पुष्टिकारक दुग्धादि रसों द्वारा (धीष्णन्त) तुझे परिपक्व करते हुए (अप्सु) शारीरिक कर्मों और मानसिक विचार क्रियाओं में हम (मदाम) आनन्द लाभ करते हैं ।

१ (३) (इन्दु) परमैश्वर्यवान् उक्त सोम रूप शुक्र का पालन करने हारा ब्रह्मचारी, (विचक्षण) नाना प्रकार क विज्ञानों का दण्ड, (ऋतु) कर्म करने हारा, (दवमादन) अपनी इन्द्रियों और दिव्यगुण युक्त विद्वान् पुरुषों का दृष्ट पुष्ट करन और आनन्द दन हारा, (स्वान) स्वयं निष्पन्न हाता हुआ (परिचक्षस) सब के देखन योग्य हाजाता है ।

१ २ ३ १ २ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२  
 [१३१६] असावि सोमो अरुपा वृषा हरी राजेऽदसो अभि ना  
 २२ २ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२  
 अचिक्रदत् । पुनानो चारमत्यप्यव्यय श्यनो न योनि  
 ३ १ २ ३ १ २

घृतवन्तमासदत् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३  
 [१३१७] पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्षितो नामा पृथिव्या गिरिषु  
 १ २ १ २ ३ १ १ ३ १ ३ ३ १ २ ३ २ २ २

क्षयं दधे । स्वमार आपो अभि गा उदासरत्सद्वावाभि-  
 ३ १ २ ३ २  
 र्वसते क्षीत अध्वरे ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ २  
 [१३१८] कविर्धस्यापर्येपि माहिनमस्यो न मृष्टो अभि दाजम-  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

र्षसि । अपसेधन् दुरिता क्षोम ना मृष्ट घृता यसानः  
 १ २ ३ १ २  
 परियासि निर्णिजम् ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० ६ । ८२ । १-३ ॥

भा०—( १ ) ( अरुप ) दीप्तिमान्, ( घृषा ) सुखों का वर्षक, श्रेष्ठ ( हरी ) सब दु खों का हर्ता, सबका नेता ( सोमः ) सोम, तेजस्वी विद्वान् पुरुष ( अमावि ) उत्पन्न होता है । वह ( राजा इव ) राजा के समान ( दर्म. ) दुष्टभावों का नाशक एवं दर्शनीय होकर ( गाः ) जैसे प्रजाओं के प्रति राजा अपनी घोषणाएं करता है उसी प्रकार आत्मरूप सोम इन्द्रियों के प्रति और आचार्य विद्वान्, प्रजारूप शिष्यों के प्रति ( अधिप्रदन् ) वेद का उपदेश करता है । ( पुनान ) स्वयं पवित्र और देदीप्यमान होता हुआ, ( अध्वर्युः ) प्राणमय ( धार ) आवरण को ( अत्यंषि ) पार करके ( श्येनः न ) जिस प्रकार बाजू पक्षी उड़कर अपने निवास घोंसले की तरफ चला जाता है उसी प्रकार वेगवान् होकर वह भी ( घृतवन्त ) प्रकाशस्वरूप ( योनि ) मूलस्वरूप आध्वर्यु को ( आसदन् ) प्राप्त होता है । यहाँ प्राणमय कौश से विज्ञानमय कौश पर धरा करने द्वारे योगाभ्यासी का वर्णन है । ग्याख्या देखो अविच्छन्न सत्या [१६२] पृ० २८३ ।

( २ ) ( पर्षितः ) ज्ञानसम्पन्न, ( महिषस्य ) महान्, बलवान् सोम-रूप आत्मा का ( पिता ) पालक ( पर्जन्यः ) मेघ के समान आनन्दरसों का दाता प्रजापति परमात्मा ही है । वह ( पृथिव्या- ) मूलोक के ( नामा )

नाना प्रकार के सम्बन्धों में ( गिरिषु ) विद्वानों में ( चय ) निवास को ( दध ) धारण करता है । ( आप ) ज्ञान-वृत्तियाँ ( स्वसार ) अपने ही स्वरूप से प्रकट होकर निकलन हारी, ( गा अभि ) इन्द्रियों के प्रति ( उत् आसरन् ) ऊर्ध्वगति करती हैं और वह आरमा ( धीते ) कान्ति-मान् ( अश्वरे ) ज्ञानयज्ञ में ( प्रावभि ) विद्वानों के सग ( सबसते ) निवास करता है ।

(३) हे (सोम) आत्मन् ! तू (कवि) ज्ञान्तदर्शी, मेधावी होकर (वेधस्य) विशेष विधान करने हारी मति द्वारा (सादिनम्) पूजनीय परमात्मा के प्रति (परि-प्यि) गति करता है । (मृष्ट) अति शुद्धस्वरूप होकर (अस्य न) वगवान् घोड़ा जिस प्रकार सग्राम में जाता है उसी प्रकार (अभि वाजम्) ज्ञान को लक्ष्य कर, ज्ञानस्वरूप परमधर की प्राप्ति के लिये (अभि अर्पसि) मातृपथ में गति करता है । हे (सोम) विद्वन् ! (दुहिता) दुष्ट अष्टाग्रों को (अप सधन्) दूर करता हुआ (न) हमें (मृष्ट) मुखी कर । और तू (घृता) कान्ति या तपों के भीतर (वसान) आच्छादित होकर ही (निर्व्येनम्) शुद्ध स्वरूप को (परि-यासि) प्राप्त कर ।

१ २ ३ १ ३ १ २ २  
[१३१६] आयन्त इव सूर्ये विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।

१ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २  
वसुनि जातो जनिमान्योजसा प्रतिभागन्न क्षीयमः ॥१७

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
[१३२०] अलर्षिरानि वसुदामुगम्नुडि भद्रा इन्द्रस्य रातय ।

१ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
यो अस्य काम विधता न रोषानमना दानाय चोदयन्  
॥ २ ॥ १४ ॥ अ० ८ । १३ । १, २ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देगा अविक्ल स० [ २६० ] पृ० १३६ ।

( २ ) हे मनुष्य ! तू (अर्थात् शक्ति) निष्पाप सात्विक, दानशील, (व-  
सुदान्) वास योग्य पदार्थ प्राण आदि का दान करने द्वारे परमेश्वर की  
( उप स्तुति ) स्तुति कर । क्योंकि ( इन्द्रस्य ) उस ऐश्वर्यशील परमात्मा  
के ( शक्तयः ) सब दान ( मद्रा ) कर्वाणकारी हैं । ( वः ) जो स्वामी  
के समान ( मन ) अपने मन अर्थात् ज्ञान को । दानाय ) दान करने  
के लिये ( चोदयन् ) प्रेरित करता हुआ ( मत्स्य विधत्- ) इस अपने  
भक्त, सेवा करने द्वारे स्तोता की ( कामं ) इच्छा को ( न ) नहीं ( रोपति )  
नाश करता ।

[१३२१] यत् इन्द्र भयामह ततो नो अभयं कृषि ।

मघवन्नृषिष तत्र तत्र ऊतये विद्विषो वि मृत्यो जादि ॥१॥

[१३२२] स्व हि रात्रमस्वत रात्रसो मह छायास्यासि विधत्ता ।

ते स्वाययं मघवन्नृषिष गिर्यण मुनायन्तो हवामहे ॥२॥१५॥

अ० म। ११। ११. १४ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अथिकल सं० [२७४] पृ० १४० ।

( २ ) हे ( राघव पते ) हे सकल धर्मों और ऐश्वर्य के स्वामिन् !  
( एवं ) तू ( हि ) निश्चय से ( मह ) बड़े भारी ( चपस्य ) निवासस्थान और  
( राघवस- ) बड़े भारी धन का ( विधत्ता ) विशेष रूप से धारण करने द्वारा  
स्वामी (असि) है । हे ( मघवन् ) ऐश्वर्यधन् ! हे ( इन्द्र ) विष्णो के नाशक !  
हे ( गिर्यणः ) वाणिज्यों के एकमात्र विषय ! ( मुनायन्तः ) उत्पन्न समस्त  
पदार्थों, ज्ञानों और ऐश्वर्यों के स्वामी होकर हम ज्ञानी पुरुष ( एवं ) तुम्ह  
को ही ( हवामहे ) आद्वान करते हैं, तेरा स्मरण करते हैं ।

इति दशम स्कन्धः ।



[१३२३] त्वं<sup>१</sup> सोमासि<sup>२</sup> धारयुर्मन्द्र<sup>३ २ ३</sup> ओजिष्ठो<sup>१ २</sup> अध्वरं<sup>२ २</sup> ।

पवस्व<sup>१ २</sup> महयद्रयि<sup>३ १ २</sup> ॥१॥

[१३२४] त्वं<sup>१</sup> सुतो<sup>३ २</sup> मदिन्तमो<sup>३ १ २</sup> दधन्यान्मत्सरिन्तमः<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> ।

इन्दु<sup>१ २</sup> सत्राजिदस्तुत<sup>२ २ २ २</sup> ॥२॥

[१३२५] त्वं<sup>१</sup> सुवाणा<sup>२ २</sup> आद्रिभिरभ्यर्षं<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> कनिन्नदत् ।

शुमन्त<sup>३ २ ३ २ ३ १ २</sup> शुष्ममाभर ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० ६ । ६७ । १-३ ॥

भा०—( १ ) हे ( सोम ) परमेश्वर ! ( त्व ) तू ( धारयु ) धारयानुक्त अथवा धारा या वेदवर्णी का स्वामी, ( मन्द्र ) अति आनन्दपूर्ण ( ओजिष्ठ ) अति बलवान्, ( महयद्रयि ) ऐश्वर्य का प्रापक होकर ( अध्वर ) उपासनामय यज्ञ में ( पवस्व ) प्रकाशित हो ।

( २ ) ( त्व ) तू ( सुत ) निष्पन्न होकर ( मदिन्तम ) अति हर्षजनक, ( मत्सरिन्तम ) अन्य समस्त इन्द्रियों एवं प्रजाजनों और देहों में हर्ष का प्रसारक ( इन्दु ) कान्तिसम्पन्न ( असूत ) किसी से भी पराजित न होकर ( सत्राजित् ) सब से अधिक उत्कृष्ट, सब पर विजयशील होकर सबको ( दधनान् ) धारण करता है ।

( ३ ) ( त्व ) तू ( आद्रिभिः ) विदीर्ण न होने वाले, अभेद्य, रद-तर्पों वा अप्रत्यक्ष तपस्विणों द्वारा ( सुवाण ) निष्पादित किया हुआ परिपक्व या अम्पास किया हुआ ( कनिन्नदत् ) उत्तम ज्ञान का उपदेश देने द्वारा होकर ( अभि अर्ष ) प्रकट हो हमें प्राप्त हो । और ( शुमन्त ) यशोजनक ( शुष्मं ) शल को ( आ भर ) प्राप्त करा ।

[१३२६] परम्व<sup>१ २</sup> देव<sup>३ १ २</sup> धीतय<sup>३ २ ३</sup> इन्द्रो<sup>१ २ ३ १ २</sup> धाराभिरोजसा ।

आ कलशं<sup>२ ३ २ १ २</sup> मधुमान्तसोम नः<sup>२ ३ २ १ २</sup> सद ॥ १ ॥



{१३२७} तव द्रुपता उदप्रत इन्द्रमदाय वावृधुः ।

त्वा देवासो अमृताय कः पपुः ॥ २ ॥

{१३२८} आ नः सुतास इन्द्रवः पुनाना धावता रयिम् ।

वृष्टिद्यागो रीत्याप स्वर्षिदः ॥३॥१७॥अ० १०।१।०-१॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविफल सं० [१७१] पृ०

( २ ) हे ( सोम ) सबके उत्पादक ! आनन्दरसस्वरूप ! ( तव ) तेरे ( उदप्रत. ) रस को प्रवाहित करने द्वारे ( द्रुपताः ) द्रुतगति से बहने वाला आनन्दरस ( इन्द्र ) आत्मा को । मदाय ) अति आनन्द प्राप्त कराके निमित्त ( वावृधुः ) बढाते हैं, उसे और अधिक शक्तिशाली बनाते हैं । ( देवासः ) विद्वान् योगीजन ( क ) आनन्दस्वरूप ( त्वा ) तुम्हको ( अमृताय ) अमृत-स्वरूप परम आनन्द प्राप्ति के लिये ( पपुः ) पान करते हैं ।

( ३ ) हे ( इन्द्रवः ) आत्मा के भीतर प्रवाहित होने द्वारे, कान्ति-युक्त ! ( सुतासः ) , ज्ञानानन्द रसों ! या ज्ञानी पुरुषों ! तुम निष्पन्न होकर ( पुनाना. ) स्वतः पवित्र ( रीत्याप. ) सब रसों के पापक ( वृष्टिद्यावः ) ज्ञान कान्ति के वर्षक, ( स्वर्षिदः ) सुखों को प्राप्त कराने द्वारे, आप ( रयिम् ) अति समर्थायरूप आत्मा के प्रति ( आ धावत ) गति करो और आत्मा को सुख शान्ति प्राप्त कराओ ।

{१३२६} परि त्वं हर्यतं हरि वधु पुनन्ति वारेण ।

यो देवान्भ्रवां इत्परि मदेन सह गच्छति ॥ १ ॥

{१३३०} द्विष्य पव मनयशसं सखायो अद्रिमंहनम् ।

प्रियमिन्द्रस्य काम्यं प्रस्नापयन्त ऊर्मयः ॥ २ ॥



( २ ) ( ते ) व ( सोतार ) निष्पादक साधक योगीजन ( रथ ) रसस्वरूप उस ( साम ) सबक प्रेरक आनन्दरस सोम का ( मद् ) बड़े भारी ( सुज्ञाय ) यथा और ज्ञान और ( मदाय ) आनन्द प्राप्ति के लिये ( प्र पुनन्ति ) उत्तम राति से परिशापित करत हैं ।

( ३ ) ( शिशु ) इस शरीर में शयन करन हार ( हरि ) दु खों के हत्तों और इन्द्रियों के नता रूप में ( जज्ञान ) प्रादुर्भाव होन हार सुष्ठव प्राणरूप ( हृदुम् ) ददाप्यमान सोम सामरूप आनन्दरस का ( देवभ्य ) देवों इन्द्रियों और विद्वानों के लिये ( पवित्र ) पवित्र हृदय या परमपावन ईश्वर के ध्यान में ( मृजन्ति ) परिशुद्ध करत हैं उसका साक्षात् करत हैं ।

[१३३५] उपा पु जानमसुर गोभिर्भग परिष्कृतम् ।

इन्द्र देवा अयाभिपु ॥ १ ॥

[१३३६] नमिद्धन्तु नो गिगे वत्स स शिश्वरीरिव ।

य इन्द्रस्य हृद सनि ॥ २ ॥

[१३३७] अर्षा न सोम श गव धुक्षस्य अप्युर्षाभिषम् ।

वर्षा समुद्रमुक्थ्य ॥ ३ ॥ २० ॥ अ० २ । ६१ । १३-१५ ॥

मा०—( १ ) व्याख्या दक्षा अवि० सं० [४८७] पृ० २४३ ।

( २ ) ( शिशु ) माताए जिस प्रकार ( वाम ह्व ) बालक को अपने दुग्धरसों से बढ़ाती हैं उसी प्रकार ( न ) हमारी ( गिर ) ज्ञान कथाए ( तमिद् ) उस आत्मा के आनन्द को ही ( धन्तु ) वृद्धि करें । उसके बल को बढ़ावें ( य ) जा ( इन्द्रस्य ) अन्तरात्मा रूप इन्द्र के ( हृदसनि ) हृदय में स्थापक रहता है ।

( ३ ) इ सोम<sup>१</sup> तु ( न ) हमारे ( गवे ) गोरूप वाणी के लिये ( श ) शांतिदायक कल्याणकारी सुख को ( अर्ष ) प्रेरित कर और

( विष्णुषी ) निरन्तर सामर्थ्य बढ़ाने वाली ( हृष्यं ) इच्छा शक्ति और भक्त के समान पीयूष बल को ( धुष्वस्व ) प्राप्त करा और है ( उरध्व्य ) प्रशंसनीय ! ( समुदं ) रत्नों के सागर रूप आत्मा को ( वर्धं ) बढ़ा ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
[१३३८] आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति धर्दिरानुपर् ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

येषामिन्द्रो युवा सखा ॥१॥

३ २ ४ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २

[१३३९] बृहद्विदिधम एषां भूरि शस्त्रं पृथुः स्वहः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

येषामिन्द्रो युवा सखा ॥२॥

१ २ ३ २ ० २ ४ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३४०] आयुद्ध इद्युवा वृते शूर आजति सत्त्वभिः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

येषामिन्द्रो युवा सखा ॥३॥२१॥ ऋ० ७ । २५ । १-३ ॥

भा०—( १ ) क्याहवा देखो आविकल सं० [ १३३ ] पृ० ७२ ।

( २ ) ( युवा ) बलवान् ( इन्द्रः ) परमेश्वर या आत्मा ( येषां ) जितका ( सखा ) मित्र है ( एषा ) इनका ( इधमः ) तेज ( बृहत् इत् ) बहुत ही बड़ा है और ( शस्त्रं ) उनकी शक्ति, मदिमा गान करने वाली वाणी भी ( भूरि ) बहुत है और ( स्वहः ) उनका स्वर या प्राण बल या तेज भी ( पृथुः ) बड़ा है ।

( ३ ) ( येषाम् इन्द्रः युवा सखा ) बलवान् परमात्मा जितका मित्र है उनमें से ( आयुद्ध इत् ) युद्ध न करने वाला भी भक्तेका ( शूरः ) शूरवीर के समान ( युधावृतः ) योधागण से घिरे प्रतिपत्ती शत्रु पर ( सत्त्वभिः ) अपने बलों द्वारा ( आजति ) खदाई करता है, और उसे उखाड़ फेंकता है ।

२४ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१३४१] य एक इन्द्रियने वसु मर्त्याय दाशुपे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

इशानो अप्रतिष्कुन इन्द्रो अङ्ग ॥१॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३४२] यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति ।

३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

उग्र तत्पत्यते शय इन्द्रो अङ्ग ॥२॥

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[१३४३] कदा मर्नमराधम पदा लुम्पामिव स्फुरत् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

कदा न शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ३ ॥ २२ ॥

श० १ । ८४ । ७, १, ८५।

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अधिकल स० [३८६] १० २०० ।

( २ ) ( बहुभ्य. ) बहुत से पुरुषों में से ( य चित् हि ) जो कोई भी ( सुतावान् ) ज्ञान योग से प्राप्त ब्रह्मानन्द रस के निष्पादक इस परमात्मा का स्वरूप ( आविवासति ) साक्षात् देख-लता है ( अङ्ग ) हे नर ! ( इन्द्र ) परमेश्वर उसको शीघ्र ही ( तत् ) वह ( उग्र शयः ) उग्र, धीर्य सम्पन्न बल ( पत्यते ) प्रदान करता है ।

( ३ ) ( अङ्ग ) हे पुरुषो ! ( इन्द्र ) वह परमेश्वर तो ( न. गिर ) हमारी वाणियों को ( कदा ) जब कभी भी ( शुश्रवद् ) सुन लेता है और ( मराधम ) माराधना न करने हारे, तुच्छ नास्तिक को ( पदा ) घाण र्षिओं मात्र से नष्ट होजाने वाल ( लुम्पम् इव ) साप की छत्री, लुम्ब या पदवेहरे के नन्हे पौदे के समान ( पदा ) अपने सामर्थ्य से ( कदा ) कभी भी ( स्फुरत् ) विनाश कर देता है ।

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २

[१३४४] गा गान्त त्वा गायत्रिणोर्चिन्त्यर्कमर्कैणः ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २

ब्रह्माणस्त्वा शतप्रत उद्गशमिव योमिरे ॥१॥

२४ ३ ११ २४ ७ ११ २४ ३ १ २  
 [१३४५] यत्सानो मा-गृहो भूर्यस्पष्ट कर्णम् ।

२४ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २  
 तदिन्द्रो अर्थं चेतनि वृष्यन वृष्णिरेजति ।

२ २४ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 [१०४६] युद्धा हि केशिना हरी वृषणा वक्ष्यथा ॥२॥

१ २ ३ १ २ २  
 अथा न इन्द्र सामपा गिरामुपश्रुतिञ्चर ॥ ३ ॥ २३ ॥

श्व० १ । १० । १ ३७ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखा अतिकूल स० [३४२] पृ० १७७ ।

( २ ) ( यत् ) जब ( साना सानु ) ऊची स ऊची चित्तभूमि में साधक ( गृह ) चढ़ जाता है और ( भूरि ) बहुत कुछ मन सकल्प ( कर्ण ) पूर्ण करने के लिये ( अस्पष्ट ) साधन करता है । ( तद् ) तब ( इन्द्र ) परमेश्वर ( अर्थ ) उसका इष्ट प्रयोजन का ( चेतति ) जान लेता है और तब ( वृष्णि ) सुखों की वर्षा करन द्वारा वह आत्मा ( वृजति ) सेनापति के समान भाग बढ़ता है ।

( ३ ) हे ( सामपा ) सोमरूप आनन्दरस का पान करने वाले ( इन्द्र ) आत्मा । ( अथा ) अब ( न ) हमारे ( गिराम् ) वृष्णियों की ( उपश्रुतिम् ) ध्वनि का ( चर ) श्रवण कर । और ( केशिना ) ज्ञान, साधना से सम्पन्न ( वृषणा ) सुखों के वर्षक ( वक्ष्यथा ) कदा कालों को पूर्ण करन द्वारा माण्य और अपान दानों को ( वृषव हि ) साधना में नियुक्त कर ।

इति दशमोऽध्यायः ।

इति द्वितीयोऽर्धे प्रपाठके पञ्चमश्च प्रपाठके समाप्तः ।

इति दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

अथ षष्ठ प्रपाठक ( प्रथमाऽथ )

श्रुति — १ ६ मेधातिथि कण्ठ १ १० वसिष्ठ । ३ प्रगाथ काण्व ।  
 ४ परागर । ५ प्रगाथो वीर कण्वो वा । ७ अवरणप्रसदम्बू । ८ अग्नयो धिक्क्या  
 यथरा । ९ हिरण्यस्तूप । ११ सापराकी ॥ टवना—१ इभ समिद्धा वाग्नि  
 तनूनपात्र नरागत इन्द्रश्च क्रमण २ आदित्या । ३ २, ६ इन्द्र । ४ ७—६  
 पवमान सीय । १० अग्नि ११ सापराकी ॥ छन्द ४—३ ११ गायत्री ।  
 ४ त्रिष्टुप् । ५ वृहती । ६ प्रगाथ ७ अनुष्टुप् ४ द्विषदा पक्ति । ९ जगती ।  
 १० विराड् जगती । स्वर — १—३ ११ षड्ज । ४ धैवत । २, ६ मध्यम ।  
 ६ गाभार । ७ पञ्चम । ८ १० निषा ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१३४७] सु पभिद्धो न आवह देयं अग्न हविमत ।

१ २ ३ १ २  
 होना गावक यत्ति च ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१३४८] मधुमन तनूनपाद् यज्ञ दवेयु न कवे ।

३ १ २ ३ १ २  
 अथा दृणु हातय ॥२॥  
 २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ २

[१३४९] नराशसामह प्रियमास्मन्यश्च उपह्वय ।

१ २ ३ १ २  
 मधुजिह्व हविःकृतम् ॥३॥  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[१३५०] अग्रे सुखतम रथ दयो डाडन आवह ।

२ ३ २ ३ १ २  
 आस हाना मनुर्हित ॥४॥१॥ अ० १० १४ । १-४ ॥

भा०—( १ ) हे ( अग्न ) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ( सुसमिद्ध )  
 उत्तम रूप स इमारे हृदय में प्रकाशित हाकर आप ( न ) हमें ( दवाय )

दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानवान् पुरुषों और दिव्य उत्तम पदार्थों को ( आवह ) प्राप्त कराइये । हे ( होत ) सब पदार्थों के दाता । हे ( पावक ) सब के अन्त करणों के पवित्र करने वाले । आप ( हविष्मते ) अन्तरात्मा में ज्ञानरूप हवि को धारण करन हार ज्ञानी पुरुष को ( च ) भी । यत्ति ) आप प्रम करत और उसको प्राप्त होते और अभिलषित पदार्थों को देते हैं ।

( २ ) ( कवे ) मेधाविन् । हे ( तनूनयान् ) शरीर के छोट से छोट भागों की रक्षा करने वाले । या दह को न गिरन देने वाले प्राणस्वरूप । ( न ) हमारे ( यज्ञ ) जीवनमय राष्ट्रमय और दान आदि सार्वभूमिक यज्ञ को ( अथ ) आज के समान सदा, ( न ) हमारी ( उतय ) रक्षा के निमित्त ( देवेषु ) विद्वान् पुरुषों इन्द्रियगण और दश प्राणों में ( कृणुहि ) सम्पादित करें ।

( ३ ) ( नराशंस ) समस्त विद्वान् नेता पुरुषों द्वारा स्तुति किये गये, ( प्रियम् ) उत्कृष्ट, आश्चर्यक प्रिय ( मधुनिह्ना मधुरूप ब्रह्मविज्ञान को अपने भीतर आदान करने और वेदवाणी द्वारा उपदेश करने हार हविष्कृत ) ब्रह्मज्ञान रूप हवि को सम्पादन करन हार अन्तरात्मा और उस प्रभु का भी इस ( इह अस्मिन् यज्ञे ) महा इस उपासना कार्य में या समार में ( उपह्वये ) ध्यान करू ।

( ४ ) हे ( आने ) । प्रकाशस्वरूप । ( सुखतम ) अति अधिक सुख कारक ( रथे ) रमण करने के साधन इस दह में ( इंडिन ) समाधि द्वारा अर्चि और परिशोधित हाकर ( दवान् ) इन इन्द्रियों और दिव्यगुणों को ( आवह ) प्राप्त करा । तू ही ( मनु द्वित ) इस हृदयगुहा में मनन शील होकर या समाधि द्वारा धारण किया गया है । तू ही ( होता ) इन प्राणों को अपने भीतर आदान करन और सुखों के देने हार ( अस्ति ) है ।

[१३५] यद्यच्च सूत्र उदिनेऽनागा मित्रो अर्थमा ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २  
सुरान् सरिता भग ॥१४



[१३५२] सुप्रार्थारम्भु सक्षय प्रनु यामिन्सुदानव ।

य नो अहोऽतिपिप्रति ॥२॥

[१३५३] उत स्वराज्ञो अदितिरदःप्रस्य व्रतस्य ये ।

महो राजान ईशने ॥३॥२॥ अ० १। ६६। ४-६ ॥

भा०—( १ ) ( वद् ) जो ( अद्य ) इस समय आज या इस कक्ष में ( भग ) सेवन करन योग्य है, ( भूर ) सूर्य प्राणात्मा के ( उदिते ) उदित हो जाने पर (अनागा ) सब अपराधों और दोषों से विमुक्त, पाप रहित, ( मित्र ) सब का स्नेही, ( अथेमा ) न्यायकारी, सब को समान रूप से स्वामी या शत्रुओं का नियन्ता, ( सविता ) सब ससार का उत्पदक परमात्मा ( सुधाति ) हमें सुख प्रदान करें ।

( २ ) ( य. ) जो ( अह ) पाप को ( अति पिप्रति ) पार कर लेते है वे ( यामिनि ) प्रति दिन ( सुदानव प्र ) उत्तम कव्याणकारी उपदेश और उत्तम पेश्वयं दान करन हार हों । और (सक्षय ) निवास सहित हमारा ( सुप्रार्थी ) उत्तम रक्षा का प्रबन्ध भी ( अम्भु ) हो ।

( ३ ) ( उत ) और ( य ) जा ( अदिति ) अम्बीविडन चरित्र बाल ( अदःप्रस्य ) अविनाशी, सुवर्णपादित ( व्रतस्य ) व्रत, कर्त्तव्य कर्म के कारण ( स्वराज ) स्वतः अपन अन्तरात्मा क बल से प्रकाशित होने वाले हैं । वे ही ( मह राजान ) बड़े पृथ्वीशील होकर ( ईशने ) सब पर शासन करते हैं ।

व्रत का पालक सदाचारी दुःख पुरुष ही महान् वशी हो जाता है ।

[१३५४] उ न्वा मदन्तु सोमा ऊणुष्व राधो अद्रिव ।

अथ ब्रह्माद्विषां जहि ॥१॥

[१३५५] पदा पणीनराधसो नि बाधस्य महो असि ।

न हि त्वा कश्चन प्रति ॥२॥

दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानवान् पुरुषों और दिव्य उत्तम पदार्थों को ( आवह ) प्राप्त कराह्ये । हे ( होत ) सब पदार्थों के दाता । हे ( पावक ) सब के अन्त करणों क पवित्र करने हारे । आप ( इविष्मते ) अन्तरात्मा में ज्ञानरूप हवि को धारण करन हारे ज्ञानी पुरुष को ( च ) भी ( यष्टि ) आप प्रम करत और उसको प्राप्त होते और अभिलषित पदार्थ को देते हैं ।

( २ ) ( कत्रे ) मेधाविन् । हे ( तनूनवान् ) शरीर क छ्वाट से छोटा भागों की रक्षा करने हारे । या देह को न गिरन देने वाल प्राणस्वरूप । ( न ) हमारे ( यज्ञ ) जीवनमय राष्ट्रमय और दान आदि सशकर्मरूप यज्ञ को ( अथ ) आज के समान सदा, ( न ) हमारी ( उतये ) रक्षा क निमित्त ( देवेभु ) विद्वान् पुरुषों इन्द्रियगण और दश प्राणों में ( कृणुहि ) सम्पादित करें ।

( ३ ) ( नराशस ) समस्त विद्वान् नेता पुरुषों द्वारा स्तुति किये गये, ( प्रियम् ) उत्कृष्ट, अप्यधिक प्रिय ( मधुनिद्ध ) मधुरूप ब्रह्मविज्ञान को अपने भीतर आदान करन और वेदवाणी द्वारा उपदेश करने हार इविष्कृत । ब्रह्मज्ञान रूप हवि को सम्पादन करन हारे अन्तरात्मा और उस प्रभु को भी इस ( इह अरिमन् यज्ञे ) यहा इस उपासना कार्य में या सप्तर में ( उपह्वये ) ध्यान करू ।

( ४ ) हे ( अरने ) प्रकाशस्वरूप । ( सुष्वतम ) अति अधिक सुख कारक ( रथे ) रमण करने के साधन इस देह में ( इंदिन ) समाधि द्वारा अर्चित और परिशोधित होकर ( दवान् ) इन इन्द्रियों और दिव्यगुणों को ( आवह ) प्राप्त करा । तू ही ( मनु दित ) इस हृदयगुहा में मनन शील हाकर या समाधि द्वारा धारण किया गया है । तू ही ( होता ) इन प्राणों को अपन भीतर आदान करन और सुखों क देने हारा ( अस्ति ) है ।

[१३४१] यद्द्य सूर उदितेऽनागा मिषो अर्थमा ।

३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
सुत्रान् सविता भग ॥१४

[१३५२] सुप्रार्थारभ्तु सक्षय प्रनु यामन्तसुदानय ।

य नो अहोऽतिपिप्रति ॥२॥

[१३५३] उत स्वराजो अदितिरदस्य प्रतस्य य ।

महो राजान ईशने ॥३॥ २४ अ० १। ६६। ४-६ ॥

भा०—( १ ) ( यद् ) जो ( अथ ) इस समय आज या इस कल्प में ( भग ) सेवन करन वाग्य ह, ( सुरे ) सूर्य प्राणामा के ( उदिते ) उदित हो जाने पर ( अनागा ) सब अपराधों और दोषों से बियुक्त, पाप रहित, ( मित्र ) सब का स्नेही, ( अर्षमा ) न्यायकारी, सब को समान रूप से स्वामी या शत्रुओं का निपन्ता, ( सविता ) सब सत्कार का उत्पादक परमात्मा ( सुवाति ) हमें सुख प्रदान करें ।

( २ ) ( य ) जो ( भह ) पाप को ( अति पिप्रति ) पार कर लेते हैं वे ( यामनि ) प्रति दिन ( सुदानव प्र ) उत्तम कक्ष्याणकारी उपदेश और उत्तम वैश्वर्ष्य दान करन हारे हों । और ( सक्षय ) निवास सहित हमारा ( सुप्रार्थी ) उत्तम रक्षा का प्रबन्ध भी ( अस्तु ) हो ।

( ३ ) ( उन् ) और ( य ) जो ( अदिति ) अम्बुविहन चरित्र वाले ( अदस्यरय ) अविनाशी, सुदम्पादित ( प्रतस्य ) प्रत, कर्त्तव्य कर्म के कारण ( स्वराज ) स्वतः अपन अन्तरात्मा क बल स प्रकाशीत होने वाले हैं । वे ही ( महः राजान ) बड़े वैश्वर्षीज होकर ( ईशने ) सब पर शासन करते हैं ।

प्रत का पालक सदाचारी दूध पुरुष ही महान् धर्मी हो जन्मा है ।

[१३५४] उ न्या मदन्तु सोमा कृणुष्व राधो अद्रिय ।

अथ मह्यद्विया जदि ॥१॥

[१३५५] पद्वा गणीनराधसो नि याधस्य महो अंसि ।

न दि त्या कक्षन प्रति ॥२॥

[१३२६] त्वर्माशेषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् ।

त्व राजा जनानाम् ॥३॥३॥ अ० ८ । ६४ । १-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दखो अवि० स० [ १६४ ] पृ० १०३ ।

( २ ) हे ( इन्द्र ) ज्ञावन् । ( पयीन् ) केवल भदले बदले के व्यवहार को करन हारे, धा लोभी ( धराधस ) यज्ञादि द्वारा आराधना न करने हार मूलं पुरुषों को अपने ( पदा ) ज्ञान से ( नि बाधस्व ) पूर्ण रूप से पीड़ित कर अर्थात् उनकी लाभवृत्ति का नाश करद । तू ( महान् ) सबसे बड़ा ( असि ) है । ( त्वा प्रति ) तेर मुकाबल में ( क चन ) कोई भी ( नहि ) नहीं है ।

( ३ ) ह ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवन् । ( त्व ) आप ( सुताना ) उत्पन्न, शिषित और ( असुतानां ) अनुत्पन्न और अशिषित, जा कालान्तर में उत्पन्न या शिषित होंम उन सब पर ( इंशिये ) सामर्प्यवान् है क्योंकि ( त्व ) तू ( जनाना ) सब मनुष्यों, और उत्पन्न हान हारे प्राक्षिपों का ( राजा ) अधिपति राजा है ।

इन्द्र=परमात्मा, आचार्य और राजा हैं । वे क्रम से योगी और शिष्यों का और प्रजाओं को निरन्तर शिषा दें और उनकी व्यवस्था करें ।

इति प्रथम खण्ड ।

— ० —

[१३२७] आ जागृविर्विप्र सत मतीना सोम पुताना असदशम्

पु । सपन्ति य मिथुसानो निकामा अध्वर्यवो रथिरा

स सुहस्ता ॥ १ ॥

१३२७—१ 'श्रुता मतीना' । २ 'सुह नशातोभ', 'विप्र शाप', 'सत्पुन'  
३ 'मदिमुष्णन्' इति अ० ।

[१३५८] स पुनान उपखरं दधान आभ अप्रा रोदसी वीष  
 १ २ ३२३ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२  
 २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २२ १२ ३ २ ३  
 आयः । प्रियाचिद्यस्य प्रियसास ऊता सतो धनं कारिणे  
 १२ २२  
 न प्रयसत् ॥ २ ॥

[१३५९] स वद्धिता वर्धनः पूयमाणः सोमा मीह्वां अभि नो  
 १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३  
 १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 ज्योतिषा वीत् । यत्र नः पूर्वे पितरः पदक्षा स्वर्विदो  
 ३ १२ २२ ३ २  
 अभिगा अद्रिमिष्यन् ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० १ । १७ । १७-११ ॥

भा०—( १ ) ( जागृवि. ) जागरणशील, कभी आज्ञास्य न करने द्वारा, सर्वदा सचेत, ( मतीना ) मनन करनेहारी बुद्धियों या मनन करने योग्य वेदवाणियों के ( अत ) सारभूत सत्यज्ञान को ( पुनान. ) प्रकाशित करता हुआ ( विप्र. ) मेधाबुद्धि से सम्पन्न विद्वान् ( सोम. ) राम, दम आदि साधनों से सम्पन्न होकर ( चमृपु ) प्रजाओं में ( असदन् ) विराजता है । ( यं ) जिसके पास ( निकामः ) नाना प्रकार की कामनाओं से युक्त ( मिथुनासः ) गृहस्थ नर नारी ( अभ्वर्यव. ) अपने यज्ञादि कर्मकाण्ड में लगे हुए विद्वान् ( रथिरासः ) देहधारी, ( मुहस्ता. ) उत्तम कर्म करने में कुशल पुरुष भी ( सपन्ति ) ज्ञान और सत्संग प्राप्त करने के लिये आते हैं ।

( २ ) ( सः ) वह विद्वान् ( पुनान. ) अपने स्वरूप में स्वतः और अधिक शुद्ध पवित्र होता हुआ अपने को ( सुरे ) सबके उत्पादक और प्रेरक परमेश्वर में ( उपदधान. ) ईश्वर प्रणिधान द्वारा समाता हुआ ( उभे ) दोनों ( रोदसी ) प्राण और अपान या इहलोक और परलोक, सूर्य और पृथिवी के समान ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों को ज्ञान तेज से ( भा अप्राः ) पूर्ण करता है, ( स. ) और वह ( वि आयः ) विविध प्रकार का ज्ञान प्रकट करता है । और ( सत. ) अपने उद्देश्य तक पहुँचे हुए ( वस )

जिसकी ( प्रिया ) श्रेष्ठ, और ( प्रियसास ) कल्पयाणदाविनी कामनायें  
( उती ) रक्षय करने, भयों और विघ्नों से बचाने के लिये होती हैं । वह  
( न ) हमें ( धन ) आत्मज्ञान रूप उत्तम धन को ( कारिये न ) अपने  
पाकर के समान समझ कर ( प्र यसत् ) प्रदान करे ।

( ३ ) ( स ) वह ( वर्धिता ) सब की वृद्धि करने हारा और ( वर्धन )  
स्वयं भी आगे बढ़ाने हारा, या सबके सशयों को काटने हारा और  
घन्धनों का भी मूलाच्छेद करने हारा ( प्यमान ) शुद्ध पवित्र ज्ञानवान्  
होकर । ( सोम ) शमदमादि पदक सम्पत्ति स युत्र विद्वान् ( मीटवान् )  
आनन्द और सुखों का वर्षक, धर्ममेघ समाधि से विद्ध, ( ज्योतिषा )  
आत्मज्ञानमय ज्योति से ( न ) हमें ( अभि आदीत् ) उस स्थान पर ले  
जावे ( यत्र ) जहा ( न ) हमारे ( पदज्ञा ) परम पद प्राप्त ब्रह्म के ज्ञाता  
( स्वर्दिद. ) मुक्ति सुख का ज्ञान करने हारे ( गा ) वेदवाणियों को  
( अभि ) साक्षात् करके ( पूर्वे पितर ) पूर्व पिता पितामह गुरु आदि  
पुरुषा एव आचार्य लोग ( भदिम् ) उस अक्षय्य ब्रह्म का ( इन्द्रान् ) प्राप्त  
होते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ ३

[१३६०] गा इन्द्रान्याद्गन्त सग्यायो मा रिपयसत् ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ० १ २

इन्द्रमितस्नाता वृषण मत्ता सुन मुहुर्कथा च शसत् ॥२॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३६१] अग्रक्राक्षण वृषभ यथा जुव गा न चर्षणीसहम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्रिद्वेषण सधननमुभयङ्ग मद्दिष्टमुभयाचिनम् ॥ २ ॥ ५ ॥

शु० ङ । १ । १-२ ङ

भा०—( १ ) हे ( सखाय ) मित्रो ! समाप्त रूप से प्रवचन करने  
हारे विद्वान् लोगों ! ( अन्यद् ) ईश्वर की स्तुति स भतिरिष्टं व्यर्थवाद

२३६०—२. 'वृषभ यथा जुव', 'सनातामयस' इति श्रु० ।

( मा चिन् ) कभी मत ( वि शसत ) उच्चारण किया करो । आप कभी ( मा रिपययत ) बलेश को प्राप्त न होओ । ( ध ) और (सुते) ज्ञान उपग्रह होने पर ( सचा ) एकत्र होकर एक साथ ( वृषण ) आनन्द-सुखों की वर्षा करनेहारे ( इन्द्रम्, इत् ) परमेश्वर को ही स्तुति करके (तथा) वेद-मन्त्रों को (सुहुः) बार २ (शसत) उच्चारण और उनका उपदेश किया करो ।

( २ ) और हे विद्वानो ! आप लोग ( जुव ) वेगवान्, शक्तिशाली, (धवशशिपं) सबको अपनी ओर खींचने हारे (वृषभं) बलवान् धेष्ट (गां न) पैर के समान बलवान्, ( वृषभं ) समस्त सुखों के वर्षक ( पर्षणीसहम् ) समस्त, संसार के मानवों के अपराधों को सहन करने हारे, उन पर चमाशील, उनके व्यवस्थापक, (विद्रेषण) दुष्टों को दण्ड देने के कारण उनकी अप्रीति का पात्र और ( सवनन ) धेष्ट पुरुषों के शरण करने योग्य ( उभयंकरं ) अनुग्रह और दण्ड, पालन और संहार दोनों के करने हारे अतएव ( मंहिष्टं ) सबसे बड़े दाता, ( उभयाविनं ) सगुण और दुर्जन, ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों के जीवनो की समान भाव से रक्षा करने हारे ( इन्द्रम् इत् स्तोत ) उस परमेश्वर की ही स्तुति करो ।

इन्द्रियों को आत्मा और विद्वानों को परमात्मा के प्रति इस भाव से रहना चाहिये । इन्द्रियों के पचमें-आत्मा (विद्रेषणं संवननं) द्वेष और राग से पुरु, ईप्सा और जिहामा या पाने और त्यजने की इच्छा द्वारा दोनों कायों को करनेहारा और सुखकर और दुःखकर दोनों प्रकारोंके मार्गों पर जानेहारा है ।

[१३६२] उदु त्य मधुमत्तमा गिरः स्तोमास हूरेते ।

सश्रजितो धनसा अधिनोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥

[१३६३] कर्षा इव भृगव सूर्या इव विश्वमिद्धातमाशत । -

इन्द्रं स्तोमोभिर्महयन्त आयवः प्रियमघासो अस्थरन्  
॥ २ ॥ ६ ॥

अ० ८ । ३ । १२, १६ ॥

भा०—( १ ) ( रया इव ) रमणसाधन, रथ जिस प्रकार ( घाजयन्तः ) संग्राम में गमन करते हुए ( अशितोतयः ) अपने रथा के साधनों को निरन्तर स्थिर रखने द्वारे ( सशानितः ) समस्त शत्रुओं का विजय करके ( धनसा ) धन, लक्ष्मी को प्राप्ति कराते हैं और राजा के प्रति ही आते, उसे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार ( त्वे ) वे ( मधुमत्तमाः ) अति ज्ञान, और ध्यानन्दरूप मधु से पूर्ण ( गिरः ) वेदवाणीस्वरूप ( स्तोमासः ) वेद के स्तुति सूक्त, है ( इन्द्र ) परमेश्वर । ( उत ईरते ) भक्तजनों और विद्वानों के हृदयों और कण्ठों से तुम्ह परमेश्वर के प्रति उठते हैं ।

( २ ) ( भृगवः ) पाप को भून डालने द्वारे, तपस्वी, ( कवचा- ) विद्वान् पुरुष ( सूर्या इव ) सूर्य की किरणों के समान ( विधम् इत् ) इस समस्त संसार को । धीतम् ) ज्ञान योग और ध्यान योग से प्राप्त कर के ( आशत ) भोग करते हैं । और वे ( प्रियमेधासः ) सूक्ष्म तत्त्वदर्शिनी, धारणावती बुद्धियों और ज्ञानधारियों के प्रेमी ( आयवः ) मनुष्य ( स्तोमेभिः ) नाना प्रकार के स्तुति-ध्वनों से ( इन्द्रं ) परमेश्वर्यवान् परमेश्वर की ( महय-तः ) अर्चना करते हुए ( अस्वान् ) वेद की स्तुतियों का गान करते हैं ।

[१३६४] <sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> पर्यु प्रधन्व वाजसातय परि वृत्राणि सञ्जलि- ।

<sup>३ १ ३ १ २ ३ १ २</sup> द्विपस्तरध्या क्रणया न ईरसे ॥ १ ॥

[१३६५] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अजीजनौ हि पञ्मान सूर्य विधारे शकमना पय- ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> गोजागया रहमाण- पुरन्ध्या ॥ २ ॥

[१३६६] <sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २</sup> अनु दि त्वा सुत सोम मदामसि महे समर्यैराज्ये ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> वाजा अभि पयमान प्रगाइसे ॥३॥७॥१०११०११,३,२॥



भा०—(१) व्याख्या देखो अविच्छन्न सं० [४२८] पृ० २१८ ।

( २ ) हे ( पवमान ) सब के प्रकाशक प्रेरक और उत्पादक ! आप ( गोत्रीरथा ) गति के वेग से युक्त ( पुरन्ध्या ) प्रद्वारण को धारण करने वाली शक्ति से ( रंहमाय ) सबको गति देनेहारे होकर अपने ही ( शवमना ) शक्ति से ( पयः ) सबके पुष्टिकारक जल को ( विधारे ) विशेष रूप से ऊपर किरणों द्वारा धारण कर लेने के लिये ( सूर्य ) सूर्य को ( अजीजनः ) उत्पन्न करते हो । अथवा—( पयः सूर्य विधारे अजीजन. ) सबके पोषक सूर्य को भी निरालम्ब आकाश में उत्पन्न करते हो ।

( ३ ) व्याख्या देखो अविच्छन्न सं० [४३२] पृ० २२० ।

२ ३ १ ३

[१३६७] परिप्रध्न्य० ॥१॥

३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २

[१३६८] एवामृताय महं क्षयाय स शुक्रो अर्प दिव्य पीयूष॥२॥

२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ०

[१३६९] इन्द्रस्ते सोमसुतस्य पेयात् अन्वे दक्षाय विश्वं च देवा-

॥ ३ ॥ ८ ॥ अ० १ । १०६ । १, २, २ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविच्छन्न सं० [४२७] पृ० २१८ ।

(२) हे प्रभो ! तू ( दिव्यः ) दिव्य (पीयूषः) सबको पुष्ट करने वाला, पान करने योग्य आनन्दरसरूप, ( अमृताय ) अमृत, परम महामुख या मुक्ति प्रदान करने के लिये और ( महं ) बड़े भारी ( क्षयाय ) शरण प्राप्त कराने के लिये ( एव ) ही है । हे सबके उत्पादक ( सः ) वह आप ( शुक्रः ) शुद्ध कान्तिस्वरूप होकर हम पर ( अर्प ) अपनी शान और

१३६७—३. 'देवाः' इति अ० । एन. एन. 'स्तीवन्सनसम्पादिते' एन्दनसुदिने प्रन्वे भावे हे अन्वेवेकीरुत्थ मुदिते 'प्रतिप्रध्न्या एवामृतायेत्यादि, तत्र प्रामादिवम् । अन्वेरेत्यादिते तु पूर्णो मन्त्रपाठः ।

आनन्द धारा को प्रेरित करो और हमारे हृदय में प्रकाशित होओ । तं  
विद्यात् शुक्रममृतम् । कठ० उप० ।

( ३ ) हे ( सोम ) सबके उत्पादक परमात्मन्<sup>१</sup> ( सुतस्य ) हृदय में  
प्रकट हुए ( ते ) आनन्दस्वरूप आपके इस का ( इन्द्र ) यह आत्मा ( ष )  
और ( विश्व दया ) समस्त दिव्यगुणवान् यह इन्द्रियगण अथवा विद्वान्  
गण भी ( ऋत्वे ) ज्ञानप्राप्ति और ( दद्याप ) बल प्राप्ति के लिये ( पे-  
यात् ) पान करें ।

श्लि द्वितीय खण्ड ।

— ० —

[१३७०] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १</sup> सूर्यस्यै रश्मणे द्रावयित्त्वो मत्सराम प्रसृत साव-  
<sup>२ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ ३</sup>

मीरते । तन्तु तत परिसर्गांस आशचो नेन्द्रादते परते  
<sup>२ ३ २ २ ३</sup>

ग्राम किञ्चन ॥१॥

<sup>१ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २</sup>

[१३७१] उपो मति. पृच्यते सिच्यते मधुमन्द्राजनी चादने अन्न-  
<sup>३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३</sup>

रासनि । परमान सन्तनि सुन्वतामिव मधुमा द्रव्य

<sup>३ १ २</sup>  
परिवारमर्षनि ॥२॥

<sup>१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३</sup>

[१३७२] उक्षा मिमेति प्रतियन्ति धेनवो देवस्य देवीरुपयन्ति  
<sup>३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३</sup>

निष्कृतम् । अत्यक्रमीदिजुंन धारम ययमत्क न निक्त परि

<sup>१ २ १</sup>  
सामो अद्यत ॥३॥ ६॥ ४० २ । ६० । ६ २, ४ ॥

भा०—( १ ) ( सूर्यस्य ) सबके प्रेरक प्रकाशस्वरूप सूर्य की ( रश्म  
य इव ) किरणों के समान ( द्रावयित्त्व ) द्रुतगति से जान दारे ( प्र-

१३७०—१. 'प्रपृ' १, २. 'सन्त्रि' ३. 'ज्यु । विगति' इति ख० ।

सुत ) उत्तम रीति से उपलब्ध प्रकट या प्रेरित होकर ( मत्सराय ) निरपेक्ष गति करते हुए स्वयं प्रेरित ( आशुव ) शीघ्रगामी ( सर्गास ) समस्त लोक ( तत ) विस्तृत विशाल ( तन्तु ) समं, स्थिति, प्रलय क अनादि तन्तु प्रण को आश्रयण करके ( साक ) एक ही काल में ( परि ईरते ) अरनी २ कक्षा में परिक्रमा करत हैं, वास्तव में ( किञ्चन ) कुछ भी ( धाम ) शक्ति और तेज ( इन्द्रात् कृत ) बिना उस परमेश्वर के कहीं नहीं ( न ) नहीं ( एवम ) प्रकट होता । यहा तेजस्वी लोकों को 'सामा' 'मत्सराय' शब्दों से कहा गया है । अर्थात्प्रपञ्च में य प्राण हैं और इन्द्र=आत्मा ।

(२) (मिति) मननशक्ति बुद्धि उस परमेश्वर इन्द्र में समाधि द्वारा (उपशृष्यते) लग जाती है तब (मधु) आनन्दरस (सिरयते) अन्तःकरण में प्रवाहित होने लगता है । (मन्दाजनी) अति आनन्ददायक स्वधारा (आसनि) मुख के भीतर या मुखपरधान शिरोभाय में (अन्त) भीतर (आदते) प्रेरित होती है । (सन्तनि) सर्वत्र समान भाव से विस्तृत होने द्वारा (पचमान) प्रकट होता हुआ, कान्तिस्वरूप (दधस) धीर्य और रसस्वरूप आनन्दरस (मधुमान्) ज्ञान और आनन्ददायक होकर (धरम्) भृकुटियों के मध्यभाग त्रिपुटीस्थल में या चरणीय प्रदेश में (परि अर्पति) प्रकट होता है ।

इसमें ब्रह्माण्डगत सोम के अतिरिक्त शरीरगत सोम का स्वरूप भी दर्शाया गया है ।

(३) जैसे (उष्ठा) धीर्य संचन में समर्थ साह (मिमिति) शब्द करता है और (धनव) गौण (त) उसकी तरफ (प्रति यन्ति) चलती हैं । इसी प्रकार (देवी) दिग्गुण वाली शक्तिया या बुद्धिया (देवस्य) दिग्गुण युक्त अन्तरात्मा के (निष्कृत) गुप्त स्थान या विद्युत् स्वरूप को भी (उ

पयन्ति ) पहुँचनी हैं । ( सोम ) शुक्रस्वरूप सर्वप्रेरक शक्ति ( अजुनम् )  
शुभ्र या देव के उपचय अपचय करने में समर्थ ( अन्वयम् ) प्राणमय  
( शारम् ) आवरणकारी कोप को ( अति अक्रमीत् ) अतिक्रमण करता  
है और ( निक्रम् ) शुद्ध ( अत्क ) कवच क समान रक्षण करन हारे शरण  
योग्य पद का ( अम्पत् ) प्राप्त होता है ।

३ २४ ३ १ २      ३ २ ३ १ २      ३ १  
[१३७३] अग्नि नरो दीग्निभिर्रग्याद्दिस्नच्युन जनयत प्रशस्तम् ।

३ १ २ ३ १ २      ३ २  
दूरेदृश गृहपतिमथ्युम् ॥१॥

२ ३ ४      ३ १ २ ३ ४ २ ४      ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१३७४] तमग्निमस्ने वसरो न्यएवन्सुप्रतिचक्षमत्रसे कुतश्चित् ।

३ २ ३ ४ ३ २ ३ १ २  
दत्ताय्या यो दम आन गित्य ॥२॥

१ ४      ३ ४ २ ४      ३ २ ४  
[१३७५] प्रेक्षा आने दीदिदि पुगे नोऽजज्ञया सूर्म्या यविष्ठ ।

१ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २

त्वा शश्वन्त उपयन्ति वाजा. ॥ ३ ॥ १० ॥

श० ७ । १ । १-३ ॥

भा० —( १ ) इयास्या देस्ता अचिकल म० [७२] पृ० ३७ ।

( २ ) ( सुप्रतिचक्ष ) उत्तम रूप से दर्शन करने योग्य, ( तम् )  
उस वरण करन योग्य ( अग्निम् ) अग्निरूप ज्ञानवान् तजस्वी आरमा को  
( वसव ) आवास क साधन या दह में वास करने हारे देव, इन्द्रियगण  
या विद्वान् ज्ञान ( कुतश्चित् ) सब आर से ( अचक्ष ) रक्षा प्राप्त करन के

१ अज गतिम्बानोपाजनु । अजी मृजी मत्रने । अत्र वन अत्रने, इति  
म्बान्य । अज प्रतिदग्ने इति चुराणि । अम्बो वदलमुग ।  
अजुन=गतिमान्, स्त्रि, उपाजनशील, भजनशुल प्रतिपरन-  
वान् इत्येव ।

लिये ( अस्ते ) अपने गृह देह, या हृदयगुहा में ( निश्चयवन् ) योग समाधि द्वारा खोजते हैं जो ( दक्षारण्य ) बल को प्राप्त करान में चतुर ( नित्य ) अथवा आविनाशी, ( दम ) दमन करने योग्य शरीररूप गृह में ( आस ) विद्यमान रहता है ।

{ ३ } हे { अग्ने } प्रकाशक आत्मन् ! { एविष्ट } हे बलशालिन् ! अति सुपतम ! अजर अमर ! ( प्रेक्ष ) याग साधनों से प्रदत्त प्रज्वालित शक्ति ( अजस्रया ) निरन्तर प्रकाशमान ( सूर्या ) ज्वाला, ज्ञानमय शक्ति से ( दीदिदि ) प्रकाशित हो । ( शशन्त ) अनादिकाज से बड़े तपस्वी ( धाजा ) ज्ञानी पुरुष ( स्वा ) शुभ्रका ( उपयन्ति ) प्राप्त होते हैं ।

२४                      २४    ३१२    ३१२३२  
[१३७६] आय गौ पृश्निरक्रमादसदन्मातर पुर ।

३१२    ३१    २  
पितर च प्रयत्स्व ॥१॥

३१२                      ३२४    ३१२    ३२  
[१३७७] अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानता ।

१४ २४    ३१२    २४  
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥२॥

३२४    ३१२    ३१    २३१    २  
[१३७८] त्रिशङ्गाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते ।

२३२    ३२३१२

प्रति वस्तोरह द्युभि ॥३॥११॥ अ० १० । २८९ । १-३४

भा०—( १ ) ( २ ) ( ३ ) इत्याद्या दक्षा आविकल स० क्रम से [१३०, १३१ और १३२] पृ० ३१८, ३१९ ।

इति तृतीय खण्ड ।

इति षष्ठस्यप्रपाठकस्य प्रथमोऽध्यायः

इत्येकादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

## अथ द्वादशोऽध्यायः

—७७—

अथ षष्ठप्रपाठकस्य द्वितीयाऽर्धं ।

अपि — १ गोतमो राष्ट्रगण वसिष्ठस्मृतीयस्या । २, ७ वीनहृष्यो भरद्वाजो वा बाहस्पत्य । ३ प्रजापति । ४, १३ मोमरि वाण्व । ५ मधाविधिमेभ्या तिथी वाण्वी । ६ अग्निशोभसमा च क्रमण । ८, ११ वसिष्ठ । ९ तिरक्षी । १० सुवमर आश्रय । १२ १३ नमथयुक्मथी । १४ गुन शेष आजीर्णः । १५ मोषा । १६ मध्यातिथिनातिथिवा कण्व । १७ रेपुर्वाभिव्र । १८ कुत्स । २० अग्न्यस्य ॥ दवता—१ २ ८ १० १३, १४ अग्नि । ३, ६ ८, ११, १५, १७ १८ एवमान साम । ४ ६, ९, १२, १६, १६, २० इन्द्र ॥ छान्द — १ २, ७, १०, १४ गायत्री । ३ ६ अनुष्टुप् । ४ १२, १३ १६ प्रागाथ । ५ इहती । ६ ककुप् सतीइहती च क्रमण । ८, ११, १६, १० त्रिष्टुप् । १७ जगती । १६ अनुष्टुभी इहती च क्रमण । २३ इहती अनुष्टुभी क्रमण ॥ स्वर — १ २, ७ १० १४ एङ् । ३ ६, १० गाणार । ४-६ १२, १३, १६ २० मध्यम । ८, ११ १५, १८ वेत्त । १७ निगा ।

[१३७६] उपप्रयन्ता अश्वर मात्र वाचमाप्रय ।

अरे अम्म च शृणुत ॥ १ ॥

[१३८०] य स्त्रीर्निपु पूय सञ्जमानास्तु कृष्टिषु ।

अरत्तहाशुय गयम् ॥ २ ॥

[१३८१] स नो यदे अमायमती रत्ततु शतम् ।

उनास्मा पान्यहस ॥ ३ ॥

३ १ २      ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१३८२] उत ध्रुवन्तु जन्तव उदग्निर्वृत्रहाजनि ।

३      १२      १२  
 धनञ्जयो रणे रणे ॥ ४ ॥ १ ॥

[ १, २, ४ ] अ० १ । ७४ । १-३ [३] अ० ७ । १५ । ३ ।

भा०—( १ ) ( अध्वरं ) हिंसा आदि रहित पर-उपकार आदि पवित्र कर्मों को ( उप प्रयन्त. ) अनुष्ठान करते हुए हम लोग ( आरे ) दूर देश में ( च ) भी ( अस्मे ) हमारी स्तुति को ( शृण्वते ) सुनने वाले ( अग्नये ) प्रकाशस्वरूप, ज्ञान के दाता परमात्मा की स्तुति के लिपे ( मन्त्रं ) मनन करने योग्य वेदमन्त्र का ( वोचेम ) उच्चारण करें ।

( २ ) ( यः ) जो ( सज्जमानासु ) समान भाव से संग करने हारी और ( स्त्रीहितिषु ) परस्पर स्नेह करने हारी, या परस्पर लड़ने हारी ( कृष्टिषु ) प्रजाओं में ( पूर्व्यः ) सब से प्रथम विद्यमान, या मुख्य पद पर विशिष्टमान, आदरणीय, पूर्ण स्वभाव, निरपेक्ष, निष्पक्ष, न्यायशील ज्ञानी पुरुष है वही ( दाशुषे ) दान करने हारे त्यागी पुरुषों के ( गयं ) प्राण और धन की ( अरक्षत् ) रक्षा करे ।

( ३ ) ( सः ) वह ( शंतमः ) अत्यन्त शान्तिदायक, शम आदि युद्ध, निष्ठ, निष्पक्षपात, ज्ञानी पुरुष, ( नः ) हमारे ( अमात्यं ) सहायक-पुत्र आदि और ( वेदः ) ज्ञान और धन की ( रक्षतु ) रक्षा करे । ( उत ) और ( अस्मान् ) हमको ( अदसः ) पापों से ( पातु ) बचावे ।

( ४ ) और इसी प्रकार ( जन्तव ) सब लोग ( ध्रुवन्तु ) उसका वर्णन करें और जानें कि ( वृत्रहा ) आवरणकारी अज्ञान और अंधकार का नाश करने हारा ( अग्निः ) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानवान्, पथ-दर्शक और प्रकाशस्वरूप आचार्य और राजा ( रणे रणे ) रमणीय २ प्रदर्शों और संग्रामों में ( धनंजयः ) ज्ञान और धन का विजय करने हारा हो ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २  
 [१३८३] अग्ने युक्त्वा हि ये तथाश्वासां देव साधय ।

२ ३ १ २ ३ १ २  
 अर वहन्त्यागय ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २२ ३ २ २  
 [१३८४] अन्त्या नो याह्यावहाभिप्रयासि वीतये ।

२ ३ १ २ २ २  
 आ देवान्त्सामपीतये ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
 [१३८५] उदग्ने भारत छुमदजन्नण दविष्टतत् ।

शोना विमाहजर ॥ ३ ॥ २ ॥ अ० ६ । १६ । ४३-४५ ॥

भा०—( १ ) हे ( देव ) प्रकाशमान आत्मन् । ( ये ) जो ( साधय ) ज्ञानसाधन और कर्मसाधन में कुशल ( तव ) तेरे ( आशय ) शीघ्रगामी ( अश्वास ) विषय ग्रहण करने हारे, ( अर ) पर्याप्त ज्ञान और फलराशि को । वहन्ति, प्राप्त करते हैं उन हृद्भिय आदि साधनों और विद्वानों को । युक्त्वा हि ) निश्चय पूर्वक कार्य में नियुक्त कर । व्याख्या देखिय अतिकूल स० [२५] पृ० ११ ।

( २ ) इ ( अग्ने ) परमपुरुष परमेश्वर । ( नः ) हमारे ( अन्त्या ) सम्मुख ( याहि ) प्राप्त हो, हमें दर्शन दो और ( वीतये ) तब साक्षात्कार करने और ( सामपीतये ) ऐश्वर्य आनन्दरस को पान करने के लिये ( देवान् ) हृद्भियगणों या विद्वान्जनों को नित्य ( प्रयासि ) ज्ञान ( अभि आ वद ) प्राप्त कराओ ।

( ३ ) इ ( भारत ) समस्त सत्कार क भरण पोषण करने हारे । हे ( अर ) जगत्प्रकाशित । ( अग्ने ) प्रकाशस्वरूप परम आत्मन् । ( दविष्टतत् ) निरन्तर प्रकाशमान होता हुआ तू ( अजस्रेण ) निरन्तर वर्तमान, ( छुमत् ) प्रकाशमान तेज से ( शोच ) स्वयं प्रकाशित हो और ( उद्वि भाहि ) उत्तम रीति से समस्त जगत् का भी प्रकाशित कर ।



[१३८६] <sup>१ २ ३ ५८ २४ ३ २ ३ १ २ ३ १८ २८</sup> प्रसुन्वानानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वच ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २८</sup> अथ श्वानमरायसं हुता मखन्न भृगव ॥ २ ॥

[१३८७] <sup>१ ३ ५८ १८ ३ २ ३ ३ ५८</sup> जां जांमिरत्क अव्यत भुजं न पुत्र आगयो ।

<sup>१ २ ३ ५८ २८ ३ ५८ ५८ ३ १ ५८</sup> सरज्जारा न यापणां वरो न योनिमासदम् ॥ २ ॥

[१३८८] <sup>१ ३ ५ २ ३ १ २ ३ ५ ३ २ ३ ५ २</sup> स धीरो दक्षसाधनो वि यस्तस्तम्भ रोदसी ।

<sup>१ २ ३ ५ २ ३ ५ २ २ ३ ५ २</sup> हरिः पवित्रं अव्यत धंधा न योनिमासदम् ॥ ३ ॥ ३ ॥

५० ६ । १०१ । १३-१५ ॥

भा०—( १ ) श्यासया देखो अवि० स० [ २५३ तथा ७७४ ]

पृ० २६८ और ५५३ ।

( २ ) ( जाभिः ) आनन्द को उत्पन्न करने द्वारा, निदाप शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक सोम ( अत्के ) अपने आच्छादक, आनन्दमय कोप में ( आययोः ) मां बाप के ( भुजं ) गोद में ( पुत्रः न ) पुत्र के समान और ( योपणा ) कामिनी स्त्री के प्रति । ( जारः न ) उस में आसन्न पुरुष के समान और ( योनि ) कन्यागृह के प्रति ( वरः न ) वरण करने योग्य पुरुष के समान ( सरत् ) गमन करता हुआ ( योनि ) अपने आश्रय आत्मा में ( आसदं ) स्थिर, आनन्दरूप स्थिति प्राप्त करने के लिये ( अभ्यत ) पहुँच जाता है ।

( ३ ) ( दक्षसाधनः ) अपने बल्लोपार्जन का साधक ( य० ) जां ( रोदसी ) प्राण और अपान के वेगों को ( तस्तम्भ ) रोक लेता या चरा कर लेता है ( स० ) वह ( हरिः ) इन्द्रियों का विजय करने द्वारा ( वेधाः ) ज्ञानी गृहस्थ ( योनिं न , जैसे अपने घर में आता है उसी प्रकार वह भी ( वेधा० ) मेधावी, ज्ञानवान् साधक । योनिम् । आश्रयस्थान, परम

शरयुरूप मास का प्राप्त करने क क्रिय ( पवित्र ) परम पावन परम त्मा में ( अल्पत ) विचरता है ।

इति प्रथम पत्र ।

—०—

[१३८६] अत्रात्तयो अना त्वमनापिरिन्द्र अनुषा सनादास ।

३ २ ३ १ २२ २ १ २ ३ १ २

युधेदापित्वभिच्छुस ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २

[१३६०] नकी रेचन्त सत्याय विन्दस पीयन्ति ते सुराश्व ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २

यदा कृणु पि नदनु समूहस्यादित्पितेव ह्यसे ॥ २ ॥ ४ ॥

अ० ८ । २१ । १३, १४ ॥

भा०—( १ ) श्यासया दसा अचिकल स० [३६६] पृ० २०४ ।

( २ ) इ प्रभा । श्याप ( रवन्त ) केवल धनसम्पन्न धनाभिमाना पुरुष का ( सत्याय ) अपना मित्रता क लिये ( नकि ) कभी नहीं ( वि दस ) प्राप्त करत । क्योंकि ( सुराश्व <sup>१</sup> ) शराव पीकर या राज्य लक्ष्मी क मन् स फूल हुए ( त ) व जाय हिनापियो तक को ( पीयन्ति ) मारत है । और जब ( नदनु ) सत्य गुणों क उपदेश करन हार पुरुष का श्याप अपना मित्र कृणुपि ) घना छत हा और ( समूहस्यति ) उसका उत्तम रीति स उद्यति क मार्ग पर लनात हा । ( श्यात् इत् ) तब ही हे परमेश्वर ! श्याप ( पिता इव ) पिता क समान ( ह्यसे ) याद किय जात हा ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ २ ३ १ २

[१३६१] आ त्वा सहस्रमाशत युक्ता रथ हिरण्यये ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २

ब्रह्मयुजा हरय इन्द्र कशिना उहन्तु साम शितये ॥ १ ॥

१३८६—<sup>१</sup> 'इय त्वि गतिवृद्धया [ श्वि ]

१ सुराश्व शला इति सुराश्व ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १  
 [१३६२] आ त्वा रथ हिरण्यये हरी मयूरशेष्या ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 शितिपृष्ठा वहता मध्वो अन्धसो विप्रक्षणस्य पीतये ॥२॥

२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१३६३] पिथा त्वाऽऽस्य गिर्वण सुतस्य पूर्वया इव ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 परिप्लुतस्य रसिन इयमासुतिश्चार्त्तदाय पत्यो ॥३॥

श्र० ८ । १ । २५-२६ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अधि० स० [२७५] पृ० १२५ ।

( २ ) हे इन्द्र ! ( हिरण्यय ) हरणशील ( रथ ) रमण साधन, भोगायतन इस दह में ( मयूरशेष्या ) मयूर क पखा क समान धर्य वाले, ( शितिपृष्ठा ) श्वेत या नील कान्ति का स्पर्श करन हारे, ( हरी ) दुःखहारी या हरणशील, अध्वरूप प्राण और अपान ( त्वा ) तुम्ह आत्मा के ( विप्र-क्षणस्य ) भयन्त प्रशसनीय या प्राप्त करने श्राय महान् ( मध्व ) मधुर अमृतरस रूप ( अन्ध ) जीवनशक्तिमय सोमरस क ( पीतये ) पान करन के लिय ( वहता ) प्राप्त करावें । विशुद्ध चितिशक्ति क योगसिद्ध अनुभवों को लक्ष्य करक प्राणापान क साधकों क निमित्त प्राण और अपान दोन का घणन भी इसी प्रकार कहा गया है । जैसे—

“ काली कराली च मनोजया च सुजाहिना या च सुसूत्रवर्णा ।

स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च दबील लग्यमाता इति सप्त तिद्धा । सुषट्क  
 जा इन मन्त्रों का सूत्रपरक लगया जाता है वह आदि य भी साधक द्वारा अन्तर्दृष्ट आदि य प्रभु का एक दृष्टान्तमात्र है ।

( ३ ) हे ( गिर्वण ) वाणियों क एकमात्र पात्र ! ( अस्य ) इस ( सुतस्य ) समाधि द्वारा निष्पादित साम को ( नु ) शीघ्र ही ( पूर्वया इव ) प्राण वायु क समान ( पिब ) पान कर । क्योंकि ( परिप्लुतस्य ) याग साधन एवं प्राणायाम आदि अर्गों द्वारा परिशोधित ( रसिन )

ब्रह्मास्वाद रस की ( रसम् ) यह ( आमुतिः ) निष्कर्ष या प्राप्ति ( मदाय ) परम हर्ष के प्राप्त करने के लिये ( चाह ) सर्वोत्तम ( पापते ) जानी और प्राप्त की जाती है ।

[१३६४] <sup>१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> आसोता परिपिचताश्व न स्तोममसुर रजस्तुरम् ।

<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> धनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥ १ ॥

[१३६५] <sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २</sup> सहस्रधारं वृषभं पयोदुह प्रिय देवाय जन्मने ।

<sup>३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ २</sup> ऋतेन य ऋतजातो वि वावृध राजा देव ऋतं वृहत्  
॥ २ ॥ ६ ॥ श्र० ६ । १०८ । ७, ८ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० स० [५८०] पृ० २३२ ।

( २ ) ( सहस्रधारं ) सहस्रों धारणकारिणी शक्तियों या आनन्द धाराओं, या जाना स्तुति वाणियों से पुत्र ( वृषभं ) सुखों के वर्धक ( पयो-दुह ) पुष्टिकारक आनन्द का दोहन करने हारे ( प्रियं ) आत्मा के समान सब से अधिक प्रीति के विषय ( देवाय ) परम इष्टदेव के ( जन्मने ) अन्तरात्मा में प्रादुर्भाव करने के निमित्त साक्षात्कार करो । जो आत्मारूप सोम ( राजा ) ज्ञान से प्रकाशित इय देहेन्दिय सघात का प्रकाशक राजा ( ऋतजातं ) सत्य से परिष्कृत होकर ( ऋतेन ) सत्य ज्ञान से ( वि वावृधं ) अधिक शक्तिशाली होता है और जो स्वयं ( देव ) दिव्यगुण होकर ( ऋतं ) सत्य स्वरूप और ( वृहत् ) सबसे बड़ा, या सबका वर्धक है ।

इति द्वितीय ब्रह्म० ।



[१३६६] <sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> अग्निवृषाणि जह घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया ।

<sup>१ २ ३ १ २ २</sup> समिद्ध शुफ आहुतं ॥ १ ॥

<sup>१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup>  
 [१३६७] गर्भे मातु पितुऽपिता विदिद्युतानो अक्षर ।

<sup>१ २ ३ २ ३ २ ३ २</sup>  
 सादक्षतस्य योनिमा ॥ २ ॥

[१३६८] ब्रह्म प्रजापदाभर जानवेदो विचर्षणे ।

<sup>१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
 अग्रे यदीदयद्विवि ॥३॥७॥ अ० ६ । १६ । ३४, -३६ ॥

मा०—( १ ) स्वाख्या दत्ते अविक्ल स० [४] ४० ३ ।

( २ ) ( पितु पिता ) सब पालकों का पालक, पिता का भी पिता, ( अग्नि ) ज्ञानवान् परमात्मा ( अक्षरे ) अवि-युत, स्थिर ( मातु ) प्रमाता आत्मा के ( गर्भे ) अन्त करण में ( विदिद्युतान ) प्रकाश करता हुआ ( अक्षतस्य ) सत्य ज्ञान क ( यानि ) मूल आश्रय ईश्वरीय ज्ञान, वेद को ( आसीदन् ) स्थापना करता हुआ समस्त आवरणरूप अज्ञानान्धकारों का नाश करता है । अथवा सृष्ट आदि पालकों का उत्पादक ज्ञानी एव सबका अप्रणी, अनादि सिद्ध परमेश्वर ( मातु गर्भे ) जगत् को रचाने वाली प्रकृति के गर्भ में, उसके बीच ( विदिद्युतान ) अपन प्रकाश को स्थापित करता हुआ ( अक्षतस्य यानिम् ) अक्षरक जगत् क मूल कारण रूप तत्व को ( आसीदन् ) अपन वरा करता है ।

( ३ ) हे ( जातवद ) समस्त ससार के उत्पन्न पदार्थों को जानने वाले ( विचर्षणे ) सबके द्रष्टे आप हमें ( प्रजावत् ) पुत्र आदि सहित ( ब्रह्म ) ऐसा अक्ष और ज्ञान का ( आ भर ) प्राप्त कराइय ( पत् ) जा ( द्विवि ) दि-व्यगुण स युक्त ज्ञानमय उत्कृष्ट लोक में भी ( दीदयत् ) प्रकाशित रहे । अर्थात् ऐसा अक्ष और ज्ञान प्राप्त कराया जिसका परलोक और विश्वों में भी आदर हो ।

<sup>३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
 [१३६९] अस्य प्रेषा हेमना पूयमाना देवा दनेभि समपृक्त रसम् ।

<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup>  
 सुत पवित्र पर्येति रेभन् मितय सद्य पशुमन्ति होता ॥१॥

३ १ २ ३ २ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३  
 [१४००] भद्रा वल्गा समन्याऽऽनसानो महान् कविर्निवचनानि  
 १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 शंसन् । आचक्ष्यस्व चम्बो पूयमानो विचक्ष्णो जागृवि-  
 ३ १ २  
 देववीतौ ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [१४०१] समु प्रिया मृज्यंत सानो अन्ये यशस्त्रो यशसा चैतो  
 ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३  
 अम्म । अभि स्वर धन्या पूयमाना यूथ पात स्वास्तिभिः  
 १ २  
 सदा न ॥ ३ ॥ ८ ॥ अ० ६ । ६७ । १-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० स० [५२६] पृ० २६१ ।

( २ ) हे सोम ! महायोगिन् विद्वन् ! ( भद्रा ) कल्याणकारी  
 ( समन्या ) परस्पर प्रेम पूर्वक सम्मिलन करन योग्य, या सग्राम योग्य,  
 केसरिया, तेजस्वी या कापाय ( वस्त्रा ) वस्त्र ( घसान. ) धारण कर्ता  
 हुआ ( महान् ) बड़ा ( कवि ) मेधावी पुरुष हाकर ( निवचनानि ) निरन्तर  
 उपदेश करने योग्य वचनों को ( शसन् ) उपदेश करता हुआ ( विचक्ष्ण. )  
 भले बुरे, सत् असत् का विवेक करता हुआ ( देववीतौ ) परमेश्वर क प्राप्ति  
 के मार्ग में ( पूयमान ) अपने अन्त करण से पवित्र होकर ( चम्बो )  
 पौलोक और पृथिवी ज्ञानत्रान् और अज्ञाना दानों प्रकार के जनों में  
 ( आचक्ष्यस्व ) विचरण कर ।

( ३ ) ( यशसा ) यशस्वियों के बीच, ( यशस्त्र ) अति अधिक  
 यशस्वी, ( चैत ) इस पृथिवी में उत्पन्न होकर ( उ ) भी ( अन्ये ) प्राणा-  
 याम और ( सानो ) उच्चतम अध्यात्म तप-कोटि में स्थित पृव ( प्रिय )  
 अतिप्रिय होकर ( अस्मे ) हमारे लिये विद्या आदि सद्गुणों से ( सम्  
 सुज्यते ) उत्तम रीति से परिष्कार को प्राप्त होता, या भूषित होता है ।  
 अत ( पूयमान. ) प्रावित्र होकर ( धन्या ) गमनशील, परिष्काद् होकर

( अभि स्वर ) उत्तम २ उपदेश कर । अघ्यात्मपत्र में—ज्ञानन्द भूमि को प्राप्त साधक अपने आत्मा से कह रहा है । हे इसी प्रकार के विद्वान् गुरुयो ! (यूयं) आप लोग भी ( नः ) हमारी ( स्वस्तिभिः ) कल्याणकारी उपदेशों और उपायों से ( पात ) रक्षा करो ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २

[१४०६] एतोन्विन्द्रं स्तधाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २

शुद्धैरुत्थैर्यावृध्यास शुद्धैरार्शावांन्ममत्तु ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

[१४०७] इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः ।

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २

शुद्धो रयिनिधारय शुद्धो ममद्धि सौम्य ॥२॥

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१४०४] इन्द्र शुद्धो हि नो रयि शुद्धो रत्नानि दाशुप ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २

शुद्धो वृत्राणि जिघ्रसे शुद्धा वाजं सिपासति ॥३॥६॥

अ० ८ . ६५ । ७-६ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखिये अविकल स० [३५०] पृ० १८१ ।

( २ ) हे ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवन् ! ( शुद्धः ) शुद्धस्वरूप आप ( नः ) हमें ( आगहि ) सन्मुख साक्षात् दर्शन दें । और ( शुद्धाभि ) शुद्ध पवित्र ( ऊतिभिः ) मरुत् रूप या प्राणात्मक शत्रियों सहित आप ( शुद्धः ) शुद्धस्वरूप ही हैं । अतः ( शुद्धः ) शुद्धरूप ही आप ( रयिं ) धारण करने योग्य ऐश्वर्य को ( नि धारय ) पूर्णरूप से धारण करें और हे ( सौम्य ) परमानन्द के पात्र शत्रिमय ! आप ( शुद्धः ) शुद्ध रूप ही ( ममद्धि ) नित्य आनन्द प्राप्त करावें ।

( ३ ) हे ( इन्द्र ) ऐश्वर्यवन् ! ( शुद्धः ) शुद्धस्वरूप आप ( नः ) हमें ( रयिं ) समस्त ऐश्वर्य, जीवन, प्राण और जगत् के समस्त पदार्थ ( सिपासति ) प्रदान करते हैं । क्योंकि ( दाशुपे ) दगता आत्म समर्थक को आप

( शुद्ध. ) निरपेक्ष शुद्धभाव से ही ( रत्नानि ) समस्त सुखकारी पदार्थ देते हो । ( शुद्ध. ) स्वयं शुद्ध होकर ही ( वृत्राणि ) आवरक अन्धकारों और विघ्नों एवं दुष्ट पुरुषों का विनाश करते हो । और ( शुद्ध ) शुद्धस्वरूप होकर ही आप समस्त ससार को ( वाज ) ज्ञान, धन और बल ( सिंघासि ) प्रदान करते हो ।

इति तृतीय खण्डः ।

[१४०५] अग्ने स्तोमं मनामहे सिद्धमद्य दिविस्पृश ।  
<sup>३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>

<sup>३ १ २ ३ १ २</sup>  
 देवस्य द्रविणस्य य ॥१॥

[१४०६] अग्निर्जुषत नो अगरो होता यां मानुषेषु ।  
<sup>३ १ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २ २ ३ २</sup>

<sup>३ १ २ ३ १ २</sup>  
 स यत्तद् देव्य जगम् ॥२॥

[१४०७] त्वमग्ने सप्रथा अलि जुष्टा होता वरराध ।  
<sup>३ १ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २</sup>

<sup>३ १ २ ३ १ २</sup>  
 त्वया यज्ञ प्रितन्वते ॥३॥१०॥ अ० ५ । १२ । ६४ ॥

भा०—( १ ) ( द्रविणस्य यः ) धन और हुन गति से प्राप्त करने योग्य इष्टद्वय का प्राप्त करने की कामना वाले या ऐश्वर्यवान् होकर हम ( य ) आज, यत्र ( देवस्य ) प्रकारास्वरूप ( अग्ने ) सभके अग्रणी ज्ञानदाता, नायक परमेश्वर के ( सिद्धम् ) निश्च ( स्तोम ) स्तुति, सत्यगुण वर्णन रूप वेद का ( मनामहे ) मनन करते हैं ।

( २ ) ( य ) जो ( अग्नि ) ज्ञानवान् परमेश्वर ( होता ) समस्त ससार का आदान और विसर्ग, प्रलय और सर्ग करने हारा ( मानुषेषु ) समस्त मननशील पुरुषों के हृदयों में ( या ) साक्षात् रूप से विद्यमान

१४०५—१ 'अग्नेः स्तोमं मनामहे सिद्धमद्य' शत सू० ।

'तिभ्रमिति पाठा जीशानन्दीयः', सिद्धमिति सायण्यन्तः ।



होकर ( नः ) हमारी ( गिरः ) समस्त वाशियों को ( जुपते ) ध्वषण करता है ( स. ) वही ( दैव्यम् ) दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानप्रकाश वाले ( जनं ) दिव्य पदार्थ और मोक्षस्थ आत्मा को ( यत्तत् ) आनन्द सुख प्रदान करता है ।

( ३ ) हे ( अग्ने ) प्रकाशस्वरूप ! आप ही ( वरेण्यः ) सबके वाण करने योग्य, ( होता ) सब संसार के दाता, प्रतिगृहीता, समस्त यज्ञों के कर्ता, ( जुष्ट. ) सबके प्रेमपात्र, सबके सेवन योग्य और ( सप्रधाः ) सब से महान् ( असि ) हो । ( त्वया ) आप ही के निमित्त से सब लोग अपने ( यज्ञं ) इष्ट साधन रूप धर्म-कार्यों और पूजा आदि का ( वितन्वते ) सम्पादन करते हैं ।

३ १ २ ३ १ २                      ३ १ २ ३ १ २                      ३ १ २  
[१४०८] अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामद्गोपिणमवावशन्त वाणी ।  
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २                      ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
चना घसानो वरुणा नामन्भुधि रत्नधा दयत वायाणि ॥ १ ॥  
१ २ ३ १ २ ३ १ २                      २ ३ १ २                      ३ १ २ ३ १ २

[१४०९] शूरग्रामः सूर्यवीरः सहावाञ्जिता पथरव सनिना धनानि ।  
३ १ २                      ३ १ २                      ३ १ २                      २ १                      ३ १ २                      २ १ ३  
तिग्मायुध. क्षिप्रधन्वा समस्त्रपाढ साहान् पृतनासु  
१ २  
शत्रून् ॥ २ ॥  
३ १ २ ३ १ २                      ३ १ २                      ३ १ २                      २ १                      ३ १ २

[१४१०] उरुगव्युत्तरभयानि कृण्वन्त्समीचीने आपवस्वा पुरन्धी ।  
३ १ २                      १ २ ३ २ ३                      १ २                      २ १                      २ १                      ३ २ ३ २ ३  
अप निदासन्नपसः स्याऽऽर्गा संचिक्रदोमहो अस्मभ्यं  
१ २  
वाजान् ॥ ३ ॥ १ १ ॥ अ० ६ । ६० । २-४ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या हेरौ अत्रिकल सं० [१२८] पृ० २०२ ।

१४०८—१. 'अद्गुणाणामवावशन्त' 'वरुणो न सिन्धूत्' इति अ० । 'वायाणिः' इति पाठस्तु अग्नेस्मुद्रितः प्रागादिकः ।

( २ ) हे ( सोम ) प्राणरूप आत्मन् ! तू ( शूरप्राम. ) गति में वेगवान् इन्द्रियसंघ का स्वामी, ( सर्व्ववारः ) सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, ( सदावान् ) सहनशील, गर्मी सर्दी और सुख दुःख आदि इन्द्रों का सहन करने द्वारा, ( जेता ) सबको पराभव करने द्वारा या ( जेता ) काम श्रेय भोगों और इन्द्रिय के वेगों पर विजयशील ( घनाग्नि ) समस्त रमणीय विषय भोगों को ( सनिता ) प्रति इन्द्रिय विभाग करने द्वारा ( तिग्मायुध ) तीक्ष्ण साधना रूप आयुधों से सम्पन्न, ( चिप्रधम्बा ) अतिशीघ्र गति देने द्वारा या स्वयं सबसे अधिक वेगवान् ( समस्तु ) परस्पर शर्द्धा के स्थलों में ( अवाह ) किसी से न दबने द्वारा ( वृत्तनासु ) प्रज्ञारूप इन्द्रिय युक्तियों में ( साद्धान् ) सबको भयन वश करने द्वारा होकर ( आववस्व ) प्रकट हो । और हमारे शरीर और अन्त करण को भी पवित्र कर ।

( ३ ) ( सोम ) हे आत्मन् ! हे विद्वन् ! ( उह गन्वूनि ) स्वयं समस्त गौ अर्थात् वषणियों और इन्द्रियों के लिये रथा या शरणा हाकर संधैत्र ( अभवाति ) अभय ( कृणवन् ) करते हुए ( पुरन्धी ) हम दहरूप पुर को धारण करने द्वारा प्राण और अपान दोनों को ( समाधेने ) समुचित प्रकार से ( आपवस्व ) गति दे और पवित्र करो । और ( अप. ) समस्त कर्मों और प्रज्ञाओं को ( मियासन् ) यथाकाल और यथास्थान विभाग करते हुए ( स्व ) मुख्य आनन्ददायक ( गा. ) वेदवाकियों को ( च-सम्भम् ) हम लोगों को ( मह. ) श्रेष्ठ २ ( वाजान् ) ज्ञानतत्वों के देने के लिये ( सचिकदन् ) उपहार्य करो, उपदेश करा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ १ २ ३ १ २

[१५११] त्वमिन्द्र यथा अम्युर्जीवी शयमम्पनि. ।

१ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

त्व वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुर्व्वनुत्तध्वर्षणीघृनिः ॥१॥

१ २      ३ १ २    ३ १ २    ३ १ २    ३ १ २

[१४१२] तमु त्वा नूनमसुरप्रचेतस राधो भागमिमेमहे ।

३ २ ३ १ २    ३ १ २      ३ १    २ ३ १ २

महीन कृत्ति शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नुवन्

॥२॥१२॥ अ० ८ । ६० । २, ६ ॥

मा०—( १ ) इ इन्द्र ! ( त्व ) तू ( यशा ) यशस्वी ( शवस  
स्यानि ) शक्ति और बल का माजिक, ( अजोपी ) सब को अजु, सरल,  
उत्तम धर्ममार्ग में प्रेरणा करने द्वारा ( परु - अनुत्त ) बहुता स भी प्रेरित  
या संचालित न होकर, स्वतन्त्र ही ( चरंणीधृति ) साधिरूप से दष्टा  
होकर सबको धारण करने द्वारा है । ( त्व ) तू ( अमतीनि ) जिनका  
मुकाबला न किया जा सक एमे दुर्घट ( वृत्राणि ) विघ्नो और दुःसाध्य  
असुर, अधर्मी पुरुषों को ( एक इत् ) अकला ही ( इति ) विनाश करता  
है । अवि० सं० [२४८]

( २ ) हे ( असुर ) प्राणों में रमण करने हारे आत्मन् ! हे  
( इन्द्र ) ऐश्वर्यवन् ( त ) पूर्वोक्त विशपणों स युक्त पूर्वप्रसिद्ध ( प्रचेतस )  
प्रकृत उत्तम ज्ञानवान् ( त्वा उ ) तुझ स ही इम ( राध ) भाराधना  
करन योग्य ज्ञान को ( भागम् इव ) अन्न के समान ( ईमहे ) याचना  
करते हैं । हे ( इन्द्र ) आत्मन् ! ( ते ) तेरी ( कृत्ति ) कीर्ति ही ( मही )  
बड़ी भारी ( शरणा इव ) शरण रक्षा के समान है ( ते ) तेरे से ( सु  
म्नानि ) प्राप्त होने योग्य समस्त सुखसाधन ( न ) हमें ( अश्नु-  
वन् ) प्राप्त हों ।

१४१२—“सुम्नानो अश्नुवन्” इति च अ० । ‘पूर्वोक्त’ इति अत्रपरमुद्रित

श्रामाणिक. पाठ ।

[१४१३] यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा हातारममत्यम् ।

अस्य यज्ञस्य सुकनुम् ॥१॥

[१४१४] अपात्रपातं सुभगं सुदीतिमग्निमु श्रेष्ठशोचिपम् । स नो  
 मित्रस्य वरुणस्य सा अपामा सुम्न यक्षते दिवि

॥२॥१३॥ अ० ८ । १६ । ३, ४ ॥

भा०—( १ ) ( देवता ) विद्वान् पुरुषों के भी ( देवं ) उपासनीय देव, ( हातारं ) सब यज्ञों के सम्पादक ( अमत्यम् ) मरणरहित, अमृत-स्वरूप ( अस्य ) इस ( यज्ञस्य ) समस्त विश्वका संचालन, उत्पादन और प्रलय रूप यज्ञ के ( सुकनुम् ) उत्तम रूप से रचने हारे अतएव ( यजिष्ठं ) सब यज्ञ कर्त्ताओं में श्रेष्ठ ( त्वा ) आरको ( ववृमहे ) वरण करते हैं । व्याख्या देखो [ ११२ ]

( २ ) ( अपा नपातं ) लोकों, कर्मों और प्रजाधों के पतन, विनाश या लोप न होने देने हारे, ( सुभगं ) ऐश्वर्यसंपन्न, ( सुदीति ) उत्तमकान्ति से युक्त ( श्रेष्ठशोचिपम् ) सबसे श्रेष्ठ, प्रशंसनीय तेज से सम्पन्न ( अग्निम् ) अग्नि स्वरूप, सर्वप्रकाशक आत्मा को वरण करो क्योंकि ( सः ) वह जीवरूप अग्नि ( मित्रस्य ) समस्त जीव को रनेह से देखने हारे और ( वरुणस्य ) सब दुष्टों का वरण करने हारे परमेश्वर के ( अपां ) समस्त प्रजाधों, कर्मों और समस्त लोकों के ( सुम्नं ) सुख को दिवि ) ज्ञान प्रकाशमान भुवःदशा में भी ( नः ) हमें ( यक्षते ) प्राप्त कराता है ।

अग्नि का आत्मस्वरूप देखो नासिकेतोपाख्यान काटक उपनिषद् और सुयदक उपनिषद् में ।

इति चतुर्थः खण्डः ।



[१४१५] <sup>१ २ ३ २ ४ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २</sup> यमग्ने पृतसु मर्त्यमना वाजेषु यद्भुना ।

<sup>२ ४ ३ १ २ ३ १ २</sup> स यन्ता शश्वतीरिप ॥ १ ॥

[१४१६] <sup>१ २ ३ १ २ २ २</sup> न किरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित् ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> वाजा अस्ति श्रवाप्य ॥२॥

[१४१७] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> स वाज विश्वचर्येणिरवद्विरस्तु तरुता ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> विप्रेभिरस्तु सनिता ॥३॥ \*४॥ अ० १। २७। ७-१ ॥

भा०—( १ ) हे ( अग्ने ) परमधर ! ( य ) जिस ( मर्त्य ) मरण धर्मा पुरुष को आप ( अवा ) मृत्यु स घटा लेते हैं और ( य ) जिसको ( वाजेषु ) ज्ञान और श्रेष्ठ कर्मों में ( जुना ) प्रेरित करत, चला देते हो ( स ) वह आपकी ( शश्वती ) नित्य अनादि काल से चली आई ( इय ) प्रेरणाओं और अनादि शक्तियों को ( यन्ता ) बश कर लेता है ।

( २ ) हे ( सहन्त्य ) सब विप्रे क विनाशक ! ( अस्य ) इस आपके ( कयस्य चित् ) किसी भी उपासक साधक को ( पर्येता ) कष्ट देने द्वारा या उस पर आक्रमण करने द्वारा ( नकि ) कोई भी नहीं । श्रयुत उसके पास ( श्रवाप्य ) श्रवण करने योग्य उत्तम ( वाज ) ज्ञान या बल ( अस्ति ) प्राप्त होता है ।

( ३ ) ( स ) वह ( विश्वचर्येणि ) समस्त मनुष्यों का स्वामी ( अर्वादि ) ज्ञानी पुरुषों या इन्द्रियगणों स ही ( वाज ) ज्ञान को, बल का या जीवन सग्राम को ( तरुता ) पार करन द्वारा ( अस्तु ) हो और बड़ी अग्नि ( विप्रेभि ) विद्वान् मेधावी पुरुषों द्वारा ( सनिता ) इष्टफल का दाता ( अस्तु ) हो ।

[१४१८] <sup>३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३</sup> साकमुक्षा मर्ज्जयन्त स्यसरो दश धीरस्य धीतयो

<sup>१ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३</sup> धनुशी । हरि पर्यद्रवज्जा सूर्यस्य द्राणधनक्ष अत्यो न

<sup>३ १ २</sup> वाजी ॥१॥

[१४१६] स मातृभिर्न शिशुर्मातृशानो वृथा दधन्वे पुरुषारा  
 ३ २ ३ ३ १२ २२ ३ १२ ३ १२ २२ ३ १२  
 अद्भि । मर्यो न योषामभि निष्कृत यन् सगच्छते कलश  
 ३ १ २  
 उक्षियाभि ॥२॥

[१४२०] उत प्रपिप्य ऊधरघ्न्याया इन्दुर्धाराभि सचते  
 ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३  
 सुमेधा । मूर्धान गाव पयसा चमूध्वभिथीणन्ति  
 १ २ ३ २ ३ २  
 वसुभिर्न निक्त ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० ६ । १२ । १-३ ॥

मा०—( १ ) व्याख्या देखो अवेकल स० [१३८] पृ० २६८ ।

( २ ) जिस प्रकार ( मातृभि न ) माताओं द्वारा ( शिशु ) उनकी गोद में सोन हारा बालक शिशु ( दधन्वे ) पालित पोषित हाता है उसी प्रकार ( अद्भि ) विषयों तक प्राप्त होने वाली ( मातृभि ) ज्ञान कराने वाली इन्द्रियों द्वारा बालक के समान उनकी गोद में या भीतर प्रसुप्त रूप से शिशु के समान साने हारा और उनका ( वावशान ) निरंतर चाहने हारा ( सोम ) शुक्रस्वरूप, या आनन्दमय महारस ( दधन्वे ) पालित पोषित होता या धारण किया जाता है । और जिस प्रकार ( मर्य ) पुरुष ( योषां न ) स्त्री के पास अपने गृह में जाता और उससे आनन्द प्राप्त करता है उसी प्रकार वह सोम आत्मा ( निष्कृतम् अभि ) अपने मूल आश्रय मस्तकदेह में ( यन् ) जाता हुआ ( कलश ) नाना कलारूप चित्ति शक्ति की नाना वृत्तियों से गुरु सहस्रदल कमल, मूर्धा भाग या दह में ( उक्षियाभि ) ऊर्ध्वमर्षण करन वाली इन्द्रिय शक्तियों से ( सगच्छते ) मिलकर एक हो जाता है ।

( ३ ) ( उत ) और जब वह सोम, शुक्रस्वरूप योगी के तालुभाग में लगी इन्द्रियाणि से टपकने हारा रस ( अघ्न्याया ) कभी न विलुप्त

होने हारे सदा चेतन चितिशक्तिरूप गौ के ( ऊधः ) रस के भण्डार रूप ऊर्ध्वस्थान मस्तक भाग को ( प्रपिप्ये ) भर देता है, पूर्ण कर देता है जब ( सुमेधाः ) उत्तम ज्ञानधारण में समर्थ धारणावती मेधा बुद्धि से युक्त, ( इन्द्रुः ) ज्ञान और तप से प्रकाशमान योगी ( धाराभिः ) अपने धारणा के अभासों या स्तुति वाणियों से ( सधते ) सोम का रस प्राप्त करने एवं आत्मा के स्वरूप तक पहुँचने में समर्थ होता है तब ही ( गावः ) गमनशील सूक्ष्म इन्द्रियों की सवित् शक्तिया या वाणिया ( चमृषु ) अपने २ स्थानों में स्थित होकर ( पयसा ) अपने २ विषयग्रहण के रस स ( मूर्धानं ) मूर्धास्थल अर्थात् शिरोदेश के सहस्ररत्न कमल में स्थित सोम आत्मानन्द को ( अभिः शीघ्रिन्ति ) ऐसे घेर लेती है, आच्छादित कर लेती है जैसे ( निकैः ) स्वच्छ सुन्दर ( वसुभिः ) वस्त्रों से मातायें अपने बालकों को या शुद्ध २ ( वसुभिः ) ज्ञानरूप उपहार धनों से प्रजापुं अपने राजा को आच्छादित कर देती और भर देती हैं ।

यहा सम्प्रजात समाभि का वर्णन किया है, ऊर्ध्वरेता योगी के ध्यान करने और गद्गारसास्वादन करने के रहस्य को खोला गया है ।

१ २ ३, २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१४२१] पिशा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 आपिनो घोधि सधमाद्ये वृधेऽऽसां अवन्तु ते धियः ॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१४२२] भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा नस्तरभिमातये ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 १ असां चिप्राभिरवतादभिष्टिभिरानः सुस्रपु यामय ॥२॥१६॥  
 अ० ८। ३। १-२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० सं० [२३६] पृ० १२२ ।

( २ ) ( वयं ) हम ( ते ) तेरी ( सुमतौ ) उत्तम मति, प्रज्ञा वेदरूप ज्ञान के अधीन रहकर ( वाजिनः ) ज्ञानवान् पुरुष ( याम ) होवें ।

( अभिमातये<sup>१</sup> ) अभित = चारों ओर से नाना प्रकार के माति अर्थात्  
 हिंसाकारी विषयभोग रूप शत्रु की पकती के लिये ( न ) इमें ( मा स्त<sup>२</sup> )  
 मत दक अर्थात् उसमें मत फँसा । ( चित्राभि ) ज्ञानमय नाना प्रकार  
 की समझ करने योग्य ( अभिष्टिभि ) अपनी प्रेरणाओं से ( अरमान् ) इमें  
 ( अवतात् ) रचा कर । और ( न ) इमें ( सुश्रेषु ) सुखमार्गों में ( आ  
 यामय ) व्यवस्थित रख, चला ।

[१४२३] त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुहिरे सत्यामाशिरं परम व्यो-  
 मनि । चत्वार्यन्या भुवनानि निखिजे चारुणि चक्रे यह

१२ २२  
 तैरतर्जत ॥ १ ॥

[१४२४] स भक्षमाणो अमृतस्य चारुण उभे द्यावा कायेना  
 विजग्धथे । तेजिष्ठा अपो मंहना परिव्यत यदी देवस्य

थास्ता सद्यो विदु ॥ २ ॥

[१४२५] ते अस्य मन्तु केतवोऽमृत्यवोऽद्वाभ्यासो जनुपी उभ  
 अनु । येमिर्नृग्णा च देव्या च पुनत आदिद्राजानं मनना  
 अग्रृग्णत ॥ ३ ॥ १७ ॥

श्र० ६ । ७० । १-३ ॥

१ स्तृप्त आच्छादने क्रयादि । द्विसार्धस्य स्तृणातरिति सायण ।

२ अभिमन्यते इति अभिमाति शत्रुरिति सायण । रोग इति माधव ।

१४२३—१ 'दुदुहे' 'पूर्ये व्योमनि', ३. 'स भिक्षमाणो' इति श्र० ।

'भिक्ष्वमाण', 'भक्ष्यमाण' इति पाठौ सायणसम्मतौ, जीवानन्दीये भक्ष्य-  
 माण' इति च सर्वे प्रामादिका. पाठ निगणसागरीये श्रवसायणभाष्ये,  
 अन्यासु सामुसहितासु लन्दन कालिवानामुद्रितासु च तथाऽनुपलम्भात् ।



भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० सं० [५६०] पृ० २८२ ।

( २ ) ( यदि ) जिस दशा में विद्वान् लोग ( देवस्य ) उस उपास्य-  
देव के ( सदः ) आश्रयस्थान हृदय देश को ( अथवा ) गुरुदेश द्वारा  
( विदुः ) ज्ञान कर लेते हैं तब ( सः ) वह पवमान सोमसाधक ( चारुणः )  
अति उत्तमरूप, उपभोग करने योग्य ( अमृतस्य ) अमृत या अमरत्व  
का ( भक्षमाणः ) सेवन करता हुआ ( कायेन ) अपने ज्ञान-सामर्थ्य  
से ( उभे घावा ) दिव्यगुणयुक्त आत्मा और परमात्मा दोनों का ( विश-  
श्रये ) प्राप्त करता है और ( मंहना ) अपने नपोमहत्व से ( तेजिष्ठाः )  
अति तेज से सम्पन्न ( अपः ) लोकों या प्राणों में ( परि व्यत ) विचरता है ।  
ऋग्वेद में 'भिक्षमाणः' पाठ है । इसलिये उस पद में ( सः ) वह साधक  
( चारुणः, अमृतस्य ) उत्तम अमरत्व की ( भिक्षमाणः ) पाचना करता  
हुआ ( उभे घावा विशश्रये ) दोनों तेजोमय आत्माओं को प्राप्त करता है,  
इत्यादि पूर्ववत् । अथवा ( उभे घावा ) दिव्यगुणयुक्त प्राण और अपान  
दोनों को ( विशश्रये ) जिथिल या वश कर लेता है । दोनों के बन्धनों को  
खीला कर देता है । दोनों को वश करके विदेह युक्त होजाता है ।

( ३ ) ( अस्य ) इस सोमरूप योगी आत्मा के ( उभे जनुषी अनु )  
दोनों जन्म अर्थात् इह और पर दोनों लोकों में ( अमृत्यव ) अमर,  
अविनाशी, ( अदाभ्यासः ) अस्त्रापिडत, अमिट ( ते ) वह २ ( केतवः )  
ज्ञान और रश्मियाँ, विभूतियाँ ( सन्तु ) उत्पन्न हो जाती हैं ( याभिः )  
जिन के बल से वह ( नृमया ) मनुष्यों के अभिलाषा योग्य और ( देव्या )

१. घावापृथिवी प्राणपानी, ( शत० )

२. 'अथ हिंसाय' तथादि, अथ प्रवने प्रस्थाने च, सुरादिः,  
अथ मोक्षणे, सुरादिः, अथ दौर्वल्ये, सुरादिः, अथि शकिल्ये,  
म्वादिः, अन्य विमोचनप्रतिदृश्योः, कथादि० ।

देवों, विद्वानों के प्राप्त करने योग्य लोक लोकान्तरों को भी ( पुनते ) प्राप्त करता है । ( धात् इत् ) और उस विभूति के प्राप्त कर लेने के अनन्तर ( राजानम् ) सर्वत प्रकाशमान्, सर्वता वशी राजास्वरूप उस आत्मा को ( मनना ) मनन करने से प्राप्त मानसिक संकल्प ही ( अगृम्पत ) धारण किये रहत हैं, अर्थात् उस दशा में उसका समस्त संकल्प ही उस आत्मा को लोक लोकान्तरों तक पहुँचाते हैं ।

इति पञ्चमः खण्डः ।



ॐ १ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

[१४२६] आभ वायुर्वीर्याणां गणानोऽग्निमि मित्रावरुणा पूयमान ।

ॐ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

अग्नी नरं धीजवनं रथेष्टामभीन्द्र वृषण वज्रयाहुम् ॥ १ ॥

[१४२७] अभि चन्द्रा सुवसना यर्षाभिधेनू सुदुघा पूयमान ।

ॐ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

अभि चन्द्रा भर्त्सेना दिश्याभ्यश्वात्रधिनो देवसोम ॥ २ ॥

[१४२८] अभी नो अर्थं दद्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमान ।

ॐ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

अभि येन द्रविणमश्नरामाभ्यापैय जमदग्निवन्न ॥ ३ ॥ १ ८ ॥

श्र० ९ । १७ । ४९-५१ ॥

भा०—( १ ) हे ( सोम ) विद्वन् ( वायु ) कोष्ठगत वायुरूप प्राण को ( वीति ) सर्व शरीर में व्याप्त होने के लिये ( अभि अर्थ ) प्रेरित कर । और ( मित्रावरुणा ) प्राण और अपान दोनों को ( पूयमानः ) पावन करता हुआ उत्तम रूप स गति देता हुआ ( अभि ) उनको भी प्रेरित कर । ( रथेष्टाम् ) हम देहरूप रथ पर मारुधि बन्द कर स्थित ( धीजवन ) ध्यान, संकल्पमात्र के वेग से जाने वाले, ( नरं ) इन्द्रियगणों के नेता

मन को ( अभि ) उत्तम रीति से प्रेरित कर, और इस प्रकार प्राणायाम द्वारा जितेन्द्रिय और जितचित्त होकर हे सोम ! विद्वन् ! तब ( वज्रबाहुम् ) अज्ञान का नाश करने हारे ज्ञानरूप वज्र को हाथ में लिये अतमभरावस्था में मशाऽऽलोक के सुल जाने पर ( वृषणं ) सब सुखों के वरपंक ( इन्द्रं ) उस आत्मा को ( अभि अर्पे ) साक्षात् कर ।

( २ ) हे सोम ! विद्वन् ! ( पूयमान ) पवित्र होकर या निरन्तर उद्यति की साधना करता हुआ तू ( सुवसनानि ) उत्तम रूप से आरुद्धादन करने हारे ( यत्रा ) चमत्कामते विभूति, सिद्धियों अर्थात् सात्विक आचरणों या पचकोषों को ( अभि-अर्पे ) वश कर । और ( सुदुघा ) उत्तम रूप से ज्ञानरस या आनन्दरस का दोहन करने हारी ( धेनु ) भीतरि व आनन्दवाहिनी सुपुण्या आदि नादियों पर, या इन्द्रिय शक्तियों पर ( अभि ) वश कर और ( न. ) हमें ( चन्द्रा ) आह्लादकारी ( हिरण्या ) ज्ञानरूप ऐश्वर्य ( मत्तवे ) भरण, पोषण करने या आत्मगुण करने क लिये ( अभि अर्पे ) प्रदान कर । हे ( देव ) ज्ञानद्रष्टा शमादिसाधनों से युक्त योगिन् ! ( रथिन ) देहरूप रथों के स्वामी, जितेन्द्रिय ( अश्वान् ) ज्ञानी पुरुषों को ( अभि अर्पे ) हमें प्राप्त करा ।

( ३ ) हे ( सोम ) विद्वन् ! आप हमें ( दिव्या वसूनि ) दिव्यगुण युक्त जीवन के वास हेतु पदार्थों का प्रदान करें और ( पूयमान. ) सर्वत्र प्रकाशमान, शुद्ध पवित्र चित्त होकर ( विष्वा पार्थिवा ) समस्त पृथिवी पर होने वाले ऐहिक पदार्थों का ( अभि ) उपदेश करें । और आप हमें ऐसे ( अभि ) सामर्थ्य दें कि ( येन ) जिससे हम ( दक्षिणम् ) ज्ञान, धन और अन्नादि पदार्थों को ( अभिवाम ) प्राप्त करें और उपभोग भी करें । और हे साम ! आप ( न ) हमें ( जमदग्निवत् ) समस्त अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों को दमन करने हारे परमात्मा के समान ( आयय ) श्रवियों द्वारा प्राप्त करने योग्य वेदज्ञान का ( अभि ) उपदेश करें ।

( तत् ) उस समय ही तू हे परमात्मन् ! ( विधम् ) यह समस्त जगत् ( यत् जातं ) जो कुछ उत्पन्न हुआ ( यत् च ) और जो ( जन्वम् ) आगे उत्पन्न होता उस सब में ( आभिभूः ) सब ओर और सब प्रकारों से व्याप्त होकर सबका मूल उत्पत्ति कारण तू ही ( असि ) है ।

( ३ ) हे परमेश्वर ! तू ही ( आमासु ) न पके, सपक, कच्चे, स्यावर और जंगम पदार्थों में ( पकं ) परिपक भाव को ( ऐरय ) प्राप्त करता है । और इस निमित्त तू ही ( सूर्यं ) सबके प्रेरक सूर्य को ( दिवि ) इस महान् आकाश में ( आरोहयः ) इतनी उच्चता पर स्थापित करता है । हे विद्वान् लोगो ! ( सामन् ) सामवेद द्वारा ( धर्मं न ) जिस प्रकार आप धर्मयोग या प्रवर्ण्येष्टि को ( तपत ) प्रतप्त करते हो उसी प्रकार आप लोग ( सुवृत्रिभिः ) उत्तम ज्ञानस्तुतियों या ज्ञान चर्चाओं द्वारा ( निर्घणसे ) समस्त वेदवाकियों के एकमात्र वर्णनीय उस इन्द्र के विरप में ( जुष्टं ) अतिप्रिय, रबिऊर ( वृद्धत् ) महान् या वृद्धत् साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करो ।

मशयमिति सत्यवचा रथितर । तप इति तपो नित्यः पौरुषिष्टिः । रथा-  
प्यायप्रचने एवेति नाको माद्वैगण्य । तद्धि स्तपस्ताद्धि तप । ( तैत्ति०  
उप० शिष्यावल्ली अनु० ६ ) अर्थात् ज्ञानप्राप्ति ही तप है । प्रवर्ण्येष्टि  
में संसार की रचना का ज्ञान दर्शाया जाता है । ( देखो शतपथ में प्रवर्ण्येष्टि  
प्रकरण )

१२ २७ ३ २३ १२ ३ १२ २२  
[१४३२] मत्स्यपायि ते मष्टः पात्रम्येय हरियो मत्सगे मद्. ।  
१ २३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
घृषा ते घृष्य इन्दुयोजी सहस्रसानमः ॥१॥  
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१४३३] आ नमस्ते गन्तु मन्सरो घृषा मदीं गरेण्यः ।  
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
सदागौ इन्द्र सानांसः पृतनापाहमन्यः ॥२॥

यहाँ योगी का साधक आत्मा के प्रति, भद्र का ईश्वर के प्रति, प्राण का राजा के प्रति समानरूप से वचन है ।

( ३ ) हे ( इन्द्र ) परमधर ! ( एव ) आप ही ( शूरा ) सबमें गति देने वाले, ( सनिता ) समस्त पदार्थों के दाता दाकर ( मनुष्य ) मननशील जीव के ( रथ ) इन्द्र रमण स्थान दह या समस्त विध का ( आदय ) प्रारित कर रहे हैं । आप ( दस्युम् ) मारा करने वाले, दुष्ट ( अग्रतम् ) नियम रहित, निकम्म नियम का न पालन वाले पुरुष का ( सहायान् ) शत्रुशक्ती या सहायसम्पन्न दाकर ( शाचिया ) अपन तज से ( आप ) ऐसा ही सपात ही जैसे ( शाचिया ) आदि के साथ से हम सब ( पात्र न ) इन्द्रिया का सपाया करते हैं ।

इति षष्ठं खण्डम् ।

इति षष्ठस्य द्वितीयाऽध्यायप्रपाठः । इति द्वादशोऽध्यायः ।



अथ त्रयोदशाऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठस्य तृतीयाऽध्यायः ।

( २ ) हे ( सोम ) परमेश्वर वा योगिन् ! ( तथा ) उस ( धारया ) धारा से या धारणा शक्ति से ( पवस्व ) प्रेरित कर ( यथा ) जियमे ( गावः ) दीप्त-शिमया, कान्तिया एवं ज्ञानवाणियाँ ( इह ) इस हमारे अन्त करण, एवं गृह में ( आगमन् ) प्राप्त हों । और ( जन्वास ) जन, मनुष्य एवं प्राणियों क द्वितकारक पदार्थ भी ( न ) हमारे ( गृहम् ) देह और गेह को ( उप ) प्राप्त हों ।

( ३ ) अपनी ( धारया ) धारणा, पालन पोषण करने हारी शक्ति से ( यजेतु ) नाना प्रकार के यज्ञों में ( देवर्षीतये ) दिव्य गुणयुक्त पदार्थों को प्राप्त होकर ( अश्मभ्यं ) हमको ( घृत ) कान्तिस्वरूप प्रदीप्त, प्रकाशयुक्त, ज्ञान, कर्मोपदेश को ( पवस्य ) प्राप्त करा । और ( अश्मभ्यं ) हमें ( पूर्तिं ) अन्त आनन्द-सुर्यों की शृष्ट को भी ( आपद्य ) प्रदान कर ।

( ४ ) हे सोम ! ( सः ) वह तू ( न ) हमारे ( ऊर्जे ) बल सम्पादन के निमित्त ( धारया ) अपनी धारण पोषण करने हारी शक्ति से ( अत्ययं ) सूर्य, प्राण, आत्मारूप ( पवित्रं ) पवन करने हारे वायु, अन्न करण या धारणा देश के प्रति ( विधाव ) विशेष रूप से गति कर । ( देवास ) समस्त विद्वान् और दिव्य जल, अग्नि आदि तत्त्व पदार्थ और इन्द्रियों ( कम् ) आनन्दकारी तेरी ध्वनि को ( शृण्वन् ) श्रवण करने हैं ।

( ५ ) ( पवमान ) अति शुद्धकान्तिरूप से देदीप्यमान सोमरूप अन्तरामा एव प्रह्लाणन्द रस ( अमिष्यद् ) जब द्रवित होता है तब ( शानवन् ) पूर्व के अपने पुरातन ( रथ ) कान्तिवों को ( रोषवन् ) चमकाना हुआ ( रथासि ) समस्त पाप, कुशमता, दुःसकल्पों को अनापन्न ( अथ जघनन् ) दूर मार भगाना है ।

इस सूत्र में सूर्य, आत्मा, प्राण, इन्द्र आदि समस्त प्रेरक शक्तियों को सोमधारा के दृष्टान्त से वर्धित किया गया है । मजु, घृत आदि

शब्द वेद में ज्ञान के वाचक भी हैं । जैसे शतपथ में पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में—एष आहुति=अग्नेवेद की ऋषियों का स्वाध्याय, यजुषा-हुति=यजुर्वेद का स्वाध्याय, सोमाहुति=सामवेद का स्वाध्याय, मेधा-हुति=अथर्ववेद के मन्त्रों का स्वाध्याय और मधु आहुति=अन्य शेष विद्या जैसे वाकोवाचय, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी इत्यादि का स्वाध्याय कहा जाता है । ( शत० का० १२ । ५ । ६ । ३ । ८ )

इत्यादि मय से यह सोम का सवन ज्ञानपरक समझना चाहिये । इसी प्रकार अन्यत्र भी स्वाध्याय प्रगसा प्रकरण में 'मधु इ वा ऋचः ।' घृत ह सामानि 'अमृत यजुषि' यद् इवा अयं वाकोवाचयमधीतो घीरोदन-मासोदनौ भवतः । ( शत० का० ११ । ५ । ७ । ५ )

[१४४०] प्रत्यस्मै पिपीपते विश्वानि त्रिदुषे भर ।

अरङ्गमाय जामयऽपश्चाद्घने नरः ॥ १ ॥

[१४४१] एमने प्रन्येतेन सामेभिः सामपानमम् ।

अमप्रेमिर्क्रीपिणमिन्द्र सुभिरिन्दुभिः ॥ २ ॥

[१४४२] यदी सुतेभिरिन्दुभिः सामेभिः प्रातभूपथ ।

घेदा विश्वस्य माधरा घृपत्तामदपते ॥ ३ ॥

[१४४३] अस्मा अस्मा इदन्ध्रसोऽध्वर्यो प्रभाग सुतम् ।

कुर्वीतसमस्य जग्यस्य शल्लनाप्रभगम्नेऽयम्परत् ॥४॥२॥

घ० ६ । ४२ । १-४ ॥

भा०—( १ ) ध्याण्य देवो अग्नि० म० [३५२] घ० १८२ ।

( २ ) हे विश्वान् पुण्यो ! ( एन ) इस ( सोमपानम् ) सामराम का पान करने वालों में से सवसे धेरु ज्ञान के परम जागार, परमेश्वर का

( सोमेभि ) ज्ञानों और ज्ञानियों द्वारा ( आ प्रति एतन् ) प्राप्त या साक्षात् करने का प्रयत्न करो । ( अमत्रेभि ) धारण करने वाले धारणा बुद्धि के संकल्पों द्वारा ( अजीपिण्य ) अजु मार्गों पर प्रेरणा करने हारे, सन्मार्गदर्शी, सत्संगतिकारी परमेश्वर को ( सुतभि ) सुप्रसिद्ध, सम्यक् रूप से प्रेरित ( इन्दुभि. ) आह्लादकारी विद्वानों द्वारा उनका उपदेश पाकर ( प्रायेतन् ) उसका सत्यज्ञान प्राप्त करो, उसका पहिचानो ।

( ३ ) हे विद्वान् पुरुषो ! ( यदि ) जब ( सुतेभिः ) सिद्ध, निष्पन्न ( इन्दुभि ) प्रकाशमान, ज्ञानज्योतियों से युक्त ( सोमेभि ) पूर्वोक्त सोमों द्वारा ( इन्दं ) अपने आत्मा या अपने उपास्य इष्टदेव को ( प्रतिभूयथ ) अर्पण करो तो यह ( मेधिर ) मेधाबुद्धि से युक्त ( ध्वन् ) सब पर यग करने द्वारा ईश्वर ( विधस्य ) सब कुछ ( यद् ) जान लेता है और ( संतं ) उस २ संकल्प को भी ( एतं ) पूर्ण करता है ।

( ४ ) हे ( अश्वयो ) यज्ञ करनेहारे विद्वन् ! ( अस्मै अस्मै इत् ) इस ही इन्द्र के लिये ( अन्धस ) जीवन धारण करने हारे मूलतत्त्व के ( सुतम् ) निष्पादित आनन्द रस का ( प्रभर ) समर्पित कर । क्योंकि ( यमस्य ) तमस्त ( जन्वस्य ) वरा करने योग्य ( शर्धन्, ) ऊपर उठने हुए ( अभिशरते. ) अभिमानी, घातक काम क्राधादि शत्रुरूप से ( कुबित् ) बहुत बार ( अवरस्वरात् ) बचा लेता है ।

इति प्रथमः खण्डः ।

— 0. —

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २  
[ १४४४ ] यध्वे नु स्वतपसे दणाय दिविस्पृशे ।

१ २ ३ १ २  
सोमाय ताधमर्चन ॥ १ ॥



[१४४५] <sup>१ २</sup>हस्तच्युतेभिर्गद्विभि <sup>३ १ २</sup>सुन <sup>३ १ २</sup>सोम <sup>२ २</sup>पुनीतन ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup>मघागघातना मधु ॥ २ ॥

[१४४६] <sup>२ २ २ १ २</sup>नममेदुपसीदत <sup>३ २ ३ १ २</sup>दधेन दमिथ्रीणीनन ।

<sup>२ २ १ २</sup>इन्दुमिन्द्रे दधातन ॥ ३ ॥

[१४४७] <sup>३ १ २ २ २ ३ १ २</sup>अमित्रहा विचर्षणि <sup>३ १ २</sup>पत्रस्य सोम श गवे ।

<sup>३ १ २ ३ २</sup>देभ्या अनुकामकृत् ॥ ४ ॥

[१४४८] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>इन्द्राय वाम पातये <sup>३ १ २</sup>मदाय परिपिच्यसे ।

<sup>३ १ २ २ ३ १</sup>मनश्चिन्मनमस्पति ॥ ५ ॥

[१४४९] <sup>१ २ ३ ३ ३ २</sup>पवमान सुवीर्ये <sup>३ २</sup>रयि साम रिरीहि ए ।

<sup>१ २ १ २ ३ २</sup>इन्दविन्द्रेण नो युजा ॥ ६ ॥ ३ ॥ अ० ६ । ११ । ४ । ६ ॥

भा०—( १ ) हे विद्वान् पुरुषो ! ( बभ्रव ) सब का मरण पोषण करने द्वारे ( स्वतवस ) दूसर की बिना अपदा किय स्वय चलशाली, ( दिविस्पृशे ) इस देह में मूर्धास्थान और महाएड में महान् आकाश में भी व्याप्त एवं समस्त कान्तिमान् सात्विक दिव्यगुण वाले लोकों और पदार्थों के भातर विद्यमान (सोमाय) प्रेरकस्वरूप, शक्ति प्राणात्मा, परमात्मा एवं राजा आदि को ( गाथन् ) वास्तविक सत्य गुण कथा का ( अचंत ) वर्णन करो ।

( २ ) हे विद्वान् पुरुषो ! ( हस्तच्युतभि ) हाथों के समान प्रेरक साधनों से प्रेरित, ( अद्रिभि ) पर्वत एवं शिलाओं के समान स्थिर, सदा-चारी विद्वानों द्वारा निष्पादित तैयार किये गये ( साम ) ज्ञानराशि को ( पुनीतन ) बराबर उन्नत करो उसका सम्पादन करो और बढ़ाओ और उसका नि सशय करके पवित्र बनाओ । और ( मधो ) अत्यन्त आनन्द करन द्वारे अमृतस्वरूप अपने आत्मा में उस ( मधु ) परम आत्मज्ञानरूप अमृत का ( भाधावन ) प्राप्त करो ।

( ३ ) हे विद्वान् पुरपो ! चाप जोग उस सोम, सबके प्रेरक अन्त यामी, शत्रिमान् परमेश्वर एव इस शरीर के स्वामी प्राणात्मा के ( नमसा इन् ) नमस्कार, अर्द्धा भक्ति द्वारा ( उप सीदत ) समीप पहुंचो, उसकी उपासना करो । ( दक्षा ) ध्यान और धारणा-बल से ( अभि श्रीशीतन ) साक्षात् उसको अपने भीतर परिपक्व करो । और उस ( इन्दुम् ) ऐश्वर्य-सम्पन्न सोमरूप जीव को ( इन्दे ) परमेश्वर में ( दधातन ) स्थापित करो । अथवा ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को अपने आत्मा में धारण करो ।

( ४ ) हे ( सोम ) सवात्पादक परमेश्वर ! ( अभिग्रहा ) द्वेष करने तथा स्नेह न करने द्वारे दुर्वासनायुक्त पुरुषों का नाश करने द्वारा, ( विषर्षणिः ) विविध पदार्थों का विशेष रूप से द्रष्टा होकर, ( देवेभ्यः ) दिव्य-गुण युक्त पदार्थों, विद्वानों एव इन्द्रिय शत्रियों के ( अनुकामकृत् ) कामवानुकूल कार्य करने द्वारा होकर ( गवे ) ज्ञानशील आत्मा के लिये ( श ) कल्याण सुख को ( पथस्य ) प्रवाहित कर ।

( ५ ) हे ( सोम ) सबके प्रेरक ! ज्ञान आनन्द रस स्वरूप ! ( इन्द्राय ) अन्तरात्मा के ( पातवे ) पान करने और ( मदाय ) इष्टोत्पादन के लिये ( परिपिच्यमे ) तू ही सब प्रकार से हृदय में और सर्वत्र आनन्द-प्रादक स्थलों में विचारधारा से प्रवाहित किया जाता है, क्योंकि तू ही ( मनः चित् ) मननशील मन को भी जानने द्वारा एवं ( मनसस्पतिः ) मन स्वरूप आत्मा का परिपालक है ।

( ६ ) हे पवमान ! सर्वत्र प्रकारमान, सर्वव्यापक सबके प्रेरक सबके प्रकाशक ! सोम ! तू ( नः ) हमें ( सुवीर्यं ) उत्तम सामर्थ्य युक्त ( शिवि ) प्राणबल ( शिरीहि ) प्रदान कर । और हे ( इन्दो ) योगिन् ! गुरो ! ( इन्देण ) परमात्मा या आत्मारूप ( युजा ) सहायक से ( नः शिरीहि ) हमें यह बल प्राप्त करा ।

[१४५०] उद्धेदभिश्चुतामघ वृषभन्नर्षोपसम् ।  
<sup>२३ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २ २</sup>

<sup>१</sup> अस्ताग्मेपि सूर्ये ॥ १ ॥

[१४५१] नव या नवति पुरो विभेद याद्वोजसा ।  
<sup>२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३क २२</sup>

<sup>१ ३ ३ १ २</sup> अहिं च वृषहावधीत् ॥ २ ॥

[१४५२] स न इन्द्र शिव सखाश्वानद्रोमद्यमत् ।  
<sup>२ ३ १ २ ३ १२ २२ २ ३ १ २</sup>

<sup>३ १ २</sup> उरुधारेव दोहते ॥ ३ ॥ ४ ॥ अ० ६ । ६३ । २-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देता अविफल सं० [ १२५ ] पृ० ६७ ।

( २ ३ ) ( य ) जो इन्द्र ( य ह्योजसा ) बाहुओं विघ्नकारी याधाओं को दूर करने हारे साधनों के सामर्थ्य या बल से ( नव नवति ) ६० निग्नानवें ( पुर ) पुरों, दहों या दह पर गुजरने हारे उसके परिपोषक एवं तपक वर्षों का ( विभेद ) तोड़ टालता है विनाश करता है और ( वृषहा ) आवरणकारी अज्ञान-अन्धकार का नाश करने द्वारा वह आत्मा ( अहिं ) सर्प के समान हृदय-मन्दिर में भा घुसने वाले अज्ञान और उससे पैदा होने वाले काम आदि विकार, आत्मा के प्रकाश के ऊपर आजाने वाले आवरण को ( अवधीत् ) विनाश करता है ( स ) वह ( इन्द्र ) वशी आत्मा या ऐश्वर्यवान् परमात्मा ( शिव ) कल्याणमय, ( सखा ) सख का मिश्ररूप हमारे लिये ( उरुधारा इव ) दूध की बहा धार बहाने वाली कामधेनु के समान, ( अश्वान् ) इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न बल और ( यामत् ) वेदवाणियों से युक्त ज्ञान और ( यमत् ) जब आदि धान्यों से युक्त उत्तम पुष्टिकारक अन्न को एवं समष्टि रूप स अन्नों, गौओं और सखादियुक्त ऐश्वर्यों का ( दोहते ) प्रदान करता है ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[१४५३] विभ्राद् बृहत्पिरतु सोम्य मध्यायुर्दधद्यताय विहृतम् ।

घातजूनां यो अभिरक्षति त्मना प्रजा विपत्तिं बहुधा

विराजति ॥ १ ॥

[१४५४] विभ्राद् बृहत्सुभृत वाजसातम धर्म दिशो धरणे सत्य-

मर्षितम् । अमिप्रहा वृषदा दम्युह-तम ज्योतिर्जो

असुरदा सप-नदा ॥ २ ॥

[१४५५] इदं श्रेष्ठं ज्योतिषा ज्योतिरुत्तम विश्वजिद्धनजिदुच्यते

वृहत् । विश्वभ्राद् भ्राजा मदि सूर्यो दश उद्य पप्रथे सह

आजो अच्युतम् ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० १० । १०० । १-१ ॥

भा०—( १ ) सूर्य के दृष्टान्त स ईश्वर, आदिश्व ब्रह्मचारी, योगी और उत्तम राजा का वर्णन किया है । ( विभ्राद् ) विराय रूप से अमकने द्वारा, आदिश्व ब्रह्मचारी, योगी ( यज्ञपतौ ) समस्त ब्रह्मवृद्ध के उत्पन्न और ब्रह्मरूप शान आदानमय यज्ञ क स्वामी परमात्मा और प्राणायानाहुतिमय यज्ञ के स्वामी आत्मा में ( अविहृतम् ) सत्त्व शुद्ध एवं निय आर्तन, निष्प अग्न, अमर ( आयु ) जीवन का ( दधन् ) धारण करता हुआ ( वृहत् ) बड़े भारी ( सोम्य ) साम स्वरूप प्रेरक व शासन शक्ति के साक्षात् करण से प्राप्त ( मधु ) अमृत ब्रह्मानन्द रस का ( विषणु ) पान करे । ( घ ) जो ( घातजून ) प्राणवायु द्वारा श्रेष्ठि प्रथम ( त्मना ) स्वयं अपने आप को ( अभिरक्षति ) रक्षा करता और निरपेक्ष होकर ( प्रजा ) अपने ही जिद्वों और प्रजाओं को भी पालन पोषण करता है और ( वि राजति ) विशय रूप से प्रकाशित होता है ।

१४५४—१ 'प्रजा दुर्ध्व पुश्वा रिताः' इति ख० ।

( २ ) ( विभ्र ट ) विशाल रूप स तज स प्रकाशमान ( वृद्धत् ) विशाल वदा भारी ( सुमृत ) उत्तम रूप स ( पलित ) पापित एव धारित ( वाग्रसातम ) ज्ञान और बल प्रदान करन हारों में उत्तम है ( धर्म धरण करन द्वारा साक्षात् आनन्द का प्रवचक आत्मरूप ( दिव ) समस्त सूर्य एव सौल्लाक और विद्वाना क ( धरुण ) आश्रय स्वरूप धारण करन हार परम आश्रय परब्रह्म में ( अर्पितम् ) प्रतिष्ठापित ( सत्य ) सत्य स्वरूप ( अभिप्रदा ) विपरीत जान हार शत्रुरूप काम क्रम आदि अन्त शत्रु और वृद्धि शत्रुओं का भा नाश करन हार ( वृद्धदा ) आमा क आवरक अज्ञान और पापसमाधि क विघातक आभ्यन्तर और बाह्य विघातक व्युत्थान वृत्तिया का नाशक ( हस्युह-तम ) शरीर आमा क उत्तम सम्पदाओं क विनाशक कार्यों का नाश करन द्वारा ( असुरहा ) प्राणों में रमण करन वाल आसुरी स्वभाव क व्यक्तियों का वश करन द्वारा ( सपत्नहा ) प्रतिस्पर्द्धियों का विनाशक ( ज्याति ) तज स्वरूप अर्थात् तज का धारण करन द्वारा आदिय क समान सूर्यप्रतचारी आदिय य गा ( जज्ञ ) उपलब्ध हाता है ।

( ३ ) बह आदि यथागा ( इद ) यह ( धष्ट ) सर्वोत्कृष्ट ( ज्यति ) लय ( ज्यतिपा ) समस्त प्रकाशमान पण्यों में ( उत्तम ) उत्कृष्ट काटि का ( विधजित् ) सब क विजिता और ( धनजित् ) सब विभूतियों स भी उत्तम ( वृद्धत् ) विशाल ( उच्यत ) कहा जाता है । वह ( विधज्जाट ) समस्त ससार का प्रकाशक ( ज्ञान ) सब पापों और पापी पुरुषों का सताय दन द्वारा स्वयम्काश ( मदि ) बदा भारी ( सूर्य ) सूर्य क समान सब का प्ररक सब को प्रकाश दन द्वारा हाकर ( अच्युत ) अविनाश ( सह ) सहनशान सब के अभिभावक तज ( ज्ञान ) और बल का ( ढरु ) बहुत अधिक ( पप्रथ ) विस्तीर्ण होता है फैलाता है ।

[ १४५६ ] इन्द्र प्रतुत्र अ भर एता पुत्रभ्या यथा ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

शिक्षा यो अस्मिन् पुरुहूत यामान जाग ज्योतिरगीमदि ॥

२ ३ १ २    ३ १ १    ३ २ १ २ ३ १ २  
 [१४५७] मा नो थङ्गाना वृजना दुग्भ्यो मा शिवासेऽऽक्रमु ।

१ २ ३ २ ३ १ ३ १ २

त्वया चय प्रवत शश्वतीरपाशत शूर तरामसि ॥२॥६॥

शु० ७ । ३२ । २६ २७ ॥

भा०—( १ ) हे इन्द्ररूप योगिन् आदित्य ! अथवा परमेश्वर ( यथा ) निम्न प्रकार ( पुत्रेभ्य ) अपन पुत्रों के लिये ( पिता ) उनका पालक समस्त आवश्यक भोजन वस्त्रादि पदार्थ जाता और उनको शिक्षा देता है उसी प्रकार आप भी ( न ) हमें ( श्वतु ) ज्ञान बल और कर्म को ( आ हर ) उपदेश करके प्राप्त कराइये और ( अस्मिन् ) इस जीवनमय श्वतरूप यज्ञ में ह ( पुरुहूत ) बहुतसी प्रज्ञाओं से याद किये गये सर्व स्मरणीय, परमा मन् ! ( न शिञ्ज ) हमें शिक्षा दो । हम ( जीवा ) जीवगण ( यामनि ) तेरी सिराई ज्ञान प्रकाशमय व्यवस्था में रह कर ( ज्याति ) जीवन प्राण्य और ज्ञानमय ज्याति का ( अशीमहि ) भाग करें देखा अविच्छन्न स० [२५६] भी ।

( २ ) ह ( इन्द्र ) परमेश्वर ! हे गुरा ! ( अज्ञाता ) बिना ज्ञान पहिचान लुक छिपे चार ( वृजना ) पापी ( दुर्गाप्य ) दुष्ट, कूट पद् यन्त्र करने वाले कुटिलाचारी (अशिवास) अमङ्गलकारक, नीच पुरुष और दुष्ट भाव ( न ) हमें ( मा अक्क्रमु ) कभी न द्या सक । हे ( शूर ) शूरवीर ! शत्रुओं को दमन करने में बड़े बलवन् प्रभो ! (खया) तुम्ह सहायक का पाकर ( चय ) हमें ( प्रवत ) अति विनम्रता से होकर भी ( शश्वती ) बहुत से ( अय ) कायों को ( अतितरामसि ) निविष्टन समाप्त करें ।

३ २ ३ २    ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४५८] अद्याद्या श्व श्व इन्द्र आस्य परे च न ।

१ २            ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

विभ्या च नो जरितृन्तसत्पत अहा दिवा नक्त च राक्षिप ॥२॥

३ ११ २१ ३१ २३ १२ ३ १ २ २७२१३ २  
 [१४५६] प्र भङ्गी शूरा मघवा तुवीमघ समिश्रो वीयाय कम् ।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २

उभाते वाहृ वृपणा शतक्रतो निया घञं मिमिचतु ॥२॥७॥

श्र० ८ । ६१ । १७, १८ ॥

भा०—( १ ) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! ( नः ) हमें ( शय घघ ) सय अज्ञ अर्थात् वर्तमान में और ( श्व श्वः ) सय कल अर्थात् आगामी दिनों में ( परे च ) सय पासों के दिनों में ( आरव ) रक्षा कर । हे ( सत्यते ) सगजन प्रतिपादक प्रभो ! आप ही ( विरवा च अहा ) सभी दिनों और ( दिवा नत्रं च ) दिन और रात भी हमारी ( रक्षिपः ) रक्षा किया करते हो ।

( २ ) ( मघवा ) समस्त यज्ञों का मालिक ( तुवीमघः ) ऐश्वर्यवान् (समिश्रः) सब को मिला देने हारा, सबमें समान भावसे व्यापक, (प्रभंगी) बड़े वेग से शत्रुओं और दुष्ट विचारों को तोड़ फोड़ देने हारा, शूर, पर; मेश्वर विभ्रमशील होने से ही ( वीयाय कम् ) बल वर्धन करने के लिये समर्थ होता है । हे ( शतक्रतो ) सैकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त ( ते ) तेरी ( उभा वाहृ ) धीर पुरुषों की दोनों बाहुओं के समान विज्ञों को बचाने वाली ज्ञान और कर्म दोनों शक्तियाँ ( वृपणा ) नाता सुखों को दर्पाने हारी हैं ( या ) जो ( वज्रं ) वज्र को ( मिमिचतु ) धारण करती हैं ।

परमात्मा के पक्ष में वाहृ=ज्ञान और कर्म, वज्र=कर्म, बंधन को काटने हारी विदारूप शक्ति । जीव के पक्ष में वाहृ=ज्ञान और अपान । वज्र=ज्ञानासि वा चितिशक्ति वा वैराग्य । राजा के पक्ष में वज्र=तखवार, शस्त्रात्र ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[१४६०] जनीयन्तो न्यप्रवः पुत्रीयन्त सुदानवः ।

१ २ सरस्वन्तं हवामहे ॥ १ ॥ ८ ॥ श्र० ७ । ६६ । ४ ॥

भा०—( १ ) ( जनीयन्त ) पुत्रोत्पादन के निमित्त भाषाओं की कामना करते हुए और ( पुत्रीयन्त ) उनमें पुत्रों की कामना करने शारे होकर भी ( सप्तव ) उन्नतिशालि और ( सुदानव ) उत्तम दानों होकर हम लोग ( सरस्वतं ) समस्त आनन्दरस के सागररूप तुभ्य परमात्मा को ( इवामहे ) नित्य स्मरण करते हैं ।

[१४६१] उत नः प्रिया प्रियासु सप्त स्वसा सुजुष्टा ।

सरस्वती स्तोम्याभूत् ॥ ६ ॥ ६ ॥ अ० ६ । १२ । १० ॥

भा०—( १ ) ( उत ) और ( न प्रियासु ) हमारी प्रेमपात्री, प्यारियों के बीच में ( प्रिया ) सबसे अधिक प्रिय ( सरस्वती ) स्वतः सरण करने वाली अथवा प्रधानन्द रस से भरी पूरी । सप्त-स्वसा ) २ आँख, २ नाक, २ कान, १ रसना, इन सात स्वतः सरण करने वाली सात शान-धाराओं के बीच एकमात्र आठवीं भगिनी के समान बहने वाली वाणीरूप सरस्वती (न.) हमारी ( स्तोम्या ) स्तुति करने योग्य (अभूत्, है । अथवा (सप्तस्वसा=सप्त छन्दसि) सात छन्दों वाली वेदवाणी स्तुति करने वाली है ।

[१४६२] तस्वितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो न प्रचोदयात् ॥ १ ॥ अ० १ । १२ । १० ॥

[१४६३] सोमानां स्वर्णं वृणुहि ॥ २ ॥ अ० १ । १८ । १ ॥

[१४६४] अग्न आयूषि पवसे ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ६ । ६६ । १६ ॥

भा०—यही मन्त्र ब्रह्मगायत्री, गुरुमन्त्र, षडमाता सावित्री आदि नामों से कहा जाता है । ( तत् ) उस ( सवितु ) सर्व जगत् के प्रेरक, उत्पादक (देवस्य) स्वतः प्रकाशमान सत्य के प्रकाशक सत्यसुप्तों के दाता परमेश्वर के

१४६३—कवित्व पुस्तकपु द्वितीयकृतीयदोषको पूर्ण पाठा इत्यन्ते । क्वीपु सहित-  
तासु प्रतीकमाधुपुपन्थते इति तदेवात्राशुद्विषते लिपि गारात् ।



( वरण्य ) सर्वोक्त, वरण करन योग्य अनुपम, ( भर्ग ) अविद्या, अज्ञान, काम प्राध्न्य लोग, माह आदि भ्रमात् स पैदा होन हारे तामस अक्षुभों का अभि और सूय क प्रखर तज क समान भस्म कर डालने हारे तज का हम ( धीमहि ) ध्यान करें, धारण करें ( य ) जा परमेश्वर ( न ) हमारी ( धिय ) बुद्धियों और कर्मवृत्तियों का ( प्रचाद्यात् ) उत्तम सन्मार्ग में प्ररित करता है ।

गोपथ ब्राह्मण में गायत्री मन्त्र एक मनन करन योग्य व्याख्या इस प्रकार की है ।

‘ यदारद्धदासि सविनुवरेण्य भगा दवस्य कवयोऽल्लमाह ।

कर्मोणि धियस्तदु त प्रवीमि प्रचाद्यात् सविता याभिरेति ॥”

उस उपादक परमात्म दव का परम वरणीय भर्गरूप तज ‘वेद’ ‘सुन्द’ है जिसका कवि विद्वान् ज्ञान अज्ञ’ कहत हैं । और ‘धिय’ का तात्पर्य कर्म’ है इ शिष्य । यही मैं तुम्हका उपदेश करता हू कि उन कर्मों द्वारा ही परमात्मा सबका प्ररित करता है । \*

( २ ) व्याख्या दसो अत्रिकल म० [ १२६ ] पृ० ७६ ।

( ३ ) व्याख्या दसो अत्रिकल स० [ ६२७ ] पृ० ३१६ ।

१ धीमहि ध्याया धारणा इति मायण । आद्य रूप ध्यायते तत्रच  
निर्वाणोऽपि आधार इ दम्य प्रयत्न

० इस गायत्रे म प्र वा वा प० दम्यु० रोम वा विद्या निम्नलिखित  
अनुशा ० १२१ वा है—

जग ( ता ) तज ( स्वप्न म व ) स्व मरिता परमात्मा क ( मग )  
उत्तम तेज वा । धीमहि ) उत्तमता मन है जो ( स्व ) सब वा प्रकाशन  
ब्रह्मा है जो ( मरिता ) सब वा व शत्र ब्रह्मा उ आर त्रिसे सब उदय होत है,  
और विमो ( मग ) सब जीव होत है नी जो हम ( न धिय ) अपनी  
उद्धियों वा ( बोध ) प्रकाश क प्राप्त ब्रह्म क मिव ( प्र मोद्यात् ) प्ररणा  
करा का प्राप्ता परत है ।

१ २ ३ १ २  
[१४६५] तान शक्त पार्थिवत्रयं ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २  
[१४६६] ऋतसृतेन सपन्तेपिरन्दक्षमाशाते ।

३ १ २ ३ १ २  
अहुहा देवौ यद्धेत ॥ २ ॥

३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ ३ १ २  
[१४६७] वृष्टिद्यावा शीत्यापस्पर्ती दानुमत्या ।

१ २ ३ १ २  
वृहन्त गर्तमाशात ॥ ३ ॥ ११ ॥ अ० ५ । ६८ । ३-५ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविकल स० [११४३] पृ० ५६७ ।

( २ ) राजा मन्त्री जीवात्मा मन, परमात्मा जीवात्मा, प्राणापान, सूर्यवायु, धजमान, अर्धव्यु सूर्य, पृथिवी, गुरु शिव्य आदि का बन्धन है । वे दोनों मित्र और वरुण ( शत्रुहो ) परस्पर दाइ न करते हुए ( शत्रु ) प्रकाशमान ज्ञान स स्वरु प्रकाशित होन, एव दूसरे का भा प्रकाशित करन द्वार या परस्पर एक दूसरे क आकाशी ( अत ) सत्यज्ञान को ( अतन ) वद ज्ञान स ( सपन्ता ) प्राप्त करते हुए ( उपिर ) सबके प्रक ( दक्ष ) बल का ( आशात ) प्राप्त कर लेते हैं । अध्यात्म पक्ष में—  
' ( अत ) स य ज्ञान को ( अतन ) ब्रह्म से " प्राणापान पक्ष में—  
( अत ) आत्मा का ( अतन ) तप स इ यादि पूर्ववत् ।

( ३ ) ध मित्र और वरुण ( वृष्टिद्यावा ) वर्षण और प्रकाश स युक्त ( शीत्यावा ) गति या ज्ञान द्वारा ही इष्ट का प्राप्त करन द्वारे अथवा जलों क समान कर्म और ज्ञानों का बहान द्वारे ( दानुमत्या ) दान दन योग्य ( ह्य ) अतगादायक अथ क ( पर्ती ) राजा भी होकर ( वृहन्त ) विजाल ( गतम् ) उत्तम दडरूप या ब्रह्मायुध रथ में ( आशाते ) व्याप्त रहते हैं । राजा, मन्त्री पक्ष में ( गर्त ) उत्तम राष्ट्र या विजयरथ ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१४६८] युञ्जन्ति घ्नन्मरुप चरन्तं परितस्थुपः ।

१ २ ३ २ ३ २  
 रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१४६९] युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपत्तसा रथे ।

१ २ ३ २ ३ १ २  
 शोणा घृष्ण नृवाहसा ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१४७०] केतुं वृषवन्नरुथे पेशो मर्या अपेशसं ।

२ ३ १ २

समुपद्भिरजायथा ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० १ । ६ । १-२ ॥

भा०—( १ ) जो विद्वान् साधक योगी ज्ञो ( तस्थुप ) स्थिर ध्यात्म होकर ( परिचरन्तं ) समस्त देह में गति करने हारे, ( अरुप ) सब ममत्त्वानों में विराजमान, उनका माश न करने हारे ( घ्नन् ) विशाल सब इन्द्रियगण को अपने बल से बाधने और उनको खलाने हारे मुक्त प्राण को ( युञ्जन्ति ) वागम्यास द्वारा प्राप्त करते हैं वे ( रोचना ) कान्तिमग्न होकर ( दिवि ) सात्विक ऊर्ध्व ध्यान, ज्ञान-प्रकाशमय मोक्ष में ( राचन्ते ) विराजत और शोभा पान है या ( दिवि ) मूर्धास्थान में विराजत तत्र से प्रकाशमान होते हैं । अथवा—जो विद्वान् योगी तस्थुप परिचरन्तं ) समस्त रथावर और जगम पदार्थों में व्यापक ( अरुप ) सब क प्रानि चहवान् मग्न ) सर्वाश्रय सबम महान्, महत्स्वरूप परमेश्वर को ( युञ्जन्ति ) वाग समाधि द्वारा प्राप्त करते हैं वे ( दिवि ) प्रकाशमान माश स्थान में ( रोचना ) तत्रोत्पन्न होकर ( राचन्ते ) विराजमान होते हैं ।

अथवा, जो शिक्षाविद्या की सिद्धि के लिये ( मग्न ) सूर्य को, ( अरुप ) अग्नि को, ( चरन्तं ) वायु को सम्यक् रीति से कायं में नियुक्त करते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं और ध्यानम्द लाभ करते हैं ।

महापि दयानन्द प्रदर्शित दिशा से ये तीनों अर्थ स्पष्ट हैं ।

( २ ) ( भ्रम्य ) जिसको पूर्ण मन्त्र में 'म्रध्न' कहा है जो सूर्य आदि त्वाण्डों से भी सम्बोधित होता है उस मुख्य प्राणात्मा रूप इन्द्र के ( रथे ) रमण करने के साधक इस देह रूप रथ में ( काम्या ) कान्तिसम्पादक व कमनीय, रचिकर, प्रिय, ( हरी ) हरणशील ( विपद्यसा<sup>१</sup> ) नाना प्रकार से शरीर को धारण करने हारे अथवा विविध पाषाँ में गति करने हारे ( शोण्या ) स्वतः गतिशील, ( छ्यु ) शरीर को धारण करने हारे, दृढ़, ( नुवाइसा ) नेतास्वरूप आत्मा के बाहनरूप प्राण और अपान दोनों को जो योगाभ्यास द्वारा ( युञ्जन्ति ) लगाते हैं, बश कर लेते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं । सूर्यपक्ष में—( हरी ) हरणशील आकर्षण और वेगगुण । राजा पक्ष में—( रथे ) युद्धोपकरण रथ परमात्मापक्ष में—( हरी ) सूर्य और वायु । सभी सम्प्रदायवादियों ने अपने सर्व-यापक इष्टदेव के द्रव्याण्डमय विशाल रथ की कल्पना की है । जिसमें अगलाय का रथ और विष्णु का रथ दर्शनीय हैं ।

( ३ ) हे (मर्गों) मनुष्य लोगो ! मरणशील मनुष्यो ! या जन्तुगण ! जिस प्रकार ( उपजि ) अपनी दाहक रश्मियों से ( अकतवे ) निद्रा में अचेत प्राणी के लिये ( क्तु ) प्रातः चेतना करता हुआ और ( अपेशसे ) अरूप अर्थात् प्रकाश के अभाव में अदृश्य पदार्थों को ( पेश ) रूपवान् अर्थात् दृश्यमान करता हुआ उदित होता है उसी प्रकार यह आत्मा भी ( अकतवे ) ज्ञान रहित इस देहादि सघात के निमित्त ( क्तुं ) ज्ञान, चेतना प्रकट करता हुआ और ( अपेशसे ) रूप रहित अपने लिये ( पेश )

१. रथो रहतेर्वागति कर्मण, स्विकतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मि-  
स्तिष्ठति इति रथतेर्वा रसतेर्वा । ( निर० ३ । ११ )

२. विपद्यसा—पक्ष हरिद्रोहे ( ज्ञेयादि. )

इस देह को रूपवान् ( कृषावन् ) करता हुआ ( समुपद्रि. ) संताप देने  
हारे कर्म विषाक्तों द्वारा पुनः ( अजायया. ) उत्पन्न होता है । अथवा—हे  
जीवो ! आत्मा अचेतन देह को चतन और अरूप अपने आपको सरूप करता  
हुआ कर्मफलों से पुनः उत्पन्न होता है ।

इति षष्ठ्यः सप्तः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१४७१] अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्ये तुभ्यं पयते त्वमस्य पाहि ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्व हयं चकृषे त्व वष्टुष इन्द्रं मदाय युज्याय सोमम् ॥१॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४७२] स ई रथां न भुत्पिडाडयोऽजि महः पुरुषि सातये वसुणि ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आर्दी विश्वा नहुष्याणि जाता स्वर्गता घन ऊर्ध्वो नवन्तरे

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४७३] शुष्मी शध्रौ न मारुनं पयस्यानभिशास्ता दिव्या यथा

२ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

विद् । आपो न मन्त्र सुमतिर्भया नः सदस्याप्साः पृतनां-

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

पाइ न यश ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० ६ । ८८ । १, २, ७ ॥

भा०—( १ ) हे इन्द्र ! आत्मन् ! परमाणन् ! ( अयं सोमः ) यह  
सोम, शमदि समग्र योगी ( तुभ्यं ) तेरे द्विषे ( सुन्ये ) साधना करके  
निष्पन्न होता है । ( तुभ्यं पयते ) तेरी प्राप्ति के द्विषे यत्न करता है ।  
( य ) तिमको ( त्वं ) तू ( वष्टुष ) बनाता है और ( त्वं वष्टुषं ) तू ही  
आत्मत्वं देना है या वरदा करता है उस ( इन्द्रम् ) ऐश्वर्य और तप में युक्त  
( सोमम् ) शमदमादि साधन सम्पत्ति में युक्त पुरुष को ( मदाय ) आ-  
नन्दप्राप्ति, मोक्षलक्ष्य और ( युज्याय ) अपने संग रहने अर्थात् ब्रह्मसाक्षा-  
त्कार के द्विषे ( त्वं ) तू ( अस्य पाहि ) उसको विघ्नो से बचाता है ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तन्नृ स्वाम् ॥

( कठोपनि० १ । १२ । २२ )

( २ ) ( स. ) वह सोमरूप योगी ( वसूनि ) इस में धास करने हारे ( पुरुषि ) इन्द्रियों को ( रथ. न ) स्थिर, स्थाणु के समान ( भूरिपाट् ) अति अधिक सहनशील होकर ( मह. सातये ) तेज को प्राप्त करने के लिये ( अयोजि ) योग साधन में लग जाता है । ( आत् ईम् ) और अनन्तर ( वने ) अभिलाषा के योग्य ( स्वर्पांती ) इस परम सुख की प्राप्ति के कार्य में ( नहुष्याणि ) मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य ( विधा ) समस्त ( ऊर्वा ) उत्कृष्ट ( जाता ) पदार्थ आपसे आप उसको ( नवन्त ) प्राप्त हो जाते हैं । यद्वा- ( स भूरिपाट् मह. पुरुषि वसूनि सातये रथ इव अयोजि ) जब वह अति सहनशील विशाल-आरमा वाला योगी बहुत विभूति, अग्नि, सिद्धि की प्राप्ति के लिये संप्रामरथ के समान योगसमाधि में लग जाता है । ( आत् ईं विधा नहुष्याणि ऊर्वा जाता नवन्त ) तब ही समस्त मानुष उत्कृष्ट भोग्य ऐश्वर्य स्वतः उसके आगे आ झुकते हैं । इसका स्पष्टीकरण देखो । ( छान्दोग्य उप० अ० ८ । ख० १३ )

( ३ ) हे सोम ! आत्मन् ! आत्मयोगिन् ! आप ( भारतं ) प्राणों के ( शर्धः न ) प्राणबल के समान ( पवस्व ) इस देह को गति देते और ( यथा ) जिस प्रकार ( दिव्या ) दिग्भ्यगुण युक्त ( विद् ) प्रजारूप प्राणो-न्द्रिय गण ( अनभिशास्ता ) अनिन्दित और अस्पृष्ट है उसी प्रकार आप भी अस्पृष्ट और अनिन्दित हैं । आप ( आप न ) जलों के समान ( मधू ) शीघ्रगामी, मनोवेग से इन्द्रिय प्रणालिकाओं में बहते हो, अतः आप ( सहस्राप्ता. १ ) अनेकों रूप होकर ( पृतनापाद् न ) युद्ध

विजयी सेनापति के समान इस देहरूप वेदी में होने वाले यज्ञ में पतमानस्वरूप ( यज्ञ<sup>२</sup> ) आत्मा होकर आप ( न ) हमारे लिय (सुमति) शुभ सकल्प युक्त ( भव ) रहो ।

[१४७८] <sup>१२ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ २</sup> त्वमग्ने यज्ञानां हाता विश्वया दित ।

<sup>१२ ३ १ २ ३ १ २</sup> देवभिर्मानुषे जने ॥ १ ॥

[१४७५] <sup>१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २</sup> स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः ।

<sup>१ २ १ २ ३ १ २</sup> आ देवान्वाक्षि यक्षि च ॥ २ ॥

[१४७६] <sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २</sup> वेस्था हि वेधा अध्या पथश्च देवा जसा ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup> अग्ने यज्ञेषु सुजतो । ३ ॥ १४ ॥ श० ६ । १६ । २-२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविकल स० [ २ ] पृ० २ ।

( २ ) हे परमेश्वर<sup>१</sup> आत्मान्<sup>१</sup> ( स ) वह आप ( मन्द्राभि ) स्तुति के योग्य हर्षजनक, दयादय प्रशसनीय ( जिह्वाभि ) जिह्वाओं वाणियों से या आदान प्रतिदान करनेहारी इन्द्रियों एवं पञ्चभूतमय शक्तियों से ( मह ) महान् होकर ( अध्वरे ) द्विसारदित व्यवहार एवं एक दूसरे की सत्ताताश न करनेहारी व्यवस्था में ( यज्ञ ) इस ब्रह्माण्ड क समस्त पदार्थों को सगत करते और परस्पर मिलाते हो । और ( देवान् ) पञ्चभूतों, जिह्वाओं और इन्द्रियगण को ( आक्षि ) आप अपनी शरण में लेकर उन्नति

२ यद्य इति आत्मना महती भूतन गन्धेषु परिपटित यद्य आत्मा भवति यन्न तन्ने” ( नि० पार० ल० २ । ११ )

१४७६—१ जिह्वाभिर्वालाभिरिति सायण । कात्यादिभिर्वास्वि वक्षि क्वचिन् । वाली कराली च मनोजवा च सुलाहिना या च सुधूमवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्ववीति मत जिह्वा कप्रेरुपनिषन्सु प्रसिद्धा । लरे दृष्टमी च चित्पञ्चमे । साक्षाभ्यां न चित्तरेव इन्द्रिवर्तिन्दा वृत्तयो भवन्ति ।

क माग में ज्ञानात और ( यच्चि च ) सगत करत तथा उनका उनकी  
अमीष्ट वस्तु प्रगन करत हा ।

( ३ ) हे ( अम ) विद्वन् । और परमात्मन् । इ ( सुकता ) शुभज्ञान  
और जगत् रचन अदि नाना कर्मों स सम्पन्न । इ ( देव ) प्रकाशक । इ  
( वध ) समस्त ससार क विधाता । आप ( यज्ञपु ) समस्त प्रकार क यज्ञों  
और आमात्रों में ( अश्वन ) समस्त बड़ मार्गों और ( पथ ) लघु मार्गों  
को भी ( अटनसा ) उत्तम शक्ति स ( वध ) जानन हार हा हमें भा उनका  
ज्ञान कराधा ।

१ २ ३१२ २२ ३३ २ ३१ २  
[१४७७] होतः द्वा अमर्त्य पुरस्तादात्त मायया ।

३१ २ ३१ २  
विदधानि प्रचोदयन् २ ॥

३१२ २ ३२३ १ २  
[१४७८] राजी वाजपु धीयतऽध्वरेषु प्रणयते ।

१ २ ३२ ३ ३२  
प्रिया यज्ञस्य साधन ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
[१४७९] प्रिया चक्र परेत्यो भूताना गर्भमादध ।

१ २ ३ २ ३ १ २

दक्षस्य पितर तना ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० १ । २७ । ७-९ ॥

भा०—( १ ) ( अमाय ) मरणादित अमर ( देव ) सबका प्रका  
शक परमात्मा ( विदधानि<sup>१</sup> ) ज्ञान करन धाम्य उत्तम कर्मों और आम  
तावों का ( प्रचोदयन् ) हृदय में प्ररित करता हुआ ( मायया<sup>२</sup> ) विशाष  
ज्ञानशक्ति या बुद्धि स ( पुरस्तात् ) साक्षात् ( एति ) प्रयत्न होता है ।

( २ ) ( राजी ) बलवान् और ज्ञानवान् पुरुष ( वाजपु ) बल क  
कार्यों में ( धीयत ) नियुक्त किया जाता है और उसी प्रकार का ज्ञानवन्

१ विदधानि वेदिन यानि इति सायण ।

२ आपदा, कमविश्वामिज्ञान इति सायण ।



बलशाली पुरुष ( अश्वरेषु ) परस्पर की हिंसादि से रहित व्यवस्थापन आदि कार्यों में ( प्रकीर्षते ) विशेष रूप से नियुक्त किया जाता है, क्योंकि ( यज्ञस्य ) दान, यज्ञ, तप, स्वाध्याय एवं संगतिकरण आदि सत्कार्यों को ( साधनः ) साधन करने द्वारा ( विप्रः ) ज्ञानवान् विपश्चित् पुरुष होता है ।

( ३ ) पूर्वं मन्त्र में विप्र, धात्री आदि शब्द से कहा गया विद्वान् ही ( धिया ) अपने धारण ज्ञानशक्ति और कर्म सामर्थ्य के कारण ( वरेष्व. ) सबसे वरण करने योग्य, सबसे श्रेष्ठ होकर ( चक्रे ) काम करे । यही ( भूतानां ) सब पदार्थों और प्राणियों को ( गर्भं ) अपने वश में ( आदधे ) धारण करता है । और उसको ( दृष्ट्वा ) सर्वशक्तिमान् परमात्मा की ( तना ) उत्पादित प्रजा, उस ( पितरं ) अपने पालक को पिता के समान ( आदधे ) धारण करती जानती और मानती है ।

इति षष्ठमः खण्डः ।



२ ३ १ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१४८०] आ सुते सिञ्चन धियं रोदस्योरभिधियम् ।

३ १ २ ३ २  
रसा दर्धात् वृषमम् ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
[१४८१] ने जानत स्वमोक्षयाऽऽसं घत्सासो न मातृभिः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
मिथो नसन्त जामिभिः ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
[१४८२] उप अक्षेषु यप्सगः कृश्वते घृणं दिवि ।

१ २ ३ २ ३ २

इन्द्रे अग्ना नमः स्व ॥३॥१८॥ अ० ८ । ७२ । ११-१५ ॥

मा०—( १ ) ( सुते ) उत्पन्न, या उत्पादित अर्थात् माता पिता और आचार्य से शिक्षित पुत्र में अभिषेक योग्य राजा के समान ( रोदस्योः )

मा बाप के ( अग्नि ) आश्रित ( श्रिय ) सम्पत् साधनों को ( आसिन्धत ) प्राप्त कराओ और ( रसा ) रसमय सारिष्ठ पदार्थों में जिस प्रकार अग्नि को नीचे रखकर उनको परिपक्व किया जाता है उसी प्रकार सारयुक्त स्थलों में उस ( वृषभ ) सुखों के धर्मक बलवान् पुरुष को आश्रयरूप से ही ( आदर्शित ) नियुक्त करो । अध्यात्म पत्र में—( रोदस्योरभिश्रिय सुते आसिन्धत ) प्राण्य और अपान में आश्रित बल को साधित चित्त में धारण करो और ( वृषभ रसा आदर्शित ) अग्निस्वरूप आत्मा को भानन्द रस में प्राप्त कराओ ।

सायण ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है ( सुतं श्रियं आसिन्धत ) गौ के दुग्ध में बह बकरी का गरम दूध डालो जो ( रोदस्योरभिश्रियम् ) खूब उपान खारहा हो और फिर मिले दूध में आच दो । आत्रय !

( २ ) ( कसास० ) जिस प्रकार बड़ड़े ( आग्निभिः ) अपनी २ पैदा करने वाली ( मातृभिः ) माताओं से ( मिथ ) परस्पर ( नसन्त ) मिल जाते हैं उसी प्रकार वे पुत्रादि भी अपने बन्धुओं से खेदवश मिले रहते हैं और ( स्वै ) अपने ( ओदयं ) एक ही प्रदेश में रहने वाले बन्धुवर्ग को ( सं जानते ) भर्त्सा प्रकार जान लते हैं और उनके साथ ही मिल जाते हैं । अध्यात्म में—( ते ) वे प्राण्य प्रमात्वरूप इन्द्रियों से इसी प्रकार मिल कर रहते हैं जैसे बड़ड़े अपनी उत्पादक माताओं से । और उन इन्द्रियों को वे दशों प्राण्य अपान स्थान के निर्यवासी जान कर उनसे एक हा रहते हैं ।

( ३ ) ( लक्ष्मण ) सज्जन स्थानों में या इन्द्रिय प्रदेशों में या काली आदि ज्वालाओं में ( वपसत ) भक्ष्य करते हुए ग्रहण या प्रलय करते हुए उस अग्निरूप महान् आत्मा को विद्वान् पुरुष ( दिवि ) ज्ञान-प्रकाश में सूर्य के समान ( धरुण्य ) उसको धारक बल या आश्रय रूप से ( उप वृषवते ) स्वीकार करते हैं । उस ( अग्नि ) अग्निस्वरूप, पाप दहन करने



( २ ) षड् परमात्मा ( शवसा ) अपने महान् सामर्थ्य, बल से विश्वमशील, प्रतापी होकर ( शशुः ) विश्वों का शासन करनेहारा ( दासाय ) विनाश करनेहार पापी जन के लिये ( भियसं ) भंगने, हर ( दधाति ) उलट करता है और ( अयनत् ) स्थावर पदार्थ जो विशेष रूप से प्राण नहीं लेते और ( अयनत् च ) चेतन प्राणी जो जाना प्रकार से प्राण लेते हैं उन को ( ससि ) पवित्र करता है निहलाता है अर्थात् उनमें भी स्वतन्त्र नाना गुणों द्वारा व्यापक होता और उनको पवित्र करता है । हे इन्द्र ! ( ते ) वे सब ( प्रभृता ) उत्तम रूप से तेरे द्वारा धारण, पोषण पोषण किये गये स्थावर और जगम सब पदार्थ ( मदपु ) हर्ष में मग्न होकर ( ते ) तेरे आगे ( नयन्त ) मुकते और तेरी महिमा गाते हैं ।

( ३ ) ( खे ) तुम्हें ( अयि ) ही ( विधे एते उमाः ) समस्त वे भूत, प्राणीगण ( यद् ) जब ( द्वि ) एक से दो और ( त्रि ) दो से तीन होजाते हैं तब भी वे ( शत्रु ) अपने उत्तम प्रज्ञान को ( वृष्मन्ति ) तुम्हें पर ही स्पष्ट कर देते हैं अर्थात् समस्त पृथिव्यादि भूत और सब प्राणियों के चित्त और सब यज्ञ ऋतु तुम्हें पर ही समाप्त होजाते हैं । हे इन्द्र ! ( स्वाशोः ) आनन्द देने वाले त्रिष धनादि सं भी ( स्वाशियः ) बहुत अधिक आनन्ददायक, त्रिष पदार्थ, पुत्र आदि को ( स्वाशुना ) आनन्ददायी पति के प्रति पत्नी और पत्नी के प्रति पति के द्वारा ( सूज ) उलट कर । और ( अद् ) सब ( मधु ) अति आनन्ददायी सन्तान को भी ( सुमुशुना ) उत्तम त्रिष पदार्थ पुत्रवधू एत पौत्र आदि स ( आभिषोधी ) आनन्द प्रसन्न कर । जैसा ब्रह्मण्य ग्रन्थों में आया है " त्वयि इमानि सर्वाणि भूतानि मनासि प्रत कोऽग्निं वृन्ति । " तुम्हें ही समस्त भूत सब मन और सब यज्ञ आदि समाप्त होजाते हैं । पुरुष ही स्त्रीरूप में भी रहता है क्योंकि विवाह के पश्चात् स्त्री भी उसका आधा अङ्ग होजाती है । धृति भी है " अथो वा एष यत् पत्नीनि " ( शत० ) और पुत्र भी उन पुरुष का ही तीसरा रूप

है जैसे वेद में—“आत्मा वै पुत्रनामासि” ( शत० ) दो से तीन होजाने हैं जैसे—“द्वौ द्वौ सन्तौ मिथुनौ प्रजायेते प्रजापत्या” । “पुत्रो ह स्वादु” पत्नी के प्रति पति और पति के प्रति पत्नी ही स्वादु है जैसे—“मिथुन वै स्वादु, प्रजा स्वादु” इत्यादि ( शत० ) । अर्थात्तम पक्ष में—स्वादु=देहादि संघात से प्राप्तव्य सुखोपभाग । उससे भी अति आनन्ददायक स्वादीयः= अज्ञानन्दरस को स्वादुना=पिय रूप आत्मा से ( स सृज ) सगत कर । ( अद सुमधु ) अति मधुर इस असृत आत्मा को ( मधुना ) उस परम असृत, आत्मा या परमेश्वरदर्शन या माद्य से मिला, आनन्दित कर ।

[१४८६] त्रिदृकेषु मण्डिषा यवाशिरं तुविशुष्मस्तृग्पत्साममापिव-  
 द्विष्णुना सुन यथावशम् । स ई ममाद् मण्डिकर्म वत्तवे  
 महामुष् सैन सश्वद्देवा देव सत्य इन्दु सत्यमिन्द्रम् ॥१॥

[१४८७] साक जात क्रतुना साकमाजसा यवाक्षिथ साक वृद्धा  
 वाय सासहिमृधा विचर्यणि । दाता राधः स्तुयने काम्य  
 घसु प्रचतन सैन सश्वद्देवा देव सत्य इन्दुः सत्य-  
 मिन्द्रम् ॥ २ ॥

[१४८८] अघ त्विपीमो अभ्याजना कृषि युधामयदा रोदसी अ-  
 पृणुदस्य मज्जना प्रवावृधे । अघत्तान्य जठरे प्रेमरि  
 व्यत प्रचतय सैन सश्वद्देवा देव सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम्  
 ॥ ३ ॥ २० ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० सं० [४१७] पृ० २२८।

१४८७—‘यवावशम्’ इति श्र० ।

१४८८—कृषि इति । तिमूय ऋषु “सत्यमिन्द्र सत्यमिन्द्रः” इति विपर्यस्त. श्र० ।

इस देह-मन में ( हरय ) गतिशील ( अरपी ) रक्त वर्ण की धाराएँ इस भूखोक में जल धाराओं के समान ( समुजिरे ) नदियों के समान गति कर रही हैं और उस पर ( अधि ) अधिकार कर रही हैं ( यत्र ) जिस देह में रह कर हम इन्द्रियगण तथा विद्वान्जन ( अभिसनवामहे ) उस आत्मरूप इन्द्र की साक्षात् महिमा का अनुभव करत और गान करत हैं अर्थात् जिस देह में हम उमर इन्द्र की साक्षात् अधान रहत हैं ।

ईश्वर पद्य में—बहिं = यह सत्ता, अरपी = कान्तिमान्, हरय = सूर्यसरश गतिमान् पिण्ड ।

( ३ ) ( गाव ) ये सब गतिमान् रजधाराय तथा इन्द्रियगण ( इन्द्राय ) इस इन्द्ररूप आत्मा के लिये ( आशिरम् ) उसके जिवन के आधयरूप ( मधु ) हर्ष कर उस शुक या ज्ञान को ( दुदुह ) उत्पन्न करती हैं, ( यत् ) जिसको वह इन्द्र ( उपहर ) भीतरी हृदय काश में ( सीम् ) सब ओर स ( विदत् ) प्राप्त करता है ।

ईश्वर पद्य में—ये गतिमान् तेजस्वी पिण्ड ( आशिर ) समस्त प्रज्ञायुक्त के आधयरूप ( मधु ) शक्ति को उत्पन्न करत हैं जिसको वह इस प्रज्ञायुक्त में धारण किये हैं ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४१२] आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्र समत्सु भूपते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

उप प्रज्ञायुक्ति सवनानि वृषहन् परमज्या ऋचापिम् ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१४१३] इय दाना प्रथमा राधसामस्यसि सत्य ईशानट्टत् ।

३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

तुचिलुम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शयसो मह ॥२॥२

अ० १४। १०। १-२

भा०—( १ ) हे विद्वान् पुरुषो ! ( न ) हमार ( हव्य ) स्मरण करने स्तुति करने, और पुकारन, आधय करने योग्य ( इन्द्रम् ) उस परमेश्वर

को ( विधासु समसु ) समस्त आनन्द और दशसौं में तथा परस्पर मेल  
मिलाप करन क भवनों पर ( आभूषत ) गाना बचन-छन्दों से सुसू-  
चित करो । हे ( वृषहन् ) विघ्नो के निवारक ! हे ( परम ) सबसे उत्कृष्ट  
विजयपशील, हे ( अर्चीपम ) आवाओं द्वारा मनन करन योग्य परमात्मन् !  
आप ( नः ) हमारे ( सवनगणे ) यज्ञों और ( मद्भाषि ) वेद स्वाध्यायों एवं  
व्रतादि के अन्तर्गत पर ( उप ) सदा समीप हृदय देश में विराजें । देखा  
अवि० स० [२६६] पृ० १३७ ।

( २ ) हे परमेश्वर ! ( स्व ) आप ( एभसां ) समस्त पदार्थों और  
ज्ञानों क ( प्रथम ) सबसे पहले ( दाता ) देने हारे ( अग्नि ) हो और  
( सायः ) सायस्वरूप सधे, ( ईशानकृत् ) सामर्थ्य और प्रभुत्व के देने हारे  
हो । ( शवसः ) शवस्वरूप ( पुत्रस्य ) पुरुषों की विघ्नो से रक्षा करने  
हारे ( महः ) महान् ( तुविष्णुनस्य ) बहुत धनधर्मसम्पन्न आपके ( युगया )  
संसंगति को समाधि द्वारा इम ( आशुषीमह ) प्राप्त करें ।

३ २ १ २ ३ १४ ३६ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २ १२

[१४६४] प्रत्न पीयूष पूज्ये यदुक्त्यमहो गाढादिभ्य आ निरधुञ्जता ।

१ २ ३ १४ २ ३ १ २

इन्द्रमभि जायमान समस्वरन् ॥१॥

२ ३ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ६ १२

[१४६५] आर्दी केनित्पश्यमानास आप्य चसुहचा दिव्या अस्य

३ १४ २४ ३ १ २

नूपत् । दिवा न वात् सयिता व्यूर्णुते ॥२॥

२ ३ २ ३ १ २ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ०

[१४६६] अत्र यद्विम पयमान रादसी इमा च विश्वा भुवनाभि

३ १ २ २ २४ ३ १ २ ३ १४ २४

मज्जना । यूष न नि ष्टा वृषभो विराजाभि ॥३॥३॥

पृ० ३ १११० । ८, ६, ६, ॥

भा०—( १ ) विद्वान् लोग ( यत् ) जब ( प्रभं ) सनातन अति उत्तम ( पूर्वं ) पूर्व पुरुषाओं से सेवित, अति पुरातन ( उक्था ) अति प्रशंसनीय ( पीयूषं ) अमृतस्वरूप प्रधानन्द रस को ( महतः ) बड़े ( गाहात् ) अति गम्भीर ( दिवः ) घौंछोंक, मूर्धा स्थल या सहस्रदलकमल से ( धा निरधुषत् ) साधात्कार द्वारा प्राप्त करते हैं तब वे ( जायमानं ) प्रकट होते हुए, साधात् ज्ञान का विषय होते हुए ( इन्द्रं ) आत्मा और परमात्मा की ( सन् अस्वरन् ) उत्तम रीति से स्तुति करते हैं ।

( २ ) जब ( दिवः ) प्रकाशस्वरूप आत्मा के ( धारे ) आवरण को ( सविता न ) सूर्य के समान समस्त जगत् का प्रेरक परमात्मा ( वि ऊ-रुते ) खोजता या इया देता है ( धात् ) तब ही ( कंचित् दिव्या ) प्रकाश में धर्तमान होकर भी कुछ एक ( वसुधः ) आत्मा के साथक या इन्द्रियादि उपकरणों के समकारों को प्रेम करने वाले साथक ( आप्यं ) अपने प्राप्त करने योग्य बन्धुरूप ( ईम् ) इस प्रभु को या समाधि से उत्पन्न आनन्द को ही ( परयमानासः ) देखते हुए उसकी ( धभि प्रनृपत् ) स्तुति करते हैं ।

( ३ ) ( यूथेन ) जिस प्रकार गीर्वा के गोख में ( तृभः ) सांख्य श्रद्धा रहता और शोभा देता है उसी प्रकार ( यद् ) जब आप है ( पव-मान ) सबके प्रेरक ! प्रभो ! ( इमे ) इन ( रोदसी ) धी और पृथिवी प्राण और अपान दोनों को और ( इमा ) इन ( विधा ) समस्त ( नुयना ) लोकों या इन्द्रियमय शेष प्राणों के ( मग्मना ) बलपूर्वक ( ति स्थ ) भीतर स्थित होते ही तब ( वि-राजति ) आप विशेष रूप से शोभा को प्राप्त होते ही ।

३ २ ३ १४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १४ २२

[१४६७] इममूषुत्थमस्माक सर्नि गावश्च नय्यासम् ।

१ ८ ३ २ ३ १ २

अग्ने देवेषु प्र योच्य ॥१५



३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१४६८] विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ ।

३ २ ३ १ २

सप्तो दाशुपे क्षरसि ॥२॥

१ ३ १ २ २ ३ १ २  
 [१४६९] आ नो भज परमेष्वा वाजेषु मध्यमेषु ।

२ ३ २ ३ १ २

शिक्षा वस्यो अन्तमस्य ॥३॥४॥ ऋ० १ । २७ । ४, ६, ११

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० स० [२८] पृ० १२ ।

( २ ) हे ( चित्रभाना ) उपास्य ! कान्तिसम्पन्न ! विचित्र रश्मियों से युक्त ! नाना प्रकार के सूर्यो के स्वामिन् ! प्रभो ! जिस प्रकार ( सिन्धोः ) विशाल नदी के ( उपाक ) समीप से ( ऊर्मा ) छोटी २ नहरें काट ली जाती हैं, उसी प्रकार आप अपने विशाल विभूतिववाह में से ( दाशुपे ) अपने आत्मसमर्पण करने हार भङ्ग के प्रति ( विभक्तासि ) विविध प्रकार से नाना विभूतियां बांट देते हैं और ( सवः ) शीघ्र ही ( क्षरसि ) अभिमत आनन्दरस बढ़ा देते हैं ।

( ३ ) हे आने ! ( परमेषु ) उत्कृष्ट ( वाजेषु ) ज्ञान और बलयुक्त पदार्थों में से ( नः आ भज ) हमें प्राप्त करा और ( मध्यमेषु ) मध्य कोटि के पदार्थों में से भी हमें प्राप्त करा और ( अन्तमस्य ) समीपतम ( वस्यः ) वाम योग्य पदार्थों को भी ( शिक्ष ) प्रदान कर ।

३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५००] अहमिद्धि पितु परि मे प्राभृत्स्य जग्रद् ।

३ १ २ १ २

अह सूर्य स्वाजनि ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५०१] अह प्रत्नेन जन्मना गिर. शुम्भामि कएवयत् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २

येनेन्द्रः शुम्भमिहधे ॥ २ ॥

[१५००] यत्त्वात् न तुष्टुवृत्तयो ये च तुष्टुषु ।

ममद्वर्धस्व सुष्टुत् ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० ८। ६। १०-१२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दत्ता अविकल सरया [ १५२ ] पृ० ८२ ।

(२) अग्नि का आत्मरूप स दशन है । मैं जाव(कश्यपवत्) मधावा विद्वान् पुरुष क समान (प्रनन अपन पूव क सनातन(जन्मना) जन्म अर्थात् अपन स्वाभाविक रूप स ही (गिर ) नाना वदस्तुति वायिथा का (शुग्भाभि) प्रकट करता हू । ( यन ) जिसस ( इन्द्र ) मरा आत्मा ( शुग्म ) आत्मिक बल का ( इत् ) ही ( दध ) धारण कता है ।

( ३ ) ह आ मन् । ( ये ) जा अज्ञानी जाग ( र्वा ) तुक्का ( न ) नहीं ( तुष्टुवृ ) स्तुति करत और ( य च ) ना ( अयय ) आ मसावा-कार करन वाले म-अदश, अविषय तथा गुरुशिष्य तथा ज्ञानी जिज्ञासु जन ( वा तुष्टुवृ ) तत्ता यथाथ वर्धन कत है उनस ( सु स्तुत ) उत्तम रूप स स्तुतियों द्वारा भलकृत हाकर ( मम इद् ) मरी ही स्तुतियों द्वारा मुझे ( वर्धस्व ) वृद्धि का प्राप्त करा ।

अथात् प्र यक जीव अपनी ही की हुई उपासना और प्रार्थना स बलवान् हाता है । दूसरे की की, प्रार्थनापासना उसक लिय निष्फल है ।

इति प्रथम एण्ड ।

— ० —

[१५०३] अग्ने त्रिभिरग्निभिर्जोषि ब्रह्म सहस्रत ।

ये द्वत्राय आयुषु तभिर्नो महया गिर ॥ १ ॥ अग्ने नास्ति ।

१५०३—अग्ने ( ३ । २४ । ४ ) समानाऽरस-अग्नेऽतीवशुग् जलम्बने ।

“ अग्ने विद्वन्निरग्निर्निर्वन्निहया गिर । इष्टु ये उ चावत ॥ ”

१२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २  
 [१५०४] प्र स विश्वमिरग्निभिरग्निं स यस्य धाजिनः ।

१ २ ३ २ ३ २ ४ ३ २ ४ ३ १ २

तनये ताके अस्मदा सम्यङ् वाजैः परीवृतः ॥२॥ अग्नेरनात्ति ।

१ २ ३ २ ३ २ ४ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५०५] त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्द्धय ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २२

त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥ ३ ॥ ६ ॥

अ० १० । १४१ । ६ ॥

भा०—( १ ) हे ( सहस्रकृत ) बलपूर्वक, बड़ी तपस्या, ब्रह्मचर्य और समाधि बल से साक्षात्कृत ( अग्ने ) ज्ञानवान् ! तेजस्विन् ! परमात्मन् ! तू ( विधेभिः ) अन्य समस्त ( अग्निभिः ) अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों और ज्ञानी योगियों द्वारा ( मद्भा ) वेद ज्ञान का ( जाषि ) सब का सेवन कराता है । इत्यत्रिये हे देव ! जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष ( देवता ) दिव्य गुणयुक्त, विद्वानों और जीवनयुक्त पदार्थों के भीतर और ( य आयुषु ) जो कर्मपरापण ज्ञानवान् मनुष्यों के भीतर हैं ( तेभिः ) उन द्वारा ( न ) हमें ( गिरः ) वेदवाणियों का ( मह्य ) उपदेश प्रदान कर ।

( २ ) ( यस्य ) जिस ( धाजिनः ) ज्ञान और बल से समस्त परमेश्वर की ( विधेभिः ) समस्त ( अग्निभिः ) अग्नि के समान तेजस्वी सूर्य आदि लोकों तथा विद्वानों से ( प्र ) प्रतिष्ठा होती है । ( सः अग्निः ) वह ही ज्ञानवान् होने से परम अग्नि है । और बड़ी ( सम्यङ् ) उत्तम रीति से सर्वप्र पूजनीय होकर ( वाजैः ) ज्ञान और कर्म सामर्थ्यों और पेशियों से ( परिवृतः ) शुकृ ब्रह्मा ( अस्मत् ) हमारे ( तनये ) पुत्र और ( ताके ) पौत्रों में भी ( आ ) पूजा को प्राप्त हा ।

( ३ ) हे ( अग्ने ) प्रकाशस्वरूप ! तू अन्य ( अग्निभिः ) विद्वान्, तेजस्वी सूर्यादि लोकों और पुरुषों द्वारा ( नः ) हमारे ( मद्भा ) वेदज्ञान और ( यज्ञं च ) यज्ञ आदि भेद कर्मों और जीवन की ( वर्द्धय ) वृद्धि कर और

( न० ) इमें ( देवतातपे ) विद्वानों के प्रति दान, मान, साकार आदि पुण्य कार्य करने और ( रायः दानाय ) धन, -वैश्वर्य आदि पदार्थ दान करने के लिये ( चादय ) प्रेरणा कर ।

[१५०६] त्वं सोम प्रथमा वृक्तवर्हिषो मेहे वाजाय ध्रुवसे धियं दधु ।

स त्व ना वीर वायाय चादय ॥ १ ॥

[१५०७] अथ्यभि द्वि ध्रुवसा ततर्दिथोत्स न कञ्चिज्जनपानमक्षि-

तम् । शर्याभिर्न भरमायो गभस्त्यो ॥ २ ॥

[१५०८] अजीजनो अमृत मर्त्याय कर्मृतस्य धर्ममृतस्य चारुण ।

सदा सरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

अ० ६ । ११० । ७, १, ४ ॥

भा०—( १ ) हे सोम ! त्व के प्रेरक परमात्मन् ( प्रथमा ) उत्कृष्ट, प्रथम श्रेणी क ( वृक्तवर्हिष ) देहबन्धन को काटने द्वारे, मुक्त पुरुष वे हैं जा ( मह ) वड़े ( वाजाय ) ज्ञानस्वरूप ( ध्रुवसे ) यशस्वरूप महा-महिम तुझ प्राप्त करने के लिये ( धियं ) अपनी धारणावती बुद्धि, चित्तवृत्ति को ( दधु ) स्थापित या स्थिर कर रहे हैं । हे ( वीर ) सर्वशक्तिमन् ! ( स त्व ) वह तू ( न ) इमें भी ( वायाय ) बल, सामर्थ्य, शक्ति प्राप्त करने के लिये ( चादय ) प्रेरित कर, मार्ग दर्शा ।

( २ ) जिस प्रकार माना काइ बुद्धिमान् पुरुष ( कञ्चित् ) किसी ( अक्षितम् ) अक्षय ( जनपानम् ) मनुष्यों के जलपान-गृह का ( भरमाय न ) पूर्ण करने की चष्टा करता हुआ ( गभस्त्या ) घातुओं का ( शर्याभि ) अगुलियों म ( उत्स न ) जल के विरुद्ध निकलत ज्वलत का बाट जता है उसी प्रकार हे ( सोम ) विद्वान् ! दाय अपन ( ध्रुवसा ) ज्ञान बल से

अव्यय ( जापान ) समस्तजनों का जलभण्डार के समान अमन-दरस-सागर का ( भरमाण ) पूर्ण करत हुए, मघ को वायु क समान ( उत्स ) मूल विकास रूप ब्रह्म तत्व का ( धवसा ) गुरुपदेश, ज्ञान, योग्याभ्यास से ( ततर्दिथ ) उद्गद कर दते हा, तब उसे अध्यात्म रस प्राप्त हान लागता है ।

( ३ ) हे ( साम ) विद्वन् ! ( मर्याप, मरणधर्मः इस जीव के लिये आप ( अमृत, आशुस्वरूप, अविनाशा ( कम् ) सुख का ( अजाजन. ) उपपन्न करत हो और ( अमृतस्य ) अविनाशी ( चारुण्य ) प्राप्त करन वाग्य, उचम ( अतस्य ) सत्यज्ञानरूप वेद क उपदेश किये हुए ( धर्मम् ) धर्ममार्ग में ( वाज ) ज्ञान और बल का ( सनिष्यदत् ) प्रदान करत हुए ( सदा ) निःप ( अच्छु ) भली प्रकार ( सा ) प्रकट हाते हा ।

[१५०६] ए दुमिन्द्राय भिञ्चत त्रिधाति सौम्य मधु ।

प्र रात्राक्षि चोदयेने महितया ॥१॥

[१५१०] उगो हरीञ्ज पति राध पृञ्चन्तमत्रवम् ।

नून श्रुधि स्तुयतो अश्वस्य ॥ २ ॥

[१५११] न ह्याऽऽऽग पुरा च न जज्ञ परितरस्त्यत् ।

न को राया नैयथा न भन्दता ॥ ३ ॥ ८ ॥

शु० ८ । २४ । १३-१५ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या वरुण अग्नि० स० [३८६] पृ० ।

( २ ) ( राध ) आराधना वा य ज्ञान या अभिजायिण ऐश्वर्य को ( पृञ्चन्त ) प्रदान करत हुए, उदश्य तऊ प्राप्त करत हुए ( हरिञ्ज पतिम् ) हरिञ्जोञ्ज इन्द्रिय आदि सूर्यो आर विद्वानों क पालक परम आत्मा क

- ३ १ २      ३ २ ३ १ २      ३ १ २  
 [१५१३] देवा वां द्रविणोदाः पूर्णो प्राण्वा सिचम् ।  
 १ २ ३ २ ३ १ २      ३ १ २ २ ३ १ २  
 उद्या सिञ्चन्मुप वा पृणध्वमादिद्धो देव भोहते ॥१॥  
 २ २ २      ३ २ ३ १ २      ३ १ २ ३ १ २  
 [१५१४] त होतारमध्वरस्य प्रचेतसे वह्नि देवा अकृण्वत ।  
 १ २ ३ १ २      ३ २ ३ १ २ ३      १ २ २ ३ १ २  
 दधानि रान विधते सुरीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे ॥२॥१०॥  
 सू० ७ । १६ । ११-१२ ।

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अदिकल स० [१५] पृ० २६ ।

( २ ) जा ( अग्निः ) ज्ञानवान्, आचार्य, परमेश्वर ( दाशुष ) दानशील, आरामसमर्पक ( विधते ) पाँचिर्षा करते हुए, शिष्य के समान उपासक का ( मुवीर्यम् ) उत्तम सामर्थ्ययुक्त ( रान ) रमणयोग्य, ज्ञान और ऐश्वर्य का ( दधानि ) धारण कराता है ( त ) उस ( प्रचेतसे ) उत्तम ज्ञानवान् परम पुरुष को ( देवा ) विद्वान् पुरुष ( अध्वरस्य ) हिंसाराहित ज्ञानयज्ञ का ( होतारं ) सम्पादक और ( वह्निम् ) कायनिर्वाहक ( अकृण्वत ) नियत करते जानते, और मानते हैं ।

- १ २      ३ १ २ ३ १ २      ३ १ २ ३ २  
 [१५१५] अदृशि गानुत्तिमो यस्मिन् धनान्यादधुः ।  
 २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २      ३ १ २  
 उपो पु जातमार्यस्य धर्धनमग्निघ्नन्तु नो गिर ॥१॥  
 २ ३ १ २      ३ १ २ ३ १ २      ३ १ २  
 [१५१६] यस्माद्भ्रजन्त कृप्यश्चकृत्यानि कृण्वत ।  
 ३      २ ३ १ २      ३ २ ३ १ ३ १ २  
 सहस्रसा मधसानार्यर तमनाग्नि धौभिर्नमस्यत ॥२॥ ।  
 १ २ २ २      ३ २  
 [१५१७] प्र दैवादासा अग्नि० ॥३॥११॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखिये अदिकल स० [४०] पृ० ।

( २ ) ( चकृ यानि ) समस्त जगत् क कर्तव्य कम ( कृपवत ) करान  
 द्वार ( यस्मात् ) जिसस ( कृष्य ) मनुष्य ( रजन्त ) कापत हैं भय  
 अनुभव करत हैं ( सहस्रसा ) सहस्रों का दान दन हारे उस ( अग्निम् )  
 परमेश्वर का ( मधसातौ ) ज्ञानबल और मधा का प्राप्त करन क द्विष  
 ( धामि ) अपना ध्यानधारणावाली बुद्धियों और कर्मों स ( रमना )  
 अपना आत्मा द्वारा ( नमस्यत ) उपासना करा ।

( ३ ) व्याख्या दत्ता अविच्छेद स० [११] पृ० २३ ।

[१५१८] अग्नि आयूषि पत्रस० ॥१॥

[१५१६] अग्निर्ऋषि पवमान पाञ्चजन्य पुरोहिता ।

समीमहे महागयम् ॥२॥

[१५२०] अग्नि पत्रस्व स्वया अस्मै वर्च सुवीर्यम् ।

दधद्रयि मयि पोषम् ॥३॥१२॥

भा०—( १ ) व्याख्या दत्ता अवि० सं० [६८०] पृ० ३१६ ।

( २ ) ( अग्नि ) ज्ञानदान, प्रकाशस्वरूप परमात्मा ( अग्निः ) स्वतः  
 सब मन्त्रों का दष्टा, प्रकाशक, सर्वव्यापक और समस्त ससार का दष्टा है,  
 धरी ( पवमानः ) सबका पवित्रकारक ज्यातिष्मान् और सबका प्रक  
 हान स ( पाञ्चजन्य ) पाचा जन—महाशय अग्निव वैश्य शूद्र और  
 निषाद या द्रव मनुष्य, मध्वर्च अस्तरा सर्प और पितर या २ इन्द्रियों  
 का समानरूप स हितकारी ( पुरोहितः ) समस्त कार्यो क पूर्व, हृदय में  
 और समस्त विश्व स्थिति क पूर्व जगत् में साक्षा रूप स स्थित है, ( त )  
 उस ( महागय ) महान् प्राणों क प्राण अथवा शब्द २ द्वादि स भी स्तुति  
 किय गय महान् ज्ञानवान् परम उपदष्टा, विशाल कर्तित बाल परमात्मा स  
 हम ( ईमहे ) पाचना करें ।

( १ ) हे अग्ने ! ( स्वपाः ) शोभन प्रज्ञा और कर्म से सम्पन्न  
परमात्मन् ! आप ( अग्ने ) हमें ( वर्चः ) तेज ( पवस्व ) प्रसन्न कराओ  
और ( माषि ) मुझ में ( रविम् ) प्राण, बल और ( पोषं ) पुष्टि ( दधत् )  
धारण कराओ ।

१ २                      ३ १ २ ३ १ २                      ३ १ २  
[१५२१] अग्ने पात्रक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया ।

२ ३ १ २ ३ १ २  
आ देवान्वाप्ति यक्षि च ॥१॥

१ २                      ३ १ २                      ३ १ २  
[१५२२] नं त्वा घृतमन्त्रीमंह चित्रभानो स्वर्दशन् ।

३ २ ४                      ३ १ २  
देवां आ वीतये वह ॥२॥

३ १ २                      ३ २ ३ १ २  
[१५२३] धीतिहोत्रं त्वा ऋषे द्युमन्तं समित्रीमग्नि ।

१ २ ३ १ २                      ३ २

अग्ने घृतमन्त्रे ॥३॥१३॥ अ० ५ । २६ । १-३॥

भा०—( १ ) हे अग्ने ! ( पात्रक ) सबको पवित्र करने द्वारे ! हे  
( देव ) सब के प्रकाशक ! और स्वयंप्रकाश, देव ! परमेश्वर ! ( रोचिषा )  
अपनी दीप्तिस्वरूप ( मन्द्रया ) आनन्ददायक ( जिह्वया ) दान प्रतिदान  
करने की शक्ति से ( देवान् ) दिव्य पदार्थ, जल आदि पंचभूतों को और  
ज्ञानमय दीप्ति से विद्वानों को और आकर्षण से समस्त ब्रह्माण्ड के मूर्त्तियों  
और ( माषि ) आबहन करते, उनका धारण करते ( यक्षि च )  
संगत करते, और स्थिति रक्षित होते हैं ।

( २ ) हे ( चित्रभानो ) नाना विध आन्तियुक्त परमात्मन् ! हे ( घृतमन्त्रो )  
समस्त प्रकाशमान पदार्थों के प्रेरक ! ( तं ) उम महान् आत्मा ( स्वर्दशं ) सबके  
दृष्ट, या स्वः अर्थात् प्रकाशमय और सुरकारक चक्षु से सम्पन्न, या  
मोक्षमार्गों को दर्शाने द्वारे आपको ( इमंह ) प्रार्थना करते हैं कि ( देवान् )  
हमारे दिव्य गुणयुक्त इन्द्रियों को और उसी प्रकार ज्ञान कालान्तर विद्वान्



पुरुषों और उपकारक दिव्य पदार्थों को ( वीतये ) उत्तम ज्ञान, तेज, और सुख प्राप्ति के लिये ( आ वह ) प्राप्त कराओ ।

( ३ ) हे ( कवे ) समस्त संसार के पदार्थों के ममे तक को देखने हारे अन्तर्यामिन् ! हे ( अग्ने ) प्रकाशस्वरूप ! ( वीतिहोत्र ) यज्ञों में व्यापक ( एमन्त ) प्रकाशमान ( वृहन्त एवा ) सब से महान् आपको ही हम ( अश्वरे ) ईसा रहित ज्ञान और कर्ममय यज्ञ में ( समिधीमहि ) प्रदीप्त करते हैं ।

इति तृतीय खण्डः ।

— 0 —

१ २                      ३ १ २      ३ २      ३ १ २  
[ १५२४ ] अया नो अग्ने ऊतिभिर्गायत्रस्य प्रभर्मणि ।

१    २                      ३ १ २  
विश्वासु धीषु वन्द्य ॥१॥

१ २                      ३ १ २                      ३ २ ३ १ २  
[ १५२५ ] अया नो अग्ने रयि भर सत्रासाहं घरेण्यम् ।

१    २                      ३ १ २ ३ १ २                      ३    ३ १  
विश्वासु पृत्सु दुष्टरम् ॥२॥

३    १ २                      ३ १ २  
[ १५२६ ] अया नो अग्ने सुचेतुना रयि विश्वायुषोपसम् ।

माङ्गो रुं धेहि जीवसे ॥३॥ १४॥ अ० १ । ७६ । ७-३॥

भा०—( १ ) हे ( अग्ने ) परमामन् ! हे ( वन्द्य ) वन्दना करने योग्य परमामन् ! आप ( गायत्रस्य ) प्रायों के श्राय्य करने के साधन शरीर में, ( प्रभर्मणि ) उत्तम रीति से भरण पोषण करने के कार्य में ( ऊतिभिः ) अपने रक्षा साधनों से ( नः ) हमारी ( विश्वासु ) समस्त ( धीषु ) कायों से ( अत्र ) रक्षा करे ।

१५२४—पृथ्वात्तस्य द्यावाः । परन्तो० इति [ पा० ६ । १ । ६३ ]

सुचे मास पृत्स्नुनामुपसत्त्वानमिति शक्तिवम् । एतेति मनुष्यनाम

[ नि० २ । ३ ] सप्रामनाम च [ नि० १ । १७ ]

( २ ) हे ( अग्ने ) ज्ञानवन् ! आप ( न ) इमारे लिये ( पोषण ) सब से धेष्ट ( सप्रासाह ) सब विपत्तियां को दूर करने हारे ( रयिं ) बल और अन्न ( आभर ) प्राप्त करावें जो ( विश्वासु ) सब ( पृथु ) मनुष्यों में या सप्राप्तों में ( दुस्तर ) दुस्तर अर्थात् जिसका कोई मुकाबला न कर सक और न समाप्त कर सक ऐसे हा ।

( ३ ) हे ( अग्ने ) ज्ञानवन् ! आप ( न ) हमें ( जीवसे ) जीवन के निमित्त ( विश्वायुपोषस ) समस्त मनुष्या क पालन पोषण में समर्थ ( मार्दीक ) सुख आरोग्य करने हारे ( सुचतुना ) उत्तम ज्ञान सहित ( रयिं ) अन्न और प्राणबल ( धेहि ) दें ।

[१५२७] अग्निं हिन्वन्तु ना रियं सतिमाशुभिर्वाजिषु ।

तन जेषा धन धनम् ॥ १ ॥

[१५२८] यया गा आकरामहे सनयान् तयात्या ।

ता ना हिन्व मघत्तये ॥ २ ॥

[१५२९] आग्ने स्थूर रयि भर पृथु गोमन्तमाक्षिणम् ।

अर्हुधि स्र वस्तया पविम् ॥ ३ ॥

[१५३०] अग्न नक्षत्रमजरमा सूर्य रोहयो दिवि ।

दधज्ज्योतिर्जेनभ्य ॥ ४ ॥

[१५३१] अग्ने कतुत्रशामसि प्रष्टुः धेष्ट उपस्थसत् ।

यात्रा स्तात्र वयो दधत् ॥५॥१५॥ अ० १०।१५६। १-५

भा०—( १ ) ( नः ) हमारी ( धियः ) बुद्धियों, कर्मों और स्तुतियों ( प्रणि ) ज्ञानवान् पुरुष, या ब्रह्मा या परमात्मा को ( वाजिषु ) संस्रामों में ( आशुं ससिमृ इव ) शीघ्रगामी, भय के समान ( द्विन्वन्तु ) प्रेरणा करें ( तेन ) उससे हम ( धनं धनं ) बहुत सा धन ( जेष्य ) विजय करें, प्राप्त करें ।

( २ ) हे ( अग्ने ) प्रभो ! ( यथा ) जिस ( तव ) तेरी ( ऊषा ) रक्षा ज्ञान और ( सेवया ) सेवा से ( गा. ) धारियों, रश्मियों और गौत्रों को ( आकरामहे ) साक्षात् प्राप्त करें ( तं ) उस अपनी शक्ति को ( नः ) हमें ( मघस्ये ) धन पेश्यं प्राप्ति के लिये ( द्विन्व ) प्रेरित कर ।

( ३ ) हे ( अग्ने ) ज्ञानवान् <sup>१</sup> तू हमारे पास ( पृथु ) खूब विलुप्त ( गौमन्त्रं ) गौत्रों और ( अग्निन ) अग्नि से युक्त तथा ज्ञान और कर्मोद्भिष से सम्पन्न ( स्यूरं ) स्थिर ( रयिं ) प्राण और धन को ( आभर ) प्राप्त करा । ( खं ) मुझ को ( अग्निध ) हमारे लिये प्रकथित कर और ( परिमृ ) पापनाशक पावक रूप यज्ञ, ज्ञानयज्ञ या ज्ञानप्रवर्तक कर्मा को ( वसंष ) उपदेश कर, उसका प्रयोग कर ।

<sup>१</sup> सं<sup>१</sup>—यदेव सं तदेव कं यदेव कं तदेव सन्, एण्डोम्य उप० पवि-  
रिति वाग्वज्रयज्ञादिनामसु पठितः

( ४ ) हे ( अग्ने ) परमात्मन् ! आप ( नक्षत्रम् ) सदा गतिशील, या कभी अपने मार्ग से द्युत न होने वाले, नक्षत्रस्वरूप ( सूर्यं ) सूर्य को ( दिवि ) द्यौलोक में ( आ रोहय ) स्थापित करते हैं कि वह ( जनंभ्यः ) सब जातृ होने हारे छांकों और प्रादियों को ( उपोतिः ) प्रकाश ( दपत् ) प्रदान करे ।

( ५ ) ( अग्ने ) परमात्मन् ( विशं ) समस्त प्रादियों को आप ( केतु ) ज्ञान देने हारे, ( प्रेहः ) सब से अधिक दिव्य, और सब से ( धिहः ) उच्चम होकर ( उपस्यसत् ) सब के समोपवम हृदयदेश में विराजमान हो ।

आप ही ( स्तोत्रे ) स्तुति करन हारे विद्वान् पुरुष को ( बोध ) ज्ञान देते हैं और आप हा ( वय ) भव्य और जीवन दोनों का ( दधत् ) धारण कराते हैं ।

[१५३२] <sup>३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> अग्निर्मूर्धा दिन ककुत्पात पृथिव्या अयम् ।

<sup>३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> अपा रेनामि जिन्यानि ॥ १ ॥

[१५३३] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३</sup> ईशिये चार्धस्य द्वि दात्रस्याग्ने स्तु पति ।

<sup>३ ३ ३ ३ ३ ३ १ २</sup> स्तोता स्या तव शर्मणि ॥ २ ॥

[१५३४] <sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३</sup> उदग्ने शुच्यस्तव शुका भ्राजन्त ईरते ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup> तव ज्यातोप्यर्चय ॥३॥१६॥ अ० ८ । १२१ । १४, १८, १७ ॥

भा०—( १ ) ( अग्नि ) सब का प्राग ज्ञान याज्ञा, सब का ज्ञानदाता ज्ञानस्वरूप, प्रकारास्वरूप, परमात्मा ( मूर्धा ) सब का मूर्धस्थान, सब देवा में शिरामाधि, ( इव ) घौंझाक या सूर्य आदि दि०य पदार्थों स भी ( ककुत् ) धष्ट, उनस भा ऊँचा, ( पृथिव्या ) पृथिवी का भी ( पति ) पात्रक है । वही ( अपा ) सब जोंकों क ( रताति ) बीच रूप कारण सत्ताओं का ( जिन्वति ) शरीर आदि में प्रारित कर उनका यथासमय जीवन प्रदान करता है ।

( २ ) इ ( अग्ने ) परमात्मन्<sup>१</sup> आप ( स्व पति ) समस्त मोक्ष क पात्रक हैं । आप ही ( दात्रस्य ) दान दन वाग्य और ( चार्धस्य ) परण करन योग्य विभूति क भी ( ईशिये ) प्रभु हैं, अत ( तव ) तेरी ( शर्मणि ) शरण्य में रहकर मैं ( तव ) तर ( स्तोता ) साथ गुणों का वर्धन करन हारा ( स्याम् ) रहू ।

( ३ ) हे अग्नि<sup>१</sup> ( त ) तेरी ( शुका ) कान्तिमान् ( शुच्य ) दक्षिण ( भ्राजन्त ) सब को प्रकाशित करता हुई स्वय ( उत्ईरते ) उठ

रही हैं और ( अर्धयाः ) ये सब कान्तिया भी ( तव ) तेरी ही ( ज्योतीषि )  
जगाई ज्योतियां हैं ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

इति सप्तमप्रपाठकस्य प्रथमोर्ध्व समाप्त ॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥



अथ पंचदशोऽध्यायः ।



अथ सप्तम प्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्ध्व ।

इति — १, २१ गान्धो राहुगणः । २, ३ विधामित्र । ३ विरूप आगिरम ।  
४, ६ भर्गो प्राणाशः । ५ त्रिगः । ६ उदना वाच्य । ८ मृतीतिपुस्नीट्ही तवा-  
वाच्य । १० सोभरि काण्व । १२ गोपवन भावेव । १३ सरदाजो वाहम्यवा  
कीतह्मवा वा । १४ प्रयोगो भागव अग्निवा पावलो वाहम्यस्य , भयवाग्नी गृहपात्र  
वविष्ठी मनुष्यो तवावाच्य । ॥ अग्निवा । एत — १ वाकुन् । २२  
उज्जिह्व । २२ अनुष्टुप् प्रथमस्व गणवो वरणा । १३ जती ॥ स्वर - १-३,  
६ ६, १५ पदत्र । ४, ७, ८, १० मन्वा । ५ पैतृ । २१ कवम ।  
१३ गान्ध प्रथमस्व, पदत्रधरमदो । २३ निषा अ ।

[१५३३] कस्त जाभिजनागामने का दाम्भ्यर ।

वां ह्य कस्मिन्नसि धित ॥१॥

[१५३६] य जाभजनागामने मित्रा अलि प्रिय ।

सदा सप्रिय इदं ॥२॥

[१५३७] यजा ना मित्रा यदणी यजा देवा स्त दृहन् ।

भग्ने यद्वि स्थ दमम् ॥३॥ अ० १। ७५। १-३ ॥

१ भ्र०—( १ ) हे अग्ने ! ( जनाना ) मनुष्यों में से ( तं ) तेरा ( कः ) कौन ( जामि ) बन्धु है ? अर्थात् कोई नहीं । तरे लिये ( कः ) कौन ( दाशवध्वर ) दानशील, अहिंसा रहित यज्ञ करता है ? ( कः इ ) हे हे अग्ने ! तुम कौन हो, ( कारिमन् ) और तुम किस में ( ध्रितः ) आश्रय किये ( असि ) हो ? अर्थात् तुम्हारा सब कुछ अज्ञेय है ।

( २ ) ( स्व ) आप ( जनाना ) सब उत्पन्न होने हारे प्राणियों के ( जामि. ) उत्पादक और बन्धु हो और ( प्रियः ) प्रिय ( मित्र ) खेही सुहृद् ( असि ) हो । ( सखिभ्य. ) समान आश्रयान अर्थात् नाम वाले भर्तृ प्रेमी, जीवण्य के लिये ( सखा ) उनके सुहृद् हांकर भी उनके लिये ( ईडव. ) उपासना और स्तुति करने योग्य हो।

( ३ ) हे ( अग्र ) प्रभो ! तू ( नः ) हमारे ( मित्रावरुणौ ) जैसे मित्र जन और पापनिवारक गुरु उपदेष्टा तथा प्राण्य और अपान दोनों को ( यज ) बल और ज्ञान प्रदान कर । और हमारे ( देवान् ) हन्द्रियों और विद्वानों को ( वृहन् ) बड़ा भारी ( अतं ) साथ ज्ञान ( यज ) प्रदान कर । और हे ( अग्र ) ज्ञानस्वरूप ( स्व ) अपने ( दमं ) दमन करने योग्य समस्त ससाररूप गृह को अथवा ( दम=मद ) अपना परम आनन्द और ( यधि ) देता है ।

[१५३८] <sup>३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> ईडे-यो नमन्दास्तिरस्तमासि दशत. ।

<sup>२ २ १ २ ३ १ २</sup> समशिरिध्रते नृणा ॥१॥

[१५३९] <sup>१ २ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> नृणा अग्निः सामभ्यनेऽभ्यो न देववादन. ।

<sup>१ १ २ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> त हावमन्त ईडते ॥२॥

[१५५०] <sup>१ २ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> नृपयं न्या वय नृपन् नृपणुः समिर्धामदि ।

<sup>२ ३ १ २ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> अग्ने दीयत वृहत् ॥३॥ ४० ३ । २७ । १३-१५ ॥

भा०—( १ ) जिस प्रकार लौकिक अग्नि अन्धकारों को दूर हटा कर स्वयं दिखलाई देता है और अन्धकार में राहगीर उसी की और भुके चले आते हैं एवं अन्धे में भटकते लोग उसी को सराहते हैं उसी प्रकार (अग्निः) प्रकाश और ज्ञान से युक्त ( तमासि ) सनस्त अज्ञानरूप अन्धकारों को ( तिरः ) दूर करने द्वारा परमात्मा और आचार्य ( दर्शतः ) अवश्य नित्य दर्शन करने योग्य, और सय भागों का दर्शाने वाला ( ईदंयः ) स्तुति उपासना करने योग्य और ( नमस्यः ) नमस्कार करने योग्य है । ( अग्निः ) यही ज्ञानस्वरूप ( वृषा ) सब सुखों का वर्षक, परमात्मा तथा आचार्य श्रेष्ठ होने के कारण ( इध्यते ) हृदय में ज्ञानरूप से प्रकाशित होता है ।

( २ ) ( वृषः ) सब सुखों के देने वाला, आत्मारूप ( अग्निः ) अग्नि, ( देववाहन. ) इन्द्रियों को बहन करने द्वारा ( अथोः न ) अथ अर्थात् भोग स्वामी के समान जाना जाकर ( समिध्यते ) युद्धमें विजिगीषुके अथ के समान योगाङ्गों द्वारा और भी तेजस्वी, तथा प्रवृद्धित किया जाता है । ( हविष्मन्तः ) स्तुति उपासना करने द्वारा अथवा चरु आदि से युक्त यज्ञिक लोग भी ( त ) उसकी ही ( ईदते ) स्तुति करते हैं ।

( ३ ) हे ( वृषन् ) सब सुखों और ज्ञानों के वर्षक ( त्वा ) तुम्ह ( वृषथा ) सय से बलवान् ( दीघतं ) चेतनरूप से और तेज स्वरूप सकल महाशक्त को प्रकाशमान करने वाले ( वृहत् ) महान् आत्मा परमेश्वर को ( वयं ) हम ( समिधमिहि ) अपने हृदय में उच्चम रीति से प्रवृद्धित करें ।

[ १५४१ ] उ०<sup>१</sup>त्तं<sup>३</sup> वृ०<sup>३</sup>हन्त०<sup>२</sup> अ०<sup>३</sup>र्थयः<sup>२</sup> स०<sup>३</sup>निधा०<sup>२</sup>गस्य<sup>२</sup> दी०<sup>३</sup>दिवः ।

अग्ने शुक्रास ईरते ॥२॥

[ १५४२ ] उ०<sup>१</sup>प त्वा<sup>३</sup> जु०<sup>२</sup>ह्वाऽ३ म०<sup>१</sup>म घृ०<sup>३</sup>ता०<sup>२</sup>विर्य०<sup>२</sup>न्तु द०<sup>३</sup>र्यत ।

अग्ने हव्या जुपस्व नः ॥ २ ॥

[१५४३] <sup>३ ५ २ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २</sup> मन्द्र होतारमृत्त्रिज चित्रभानु विभावसुम् ।

<sup>३ १ २ ३ १ २</sup> आग्निमीड स उ श्रवत् ॥३॥३॥ ऋ० ७ । ४४ । ४-६ ॥

भा०—इ अम्र<sup>१</sup> ( समिधानस्य ) उत्तम रीति से प्रवृत्त, प्रदीप्त ( ते ) तेरी ( शुक्रास ) कान्तिमान् तजामय, ( वृद्धन्त ) बढ़ी २ ( अर्चय ) सूर्य आदि उवाजाए ( उद् ईरत ) उठ रही है ऊर्ध्व आकाश में गति कर रही हैं ।

( २ ) इ ( इयंत ) सब को अपने में ही आहरण कर लेने हारे, सबके प्रलयकारक परमेश्वर<sup>१</sup> ( मम ) मरी ( घृताधी ) घृत, अर्थात् कान्ति या तेज का धारण करने वाली ( शुद्ध ) दान प्रतिदान करने वाली चमसरूप इन्द्रियां ( स्वा ) तर प्रति ही ( उप यन्तु ) गति करें । इ ( अग्ने ) प्रकाशक ( न ) हमारे ( इत्या ) स्तुतियों और प्रदान करने वाग्य समस्त स्वरूप पदार्थों को भाव हा ( उपसव ) स्वीकार करा ।

( ३ ) नै ( मन्द्र ) आन स्वरूप ( होतार ) समस्त ब्रह्मायद् यज्ञ के होता सम्पादक ( अश्विजम् ) अश्वियों प्राणों तथा सत्य ज्ञानियों द्वारा उपासना करने वाग्य ( चित्रभानुम् ) नाना प्रकार क चित्र विचित्र कान्ति मान् सूर्यों स अलकृत ( विभावसुम् ) कान्तिरूप धन स सम्पन्न विशाल दासि स समस्त जातों और लोकों का पास दान हार उस परमेश्वर रूप ( अग्निम् ) ज्ञान प्रकाशक की ( ईड ) स्तुति करता हू । ( स उ ) वही सब स्तुतियों का ( श्रवन् ) श्रवण करता है ।

[१५४४] <sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> पाहि नो अग एकया पाहोऽऽन द्वितीयया ।

<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> पाहि गोमस्त्रिभुजाम्पते पाहि चतसृभिरसो ॥१॥

[१५४५] <sup>३ १ २ २ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> पाहि विश्वसमाद्र तसो अराण्य प्र स्म राजिषु नोऽय ।

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> रशामिदि नादिपु दयताय आग्नि नक्षामद वृष ॥२॥४॥  
 ऋ० ८ । ६० । १-२० ॥



भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविकल स० [ ३६ ] पृ० १२ ।

( २ ) इ ( अग्ने ) तेजस्विन् ( आप ( विषरमात् ) सब प्रकार के ( अरावण ) जीवन, धन, स्वयं, अधिकार और सुख आदि न देने दारे कजूम, पर-  
वत्त्वापहारी ( रक्षस ) दुष्ट स्वभाव राक्षस पुरुष स ( पाहि ) रक्षा कर ।  
और ( न ) हमारे ( वाजेयु ) समारों में भी ( प्र अ व स्म ) उत्तम रीति से  
रक्षा कर ( हि ) क्याकि ( त्वाम् इत् ) तुम्हका ही ( देवनातये ) विद्वानों  
की और अपनी ( वृषे ) वृद्धि के लिये ( नेदिष्ठ ) सबसे समाप्ततम ( चाणिम् )  
अपना बन्धु जानकर ( नशामह ) तेरे शरण आते हैं, तुम्ह प्राप्त होते है ।

इति प्रथम खण्ड ।

— 0 —

३ १ २ ३ ४ ५ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[ १५४६ ] इतो राजधरति समिद्धो रौद्रो दद्याय सुपुमो अदर्थि ।

३ १ ४ ५ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्रिकुद्धिभति भाना वृहना सिक्तीमेति रुशतीमपाजन् ॥१॥

३ १ ४ ५ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[ १५४७ ] कृणा यदेनीमनिर्वासाभूज्जनयन्योपा वृहत पितुर्जाम् ।

३ २ ३ १ ४ ५ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

ऊर्ध्वभानु सूर्यस्य स्तभायन् दिवो वसुभिररनिप्रिभात २ ॥

३ २ ३ १ ४ ५ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[ १५४८ ] भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसार जागे अभ्येति

३ २ ३ १ ४ ५ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

पथात् । सुप्रकेतैर्युभिरग्निर्धितिष्ठन्नुशाद्रपैरैभिर्गाम

मस्थात् ॥ ३ ॥ ५ ॥ अ० १० ३ । १-३ ॥

भा०—( १ ) हे ( राजन् ) सुप्रकाशमान परमात्मन् । आप ( इत )

व के स्वामी ( अरति ) सब के भीतर व्यापक हैं । आप ही ( समिद्ध )

सुप्रकाशमान होकर ( रौद्र ) दुष्टों का रक्तान हार, पापों के भयकर

वृषविधाता हाकर भी ( दद्याय ) जीव के लिये ( सुपुमान् ) उत्तम

५४६—१. सुष्टु सुवत् इति सुस्तु सामस्तान् । ओष्वात्मना स्वियोऽदुरिख

सापण् ।

आनन्द रस के उत्पादक और उत्तम जन्म देने वाले, सौम्य ( अदार्श ) दिखाने वाले हैं । वह आप परमधर ( विद्धि ) सर्वज्ञ हाकर ( वृहता ) षड् भारी ( भासा ) ज्ञानमय प्रकाश और भौतिक तेजसे सर्वत्र प्रकाशमान् हो रहे हैं । वही आप ( शरतीम् ) रुधिर कान्तिवाली उषारूप कान्ति का ( अयमजन् ) दूर कर पुन ( असिक्ती<sup>३</sup> ) कृष्यावर्षा रात्रि को को ( पति ) प्राप्त कराते हैं । अर्थात् जिस प्रकार अग्नि की शिक्षा दिन को छाड़ कर रात्रि में प्रकाश करती है उसी प्रकार आप भी ज्ञानमय स्थानों क अतिरिक्त अज्ञानमय दशा में भी प्रकाश करत हैं और या ( शरती ) कान्तिमय ससार की जाग्रत् अवस्था का दूर कर ( असिक्तीम् ) रात्रिरूप प्रलय दशा में बदल दत है । और इसी प्रकार रात्रि वा प्रलय दशा को आप ही पुन उषा अर्थात् सर्गदशा में बदलते हैं ।

( २ ) पूषाङ्ग मन्त्र में कहा वह अग्निस्वरूप परमधर ( भरति ) सर्वधा एक ( यद् ) जय । कृष्या ) कृष्यावर्षा या सब को कर्षण करन हारी प्रलय करन हारी ( पनी<sup>३</sup> ) गमनशीला कालगति का ( वर्षसा ) अपन रूप से ( अभिभूत् ) वश कर जाता है, व्याप जाता है और ( वृहत ) षड् भारी ( पितु ) पावन करन वाले पिता परमात्मा की ( जां ) प्रजननशील ( यापो ) कुटुम्ब वसानहारी श्री क समान समस्त पृथ्वीभूतों का परिपाक करक नाना प्रकार स बनका मिलान हारी सगकारिणी शक्ति की ( जनयत् ) उत्पन्न करता हुआ अथवा ( यापो<sup>४</sup> ) हिंसाकारक प्रलय

३ असिक्ती अणुडा भस्तिना ( नि० ६ । २६ ) । रात्रिनाम च ( निव० )

३ एनीक्षति नीनाम् । इन् ग्री ( अक्षति ) इत्यन औणादिको नि ( ३० ४ ४८ ) । नवीवक्तोऽन्तादासोऽन्वप्राणात् इति माधव । अन् अ द्वाप्य इति नात्र नीमहणम् ।

४ योषा-यूष हिंसागाम् जूष च ( स्वादि ) । यौतेवां ि ऋणमिश्रणापस्य । अपि वा सामान्यस याग क्षी, पुण्युपायस्य यावते ( चुरा० ) ।

कारिणी शक्ति को भी ( वितु जां जनयन् ) पात्रक की उत्पादिका शक्ति में बदलता हुआ ( दिव ) इस द्यौलोक प्रह्लाद के ( वसुभि ) बास देने हारे लोकों के सहित ( सूर्यस्य ) सब क प्रेक सूर्य के ( भानु ) दीक्षिमय पिंड को ( ऊर्ध्वम् ) ऊपर आकाश में ( स्तभायन् ) स्थापित करता हुआ ( वि भाति ) आप सब से अधिक प्रकाशमान हाता है ।

( ३ ) जिस प्रकार रात्रि और उपा के दृष्टान्त से प्रलय और सर्ग का वर्णन किया है उसी प्रकार इस मन्त्र से सूर्य और उपा के दृष्टान्त से पुन सर्गशक्ति और परमात्मा के सम्बन्ध का दर्शाते हैं । ( भद्रः ) कल्याण और सुख का देनेहारा सब क भजन करने योग्य परमात्मा ( भद्रया ) समस्त ससार का मोच और भाग द्वारा सुख क सम्पादन करनेहारी प्रकृति स ( सचमान ) युक्त हाकर ( आगात् ) प्रकट हुआ । जिस प्रकार ( जार ) समस्त ससार को जरण करने हारा, ब्रह्मा की समस्त आयु को नाश करन हारा, स्वरूप वही परमात्मा ( पश्चात् ) पुन, ( स्वसार ) स्वय सरण करने हारी, स्वत सृष्टिरूप में विकार को प्राप्त हान हारी प्रकृति को ( अभि एति ) पूर्णरूप से व्याप खता है वह ( अग्नि ) प्रकाशमान शशीप्यमान परमात्मा ( सुप्रकेतै ) उत्तम विज्ञान मय ( एभि ) नियमों से ( वितिष्ठन् ) नाना रूप से व्याप्त हाकर ( उयाङ्गि ) मनोहर ( चर्यै ) रूपों से ( राम ) रमण करने योग्य इस जगन् को ( अभि धस्थात् ) प्रकट करता है, चलाता है, स्थवस्थित करता है ।

[१५४६] <sup>१ २</sup> वयां ते <sup>३ १ २</sup> अङ्गिर <sup>३ १ २</sup> जर्जो <sup>३ १ २</sup> नपादुपस्तुतिम् ।

<sup>१ २</sup> वराय <sup>३ १ २</sup> द्यु म उवे ॥ १ ॥

[१५५०] <sup>१ २ ३ २ ३ १ २</sup> दाशम <sup>३ १ २</sup> कस्य <sup>३ १ २</sup> मनसा <sup>३ १ २</sup> यज्ञस्य <sup>३ १ २</sup> सहसो <sup>३ १ २</sup> यवो ।

<sup>३ १ २</sup> फदुधाच <sup>३ १ २</sup> इद् गम ॥ २ ॥

[१५५१] अथा त्वं द्वि नस्करा विश्वा अस्मभ्य सुक्षिताः ।

वाजद्विणसो गिरः ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ८४ । ४-६ ॥

भा०—( १ ) हे ( अगिरः<sup>१</sup> ) सर्वव्यापक ! सर्वप्रकाशक, तेजास्विन् सव मे बल, प्राण्य और स्वरूप में विद्यमान ! ( अग्ने ) ज्ञान और प्रकाश-मान्<sup>२</sup> हे ( ऊर्जनपात् ) बल के भयङ्कर ! हे देव ! ( वराय ) सबसे श्रेष्ठ एवं चरण करने योग्य ( मन्यवे ) ज्ञानस्वरूप एवं मन्युस्वरूप, सव के मनन करने योग्य ( त , तेरी (कया) किस वाणी से हम उपस्तुतिं दाशम) स्तुति करें ।

( २ ) हे ( सहस्र. यहो<sup>३</sup> ) बल और सहनशीलता से प्राप्त करने और स्मरण करने योग्य परमात्मन् ! ( कस्य ) किस ( यज्ञस्य ) आत्मा को ( मनया ) मन या अन्त करण से ( दाशम ) आपके समर्पण करें । ( इदं ) यह ( नम. ) नमस्कार ( कन् ) किस विर या किस २ समय ( बोध ) उच्चारण करें, अथवा मन से इस आत्मा को तो दे ही रखता है और क्या २ दें । और सदा ही तो आपका स्मरण करते हैं, और हम क्य २ करें ।

( ३ ) ( अघ ) और हे परमात्मन् ! ( द्वि ) निश्चय से ( नः ) हमारे लिये ( त्वं ) आपने ( न. ) हमारी ( सुक्षिता ) उत्तम २ निवासभूमियों और ( वाजद्विणस. ) ज्ञान को बढान वाली, ज्ञानपद्म ( गिर. ) इन्द्र देवमयी वाषिष्ठी का ( अस्मभ्यं द्वि ) हमारे ही लिये ( कर- ) बनाते, प्रकट करते, उपदेश करते हैं ।

१०४८ १ अगिरा.—अगरध्वगिरा ( अगारा नेरना अ-वनाः ) । ( नि० ३ ।

३ । ५ ) अगाना क्षेत्र रस्त., रति भाष्यम् ।

२ यदुरित्यवत्यनामसु पठितः । यदुर्वातद्वर्षपतेश्वीरादिकास्तुप्रयवे मृग-  
यादितान्निगाननम् । यात्राहातुर्थेति माधवः ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१.५२२] अग्ने आयाह्नाग्निभिर्होतां त्वा वृणीमहे ।

१२ १४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मता यजिष्ठं बर्हिंससदे ॥१॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[१.५२३] अञ्ज्या हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः सुचश्चरन्त्यधरे ।

४ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

ऊर्गो नपात् घृतकेशमीमहेऽग्निं यंक्ष्यु पूर्व्यम् ॥२॥ ७ ॥

अ० ८। १८। १, २ ॥

भा०—( १ ) हे अग्ने ! परमात्मन् ! धीर हे आत्मन् ! तू ( अग्निभिः ) प्रकाशक विद्वानों और प्राणों के साथ ( आयाहि ) प्राप्त हो । इस ब्रह्माण्ड और पियूष में अपनी शक्ति का दान—आदान करने हारे ( त्वा ) तुम्ह को हम ( दातारं ) बनना होत्स्वरूप शक्ति और सुखा का दाता ( वृणीमहे ) चरण करते हैं । ( यजिष्ठं ) सबसे श्रेष्ठ यज्ञ और दान करने हारे ( त्वा ) तुम्ह को उपोतिष्मतो प्रज्ञा से ( बर्हिंसि ) इस हृदयकाश में ( आसदे ) प्राप्त करके ( अनक्तु<sup>१</sup> ) ज्ञान करे तुम्हें पहिचाने धीर अधिक प्रदास हो या तुम्ह में व्याप्त हो जाय ।

( २ ) हे (सहसः सूनो) बल, तपस्याद्वारा अभिसवन निष्पादन अर्थात् उपासना और ज्ञान करने योग्य<sup>१</sup> हे अङ्गिरः) सबके प्रकाशक और स्वयंप्रकाश परमात्मन् ! अथवा अर्गो २ में रसस्वरूप होकर विराजमान आत्मन् ! ( त्वा ) तुम्हको ( अञ्ज्य ) प्राप्त करने के लिये ( हि ) हो ( अश्चरे ) यज्ञ में जिस प्रकार ( सुच ) यज्ञ के समपाकार पाप अग्नि के प्रति जाते हैं उसी प्रकार ( अश्चरे ) हिंसा रहित जीवनयज्ञ सर्ग-प्रतिसर्ग स्वरूप ब्रह्माण्ड में ( सुच<sup>२</sup> ) सचय अर्थात् गति करने हारे पञ्चभूत और देह

१. ५२२—१. अनक्तु, अञ्ज्यन्तिप्रभृणक्तान्तिगतियु ( श्वादि )

२. सुच. क, चिरुच । सुचः सन् शयेते सुवातो स्ते । लुगश्री श्वादि ।

में प्राण और हृदिपगण ( चरन्ति ) विचरण करत हैं ( यज्ञपु ) सपदान परापकार और यज्ञ आदि धष्ठकायों म या सव आत्माओं म ( पूर्णम् ) सवस धष्ठ सयस पूव विद्यमान एव पूर्णस्वरूप ( ऊन नपत्त ) रस या वज्र स आत्मा का पालन करन हर ( घतकरा ) दासिरूप किरणों स युक्त आप ( अग्निम् ) ज्ञानरूप परमधर का ( इमद् ) इम याचना करत और आपकी शरण आत हैं ।

१ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ २  
 [१५५४] अच्छान शीरशाचिप िरा यन्तु दशनम् ।  
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 अच्छा यज्ञासा तमसा पुरुवसु पुरुप्रशस्तमृतय ॥ १ ॥  
 ३ २ ३ १ २ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [१५५५] अग्नि भूनु सहस जातवदस दानाय वाधाणाम् ।  
 ३ २ ३ ३ २ १ २ २ ३ १ २ ३ २  
 द्विता या भूदमृता मर्त्येषा हाता मद्रतमा िशि ॥ २ ॥ ८॥  
 क्र० ७ । ७१ । १० । ११ ॥

भा०—( १ ) ( न ) इमार ( गिर ) उच्चारण की हुई वदवाणियाँ स्तुतियों ( दर्शतम् ) ज्ञानरूप स दशनाय ( शारशाचिप ) अग्नि क समान ददीप्यमान का तियुक्त ( पुरुवसु ) समस्त प्रजाओं और इन्द्रियों को वास दन हार उनमें सस या बहुत पृथ्वी क स्वामा ( पुरुप्रशस्त ) सवस धष्ठ या प्रजाओं द्वारा कर्तित उस उत्तमरत्नाक परमात्मास्वरूप अग्नि को ( ऊतथ ) अपना रसा क लिय ( यन्तु ) प्राप्त हों । ( यज्ञास ) इमार आत्मा भी ( नमसा ) आदर और धड़ा सहित उसका ही ( अद् ) भली प्रकार प्राप्त हों ।

( २ ) ( सहस सनु ) वज्र द्वारा ज्ञान करने और प्राप्त करन पाण्य और समस्त वज्रों क प्रक ( जातवदसम् ) व्यापक सवज्र सर्वैश्वर्यवान् उस ( अग्नि ) तजामय आत्मा को ( वाधाणाम् ) वरथ करन पाण्य पदार्थों क ( दानाय ) प्राप्त करन क लिय ( अरुद् ) प्राप्त हाभा । ( य ) जो ( असृत )

अमृतस्वरूप होकर भी ( त्रिता ) दो स्वरूपों में विद्यमान है । एक तो ( माययु ) समस्त मरणधर्मा प्राणियों में ( आ हाता ) भाङ्गा रूप जीव अथवा सब प्राणियों को सुखों और जीवनों का दाता और ( विशि ) समस्त प्रजाओं में ( मन्दतम ) परम ज्ञानन्तदाता ईश्वर है ।

इति द्वितीय खण्ड ।

१ २                      ३ २   ३ २ ३ १ २      २ १  
[ १५५६ ] अदाभ्य पुर एता विशामप्तिर्मानुषीणाम् ।

२ ३ २ ३ २   ३ १ २

तूर्णैरिथ सदा नव ॥१॥

३ १ २   २ १   ३ १ २              ३ १ २      ३ १ २

[ १५५७ ] अभि प्रयासि वाहसा दाशवा अश्नोति मर्त्ये ।

१ २              ३ १ २

क्षय पावकशाचिप । २ ॥

३ १ २      २ १      ३ २ ३   १ २ ३ २ ३ १ २

[ १५५८ ] साहान्विश्वा अभियुज क्रतुर्देवानामच्छ्रु ।

३ २ ३ १ २

अग्निस्तुविश्रयस्तम ॥३॥६॥ अ० १ । ११ । २, ७ ६ ॥

भा०—( १ ) ( मानुषीणां ) मननशील ( विशां ) प्रजाओं का ( तूर्णै ) अति शीघ्रगामी ( रथ ) रथ के समान दहादियसघात या कर्मवासनाओं को साथ ही लेकर चलने द्वारा या समयशाल ( सदा ) निरन्तर ( नव ) नूतन, अजर ( अभि ) आत्मरूप यह अभि ( अदाभ्य ) वेद के नाश हो जान पर भी न मरने द्वारा, ( पुरः एता ) प्राण्य या पाछन करन योग्य देहों में प्राप्त हो जाता है ।

( २ ) ( दाधान् ) दानशील अपने को उस आत्मा के प्रति समर्पित करन द्वारा साधक ( मर्त्ये ) मरणधर्मा पुरुष ( वर्हिषा ) शरीर को रथ के समान धारण करन हारे उस आत्मरूप अभि से ही ( प्रयासि ) समस्त सुख और भाग्य पदार्थ ( अभि अश्नोति ) भोग करता है और अपने आप

को ( पावकशोचिष ) पावन करन हार तेज क ( चप ) निवास स्थान परमेश्वर को भी प्राप्त करता है । अर्थात् आत्मा स ही आत्मज्ञान और मोक्ष का भी लाभ करता है ।

( ३ ) यह अग्नि ( सुविभ्रवस्तम ) बहुत अग्नादि भोग्य साधनों स सम्पन्न, ( विश्वा ) समस्त ( अभियुज ) आक्रमण करने हारों को ( साह्वान् ) धश करने द्वारा, ( देवाना ) विद्वानों का एकमात्र । क्रतु ) कार्यसम्पादक, साक्षात् कर्ता, अथवा ( देवाना ) इन्द्रियों के ज्ञान और कर्म का ( क्रतु ) कर्ता ( असृज ) अविनाशी और अजन्मा है ।

३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २

[१५५६] भद्रो ना अग्निराहुतो भद्रा राति सुभग भद्रो अध्वर ।

२ २ ३ १२ २२

भद्रा उत प्रशस्तय ॥ १ ॥

३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१५६०] भद्र मन वृणुष्व वृत्रतूर्णे यन समस्तसु सावहि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २

अथ स्थिरा तनुदि भूरि शर्द्धता वनेमा त अभिष्टये ॥२॥१०॥

५० २ । १६ । १६, २० ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखिये अवि० स० [ १११ ] पृ० २६ ।

( २ ) हे अग्नि परमात्मन् ! ( वृत्रतृप ) विघ्नकारी अज्ञाना और शत्रुओं को नाश करन के कार्य में ( यन ) जिस सकल्पशक्ति स आप ( समस्तु ) समग्रों में (सावहि) विघ्नों का नाश करत हैं उस (मन) हमारे मन का भा (भद्र) कल्याणकारी ( वृणुष्व ) कर । (शर्द्धता) प्रबल हाने हार शत्रुओं क ( स्थिराणि ) बलों का ( भव तनुदि ) नाच दवा द । हम ( अभिष्टय ) अभीष्ट प्राप्ति क लिय ( ते ) तरी शरण को ( वनेम ) प्राप्त हात हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५६१] अग्ने वाजस्य गोमत ईशान सहसो यदो ।

३ २ ३ ३ २ ३ १ २

अस्मे वेदिजातयेदो महिश्च ॥ १ ॥



[१५६२] स इधानो वसु. कविरग्निरीडेन्यो गिरा ।

रेवदस्मभ्य पुर्वणीरु दीदिदि ॥ २ ॥

[१५६३] क्षपो राजधृत त्मनाग्ने वस्तोरुतोपस. ।

स निग्मजम्भ रक्षसा दह प्रति ॥ ३ ॥ ११ ॥

अ० १। ७६। ४-६ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अचि० स० [ ६६ ] पृ० ५३ ।

( २ ) ( स ) वसु ( वसु ) सबको चास देने और सबमें वसने द्वारा ( कविः ) कान्तदर्शी, मधावी ( गिरा ) वाणी द्वारा ( ईडेन्य० ) सबके स्तुति करने योग्य है। हे (पुरु अनोक) पुरु=बहुत भारी अनीक अर्थात् शक्ति स सम्पन्न या अनन्त सुख, आनन्द से परिपूर्ण परमात्मन् ! तू ( अस्मभ्य ) हमारे ( रेवत् ) शयवान् आत्मा के भीतर ( दीदिदि ) प्रकाशमान् हो ।

( ३ ) (उत्त) और हे (राजन्) समस्त प्रजा का अनुरजन करने वाले प्रकाश मान परमात्मन् ! (अग्ने) हे ज्ञानरूप अग्नि (त्मना) स्वय आत्मा के बल से धीर तेजस्वी राजा के समान ( रक्षसा ) राक्षसा, दुष्टभावों और पुरुषों का ( वस्ताः ) दिन ( उत्त ) और ( उपस ) रात्रि के समाप्तिकाल उपासों अर्थात् निश्च ज्ञानोदय कालों में ( ध्रुव ) दूर भगा दे। हे ( तिग्मजम्भ ) तीक्ष्णमुख ! अग्नि के समान तेज से अधकारों को नाश करने हार ! आप राक्षसी भावों या राक्षसों का ( प्रति दह ) भस्म करा, निर्मूल करो । जिससे वे निर्बीज होकर पुन. जन्म मरण क बधन का कारण न हों ।

इति मृगीय खण्ड ।

[१५६४] विशो विशो वो अतिथि वाजयन्त पुरुषियम् ।

अग्नि वो दुर्य चच स्तुपे श्पस्य म०मभि ॥ १ ॥

११ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१५६५] यज्ञनासो हविष्मन्तो मित्र न सर्पिरासुतिम् ।

२ ३ २ ३ १ २

प्रशसन्ति प्रशस्तिभि ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१५६६] पन्यासजातवेदस यो देवतात्युद्यता ।

३ १ २ २ ३ २

हृयान्यैरयद्वि ॥ ३ ॥ १२ ॥ अ० ८ । ७४ । १-३ ॥

भा०—( १ ) ग्यास्या देखो अविच्छ स० [ ८० ] पू० ४६ ।

( २ ) ( हविष्मन्त ) ज्ञानवान् ( जनास. ) पुरुष ( य ) जिस ( सर्पि आसुति ) सर्पेशील इन्द्रिय और मन को प्रेरणा करने हारे, अथवा तेज को देने हारे अथवा घृत को आहुति क समान सर्पेशील प्राणरूप इन्द्रिय और मन को अपने भीतर आहुत अर्थात् खान करन हारे अग्नि को ( मित्र न ) मित्र क समान ( प्रशस्तिभि ) उत्तम स्तुतियों द्वारा ( प्र शसन्ति ) वर्णन करते हैं ।

( ३ ) ( पन्यास ) अति स्तुति करने योग्य, वा व्यवहार में अति कुशल समस्त जगत् व्यवहार को चलान हारे ( जातवेदस ) सर्वज्ञ, सर्वधर्मवान्, सब पदार्थों के ज्ञाता उस प्रभु की स्तुति करो ( य ) जो ( देवताति ) देवों के हितकारी यज्ञभ्यान में ( उद्यता ) उद्यत, प्रस्तुत ( हृयानि ) हृय आदि उत्तम अक्षमय पदार्थों को जिस प्रकार अग्नि अपने तेज से आकाश में फैला देता है उसी प्रकार जो प्रभु समस्त पदार्थों को ( दिवि ) सूर्य के प्रकाश और ज्ञान के आधय पर ( प्रेरयद् ) प्रेरित करता है । अथवा ( य ) जो ( देवताति ) इस महान् द्यगण्य पृथिवी, जल आदि के हितकर ( दिवि ) आकाश में ( उद्यता हृयानि ) ऊर्ध्व दिशा में नियम से बद्ध सूर्यादि लोकों को ( प्रेरयत् ) प्रेरित करता है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 [१५६७] समिद्धमग्निं समिधा गिरागृणे शुचिं पानकं पुरो अध्वरे  
 ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 ध्रुवम् । विप्रं होतारं पुरुवारमद्रहम् कविं सुमैरीमहे  
 ३ १ २  
 जातवेदसम् ॥ १ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ २ २  
 [१५६८] त्वा दूतमग्ने अमृत युगेयुगे हव्यावाह दधिरे पायुमीड्यम्  
 ३ १ १ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 देवासश्च मर्तासश्च जागृविं विभुं विश्वपतिं नमसा निपेदिरे  
 ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५६९] विभुपश्मन् उभयो अनुव्रता दूतो देवानां रजसी समीयसे ।  
 १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १  
 यच्च धीतिं सुमतिमावृणीमहेऽथ सा नस्त्रिवरुधः शिवा  
 २  
 भय ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० ६। १२। ७-६ ॥

भा०—( १ ) ( समिद्ध ) उत्तम रीति से सर्वत्र प्रकाशमय, ( शुचिं ) शुद्ध कान्तिमय, ( पानकं ) सब को पवित्र करने हारे ( अध्वरे ) ईश्वरहित, अविनाशी, जिवनप्रद, ससार रूप यज्ञ में ( पुरः ) सब से पूर्व ( ध्रुवम् ) निष्प, अविनाशी उस ( आग्निं ) तेज स्वरूप परमेश्वर को ( समिधा ) ज्ञानमयी ( गिरा ) बाणी से ( गृणे ) चरणेन करता हू । उसी ( विप्रं ) ज्ञानवान् मेधावी ( होतारं ) सर्वप्रद, ( पुरुवारं ) प्रजाधों के रक्षक, ( अद्रुह ) सब से प्रेम करने हारे एवं द्वेषरहित, सब के प्रिय ( कविं ) अन्तर्धामी, अन्तर्दर्शी ( जातवेदस ) सर्वज्ञ उस परमात्मा की ( सुमैः ) उत्तम मनम निदिध्यासनो द्वारा या सुखकारी स्ताओं द्वारा ( ईमहे ) प्रार्थना उपासना करें ।

( २ ) हे ( अग्ने ) परमेश्वर ! ( अमृत ) अमृतस्वरूप, ( हव्यावाह ) सब स्तुतियों को स्वीकार करने हारे, ( पायुं ) जगत के पाकक, ( ईड्यम् ) सब से वन्दनीय, ( त्वा ) तुझको ( युगे-युगे ) प्रत्येक युग में निदान्

लोगों ने अपना ( दूत<sup>१</sup> ) सदा उपास्य, भजन सेवन करने योग्य एवं ज्ञानों का प्रकाशक (दधिरे) स्वीकार किया, धारण किया। और (देवास) इदिव ज्ञानवान् और (मर्यास) मरणधर्मा कमपद् सामान्य जीव दोनों तुम्हको ही (जागृधि) सदा जागरणशाल (विभुं) सर्वव्यापक और विशेष रूप से सब का उत्पादक (विरपति) समस्त प्रजाओं का पालन करने द्वारा जानकर (नमसा) भक्ति योग से विनय पूर्वक (निपोदरे) तेरे ही चरणों में आ बैठते हैं और तेरे गुरु चरणों में बैठकर उपनिषदों द्वारा ज्ञान लाभ करते और उपासना करते हैं।

(३) हे (अन) प्रभो! (उभयान्) बद्ध और मुक्त दोनों प्रकार के जीवों को (विभूपन्) अपनी विभूतियों से सुशोभित करता हुआ तू (अनुमना) समस्त यज्ञों में (देवाना) देवगण, दिव्य पदार्थों, एवं मुक्त जावों को (दूत.) साक्षात् प्राप्त और उन के प्रति नाना ज्ञानप्रकाशक होकर (रजसी) समस्त षो और शृषिषी लोकों में (समीयस) व्यापक रहता है। (यत्) क्योंकि इम (ते) तेरी ही (सुमति) उत्तम स्तुति और (धीति) ध्यान (आवृणीमहे) करते हैं (अध) और तू। त्रिवरुधः) उत्पादक, पालक और संहारक तीन रूप का हो कर (शिव.) हमारा कवचाकारि (भवस्म) है।

[१५७०] उप त्वा जामया गिरी देदिशती हि विरुहते ।

वायारनीके अस्थिन् ॥ १ ॥

[१५७१] यम्य त्रिधात्वचृतम्यहिंस्तस्थावसान्दनम् ।

आपक्षिन्नद्धा पदम् ॥ २ ॥

[१५७२] पद दैगम्य मीदुषो नाघृष्टाभिरुतिभि ।

मडा सूर्य इवापदक् ॥३॥१४॥ ५० ६ । ६१ । १३, १५ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखा अतिक्रम स० [ १३ ] पृ० ६ ।

( २ ) ( यस्य ) जिस आत्मा का ( त्रिधातु ) वात, पित्त, कफ तीन धारणसमर्थ धातुओं का बना ( अवृत ) अनावृत, नाशयुक्त अथवा मासादि घृणाजनक पदार्थों का बना हान स न वरण करने योग्य ( असन्दिनम् ) अव्यक्त अर्थात् आत्मा स सर्वथा पृथक् और कभी स्थिर स्थिति न प्राप्त करने द्वारा, ( बर्हि ) वृद्धिशील और बन्धन होम से ज्ञानरूप शस्त्र स काटन योग्य देहबन्धन तस्थौ) स्थिर है उस अग्निरूप आत्मा में ( आप ) समस्त कर्म और प्राणगण ( पद ) स्थान ( निदधा ) प्राप्त करते हैं अथवा सब ( आप ) प्राण और ज्ञानवृत्तिया ( पद ) अपना आश्रय ( निदधा ) धारण कराती हैं ।

परमात्मा पञ्च में—( त्रिधातु ) सत्व रजस, तमस् से बना ( अवृत ) श्यञ्च रूप ( बर्हि ) महान् महाराज रूप देह ( असन्दिन ) गतिमान् ( तस्थौ ) स्थिर है । जिसमें ( आप ) समस्त लोक ( पद निदधा ) स्थान पात है ।

( ३ ) ( मीढुप ) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने द्वारे ( देवस्य ) प्रकाशमान देव का ( पद ) परम पद, परम रूप ( अनाधृष्टाभि ) अद्वितीय, अबाधित, ( ऊतिभिः ) सुखों से युक्त है । और उसका ( उपदृक् ) साक्षाद् दर्शन ( सूर्य इव ) सूर्य के समान सदा ( भद्रा ) कल्याणकारी है ।

इति चतुर्थं सर्गः ।



इति सप्तमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्थः ॥

३

इति पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ॥

## अथ षोडशोऽध्यायः ।

अथ सप्तम प्रपाठकस्य तृतीयोऽर्ध्व ।



अपि — १, ८, १८ मध्यातिथि वाण्व । २ विश्वामित्र । ३, ४ भर्गु  
 प्रागाथ । ५ सोमरि वाण्व । ६, १५ शुन शेष आजीगर्ति । ७ सुवक्ष । ८  
 विश्वकर्मा भौवन । १० अनानन । पाण्ड्येपि । ११ भरद्वाजो बार्हस्पत्य १२  
 गान्धो राहुगण । १३ अजिभा । १४ वामदेव । १६ १७ इयन प्रागाथ  
 हेवातिथि काण्व । १६ पुष्टिगु वाण्वः । २० पर्यनारत्नौ । २१ अत्रि ॥  
 देवता—१, ३, ४, ७, ८, १५—१९ इन्द्र । २ इन्द्राग्नी । ५ अग्नि । ६  
 ब्रह्म । ६ निरवकर्मा । १०, २० २१ पवमान सोम । ११ पृषा । १२  
 मरुत । १३ विधेशवा १४ वावापृथिव्यौ ॥ छन्द—१, ३ ४ ८, १७ १६  
 प्रागाथम् । २, ६, ७, ११, १६ गाथी । ५ ब्रह्मी । ६ विश्वम् । १०  
 अत्यष्टि । २० उज्जिक् । २१ जगती ॥ स्वर—१ ३ ४, ६, ८, १७ १९  
 म वन । २, ६ ७ ११—१६ पङ्क्त । ६ धेय १० । गान्धार । २०  
 श्वनम् । २१ निषाद ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५७३] अथि त्वा पूर्वपीतय इन्द्रसामेभिरायय ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

समीचीनाम् ऋभय समस्वरन् रुद्रा गृणन् पूर्यम् ॥८॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१५७४] अन्वेदिन्द्रो धानुध वृष्य शया मदे सुनस्य विष्णुवि ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अथ तमस्य महिमानमायवाऽनुष्टुघन्ति पूर्वथा ॥२॥१॥

श्व० ८ । ३ । ७, ८ ॥

भा०—( २ ) ध्यायमा देखो अतिक्रम स० [१५६] पृ० ।

( २ ) ( इन्द्र ) इन्द्र ( अस्य इव ) इस ही ( सुतस्य ) उत्पादित सोमरूप आत्मानन्द क ( विष्णुवि ) व्यापक ( मदे ) आनन्द, इर्ष में ( वृष्यव ) सुखों क वर्धक ( शव ) बल को ( वाचुध ) वडा करता है । ( आयव ) मनुष्य आयु में बढ जीवगण और ज्ञानवान् पुरुष ( पूर्वथा ) पूर्व क समान ( अथ ) आज भी ( अस्य ) इस आत्मा क ( त ) उस ( महिमान ) महान् सामर्थ्य का ( अनुत्पुबन्ति ) घणन करत हैं ।

[१५७५] प्र वामर्चस्त्युक्थिनो नीथाधिदा जरितार ।

इन्द्राग्नी इव आवृणु ॥ १ ॥

[१५७६] इन्द्राग्नी नवातम्पुरा दासपत्नीरधूनुतम् ।

सावमकेन कर्मणा ॥ २ ॥

[१५७७] इन्द्राग्नी अपसस्युपप्रयन्ति धीतय ।

ज्ञस्य पथ्याऽरेऽधनु ॥ ३ ॥

[१५७८] इन्द्राग्नी त्रिपाणि वा सधस्थानि प्रयासि च ।

युवारस्पृथे दितम् ॥ ४ ॥ अ० ३ । १२ । ५-८ ॥

भा०—( १ ) इ ( इन्द्राग्नी ) इन्द्र<sup>१</sup> परमेश्वर और अग्निरूप जीव ! ( वाम् ) आप दानों का ( नीथविद ) सामगान या ब्रह्ममार्ग क जानने हार ( जरितार ) स्तुतिकर्ता विद्वान् पुरुष और ( उक्थिन ) वेदज्ञानी विद्वान् ( प्र अर्चन्ति ) उत्तम रूप स उपासना करत हैं । मै भी ( इव ) बल प्राप्त करने क जिय उन दाना ( इन्द्राग्नी ) आत्मा और परमात्मा को ( आवृणु ) वाण करता हू उपासना करता हू ।

( २ ) हे ( इन्द्राग्नी ) ब्रह्म और जीव<sup>१</sup> जो दानों आप ( दासपत्नी ) विना शक भाषों स परिपालित ( नवतिम् ) नव ( पुर ) कामनाओं को ( एकन कर्मणा ) एक कर्म श्रयात् भाग स ही ( साक ) एक साथ ( अधूनुतम् ) कषा

देत हो उन आप दानों को हम स्मरण करत हैं । इन्द्रिय भद्र स १०, सर्व रजसु तमस भद्र स ३० प्रकार हुए अन्नमय प्राणमय और मनामय भेद से तीनों काशों में ६० पुर हात हैं । एकादश इन्द्रिया मान कर ३६ पुर भी कह सते हैं ।

( ३ ) इ ( इन्द्राग्नी ) पूर्वोक्त इन्द्र और अन्न <sup>१</sup> (धीतय ) ध्यान करन द्वारे विद्वान्जन ( अतस्य ) ब्रह्मज्ञान क ( पथ्या ) मार्गों का ( अनु ) अनुगमन करत हुए ( भवस ) कर्मों का ( परि वप प्रयान्ति ) पार कर के आपक समाप तक पहुच जात हैं ।

( ३ ) इ ( इन्द्राग्नी ) जीव और मल्ल ( वां ) आपके ( तविपाणि ) बल और ( मपासि ) ज्ञान ( सधस्थानि ) साथ ही रहत हैं और ( युवा ) आप दानों में ( अपूर्ण ) कर्मों और छाकों प्राणों तथा प्राणमय सूक्ष्म और शूक्ष्म शरीरों का प्राप्ति करन वाला बल भी समानभाव से ( हितम् ) स्थापित है ।

३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २  
[१५७६] शग्ध्युऽऽप् शर्चीपत इन्द्र विश्वाभिरुतिभि ।

२ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

भग नदि वा यशस वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥

३ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५८०] पारो अश्वस्य पुरुकृत्गवामस्यु सा देव हिरण्यथ ।

२ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ २

नवि रि दा । परि म र्जिपत्त यद्यद्यामि तदाभर ॥२॥ ३ ॥

अ० ८ । ६२ । ६, ६ ॥

भा०—( १ ) स्वाख्या दस्ता अवि० स० [२५३] पृ० १२६ ।

( २ ) इ वव <sup>१</sup> परमात्मन् <sup>१</sup> आप ( अथस्य पार ) भाजा जीव क पूण्य पत्र पावन करन द्वार और ( गवा ) इन्द्रियों क भी ( पुरुकृत् ) पूर्ण करन द्वार हैं । अर्थात् आपन भाजा जीवका भाग साधन दकर पूण्य किया है और इन्द्रियों को रूपभादि भाग्य विषय दकर पूण्य किया है और (हिरण्यथ )



मन हरण करने हारे सुवर्ण के समान तेजों से बने हितकारी और रमणीक ( वासः ) कृप के समान सब भ्रान्दरसों के आश्रय अथवा तेजोमय पदार्थों का उत्पादन करने हारे उनके कारणरूप हैं । आपके लिये आत्मा और इन्द्रियों के भोग्य सुखजनक पदार्थ उत्पन्न करना क्या बड़ी बात है । हे परमात्मन् ! ( ते ) आपके दिये ( दानं ) दान को ( नकिः परिमार्थिपन् ) कोई भी नाश नहीं कर सकता । आपसे मैं ( यद् यद् ) जो २ ( यामि ) याचना करता हूँ वह २ ( आभर ) प्राप्त कराइये ।

२४ ३ १ २ ३ २४ ३ १ २

[ ११८१ ] त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुस्ये ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

उद्गावृपस्य मघवन् गधिष्टये उद्दिन्द्राभ्यमिष्टये ॥१॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[ ११८२ ] त्वम्पुरु सहस्राणि शतानि च यूथा पानाय मंहसे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

आ पुरन्दरं चकृम विप्रवचस इन्द्राङ्गायन्तोऽवसे ॥२॥४॥

शु० ८ । ६१ । ७ । ८ ॥

भा०—( १ ) ज्योत्स्ना देखो अधिकृत सं० [ २४० ] पृ० १२२ ।

( २ ) हे इन्द्र ( त्वं ) आप ( पुरु ) बहुतसे ( सहस्राणि ) हजारों और ( शतानि च ) सैकड़ों ( यूथा ) यूप ( दानाय ) दानशक्ति पुरुष को ( मंहसे ) देते हैं । हम ( विप्रवचसः ) मेधावी ज्ञानी, पुरुषों के समान वचन बोलने हारे और विविध विद्याओं का प्रवचन करने हारे विद्वान् होकर ( अवसे ) ज्ञान और रक्षा की प्राप्ति के लिये ( गायन्तः ) स्तुति करते हुए ( इन्द्रं ) आत्मा और परमात्मा को ही ( पुरन्दरं ) इस देहरूप पुर को तोड़ने द्वारा ( आचकृम ) स्वीकार करते हैं । अथवा—हे आत्मन् ! तू सैकड़ों हजारों ( पुरु ) पावन एवं वृत्त करने हारे पदार्थ केवल ( दानाय ) दान या त्याग करने के लिये ही हमें प्रदान करता है अतः उनको वैराग्य द्वारा त्याग कर विद्वान् ज्ञानी होकर इस देह का अन्त कर, मुक्ति देने हारे इन्द्र,

ईश्वर की स्तुति करते हुए, हम ( भवसे ) अपनी रक्षा और ज्ञान के लिये ( चहुँप ) साधना करें ।

१४ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ २ २  
 [१५८३] यो विश्वा दयते यत्तु होता मन्द्रो जनानाम् ।  
 २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
 मधोर्न पात्रा प्रथमा न्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नेये ॥१॥

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१५८४] अश्वं न गीर्भी रथ्य सुदानया मर्त्य्यन्ते देवयवः ।  
 ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 उभ तौके तनय दस्मै विश्वते पर्षि रात्रो मघोनाम् ॥२॥५  
 अ० २०२ । ६, ७ ॥

भा०—( १ ) ग्याख्या देखो अथिकज स० [ ४४ ] पृ० १६ ।

( २ ) हे ( दसम ) दर्शनीय, कमनीयरूप । हे ( विश्वत ) समस्त प्रजा के पालक । ( अग्ने ) ज्ञानस्वरूप परमात्मन् । ( देवयव ) देव परमात्मा की चाह करने वाले ( सुदानव ) अपने का उत्तम रूप से समर्पण करन हारे, भरू ( गीर्भी ) अपनी वाणियों और आपकी स्तुतियों से भी ( रथ्य ) इस दहरूप रथ क याग्य ( अश्व न ) अश्व के समान भात्रा आत्मा को ही ( मर्त्य्यन्ते ) शोधन किया करते हैं । उमको बराबर तपस्याओं से शुद्ध पवित्र किया करते हैं आप ही ( मघोनाम् ) मघ=मस्र=ज्ञान के धनी पुरुषों क ( ताके ) पुत्र और ( तनये ) पौत्र ( उभे ) दोनों में ( राध ) धाराधारीय विवक का ( पर्षि ) दान करत हैं ।

नास्य अमहाविद् कुज भवति ( बृहदारण्यकापनिषद् )

इति प्रथम खण्ड ।



३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१५८५] इमस्मे वरुण भुवि हवमद्या च मृडय ।  
 १ २ १ २ १ २

त्यामत्रस्युराचके ॥१॥६॥ अ० १ । २५ । १६॥

भा०—( १ ) हे ( वरुण ) सबसे श्रेष्ठ, वरण करने योग्य एवं सब पापों के निवारक परमेश्वर ! ( मे ) मेरे ( इमे ) इस ( इवम् ) पुकार को ( ध्रुधि ) ध्वन्य कर । ( अद्य च ) और वर्तमान में हमें ( मृडय ) सुखी कर । मैं ( प्रवस्यु ) अपनी रक्षा तथा आपको शरण और ज्ञान चाहता हूँ।

१ ३ १ २ ३ ११ २२

[१५८६] कया त्वं न ऊत्याभिप्रमन्वसे वृषन् ।

१ २ ३ २ ३ १ २

कया स्तोतृभ्य आभर ॥१॥७॥ ऋ० ८ । ६३ । १९ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! हे (वृषन्) सुखों के वर्षाने वाले श्रेष्ठ परमात्मन् ! ( कया ऊ या ) किस अद्भुत रक्षा और ज्ञान से ( त्व ) आप ( न ) हमें ( प्रमन्वसे ) खूब आनन्दित, सुखी, प्रसन्न करते हैं और ( कया ) किस उत्तमता से ( स्तोतृभ्य. ) विद्वान् पुरुषों को ( आभर ) सब पदार्थ प्राप्त कराते हैं ?

२ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१५८७] इन्द्रमिहेयतातय इन्द्र प्रयत्यध्वरे ।

१ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्र सभीके धनिनो हवामह इन्द्र धनस्य सातये ॥२॥

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५८८] इन्द्रो महा रोदसी पप्रथच्छत्र इन्द्र सूर्यमरोचयत् ।

१ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

इन्द्रह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दव २।८

ऋ० ८ । ४ । ५, ६ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० सं० [२४६] पृ० १२७ ।

( २ ) ( इन्द्र ) परमेश्वर ( शत्रु ) अपने बलकी ( महा ) महिमा से ( रोदसी ) आकाश और पृथिवी दोनों आकों को ( पप्रथत् ) विस्तृत करता है, बनाता है । ( इन्द्र ) ऐश्वर्यशील परमात्मा ( सूर्यम् ) सूर्य को ( अरोचयत् ) प्रकाशित करता है । ( इन्द्र ) परमेश्वर ( विधा ) समस्त ( भुवनानि ) भुवनों का ( येमिर ) व्यवस्थित करता है । ( इन्द्रे )

परमशर ही ( इन्द्र ) योगी लोग मुरु पुरुष ( स्वानास ) आनन्द रस का लाभ करते हैं और उसी में निमग्न होजाते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २  
 [१५८६] विश्वकर्मन् हविषा वाचुधान स्वययजस्व तन्वाऽऽस्वा  
 १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
 द्विते । मुह्यन्त्वन्ये अभि तो जनास इहास्माकम्मघना  
 ३ १ २  
 सुरिरस्तु । ॥१५६॥ श्र० १० ८२ । ६ ॥

भा०—( १ ) इ ( विश्वकर्मन् ) तमाम ससार क स्रष्टा परमशर ! ( हविषा ) ज्ञान स और सामर्थ्य से ( वाचुधान ) सबसे सदा महान् ( स्वाहित ) उत्तम रीति स आधान किये गय इस विश्व मद्भाग्य में ( तन्वा ) विस्तार शील, घौ और पृथिवीरूप शरीर में ( स्वय ) अपन आप तू ( यजस्व ) एक का दूसरे का उपकारक बनाता है ! ( अन्य ) और तरे स भिन्न अणु ( जनास ) जन जीवगण ( अभित ) इसको साक्षात् देखकर भी ( मुह्यन्तु ) मोह का प्राप्त हात है ( इह ) इस विशाल मद्भाग्य यज्ञ क विवरण करन में ( मघना ) ज्ञानसम्पादक परम ज्ञानी परमशर ही ( अस्माक ) हमारा ( सुरि ) ज्ञानापरष्टा ( अस्तु ) हो ।

'तत्रतिहासमाचक्षत विश्वकर्मा भौवन सर्वमथ सर्वाणि भूतानि जुह-  
 चाञ्चकार स आमानप्यन्तता जुह्वन्चकार । तद्भावेवादिनी एषा श्रग्  
 भवति । ' ( निरु० ) । विश्वकर्मा भौवन न सर्वमथ यज्ञ में समस्त भूतों का हवन कर दिया और अन्त में अपन आपका भी स्वाहा कर दिया । यह आशिक यज्ञ का भी वर्णन है । और विशालरूप में यही यज्ञ मद्भाग्य यदमय विराट शरीर में भी हो रहा है । परमप्रमा समस्त-पृथिवी आदि प्राचा भूतों का मिश्रण करके ससार रचता है और आप भी उसका व्यापक व्यवस्थापक हाकर, उसी में लीन रहता है । तत्सृष्टया तदवानुप्रविशत् ।

( छान्दोग्य उप० ) इसी प्रकार आत्मा देह में पचभूतों के पाचों शब्दादि विषयों को ग्रहण करता और उनसे ज्ञान सम्पादन करता, पुनः स्वयं और समाधि दशा में अपने में भी मग्न रहता है ।

अध्यात्मपथ में—हे विश्वकर्मान् ! सर्व कर्मों के कर्ता जीवामन् ! ( इक्षिया ) ज्ञान से ( वायुधान- ) बड़ता हुआ ( स्वाहित ) अपने ही कर्मों से प्राप्त इस ( तन्वा ) देह में तू ( स्वयं यज्ञस्व ) अपने आप प्राणों द्वारा यज्ञ कर रहा है । और ( अन्ये जना मुह्यन्ति ) दूसरे मूर्ख, अनात्मज्ञ खोग मोह को प्राप्त हो जाते हैं और ( मयवा ) परमात्मा या आत्मज्ञानी आचार्य ही इस आभ्यन्तर योगयज्ञ के सम्पादन में ( अस्माक मुरिः अस्तु ) हमारा ज्ञानोपदेश हो ।

१-तन् = प्राणिमूर्खां चक्षुषी चन्द्रमूर्षीं दिशः धोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः वायुः प्राणो हृदयं विभ्रमस्य पद्भ्यां पृथिवी क्षेत्र सर्वभूतान्तरात्मा ॥

परमात्मा अ स्वयं यज्ञ का रूप—तस्मादग्नि-सामिधो यस्य मूर्यः सोमात् पञ्चन्या ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः । सिञ्चति बोधितायां पद्भ्योः यज्ञाः पुरुषात् सम्प्रसृताः ॥ सुयदक २ । १ । २ ॥

गीता के यज्ञवक और छान्दोग्य उप० में पञ्चाहुतिप्रकरण भी देखने योग्य हैं ।

[१५६०] अथा रुचा हरिण्या पुनानो विभ्वा द्वेषांश्च तरनि स्यु-  
 २ ३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १  
 इषभिः सुरो न स्युग्यभिः । धारा पृष्ठस्य रोचने पुनाना  
 २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 अरुणो हरिः विभ्वा यदूपा परिपास्यृकभिः सतास्येभि  
 १ १  
 ऋषिभिः ॥ १ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३  
 [१५६१] प्राचीमनु प्रदिश याति चोकेतत्स रश्मिभिर्यतते दर्शता  
 ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३  
 रथो दैव्यो दर्शतो रथः । अग्मधुन्धानि पौंस्येन्द्र  
 १ २ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २  
 जैत्राय हर्षयन् वज्रञ्च यद्भवथो अनपच्युता समत्स्वन-  
 पच्युता ॥ २ ॥

३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१५६२] त्वं ह त्यत्पणीता त्रिदो वसु सम्मातृभिर्मर्जयासि स्व  
 २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३  
 आ दम जनस्य धीतिभिर्दमे । पराजता न साम तद्यत्रा-  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 रणन्ति धीतय त्रिधातुभिररुपीभिर्वयो दधे रोचमानो  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 वयो दधे ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ९ । १११ । १, २, २ ॥

भा०—( १ ) ( पृष्ठस्य ) सबके साथ स्पर्श करने द्वारे, सबके पोषक प्राण की ( धारा ) धारण शक्ति या वाणी द्वारा वह सोमस्वरूप, आनन्दस्वरूप योगी आत्मा ( पुनान ) और भी पवित्र, शुद्धरूप होकर ( यत् ) जय ( विधा ) समस्त ( रूपा ) पदार्थों को ( सप्तारथै ) सर्पणशील आस्य अर्थात् इन्द्रियों में विराजमान ( अक्षभि ) गतिशाल, प्राण्यग्राही, ( अक्षभि ) उत्तम, प्राण्यरूप इन्द्रियों से ( परिपासि ) प्राप्त करता है तब ( सयुग्मभि. ) अपने सहयोगी किरणों द्वारा ( सुर न ) जिस प्रकार प्रेरक सूर्य या राजा ( द्वेषासि तरति ) अपने शत्रुओं को पार कर लेता या पराजित कर देता है उसी प्रकार ( अरूप ) काम्तिमान् तजस्वी ( हरि. ) हरणशील या ईश्वर के प्रति गमन करने द्वारा योगी ( अया ) इस तरह ( हरिण्या ) दुःखों को मिटाने और ज्ञान को प्राप्त करने वाली ( रुचा ) विशय दीप्ति से ( पुनान ) प्रकाशमान होकर ( सयुग्मभि ) अपने योगबल द्वारा वशीकृत अष्टागों या इन्द्रियों और मन के द्वारा ( विधा ) समस्त ( द्वेषासि ) द्वेष करने द्वारे प्राणियों और पाप के शत्रुरूप अन्तर्विज्ञ काम, क्रोध आदि रिपुओं को ( तरति ) पार कर जाता है, उन पर वश कर लेता है ।

( २ ) ( यद् ) जब जीव और परमात्मा ( समस्तु ) एकत्र ध्यानन्व प्राप्त करके समाधि के अवसरों पर ( अनपच्युता ) अविचलित राजा और मन्त्री के समान ( अनपच्युता ) काम क्रोधादि शत्रुओं से कभी विचलित नहीं होते हैं तब ( चकितम् ) ज्ञानवान् योगी ( शर्चा ) प्रकृष्ट, उत्तमरूप से उपासना करने योग्य, सुप्राप्य, ( प्रदिश ) उत्तमरूप से जानने योग्य दिशा-सार्ग के प्रकाश को ( याति ) प्राप्त कर लेता है और ( दर्शत ) दर्शनीय ( रथ. ) सूर्य के समान योगी का वह ( दर्शत ) दर्शनीय ( रथ ) रमण करने हारा आत्मा ( ररिमभि ) ईश्वरप्रदत्त ज्ञानरिमियों से और भी ( पतत ) आगे की ओर मुक्तिमार्ग पर बढ़ता है । तब ही ( जैत्राय ) अपनी इस मुक्तिमार्ग की विजय के लिये ( इन्द्र ) आत्मा को ( इष्यन् ) धन्यवाद और साधुवाद देता हुआ, उसे और अधिक इर्षित और प्रबल करता हुआ ( पौस्या ) बलशाली या बलप्रद ( उक्थानि ) स्तुतियों का ( अमन् ) उच्चारण करता है और सब विघ्नों के नाशक ( वज्र थ ) अपवर्ग रूप वज्र को भी प्राप्त करता है ।

( ३ ) हे सोम ! योगिन् ! ( एवं ) तू ( पथीना ) व्यवहार में गति करने हारे या स्तुति करने हारे विद्वानों क ( त्यत् ) उस ( वसु ) जीवन या वास कराने वाला आत्मधन को ( विद् ) जानता है और उसका ( अतस्य ) सत्य ज्ञान के ( धीतिमि ) धारण करने वाली ( मातृभि ) प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव के साधक अतभरा प्रज्ञाओं द्वारा ( दमे ) इन्द्रियों और मन को दमन करन वाला ( स्वे ) अपने ( दम ) आधयरूप आत्मा में ( समर्जयसि ) खानता या परिशोध लेता है, और भी परिष्कृत करता है । ( तत् ) वह परम आश्रयरूप आत्मा ( परावत ) दूर दूर से सुनाई देने हारे ( साम न ) गान के समान मनोहर है । ( यत्र ) जिनमें ( धीतय ) ध्यान करने हारे यागी आधय लेकर ( रणन्ति ) रमण करत हैं । वह आत्मज्ञानी यागी ( त्रिधानुभि ) तीन प्रकार की धारणा करन वाली इन्द्रियों से सम्पन्न ( अरुपाभि ) कान्तियों या दासियों या किरणों से हो ( वय. ) जीवन और

प्राण को ( दधे ) धारण करता है और फिर ( रोचमान ) सूर्य के समान प्रकाशमान होकर ( वय दधे ) चिरस्थायी जीवन और बल को धारण कर लेता है ।

त्रिधातु=मन, वाक्, काय । अथवा शरीर के धारक धातु, वायु, अग्नि और जल के सारभूत, वात, पित्त और कफ ।

इति द्वितीयं सूत्रम् ।



३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[१५६३] उत नो गोपयिषि प्रियमश्वसा वाजसामुन ।

३ १ २ ३ १ २

नृवत्कृणुह्युतये ॥ ११ ॥ अ० ६ । २३ । १० ॥

भा०—( १ ) हे परमात्मान् ! आप ( न ) हमें ( गोपयिषि ) ज्ञानेन्द्रियों के प्रेरक, ( अश्वसां ) प्राणन्द्रियों के प्रेरक ( वाजसा ) ज्ञान और ऐश्वर्य के देने हारी ( उत ) और ( नृवत् ) नेतास्वरूप आत्मा को अपनाने हारे ( धियम् ) धारणावती बुद्धि और क्रिया शक्ति को ( उतये ) रक्षा क बिधे ( कृणुहि ) प्रदान करो ।

३ १ २ ३ १ २

[१५६४] शशमानस्य वा नर स्वेदस्य सत्यशवस ।

३ १ २ ३ १ २

विदा कामस्य वेनत ॥ १२ ॥ अ० १ । ८६ । ८ ॥

भा०—( १ ) हे ( सत्यशवस ) विद्यमान रह कर सबके प्रेरक सत्यबल से सम्पन्न ( नर ) शरीर और इन्द्रियों को वदन करन हारे नेतास्वरूप विद्वानो ! और प्राणो ! ( शशमानस्य ) शमादि गुणों का अभ्यास करने वाल ( स्वेदस्य ) प्राणायाम क अवसर पर समस्त वायु में स्वद धारण करने वाल, उद्योगी ( वेनत ) विद्वान् यागी क ( कामस्य ) मन सकल्प का प्राप्त कराया ।



[१५६५] उप नः स्तुतवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।

सुमृडीका भवन्तु नः ॥ १३ ॥ अ० ६ । ५२ । ६ ॥

भा०—( १ ) ( ये ) जो ( नः ) हमारे ( स्तुतवः ) ज्ञान के उपदेश करने हों विद्वान् या पुत्र हैं वे ( अमृतस्य ) मरणरहित, अजन्मा परमेश्वर के विषय में ( गिरः ) वाणियों को ( उप शृण्वन्तु ) प्रेम से श्रवण करें, करावें और ( नः ) हमारे लिये ( सुमृडीकाः ) उत्तम रूप से सुसूक्ष्मी आनन्दप्रद हों । अथवा—वे विद्वान् गण्य ( नः गिरः, उपशृण्वन्तु ) हमें अपनी शुभ वेदोपदेशमय वाणियों श्रवण करावें ।

[१५६६] प्र वाम्महि दधी अभ्युपस्तुतिम्भरामहे ।

शुची उपप्रशस्तये ॥ १ ॥

[१५६७] पुनाने तन्वामिथः स्वेन दक्षेण राजथः ।

उह्याथे सनाहतम् ॥२॥

[१५६८] मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती ज्ञानम् ।

परि यज्ञधिपेदथुः ॥३॥१४॥ अ० ४१ । ५६ । ५-७ ॥

भा०—( १ ) हे ( दधी ) प्रकाशमान् मूर्ख और पृथिवी के समान प्रण और अपान ( यां ) आप दोनों को ( अभि ) साक्षात् करके आपके ( महि ) बड़ी ( उपस्तुति ) गुणवर्धन ( प्रभरामहे ) करते हैं । आप दोनों ( उपप्रशस्तये ) उत्तम कीर्ति के कारण ( शुची ) शुद्ध स्वरूप हैं । अथवा यौ और पृथिवी के समान हे गुरु और शिष्य या परमात्मन् और मुकजीव ! आप दोनों ( महि दधी उपप्रशस्तये शुची ) स्तुति करने के लिये आप प्रकाशमान् और शुद्धरूप हो, आपका ( अभि ) साक्षात् कर हम ( स्तुति उप प्र भरामहे ) आपके गुणों का सर्वप्र वर्धन करते हैं ।

( २ ) हे जीव और परमात्मन् ! वा शिष्य और गुरो ! (स्वेन) अपने ( तन्वा ) शरीर अर्थात् स्वरूप और ( दृष्य ) ज्ञान बल, और कर्म सामर्थ्य से ( मिथ ) परस्पर ( पुनाने ) एक दूसरे को पवित्र करते हुए ( शशध ) प्रकथित होते हो और ( सनाद् ) सदा काल से ( श्रुत ) सत्य ज्ञान को ( उद्गाथे ) धारण करते हो ।

( ३ ) सूर्य और पृथिवी जिस प्रकार परस्पर एक दूसरे को जल और प्रकाशक का वितरण करते हैं और परस्पर पूर्य करते हैं उसी प्रकार हे गुरु और शिष्य ! आप दोनों ( मही ) बड़ी महिमा वाल ( धत ) सत्यज्ञान को ( तरन्ती ) वितरण करते हुए और सत्य धर्म को ( पिप्रती ) पूर्णरूप से पाखन करते हुए ( मिप्रस्य ) मिश्रस्वरूप परमात्मा की ( साधय. ) साधना करते हो और ( यज्ञ ) यज्ञ, परस्पर विद्या स्वाध्यायरूप यज्ञ के लिये ( परिनिषेदथु ) यज्ञ कार्यों से निवृत्त होकर एकान्त में बैठते हो ।

३ १ २ ३ १ २      ३ १ २      ३ २  
[१५६६] अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।

१ २ १ २

वचस्ताश्च भ्र ओहसे ॥१॥

३ १ २      ३ १ २      ३ १ २

[१६००] स्तोत्र राधाना पने निर्वाहा वीर यस्य ते ।

१ २      ३ १ २

विभूतिरस्तु सनुना ॥२॥

३ १ २      ३ २ ३ १ २      २ २

[१६०१] ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयस्मिन्-वोज शतक्रतो ।

२ ३ १ २

समन्थेषु प्रवायहे ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० १ । ३० । ५-६ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अथिकल स० [१८३] पृ० ।

( २ ) हे ( राधाना पते ) समस्त आराधनाओं और ज्ञानों के एकमात्र स्वामिन् ! और समस्त विभूतियों क स्वामिन् ! हे ( वीर ) सर्वशक्तिमन् ! हे ( निर्वाह. ) वाणियों द्वारा उपदेश करने वाले प्रभो गुरो ! ( यस्य ) जिसके

( स्तोत्रं ) समस्त सत्य उपदेश हैं उस ( ते ) तेरी ही ( सूनुता ) वेदवाय्यो ( विभूतिः ) विशेष सत्ता का प्रमाण या सम्पत्ति ( अस्तु ) हा ।

( ३ ) हे ( शतक्रानो ) शत प्रज्ञानों से युक्त या सैकड़ों कर्म करने वाले ( इन्द्र ) आचार्य<sup>१</sup> ( अस्मिन् ) इस ( वाजे ) यज्ञ में ( न ) हमारी ( उतये ) रक्षा के लिये आप ( ऊर्ध्वं ) हमारे ऊपर सदा ( तिष्ठ ) विराजमान रहें ( अन्येषु ) हम अन्य अवसरों पर भी ( स प्रचावैह ) परस्पर सत्संग कर ज्ञान लिया और दिया करें ।

यहा इन्द्र अर्थात् आत्मा का गुरु परमात्मा है । “कस्य ब्रह्मचार्यसि; भयतः”, “इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि” इत्यादि विधानों से इन्द्र ही गुरुस्थानीय है ।

२ ३ १ २    ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१६०२] गाथ उपवदाऽटे महीं यक्षस्य रप्सुदा ।

३ १ २    २ ३ १ २

उभा कर्णा द्विरण्यया ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६०३] अभ्यारमिदद्रयो निपिङ्गु पुष्करे मधु ।

३ १ २ ३ १ २

अवटस्य विसर्जने ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६०४] सिञ्चन्ति नमसावटमुष्वाचक्र परिजमानम् ।

३ १ २ ३ १ २

नीचीनवारमाक्षितम् ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ८ । ७२ । १२, ११, १० ॥

मा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० स० [११७] पृ० ६३ ।

( २ ) ( अद्रय<sup>१</sup> ) आदर करने योग्य विद्वान् पुरुष ( अवटस्य ) रक्षण करने वाले देहबधन के ( विसर्जने ) परिव्राग के अवसर पर ( पुष्करे<sup>२</sup> ) उस

१६०१—(२) “अवनस्य विमर्जने”, (३) “अवतद्रुवा चक्र” इति, अ० ।

१ अद्रय आद्रियमाणः इति सायणः । २. पुष्करे प्रवृत्ते इति सायणः ।

को पुष्ट करने हारे, उसमें बल के प्रदाता स्वतः आत्मा में ( निषिक्तं ) पूर्ण-  
रूप से विद्यमान या बरसते हुए ( मधु ) ज्ञानानन्द अमृत को ( अभि भारम्  
हत् ) साक्षात् किया करते हैं ।

( ३ ) हे विद्वान् आत्मज्ञानी गय्य ! ( नीचीनवारं ) निबंज इन्द्रिय  
आदि नव द्रवों वाले ( अचितं ) अधीण ( परिग्रामं ) परिग्राम या वृद्धता  
को प्राप्त होने वाले, ( उष्वाचक्रं ) उच्च प्राणचक्र वाले ( भवटं ) इस देह को  
( नमसा ) अन्न द्वारा ( सिंचन्ति ) सबल बनाये रहते हैं अर्थात् जब तक  
देह बना रहता है तब तक उसकी अन्न से रक्षा करते हैं ।

इति तृतीयः खण्डः ।

— ० —

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
[१६०५] मा भेम मा भमिष्माप्रस्य सख्ये तव ।  
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
महत्ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृत पश्येम तुर्वशं यदुम् ॥१॥

३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
[१६०६] सव्यामनुस्क्रिय वावसे वृषा न दानो अस्य रोपति ।  
२ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
मध्या सम्पृक्ता. सारधेण धेनवस्तूयमोह द्रवा पिय  
॥ २ ॥ १७ ॥ अ० ८ । ४ । ७, ८ ।

भा०—( १ ) हे परमात्मन ! ( तव सख्ये ) आपके मित्र भाव में  
रहते हुए हम ( मा भेम ) कभी भय न करें । ( मा भमिष्म ) कभी अन्न  
से पीड़ित न हों, कभी न भूँ । ( वृष्णः ) सब सुखों की वर्षा करने हारे  
( ते ) तेरा ( कृतं ) बनाया हुआ यह संसार ( अभिचक्ष्यं ) साक्षात्  
स्मृति योग्य, दर्शनीय एवं ( महत् ) बहुत बड़ा है । हम इसमें ( तुर्वशं )

१६०६—१. तुर्वश—तुर्वा रिंशान् ( म्वादिः ) इत्यतो वाटुलक जशचं  
औगादिक. रिंशित् रिंस्पते वा म्वा-धादिभिरिति तुर्वशः । यथा, तू-

हिंसाशील जन्म जरा मरण और रोगों से परिपीडित या बेसंभवा हाकर भाग करन हार या काम स पीडित, धर्म, अर्थ काम, माद्य आदि पर-  
घश करन हारे इस जीव का ( यदु ) परमभर क नियम में स्थित वा  
यम नियमादि क अभ्यासी हाकर विषयों स उपरत हुमा ( परयम )  
दख लें ।

( २ ) ( वृषा ) वर्षण करने हारा वीर्य का सचक पुरुष ( दान )  
समस्त प्राणियों का जीवन दान करते हुए मध क समान वीर्य दान करता  
हुमा ( सन्वो ) उत्पादनशील भूमि के समान ( सिक्त्या ) कटिप्रदेश में  
स्थित गभधानी में ( अनुवायस ) जीव क रूप में स्वय वास करता है । आमा  
वै जापत पुत्र । वह ( अस्थ ) इस गर्भगत जीव के प्रति ( न रापति )  
कभी कोप नहीं करता, वहां ( सारघण ) प्रसरणशील, सारवान् ( मध्वा )  
अमृत जीव ( Sprm ) से ( सम्पृक्षा ) ससक्त हुई ( धनवः ) शुक्र-  
धाराय ( protoplasm ) हैं । हे जीव ! त् ( त्थम् ) शात्र ही ( एहि )  
आ और ( दव ) श प्र आ और ( पिव ) उस पापक रस का पान कर ।

( वृषा सम्य वावस ) जलों का वर्षक इन्द्र वायं कटिभाग में सब  
प्राणियों का डक जता है ( दाना न अरय रापति ) वह दानशील बन  
भान इन्द्र पर रोष नहीं करता ( सारघण मध्वा सम्पृक्षा ) मधुमक्खी के  
शहद क समान रसील वृष आदि स मिलित ( धनव ) धनु=इमारे पान  
करन याग्य साम है । ( त्थम् एहि दव पिव ) हे इन्द्र तुम शीघ्र २ आश्र  
पान करो । मद् अर्थ साधयकृत है ।

एवम हिंसनयो ( दिवादि ) शयत् तूणमनुते इति वृषादरादिवात्  
वपःहवकारश्चोपजन, तुवश असन्तुष्ट । वडा तुवश कामो वस्य स ।  
गदा वश कान्ता ( दिवादि । शयत् अप । चतुषु धर्मा पु वशोऽन्वेति,  
चकारलापेन तुवश ।

यहा वस्तुतः गर्भ में बीज के आने, जमने, जीवक प्रवेश और पावन का अर्थ है। यज्ञकाण्ड के अनुसार इन्द्र का उत्तरवदि स्थान में बुझाया जाता है वहा ही साम तय्यार करके रख जाते हैं। और उत्तरवदि योषा और यानि का प्रतिनिधि है। योषा वै उत्तरवदि ( शत० )। हम यज्ञार्थ पर विचार करने से सब रहस्य स्पष्ट होते हैं। पुरुष का वीर्य प्रोटाप्राज्ञम और स्वर्ग अर्थात् जाव का भोग्य पदार्थ और बीज कीट से बना होता है। गर्भ में आदित हाकर वह वहा उसी क आधार पर जाकर गर्भव्यानी या कुत्रक या कमल ( पुसेन्टा ) नामक स्थान जिसको वास्तविक योनि कहना चाहिये, उस पर जमता है और वहा ही पुष्टि को प्राप्त होकर १०वें मास में बाहर आता है, यह जीवन-उत्पत्ति का रहस्य है।

३ १ २                      ३ १ २                      ३ १ २ ३ २  
 [१६०७] इमा उ त्वा पुठवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।  
 ३ १ २ ३ १ २                      ३ २ ३                      १ २                      १ २  
 पावकवर्षाः शुचयो विपश्चितोऽभिस्तोमेरनूपत ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३                      १ २                      ३                      २  
 [१६०८] अय सदस्रमृषिभि सहस्रत समुद्र इय पप्रथे ।  
 ३ १ २                      २ २                      ३ १ २ ३ १ २                      ३ १ २                      ३ १ २  
 सत्य सो अस्य माहमा गृणे शवो यक्षुषु विप्रराज्ये  
 ॥ २ ॥ १८ ॥ श० ८ । ३ । ३, ४ ॥

भा०—( १ ) हे ( पुरुवसा ) समस्त प्रजाओं में वास करने हारे और प्रचुर धन क स्वामी । इन्द्रियों में वास करत और नाना जातों को बसान हारे ( इन्द्र ) आत्मन् । परमात्मन् । ( मम ) मेरी ( इमा ) य ( गिर ) वदवायिया ( त्वा उ ) तुम्हका ( वर्धन्तु ) बढ़ावे, तरी बलवृद्धि करे । तुम्हको ही ( पावकवर्षा ) अग्नि क समान कान्ति वाल, तेजस्वी, अथवा पावन करने हार स्वरूप वाल शुद्ध, उदार, धर्मात्मा ( शुचय ) स्वयं तेजस्वी, शुद्धहृदय, ( विपश्चित ) तपस्वी, ज्ञानवान् विद्वान् गय

( स्तामै ) उत्तम वदमन्त्रों द्वारा ( अभि अनूपत ) साक्षात् ज्ञान करके  
तेरा गुणगान करते हैं । ( भवि० सू० २१० ) १० १२८ ।

( २ ) ( अय ) यह आत्मा और परमात्मा ( सहस्र ) हजारों ( ऋषिभिः )  
मन्त्राद्य द्वा, तत्त्वज्ञानियों और अतीन्द्रिय अर्थ क दर्शन करने हुए परम योगियों  
द्वारा ( सहस्रत ) बल स युक्त ब्रह्मवान्, तब सब दुःख पर विजयी किया  
जाकर ( समुद्र इव ) रसधाराओं, आनन्दतरंगों का ऊपर उमड़ाने वाला  
समुद्र के समान ( पश्य ) विस्तार का प्राप्त हो जाता है अर्थात् आनन्द  
सागर के समान उमड़ पड़ता है । ( अय ) इस आत्मा का ( स ) यह  
( महिमा ) महिमा ( सत्य ) सत्य है और ( विश्राज्ये ) मध्यायी विद्वानों  
के शिष्य, अधिकार शासन, शिष्य में और ( यज्ञेषु ) धर्म कर्मों में ( अस्मि )  
इस आत्मा के ही ( शव ) बलकी ( गृह्य ) महिमा का वन्दन करूँ ।

२ ३ २४ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[१६०६] यस्याथ विश्व आर्यो दास श्रेवधिपा अरि ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २

तिराश्चदर्थ रुपम पवीरात्र तुभ्यत्सा अज्यने राव ॥१॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६१०] तुरग्यवो मधुमत्तद्धृतश्चून विप्रासो अरुमानृषु ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

अस्मे रयि पश्ये तृष्यार शत्राऽस्मै स्वानास इन्द्व

॥ २ ॥ १६ ॥ सू० ८ ५१। ९, १० ॥

भा०—( १ ) ( अय ) जिस परमात्मा का ( अय ) यह ( विश्व )  
समस्त ( आय ) अर्थ ( अरि ) मनुष्य ( शवधिपा ) उसके दिव्य  
धन ज्ञान की रक्षा करने द्वारा ( दास ) श्रेष्ठ के समान है और उस  
यज्ञरूप ( अर्थ ) स्वामी ( रुशम ) सबके नियत ( पञ्चरवि ) पाप

१६११—१ पवि श्लोका भवन्ति । यन्विपुनाति वाय । पदन् पवीरम गुण तद्दान्  
पवीरमान् ( नि० । दे० ग० २१ । ख० ३० )

निवारक राजद्वय क समान परम तपस्वरूप वज्र को धारण करने हारे परमात्मा में ( तिरस्त्रित् ) यह सब विद्यमान है । हे प्रभा ! ( तुभ्य इत् ) स्थूल सृष्टि में तेरे गुणों क दर्शन क लिय ही ( स ) वह ( रयि ) प्राण और देह, पृथिवी आदि सब मूर्त पदार्थ ( भज्यते ) प्रकट होत हैं । तू ही उन का स्वामी सम्बाल, कर्ता धर्ता है ।

( २ ) ( तुरयव ) विप्रकारी, अभ्यासी कार्यकुराल, ( विप्रास ) विद्वान् खोग ( घृतरक्षुनम् ) तज क वन हार ( मधुमन्तम् ) आनन्दप्रद, ज्ञानमय ( अकं ) पूजनीय इन्द्र आत्मा को ( आनृचु ) उपासना करत हैं और प्रार्थना करत हैं कि ( अस्म ) हम में ( रश्मि ) प्राणवज्र और ज्ञान का प्रकाश ( पप्रथ ) बदे और ( अस्म ) हम में ( वृष्यय , वीर्यवान् ) शब ) बज्र बदे और ( स्वानास ) प्रेरणा करन हारे ( इन्दय ) शुक्रों की वृद्धि हा । बज्र वीर्य और शुक्र की कामना स विद्वान् खोग आत्मज्ञान करत हुए मन्त्रचय का पाठन करें ।

१ २            ३ १ २    ३ १ २  
[१६११] गामन्न इन्द्रो अभवत्सुत सुदत्त धनिव ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

शुचिञ्च वखमपि गापु धारय ॥ १ ॥

१ २                            ३ १ २ ३ १ २

[१६१२] स नो हरीणाम्पन इन्द्रो दवप्सरस्तम ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

सपव सख्ये नयो रुच भज ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २            २ ३ १ २ ३ १ २

[१६१३] सनाम त्यमसदा अदेवद्वञ्चिद्विणिणम् ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

साहा इन्दो परि याधो अपद्वयुम् ॥ ३ ॥ २० ॥

अ० ६ । १०५ । ४६ ॥



( २ ) हे ( इन्द्रो ) योगिन् ! हे ( हरीणाम् पते ) इन्द्रियों के पाशक जितेन्द्रिय ! ( देव ) विद्वन् ! ( पसर तम ) सबसे अधिक तेज वा दांसि स युक्त होकर ( सः ) वह आप ( नयं. ) सब मनुष्यों के हितकारक ( सत्ये ) मित्र क लिये ( सग्या ह्य ) मित्र के समान ( न ) हमारे ( रुचे ) यश तेज को बढ़ाने के लिये ( भव ) हो । ( २ ) परमात्मा के पक्ष में—हे परमात्मन् ! समस्त लोका क स्वामिन् ! ( इन्द्रो ) ऐश्वर्यशील ! आप ( पसरस्तम ) सबसे बड़े दीप्तिमान् हो, आप हमें मित्र के समान होकर तेज प्रदान करें ।

( ३ ) हे ( इन्द्रो ) ऐश्वर्यशील राजन् विद्वन्, परमात्मन् ! ( त्व ) आप ( धरमत् ) हमारे प्रति ( सनेमि ) अनादिकाल से चल आये मित्रभाव कृपाभाव को ( आ ) प्रकट करो । आप ( साह्यान् ) सब विघ्नों को पराजय करने होर ( अदेवम् ) देव, परमेश्वर से रहित ( अत्रिण्य ) केवल भोग करने होर विषयलोलुप, ( कंचित् ) किसी भी भोगमय देहबन्धन को ( परिबाधः ) विनाश करो और ( द्वयु ) दा दो, इन्द्र, सुख दु ख, शीत उष्ण, जन्म मरण, इहलोक परलोक आदिके चाहने होर इस अन्त करण को भी ( अप ) दूर करो ।

[१६१४] अञ्जने वृज्जन समञ्जन ऋतु रिहन्ति मध्वाभ्यञ्जते ।  
 निन्धोरुच्छ्राले पतयन्तमुक्षय हिरण्यपावा पशुमप्सु

गुभ्यते ॥ १ ॥

[१६१५] विपश्चिते पवमानाय गायत महीं न धारात्यन्धो अपंति ।  
 अदिर्न जूर्णामतिसर्पति त्वचमत्या न क्रीडन्नसद्रूप

हरिः ॥ २ ॥

[१६१६] अत्रेगा राजाप्यस्तपिप्यते धिमानो अद्वाभुवनप्यपितः ।  
 हरिर्घृतस्नु सुदृशीको अण्यो ज्योतीरथः पवते राय

धोम्य ॥ ३ ॥ २१ ॥

अ० १। ८१। ४३-४५ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविच्छेद सं० [ १६४ ] पृ० २२४ ।

( २ ) हे विद्वान् पुरुषो ! ( विपश्चिते ) ज्ञानशील प्रह्लाङ्गानी, ( पवमानाय ) मुक्ति के मार्ग में गति करने द्वारे आत्मा के ( गायत ) गुण्य वर्णन करो । वह (अन्ध) देह को प्राण-धारण कराने द्वारा सोम आत्मा ( मही ) बड़ी ( धारा न ) जलधारा के समान ( अति अर्पति ) अपने तटों रूप देहबन्धनों को भी तोड़कर पार चला जाता है । ( जूर्याम् ) जीर्ण हुई ( स्वचम् ) स्वचा को ( अहिं न ) जिस प्रकार साप छोड़कर चला जाता है उसी प्रकार जो अपने जीर्ण कलेवर को छोड़कर ( अतिसर्पति ) निकल भागता है और जो ( हरि- ) हरणशील, गतिशील, ( वृषा ) बलवान् आत्मा स्वयं ( मीढन् ) देहों में रमण करता हुआ भी ( अत्य न ) अध के समान ( यसरद् ) एक छोक से दूसरे छोक या दशा में जाग जाता है ।

( ३ ) यह सोमरूप योगी आत्मा, चन्द्र के समान भी वर्णन किया जाता है । वह ( अग्रगा- ) इन्द्रियों का नेता, और ससार-बन्धनों को काटकर सब भोगों को त्याग कर, आगे भेष्ट पद की घोर जाने द्वारा, ( राजा ) प्रकाश मान्, तेजस्वी ( आप्य- ) कर्म और प्रज्ञानों या प्रायों में भेष्ट ( अद्वा ) अपनी घटती और बढ़ती कलाओं द्वारा दिनों के ( विमान ) रचने द्वारे चन्द्र के समान अपनी षाडश कलाओं से अपनी उपोतियों का बनाने द्वारा ( भुवनेषु ) लोकों के समान प्रायों में ( अर्पित ) स्थापित है । जो ( हरि ) गतिशील आत्मा ( घृतरुतु ) अग्नि और तेज से देशीप्यमान होकर या ज्ञान से ज्ञान करक ( सुदृशीक- ) सम्पत् तत्र, परमपद का दर्शन करन द्वारा, ( अर्धेव- ) ज्ञानवान्, ( उपोतीस्थ- ) उपोतिष्मान् स्वरूप होकर ( राय ) परम धन का अधिकारी ( आरयः ) परमपद के योग्य होकर ( पयते ) दिचरण करता है ।

प्रति चतुर्थे. सप्त. ।

इति सप्तमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्थः । सप्तम. प्रपाठकश्च. समाप्तः ॥

इति षोडशोऽध्यायः ॥



## अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अथाष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्घ्यः ॥



॥ १ ॥ ऋषिः—१, ७ ध्रुव-शेष आनीगतिः । २ मधुच्छन्दा वैशामिपः ।  
 ३ शयुर्वाहिस्रत्यः । ४ वसिष्ठ । ५ वामदेवः । ६ रेभद्यु काश्यपी । ७ नृमेधः ।  
 ८, ११ गोभूक्तुव-शक्तिनौ वाण्वायनौ । १० श्रुतवक्षः सुबक्षो वा । १२ विरूपः ।  
 १३ वसः काण्वः । १४ पतत्साम ॥ देवता—१, १, ७, १२ अग्निः ।  
 २, ८-११, १३ इन्द्रः । ४ विष्णु । ५ इन्द्रवायुः । ६ पवमानः सोमः ।  
 १४ पतत्साम ॥ छन्दः—१, २, ७, ९, १०, ११, १३, गायत्री । ३ बृहती ।  
 ४ त्रिष्टुप । ५, ६ अनुष्टुप् । ८ प्रायश्चम् । १२ उष्णिक । १४ पतत्साम ॥  
 स्वरः—१, २, ७, ८, १०, ११, १३, पङ्कजः । ३, ६ मध्यमः, ४ धैवतः ।  
 ५, ६ गान्धारः । ११ ऋषभः । १४ पतत्साम ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २  
 [१६१७] विश्वेभिरग्ने आग्नभिरिमं यज्ञमिदं घञः ।

१ २  
 चनो धाः सङ्क्षो ग्रहो ॥ १ ॥

१ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१६१८] यच्चिद्धि शश्वता तना देवन्देयं यजामहे ।

१ २ ३ २  
 त्व इमूयते हवि ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ ३ १ ३ १ २ २  
 [१६१९] त्रियो नो अस्तु विप्रसिद्धोता मग्द्रे चरेण्यः ।

३ २ ३ १ २ ३ २  
 धियाः स्वग्नयो वयम् ॥ ३ ॥ १ ॥ २६ । १०, ६, ३ ॥

भा०—( १ ) हे (सहस्र. यज्ञो) बल से प्राप्त करने योग्य अग्ने ! प्रभो !  
 ( विश्वेभिः ) समस्त ( अग्निभिः ) ज्ञानवान् मेतामो और विद्वानो सहित

( इद ) इम ( वच ) वाणी हमारी प्रार्थना का और ( इम ) इस ( यज्ञ ) स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ का प्राप्त हाकर हमें ( चन ) परिपक्व या उपदेश योग्य ज्ञान ( धा ) धारण कराया ।

( २ ) ( यन् चित् द्वि ) यद्यपि ( शश्वता ) निय ( तना ) आ मा रूप यज्ञ द्वारा ( दव दव ) वरुण, इन्द्र आदि नानारूप स उपास्यदव का ( यज मह ) हम उपासना करते हैं ता भी वह सब ( हवि ) प्रस्तुत करने योग्य उपासनामय स्तुति वचन और चरु आदि हाम ( त्वे इत् ) तुम्हका हा लक्ष्य का ( ह्यत ) दिया जाता है ।

( ३ ) ( विश्वति ) समस्त प्रजाओं का पालक ( माद ) हर्षकारी ज्ञान दायक ( वरय ) वरण करने योग्य परमात्मा ( न ) हमारा ( त्रिप ) त्रिप ( अस्तु ) हा । ( स्वस्य ) उत्तम अ मज्ञानाभि से युक्त हा कर उसका भा ( वयम् ) हम ( त्रिया ) त्रिप हों ।

१ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २  
[ १६२० ] इ द्र वा विश्वतस्परि हवामह जनभ्य ।

अस्माकमस्तु कगल ॥१॥

१ २ ३ ३ २ २ ३ १ २  
[ १६२१ ] स ना वृषजमुञ्चक सनादावभपावृषि ।

अस्मभ्यमपतिङ्कुत ॥२॥

१ २ २ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ ०  
[ १६२० ] वृषा यूथग वसग वृष्णीरियत्यौत्सता ।

ईशाना अप्रतिङ्कुत ॥३॥२॥ ऋ० १ । ७ । १०, ६ ८ ।

ना० — ( १ ) इ विद्वान् पुरुषा <sup>१</sup> ( व जनभ्य ) आप ज्ञानों क दित त्रिप ( विश्वत ) सबस ( परि ) ऊपर विराजमान ( इदम् ) परमेश्वर इन्द्र की ( हवामह ) उपासना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि यह ( वरय ) अद्वितीय परमेश्वर ( अस्तु ) हमारा सहायक ( अस्तु ) हो ।

( २ ) हे ( सत्रादावन् ) समस्त पदार्थों के एक साथ देने हारे ( वृषन् ) सबसे धैर्य, सुखों के वर्षक ! परमात्मन् ! ( सः ) वह आप ( अस्मभ्यम् ) हमारे लिये ( अप्रतिष्कृतः ) अद्वितीय, अपराजित, शक्तिमान् कभी सम्मलित न होने वाले, कभी भूखचूक न करने हारे होकर ( चरु ) अन्नादि पदार्थों के भोगने हारे अविनाशी देह बन्धन को ( अप वृधि ) दूर करो ।

( ३ ) ( वृषा ) सब कामनाओं को पूर्ण करने हारा ( वंसगः ) सुन्दर गति वाला बैल ( यूथा इव ) जिस प्रकार गौओं के गोखों में चला जाता है उसी प्रकार ( भोजसा ) अपने बल से ( ईशानः ) सर्व शक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् ( अप्रतिष्कृतः ) अद्वितीय परमेश्वर ( कृषीः ) मनुष्यों को ( इ-यति ) प्राप्त होता है ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 [१६२३] त्वं नश्चिन्न ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।  
 ३ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ २  
 अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधन्तु च तुन ॥१॥  
 १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
 [१६२४] पर्वि तांकन्तनयं पर्वभिष्ट्वमद्वैरप्रयुत्वभिः ।  
 २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 अग्ने हेडांसि दैव्या युयांधि नोऽदेवानि हरासि च ॥२॥ २॥  
 अ० ४। ४६। ६, १०॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अचिकल संख्या [४१] पृ० १२ ।  
 ( २ ) हे अग्ने ! परमेश्वर ( त्वं ) तू ( अप्रयुत्वभिः ) सदा साथ रहने वाले ( अद्वैतैः ) अहिंसक, एवं अहिंसित, सुरक्षित ( पर्वभि ) पालकों द्वारा ( तांकं ) पुत्र, बालक और ( तनय ) पौत्र को ( पर्वि ) पालन करता है । नू ( नः ) हमारे ( दैव्या ) आधिदैविक ( हेडांसि ) विपनियों और ज्ञान और सुखों के देने वाले गुरुजनों क प्रति तिरस्कार आदि के कारणों को ( अदेवानि च ) अधिभौतिक और आध्यात्मिक, मानुष,

असाविक तामस ( ह्रासि ) कुटिल सकथें और कुटिल आचरणों का ( युषधि ) दूर कर ।

[१६२५] <sup>१२ २२</sup> <sup>३ २ ३</sup> <sup>२ ३ १४ २२ ३ १</sup> <sup>२ ३ १</sup>  
 किमित्त विष्णा परिच्छि नामप्रयद्वयज्ञे शिपिविष्टो  
<sup>२</sup> <sup>१२</sup> <sup>२२ ३ १४ २२</sup> <sup>३ २३ ३ १ २</sup> <sup>३ १</sup>  
 आस्मि । मा यषो अस्मदपगूह एतद्यदन्यरूप समिधे

यभूध ॥ १ ॥

[१६२६] <sup>१ ३४</sup> <sup>३ १</sup> <sup>२</sup> <sup>३ २ ३ १</sup> <sup>२</sup> <sup>३ १ २</sup>  
 प्रतत्त अद्य शिपिविष्ट हव्यमर्थे शसामि द्युननि  
<sup>३ २</sup> <sup>१ २</sup> <sup>३ २ ३ १ २</sup> <sup>३ १ २ ३ १४</sup>  
 विद्वान् । त त्वा गृणामि तवसमतभ्यान् क्षयन्तगस्य

रजन पराक ॥ २ ॥

[१६२७] <sup>१ २</sup> <sup>३ १४</sup> <sup>२२</sup> <sup>३ १ २</sup>  
 वपत् त विष्णास आकृणामि तन्मे जुपस्य शिपिविष्ट  
<sup>३ २</sup> <sup>१ २</sup> <sup>३ २ ३ १ २</sup> <sup>३ १ २ ३</sup>  
 ह्यम् । घञन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूय पात स्व  
<sup>२ ३ १ २</sup>  
 स्तिभि सदा न ॥३॥४। श० ७ । १०० । ६ २ ७ ॥

भा०—( १ ) इ ( विष्णा ) सबव्यापक । परमात्मन् । ( पट् ) जब आप स्वय आपन का ( शिपिविष्ट ) शर्मियों स आवृत तेषामय पियद्वे में प्रविष्ट ( आस्मि ) हु इस प्रकार अपना शक्ति का ( ववच ) बतला रह हैं तव ( त ) आपका ( इत् नाम ) क्या नाम या स्वरूप ( परिच्छि ) कहा जाय । इ भगवन् । ( तन् ) क्योंकि ( समिध ) समाधि क अवसर पर आप ( अन्यरूप ) दूसर ही रूप में ( यभूध ) प्रकट हात है । आप ( एतत् ,

१६२५—१ किमित्त अथ परिच्छि भूधयद्वयज्ञे, २, प्रतजे अपशिपिविष्टना माद शक्ति श० ।

वह ( वर्षः ) तेजोमय रूप ( अस्मद् ) हम से ( मा अपगृह ) मत छिनाइये ।

( २ ) हे ( शिपिविष्ट ) रश्मियों से आविष्ट, अथवा तेजोमय लोकों में व्यापक परमात्मन् ! मैं ( अर्यः ) अपनी इन्द्रियों का रक्षामी जिते-न्द्रिय होकर ( वयुनानि ) तेरे समस्त सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि महान् कार्यों को ( जानन् ) जानता हुआ ( तत् ) वह अति प्राचीन ( ह्यम् ) पुकारने, नित्य ग्रहण्य और शरय्य करने योग्य नाम ( शंसामि ) कहता हूँ और ( अस्य ) इस ( रजसः ) प्राकृत लोकों के भी ( पराके ) दूर, परे मोक्ष में भी ( वयन्तं ) निवास करने इतरे ( तवसं ) महान् ( तत्त्वा ) उस सनातन तेरी में ( अतव्यान् ) गुच्छ व्यक्ति ( गृणामि ) स्तुति करता हूँ ।

( ३ ) हे विष्णो ! सर्वव्यापक ! ( ते ) आपको मैं ( आसः ) अपने मुख से ( वषट् ) सर्व कामनाओं का पूरक ( आकृत्योभि ) साक्षात् स्वीकार करता हूँ । हे ( शिपिविष्ट ) तेजोमय ! ( मे ) मेरा ( तत् ) यह ( इव्यम् ) ग्रहण्य योग्य हुआ स्तुति ध्यान ( जुषस्व ) स्वीकार कर ( मे ) मेरी ( सुस्तुतमाः ) उत्तम स्तुतिरूप ( गिर. ) वेदवाणियों ( त्वा ) तुम्हको ( वर्धन्तु ) बढ़ावें, अर्थात् तेरी महिमा को बढ़ावें । हे विद्वान् पुरयो ! ( यूयं ) आप लोग ( नः ) हम लोगों की ( सदा ) नित्य ( स्वस्तिभिः ) कल्याणकारी साधनों से ( पात ) रक्षा करो ।

इति प्रथमः खण्डः ।

—:0:—

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१६२८] वागे शुक्रो अयामि ते मघो अमन्द्रिविष्टिषु ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आयाहि सोमपीतेय स्वाहो देव नियुत्वता ॥१॥

[१६२६] इन्द्रश्च वायवेपां सोमानाम्पीतिमर्हथ ।  
 ३ १ २                      ३ १ २

युवां हि यन्नीन्दवो निम्नमाणो न सध्यूक् ॥२॥  
 ३ १ २                      ३ १ २ ३ १ २

[१६३०] वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती ।

नियुत्वन्ता न ऊतय आयात सोमगोनये ॥३॥१॥  
 ३ १ २                      ३ २ ३ १ २ ३ १ २

ऋ० ४ । ४७ । १-३ ॥

भा०—( १ ) हे वायो ! प्राणात्मन् ! ( दिविष्टिषु ) दिव्य तेज की साधना के अथर्वों में मैं ( शुक्र ) दीर्घवान् तेजस्वी होकर ( ते ) तेरे लिये ( अग्रम् ) सबसे पूर्व ( मध्व. ) अमृत ब्रह्मानन्दरस को ( अयामि ) प्राप्त करता हूँ । हे आत्मन् ! देव ! ( स्वाहं. ) अति स्पृहा का प्राप्त ( नियुत्वता ) नियुत्=प्राण और मनस्वरूप अथ अर्थात् बलवान् साधन से ( सोमपीतये ) सोमरस पान करने के लिये ( आयाहि ) प्राप्त हो ।

( २ ) हे वायो ! प्राण और ( इन्द्र. च ) इन्द्र ! आत्मन् ! आप दोनों ही ( सोमाना ) ज्ञानों या ब्रह्मानन्द रसों का ( पात ) पान करने के ( अर्हथ. ) योग्य हैं । ( इन्द्रवः ) समस्त सोम और ब्रह्मरस का आनन्द लेने हारे योगी लोग भी ( युवा ) आप दोनों के प्रति ( सध्यूक् ) एक साथ ( निम्न ) नीचे ढालू स्थान पर ( अग्र. न ) जलों के समान ( यन्ति ) चले जाते हैं ।

( ३ ) हे ( वायो ) ज्ञानवन् ! ( इन्द्रः च ) और ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! जीव ! ( शवसस्पती ) आप दोनों यज्ञ के परिपालक हैं, आप ( नियुत्वता ) मनरूप अथ से युक्त ( शुष्मिणा ) बलशाली होकर ( सोमपीतये ) आत्मज्ञान रूप सोम के पान करने और ( नः ) हमारी ( ऊतये ) रक्षा करने के लिये ( आयातम् ) आइये, हमें प्राप्त हों ।

इन्द्रियों का आत्मा और प्राण के प्रति प्रजाओं का राजा या नरपति के प्रति और योगियों का भी आत्मा और प्राण के प्रति समानरूप से वचन है ।



- १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००
- [१६२१] अथ क्षया परिष्कृतो वाजो अभिप्रगाहसे ।  
यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्यन्ति यातवे ॥१॥
- [१६३२] तमस्य मर्जयामसि मदो य इन्द्रपातमः ।  
य गाव आसभिर्धुः पुग नूनञ्च सुरयः ।
- [१६३३] सङ्गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूपत ।  
उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम विभ्रतीः ॥३॥६॥

अ० ६। ६३। २-४ ॥

भा०—( १ ) ( यदि ) जब ( विवस्वतः ) सूर्य के समान प्रेरक आदित्ययोगी की ( धियः ) अपनी चित्तशक्तियों अपनी ध्यान और धारणा शक्तियों को ( हरिं ) प्राण, या मन, या दुःखहारी प्रभु को ( यातवे ) आत्मा के समीप प्राप्त होने के लिये ( हिन्यन्ति ) प्रेरित करता है ( अथ ) तब ही सोमरूप आत्मन् ! ( क्षया ) अन्धकार, अज्ञानों का नाश करने वाली शक्ति से ( परिष्कृतः ) सुभूषित होकर ( वाजान् ) नाना बलों और बल से साध्य कार्यों या ज्ञानों को ( अभि ) साक्षात् स्वयं तू ( प्र गाहसे ) पार कर जाता है ।

( २ ) ( अथ ) इस सोमरूप प्राण या आत्मा के ( त ) उस रसरूप को घोषधरास के समान ( मर्जयामसि ) परिष्कृत करते हैं ( यः ) जो ( मदः ) आनन्दस्वरूप होकर ( इन्द्रपातमः ) आत्मा द्वारा उचलती से आस्वादन किया जाता है । ( यं ) जिसको ( गावः ) ज्ञान इन्द्रियगण और ( सुरयः ) प्राणेंद्रिय ( पुरा ) पूर्वकाल में और ( नून च ) अब भी ( आसभिः ) देह में अपने निपत स्थानों या मुखद्वारों से ( धुः ) धारण

१६३३—१. 'वाजो मभिप्रगाहते' इति घ० ।

१. धया धरपित्री सेना, इति साधन ।

करते हैं। अथवा जिसको ( गाथ सूर्य ) वेदज्ञ विद्वान् पूर्वकालों में  
श्रीर अथ भी, अपने ( आसभि ) मुखों द्वारा वाणियों और स्तुतियों द्वारा  
( दधु ) धारण करते हैं।

( ३ ) ( त ) उस ( पुनान ) पवित्र करने वाले और स्वतः पवित्र  
साम को ( पुरायथा ) पुरातन ( गाथया ) गानरूप इन्द्रामेय वेदवाणी  
से ( अभि अनूपत ) स्तुति करते हैं ( उत उ ) और ( दधाना ) देवों, सूर्य,  
वायु, अग्नि आदि दिव्य पदार्थों का ( नाम ) नाम या स्वरूप ( विभ्रती )  
धारण करती हुई ( धीतय ) वेदवाणियों भी उसको ही ( रूपन्त ) समर्थन  
करती हैं, उसका ही गुणगान करती हैं।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[१६३४] अश्वन्न त्वा वारचन्तं वन्दध्या अशिशमोभिः ।

३ १ २ ३ १ २

सम्राजन्तमध्वगाणाम् ॥१॥

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६३५] स धान सनु शवसा पृथुप्रगासा सुशेव ।

३ १ ३ १ २

मीद्वान् अस्माक वभूयात् ॥२॥

१ १ २ १ ३ १ ३ १ २ १ २

[१६३६] स नो दूराद्यासाश्च नि मन्यदिघायो ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २

पाहि सदमिद्रियायु ॥३॥७॥ ऋ० १ । २७ । १-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविष्कृत स० [ १७ ] पृ० ६ ।

( २ ( स ध ) वह ही परमेश्वर ! ( पृथुप्रगासा ) विशाल मद्भाग्य में  
व्यापक ( शवसा सनु ) समस्त सत्त्व को अपने बलसे प्रेरण करने द्वारा  
( न ) हमें ( सुशेव ) उत्तम रूप से भजन करने योग्य है वहा ( अस्मा-  
क ) हमारे ( मीद्वान् ) सब सुखों को वर्णन करने वाला, मेघ के समान  
आनन्दकारी ( वभूयात् ) होवे ।

( ३ ) ( स० ) वह आप जगदीश्वर ( विद्यायु० ) समस्त प्राणियों को  
पूयं आयु देने हारा ( दूरात् ) दूर, वर्तमान और ( आसात् च ) समीप में  
वर्तमान ( अधापोः ) पोपी ( मर्त्यात् ) मनुष्य से ( नः ) हमारे ( सद्म् )  
देह और गृह को और प्रतिष्ठा को ( इत् ) भी ( नि पाहि ) नित्य रक्षा करे।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१६३७] स्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा अस्ति स्पृधः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

अशस्तिहा जनिता वृषत्रसि त्वन्तूर्य तरुप्यत ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २

[१६३८] अनु ते शुष्मन्तुरयन्तमीयतु- शोण्यी शिशुं न मातरा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

विश्वास्ते स्पृधः अथयन्त मन्यवे वृषं यदिन्द्र तूर्ति

। २ ॥ ८ ॥ अ० । ८ । ६६ । ६, ६ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० स० [३११] पृ० १२६ ।

( २ ) ( मुरयन्त शिशुम् ) गमन करते हुए बाळक के प्रति ( मातरा  
न ) जिस प्रकार मा बाप जाते हैं वसी प्रकार ( मुरयन्ते ) गति प्रदान  
करते हुए तेरे या स्वतः देह से देहान्तर में गति करते हुए तेरे ( शुष्म )  
बाल के साथ ( शोण्यी ) धीं और पृथिवी, प्राण और अपान ( ईयतुः )  
गमन करते हैं । हे इन्द्र ! आरामन् ! ( यत् ) जब ( वृषं ) विप्लवकारी अज्ञान  
तम का तू ( तूर्ति ) नाश करता है तब ( मन्यवे ) मन्युस्वरूप या ज्ञान  
स्वरूप, मननशील ( ते ) तेरे आते ( विश्वाः ) समस्त ( स्पृधः ) स्पर्धा  
करने वाले काम और क्रोध आदि अन्तःशत्रुओं की सब चेष्टाएं ( अथयन्त )  
शिथिल हो जाती हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

[१६३९] यद्य इन्द्रमवर्ज्यद्यदभूमि अथर्भयत् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अक्राय आपशान्वि ॥ १ ॥

उ १ २      उ २ ३ १ २      उ २  
[१६४०] व्यान्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।

२ ३ १ २ ३ २  
इन्द्रो यदभिनद्वलम् ॥ २ ॥

१ २      २ ३ १ २      उ २ ३ १ २      २ ३ २  
[१६४१] उदुगा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कुरवन् गुहा सती ।

उ १ २      उ २  
अत्रान्वजुदे बलम् ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ८ २४ । १, ७, ८ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या द्रवो अवि० स० [१२१] पृ० ६१ ।

( २ ) ( यद् ) जब ( इन्द्र ) आत्मा ( बलम् ) घेर खेन याखे काम प्रोधादि तामस आधरण को ( अभिनत् ) ताद् ढाकता है तब ( सामस्य ) ज्ञान और शुक्र के ( मदे ) आनन्द एवं में ( रोचना ) प्रकाशमान ( अन्तरिक्षम् ) भातर विशाजमान चित्त का भी ( अतिरत् ) अधिक शक्तिशाली बनाता है ।

भौतिक पद में इन्द्र सूर्य है ' बल मेघ है अन्तरिक्ष घी, और पृथिवी के मध्य का वह भाग जहाँ मघ विघरता है । साम वायु का वग है । जिस प्रकार वायु क बल से सूर्य मेघ का छिन्न भिन्न करता और अन्तरिक्ष को स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार यागी का आत्मा प्राण के बल से अज्ञान आवरण को हटाकर अन्त करण को स्वच्छ कर देता है । इस प्रकार की उपमा का आधार लेकर रिद्धवचना द्वारा दोनों तब दशाये हैं ।

( ३ ) इन्द्र आत्मा ने ( अभिरोभ्य ) अग अर्थात् देह में रस अर्थात् सार प्राणहर म वर्तमान इन्द्रियों क लिय ( गुहा ) अन्त करण रूप गुहा में ( सतीः ) वर्तमान ( गा ) गमनशील, ज्ञानप्राप्त शक्तियों को ( आविष्कुरवन् ) प्रकाशित करता हुआ ( उद् आत् ) ऊपर का मोति

करता है और ( वलम् ) बलवान् तामस आवरण को ( अवांच्च ) नीचे ( नुनुदे ) पटक देता है, अर्थात् विनाश करता है ।

अथवा—( इन्द्र ) परमेश्वर ( गुहा सती गा आविष्कृत्यन् ) निगूळ स्थान अन्धकरूप में वर्तमान वेदवाणियों का प्रकट करता हुआ ( अगिराभ्य-उदाजत् ) विद्वानों, ज्ञानी ऋषियों को प्राप्त कराता है और ( वलम् अवांच्च नुनुदे ) पार्श्विक तामस स्वभाव को उस ज्ञान क नीचे कर देता है ।

१ २            ३ २ ३ १ २            ३ १ २  
[१६४२] स्वमु व सधा साइ प्रियासु भीर्वायतम् ।

१            २            ३ १ २  
आ च्यावयस्यूनये ॥ १ ॥

३ १ २            १ २ ३ १ २            ३ १ २ २ २  
[१६४३] युध्म सन्तमनर्वाण सोमपामनपच्युतम् ।

१ २            ३ १ २  
नरमवार्यकतुम् ॥ २ ॥

० २            ३ १ २            ३ २ ३ १ २  
[१६४४] शिचा ण इन्द्र राय आ पुरु विद्रा ऋर्चीपम ।

१ २ ३ २ ३ १ २  
अधा न पार्ये धन ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ८ ६२ । ७ ६ ॥

भा०—( १ ) हे विद्वन् ( युध्म ) काम, क्रोध, लोभ, माद, मद, मात्सर्य आदि भीतरी शत्रुओं का मार भगाने हारे ( सन्त ) सत्स्वरूप, सदा विद्यमान ( अनर्वाण ) कूटाथ, अन्ध की अपेक्षा करक न चलने हारे, ध्रुवस्वरूप ( सामपाम् ) ज्ञान आनन्दरस का पान करने हारे ( अन पच्युतम् ) अपने शुद्ध पद स न गिरने हार ( नर ) नतरूप, ( अवर्त्य कतुम् ) अनिवार्य, नित्य, अविनाशी कर्म=उत्पत्ति स्थिति और प्रलय क करने हारे, अथवा अविनाशी ज्ञानवाज इस इन्द्ररूप परमेश्वर को अपनी रक्षा क निमित्त स्मरण कर ।

( २ ) हे ( ऋर्चीपम ) स्तुतियों द्वारा प्राप्त करने योग्य इन्द्र परमेश्वर ! आप ( विद्वान् ) सर्वज्ञ हैं । आप ( न ) हमें ( राय. ) धन नाना

प्रकार के दान ( पुरु ) बहुत बार, एवं बहुत से प्रकारों से ( आशिष ) दान दो । और ( पार्ये ) परम उत्कृष्ट ( धन ) धन, मास के प्राप्त करन में ( न ) हों ( भय ) रक्षाकर ।

सायण न 'पाय धन' इसका अर्थ किया है—“पारा शत्रय तत्र भवे धन” अर्थात् शत्रुओं का धन लूटन क अवसर पर ईश्वर हमारी रक्षा करे । इन् अर्थात्-राजाक पक्षमें यह अर्थ सगत है । ईश्वर पक्षमें मास को 'पर पार' कहा जाता है । उस में प्राप्त करन योग्य धन मोक्षानन्द है । उस को प्राप्त करन में जाने वाल विघ्नों के बीच रक्षा करने की ईश्वर स प्रार्थना है । वही अर्थ आचार्य और गुरु के पक्ष में भी सगत है ।

<sup>२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २</sup>  
[१६४५] तव त्वदिन्द्रिय बृहत्तम दक्षमुत क्रतुम् ।

<sup>१ २ ३ २ ३ १ २</sup>  
तत्र शिशाति धिपया वरय्यम् ॥ १ ॥

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २</sup>  
[१६४६] तव द्यौरिन्द्र पौर्य पृथिवी वद्धति धव ।

<sup>१ २ ३ १ २</sup>  
तमामप पर्वतासश्च दिग्भिर ॥ २ ॥

<sup>१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
[१६४७] त्वा विष्णुबृहन् क्षयो मित्रा गृणात वरुण ।

<sup>१ २ ३ २ ३ १ २</sup>  
त्वा शश्वो मदत्यनु मारुतम् ॥३॥११॥श्व०१।१।७,८,६ ॥

भा०—( १ ) हे इन्द्र ! ( तव ) तेरे ( पत् ) वह ( वरेय्य ) वरण करेन याग्य ( इन्द्रिय ) पृथ्वीमय स्वरूप को ( बृहत् ) बड़ भारी ( तव दक्षम् ) तेरे बल सामर्थ्य, अनन्त शक्ति का और ( क्रतुम् ) उस महान् कर्म= ब्रह्माण्ड संचालन का भार वरय्य करव याग्य ज्ञानरूप ( वज्र ) दहबन्धन काटने द्वार मौससाधन को हमारी ( धिपया ) बुद्धि और चाखी ( शिशाति ) साक्षात् करती है, उसकी महिमा को दिखजाती है ।

( २ ) हे इन्द्र ! ( तव ) तेरे ( पौर्य ) बल, पौर्य को ( द्यौ ) वह द्यौकाक जिसम समस्त सूर्य, मघन्न आदि तैजस पिण्ड भ्रमय करते

हैं ( वर्द्धति ) विशाल रूप में प्रकट करता है । और ( तव ध्वज ) तारी कीर्ति का ( पृथिवी ) यह पृथिवी ( वर्द्धति ) बड़ा रही है । ( आप ) ये जल, नदियें और ( पर्वताश्च ) पहाड़ ( त्वा ) तारी ही ( हि-वरे ) स्तुति गान कर रहे हैं ।

( ३ ) हे परमेश्वर ( बृहन् ) बड़ा भारी ( ध्वज ) निवास स्थान ( विष्णु ) सर्वव्यापक आकाश या पृथिवी ( मित्र ) सनहवान् जल ( वरुण ) वरुण करन याग्य आदि ये सब दिव्य पदार्थ ( त्वां गृणाति ) तेरी स्तुति करते हैं । ( मार्तं ) दायु का ( शर्धं ) बल, वेग ( त्वा ) तेरे ही ( अनुमदति ) अनुकूल रहकर हर्ष को प्राप्त होता है, नाना प्रकार स नृत्य करता है ।

इति वृत्ताय खण्ड ।

१ २      ३ १ २      ३ १ २      ३ १ २  
[१६४८] नमस्ते अग्ने ओजसे गृणन्ति देव कृण्व ॥

१ २ ३ १ २

अमैरामित्रमर्हस्य ॥ १ ॥

३ २ ४      ३ १ २ ३ १ २      ३ १ २      ३ २

[१६४९] कुवित्सु नो गविष्टयऽन्न सवेपिपो रविन् ॥

१ २ ३ १ २

उरुठुदुरु कृष्टधि ॥ २ ॥

१ २      ३ १ २ २ २      ३ १ ३

[१६५०] मा नो अग्ने महाधे गरावर्गारभृताया ।

३ १ ३ २ ३ १ २

सर्वी स रविष्टय ॥ २ ॥ अ० ८। ७५। १० १२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दस्त अविच्छल स० [ ११ ] २० ५ ।

( २ ) हे ( अग्ने ) परमेश्वर ' आप ( न ) हमारे ( गविष्टये ) आत्मा और इन्द्रियों क इष्ट साधन क बिप ( रविन् ) उपयुक्त विषयरूप धन और शत्रुरूप ज्ञानार्थ को ( सवेपिण ) प्रकट करता है । हे ( उरुठु )

महान् कार्यसम्पादक आप ( न ) हमें भी ( उरु हृदि ) महान कीजिये ।

( ३ ) हे भग्न ! ( यथा भारमृत् ) जिस प्रकार बोझ उठाने वाला भपना धोभ पर फेंक दिया करता है उस प्रकार ( महाधेन ) मोघरूप धन की प्राप्ति के अवसर में ( न ) हमें वाभ्यसा जानकर ( मा परा वर्ग ) परे न हट, यत्कि हमें ( सर्वग ) उत्तम मोघरूप ( रथि ) धन को ( सतय ) प्राप्त करा द ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१६५१] समस्य मन्यवे विशो वश्या नमन्त कृष्टय ।

३ १ २ ३ १ २  
समुद्रायेव सिन्धव ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[१६५२] वि चिद् वृषस्य दाधत शिरो विभेद वृष्णिना ।

१ २ ३ १ २  
वज्रेण शतपर्वाणा । २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २  
[१६५३] श्योञ्जस्तदस्य तित्विप उभे यत्समतर्तयत् ।

इन्द्रश्चर्मय रादसी ॥ ३ ॥ १३ ॥ श्च० ८ । ६ । ४ ६, ११

भा०—( १ ) श्यात्पा दत्ता अविकल स० [ १३७ ] पृ० ७५ ।

( २ ) ( दाधत ) समस्त जगत् को कपान द्वारे ( वृषस्य ) भावरक अज्ञान या विज्ञ क शिर ) शिरोभाग मूल जड़ को परमधर भपन ( शत पर्वाणा ) सैकड़ों पारश्रोपाक शत्रियों क वने ( वृष्णिना ) सुष्ठों क वर्क ( वज्रेण ) वज्ररूप ज्ञान स ( विभेद ) तोड़ डालता है ।

( ३ ) ( तर् ) उन समय ( अल ) इस परम आत्मा का ( श्योञ्ज ) सामर्थ्य और तज ( तित्विप ) प्रकाशित होता है ( यत् ) जब ( इन्द्र ) परमधर ( उभे रादसी ) घौ और पृथिवी दोनों को ( चर्म इव ) गानों धमके से दोड़ के समान ( समवर्तयत् ) मड़कर तैपार कर दता है । अर्थात् सृष्टि के प्रकट होने पर ही ईश्वर की विभूति का



पता चलाता है । अथवा ( अस्य तत् आन ति विप ) इश्वर का यह तज ही चमकता है । ( यत् इ-द चम इव उभ रादसी समवतयत् ) जिसको वह दोनों आकाश और पृथिवी पर चाम क समान मड़े हुए हैं । अर्थात् उसी का सर्वत्र तज है ।

उ २ उ २ उ २ उ २ उ २  
[१६५४] सुमन्मा चस्वी रन्ती सूनरी ॥ १ ॥ (यु०)

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २  
[१६५५] सरूप वृषद्भागदीमौ भद्रौ पुर्यावभि ।  
२ ३ ४ ५

तानिमा उपसर्पत ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
[१६५६] नीव शीर्षाणि मृद्न मध्य आपस्य तिष्ठति ।

१ २ ३ १ २ ३ २  
श्रेष्ठोर्भेदशभिर्दृश्यन् ॥ ३ ॥ १४ ॥ तिम्रोऽपि श्वेते न सतिः॥

भा०—( १ ) ( सूनरी ) उत्तम शरीर-रथ का नग्री चितिशक्ति स्वय ही ( रन्ती ) समस्त क्रीडा पण स्थापार करन द्वारा ( यस्वा ) प्राणरूप यमुधों की स्वामिनी ( सुमन्मा ) उत्तम रूप से मनन करन द्वारा है ।

( २ ) हे ( सरूप ) चितिशक्ति क समान रूपवाज ( इ-द ) आत्मन् ! ( वृषन् ) सर्वधृष्ट ! ( आगदि ) आ प्रकट हा । ( इमा ) य दाना ( भद्रौ ) कल्याण और सुखकारी ( पुर्यौ ) शरीर क धारक प्राण और अणन ( अभि ) प्रत्यक्षरूप में दिखाइ देते हैं । ( तौ इमौ ) व दानों शरीर या नासिका में ( उपसर्पत ) गति करत हैं ।

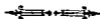
( ३ ) इ विद्मन् पुरुषा ! आत्मा ( आपस्य ) इस प्रात दह क ( मध्य ) भीतर ( दशभिः ) दश ( शृङ्गभि ) प्राणों द्वारा ( दिरन् ) ज्ञान और कम करता हुआ ( तिष्ठति ) अवस्थमान रहता है । आप जग

उन (शीर्षाणि) शिरोभाग में रहने वाले दशों ही प्राणों को (नि मृद्भवम्) बश करो ।

इति चतुर्थं खण्ड ।

इति सप्तदशोऽध्याय ।

इति अष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्ध ।



अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥

अथाष्टम प्रपाठकस्य द्वितीयार्ध ।



अग्नि — मेधातिथि काण्व, प्रिदमेधधागित्स । २ शुनश्च सुस्थो वा ।  
 ३ शुन शेष आजोगत् । ४ जुवात्सा य । ५, १५ मधातिथि काण्व । ६,  
 ६ वसिष्ठ । ७ जायु काण्व । ८ अन्वरीष अजिथा च । १० विद्वमना वैयथ ।  
 ११ सोमरि काण्व । १२ सत्रथ । १३ कलि प्रागाथ । १४, १७ विथा  
 मिर । १६ त्रिभुवि वादयथ । १८ भरद्वाजो बाहस्यथ १९ एतत्साम ॥  
 दवना—१, २, ४, ६, ७, ९, १०, १३ १४ इन्द्र । ३ ११ १२ अग्नि ।  
 ५ विष्णु ८ १२, १६ परमान सोम । १४, १७ इन्द्राग्नी । १६ एतत्साम  
 ॥ छन्द — १-५ १४, १६-१८ गायत्री । ६, ७, ९, १३ प्रागाथम् । ८  
 अनुष्टुप् । १० उष्णिक् । ११ प्रागाथ ककुभम् । १२, १५ वृद्धी । १६ इति  
 साम ॥ त्वर । १-५ १४, १६ १७ पञ्च । ६, ८, ९, ११-१३, १५  
 मध्यम । ८ गाथार । १० श्रवण ॥

१ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५५७] पन्थ पन्थामितस्तानार आ यात्रत मद्याय ।

१ २ ३ २ ३ १ २

सोम वीराय शूराय ॥ १ ॥

[१६५८] <sup>१</sup>पह <sup>२</sup>हरी <sup>३</sup>ब्रह्मयुजा <sup>४</sup>शम्मा <sup>५</sup>वदत <sup>६</sup>सखायम् ।

<sup>१</sup>इन्द्र <sup>२</sup>गिर्भि <sup>३</sup>गिर्वणसम् ॥ २ ॥

[१६५९] <sup>१</sup>पाता <sup>२</sup>धृत्रहा <sup>३</sup>सुतमा <sup>४</sup>घा <sup>५</sup>गमन्तार <sup>६</sup>अस्मत् ।

<sup>१</sup>नियमते <sup>२</sup>शतमूर्ति ॥३॥१॥ ५० ८ । २ । २२ २७, २९ ।

भा०—( १ ) व्याख्या दक्षिणे अवि० स० [ १२३ ] पृ० ।

( २ ) ( इह ) इस विषय में ( ब्रह्मयुजा ) ब्रह्म के साथ समाधि द्वारा युक्त होन वाले, ( शम्मा ) शत्रियुत्र ( हरी ) दाहों प्राण और अपान ( सखाय ) परमेश्वर के मित्रभूत ( गिर्वणसम् ) गिराभा, वेदवाणियों का सेवन करने वाले ( इन्द्रम् ) इस जीव को ( गिर्भि ) स्तुतियों, प्रार्थना और उपासनाओं के साथ २ ( आ वदत ) ब्रह्म तक प्राप्त करात है ।

( ३ ) ( सुत ) ज्ञान-दरस का या प्रेरक बल को ( पाता ) पान करने या धारण करने और ( धृत्रहा ) विघ्नों का नाश करने वाला यह आत्मा ( अस्मत् ) हमारे ( आरे ) समीप ( घ ) ही ( आगमन् ) प्राप्त है यह ( शतमूर्ति ) सैकड़ों प्रकार से शक्तिशाली होकर ( नियमते ) समय साधना करता है ।

[१६६०] <sup>१</sup>आ <sup>२</sup>त्या <sup>३</sup>शिशान्दिन्द्रय <sup>४</sup>समुद्रमिष <sup>५</sup>सिन्धुन ।

<sup>१</sup>न <sup>२</sup>त्याभिन्प्रातिरिच्यते ॥ १ ॥

[१६६१] <sup>१</sup>त्रिव्यन्ध <sup>२</sup>गहिना <sup>३</sup>वृषन्भवा <sup>४</sup>सोमस्य <sup>५</sup>जागृये ।

<sup>१</sup>य इन्द्र <sup>२</sup>जटरपु <sup>३</sup>ते ॥ २ ॥

[१६६२] <sup>१</sup>अरन्त इन्द्र <sup>२</sup>कुक्षय <sup>३</sup>सोमो <sup>४</sup>भवतु <sup>५</sup>वृषदन् ।

<sup>१</sup>अरन्भानभ्य इन्द्रय ॥३॥ २ ॥ अ० ८ । १२ । २२-२४ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० सं० [ १६७ ] पृ० १०४ ।

( २ ) हे इन्द्र ! प्रभो परमेश्वर ! ( यः ) जो सोमरूप<sup>१</sup> संसार ( ते जठरेषु ) तेरे भीतर, तेरे उदर या मध्यभाग में, तेरे आश्रय में है, हे ( वृषन् ) सब सुखों के वर्षक ! उस ( सोमस्य ) समस्त संसार के ( भवं ) स्वरूप से प्राप्त को भी हे ( जागृवे ) जागरणशील ! तू ही ( महिना ) अपनी महिमा से ( विव्यक्त्य ) व्याप्त कर रहा है ।

आश्रय में हे इन्द्र ! तेरे ( अन्तः ) हृदयाकाश में, अन्तः इन्द्रियों में जो सोम ब्रह्मज्ञान का आस्वाद है उस सोम के आस्वाद को भी तू अपने ( महिना ) बड़े सामर्थ्य में प्राप्त करता है । सोमरस और राजा के प्रकरण में स्पष्ट है । भौतिक पक्ष में—सूर्य इन्द्र अपने जठर=रश्मियों से जल का उठा लेता है और सदा देदीप्यमान रहकर अपनी विशाल शक्ति से जल के उस सूक्ष्म भ्रंश को धारण किये रहता है ।

( ३ ) सूर्य जिस प्रकार प्रकाश के आचरण को दूर हटाता है उसी प्रकार पाप का नाश करने वाले हे ( वृषदन्<sup>२</sup> ) विघ्नकारी तामस आचरण के नाशक ! ( सोम ) यह समस्त सोमरूप उत्पन्न हुआ संसार ( ते ) तेरी ( शुचये ) कोख में या गर्भ में रहकर तेरी महती शक्ति को दर्शाने के लिये ( अरं भवतु ) पर्याप्त है, वह बहुत बड़ा और महान् है ( इन्द्रवः ) बहुत से इसी प्रकार के ब्रह्माण्ड या देदीप्यमान जलक ( धामभ्य ) तेरी बड़ी २ धारणा शक्तियों का साक्षात्कार कराने के लिये भी ( अरं ) पर्याप्त है अर्थात् वही तेरी शक्ति की महत्ता के भारी दृष्टान्त है ।

[ १६६३ ] जग<sup>१</sup> जोध<sup>२</sup> तद्वि<sup>३</sup> विद्वि<sup>३</sup> दि<sup>३</sup> दि<sup>३</sup> विशे<sup>३</sup> विशे<sup>३</sup> यज्ञियाय ।

१ २ ३ १ २ ३ ३ ३ ३ ३ १ २  
१ २ ३ १ २ ३ २  
अताम रुद्राय दृशीकम् ॥ १ ॥

१६६२—१ सूयन् इति मानः ।

२ वृषदन् पापस्य वा इन्द्रः, इति सायण ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 [१६६४] स नो महो अनिमानो धूमकेतु पुरुधन्द्र ।

३ १ २ २  
 त्रिभे वाजाय द्विन्वतु ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २  
 [१६६५] स रेवा इव त्रिशपतिर्देव्य केतु शृणोतु न ।

३ २ ३ २ ३ १ २  
 उरुधरग्निरृहद्भानु ॥३॥३॥ अ० १ । २७ । १०-१२ ॥

भा०—( १ ) स्वास्या दया अधिकल स० [ १५ ] पृ० ७ ।

( २ ) वह अग्निरूप सब का मागशोक सर्वज्ञ, परमधर ( महान् ) महान् ( अनिमान ) अनन्त अपरिमय ( धूमकेतु ) समस्त समार का शत्रु-दन या शत्रु-त्रेन हार सामर्थ्य स जानन वाग्य ( पुरुधन्द्र ) मन्वस अधिक प्रकाशमान सब प्रकाशमान पशुओं का प्रकाशक परमात्मा ( न ) हमें ( धिय ) विचारशक्ति, युद्ध और ( वाजस्य ) बल चार सामर्थ्य प्राप्त करने क लिय प्रेरित कर ।

( ३ ) ( स ) यह ( अग्नि ) सबका नेता, जानवान् ( उरु ) येह की शान्ताशियो स ( वृहद्भानु ) विशाल तन मन्वस । देव्य ) सब दिव्यगुणों स युक्त ( केतु ) समस्त समार का शत्रुक ( त्रिशपति ) प्रजा का पात्रक प्रजापति परमात्मा ( रेवान् इव ) वह माग धना मठ पुत्र क समान ( न ) इन उपायकों की ( शृणोतु ) अधना धरतु करे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१६६६] तद्धो माय सुमे सत्रा पुरुद्वृताय सत्यने ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 ज यदुगरे न शक्तिने ॥ १ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१६६७] न चा यतुर्नियमते दाने वाजस्य गोमते ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 यत्समुपधयद् गिर ॥ २ ॥

[१६६८] कुवित्सस्य प्र हि व्रजज्ञानन्तन्दस्युदा गमत् ।

शचीभिरप नोपरत् ॥ ३ ॥ ४ ॥ श्र० ६ । ४५ । २२-२४ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखा अधिकूल स० [११५] पृ० ६२ ।

( २ ) ( यत् ) जत्र ( सीम् ) वह ( गिर ) हमारी स्तुतिमय वाणियों को ( उपध्वन ) सुन लता है तब वह ( वसु ) सब ससार को वनान द्वारा और सर्वथापक ( गोमत् ) रश्मियों, इन्द्रियों और प्राणों या वेदवाणियों से युक्त वाजस्य) ज्ञान और बल के ( दान ) ब्रह्मदान अन्नदान और जीवन दान को देने स ( न घा ) कभी नहीं ( नियमते ) रुकता है ।

( ३ ) ( स ) वह ( दस्युदा ) उपध्वय करन हारे या ध्वशाली विनाशी देह, या अज्ञान का विनाश करने द्वारा आत्मा (गोमन्त) ज्ञानन्द्रिय और प्राणन्द्रिय रूप गौष्मा के निवासस्थान ( व्रज ) बाढ़ा रूप दह का ( हि ) निश्चय मे ( कुवित् ) बहुत बार ( न अगमत् ) प्राप्त कर लता है । परन्तु ( स्प ) वह ही उसको ( शचीभि ) ज्ञान और कर्मसाधनाओं स ( न ) हमारे उस देहबन्धन को ( अप अवरत् ) परे हटा देता है और मुक्त होजाता है । अथवा—( कुवित्सस्य ) कुत्सित ज्ञान वाला अल्पज्ञानी जीव के या अपना बहुत सा नाश करन हार मूढ़ अज्ञानी क ( गोमन्त व्रज दस्युदा अगमत् ) अज्ञान दस्यु का विनाशक गुरु या परमदेव परमात्मा उसके गोमान् व्रज अर्थात् अन्त करण म प्राप्त हाकर ( शचीभि ) अपना ज्ञान प्रेरणा था स उस बन्धन का ( न ) हमार कल्याण क लिये ( अप प्रवरत् ) दूर कर देता है । अथवा—कुवित्स' बहुत स देहों का नाश करन हारे अर्थात् जो बहुत स जन्म लकर बहुतस देहों को त्याग चुकता है उस जीव को ईश्वर पुन दह बन्धन से मुक्त कर देता है ।

१.६८—१ कुत्सित विन्दत वत्ति मनाति च तस्य, अथवा कुवित् बहुधा, स्वात-  
हिर्नास्ति इति कुवित्स इति सामण ।

यद्गुना जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मी प्रपद्यते ॥ गीता ॥

इति प्रथमः अङ्कः ।

— ० —

[१६६६] इदं विष्णुविचित्रमे त्रधा निदध पदम् ।  
<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २</sup>

समूढमस्य पासुले ॥ १ ॥

[१६७०] श्रीणि पदा विचित्रमे विष्णुर्गाँगा अशाभ्यः ।  
<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>

अतो धर्माणि धारयन् ॥ २ ॥

[१६७१] विष्णोः परमाणि पश्यत यता प्रतानि परपथे ।  
<sup>१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>

इन्द्रस्य युज्य सरा ॥ ३ ॥

[१६७२] तद्विष्णोः परम पद सदा पश्यन्ति सुरय ।  
<sup>१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>

द्विषीष चक्षुरागतम् ॥ ४ ॥

[१६७३] तद्विमासो विपन्युषो जागृत्प्रास समिन्धते ।  
<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>

विष्णोर्गैः परम पदम् ॥ ५ ॥

[१६७४] अतो देवा अयन्तु ना यतो विष्णुर्विचित्रमे ।  
<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>

पृथिव्या अग्निं सानधि ॥ ६ ॥ ४ ॥

अ० १ । १२ । १६-२१ २६, ॥

भा०—( १ ) ( विष्णुः ) सर्वं व्यापक परमात्मा मे ( इदं ) यह समस्त विश्व । विचित्रमे ) बनाया और उस को व्याप किया । ( त्रधा ) तीन प्रकार से ( पद ) व्यापकशक्ति को ( निदध ) स्थापन किया । ( अस्य ) इसका ( पासुले ) छाकों का धारण कराने हारे बल से यह समस्त विश्व ( समूहम् ) उत्तम रीति से स्थित है । व्याख्या अदि० स० [२२२] २०

( २ ) ( गोपाः ) समस्त गतिशील लोकों का पालक ( अदाभ्यः ) नित्य अविनाशी ( विष्णुः ) वह व्यापक परमात्मा ( भतः ) निरन्तर गति द्वारा ही ( धर्माणि ) समस्त लोकों का ( धारयन् ) धारण करने द्वारा होकर ( धीणि ) तनि ( पदा ) शक्तियों से ( विचक्रमे ) समस्त विश्व को बना और चला रहा है ।

( ३ ) ( विष्णोः ) उस सर्वव्यापक परमात्मा के ( कर्माणि ) आश्रय जनक कार्यों को ( पश्यत ) देखो ( यतः ) जिन कर्मों को देखकर ( यतानि ) जीव समस्त ज्ञानों को ( पश्ये ) प्राप्त करता है । वह ही परमात्मा ( इन्द्रस्य ) इस जीवात्मा का ( युज्यः ) सदा साथ रहने द्वारा ( सजा ) समान उपाति अर्थात्=नाम से युक्त आत्मा, उसका मित्र है ।

( ४ ) ( विष्णोः ) सर्व व्यापक परमेश्वर के ( परमं ) परम उत्कृष्ट ( पदं ) धाम परमबल, या मोक्षज्ञान का शास्त्रदृष्टि से ( सूर्यः ) विद्वान् आदिभ्य के समान ज्ञानी पुरुष ( सदा ) निरन्तर ( पश्यन्ति ) देखते हैं । वह परम ज्ञान ( दिवि ) आकाश और पृथिवी में ( चतुः इष ) सर्व पदार्थों के दर्शक सूर्य के समान ( घ्राततम् ) सर्वत्र व्यापक है ।

( ५ ) ( विष्णोः ) सर्वव्यापक ईश्वर का जो ( परमं ) उत्कृष्ट ( पदं ) ज्ञानमय स्वरूप है ( तत् ) उसको ( विष्णुवः ) विशेष रूप से सत्य का यथार्थ वर्णन करने वाले ( विप्रासः ) मेधावा विद्वान् ( जागृ-त्वांसः ) निरन्तर ज्ञानदृष्टि से जागरण करने वाले, प्रमादराहित होकर ( सामिन्धतं ) प्रदीप्त करते हैं, उसको प्रकाशित करते हैं, उसको अपने हृदय—मंदिर में प्रज्वलित करते हैं, उसकी उपाति जगाते हैं ।

( ६ ) ( पद ) जिस कारण से ( विष्णुः ) सर्वव्यापक परमेश्वर ( विचक्रमे ) सर्व संसार को रचता और चलाता है ( भतः ) उसी बल से



( देवा ) समस्त दिव्य पदार्थ अग्नि, वायु जल, पृथिवी, आकाश आदि भूत और सूर्य, चन्द्र आदि सब लोक, या विद्वान्गण ( पृथिव्या ) इस लोक के ( अधि सानत्रि ) उच्च से उच्च भाग पर या उत्कृष्ट पद मोक्ष के विषय न भी ( न. ) हों ( भवन्तु ) प्राप्त करावें ।

इन मन्त्रों पर भाष्यकारों का अद्भुत मतभेद है और वह सभी विचार योग्य है । हम सद्यप से उल्लुख करत हैं—

( १ ) सायण—( विष्णु ) त्रिविक्रमावतारधारी ने इस जगत् को उद्देश करके ( विचक्रमे ) विशेष रूप से क्रमण किया और तब ( त्रेधा पद निदधे=त्रिभि प्रकार रक्षीप पद निक्षिप्तवान् ) तीन प्रकारों से अपना पद रक्षता । ( अस्य पासुले समूह=विष्णा भूजियुक्त पादस्थाने इद सर्वं जगत् सम्यगन्तर्भूतम् ) उस विष्णु क धूली वाल पैर में यह सब जगत् भली प्रकार छिपा है ।

( २ ) उन्वट यज्ञ में दक्षिण शकट के दायें चक्र के समीप सुवर्ण रत्न कर इस मन्त्र से होम करता है । ( 'इद' 'जगत्' विष्णुर्विचक्रम' विष्णो-तवान् सर्वप्राणिनो हि भूनेन्द्रियमनोजीवकायेनाविशति इति विष्णु किंच 'त्रेधा निदधे पद' पद्यत ज्ञायत अननति पद भूमन्तरिषुल्लोकैषु अग्निषायुसूर्पंरूपेण त्रिधा निहितवान् पद । किंच "समूहमस्य पासुरे" अस्य विष्णार-यत् पदान्तर विज्ञानाधनानन्दमजमैतमपरमित्यवल-घयम् समूहम-तर्हितमविज्ञातमकृतामभि. । पासुरे लुप्तोपममेतत् । पासुज इव प्रदश निहित न दृश्यत तत्समूहमिति, अर्थात्—सष प्राणियों में पचभूत इन्द्रिय मन और जीव इन सब में प्रवेश करने से यह विष्णु है । उसने इस जगत् का क्रमण किया जिससे ज्ञान किया जाय वह 'पद' है । भूमि अन्तरिक्ष और शुल्लोक में अग्नि, वायु, सूर्य, रूप से तीन रूपों में वह पद (ज्ञाननाधन) या ज्ञापक द्विग रक्षता । इस ही विष्णु का अर्ध एक 'पद' है । विज्ञानाधन, ज्ञान दस्वरूप, भा, आदिताप, अपर

स्वरूप जिसका अकृतात्मा, असाधक, अविद्वान् पुरुष नहीं जानते । यह लुप्तापमा है । जिस प्रकार धूल भरे स्थान में पड़ी वस्तु नहीं दीखती उस प्रकार इत्यादि ।

( ३ ) महीधर—इस भाष्यकार ने सायण और उश्वट दोनों का अश लिखा है । इतना विशय लिखा है कि ( ' समूढमस्य पासुरे' पासवो भूम्यादिलोककस्या विद्यन्ते यस्य तत्पासुर तस्मिन् पासुरे अस्य विष्णोः पद समूढ सम्यग् अन्तर्भूत विश्वमिति शेष यद्वेति उश्वटवत् ) अर्थात् पासुर-भूमि आदि लोक जिसमें स्थित हैं उस पासुर पद में सब विश्व छिपा है । यद्वा' से आगे दूसरा अर्थ उश्वट के समान ही है ।

प्रीक्षिथ—'इम सप्तार में विष्णु ने पैर रखे तीन बार उसन पैर जमाये और सब उसके पैर की धूल म जमा हो गया ।

सायण और महीधर ने यह मन्त्र पौराणिक आशय को लेकर लगाया है । उश्वट का वह अर्थ सममत नहीं । उसने पद का अर्थ ज्ञापक लिङ्ग किया है । और सप्तार म ईश्वर के तीन ज्ञापक अग्नि, वायु, और सूर्य बतलाये हैं । और चतुर्थे ज्ञापक वह परम अक्षर बतलाया है जिसका ज्ञान यागी मुमुक्षु लाग करत हैं ।

सायण क आशय से विष्णु ने तीन चरण रखे और धूलियुक्त चरण में समस्त लोक छिपे हैं । उनके मत में 'पद' क्या वस्तु है यह प्रतीत नहीं होता । महीधर ने 'पद' शब्द की उश्वट कृत व्याख्या का माना है । और भूम्यादिलोककमय पासु से युक्त समस्त ब्रह्माण्ड को एक पद माना है । और अग्नि, वायु सूर्य रूप स तीनों लोकों में विष्णु का एक २ ज्ञापक भी स्वाकार किया है । इसमें महीधर के मत में त्रिविध का अनिरूपण आलंकारिक है । महर्षि दयानन्द—( इद ) प्रत्यक्ष और अन्वयज्ञ जगत् को व्यापक ईश्वर ने ( विचक्रमे ) यथायाग्य प्रकृति परमायवादि पार्श्व का अर्थान् अर्थों का विवक्ष करक सावयव किया । इस जगत् के

(पासुरे) प्रशान्त रणुभा बाल अन्तरिच म (ग्रथा निदध पद) और लीन प्रकार से प्राप्त करन याग्य 'पद' धरा । वह उत्तम रीति स जानन याग्य पदार्थ 'पद' कहाता है । भावार्थ यह है कि यह तीन प्रकार का सप्तार बनाया ( १ ) प्रत्यक्ष पृथिवीमय जा प्रकाश से रहित है, ( २ ) कारय्यरूप अदृश्य, ( ३ ) प्रकाशमय सूर्यादिक ।

( २ ) धर्माग्नि=अग्निहाप्र आदि, ( सा० ) कर्माग्नि=कर्म, ( उच्यते महीधरश्च ) स्वस्वभावज्ञान्य धर्म, ( दया० ), अत इन् तीन लोकों में, ( सा० ) तीनों पदों से ( उ०, म० )

( ३ ) विष्णो कर्माग्नि=वीर्याग्नि ( उ० ), सृष्टिसहारादि ( म० ), जगदचन पालन-वायकरणप्रलय आदि ( द० ), प्रतानि=अग्निहाप्रआदि ( सा० ), लौकिकैरिदिककर्म ( म० ), कर्म=आधान, पशु साम याग आदि, अथवा अग्नि वायु और सूर्य का अपना २ कार्य ।

( ४ ) विष्णो परम पद=उकृष्ट स्थान ( सा० ), विज्ञानचनबहुल आनन्दस्वरूप विष्णु का परमपद आदिय ( उ० ) भाषार्य । द० ।

( ५ ) समिन्धत दीपवन्ति ( सा०, उ० य० ) प्रकाशयन्त आभु वन्ति ( द० ) ।

( ६ ) दवा =विष्णु आदि ( सा० ) विद्वान् लोग और अग्नि आदि पदार्थ ( द० ) ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०  
[१६७५] मोषु त्या वाघतश्च नार अस्मधिरोरमन्

३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २०  
आरात्ताद्वा सधमादन्न आगहीह वा सधपशुत्रि ॥ १ ॥

[१६७६] इमे हि त द्रष्टव्यं सुते सचा मधौ न मद्य आसने ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २०  
इन्द्रं कामज्रितारो वसूयवो रथे न पादमादधु ॥२॥६॥

भा०—( १ ) व्याख्या द्वाया अवि० स० [२८४] पृ० १४५ ।

( २ ) इ इ द<sup>१</sup> ( मधौ ) मधु-शब्द पर ( मध न ) जिस प्रकार मवली आ बैठता है उसी प्रकार ( इम ) ये ( मङ्कृत द्वि ) मङ्कयञ्च करन हार वद क विद्वान् गण्य ( त सचा ) तरे साथ साधान द प्राप्त करने क लिये ( आसत ) आ बैठत हैं और मङ्क का रस प्राप्त करत हैं ; और ( इ-त्र ) उम इ-द परमात्मा में ही ( वसुयव ) वसु=आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाल ( जारितार ) स्तुतिशील विद्वान्गण्य ( कामम् ) अपना अभिलाषा का इस प्रकार ( आदधु ) रख दत हैं जिस प्रकार ( वसुयव रथ पादम् ) धनाभिलाषा अत्रिय जाग अपना चरण रथ पर रखत हैं और फिर द्यौं का विनय करत हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२  
[१६७७] अस्तावि म म पू०यं ब्रह्मेन्द्राय गोचत ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

पूर्वाञ्जितन्य बृहतीरनूपन स्तातुर्मेधा अस्तुत्त ॥ १ ॥

२२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २

[१६७८] समिन्द्रो राया बृहतीरधूनुत सद्दक्षाणा समु सूर्यम् ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १२ ३ २ ३ १ २

स शुक्राणः शुचय स भवाशिर सोमा इन्द्रममनि-रुपु

॥ २ ॥ ७ ॥ य० ८ ५२ । ६, २० ॥

भा०—(१) (अस्तावि) परमेश्वर की हा स्तुति की जाता है । इसलिये ( पू०यं ) पूण कृतिहारक अति प्राधान ( म न ) मनन करने योग्य ( मङ्क ) वदम त्र का ( इ-दाय ) उम परमेश्वर की स्तुति क लिये ( वाचत ) पाठ करा ( अतस्य ) वद की या यज्ञविषयक या आत्म, और मङ्कविषयक स यज्ञानसम्बन्धा ( पूर्वा ) प्राधान या पूण ( बृहता ) बृहती ष-द क वद म-त्रों स ( अनूपन ) स्तुति करत हुए ( स्तातु ) स्तुतिकर्ता विद्वान् क ( मेधा ) गाना प्रकार क ज्ञान ( अमृषत ) अमृष हात है ।

( २ ) ( इन्द्र ) परमेश्वर न ( वृद्धी ) यथा २ ( राय ) सम्पत्ति  
 यो और शक्तियां ( सम् अधुनुत ) प्रवृत्ति की है ( उत ) और ( चायी )  
 बहुतसी श्रुतिवियों अर्थात् बहुतसे जातों का आकाशमण्डल में चला  
 रक्खा है । और ( सम् उ सूयम् ) सूर्य का भा चला रक्खा है । ( शुचय )  
 काम्तिनाम् ( शुध्यस ) शुद्ध कम करन द्वार निष्पाप पुत्रयामा ( गवा  
 शिर ) ज्ञान का आश्रय करने द्वार या गा=वदश्या या आश्रय जेन  
 द्वार और गा=इन्द्रियों का दमन करन द्वार चित्तादिष ( सामा ) यागा  
 सुमुञ्च आ॥माप् उत ( इन्द्रम् ) इन्द्र परमेश्वर का ( सम् अमन्दिषु ) प्रसन्न  
 करत है ।

[१६७८] <sup>१ २ ३ १ २ १ ३ १ २</sup> इन्द्राय सोमपातत्र उग्रघ्न पारोपच्यम् ।

<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
 नर च दक्षिणागते धीराय सदासादे ॥ १ ॥

[१६८०] <sup>१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
 ते सखाय पुरूरुच यय यूय च सूरय ।

<sup>३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup>  
 अश्याप्र वाजगन्ध सनम वापस्यम् ॥ २ ॥

[१६८८] <sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३</sup>  
 हरिं त्य हृषित हरिम् ॥ ३ ॥ अ० ६। २८। १० १२, ७४

भा०—( १ ) इत्यारथा दस्यो अविकल स० [१०६] ६।

( २ ) इ ( सखाय ) मित्रगण । ( सूरय ) विद्वान् ( यूय ) आप  
 लोग और ( यय च ) हम जाग सब ( वाजग ध्व ) ज्ञान की मुग्ध स  
 युक्त ( वाजपस्यम् ) और बल क एकमात्र आश्रय सर्वेश ज्ञेमान् ( पुरूरुच )  
 अथवे प्रक श स मधक प्रकाशक ( त ) उत साम परमा मा का ( अश्याम )  
 यास इ ; सोम आपधि पद्य मँ—( वाजग ध्व ) अश्याम-वा और ( वा  
 पस्य ) बलकारी साम का भाग करें ।

१६७६—१ 'आय स नाम' २. 'पुराश्व यूय यय च सूरय ३ हरिं त्य  
 हृषोहरिं' इति अ० ।

( ३ ) "परि त्वं हर्यंत हरिम्" यह प्रतीकमात्र उद्धृत किया गया है । इसकी व्याख्या देखो अत्रिकल सं० [१५२२] पृ० २७७ ।

<sup>१२ १२ ३</sup>  
[१६८२] कस्तमिन्द्र त्वा वसो० ॥ १ ॥

<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२</sup>  
[१६८३] मघोन० स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २</sup>  
तव प्रणीती हर्यम्बसूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ॥२॥६॥

श्र० ७ । ३२ । १४, १५ ॥

भा०—( १ ) 'कस्तमिन्द्र त्वावसो०' यह प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अत्रिकल सं० [१६८०] पृ० १४३ ।

( २ ) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! ( मघोनः ) ज्ञानी पुरुषों को ( वृत्रहत्येषु ) आवरणकारी अज्ञान अन्धकार और विघ्नकारी, दुष्ट पुरुषों के विनाश के कार्यों में ( चोदय स्म ) प्रेरित कर । ( ये ) जो ( प्रियाः ) प्रिय ( वसु ) वास्त योष्य उपकरण गृह आदि भयवा अपने धनों को ( तव प्रणीती ) तेरे, प्रणय=प्रेम के कार्य में या तेरे बनाये हुए वेदानुकूल मार्ग में ( ददति ) दान करते हैं उन ( सूरिभिः ) विद्वानों, त्यागियों की सहायता से ( विधा ) समस्त ( दुरिता ) पापों को ( तरेम ) हम पार करें ।

इति द्वितीयं सूत्रः ।

<sup>१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
[१६८४] एदु मधोमदिन्तर सिञ्चाभयौ अन्धसः ।

<sup>१ १६ ३ १२ १२ ३ १ २</sup>  
एता द्वि वीरस्तवते सदावृधः ॥ १ ॥

१६८१—१. कस्तमि वा वसुमा, इति श्र० ।

१६८३—१. "एदु मधो मदिन्तर सिञ्चाभयौ"

[१६८५] इन्द्र<sup>१ २</sup> स्थान<sup>३</sup> हरीणा<sup>१ २</sup> नकिष्टे<sup>३ १ २</sup> पूर्व्यस्तुतिम् ।

उदानश<sup>१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> शवसा न भन्दना ॥ २ ॥

[१६८६] त<sup>१ ३ १ २ ३ २ ३ १ २</sup> वो वाजाना पतिमहूमाहि<sup>३ १ २</sup> श्रवस्यथ ।

अप्रायुभिर्<sup>१ २</sup>यज्ञभिर्वा<sup>३ १ २</sup>वृधन्यम् ॥ ३ ॥ १० ॥

अ० ८ । २४ । १६-१८ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या त्रेयो अवि० स० [२८५] पृ० १४६ ।

( २ ) हे इन्द्र ! हे ( हरीणा ) समस्त गतिमान् सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदिकों के ( स्थान ) प्रतिष्ठापक ! परमश्रर ! ( ते ) तरी ( पूर्व्यस्तुतिम् ) पूर्व के अपि महर्षियों द्वारा गाई गई, सत्य, यथायं गुणवर्णना को ( शवसा ) अपने बल से ( नकि ) कोई भी नहीं ( उदानश ) पा सकता । और ( न भन्दना ) न कोई ससार के प्रति सुख कल्याण क कार्य करके भी तेरी महती स्तुति को पा सकता है । अर्थात् तु सवस अधिक शक्तिमान् और सय का कल्याणकारी है तेरे तुल्य दूसरा ' न भूता न भविष्यति ' न हुआ, न होगा ।

( ३ ) हम लोग ( व ) आप लोगों के ( वाजाना ) ज्ञान, धन, बल और श्रों क ( पति ) परिपालक, ( अप्रायुभि ) प्रसादा स रहित, विनाशरहित, ( वृधभि ) बढ़ सृष्टि स्थिति, प्रलय आदि विशाल कर्मों तथा प्रजापालनादि स कर्मों से ( वावृधन्यम् ) अपने यश और महिमा में सब स बढ़ ( त ) उस परमश्रर को ( अवश्यव ) धन, श्रध, और ज्ञान, चद्र की कामना करन हार हम लोग ( अहूमाहि ) नित्य स्मरण करत हैं ।

यहा 'व' इस युष्मत् के प्रयोग से समस्त ससार क प्राणा अभिप्रेत हैं क्योंकि स्तुतिकर्ता की दृष्टि में अपनेसे अतिरिक्त सब युष्मत् पदवाच्य हैं । परमात्मा कबल 'तत्' पदवाच्य है ।

१ २ ३४ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१६८७] त गूर्धया स्वर्णं दवानो देवमरति द्यन्विरे ।

३ २ ३ १ २  
 देवत्रा ह्यमूहिषे ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१६८८] विभूतरातिं विशचित्रशाचिपमग्निमीडिष्य यन्तुरम् ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 अत्यमस्य साम्यस्य सोभरे प्रमध्वराय पूर्व्यम् ॥२॥११॥

श्र० ८ । १६ । १, २ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दत्ता अवि० स० ( १०६ ) पृ० २८ ।

( २ ) इ ( साभरे ) उत्तम रति स ज्ञान का धारण करन हार ।  
 इ ( विप ) मधाविन् । ब्राह्मण । ज्ञानापामक । शिष्य । तू ( अभ्वराय )  
 अविनरवर या हिंसादि दार्पो स सर्वथा रहित स्वाध्याय यज्ञ या गुरु  
 परभरा स कना विनाश का प्राप्त न हान हार आविच्छिन्न ज्ञानयज्ञ क  
 निमित्त ( विभूतरातिम् ) बहुत अधिक ज्ञानाशि क दान करन हार,  
 ( विशशाचिप ) समूह करन याम्य ज्ञान और तप आदि तजस्कर गुणों  
 स युद्ध ( अस्य ) इस ( साम्यस्य ) ज्ञानयुद्ध या ज्ञान क आनन्द प्राप्त  
 करान हार ( मधस्य ) दवित्र यज्ञ क ( यन्तुर ) नियामक व्यवस्थापक,  
 ( पूर्व्यम् ) सवय पूर्व विजमान सवस अष्ट आचाय रूप परमरवर की  
 ( इडिष्य ) उपासना कर ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ४ ३ १ २  
 [१६८९] आ साम स्थाना आद्रभिस्त्रिंशत्परा पाराश्रयया ।

२ ३ २ ३ २ ४ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 जगान पुगे चम्पारिंशद्धरि सदा यनपु दाधिषे ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ २ ४ २ ३ २ ४ ३ १ २ ३ ३  
 [१६९०] स मामृज तिरा अएगानि मेघ्या मद्दियात्सतिर्वाजयु ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 अनुमाथ परमागो मनीषिभि सोमा विप्रभिरुग्भि

॥ २ ॥ १२ ॥ श्र० १० । १०७ । १०, ११ ॥



भा०—( १ ) व्याख्या देखा अविच्छेद स० [५१३] पृ० २१३।

( २ ) जिस प्रकार सोमरस का दूध प्रस्तरों से कूटकर, मदी के क्षोम से बन दशापवित्र नामक कम्पलक द्रुकदे से स्वच्छ कर लिया जाता है उसी प्रकार उस आत्मस्वरूप ज्ञान के रस का भी स्वच्छ कर लिया जाता है, उसी का दर्शन करत हैं। योगी का आत्मा ( तस्मि न ) भक्ति वेगवान् अश्व के समान ( वाजयु ) चल और ज्ञान का प्राप्त करने द्वारा ( स ) वह ( मय ) चितिशक्ति क ( अश्वानि ) सूक्ष्म स सूक्ष्म तत्वों का ( तिर ) प्राप्त करके ( मीह्वान् ) सब सुखों का स्वयं वषण करने द्वारा धर्ममय होकर ( मासृज ) शुद्ध पवित्र हो जाता है। यही ( सोम ) शमदमादि गुणों से युक्त सामस्वरूप आत्मा ( पवमान ) पवित्र होता हुआ और अन्य इन्द्रियवृत्तियां ज्ञानवृत्तियों का पवित्र करता हुआ ( मनीषिभि ) मगन करने में गतिशील ( विप्रभि ) नधावी ( अश्वभि ) वेदज्ञा द्वारा ( अनुमाद्य ) आनन्द लाभ करत योग्य, प्रशसनाय हाता है।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २

[१६६१] वरमेगमिदाह्याऽपिपमेह वज्रिराम् ।

१ २ ३ २ २ ३ ० ३ ० १ २ ३ २

तस्मा उ अद्य तत्रने सुत भग नून भूपत धृत ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २

[१६६२] वृद्धिदस्य वारण उरामधिरा वयुनेपु भूपति ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ २

सम न स्तामज्जुत्राय अगहीन्द्र प्र चिप्रयात्रिया ॥ २ ॥ ३

अ० ८। ६६। ७, ७ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अविच्छेद स० [२०२] पृ० १३६।

( २ ) ( अद्य ) इस आत्मा का ( वारण ) पापों से निवारण करने द्वारा माधन ( वृद्धि चिन् ) कुत वा भेदिये के समान ( उरामधि ) भेद के

समान बाहों से छिपे चोरों वहे २ संकटों को भी मथन करने द्वारा होकर (वयुनेपु) प्रज्ञा या महान् कायों में (आभूपति) शोभा देता है । हे आत्मन् ! (स) वह आप (इम) इस ( स्तोमं ) स्तुतिमय वचन को (जुजुपाय.) स्वीकारते हुए ( चित्रया ) ज्ञानयुक्त ( धिया ) प्रज्ञाबुद्धि से ( आगहि ) हमें साक्षात् दर्शन दो ।

अथवा—( अस ) इस इन्द्र का ( वृक चिन् ) आदित्य ही ( वारय ) अन्धकार नूर काने का साधन (उरामधिः) महान् अन्धकार को मथन कर देने द्वारा होकर ( वयुनेपु ) समस्त जोकों में ( आभूपति ) शोभा देता है । अथवा—( वृकश्चिन् ) आदित्य के समान इसका ( वारय. ) वर्यीपस्वरूप ( उरामधि. ) अज्ञानों का नाश करने द्वारा ( वयुनेपु ) समस्त प्रज्ञावान् पुरुषों के आत्माओं में ( आभूपति ) शोभा देता है ।

अथवा—( वृकश्चिद् धारय वारय उरामधि ) भूमि को फारने द्वारा इन्द्र ही इसका वारय करने योग्य पदार्थ है जो उरामधि=शुद्धिही की ऊन के समान जमी घास को मथन करता है और वही ( वयुनेपु ) नाना ज्ञानयुक्त कायों में ( आभूपति ) प्रयोग किया जाता है । शोभा देता है । अथवा—( वृकश्चिद् धारय वारय उरामधि ) सब पापों का निवारक ज्ञानरूप वज्र ही इस आत्मा क शत्रुओं का नाशक वारय=आयुध है जो (वयुनेपु) सब आत्माओं में और प्रज्ञानों में (आभूपति) शोभा देता है ।

अथवा—राजाक पदमें (अस) इस इन्द्र राजा का (वृक) वज्र अर्थात् खड्ग और ( उरामधि ) शत्रुओं का मथन करने द्वारा ( वारय. ) गज बल दोनों ( वयुनेपु ) समस्त के मैदानों में या राजकायों में ( आभूपति ) शोभा देते हैं । वह राजा ( इम ) इस ( न० ) हमारे ( स्ते म ) ज्ञानसमूह और देश क विद्वान् सभ को ( जुजुपाय ) प्रेम से अपनता हुआ ( चित्रया ) विचित्र या ज्ञानयुक्त ( धिया ) बुद्धि, रात्रनीति या देश को धारय करने वाली द्यवनीति द्वारा ( आगहि ) उक्तम रूप से शासन करे । अन्य

भाष्यकारों ने 'वृक' शब्द से स्तेन आदि का प्रहय किया है सो असंगत प्रतीत होता है । ४. वृको लाङ्गलं विकर्तनात् ( नि० ६ । ख० २६ )  
 ५; वृक इति वज्रनाम विकर्तनादेव । ( निघ० २ । २० ) । वृक आदान  
 ( भ्वादिः ) इति इगुपधलक्षण्य. क० । वृषाङ्गवां पृषोदरादिश्वाद् । वृषोतेर्वो  
 यादिक. क । यद्वा वृजो वर्जन ( अदादि० ) इत्यतः औयादिक. कः  
 नकारजकारलोपश्च । यद्वा वृषोत्रैवंधकर्मण्य । विपूर्वकस्य कृन्ततेर्वापृषोदरादि  
 स्वास्त्रिपातनम् । ६. 'दाना मृगो न वारण्य' (६८८) अप्रापि वारण्यो राजपर्यायः  
 सायणसम्मत उपलभ्यते ।

अथवा—( वृकश्चिद् अस्य वारण्य उरामाधिरानयनेषु भूपति ) जंगली  
 भेड़िया भी जो भेड़ों को मारता है इन्द्र की आज्ञा में रहता है । वारण्यः—  
 जगली । वा अपि वृक उच्यते । विकर्तनात् । वृकश्चिदस्य वारण्य उरामधिः ।  
 उरयामधि उरण ऊर्ध्ववान् भवति । ( निरु० ५ । ४ । २ ) आदित्यो  
 पि वृक उच्यते यदावृङ्के ( निरु० ५ । ५ । १ )

१ २ ३ २ ३ २ ४ ३ १ २  
 [१६६३] इन्द्राग्नी रोचना दिव. परि वाजेषु भूपथ. ।

१ २ ३ २ ५ २ २  
 तद्वां चैति प्रधीर्यम् ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१६०४] इन्द्राग्नी अपसस्परि० ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २  
 [१६६५] इन्द्राग्नी तन्निपाणि वां० ॥३॥ १४ ॥ श० ११२। ६ ७. ८ ॥

भा०—( १ ) हे इन्द्राग्नी ! आप ( दिव रोचना ) दौलोक को प्रका  
 शित करने द्वारे इन्द्र अर्थात् सूर्य या विद्युत् के समान प्राण और अपान होकर  
 इस मूर्धास्थल को प्रकाशित करते हो और ( वाजेषु भूपथ. ) सब कार्यों में  
 या ज्ञानयज्ञा में शाभा देते, कार्य सम्पादन करते हो । ( तत् कीर्यं ) यह  
 सब सामर्थ्य ( वा च ) आप दोनों ही का है । राजपथ में इन्द्राग्नी सना  
 सनाध्यक्ष । और वाजेषु सप्रामों में ।

( २ ) 'इ-इ मी अपसस्परि०' प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अवि० सं० [ १५७७ ] पृ० ६७१ ।

( ३ ) 'इन्द्राभी ताविधाधि वा०' यह भी प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अवि० सं० [ १५७८ ] पृ० ६७१ ।

१ २ ३ ४ ५  
[ १६८६ ] क ई वर सुत सघा० ॥ १ ॥  
३ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

[ १६८७ ] दाता सुतो न वारण पुग्वा चरथ दये ।  
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२  
नकिन्वा नियमदा सुत रमा मर्होश्च न्याजसा ॥ २ ॥  
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

[ १६९१ ] य उत्र मन्नाग दृगा मिथरा रणाय मरुत ।  
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२  
यार म्ता नुमंघवा शृणुवञ्चभ्रन्त्रायोप-यागतम् ॥ ३ ॥  
पृ० ८ । ३३१ ७-६

भा०—( १ ) क ई वर सुत सघा० प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अवि० सं० २६७ पृ० १२२ ।

( २ ) ( मृग ) वनेला ( वारण ) हाथी ( न ) गिस प्रकार ( दाता ) धवन मद्रजला क क रण ( पुग्वा ) बहुत म स्थलों पर ( चरथ ) विचरण ( दय ) कराता है धीर उमका काई ( नकि नियमत् ) नहीं आकृता उभी प्रकार है इन्द्र भाव भी मत्त हाथी क समान ( दाता ) धवन नामा प्रकार क द नो शृणु सामर्थ्यो मद्रित ( पुग्वा ) सर्वत्र ( चरथ दय ) विचरण करा हो ( सुत ) इस उरुच विध में ( रमा ) आपका ( न्याज-नियमत् ) काई भी शक्य थाजा नहीं है । अप ( मन्नाग ) सवम यह हाकर ( मन्नाग ) धवन पराकृत मानस्य म ( मिथरा ) सबप्र विचार्य करा हो । याव ( सुत ) इग विध न कर इगार इदय धीर यज्ञ में ( म-गम ) व्याप्त हो ।

( ३ ) ( प ) जा धरा ( वप्र ) प्रेषान् शरिमान् ( अ  
 निस्तृण ) अधिनाती, किमी मग मारा गवा ( स्थिर ) कृष्य, गीय  
 ( रद्याप ) सर्वत्र विष में धीर इस दह में रमण करन क लिय  
 ( ससकृत ) सत्कार किया गया नाना कम पदों से या तप माधनों से शुद्ध  
 किया गया है ; ( यदि ) अब ( मघवा ) ज्ञानवान् ज्ञाना ( स्नातृ ) स्तुति  
 करन दार विद्वान् की ( इव ) पुकार का ( नृण्यवन् ) सुनलता है ता  
 ( इन्द्र ) वह पृथर्ववान् ज्ञाना ( न यापति ) पृथग् नहीं रहता प्रत्युत  
 ( आगमन् ) उस प्रप हा जाता है ।

परमात्मा क पप ने—( ससकृत ) नाना गुणों से उपापित हाकर  
 अब यह प्रप भक्त की पुकार सुनता है ता उसके दृश्य में प्रकट हाता है ।

इति तृतीयोऽङ्कः ।

— 0 —

[१६६८] पञ्चमाना अमृतजन सोमा शुक्रास इन्द्र ।

अभि विद्यानि वाङ्मया ॥ १ ॥

[१७००] पञ्चमाना दिग्भ्यन्तरिक्षाद्रुजन् ।

पृथिव्या अधिमानति ॥ २ ॥

[१७०१] पञ्चमानास आशय शुभ्रः अस्तुप्रोमिन्द्र ।

प्रन्तो विश्वा अप ह्रिय ॥ ३ ॥ ११ ॥

व० ९। ६३। २५ २७ २, १।

भा०—( पञ्चमाना ) शुद्ध पवित्र ( शुक्रास ) शुद्ध शुक्ल कर्मों  
 क करन दार ( सोमा ) शमादिगुणमगल ( इन्द्र ) योगी विश्वगुरु  
 जन ( विद्यानि ) समस्त ( वाङ्मया ) यद्वाणियों का ( अभि ) नादात्  
 ( जगत्पत ) करत है ।

( २ ) ( पवमानाः ) शुद्ध पवित्र, या गति करने हारे, या ज्ञानवान्-पुरुष ( दिवस्पति ) द्यौ भ्रयांत प्रकाशमान् लोकों में ( अन्तरिक्षात् ) और अन्तरिक्ष में और ( पृथिव्यां ) पृथिवी के ( अधि सानवि ) उच्च पर्वत भागों में ( असृष्ट ) तप और विद्या का सम्पादन करते हैं ।

( ३ ) ( शुभ्रा ) शुभ्रगुणयुक्त, ( आशवः ) शीघ्र गति करने हारे, अग्रमादी, ( पवमानास ) सब को पवित्र करने हारे, ( इन्द्रवः ) ज्ञानी पुरुष ( विधाः ) सब ( द्विपः ) द्वेष करने हारे पुरुषों को, या द्वेषभावों को ( अप्रमन्तः ) दूर मार भगते हुए ( असृष्टम् ) कार्य सम्पादन करते हैं ।

यज्ञपत्र में पवमाना, शुक्र, आशव, शुभ्रा, इन्द्रव, आदि सब विशेषण गौणवृत्ति से सामरसों में लगते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
[१७०२] तोशा वृषहृणा ह्ये स जित्वानापराजिता ।

३ १ २ ३ १ २  
इन्द्राग्नी वाजसातमा ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २  
[१७०३] प्र वामर्चन्त्युक्थिन ७ ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ २  
[१७०४] इन्द्राग्नी नवर्ति पुरः ० ॥ ३ ॥ १७ ॥ ष० ३ । १२ । ४, ९ ॥

भा०—( १ ) ( तोशा ) भीतरी रोगादि शत्रुओं के नाशक, ( वृषहृणा ) अज्ञान के हनन करने वाले, ( सजित्वाना ) समान रूप से विजय करने हारे, प्रबल, ( अपराजिता ) कभी न हारन वाले अनयक, ( वाजसातमा ) बल के देने वाले ( इन्द्राग्नी ) इन्द्र और अग्नि प्राण्य और अपान आत्मा और अन्तःकरण, परमात्मा और जीवामा, राजा सेनापति, गुरु शिष्य होते हैं ।

( २. ३ ) “ प्रवामर्चन्त्युक्थिन ० ” और “ इन्द्राग्नी नवर्तिपुरः ” यह दोशों प्रतीकनाम है । व्याख्या देखो अवि० स० [ १२५२, १२७६ ] पृ० ६७ ॥

[१७०५] उप<sup>१ २</sup> त्वा<sup>३ १ २</sup> रण्यसन्दृश<sup>३ १ २</sup> प्रयस्वन्त<sup>३ १ २</sup> सहस्रुत ।

अग्ने<sup>१ २</sup> ससृज्मह<sup>३ २ ३ १ २</sup> गिर ॥ १ ॥

[१७०६] उपन्द्वायामिथ<sup>१ २</sup> घृणरगम<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> शर्म<sup>३ २</sup> ते वयम् ।

अग्ने<sup>२ ३ १ २</sup> हिरण्यसन्दृश ॥ २ ॥

[१७०७] य उग्र<sup>२ ३ १ २</sup> इव शयद्वा<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> निग्मशृङ्गा<sup>३ २</sup> न वसग ।

अग्ने<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup> पुरो<sup>३ १ २</sup> दराजथ ॥ ३ ॥ १८ ॥

अ० १। २६। २७-३६ ॥

भा०—( १ ) हे ( सहस्रुत ) षड् और साध्या स साध्यात् करन् योग्य अग्र<sup>१</sup> ( प्रयस्वन्त ) ज्ञानी मुमुक्षु इमं ज्ञाग ( रण्यसन्दृश ) रमण्य करन हार या रमण्याय और दशन करन य ग्य या सबक दष्टा ( त्वा ) भाप परमधर क ( उप ) समाप प्राप्त होने क क्रिय ( गिरः ) स्तुतियों या पदवाकियों का ( ससृज्मह ) उच्चारण करें ।

( २ ) जिस प्रकार ( घृण्य ) द्वाप्यमान मूय क तज स सन्तस्र षाकर ज्ञाग ( छायां इव ) छाया का आश्रय छत हैं उसी प्रकार हे ( अग्र ) ज्ञानवन् प्रभा<sup>१</sup> ( हिरण्यसन्दृशः ) मूय समान स्वरूप षाड् ( त ) भापक ( शर्म ) शरण्य मुक्त का ( वय ) इम ( उप अगम ) प्राप्त हों ।

( ३ ) ( य ) जा ( शयद्वा ) वाया स मारन हार याद्वा क ( इव ) समान ( उग्र ) अति भयकर शत्रुशाली ( वसग न ) बैज के समान ( निग्मशृङ्गा ) तीक्ष्ण शृंग अथात् प्रखर तज षाड्, हैं वही भाप इ ( अग्ने ) प्रभा<sup>१</sup> ( पुर ) सब दहों का ( दराजथ ) ज्ञान षड् स ताड् षाड्त् इव और मुमुक्षुओं का मुक्त कर देने हा ।

सायण न अग्नि का स्वरूप मानकर त्रिपुर दहन की कथा का जगापह है । लिखा है—“ ददा वा एष पदग्निः ” इति श्रुत । रुद्रकृतमपि त्रिपुर-

दहनम् अग्निहृतमवति श्रूयत । यद्वा त्रिपुरदहनसाधनभूत वायु अग्निर  
 नाकारवनावस्थानादाग्निं पुराणि नम्रवान् इत्युच्यत । ” अथात् एव अग्नि  
 का नाग है एसी माहाय धृति है । अत एव का किया त्रिपुरदहन अग्नि  
 ही का किया कहा जाता है । अथवा त्रिपुर क दहन करन में साधन वा  
 वायु में अग्नि सहायक था इसल अग्नि न दुरों का ताड़ा एसा कहा  
 जाता है । परन्तु इस का रहस्य सावय न स्पष्ट नहीं किया, यह ज्ञान  
 कारिक है । वस्तुत —

वेदप्रथो त्रिनत्राणि त्रिपुर त्रिगुण ययु । ( पु० )

भस्मीकर ति तद्द्व्यग्निपुरप्रस्तत स्मृत ॥ ( स्क०द० मदि० कौ० रा०  
 २ । अ० २६ )

अथात्—एव क तीन वेद तीन ात्र है, त्रिगुण दद त्रिपुर है उसल  
 वह ज्ञानरूप से प्रकट होकर भस्म कर दन स त्रिपुरा कहा जाता है ।

[१७०८] ऋतागात वैश्वानरमृतस्य ज्यानिदस्वभिम् ।  
 ३ १ २                      ३ २ ३ २ ३ १    २ ३ १ २  
 १ २ ३ १ २

अजस्र घनमीमहे ॥ २ ॥

[१७०९] य इदं प्रनिपप्रथं गद्यस्य स्वस्तित्तिरन् ।  
 ३ २ १ २                      ३ २

ऋतून्मृसृजत पशौ ॥ ७ ॥

[१७१०] अग्निं त्रियषु धामसु धामा भूगस्य भावस्य ।  
 ३ २ २                      ३ १ २

सन्नाडया त्रिराजति ॥ २ ॥ १८ ॥

दृग्ने ना न । म धा यजु० २६ । ६ भा० १० ६ ३६ । १॥ दि  
 ठावाभव० ६ । २६ । २ ॥ सुवीवा यजु० १२ । ११७ ।

१६०८—२ म विधा यत्रय स्कृन् ऋतून्मृसृजत पशौ धाम्य भव उर्यर्य इत  
 छट गद्य ति । ३ अग्नं त्रियु धामसु इति भाष्य० ।



भा०—( १ ) ह अन्न । (प्रतावान) सवज्ञानस युक्त या इस प्रज्ञावृद्ध को धारण करन वाल ( वैधानरम् ) समस्त नर अर्थत् आ माथों में भी स्वापक, सवक दितकारक ( ज्योतिष पति ) सव ज्योतिष्मान् सुख आदि विशाल लोका क प्रतिपालक ( भजन् ) अन्नादि, नित्य ( घर्म ) शुद्ध देति मान् आपको ( इमह ) उपासना करत है ।

( २ ) ( य ) जा अग्नि<sup>१</sup> परमात्मा ( यज्ञस्य ) आत्मा का ( स्व ) ज्ञान-दमय माण्ड ( उत्तिरन् ) प्रदान करता है और ( इद ) समस्त प्रज्ञावृद्ध को ( प्रतिपश्य ) रचता है और सब का वशकर्ता, अधिष्ठाता हाकर ( ऋतून् ) प्राणों का और गतिशाल पिरदों और लुहों कालरूप वसन्त आदि ऋतुओं को सूप के समान ( उत्सृजत ) उ कृष्ट रूप में बनाता और प्रकट करता है ।

( ३ ) घह ( अग्नि ) सव का पूजनीय प्रकाशस्वरूप परमात्मा ( भूतस्य ) समस्त भूतकाल और उसम उत्पन्न हुए समस्त पनाओं और ( मन्यस्य ) भविष्यत् काल और उनमें हान वाल समस्त जगत् का ( काम ) मूल उत्पादक सकल्प क समान आदिकारण ( त्रिषु ) अति श्रेष्ठ और विभूतियुक्त प्रेष्ठ ( धामसु ) लोकों में ( एक ) एकमात्र अद्वितीय ( सघ्राद् ) सावर्भाम सघ्राद् परमधर स्वामी हाकर ( विराजति ) विशप रूप स विराजमान है ।

इति ननुथ सण्ड ।

**उत्पष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ।**

इति द्वितीयोऽर्थे प्रपाठक ।

## अथैकोनविंशोऽध्यायः ।

अथाष्टमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ।

श्रवः—१ विरुष आङ्गिरसः । २. १८ अक्षसातः । ३ विदशमित्यः । ४  
 देशप्रिधिः काण्डः । ५, ८, ९, १६ गतमो राहूणः । ६ वामशः । ७ प्रत्य-  
 प्तः काण्डः । १० वसुधुत आनेपः । ११ गृह्यमशा अनेपः । १२ अस्त्युरात्रेपः ।  
 १३ दुष्परिष्ठिताशनेपौ । १४ तुरस आङ्गिरसः । १५ अग्निः । १७ दीर्घेपया  
 जीवन्तः ॥ देवता—१, १०, १३ अग्निः । २, १८ पशमानः मोमः । १-५  
 इन्द्रः । ६, ८, ११, १४, १६ उताः । ७, ९, १२, १५, १७ अश्विनी ॥  
 छन्दः—१, २, ६, ७, १८ गायत्री । ३, ५ इती । ४ प्राणान् । ८, ९  
 उक्तिः । १०-१२ पञ्चमः । १३-१५ त्रिष्टुप् । १६, १७ उग्री ॥ स्वरः—  
 १, २, ७, १८ षड् । ३, ४, ५ मध्यमः । ८, ९ पञ्चमः । १०—१२  
 पञ्चमः । १३-१५ धैवतः । १६, १७ निदः ॥

३ २ ३ ३ ३ १ ३ १ २ ३ ३ २  
 [१७११] अग्निः प्रग्नेन जन्मना शुम्भानस्तान्ध्यांश्चि स्वाम् ।

३ १ ५ १ ५  
 कथियत्रेण याशुधे ॥ १ ॥

३ १ ५ १ ५ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ १  
 [१७१२] ऊर्जो नपानमाहुयग्नि पात्रकजाचियम् ।

३ २ ३ १ २ ३ २  
 अस्मिन्येषु स्वप्यरे ॥ २ ॥

१ २ ३ १ ५ १ ५ ३ १ २ ३ १ २  
 [१७१३] स नो मिश्रमहस्यमग्ने शुभ्रेण शोचिषा ।

३ १ ५ १ ५ ३ १ २  
 देवैरासतिस यद्विदि ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ङ । ४४ । १२-१४ ॥

भा०—( १ ) ( अग्नि. ) ज्ञानस्वरूप प्रकाशमय आत्मा ( प्रनेन ) अपने पुराने अर्थात् पूर्व के किये ( जन्मना ) जन्म अर्थात् स्वरूप से या जन्म में किये कर्मों द्वारा ( स्था ) अपने ( तन्वा ) शरीर का ' शुभान ) उत्तम रूप से सुशोभित करता हुआ ( कविः ) कातदर्शी, मेधावी, ज्ञानी होकर ( विप्रेण ) मेधावी ज्ञानमय परमेश्वर के संग ( वावृधे ) अपनी वृद्धि और अभ्युदय प्राप्त करता है ।

सायण ने ' जन्मना ' और ' विप्रेण ' का अर्थ स्तोत्र किया है । तुलसी-रामजी—' प्रनेन जन्मना ' पुराने जन्म से सनातनस्वरूप से । मीफिथ पुराने तरीके से ।

( २ ) ( ऊजोनापातम् ) बल वीर्य का विनाश न होने देने द्वारे ( पावकशोचिपम् ) लोकों को शाध कर पवित्र करने द्वारे तेज से युक्त ( अग्निम् ) अग्निस्वरूप आत्मा को ( अस्मिन् ) इस ( स्वध्वरे ) उत्तमरूप, अविनाशी ( यज्ञे ) दान प्रतिदान स्वरूप यज्ञ या इष्टदेवपूजा या समाधि दशा में या सर्व पूज्य परमात्मा में ( आहुवे ) समर्पित करता हू ।

( ३ ) हे ( अग्ने ) आत्मन् ! हे ( मित्रमहः ) अपने मित्र परमस्नेही परमेश्वर के संग से स्वतः तेजस्विन् ! ( त्वम् ) तू ( शुक्रेण ) शुद्ध ( तेजसा ) तेज से ( दवैः ) अपनी इन्द्रियों के साथ ( बर्हिषि ) इस देह में ( आ ससि ) विराजमान है ।

परमात्म पक्ष में—हे मित्र ! या सूर्य के समान कान्ति वाले या सब के मित्र एवं पूजनीय परम प्रभो ! ( त्वं ) आप शुद्ध कान्ति से दिव्य गुण युक्त विद्वानों और सूर्यदि ' देव ' लोकों के संग इस ( बर्हिषि ) मद्राण्ड में ( आ ससि ) विराजमान हो ।

२ ३ १ २                      ३ १ २ ३ १ २  
[ १७१४ ] उक्ते शुष्मासो अस्थू रक्षो भिन्दन्तो अद्रिवः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २  
नुदस्व याः परिरुप्यः ॥ १ ५

[१७१४] अरातिजतिराज्जवा रथमङ्गे यो दित ।  
 ३ १ ० ३ १४ २      ३ २ १२ ३ २  
 २ ३ १ २      ३ २

स्तवा अविभ्युषा हृदा ॥ २ ॥

[१७१६] अम्य व्रतानि नाष्टुप पयमातस्य दृष्ट्या ।  
 १ २ ३ २ ३ २४ ३ १ २      ०६ २२  
 ० १४      २२ ३ १ २

रुज यस्तवा पृतन्यति । ३ ॥

[१७१७] न इव निति मदच्युत हरि नदीषु घाजिगम् ।  
 १ २      ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 २ ३ १ ०      ३ २

इन्द्रामद्राय मत्सगम् ॥ ४ ॥ ० ॥ अ० ९ । ५३ । १-४ ॥

भा०—( १ ) इ ( साम ) सवात्पादक<sup>१</sup> इ ( अद्विव ) आदरणीय<sup>१</sup> अष्टुपवल्गन्<sup>१</sup> परमामन्<sup>१</sup> आदर करण वाल भद्रों क स्वामिन्<sup>१</sup> ( १ ) तर ( शुष्मास ) बलप्रधान ( रघ ) दुष्ट पुरुषों का या विघ्ना का ( भिन्दन्त ) विनाश करत हुए ( उत् अष्टु ) सबसे ऊपर विराजमान हैं ( या ) ना ( रथ ) गुक्त स रपदा करत है उन नारिकों का नू ( नुदस्य ) नाश गिरा दता है ।

( २ ) इ ( साम ) शेषर्षवन्<sup>१</sup> परमामन्<sup>१</sup> आप ( अया ) इस प्रकार क ( आज्जवा ) सत्र और बल म विघ्ना और विघ्नकारियों का ( नितिगति ) प्रशास करत डार हा । ( रथमग ) इस रथण करण या य दद या रमस्वरूप सरासग का र हा तात पर और धन<sup>१</sup> नृत्ति य रथ भाष्य पदाथ क ( दित ) प्राप्त हा तात पर म ( अविभ्युषा ) अभय ( हृदा ) पिच स ( स्तवै ) आपका स्तुति करता ह ।

( ३ ) ( अत्य ) इम ( पयमानस्य ) पयमान सयवरक अयापक और मय का पवित्र करण हा ०५ इत्य पवित्र परमशर की ( व्रतानि ) व्यवस्थाप ( दृष्ट्या ) दुष्ट बुद्धि वाले मूत्र अभिजानी पुरुष से ( न

आद्य ) अपमान या विनाश नहीं हो सकती। हे परमात्मन् ! ( य ) जा ( त्वा ) आपका ( पृतन्यति ) विराध करता है आपक नियमों और आज्ञाओं का उल्लंघन करता है आप उसको, ( रज<sup>२</sup> ) पीदा उपलब्ध करत है या उसका विनाश कर देत है ।

( ४ ) ( त ) उस ( मदच्युत ) ध्यानन्द रस के गृहान वाले, ( वा-  
जिनम् ) ज्ञानमय, ( हरिं ) दुष्टों क हरण करन हार सर्वव्यापक ( मसरम् )  
स्वय परमसुखनाक आनन्दस्वरूप ( इन्द्रम् ) परमेश्वर का ( इन्द्राय )  
अपन आमा क हित क लिये ( दिवन्ति ) उपासना करत है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
[ ७१८ ] आ मन्द्रैरिन्द्र हरिनिर्वादि मयूररोमभि ।  
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ ३ १ ३ २ ३ १ २  
मा त्वा वैचित्रियमुरिभ पाशिनोऽत धन्वत्तो रदि ॥ १॥  
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २  
[ १८६ ] वृषस्त्रादो वल रुज पुरा दमो अपामज ।  
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ २ ३ २ ३ २  
स्याता रथस्य ह्योरभिस्यर इन्द्रा हृदाचदाक्षज ॥ २ ॥  
३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
[ ७२० ] नम्भरिं उद्धी रिव क्रतु पुष्यसि गा इव ।  
१ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
प्र सुगोपा यवम धेनवो यथा हृद कुल्या इनाशत  
॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० ३। ४५। १—३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दस्य अविफल स० [ २४६ ] पृ० १२६ ।

( २ ) ( वृषस्त्राद ) आवरणकारी अज्ञान का नाशक ( वल रुज )  
बलन करन वाले, प्राण धारण करन वाले दह, या मोक्ष की अपराध करन  
वाले तामस आवरण को तोड़ डालन हार, ( पुरा दमो ) पञ्चकाश रूप  
पुत्रियों क विदारक, ( रथस्य स्याता ) इस रथ या दह या विशाल महाएड

२ रजा भङ्ग ( वृादि ) का विनाश ( वुरादि ) ।

रूप रथ क अधिष्ठाता ( अपाम् अज ) कमों और मन मकत्वों क प्रस्था करन वाल, ( ह्यो अभिस्वर ) प्राणदिय और ज्ञानादिय अथवा प्राण और अपान इनका साप्तात् रूप स प्रक ( इद् ) आत्मा और परमात्मा ( वृद्धाचित् ) वृद्ध स वृद्ध, कठार से कठार बन्धनों या विष्टों को भी ( आरुव ) विनाश कर दता है ।

( ३ ) हे इद् ! ( १४ ) आप ( गभारान् ) गभार ( उदधन्ति इव ) समुद्रों को जिस प्रकार निरन्तर सहस्रों जलधारा पुष्ट करती हैं । और वह सूखत नहीं उसी प्रकार आप इस ( अतु ) जीवात्मा का नाना जीवन धाराओं स पुष्ट करत हो कभा विनाश नहीं होन दत । और ( सुग पा ) उत्तम गोपालक ( या इव ) जिस प्रकार अपना गौओं का ( प्र पुष्यति ) लूब खिजाकर पुष्ट करता है उसी प्रकार आप जीवों का भी सूब अन्नदि दकर पुष्ट करत हैं । और ( यथा ) जिस प्रकार ( धनव ) गौण ( यवस ) अपन चार पर आता हैं उसी प्रकार य जावगय आपक पास पहुच जात हैं और ( कुल्या इव ) जिस प्रकार सब नहरों या नदिया ( हृद् ) विशाल ताल या समुद्र में आ गिरती हैं उसा प्रकार य नाव आप में ही सब भद्रभाव त्याग कर आ मिलत हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ २  
 [१७२१] यथा गौरा अशकृत तुष्यन्नत्यजरिणम् ।  
 ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 आपित्वे न प्रपित्वनूयमागहिकयत्तु सु सचा पिरा॥१॥  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 [१७२२] मन्द तु त्या मघवन्निद्र दत्ता राम देयाय सु-जे ।  
 ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ १  
 आमुष्या साममपिवश्चमूसुत ज्यष्ट तदधिप सह । २॥४॥

च० न । ४ । ३, ६ ।।

भा०—( १ ) व्याख्या दक्ष भवि० स० [२५२] पृ० १२८ ।

(२) हे (मघवन्) ज्ञानवान् आ मन् ' हे (इन्द्र) पृथर्ववन् ' (इन्द्रव) ये सोमरस ज्ञान और आनन्ददायक समाधि क विशय अनुभव (त्वा) तुम्हको ( म दन्तु ) हर्षित करें । ( सुन्वते ) ज्ञानरस का उत्पन्न करन हार साधक विद्वान् यागी क (राध) सिद्धि (दयाय) प्राप्त करान क लिय (चमू सुत) प्राय्य और अयाग रूप चमू दोनों स उत्पन्न किय गथ (सामम्) साम अर्थोत् आनन्दरस को ( अमुष्य ) गुस्तरूप स प्राप्त करक स्वय ( सामम् ) प्रज्ञानन्द को ( अपिव ) पान करता है और तू ( तत् ) उस अलौकिक ( उच्य ) सबसे महान् ( सह ) सह स्वरूप सवशास्त्रिमान् ईश्वर का अपन भीतर ( दधिषे ) धारण करता है ।

[१७२३] <sup>२ ३ १ २ २</sup> त्वमङ्ग <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> प्रशासिषो देव शधिष्ठु मर्त्यम् ।

<sup>२ ३ ३ १ २</sup> न त्वदन्यो मघवश्चास्ति <sup>३ २ ३ १ २</sup> मङ्गितेन्द्र <sup>३ १ २</sup> प्रवीमि ते चच ॥१॥

[१७२४] <sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> मा त राधास मा त ऊतया वसोऽसान् कदाचनादमन् ।

<sup>१ २</sup> विश्वा च न उपमिमिहि <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> मानुषवसूनि च <sup>३ २ ३ २</sup> शणभ्य आ ॥२॥५॥

अ० १ । ८४ । १६, २० ॥

भा०—( १ ) इत्याख्या दखा धवि० स० [२४७] पृ० १२५ ।

( २ ) इ ( वसो ' ) सर्व ससार का बसान हार परमानन् ' ( न ) तेरे ( राधासि ) बलास्वरूप पञ्चभूत ( कदाचा ) कभी ( मा दमन् ) विनाशकारी न हों । और ( त ऊतय ) तरी समस्त पाण्डक शक्तिया ( अस्मान् ) हम कभा ( मा दमन् ) विनाश न करें । और इ ( मानुष ) मनुष्य ' नू ( विश्वा च ) समस्त ( वसूनि ) आवास-साधनों का ( उपमिमिहि ) स्वय उ पन्न कर और उनका ज्ञान कर । और ( न चणभ्य ) हम विद्वान् पुरुषों का व नाना पदाध जा नू जानता और तैपार करता है ( आ ) प्रदान कर ।

इति प्रथम खण्ड ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २  
 [१७२५] प्रति प्या सूनरा जनी व्युच्छन्ती परि स्वसु ।

३ १ २ ३ २  
 दिवो अदर्शि दुहिता ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१७२६] अथेव चित्रारुपी माता गवानृतावरी ।

५ २ ३ १ २ ३ २  
 सखाभूदश्रिनाक्षपा ॥ २ ॥

३ १ २ २ ३ १ ३ २ ३ १ २  
 [१७२७] उत सखास्यश्विनारत माता गयामाभ ।

२ २ ३ १ २  
 उतोपा वस्त्र इशिपे ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ४ । २२ । १-३ ।

भा०—( १ ) ( स्या ) वह ( दिव ) स्य की ( दुहिता ) पुत्री तथा ( परि स्वसु ) रात्रि क उपरान्त ( व्युच्छन्ती ) तम का दूर करती हुई, ( सूनरा ) उत्तम नगा रूप ( जनी ) स्त्री क समाग ( प्रति आदर्शि ) प्रकट हाता है ।

अथवा—( स्या सूनरी जनी ) वह उपा उत्तम पुत्र उत्पन्न करन हारी, शुभ कइशा स पुत्र स्या क समाग ( स्वसु परि ) अपना भगनी क पीछे ( व्युच्छन्ती ) अपना रूप प्रकट करती हुई लोक में प्रकट हाती है उमा प्रकार वह ( दिव ) आश्रित्य क समाग प्रकाशमान यागी की ( दुहिता ) आनन्द रस का गहन करन वाली ज्यातिभता प्रज्ञा ( स्वसु ) स्वयं सरण करन वाला आप स आप प्रकट हान वाली प्रतिभा क ( परि ) साथ ( जनी ) उपलब्ध हाता हुई ज्ञान उपलब्ध करन हारी ( सूनरा ) उत्तम मोक्ष मार्ग की नभा हाकर ( प्रति आदर्शि ) दिग्दर्शिता है ।

( २ ) ( उपा ) प्रज्ञानाह्वरु का दहन करन हारी उपा साधक का विशाका प्रज्ञा ( अथा ) व्यापनशील विद्युत् क समान ( चित्रा ) विचित्र सज्ञानवता ( अथवा ) सब प्रकार स कान्तिमती तनत्रिनी, ( गवां ) इन्द्रियरूप गार्शो की ( माता ) उत्पादन करन वाली ( अतावरी ) सख



ज्ञान को वरण करने वाली या प्राप्त करने वाली अतमभरा स्वरूप (अधिना) शरीर भर में व्यापक प्राण और अपान इन दोनों की (सखा) साथ रहने वाली, उनके साथ ही वर्णन की जान योग्य, अथवा समान रूप से इन्द्रिय देशों में व्याप्त (अभूत्) है ।

( ३ ) पूर्व अत्रा के समान ही है ( उच ) उद्योतिमति ! विशोका नामक प्रज्ञे ! ( उत ) यद्यपि ( अधिनो ) अधि अर्थात् प्राण और अपान दोनों की तू ( सखा असि ) सखा है ( उत गवा माता असि ) और गो अर्थात् इन्द्रियों की तू उत्पादक माता के समान है । अथवा उनके गृहीत ज्ञान को भी प्रहय करने वाली, प्रमाणी है ( उत ) तथापि हे उच ! प्रकाश-स्वरूप प्रज्ञे ! तू ( वस्व ) आत्मा या प्राण की ( ईशिपे ) शक्ति को धारण करती है ।

[१७२८] <sup>३ २ ३ १ २ २ २ २ २ २ ३ २ ३ २</sup> यपो उवा अपूर्व्या व्युच्छ्रति प्रिया दिव ।

<sup>३ १ २ ३ २</sup> स्तुप वामश्विना वृहत् ॥ १ ॥

[१७२६] <sup>२ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २</sup> या अस्मा सिन्धुमातरा मनोतरो रथीणाम् ।

<sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> प्रिया देवा वसु प्रिया ॥ २ ॥

[१७३०] <sup>३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> वच्यन्ते वा वकुहासा जूषायामधि विष्टि ।

<sup>३ २ २ ३ २ ३ १ २</sup> यद्वा रथो विभिषजात् ॥ ३ ॥ ७ ॥ अ० १ । ४६ । १—३ ॥

भा०—( १ ) ( पृषा उ ) यह ( उवा ) उवा, सकल पापदाहिका विशोका प्रज्ञा ( अपूर्व्या ) यागी के अनुभव में पूर्व कभी न आई हुई ( दिव ) प्रकाशमान आत्मा की ( प्रिया ) अत्यन्त प्रेमपात्र है । हे ( अधिना ) देह में निरन्तर गति करने वाले प्राण और अपान इस विशोका का प्राप्ति के लिये ( वा ) आप दोनों के ( वृहत् ) बहुत अधिक ( स्तुप ) गुणकारी होने का यथार्थ वर्णन करता है ।

( २ ) ( या ) जो दोनों ( देवा ) देव, प्राण्य और अपान ( यथा' )  
 अप्रमत्त दर्शनीय, अपथवा काम शोभादि मर्त्तों के नाशक, अपथवा सब कर्म कराने  
 हारे, या रोग विनाशक, शरीर के भीतर सब के कर्म के करने कराने हारे  
 (सिन्धुमातरी) देह के सब रक्तप्रवाहिनी नदियों या प्राणों को प्रवाहित करने  
 हारे उनके ठीक रीति से संचालक, ( रयाण्यां ) सब ज्ञानेन्द्रिय और कर्म-  
 श्रियों के ज्ञान और कर्मों को ( मनोतरा ) मनोबल द्वारा प्रेरणा करने  
 और मनोबल से ही उनके ज्ञान और क्रिया को स्वयं प्राप्त करने कराने हारे  
 ( धिया ) प्यान वृत्ति से ( वसुविश ) वसु, आत्मा का ज्ञान कराने वाले  
 या, उस तक स्वयं पहुंचने वाले हैं ।

( ३ ) पूर्वोक्त रूप से वर्णित किये गये हे अरिबधो ! ( वां ) आप  
 दोनों का ( रथः ) रमणस्थान यह आत्मा ( यत् ) जब ( विभिः ) पदार्थों  
 तक पहुंचने वाले प्राण्यगणों सहित ( जूयांपाम् ) अतिदंशसा योग्य वा  
 सनातन ( अधि विष्टपि ) मोक्षस्थान पर ( पतात् ) गमन करता है तब  
 ( वां ) आप दोनों के ( ककुहासः ) उत्तम गुण्य ( वृष्यन्ते ) वर्णन किये जाते हैं ।  
 उन दोनों का ( रथः ) रमण स्थान यह देह ( जूयांपाम् अधिविष्टपि )  
 जीर्णरथा, बुद्धावस्था तक पहुंच जाता है । पूर्वोक्त भोग क्लेश है तब  
 उन दोनों के गुण्य वर्णन किये जाते हैं ।

१०२८—१. दक्षि दक्षशून्योः । दक्षि दक्ष शब्दके ( चुरादि. ), दक्षि भाष्येः  
 ( चुरादिः ), तस्य उपक्रमे दस्य च ( दिवादिः ) श्रयेतेभ्यो 'स्फायित्० ची  
 ति०' औणादिको रुक् ( उणा० २ । १३ ) । दस्वति रोगान् उपक्षपति  
 इति दक्षः ( ददा० उणा० ) दक्षा रुक्म्या दास्यिनारौ, दमयिनारौ, कर्मणा  
 रुक्म्यादीनां कारयिनारौ । पनावेनविधौ कर्म कारयन्तौ चुरादी वा इति  
 दुर्गाभाष्येः ( निर० अ० ६ उ० २६ ) नीकस्तीनायाम् ।

२ ३ २ ३ ११ २१ ३ १ २  
 [१७३१] उपस्तश्चित्रमाभरास्मभ्य वाजिनीवति ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 येन तोक च तनय च धामहे ॥ १ ॥

१ २ ३ ११ २१ ३ १ २  
 [१७३२] उपो अद्येह गामत्यश्वावति विभावरि ।

३ २ ३ १ २  
 रेवसै व्युञ्ज्य मृतावनि ॥ २ ॥

३ ११ ११ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 [१७३३] सुध्या हि वाजिनीवत्यश्वा अयारुषो उप ।

१ २ ३ २ ४ १ २ ३ १ २  
 अथा नो विश्वा सौभगान्यावह ॥ ३ ॥ ८ ॥

अ० १ । ६२ । १३-१५ ॥

भा०—( १ ) इ ( उप ) कमनीय कन्वा क समान विशेषप्रज्ञे !  
 उपोतिष्मति ! इ ( वाजिनी वति ) ज्ञानमय वायी से युक्त ! ( अस्मभ्य )  
 हमें । तत् ) वह ( चित्र ) समग्र योग्य प्राप्त्ये ज्ञान ( आभर ) प्राप्त करा ।  
 ( येन ) जिसस ( तोक ) पुत्र क समान प्रिय एव क्रीड़ाशील चित्त और  
 ( तनय ) समान ज्ञान पावन योग्य इस दह को ( धामहे ) धारण करें,  
 विश्वास्त तक जितन्द्रिय, विरायु हाकर रहें।

( २ ) हे ( विभावरि ) उपाति से सम्पन्न या विशेष कान्ति से  
 वरण करन योग्य या कान्ति से सम्पन्न उपोतिष्मति ! हे ( उप ) आभ्यन्तर  
 मर्कों को दाह करन हारी चित्तियक्ति ! इ ( गामति ) वायी या ज्ञानेन्द्रियों  
 या शक्तियों से युक्त ! हे ( अश्वावति ) अथ अर्थात् कर्मोन्द्रिय या मनरूप अथ  
 वाणी ! हे ( मृतावनि ) उत्तम अथ अर्थात् त्रिकाश्रवाधित ज्ञान से सम्पन्न

१७३३—१ उप दाह ( आदि ) उपम प्रभानभाव ( कण्वादि ) तयो २५

२ ' चित्ति अभिरोगा' ( जगदि० ४१ २३४ ) । आपत्रि दहतीति उप ,

३ ' कणचिद्व्र पवतमदो वा ( श्रिया ) प्रवतमचरु ( दवा० ) । . .

अथवा सूत्रा वेदवाणी का दर्शन मनन और निदिध्यासन करने हारी तू । अस्मै ) इमार लिये ( रथम् ) रथि, अर्थात् ज्ञान प्राण और पेश्वर्य से युक्त आत्म स्वरूप को ( श्युच्छ ) इमारे सामने सौल दे ।

( ३ ) हे उपः ! हे वाजिनीवेति ! ( अघ ) अज ( अरुणान् ) चेत नाश से युक्त दीप्तिमान्, अथवा रोगरहित ( अथान् ) प्राणों को ( युष्व हि ) इस देह रूप रथ में प्रेरित कर । ( अथा ) और ( नः ) हमें ( विधा ) समस्त ( सौभाग्यानि ) उत्तम सुखदायी पदार्थों को ( आघह ) प्राप्त करा ।

३ २            ३ २ ३ १ २    २            ३ १ २  
[१७३५] आश्वना धारिरस्मादासांमदुदसा द्विरथ्यवत् ।

३ २ ३ १ २    ३ १ २

अवां प्रथ समनसा नियच्छतम् ॥ २ ॥

२ ३ १ २    ३ १ २ ३ १ २    २

[१७३५] एह देवा मया भुवा दसा द्विरथ्यवत्तनी ।

३ १ २            ३ १ २

उपवुं गो तहन्तु गोमपीनये ॥ २ ॥

१ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २    ३ १ २

[१७३६] याः पितृथा श्लोकमा दिवो ज्योतिर्जनाय चक्रधुः ।

२ ३ १ २            ३ २

आ न ऊर्जे गहनमश्विना युवम् ॥ ३ ॥ ६ ॥

श० १ । ६१ । १६, १८ १७ ॥

भा०—( १ ) हे ( अश्विनौ ) देह में व्यापनशील ! प्राण और अपान ! आप दोनों ( दसौ ) रोगों के विनाशक हो । अनः आप दोनों समनसा ) हमारे मन के मानस बल के साथ होकर ( द्विरथ्यवत् ) आत्मा से युक्त और ( गोमन् ) इन्द्रियों से युक्त ( रथम् ) इस रमण योग्य उत्तम रथ रूप देह को ( अवां ) अपने अधीन करके साक्षात् रूप से ( नियच्छतम् ) नियम में रखो ।

( २ ) ( इह ) इस देह में ( उपवुं धः ) \* ज्योतिष्मती प्रज्ञा को ज्ञान-जागृति से चेतन कर खेने वाले अथवा प्रयुद्ध योगी जन ( द्विरथ्यवत्तनी )

आत्मा के बल पर अपनी चेष्टा करने वाले अथवा आत्मारूप रथ पर चढ़े हुए, अथवा हिरण्य=आत्मा को, वर्तन्ति अर्थात् अपना पेरक घोर आश्रय बनाने हारे, ( दत्ता ) सत्तादिशोधक, अतएव ( मयोभुवा ) सुख और आरोग्य के उत्पादक, ( देवा ) दिव्यगुणयुक्त प्राण्य और अपान दोनों को ( सोमपीतये ) तद्व्यान-दरस को पान करने के लिये ( आवइन्तु ) अपने वश करें ।

(३) हे (अश्विनैः) पूर्वोक्त प्राण्य और अपान ! (यौ) जो आप दोनों (हृथा) इस प्रकार से (दिवः) द्यौलोक या मूर्धाभाग से (शलाकं) प्रशस्तनीय या अतिघनीभूत उद्योति विशोका, विवेक स्थापति को (जनाय) साधक पुरुष के लिये (चक्रधुः) उरपन्न करते हों वे ही (युव) आप दोनों (नः) हम लोगों के लिये (ऊर्जे) परम पोषक रसरूप बल को (आव-इतम्) प्राप्त कराओ ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

- ३ ५४ २४ ३ २४ ३ २ ३ १९ २४ ३ १ २ २ ३ १ २  
 [१७३७] अग्निं तं मन्ये यो वसुरमन्तं य यन्ति धेनवः । अस्नमन्मन्तं  
 ३ २४ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 आशवोऽमन्तं नित्यासो वाजिन इपं स्तोतृभ्य आभर ॥१॥  
 ३ ५४ ३ १ २ ३ ५४ २४ ३ १ २ ३ २४ ३ २  
 [१७३८] अग्निर्हि वाजिन विश वदांत वश्यन्नर्पाणि । अग्नी रायं  
 ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 स्वाभुपं स प्रीतो याति चार्यमिष स्तोतृभ्य आभर ॥२॥  
 ३ १४ २४ ३ २४ ३ १ २ ३ १ २ १४ २४  
 [१७३९] सो अग्निर्यो वसुर्गणे सं यमायन्ति धेनवः । समर्षन्तो  
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २  
 रघुदुव' समुजातालः सूर्य इय स्तोतृभ्य आभर ॥३॥  
 १० ॥ अ० ५ । ६ । १, २, २ ॥

( २ ) ( हि ) निश्चय से ( विशे ) प्रजाओं के हित के लिये ( अग्नि- ) ज्ञानस्वरूप परमात्मा हमें ( वाजिन ) ब्रह्मवान् पुरुष, ज्ञानी पुरुष और ब्रह्मादि पदार्थ ( ददाति ) देता है । वह ( विश्वचरंषि ) समस्त ससार को देखन वाला सर्वसाक्षा, ( अग्नि ) प्रायेक भग २ में व्यापक सबका प्रकाशक है । ( स- ) वह ( प्रीत- ) उत्तम प्रम से परिपूर्ण एवं प्रसन्न होकर प्रभु ( स्वा भुवन् ) अपने आश्रय पर प्राण धारण करन वाले जगन् को ( राये ) उत्तम कव्याय के लिये ( याति ) प्राप्त होता है और वही ( स्तोत्रभ्य- ) विद्वान् वेदशों का ( वायम् ) वरण करने योग्य ( इय ) ज्ञान और ब्रह्म का ( आभर- ) प्रदान कर ।

( ३ ) ( स ) वह ( अग्निः ) 'अग्नि' ( गुणे ) कहा जाता है ( यः ) जो ( वसु- ) समस्त ससार को बसाने द्वारा और स्वयं सब में बसने द्वारा, सब का आच्छादक, शरण्य है । और ( य ) जिसके शरण्य में ( धे- नव ) गौए, घासिया एवं ज्ञानरस का पान करने और करान द्वारा विद्वान्जन ( सम् आयन्ति ) पहुँचते हैं । और जिसके शरण्य ( रघुदुव ) ज्ञान मार्ग में गमन करने वाले विद्वान् ( सम् ) प्राप्त होते हैं, उपासना करते हैं, और ( सुजातास- ) ससार में उत्तम स्थिति को प्राप्त कृतकृत्य, यशस्वी ( मूरय ) मूर्ख के समान प्रजाओं का धर्ममार्ग में चञ्चल होने से बचाने वाले महापुरुष जिसके शरण्य में ( सम् ) आजात हैं वह तू परमेश्वर ज्ञानस्वरूप- ( स्तो- तृभ्य ) विद्वान् उपासका को ( इय ) उत्तम ज्ञान और ब्रह्म का ( आभर- ) प्रदान कर ।

२ 'सप्रीतो याति' इति पाठ सायणादिसम्मतः । अन्वैरुद्रिने तु 'सुप्रीतो' इति निरामनादरणीय, कापि नोपलभ्यात्, ऋक्पाठविरो-  
धे च 'सप्रीता' इति वेद ऋग्वेदीयः पाठः ।

- ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 [१७४०] महे नो अद्य बोधयोपो राये दिवितमती । यथा चित्रो  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 अयोधय सत्यधवासि वाय्ये सुजाते अश्वसुनूने ॥ १  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 [१७४१] या सुनीथे शोचद्रथे ध्यौच्छो दहितदिव । सा व्युच्छ  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 सद्योयसि सत्यधवासि वाय्ये सुजाते अश्वसुनूने ॥ २  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 [१७४२] सानो अद्यो भरतसुव्युच्छा दुहितदिव । यो ध्यौच्छ  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 सद्योयसि सत्यधवासि वाय्ये सुजाते अश्वसुनूने  
 ॥ ३ ॥ ११ ॥ अ० २ । ७१ । १-३ ॥

भा०—( १ ) हे (दय ) उषा के समान ज्योतिष्मति विशोका प्रज्ञे !  
 तू ( दिवितमती ) ज्योतिष्मती होकर ( अद्य ) आज, अब ( महे ) बड़े  
 भारी ( राये ) धामज्ञानरूप धन को प्राप्त करने के लिये ( न ) हमें  
 ( बोधय ) जगा, ज्ञानवान् कर, प्रबुद्ध कर । हे ( अश्वसुनूने ) व्यापक  
 धामा में शुभ, अत अर्थात् उत्तम ज्ञान का पूर्ण करन और वाय्यी को  
 धारण करने वाली प्रज्ञे ! ( वाय्ये ) पुन ज्ञान वाग्य सूत्र के समान अवि  
 चिद्वत्, निरन्तर विद्यमान, सब इन्द्रियों का उस सूत्र में पिरोने हारे ( सु-  
 जाते ) उत्तम रूप से प्रादुर्भाव होन वाले ( न ) हमारे ( सत्यधवासि )  
 सत्य सत्त्वप्रकाशी धामा में ( यथाचित् ) जिस प्रकार से उत्तम रीति से  
 हा सके उस प्रकार ( अयोधय ) तू ज्ञान का प्रकाश कर । देखो व्याख्या  
 अविकल सख्या [ ४२१ ] पृ० २१६।

( २ ) ( दिव ) हे सूर्य के समान प्रेरक धामा के ( दुहितः ) धा-  
 न-दरस का दोहन करन हारी उषा । अतम्भरे ! ( या ) जो तू ( सुनीथे )  
 उत्तम पद पर प्राप्त मुक्त ( शोचद्रथे ) अति पवित्र, शुद्ध चित्तस्वरूप  
 धामा में, ( ध्यौच्छ ) अज्ञान आवरण को हटाती रही है वैस ही अब, हे

( भरवसूत्रे ) आत्मानं सत्य आत्मज्ञान ब्रह्मज्ञान को सभ्यवाणी और धारण करने हारी अतम्भरे । ( सा ) यह तु ( वार्ये ) त-तु या पट के समान निरन्तर अविच्छिन्न क्रिया साधन करने हारे ( सत्यध्रवसि ) सत्यज्ञानमय ( सुजाते ) उत्तम रूप से प्रादुर्भूत ( सहीवसि ) सहनशील बलवान् आत्मा में भी ( भ्युच्छ ) अज्ञान के आवरण को दूर कर ।

( ३ ) हे ( दिव दुहित ) आत्मा के रस दोहन करने हारी विशोके ! ( भरद्-वसु ) वसुरूप प्राणों और मुख्य आत्मा को ज्ञान से भरपूर करने वाली पूर्वोक्त ! तु ( या ) जा ( सहीवसि सत्यध्रवसि वार्ये सुजाते ) सहनशील तपस्वी, सत्यज्ञानी, अविच्छिन्न, उत्तम, शुभरूप स प्रकाशमान आत्मा स ( भ्योच्छ ) आवरण को दूर करती है ( सा ) यह तु हे ( भरवसूत्रे ) आत्मा को सत्यज्ञान से पूर्ण करने हारी तु ( न ) हमारे अज्ञान को भी, अथ ( भ्युच्छ ) दूर कर ।

उपा के दृष्टान्त से गृहपरानी के कर्तव्य भी इस सूत्र में बतलाये हैं ।

[१७४३] प्रातः प्रियतम रथं वृषणं वसुसाहनम् ।  
स्तोता वामश्विना वृषि स्ताममिर्भूषति प्रति ।

माध्वी मम श्रुत हवम् ॥ १ ॥

[१७४४] अत्यायातमश्विना तिर्यो विश्वा अद् सना ।  
दन्ना हिरण्यवर्तनी सुपुम्णा सिन्धुसाहसा ।

माध्वी मम श्रुत हवम् ॥ २ ॥

[१७४५] आ नो रत्नानि विभ्रताश्विना गच्छन् युगम् ।  
रुद्रा हिरण्यवर्तनी जुषाणा वाजिर्नायसु ।

माध्वी मम श्रुत हवम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ १० २।७।१२-३॥



भा०—( १ ) व्याख्या देखो अथर्ववेद स० [ ४१८ ] पृ० १३ ।

( २ ) हे (अश्विना) पूर्वोक्त प्राण अपानरूप अग्निदेवो । आप ( दत्ता ) दोषों के परिशोधक, ( हिरण्यवर्त्तनी ) आत्मा के आश्रय पर विराजमान, (सुपुम्णा) उत्तम सुखक देने हारे, अथवा 'सुपुम्णा' उत्तम रूपसे शरीर में व्यापक सुपुम्णा रूप से विद्यमान, (सिन्धुवाहसा) गतिशील नादियों में रुधिर को प्ररित करन हारे, (माध्वी) मधुर, अमृतमय मधुविद्या स युक्त ( सना ) सनातन से वर्त्तमान, आप दानों ( अतिआयातम् ) सब बाधाओं को पार करके प्राप्त होवो ( अह ) और मैं आत्मा ( विधाः ) सब को ( तिरः ) पार करूँ । अत आप ( मम ) मेरी ( इवम् ) उपासना या आज्ञा या वचन को ( श्रुत ) श्रवण करा ।

( ३ ) हे ( अश्विनौ ) अग्निदेवो । (युव) आप दोनों ( रत्नानि ) रमण साधन इन्द्रियों को धारण करते हुए ( न ) हमारे पास ( आगच्छत ) आभा । आप दानों ( रुद्रा ) देह को छोड़ते समय कष्ट देने हार, रुद्राने हारे, ( हिरण्यवर्त्तनी ) आत्मरूप रथ पर गति करने वाले ( वाजिनीवम् ) ज्ञानमयी और बलमयी चित्ति शक्ति में बसने हारे ( माध्वी ) मधु-विद्या, आत्मविद्या जानने हारे, ( शुपाणा ) निम्न इस जीवन यज्ञ को सेवन करने वाले ( मम इव श्रुत ) मेरे वचन को श्रवण करा मेरे वशवर्ती रहो ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[१७४६] अथोध्यग्निः समिधा जनानाम्प्रति धेनुमिवापतीसु-  
 १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 पासम् । यद्वा इव प्रययामुज्जहाना प्र भागव सस्रत  
 २ ३ १ २ ३  
 नाकमच्छु ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१७५७] अग्नि होता यजथाप देवानूर्ध्वा अग्नि सुमना  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

प्रातरस्थ्यात् । समिद्धस्य रुशद्दर्शिं पाजा महान्दधस्त-  
 २ २ ३ १ २

मसा निरमाचि ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१७६८] यदो गणस्य रशनामजीग शुचिरङ्क्त शुचिभिर्गोभि  
 ३ २ १ २ २ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

रग्नि । आहृत्तिणा युज्यते वाजयन्त्यूस्तानामूर्ध्वा अ-  
 ३ १ २

धयत्पुहुभि ॥ ३ ॥ १३ ॥ अ० २ । १ । २-३ ॥

भा०—( १ ) आख्या दक्षा अवि० स० [७३] पृ० ३८ ।

( २ ) ( देवान् ) विद्वानों और ३३ देवों को ( यजथाप ) एकत्र संगति करन क लिय, ( होता ) समस्त जगत् का दान अर्थात् उपलि और आदान अर्थात् प्रलय का कर्त्ता ( अग्नि ) सूर्यक समान स्वय प्रकाशक परमात्मा, ( सुमना ) उत्तम ज्ञान स युक्त ( अग्नि ) सदा उदित होता है । वही सबस ( ऊर्ध्व ) ऊपर विराजमान होकर भी ( प्रात ) प्रकृष्ट रूप स व्यापक होकर प्रात उदित सूर्य क समान सबत्र ( अस्थ्यात् ) विद्यमान रहता है । ( समिद्धस्य, ददीप्यमान उस महान् प्रभु का ( स्थात् ) तत्त्वा ( पाजा ) चक्र ( अदर्शि ) साक्षात् दीखता है । वही ( महान् दध ) महान् देव सूर्यक समान महा दध समस्त चर अचर ससार का ( तमस ) मृत्पुरुष तम स ( निरमाचि ) सर्वथा मुक्त कर निश्चयस प्राप्त करता है । प्रात — प्रात्तेतररुन् ( उणादि० २ । २६ ) प्रकृष्टमति गच्छति इति प्रात ( दया० उ० ) ।

( ३ ) ( यद् ) जब ( ह्यं अग्नि ) यह अग्नि स्वयप्रकाश समस्त जगत् का प्रकाशक सब का प्रवायक परमात्मा ( गणस्य ) सब प्राणिया और स्थावर पदार्थों की ( रशना ) भाग सामग्री और उसमें व्यापक चतना शक्ति और नियामक शक्ति का स्वय ( अजीग ) अपनृ वश में किय

हे अपन आप समट हुए हैं और वडा ( अग्नि ) सूप क समान प्रकाशक  
 ( शुचिभि ) शुद्ध ( गाभि ) ररिमया और वदवाणियों द्वारा और तजस्वी  
 पिण्डों द्वारा ( अहङ्क ) समस्त विश्व क ज्ञानों और पदार्थों का प्रकाशित  
 कर रहा है तब ( वाजयन्ता ) ज्ञान और कम का सम्राटन और बल का  
 प्रकाश करन वाला ( दक्षिणा ) विश्वदमनक रिणा शक्ति का (यु यत) ससार  
 का महान् कार्यो में खगाता है । और ( उत्ताना ) उत्कृष्ट रूप स सबत्र  
 विस्तृत बस शक्ति का ( ऊव ) वह सबसे उच्च पद पर विराजमान पर  
 मामा ( जुहुभि ) अपना दान आदान क्रियाओं द्वारा ( अधयत् ) अपन  
 बरा करता और अपना बल प्रदान करता है उसका अपन भातर हा जान  
 करता वा धारण करता है ।

अशरज्च् ( उष दि० २ । ७५ ) अरनुत व्याप्नात इति रशना  
 ( दया० उ० )

[१७४६] इद श्रेष्ठ ज्यातपा ज्यानरागाश्च प्ररना अजानष्ट  
 विष्वा । यथा प्रसूना सवितु सनायैरा रायुषस  
 ३२३ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ ३ २ ३ १ २ ३  
 १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३

योनिमरिक्त ॥ १ ॥

[१७५०] कशद्दत्ता कशती श्वेत्यागादारैगुष्ट्या सदनान्यस्या ।  
 समानबन्धु अमृत अनूची शावा वर्ण चरन आभिमान  
 ३ २३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१७५१] समाना अद्या स्वप्नोर्गन तस्म या याचरतो देवशिष्टे ।  
 न मथेते न तस्थतु सुमक नकापाता समाना निरूप  
 ३ २३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

॥ २ ॥ १४ ॥ क्र० १ । ११२ । १ २ ॥

भा०—( १ ) ( इ३ ) यह साक्षात् ( श्रेष्ठ ) सबसे उत्कृष्ट ( ज्योतिषा ज्योति ) सब ज्योतिषमान् दिव्य विषयों को भी प्रकाशित करने द्वारा ज्योति ( आत्मात् ) प्राप्त होता है । और इसी ज्योति से यह ( चित्रः ) अद्भुत आश्चर्यजनक परमपूजनीय प्रहस्य करने योग्य ( प्रकृत- ) उत्तम प्रज्ञान ( अज्ञानिष्ठ ) उत्पन्न होता है । ( यथा ) जिस प्रकार उत्पन्न हुई उषा ( सवित्रु ) सूर्य के ( सवाप ) उत्पन्न होने के लिये पूर्वरूप है और ( रात्री ) रात्रि ( उपमे ) उषा के लिये ( योनिम् ) पूर्वरूप को ( भारैक् ) चाहती है ( एवा ) उसी प्रकार अतम्भरारूप उषा ( सवित्रु ) सप्त प्रेरक प्रद के ( सवाप ) ज्ञान प्रादुर्भाव के लिये पूर्वरूप है और ( रात्री ) सब का सुख प्रदान करने वाली सुषुम्ना ( उपसे ) अतम्भरा प्रज्ञा के उदय के लिये ( योनि ) आश्रय स्वरूप आत्मा को ( भारैक् ) समर्थ करा देती है ।

राश्यादिभ्यो त्रिप् ( उणादि० ४ । ६० ) रात्रिमुद्य ददाति इति रात्रि-  
( द्या० उ० )

( २ ) ( शेषा ) जिस प्रकार शुक्लवर्णा गौ या महिला के समान उषा ( रुशता ) दीप्तिपुङ्गु होकर ( रुशत्यासा ) देशभ्रमान सूर्य को अपने श्वेन वच के समान साथ लिये घ्रता है और ( उ ) माना ( कृत्या ) स्वाम शोषा मरिचका के समान रात्रि ( अस्था ) उम केत और उषा के लिये ( सदर्शन ) विराजित के निमित्त स्थान ( भारैक् ) छाड़ी कर रता है, भार स ए इ दती है एसा प्रतीत होता है कि दोनों ( समानव-प् ) समान रूप से दिव्य वस्तु हैं । और दोनों ही ( अमृते ) कभी न मान हारी ( अन्धा ) अनिर्वचनीय होकर ( वयं ) समस्त जगत् के सर्वभूषण रूप का साक्षात् करन योग्य ( आश्रितान ) बनाती हुई ( पाषा ) तत्रारूप होकर ( घात ) विचार्य करती है । उभी प्रकार यह उषा रूप विशांका प्रज्ञा स्वयं आश्रितान के गिठियों से उत्पन्न होकर अपने उपमान शालक

प्राण को या इसरूप आत्मा को साथ लिये प्रकट होती है और कृप्या= आकर्षण करने वाली या दुष्टों को काटने वाली सुपुम्ना वृत्ति ( अस्याः सदनानि आरैक् ) इस विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञा के लिये उचित भूमि या आधार तैयार कर देती है । ये दोनों ही ( अमृते अनूची समानच-भू ) अमृतरस, आत्मासब्द से पूर्ण, अवर्णनीय और समान नामक सर्वगत प्राण द्वारा बद्ध होती है, या परस्पर समान रूप से सम्बद्ध होती है । ये दोनों ( वर्षा घामिनाने ) वर्षण करने योग्य आनन्द या आत्मज्ञान को उत्पन्न करती हुई ( आवा चरत- ) प्रकाशस्वरूप आत्मा के साथ वर्तमान रहती हैं ।

( ३ ) ( स्वप्नो ) रात्रि और उषा इन दोनों भूमिनियों या भाई बहनों का ( समानः ) समान रूप से ( अनन्त ) अनन्त ( अध्वा ) मार्ग है । ( त ) उस मार्ग पर ( देवशिष्टे ) देवरूप सूर्य से अनुशिचित होकर ये दोनों ( अन्वा अन्वा ) एक २ करके ( घात ) चक्रती हैं । ( मुमेके ) शुभ लक्ष्य वाली ( नत्रोपासा ) रात्रि और उषा दोनों ( विरूप ) विरूप रूप वाली और श्वेत, तम और प्रकाश रूप होकर भी ( समनसा ) एकचित्त होकर परस्पर ( न मंथेते ) न लड़ती भिड़ती हैं और ( न तत्पनुः ) न कभी कही सकते हैं । इसी प्रकार इन रात्रि और उषा के समान इस देह में विशोका और सुपुम्ना वृत्ते इन दोनों ( स्वप्नो, अध्वा समान ) यद्दों का या स्वयं सरण करने वाली, स्वयं प्रकट होने वाली दोनों वृत्तियों का ( अध्वा ) मार्ग या आश्रय समान है या वह सर्वत्र देह में समभाव से वर्तमान आत्मा ही है । ( देवशिष्टे ) प्रकाशमान ज्ञानी आत्मा से अनुशासित होकर दोनों ( अन्वा अन्वा ) जुड़ी जुड़ी ( त घात, ) उषा को प्राप्त होती है । अर्थात् ये दोनों अवस्थाएँ उसी आत्मा की है । ये दोनों ( मुमेके ) उत्तम रूप से आनन्द के उत्पन्न करने वाली धर्ममेघ समाधि के धारण करने वाली ( विरूप ) सुख और ज्ञान दो प्रकार के भिन्न २

अनुभव करान से विभिन्न २ रूप वाली होकर ( समनसा ) समान रूप से एक ही मन का आभय लेने वाली ( न मेघते ) एक दूसरे का बाधक नहीं होतीं और ( न तस्थुः ) निरन्तर स्थिर भी नहीं रहतीं प्रत्युत क्रम २ से प्रकट होती हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २  
 [१७५२] आभात्यमिदपसामनीकमुद्विप्राणन्देवया वाचो अस्थुः ।  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २  
 अर्वाञ्चा नून रथ्येद् यातं पीपिवांसमश्विना घर्म-  
 २ २  
 मच्छु ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १  
 [१७५३] न सस्ठुनं प्रमिमीतां गविष्ठांति नूनमश्विनोपस्तुतह ।  
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 दिवाभिपित्तेऽयसा गमिष्ठा प्रत्यवर्ति दाशुपे शम्भविष्ठा  
 ॥ २ ॥

३ १ २ २ ३ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१७५४] उतायातं सङ्गचे प्रागरहो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य ।  
 २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ २  
 दिवानकमयसा शन्तमेन नेदानीम्पांतिरश्विना ततान ॥  
 ३ ॥ १५ ॥ अ० ५ । ७६ । १-३ ॥

भा०—( १ ) ( अग्नि ) सूर्य ( उपसाम् अनीकम् ) मानो उवाचो का मुन्व हो ऐसे ( आभाति ) प्रकाशित होता है । ( विगथा ) मेधावी विद्वान् भरु पुरुषों की ( रथया ) इष्टदेव परमात्मा तक पहुचने वाली ( वाच ) वेदमन्त्र प्यनिषा ( उद्-अस्थुः ) उठने जगती है । ह ( अश्विनां ) अश्विदेवो । प्राय और अगान एव स्त्री पुरुषों ! हे ( रथ्या ) दृढरूप रथपर आरुढ प्राण और अगान प्राण दोनों ! ( हह ) हम देह में ( अर्वाञ्चम् ) निम्न देश में गति करने वाले होकर भी ( यातम् ) भव ऊपर आधो और ( पीपिवास ) बराबर बसत हुए ( घर्म ) ज्योतिस्वरूप हम को ( अस्जु ) साधान् करा । अथवा

( अग्नि, उपसा अर्नाक ) अग्निहात्र की अग्नि उपाधों का मुख्यरूप हाकर ( आभाति ) प्रकाशित होता है ।

अथवा—अध्यात्मपक्ष में विशोका प्रज्ञाओं का ( अर्नाक ) पूर्वरूप मुख्यरूप ( अग्नि ) विशेष तेज ( आभाति ) धारणाप्रदशों में प्रकाशित होता है । उसी समय विद्वान् पुरुषों की इष्टद्व आत्मविषयक वेदवाक्यियां प्रकट होती हैं । शेष पूर्ववत् हे ( अश्विनौ ) प्राण और अपान । तुम दोनों रथपर देह के हितकारी होकर ( अर्वाण्वा ) साक्षात् रूप से प्रकट होकर ( वीषिवास धर्मम् ) बराबर बढ़त हुए तेज को ( अख्य यात ) उत्तम रीति से प्राप्त होओ या प्राप्त कराओ । जैसाकि श्वेताश्वर उपनिषद् ( अ० २ । ११ । १२ । ) में लिखा है—

नीहारभूमाकानिज्जानिजानां स्वपोताविष्टुत्स्फटिकराशिनाम् ।

पुतानि रूपाणि पुर समाधिं ब्रह्मयथाभिध्यात्रिक्राधिं वागे ॥

दृधिःपक्षेगोनिजस्र समुपिते पन्ध्यात्मके योगगुण्य प्रवृत्त ।

न तस्य रोमा न जरा न मृत्यु प्राप्तस्य योगाग्निमथ शरीरम् ॥

याग समाधि क योग्य स के अवसर में ब्रह्मसाक्षात् के पूर्व मोहार भूत सूर्य, अग्नि, विष्टुत् स्फटिक आदि क रूप प्रकट हात हैं । उस समय पादों भूतों पर बरा ड़ा जाता है । जरा और मृत्यु हट जाती है शरीर योगाग्निमथ हो जाता है ।

( २ ) हे ( उपस्नुता ) प्रशसनीय । आदर वाग्ध ' हे ( अश्विनौ ) अश्विनय प्राण और अपान । या ध्वा पुरुषा ' आप दाना ( अन्ति ) आपन्त समीप ( गमिशा ) प्राप्त होत हार ( सरकृत उत्तम रूप स तैपार किम इस ब्रह्मरस को ( न प्रमिमात ) विनाश नहीं करत । प्रायुत ( दिश आभिपिद्ये ) प्रकाश या दासि क प्राक्तिक ज्ञ स आप दाना ( अथसा ) अपन पादक बद्ध सहित ( आतामिहा ) अक्षर्य प्राप्त हाते हो और ( वाशुपे ) अपन को समप्य करन हार पाता क ( अद्यतिं पति ) पुन आवन में खोट

कर न आने अर्थात् मुक्त हो जाने के निमित्त ( शम्भविष्टा ) कल्याण-  
कारी होते हो ।

( ३ ) हे ( अश्विना ) अश्विवाण्य ! प्राण्य और अयान आय दोनों  
( अह्न ) दिन के ( प्रात ) प्राप्त होने पर प्रात काळ में ( उत ) भी ( आयातम् )  
आइये । और ( सूर्यस्य ) सूर्य के ( उदितः ) ऊर्ध्वस्थान पर प्राप्त होने के  
( मध्याह्निके ) मध्याह्न काळ में भी आइये । और ( शन्तमेन ) अति कल्याण  
कारी सुख शान्तिदायक ( अवसा ) अपने पात्रक बज्र द्वारा प्राप्त होइये ।  
( इदानीं ) इस समय अन्य इन्द्रियों की ( पति ) रसास्वादन की क्रिया  
( न आततान ) नहीं की जाती बल्कि यह केवल मद्यरस क आस्वादन  
का भाग आपके ही करने का है । प्रातः मध्याह्न और साय इन तीनों  
काळों में प्राणायाम करने से योगियों को विशेष सुख की प्राप्ति होती है ।  
अथवा तत्र पुत्रों क प्रकट होने के प्रारम्भ, मध्य और नैरन्तर्य काळ में  
अर्थात् जब दिवानरु अर्थात् रात दिन समान रूप से हो तब भी प्राण्य और  
अयान ही मद्यरसास्वादन में भारी सहायक है ।

इति चतुर्थं खण्ड ।



३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १  
[१७५५] एना उ त्या उयस्य केतुमकत पूर्वे अर्द्धे रजसो भानु  
३ ३ ११ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २ २४  
मञ्जने । निष्कुराता आयुधानीष धृष्यन् प्रति गात्रोऽ  
३ १ २

पीरन्ति मातर ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ २

[१७५६] उदपतप्ररणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुपिर्गा अयुक्त ।  
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २  
अरुध्रुपासो ध्युनानि पूर्वाथा स्यन्त भानुमरुतीरशिध्र्युः  
॥ २ ॥



[१७५७] अर्चन्नि नातीरपसो न त्रिष्टिभि समानेन योजनेना  
 १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १  
 २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 पराप्रत । इष वहन्ती सुकृत सुदानत्र विश्वदह यजमानाय  
 ३ २  
 सुन्वते ॥ ३ ॥ १६ । अ० १ ६२ । १—३ ॥

भा०—( १ ) उपापच में—( एता उ त्या ) य च (उपस ) उपाप  
 अ तरिच लाक में ( पूर्व अद् ) पूर्व क आध भाग में ( भानुम् ) सूर्य  
 का ( अञ्जते ) प्रकट करती हैं । माना ( कतुम् ) सब का अपना आगमन  
 दशान क लिये ज्ञापक चिह्न ध्वजा-अण्ड क समान ( अकृत ) बना लती  
 हैं । ( अरुपी ) प्रकाशमान ( मातर ) मातास्वरूप उपाप ( अरुपी )  
 दासिमान् ( गाव ) किरियों का ( आयुधानि इव ) अपन इधियारों क  
 समान ( निष्कृषाना ) सजाता हुई ( धुष्यव ) शत्रुघ्ना का मानदलन  
 करने वाल सुभटों क समान ( प्रतियति ) अन्धकार का दूर करन क लिये  
 युद्धयात्रा सी करती हैं ।

अध्यात्म पच में—( एता उ त्या ) य च जिनका वयन पूव किया  
 और जा योगाभ्यासा क लिये अपूव हैं व ( उपस ) नद नइ विशाका  
 ज्योतिष्मती प्रज्ञाप ( कतुम् ) अपन ज्ञापक ( भानुम् ) आदि य क  
 समान स्वय प्रकाश और विशाका क प्रकाशक प्राणा मा का ( रजस<sup>१</sup> )  
 नाहार या धूम क प्रकटाभाव ज्ञान क ( पूव ) पूण रूप स ( अर्द्ध<sup>२</sup> )

१७५५-१. 'रजस' रजति रज्यति वा त रजा । भूरभिन्भ्या पित् । ( उणा०  
 ४। २। १७ ) लक सूक्ष्मधूल रूीपुरपशुणा वा इति दद्यात्तन्द् ज्जादि  
 वाक्यायाम् रज राने [ भ्र दि दिवादिथ ]  
 २ अर्थो हरतेविपरी । धारयतेर्वा स्याद्भूत भव दूभ्रतेर्वा स्त् प्यतमो  
 विभा । ( निर० ) । अथु वृद्धौ ( निवादि ) । अथु वृद्धौ छ दसि ( स्था ) ।

दधिकल्पं शान्तमनस्तमस्मितामात्रं भवति । यत्रेदमुक्तं—‘तमगुमाप्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येव तावत्स प्रजानीते इति । एषा द्वयी विशोका विषयवती अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते । यथा योगिनश्चित्तस्थितिपद लभते ।’

अर्थात्—हृदय पुण्डरीक में धारणा करते हुए योगि को बुद्धिसवित् अर्थात् मानस दिव्य प्रज्ञा की सिद्धि हाती है । वह बुद्धिसत्व मानस भास्वर=सूर्य के समान प्रकाशवान् विशाल आकाश के समान व्यापक प्रभापटल साक्षात् होता है, उस दशा में यागी का चित्त अति आनन्दजनक, स्थिर स्थिति का प्राप्त करता है । वहा वह बुद्धिसिधत् या चित्तियक्ति सूर्य, चन्द्र शुक्रादि ग्रह, दिव्य मणियों की विशेष प्रभा का स्वरूप ढाकर स्वयं प्रकाशित होता है, उस समय वह बुद्धितत्व सुषुम्ना में रहता है । उसकी उत्पत्ति वैकारिक अद्वैतत्व से ही होने के कारण अतिसात्विक होने से अस्मितामात्र ‘अद्वं’ ऐसा ही भान हाता है । उस समय वह चित्त तरङ्गरहित, विशाल समुद्र के समान शान्त और अनन्त प्रतीत होता है । इसी दशा को उपनिषत्कार महर्षियों ने उपनिषदों में लिखा है—‘तमगुमाप्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येव स प्रजानीते’ इति । अर्थात् उस अगुपरिमाण आत्मा का प्राप्त करके ‘अस्मि’ में ही इस प्रकार ज्ञान कर लता है । विशोका दो प्रकार की होती है एक ‘विषयवती’ जिसमें गन्धादि पाचों प्राण विषया की तीव्र भवित् की जागृति होती है और दूसरी ‘अस्मितामात्र’ इसमें ‘अद्वं’ तत्व या मनस्तत्व का साक्षात् अनुभव होता है । दोनों प्रकार की विशोका ‘ज्योतिष्मती’ नाम से ही कही जाती है । इसके साक्षात् होने से योगी आनन्द में मग्न हो जाता है और फिर उसका चित्त इसी के द्वारा स्थिति पद का प्राप्त हो जाता है । इस ज्योतिष्मती के साथ एक चित्तवृत्ति का दूसरा रूप भी हाता है उस को याग शब्द में ‘स्वप्नज्ञान’ या ‘निद्राज्ञान’ दो नामा से पुकारा जाता है उभय

आलम्बन करके भी योगी का चित्त नग्न हाजाता है । यह सवित्तकी निद्रावृत्ति है । उपासनारूप में साधक जाग इसका स्वरूप ऐसा निधारण करत है जैसे चन्द्रमण्डल से निकलन वाली, कोमल मृणाल खण्ड के समान शुभ्रवर्णा मानों चन्द्रकांतमणि की बनी हो । बहुत से उसी को इष्टदेव की मूर्ति जानकर उसकी उपासना करत हैं । उसी निद्रा या सुप्तावस्था का भा द्रष्टा का स्वरूप कहा करत हैं वद म उसको उपा क साथ नरु या रश्मि नाम से पुकारा है । यागी का इस प्रकार धारणा या प्राणायाम द्वारा स्थिर चित्त जिस विषय पर बैठ जाय वहा ही उसी की 'तस्थ-तदन्वयता' हो जाती है । अर्थात् वह उसी में तन्मय तदाकार हा जाना है । यह समापत्ति' कहाती है यह सवित्तका' और 'निर्विचिता' सविचारा और निर्विचारा' भद से चार प्रकार की हाती है । ये चारों ही समाधि' दशा कहाती हैं । इनमें निर्विचार दशा में चित्त पर कोई अशुद्धि या मल का आवरण नहीं रहता । उस समय बुद्धिसव का प्रवाह स्वच्छ मि-धु के समान रहता है । उसी दशा में यागी का अध्यात्मप्रसाद' और 'प्रज्ञालोक' उत्पन्न हाता है । 'निर्विचारवैशारथ्येऽध्यात्मप्रसाद' ( १ । ४७ ) । और उसी समय 'ऋतभरा तत्र प्रज्ञा ( १ । ४८ ) 'ऋतभरा' नामक सयदर्शिनी बुद्धि का उदय होता है । प्राय उपा देवता के मन्त्रा में इन्ही विशाका प्रज्ञा' और स्वप्न ज्ञान और चारों समाधियों आर ऋतभरा का धर्म्य है । सद्यप से यहा विषय दशाया है । इसका विशेष ज्ञान, यागदशन पर उपासमुनिहृत भाष्य दखन से प्राप्त होगा ।

( २ ) उपा पद्य में—( अरुणा ) दीप्तिमान् ( भामव ) उपाकाल का किरण ( वृषा ) सर्व-यापन करती हुई अथवा अनायास, आप से आप ( उदपसन् ) ऊपर उटती है । मानों उपा के रथ में ( स्वायुज ) आपसे आ जुड़ने वाली सुशील ( अरुपी ) दीप्तिवाली ( गा ) गौओं या बैल' के सनान रश्मियों का ( अयुधत ) लगाया हा । इस प्रकार

उपाए ( पूर्वधा ) सोने के पूर्व वर्त्तमान गत दिवस क ( वयुनानि ) ज्ञाना और व्यवहारों को ( अक्रन् ) पुन उत्पन्न करती है । तब ( अरुगी ) देदीप्यमान उपाए ( रुशन्त भानुम् ) देदीप्यमान सूर्य का ( अशिधयु ) आश्रय लेती है ।

अध्यात्मपद्य म—( अरुणा भानव वृया उदपत्तन् ) कन्तिमान् शरिमया या अलाक सद्गत ही मूधाभाग का आवरण करन हार नाना धारणा प्रदर्शों में प्रकट हाते हैं अर्थात् बहुत से सवित् उत्पन्न हाते है । व (स्वायुज ) स्व=अपन २ विषयों स या आत्मा स जुद्धन हारी (गा ) इन्द्रिय वृत्तिया ( अरुयो ) विशय अलाक स अलाकित हाकर (अयुद्धत) समाधि द्वारा प्रकट होती हैं अर्थात् य विषयवता विशाकाए है । ये सब उपाए या ज्ञानालोक ( पूर्वधा ) पूर्वकाल स वर्त्तमान ( वयुनानि ) चित्त क सब सत्कारों स्मृतिज्ञाना को ( अक्रन् ) जागृत कर दते हैं । और य सब प्रज्ञाए ( अरुगी ) देदीप्यमान होकर ( रुशन्त भानु ) देदीप्यमान आत्मा को ( अशिधयु ) आश्रय किय रहता है ।

{ ३ } जिस प्रकार ( विष्टिभि ) अपने वेतनों के कारण ( आपराधत ) दूर दश से भी आई ( समानन योजनन ) समान उद्योग में जगो हुई ( अपसः ) काम करन वाली ( नारी ) स्त्रिया ( सुदानव ) उत्तम दानशील, (सुकृते) उत्तम कर्मशील (सुन्वते) साम सवन करत हुए (यजमानाय ) यजमान वेतनदाता स्वामी पुरुष के लिय इष ) उपादित अन्न उस के अभिस्त्रपित कार्य को भार पह्लार कर तैयार करती हुई । अचन्ति) उसका यश गान करती हैं (न) उसी प्रकार यह उपाए=अत्यातिष्मती विशाका प्रज्ञाए (विष्टिभि) तस्व में प्रवेश करन वाली शरिमयों से (समानेन याजनन, समान रूप समाधि वाग से (सुन्वते) आनन्दरस के उत्पादक ( सुदानव ) आत्म समर्पक, ( सुकृत ) निष्ठ, कुशल ( यजमानाय ) आत्मा क लिय ( विशा इद् अद् ) समस्त ( इष ) ज्ञान और बल ( यद्गी ) प्राप्त करती हुई

( परावतः ) दूर देशों तक विद्यमान पदार्थों का ( अर्चन्ति ) ज्ञान करा देती हैं और उसी की महिमा का प्रकाश करती हैं ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ २ ० ३ ३ ३ २ २  
 [१५५८] अर्वाध्यग्निर्गम उदेति सूर्यो ब्यूऽरेपाश्चन्द्रा मह्यावो  
 ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १

अर्चिषा । आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीदेवः  
 २ ३ २ ४ ३ १ २

सनिता जगत्पृथक् ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३

[१७५६] यद्युञ्जाथे वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्ष-  
 ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

तम् । अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिन्वते वयं धना शूर-  
 साता भजेमहि ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

[१७६०] अर्वाङ्त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराभ्यो अश्विनोर्यातु  
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सुण्डुनः । त्रिवन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शन्न आवृच्छद्  
 ३ २ ३ १ २

द्विपदे चतुष्पदे ॥ ३ ॥ १७ ॥ अ० १ । १५७ । १-३ ॥

भा०—( १ ) ( गमे ) पृथिवी में ( अग्निः ) अग्नि जिस प्रकार अग्निहोत्र के समय ( अर्वाधि ) जगाया जाता है और ( सूर्यः ) सूर्य ( उदेति ) उदय होता है । और ( चन्द्रा ) आरुहादकारिणी ( उपाः ) उपाएं भी ( महती ) विशाल रूप में ( वि आनः ) विविध तैनों सहित प्रकट होती और अन्धकारों को इटाती है उसी प्रकार इस आत्मारूप वेदि में ज्ञानरूप अग्नि प्रदीप्त होजाता है और ब्रह्मरूप सूर्य उदित होता वा आनन्दरस को उत्पन्न करने वाली विशोका ज्योतिष्मती उपा के समान ( अर्चिषा ) अपने तेज से ( वि आवः ) मजावरणों को दूर कर देती है इस कारण ही ( अश्विना ) प्राण और अपान ! तुम दोनों ( यातवे ) आत्मा तक पहुँचने के लिये ( रथम् ) इस देह या मनरूप रथ को ( धा-

अयुषताम् ) योगाभ्यास द्वारा युक्त करो । जिनसे ( सविता ) सयका प्रेरक ( देव. ) प्रकाशमान् आत्मा ( जगत् ) समस्त जगत् के पदार्थों को ( प्रा-  
सावीत् ) उत्तम रूप से ज्ञान करे ।

( २ ) हे ( अश्विना ) प्राण और अपान आप दोनों ( यत् ) जब ( वृषण ) सुखों के वर्षक ( रथे ) रमणसाधन, चित्त या आत्मरूप रथ को ( युञ्जाये ) योगाभ्यासा द्वारा समाहित करते हो तब आप ( न ) हमारे ( वज्रम् ) प्रेरक आत्मा को ( घृतेन ) देदीप्यमान तेज से ( उषतम् ) सेवन करते हो और ( अस्माकं ) हमारे ( वृतनासु ) विषयों का प्रदूषण करने वाली इन्द्रियवृत्तियों में ( ब्रह्म ) विशेष सत्य संवित् ज्ञान को ( जिन्वते ) उत्पन्न करते हो और ( वयं ) हम ( शूसातौ ) आत्मज्ञान की प्राप्ति में ( धना ) नाना दिव्य ज्ञानों को ( भजेमीह ) प्राप्त करते हैं ।

( ३ ) ( अश्विनोः ) उन प्राण और अपान का ( त्रिषक्तः ) तीन चक्रों से युक्त ( मनुवाहनः ) अमृत = 'ओ३म्' अथवा एकमात्र वहन करने वाले आत्मारूप अश्व से युक्त ( जराश्वः ) बहुत प्राचीन सनातन अमर अविनाशी अश्व अर्थात् आत्मा से युक्त ( सुस्रुत ) उत्तमरूप से वर्धित किया गया रथ ( अर्वाह् ) साक्षात् रूप से ( यानु ) गति करता है । ( मघवा ) वह ज्ञानवान् योगी आत्मा रथरूप, ( त्रिबन्धुरः ) तीन प्रकार के सारथियों या बन्धनों से युक्त है और उनमें आत्मा मन और इन्द्रिय या तीन गुण या वात, पित्त, कफ आदि तीन धातु ये तीन ही प्रकार के सारथि या बन्धन के हेतु हैं । और वह ( विश्वसोभगः ) समस्त संसार को सौभाग्य या सुखैश्वर्य का देने वाला अथवा समस्त संसार के सब उत्तम पेश्वयों को सिद्ध करने वाला होकर ( नः ) हमारे ( द्विपदे ) समस्त मनुष्य संसार और ( चतुष्पदे ) पशु संसार को ( शं ) कल्याण ( आ-  
वहत् ) करे ।

इसी सनातन अरव के पीछे लग रथ की कल्पना का प्रकारान्तर से श्वतारन्तर उपनिषद् में इस प्रकार बतलाया है —

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयत् भ्रानत यद् उ धनङ्वान् ।

एव स दत्रो भगवान् वरेण्या यानिस्वभाजानाधिगतिष्ठ यत् ॥

स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्मा प्राणाधिप मचरति स्वकर्मभि ।

अगुष्टमात्रा राविनुत्पत्य रूप सकल्प इक रसमन्वितो य ॥

इसी प्रकार सुषडक में—

'दिव्य ब्रह्मपुर ह्यय ऋभ्या ना प्रतिष्ठितः ।

मनामय प्राणशरारनता प्रतिष्ठिताऽस्य हृदय मनिधाय ।

सद्विज्ञानन परिपश्यन्ति धारा भ्रानन्दरूपममृत यद् विभाति । इत्यादि ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१७६१] प्र ते धारा अमश्नतो दिवा न यन्ति वृष्टये ।

२ ३ १ २ ३ १ २

अच्छा वाज सहस्रिणम् ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१७६२] अभि प्रियाणि काश्या विश्वा वक्ष्णाणा अर्पति ।

१ २ ३ २ १ २

हरिस्तुङ्गान आयुधा ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[१७६३] स ममृजान आयुभिरभो राजय सुव्रत ।

३ १ २ १ २

शयेना न वसु पीदति ॥ ३ ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २

[१७६४] स नो विश्वा दिवा वसुता पृथिव्या अधि ।

३ १ २ ३ १ २

पुनान इन्द्राभर ॥ ४ ॥ १८ ॥ अ० ६ । ७७ । १—४ ॥

भा०—( १ ) इ साम ' आयुन् ' ( असश्नत ) सगरहित ( दिव ) प्रकाशस्वरूप ( ते ) तरी ( धारा ) धारणा शक्तिमा ( दिव ) दौलाक स ( वृष्टय ) वर्षाओं क समान ( सहस्रिण ) अतिबलवान् या सहस्रों जानों

से युक्त ( वाज ) ज्ञानस्वरूप परमात्मा को ( अस्त्र ) प्राप्त होती हैं  
अथवा ब्रह्मानन्द की धाराएँ आत्मा को प्राप्त होती हैं ।

( २ ) यह आत्मा ! ( विश्वा ) समस्त ( त्रिधाणि ) मनोहर  
( काव्या ) जगत् के सूक्ष्म ज्ञानों को ( अभि । साक्षात् रूप में ( चक्षुः )  
दृशने करता हुआ ( आयुधा ) अपने प्रहार करने वाले ज्ञान से ( तुंजान )  
कर्म बन्धनों को काटता हुआ ( हरि ) मातृपद में गमन करने वाला  
मुक्तात्मा होकर ( अभि शर्पति ) सर्वत्र विचरता है ।

( ३ ) ( स० ) यह आत्मा ( आयुभि ) दीर्घायु ज्ञानवान् तपस्विणों  
द्वारा ( मन्त्रेजानः ) योग साधनों से परिमार्जित किया गया ( इभ ।  
निर्भय ( राजा इव ) राजा के समान और ( शयन न ) पश्चि सप्तार में  
निर्भय बाज या गरुड़ के समान ( सुवतः ) उत्तम कर्मों से युक्त ( धंसु०  
अपने इच्छानुसूल समस्त लोकों में ( सीदति ) विचरता है ।

( ४ ) हे इन्दो ! सोम ! ऐश्वर्यवान् ! परमात्मन् ! ( स० ) वह तू  
( न० ) हमें ( दिव० ) ऋलोक के ( उत उ ) और ( पृथिव्याः अधि )  
पृथिवी पर के ( विश्वा वसू ) समस्त पदार्थों को ( पुनान, ) पवित्र करता  
हुआ ( नः ) हमारे लिये ( आ भर ) प्राप्त करा ।

उक्त चारों मन्त्र परमात्मा परम भी स्पष्ट है ।

( १ ) ( अस्रवत० ते धारा दिवो वृष्टयो न सहस्रिण्यं वाजं अस्त्र )  
हे ईश्वर तूम्ह अस्रव परम पुरुष की धारणपाषण्डी शक्ति या सहस्रों  
धनों से युक्त अस्त्र को दान करती हैं ।

( २ ) ( त्रिधाणि विश्वा काव्यानि चक्षुः आयुधा तुजान, हरि  
अभि शर्पति ) मनोहर समस्त लोकों का देखता हुआ अपने बल से विद्वों  
का नाश करता हुआ परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है ।

( ३ ) ( स आयुभिर्मन्त्रेजान, इभो राजा इव सुवत रवेनो न वसु  
सीदति ) पुरुषों द्वारा हृदय में स्वच्छरूप में साक्षात् करने योग्य वह



अभयव्य उत्तम कर्मों को सम्पादक परमेश्वर राजा के समान और आत्मा व सगन मय लोकों में विराजमान है ।

४ ) चतुर्थं स्पष्ट है ।

इति पञ्चमं खण्ड ।

इति तृतीयोऽर्धप्रपाठक । इति अष्टम प्रपाठक समाप्त ।

इति एकोनविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ विंशोऽध्यायः ॥

अथ नवमप्रपाठस्य प्रथमोऽर्ध ॥



अपि — १ नृमथ । ३ प्रथमथ । ४ शर्वणमा औच्य । ५ वामदेव ।  
 ६ प्रहरण काण्व । ७ वृद्धुनयो वामाव्य । ८ विन्दुः पूतदक्षी वा । ९  
 जमदग्निभंगर । १० सुच्छ । ११—१३ अग्नि । १४ सुगो पौवन । १५  
 मधातिथि काण्व प्रथमथथागिरम । १६ नीपातिथि काण्व । १७ जमदग्नि ।  
 १८ परुच्छथा देवीशक्ति । २ एतन्नाम ॥ अन्ता — १, २७ पवमान सुम ।  
 ३, ७ १० १६ इन्द्र । ४, ५ १८ अग्नि । ६ अग्निरश्विनपुषा । १८ मन्त्र  
 ६ सूर्य । ३ एतन्नाम ॥ छन्द — १ ८ १०, १५ गायत्री । ३ अनुच्छुप् पवमस्य  
 गायत्री उत्तरयो । ४ उष्णिक् । ११ सुरिगनुच्छुप । १३ विराडनुच्छुप् । १४  
 दक्षी । १६ अनुच्छुप । १७ द्विपा गायत्री । १८ अथदि । २ एतन्नाम ।  
 स्वर — १, ८, १० १५ १७ पञ्च । ३ गान्धार प्रथम्य, पञ्च उत्तरयो  
 ४ घनम । ११, १३, १६, १८ गान्ध । ५ पञ्चम । ६, ८, १२ नध्यम.  
 ७, १४ वैश्व । २ एतन्नाम ॥

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
[१७६५] प्राण्य प्राग अक्षरन्वृष्य सुतस्योजस ।  
<sup>३ १ २ ३ १ २</sup>

देवा अनुप्रभूपतः ॥ १ ॥

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २</sup>  
[१७६६] ससि मृजन्ति वेधसा गृणन्त कारवो गिरो ।  
<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>

ज्योतिजज्ञानमुक्थ्यम् ॥ २ ॥

<sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
[१७६७] सुपदा सोम तानि ने पुनानाय प्रभूवसो ।  
<sup>१ २ ३ १ २</sup>

वर्जा समुद्रमुक्थ्यम् ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ३ । २३ । १-३ ॥

भा०—( १ ) ( सुतस्य ) सबक प्रेरक, ( वृष्य ) सुखों के वर्षक ( देवान् ) देवों के ( अनु प्रभूपतः ) इन्द्रिय वृत्तियों को अपन अनुकूल रखकर उन पर चर करने वाले, ( अस्य ) इस आत्मा के ( प्राजस ) शक्ति और तेज की धाराएं ( अक्षरन् ) खारा और प्रवाहित होती हैं ।

परमात्मापक्ष में देव, पञ्चभूत आदि दिव्य पदार्थ और विद्वान् गण्य ।

( २ ) ( कावत्र ) कर्मण्य, कर्षा, कर्मयोगा ( वेधसा ) मधावी, विद्वान् पुरुष ( उक्थ्यम् ) 'आश्म्' इस प्रकार के उक्थ नाम से कहाने योग्य स्तुत्य, वेदसूत्रों के प्रतिपाद्य, थोड़ा ( जज्ञानम् ) प्रादुर्भाव होती हुई ( ज्योति ) ज्योति को ( गिरा ) अपनी बाणी द्वारा ( गृणन्त ) स्तुति करते हुए ( ससिम् ) सर्पणशील सात इन्द्रियों से युक्त आत्मा को ही ( मृजन्ति ) मर्जते, शुद्ध, पवित्र, पारिष्कृत किया करते हैं । ससि= सात मूर्धागत प्राण्य, जैसे- दो नाक, दो आंख, दो कान, एक गुह्य और आठवीं बायाँ ।

( ३ ) हे सोम ! हे ( उक्थ्य ) वेदप्रतिपाद्य परमात्मन् ! या आत्मन् ! हे ( प्रभूवसो ) प्रभूत पेशववंसम्पन्न परमेश्वर ! अथवा हे सामर्थ्यवान् होकर सब विश्व में बसने वाले अन्तर्यामिन् ! प्रभो ! ( ते ) तेरे ( तानि )

य समाधि दशा में प्रकट हान हार तज ( सुसहा ) अन्य सब चित्त वृत्तियों और •यु धान सस्कारों का उत्तम राति स विनाश करन हार हात हैं । अत उनस ही तू ( समुदम् ) उत्तर रसों क धान द्वायक स्रोत का ( चय ) और चढ़ ।

•यातिष्मता विशोका क विवरण में •यासदर न लिखा है—

हृदयपुण्डराक शरयता या बुद्धिसविन् बुद्धिस व द्वि भास्वरा  
काशकल्प तत्र स्थितवैशारद्यात् प्रवृत्ति सूय दुग्धमणिप्रभारूपाक स्थ  
विकल्पत तथा अस्मिताया समापन्न इत्त निस्तरङ्गमहादधिकल्प शान्तमन  
न्तमस्मितामात्र भवति । इसका विवरण दस्ता अवि० स० [ १७५६ ] पृ०  
७५३-७५७ पर उद्गरण टिप्पण । इस मन्त्र न समुद शब्द स निस्तर  
गमहादधिकल्प चित्तदशा का हा प्रदृश्य हाता है ।

३ २ ३ ४ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३

[ १७५८ ] एष ब्रह्मा य ऋत्विष्य इन्द्रा नाम श्रुता गण ॥ १ ॥

१ २ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २

[ १७६६ ] त्वामिच्छुवसस्पन यन्ति गिरा न सयत ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २

[ १७७० ] विष्णुतयो यया पथा० ॥ ३ ॥ २ ॥ सजन् षग्वन् ना त ।

भा०—( १ ) ( ३ ) •षाण्या दस्ता अ विकल्प स० [ ४३८ ] पृ० २२२ ।

आर [ ४५३ ] पृ० २२७ ।

( २ ) इ ( शवसस्पत ) बला क स्वाभिन् ! सर्वेशाक्रमन् ! ( सयत )  
प्रायों का सयम करन हार साधक इधर प्रथिधान क अभ्यासी पुरुष  
का ( गिर न ) ऋत्विष्या क समान समस्त ( गिर ) वदकाणिया ( त्वाम्  
इन् ) तुभका हा ( यति ) प्राप्त हाती इ ।

<sup>२ ३ २ ३ २ २ १ २</sup>  
[१७७१] आत्वा रथ यथानय० ॥ १ ॥

<sup>१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
[१७७२] तुविशुष्म तुविशुष्म शचीरो विश्वया मते ।

<sup>१ २ ३ २</sup>  
आप्राथ महित्वना ॥ २ ॥

<sup>१ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ ०</sup>  
[१७७३] यस्य ते महिना मह परिणमायन्तगीयतु ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
हस्ता वज्र हिरण्ययम् ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० ८। ३८। ०-२५

भा०—(१) व्याख्या दक्षा अतिक्रम स० [३५४] पृ० १८३ यह प्रती-  
कमात्र है ।

( २ ) हे ( तुविशुष्म ) प्रभूत अनन्त शत्रिशालिन् ! हे ( तुविशुष्म )  
विशाल प्रभूत कर्म करन वाल ! अथवा बहुप्रज्ञ ! अनन्तज्ञान ! हे ( श-  
चीव ) शत्रि क स्वामिन् ! परमेश्वर ! आप ( विश्वया ) समस्त विश्व  
में व्यापक ( महित्वना ) महिमा या महान् सामर्थ्य स ( आप्राथ ) सर्वत्र  
व्यापक हैं ।

( ३ ) (यस्य महत) तिस महान तेरी ( महिना ) बड़ीभारी शक्ति से  
( हस्तौ ) तेरे हस्त साधन दा विशाल शक्ति या ( परि ) सर्वत्र (उमायन्त)  
व्यापक ( हिरण्ययम् ) गतिशील ( वज्र ) वज्र को ( ईयतु. ) ग्रहण  
करती हैं वह तू ई-द्र है ।

<sup>१ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
[१७७३] आ य पुर नाभिणीमिदृष्टेइत्य कथिर्नभन्यो३ नार्ता ।

<sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
सुरा न रुक्काञ्जुतात्मा ॥ १ ॥

<sup>३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २</sup>  
[१७७४] अभि द्विज-मा श्री रोचनानि विश्वा रजासि शुशुचाना

<sup>२ ३ १ २ ४ २ ३ १ २</sup>  
अ-थान् । हाता वजिष्ठो अपा सधस्थे ॥ २ ॥

३ २      ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ४ २      ३ २  
 [१७७६] अथ स होता या द्विजन्मा विश्वा देवे वायाणि अथस्या

२ ३ १ २      ३ १ २ ३ १ २  
 मर्तो यां अस्मै सुतुगो ददाश ॥ ३ ॥ ४ ॥

अ० १ १ १ ६ । ३-२ ॥

भा०—( १ ) ( य ) जो ( तामिषीं ) नर=आत्मा और मन के निवास योग्य ( पुर ) इस देहरूप पुरी को ( अग्नीदेत् ) प्रकाशित करता है चेतन बनाय रखता है । वह ( कविः ) कान्तदर्शी इन्द्रियों द्वारा क्रमण करके देखन द्वारा ( नभन्य ) अन्तरिक्ष आकाश अर्थात् विचरण करने वाल व्यापक वायु=के समान प्राणरूप हृदयाकाश में व्यापक ( अर्वा न ) अध के समान वेगवान् और ( सूर न ) सूर्य के समान ( रुरुषान् ) कान्तिमान् ( शतात्मा ) सैकड़ा प्राणियों में आत्मारूप से विराजमान है ।

( २ ) यह अग्नि ( द्विजन्मा ) ज्ञान और कर्म इन दोनों से अपना प्रादुर्भाव करने द्वारा अथवा कर्ता भोक्ता रूप से , अथवा साधारण अग्नि जिस प्रकार दो अणुओं के रगड़न से उत्पन्न होता है उसी प्रकार देह और प्रणव इन दो अणुओं से प्रकाशमान अन्तरात्मा ( श्री ) तीन ( राचनानि ) नू अन्तरिक्ष और घौ जाकों को ( शुशुचान ) प्रकाशित करता हुआ अथवा तीनों प्रकृति के सत्त्व रजस, तमस इनको परिशोधित परिष्कृत करता हुआ ( विश्वा ) समस्त ( रजासि ) लोकों में या देहों में ( अस्थात् ) विराजमान है । और वही ( होता ) सबका प्रदण करन द्वारा ( यजिष्ठ ) सबस बड़ा यज्ञकर्ता होकर ( धपा ) जाकों के या कर्म और ज्ञानों के ( सधस्थे ) एक साथ रहने के स्थान महागण्ड में ( अस्थात् ) विराजमान है ।

( ३ ) ( य ) जो अग्नि ( द्विजन्मा ) कर्ता और भोक्ता इन दो रूपों में प्रकट होने द्वारा अथवा पूर्वोक्त रूप से देह और 'मोक्ष' इन दो अणु-

शियो स निष्पादित हान वाळा ( हाता ) सब का दाता और अदानकर्ता है ( स ) वह ( विधा ) समस्त ( वायाधि ) वरण करण याग्य उत्तम, ( धवस्या ) कीर्ति क योग्य कार्यों को ( दध ) धारण करता है। ( य ) जा ( मथ ) मरणधमा पुरुष ( अस्मै ) इसक निमित्त अपन का ( इदाश ) समपण करता है वह ( सुतुष् ) उत्तम स तति वाळा हाजाता है।

[१७७७] अत्र तमद्याश्रय स्तोमै क्रतुश्च भद्रं हृदिस्पृशाम् ।  
<sup>२ ३ २ ३ २ ३ २ ३</sup> <sup>३ २ ३ २ ३ २ ३ २</sup> <sup>२ ३ १ २</sup>

ऋध्यामा त श्रोहं ॥ १ ॥

[१७७८] अत्रा ह्यग्नं क्रताभद्रस्य दक्षस्य सा प्रो ।  
<sup>२ ३ २ ३ २ ३ २ ३</sup> <sup>३ २ ३ २ ३ २ ३ २</sup> <sup>३ २</sup>

रथीश्रुतस्य वृहती वभूथ ॥ २ ॥

[१७७९] पाभार्था अकर्मजा नो अत्रास्त्राश्च ज्योति ।  
<sup>३ २ ३ २ ३ २ ३ २</sup> <sup>३ २ ३ २</sup> <sup>२ ३</sup>

अज्ञाश्वभि सुमना अनीकै ॥३॥५॥ इ० ४ १०। १ ३॥

भा०—( १ ) व्याख्या दक्षा अविकल स० [ ४३४ ] पृ० २२० ।

( २ ) ( अथ हि ) और क्योंकि इ अग्नं ' परमेश्वर ' आप ( वृहत् ) बड़ भारा ( ऋतस्य ) सत्य ज्ञान और इस महान् प्रज्ञायज्ञ क ( रथा ) धारण करण द्वार ( वभूथ ) हा और ( क्रता ) प्रज्ञानस्वरूप ( भद्रस्य ) भजन या सवन करण याग्य कल्याणकारा ( साधा ) अभाष्ट फलों क साधक यज्ञ क भा ( रथा ) प्रवतक हा ।

( ३ ) इ ( अग्न ) प्रकाशस्वरूप ( ज्योति ) ज्योति स्वरूप आप ( स्पृशाम् ) सूर्य ० समाग ( विधाभि ) समस्त ( अनीकै ) सुखस्वरूप । इ यगुय्य पदार्थों क सङ्घि ( सुमना ) उत्तम । अत्रा हाकर ( न ) हमारे ( अवाक ) समझ ( एभि ) इन ( अक ) अपन याग्य तत्रा स ( भव ) प्रवृत्त हा वा ।

इति प्रथम २०० ।

- [१७८०] अग्ने इवस्त्रदुपसश्चित्र राधो अमर्त्ये ।  
 २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २  
 २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 आ दाशुपे जातेदो वहा तमद्या देवा उपयुज ॥ १ ॥
- [१६८१] जुष्टो हि दूता असि हव्यवाहनाऽग्नि रवारध्वराणाम् ।  
 २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २  
 सजुराश्वभ्यामुपसा सुवीयमस्मे धेहि श्रवो बृहत् ॥२॥  
 ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ४४ । १, २ ॥

भा०—( १ ) श्वारया दद्या अविकल स० [ ४० ] पृ० १७।

( २ ) हे ( अग्नि ) परमामन् ! आप ( अध्वराणा ) सब यज्ञों के ( रधी ) नता और ( जुष्ट ) सब विद्वानों से सवित ( हव्यवानः ) समस्त स्तुतियों क धारण करने इ र एव समस्त जगत् क धारण करन इर ( दूत ) सर्वव्यापक या उपासित ( असि ) है । आप ( अध्वर्या ) प्राण और अग्नि क द्वारा ( उपसा ) ज्यातिष्मती विशाका प्रजा द्वारा ( अस्मे ) हमें ( सुवीय ) उतम बल और ( बृहत् ) विशाल ( श्रव ) ज्ञान ( धेहि ) धारण करावे ।

- [१७८२] विधु दद्राण समन गृह्णा युवान सन्न पलिता जगार ।  
 ३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ २ २ २  
 दास्य पश्य काव्य महित्वाद्या ममार स ह्य समान ॥१॥  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
- [१७८३] शाकृता शाक्रे अद्य सुपथ आ या मह शूर सना  
 २ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २  
 दनीड । यच्चिरुत सत्यमित्तन्न माघ उस्तु स्पर्द्धमुत  
 ३ १ २ २  
 जेतोत दाता । २ ॥  
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
- [१७८४] एभिर्ददे वृणाया पसास्यानि यभिरौजद्रप्रदत्याय वजा ।  
 २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 ये कर्मण क्रियमाणस्य मह ऋते कर्ममुदजायन्त देवा  
 ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० १० । २५ । २-७ ॥

भा०— १ ) •पाठपा दत्ता भावे० स० [३२५] पृ० १६७ ।

( २ ) ( य ) जा ( शूर ) सवभरक ( सनात् ) सनातन, निय, ( अनाड ) स्वत सबका आश्रय होने स किसी अन्य पदार्थ का आश्रय न बन हारा सब का स्वय मूलकारण ( अरुण ) दासिमान् सब का परक, ( सुगय ) उत्तम ज्ञानवान् सबका उत्तम पात्रक ( शरमना ) अपनी ही शक्ति स ( शाक ) सबशक्तिमान् परमत्मा ( यत् ) जो कुछ भी ( चिकत ) स्वय जानता और अपियो क हृदय में ज्ञान उत्पन्न करता है ( तत् ) वह सब ( सत्यम् इत् ) सय ही हाता है ( न माघ ) वह कभी स्वर्ध निष्पयाजन नहीं हाता । वही उस ( स्पाहँ ) सब क अभिलाषा वाच्य, ( वस् ) आभाव वाच्य सब भूमियों का ( जता ) विजता ( उत ) और ( दाता ) भावों को सब पृथर्व का दान करन हारा है ।

( ३ ) परमात्मा ( एभि ) इन महत्गुण रूप शक्तियों से ( वृष्ण्या ) सुखों क उपान वाल ( पौलानि ) नाना पौरुषयुक्त बलों का ( दद ) अपन वश में कर रहा है ( यभि ) जिन बगवती शक्तियों स ( वृत्रह पाय ) प्राणियों क उपद्रव शान्त करन क लिय अधवा अज्ञान विज्ञों का विनाश करन क लिय, ( अौत् ) सुखों जलों और ज्ञाओं की वर्षा करता है । और ( य दवा ) जा दव विद्वान्गुण और दिव्य शक्तिया ( महून ) बड़ भारा ( क्रिपमाण्यस्य ) किय जान वाच्य ( क र्मण ) जगत् प्रचालारूप कम क ( अत ) तथ्य ज्ञान में विराज मान हाकर ( कर्मन् ) कमबन्धन का ( उद अनायन्त ) पार करक मुक्त हो जाते हैं ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ २ ३ ३ ३  
[१७८] अस्ति सोमो अय सुन पिबन्त्यस्य मदत ।  
३ २ ३ १ २ ३ १ ३

उत स्वराजा अशिरना ॥ १ ॥



१ २    ३ १    २ ३ १२    १२ ३ २ ३ १ २  
 [१७-६] पिवन्ति मित्रो अर्थमा तना पूनस्य वरुण ।

३    २ ३ १ २  
 निषधस्थस्य जावत ॥ २ ॥

३ १ २ ३ २ ३ १२    २२ ३ २ ३ १ २  
 [१७-७] उतो ऋस्य जापमा इन्द्र सुतस्य गामत ।

३ १२    १२  
 प्रातर्होतेष मत्सति ॥ ३ ॥ ८ ॥ श्र० ८ । ६४ । ४-६ ॥

भा०—( १ ) ऋषया दक्षा अवि० स० [१७४] पृ० ६५ ।

( २ ) ( मित्र ) सूर्य के समान स्नह करन द्वारा, सबको अपने २ कर्म में प्रवृत्त कराने द्वारा, ( अर्थमा ) सबका स्वामी, न्यायकारी ( वरुण ) सब दुखा का निवारक, ये तीनों देव ( जावत ) ज्ञान के उत्पादक, आनन्दजनक ( निषधस्थस्य ) प्राण, अपान और समान, या इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों में विराजमान सोमरूप ब्रह्मानन्द का ( पिवन्ति ) पान करते हैं । मित्र, अर्थमा, और वरुण ये तीनों योगियों के तीन भद्र हैं । १ सूर्य के समान प्रज्ञालोकवान् मित्र, भूतजय करने द्वारा इन्द्रिय-सवित् द्वारा स्थितिप्रप्त अर्थमा और विशाल आकाशकल्प समुद्र के समान शान्त, शुद्धचित्त सत्व का अनुभवी यागी वरुण कहाता है ।

( ३ ) ( प्रात ) प्रात काल के अवसर में ( हाता इव ) जिस प्रकार सामयाग करन वाला होता प्रसन्न हो जाता है उसी प्रकार ( इद ) अध्यात्मयागी का आमा ( उता ) भी ( नु ) निश्चय से ( अष्य ) इम ( गोमत ) इन्द्रियों के सवित् ज्ञानों से युक्त ( सुतस्य ) उत्पादित महारम का ( जापम् ) सचन कर लिये ( आ मासति ) रूब मद्र हो जाता है ।

२ ३ १ २    ३ १ २    ३ १ २  
 [१७-८] वामहो अग्नि सूर्य चडादित्य मर्हा अस्ति ।

३ १ २ ३ २ ३ २    ३ १ २ १ २ १ २  
 महस्ते सतो महिमापनिष्टम मक्षा २२ मर्हो अस्ति ॥१॥

[१७८६] यट् पूर्यं श्रवसा महौ असि सत्रा देव महौ असि ।  
 ०२ ३ १ २ ० ६ २ १ २ ३ ३ ३ १ २  
 मह्ना देवानामसुर्यं पुराहितो विभु ज्यातिरदाभ्यम्  
 ॥ २ ॥ ६ ॥ ऋ० ७। ३१। १७ १२ ।

भा०—( १ ) व्याख्या दक्षा अतिकूल स० [ २७५ ] पृ० १४१ ।

( २ ) इ सूर्ये 'सयक प्रक परमामन्' आप ( श्रवसा ) ज्ञान और यश क द्वारा ( यट् ) सचमुच ( महान् ) सयस बद् ( असि ) हो । हे देव ' प्रकाशस्वरूप परमामन् ' आप ( सत्रा ) सचमुच निश्चय स ( महान् असि ) सयसे बद् हा आप ही ( देवाना ) सब विद्वानों क ( मह्ना ) अपन महत्व या शक्ति स ( असुर्य ) प्राणों का चञ्चान हार, ( पुरोहित ) साक्षात् पुराहित क समान प्रवर्तक उनका साक्षात् धारण करन हार और साक्षीरूप दष्टा हा आप ही वास्तव में ( विभु ) सर्वत्र विशप रूप स व्यापक, ( अदाभ्यन् ) आविनाशी, नि य ( ज्याति ) ज्याति प्मान प्रकाशस्वरूप हैं ।

इति द्वितीय खण्ड ।

[१७९०] उप नो हरिभि सु । यादि मदानाम्पते ।  
 १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

उप ना हरिभि सुतम् ॥ १ ॥  
 ३ २ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २

[१७९१] द्विता या वृत्रहन्मो । उद् इ द्र शतन्तु ।  
 १ २ ३ १ २ ३ २

उप ना हारभि सतम् ॥ २ ॥  
 १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१७९२] त्व हि वृत्रहभेषा पाता सामतानास ।  
 १ २ ३ १ २ ३ २

उप ना हरिभि सुतम् ॥ ३ ॥ १० ॥ ५० ॥ ६२ । ६१ २२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दत्ता अदिकल्ल स० [ १२० ] पृ० ८४ ।

( २ ) ( य ) जा ( वृग्रहन्तम् ) समस्त विघ्नो का विनाशक और ( शतक्रतु ) सबदों कर्मों का करने हारा है उसको ( दिता ) दो रूपों में ( विद ) में जानता हू । एक परमात्मा रूप से और दूसरा जीवात्मा रूप से । वह ( न सुतम् ) हमारा उत्पन्न किय पदार्थों का । हरिभि ) अपन हरणकारी वायु आदि साधनों और भ्रामपच में इन्द्रियों द्वारा ( उप ) प्राप्त करें ।

( ३ ) हे ( वृग्रहन् ) अज्ञान के विनाशक । ( पृषा ) इन ( सोमा ना ) सोमों, समस्त जगत् के बीधों का ( पाता ) पालनकर्ता ( र्व ) तू ही ( भसि ) है । ( न ) हमारे ( सुतम् ) योग साधनों से पारिकृत आत्मा का ( हरिभि ) ज्ञानों द्वारा ( उप ) प्राप्त होइय ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २      ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
[ ७६३ ] प्र यो महेमहे वृत्रे भरभ्य प्रचतसे प्रसुमति वृणुभ्यम् ।

१ २ ३ १ २ ३

विश पूर्वो प्रचरचर्षणि प्रा ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[ ७६४ ] उरुभ्यचसे महिन सुवृत्तिभिन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्रा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २      ३ १ २

तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीरा ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २      ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[ ७६५ ] इन्द्र धार्णोऽनुत्तम-युमत्र सप्रा राजान इविर सहभ्यै ।

१ २      ३ २ ३ १ २

हर्षेऽप्राय बर्हया समारिन् ॥ ३ ॥ ११ ॥

श्र ७ । ११ । १०-१२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देवा अदिकल्ल स० [ ३२८ ] पृ० १६६ ।

( २ ) ( विम ) विशन् मादय्य खाग ( उरुभ्यचम ) महान् महापद में अपाक ( महिने ) बह नारी ( इन्द्राय ) परमा मा की ( सुवृ

त्रिम् ) उत्तम स्तुतिरूप ( ब्रह्म ) वेद का ( जनयन्त ) ज्ञान करते हैं ।  
 ( धारा ) वे विद्यावान् ध्यानवान् पुरुष ( तस्य ) उसका ( व्रतानि )  
 उपदेश किये नियमों को ( न मिनान्ति ) विनाश नहीं करते, उल्लंघन  
 नहीं करते ।

( ३ ) ( बाणी ) वेदवाणियों और ( सत्रा ) समस्त विश्व क ( राजान )  
 प्रकाशक स्वामी ( अनुत्तम-यु ) आदित्याय नित्य ज्ञानी नित्य सामर्थ्यवान्  
 ( इन्द्र ) इन्द्र को ( सङ्घै ) सब पर दमन करने क लिये ( दधिर )  
 धारण करती हैं । अतः, हे नर ( ह्यश्वाय ) समस्त लोकों और जीवों  
 में व्यापक ईश्वर क किये ( आपीन् ) अग्ने समीप आप सब बन्धुआ  
 को ( सम् वडंय ) उत्तम रीति से बड़ा, उन्नत कर ।

[ १७६६ ] यद्विन्द्र यावत्तमन्त्रेणायदहमीशिय ।  
 स्तोतारामहधिषे रदात्रनो न पारत्याय रसिपम् ॥१॥  
 [ १७६७ ] शिष्यामन्महयत इवेदो राय आ कुदाचद्विदे ।  
 न हि त्यद-यन्मघवन्त्र आप्य वस्यो अस्ति पिता च न  
 ॥ २ ॥ १२ ॥ अ० ७ । १२ । १८, २६ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दक्षो अविच्छल स० [ ३१० ] पृ० १२८ ।  
 ( २ ) परमेश्वर का सङ्कल्प है कि ( मइयते ) दानशील या  
 मेरी स्तुति करने हारे ( कुदचिद्विदे ) कहीं भी हो वडा ही उस  
 ( दिवे दिवे ) प्रतिदिन ( राय ) धनों को ( आ शिषेपम् ) दान  
 दिया करता हूँ । इस प्रकार की ईश्वर की दयारहि दान स भङ्ग का भी  
 सङ्कल्प होता है कि हे ( मघवन् ) पृथ्वेवन् । ( त्यद-यत् ) तरे स दूसरा  
 काई और व्यक्ति ( न ) हमारे लिये ( वस्य ) आवास देने हारा, ( आप्य )  
 प्राप्त करने योग्य इष्टदेव, उत्तम वस्तु ( नहि ) नहीं है और तुझ स उत्तम  
 दूसरा ( पिता च ) पिता पात्रक ना ( न ) नहीं है ।

उ ५१ २२      उ २३ ३२ ३२ ३    १ २      ३ २  
 [१७६८] शुष्नी हव विपिपानस्याद्रैर्योया विप्रस्यार्चतो मनीषाम् ।

उ ५१ २२      १ २ ३ २ ३ ३  
 कृष्णा दुर्घास्यन्तमा सचेमा ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ १ २      ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ६ २ २  
 [१७६९] न ने निरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान् ।

१ २ ३ १ २  
 सदा ते नाम स्त्रयशो विप्रसिम् ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ४ १ २ ३ १ २      ३ १ २ ३ २  
 [१८००] भूरि हिते सवना मानुषपु भूरि मनीषी हवते स्वामित् ।

२ ३ ३ १ २ ३ १ २  
 माग्ने अस्मन्मघव ङ्ज्याङ्ग ॥३॥१३॥ श० ७ । २२।४-६॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् । (विपिपानस्य) आनन्दरस का पान करने हारे ( हव ) आदरणीय और ज्ञानी, एवं पर्वत के समान दृढ़, काम क्रोध आदि से दीर्घ न होने वाले योगाभ्यासी के ( हव ) पुकार को ( शुष्नि ) ध्वन्य कर ( अर्चते ) स्तुति करत हुए ( विप्रस्य ) अधावी विद्वान् पुरुष की ( मनीषाम् ) मन की गति, या स्तुति का ( वाध ) आप जानते हो । और ( सचा ) आप सहायक रूप से ( इमा ) इन ( दुर्घासि ) शुभ कामनाओं को ( अन्तमा ) हृदयगम ( कृष्वा ) कीजिये ।

( २ ) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् । (असुर्यस्य) प्राणों के हितकारी, ( तुरस्य ) शत्रुओं के नाशक, अथवा सबके प्रेरक ( ते ) तेरा वर्णन करने हारी ( निर ) वाणियों की भी ( न मृष्ये ) कभी पाशियाग नहीं करता । और ( विद्वान् ) ज्ञानवान् होकर मैं ( ते सुस्तुतिम् ) तारी उत्तम स्तुति को भी कभी नहीं त्यागता । ( ते ) तारे ( स्त्रयशः ) यशस्वरूप उग्गवज्ज ( नाम ) नाम को ( सदा ) निय ( विप्रसिम् ) विविध प्रकार से बछाना करता हू ।

( ३ ) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् । (ते) तर जिये (मानुषपु) मनुष्यों में (भूरि) बहुत स ( सवना ) उपासना प्रकार, या ऐश्वर्य है । ( मनीषी ) मनतशील विद्वान् भी ( स्वामित् ) तारी ही (भूरि) बहुत ( हवते ) स्तुति करता है । हे

( मघवन् ) ज्ञानाध्यय ! हे सर्वरात्रिमन् ! आप ( अश्मत् ) हमसे ( आरे )  
दूर ( ज्योक् ) कभी भी ( मा कः ) मत होंवें ।  
इति तृतीय. खण्ड ।

— 0 —

[१८०१] प्रोष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूयमर्चत । अभीके चिदु  
१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २  
३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ १ २  
लोककृत्सङ्गे समत्सु वृत्रहा । अस्माक योधि चोदिना  
२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१८०२] न्वं सिंधुं वासृजोऽधराचो अहध्रदिम् । अशशुरिन्द्र  
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३  
जक्षिषे विश्वं पुष्यसि धार्यम् । तं त्वा परिष्वजामहे  
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१८०३] विषु विश्वा अरानयोऽर्यो नशन्त नो धिय' । अस्तानि  
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
२ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति । या ते रातिर्दिविसु  
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
नभन्तामन्यकेपां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ३ ॥ १४ ॥  
श्रु ८० । १२३ । १-१ ॥

भा०—(१) (अर्यै इन्द्राय) हम ऐश्वर्यवान् प्रभु के (पुरो-रथम्) विश्व,  
यज्ञायद् रूप रथ को पूर्ण करने दारे, या पालन करने वाले, या गति देने  
वाले ( शूयम् ) बल को ( प्र सु अर्चत उ ) वधायंरूप से घथेन करो ।  
देखो, वह ईश्वर ( अभीके ) अत्यन्त समीप, वित्त में साक्षात् ( चिद उ )  
हो ( लोककृत् ) सब का दर्शन करता है, सबको देखता है, या वित्त में  
सब के प्रकाश करता है । और ( सत्रे ) सेग हो जाने पर आत्मा को  
प्राप्त कर ( समत्सु ) इन्द्रियवृत्तियों में ( वृत्रहा ) तामस आवरण का नाश

कर देता है और हमारे भावों को जान जाता है ( अस्माक ) हमें ( बोधि ) ज्ञान देता है और हमारे भावों को जान जाता है ( अ-यकेषा ) हमारे आभ्यन्तर तुष्यवृत्ति शत्रु, काम आदि के ( धन्वसु ) कमानों पर ( अधि ) चढ़े हुए ( ज्याका ) निबँड खिल्ले भी ( नभन्ता ) टूट फूट जाते हैं ।

( २ ) हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! तूने ( सिन्धू ) सब नदियों को और शरीर की नदियों को ( अधराध ) नींच जाने हारी ( अवासूत्रः ) रचा है। और तू ( आहिम् ) न इतन बाजे या अघत या पीड़ाकारी तामस आररण, या मेष को ( अहन् ) विनाश करता है। हे इन्द्र ! तू ( अशत्रुः ) शत्रुहित सब का मित्र ( जज्ञिय ) जाना जाता है। ऐसे ही ( त ) उस सब के मित्र परमस्नेही ( रवा ) आपको ( परि स्वजामहे ) हम आलिंगन करने हैं, अपना निरन्तर का सज्जी बनाते हैं, अघनाते हैं, हृदय में धारण करते हैं ।

( ३ ) हे इन्द्र ! ( नः ) हमारे ( विधा ) समस्त ( अयं ) शत्रु रूप, हम पर चढ़ाई करने वाले ( अरातयः ) अदानशक्ति, उचित धर न देने हार, ( विरवा ) सब शत्रुगण्य ( वि सु नशन्त ) नाना प्रकार से लूच नाश का प्राप्त हों। हे ( इन्द्र ) एधयेवन् ! ( य ) जो ( न ) हमें ( त्रियां सति ) विनाश करना चाहता है उस ( शशवे ) शत्रु पर ( बधं ) अपने हननकारी बल को ( अस्तामि ) प्रयोग कर। और ( या ) जो ( ते ) तेरी ( रतिः ) दान और कृपा है वह हमें ( वसु ) धन आदि पदार्थों का ( शदिः ) दान करे। ( अम्यकया ज्याका ध-वसु नभन्ताम् ) और अन्य तुष्य शत्रुओं के धनुषों की निबँड टोारियों नष्ट हो जायें ।

३ १ ४ ३ १ २ ३ १ २ २ ४ ३ १ २  
[ १००४ ] रेया इद्रेयनस्नाता स्यात्प्रावता मघानः ।

१ २ ३ १ २  
प्रेदु हरियः सुतस्य ॥ १ ॥

[१८०५] उक्थ च न शस्यमान नागो रायराचिकत ।  
<sup>३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>

<sup>१ २ ३ २ ३ १ २</sup>  
 न गायत्र गीयमानम् ॥ २ ॥

[१८०६] मा न इन्द्र पीयत्नव मा शद्धते परा दा ।  
<sup>१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>

<sup>१ २ ३ १ २</sup>  
 शक्षा शचीव शचीभि ॥३॥१५॥ अ० = २।१२—१२॥

भा०—( १ ) इ ( हरिव ) गतिमान् समस्त जाका क स्वामिन्  
 अथवा किरणों और प्राणों क प्राण । इ प्रभा । जाक में ( रवत ) धनाद्वय  
 पुरुष का ( स्ताता ) स्तुति करन द्वारा ( रवत् ) धनवान् हा जाता है  
 और ज्ञानी पुरुष का उपासक ज्ञानवान् ( स्वात् ) हा जाता है । फिर  
 ( स्वावत ) तुम्ह जैसे अनुपम ( मधान ) ज्ञानी और धनसम्पन्न सु  
 तस्य ) पृथक्वान् अथवा ब्रह्मान-दरस क उपासक प्रभु का ता ( प्र वत् उ )  
 फिर क्या कहना । तदा उपासक ता भारा धना और ज्ञाना हा हा  
 जायगा ।

( २ ) व्याख्या दक्षा अवि० स० [२२५] पृ० ११६ ।

( ३ ) इ ( इन्द्र ) परमेश्वर । ( न ) इमें ( पापत्नव ) हिंसक, दुष्ट  
 पुरुष क हाथों में ( मा परा दा ) मत डाल । और इमें ( शधत ) हमारा मान  
 भग करन द्वार हिंसक पुरुष क हाथों में ( मा परादा ) मत डल ।  
 त् ( शचाभि ) अपन ज्ञानों और शक्तियों स ही इ ( शचाव ) शक्तिमन् ।  
 इम ( शिष्य ) शिल्लित कर दण्डित कर अथवा ज्ञान प्रदान कर ।

[१८०७] एन्द्रा याद्वि हरिभिरुप करायस्य सुष्टुतिम् ।  
<sup>१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २</sup>

<sup>३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
 दिवा अमुष्य शानतो दिव यय । दगावसो ॥ १ ॥

[१८०८] अत्रा वि नभिरपामुरा न धूनुत वृक ।  
<sup>३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>

<sup>३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup>  
 दिवा अमुष्य शानतो दिव यय दिगावसो ॥ २ ॥



२ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ १ २ २ २  
 [१८०६] ध्या त्वा प्राया वदनिह मोमो घापण वदतु ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 दिवा अमुष्य शासतो दिव यय दिवावसो ॥ ३ ॥ १६ ॥  
 अ० ८ । २४ । १, ३, २ ।

भा०—( १ ) व्याख्या दक्षिण अवि० स० [ ३४८ ] पृ० १८० ।

( २ ) ( वृक ) भद्रिया ( उरा न ) जिस प्रकार भद्र का ( धुनुत ) धुन देता है भय स कपित करता है उसी प्रकार ( एषा ) इन प्रयों का ( नभि ) नमन करन द्वारा वश करन द्वारा, आत्मा भी उस ( उरा ) चित्तिशक्ति का ( विवृनुत ) अपन वल स प्रचलित करता है । ( दिव ) प्रकाशमान, प्रकाशस्वरूप विश्व में रमण या क्रांदा करन द्वार ( शासत ) शासकरूप ( अमुष्य ) इस परमात्मा क ( दिव ) ज्यातर्मय ज्ञान का है ( दिवावसा ) ज्ञातिरूप प्रकाश में वाम करन द्वार जावात्मन् । तू ( यय ) प्राप्त हो ।

( ३ ) ह प्रभा । ( इह ) इस ससार में, इस जन्म में ( सोमी ) सोमरस का आस्वादन करन हुआ आ मञ्ज नी ( आवा ) विद्वान्, ज्ञानाप दशक ( त्वा ) तरी ( वदन् ) स्तुति करता हुआ ( घापण ) वद ज्ञान क माथ ही ( त्वा वदतु ) तुझ प्राप्त हा । ह ( दिवावसा ) आत्मन् । ( अमुष्य शासत दिव दिव यय ) आत्मकीर्ति, आत्मरति हाकर उस शासन करन द्वार परमात्मा क प्रकाशस्वरूप माच जाक का तू प्राप्त हा ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१८१०] परस्व सोम मन्द्यत्रिन्द्राय मधुमत्तम ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१८११] त सुतासो त्रिपथित शुक्रा वायुमखुलत ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 [१८१२] अखुध देव रीतये वाजयन्ता रथो इव ॥ ३ ॥ १७ ॥

अ० ६ । ६७ । १६ १८, १७ ॥

भा०—( १ ) हे (सोम) ज्ञानैश्वर्यं सयुक्तं (मधुमत्तम) अतिशय ज्ञान सम्पन्न हाकर ( मन्-दयन् ) आनन्दमय हाता हुआ यागिन् । तू इन्द्राय परमेश्वर का प्राप्त होने क लिय ( पवस्व ) गतिकर ।

( २ ) ( त ) वे ( विपश्चित ) ज्ञानसम्पन्न, ज्ञानों का समग्र करने हार या ज्ञानरूप अग्नि का चयन करन हारे परमात्मदर्शी ( शुक्ल ) तजस्वी, या शुक्ल कर्म करन हार ( सुताम ) सिद्ध यागी ( वायुन् ) सब प्रकार प्रभु परमात्मा का ( असृजत ) प्राप्त हात हैं ।

( ३ ) मामस्वरूप यागी गद्य ( वाजयन्त ) सप्राप्त करने हारे विचयी ( रथा इव ) रथों क समान स्वय ( वाजयन्त ) ज्ञानस्वरूप हाकर ( रथा ) केवल आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हाकर ( देवचातय ) ईश्वर को प्राप्त होने क लिय ( असृजन् ) जा रहे हैं ।

हात वतुष रूपे ।

[१८१३] अग्निं होतार मन्ये दास्वन्तं वसो सन्तु ।  
 ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सदसो जातवदस विप्रन्न जानवेदसन् ॥  
 २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

य ऊर्ध्वया म्वध्वरादवाच्या रूपा ।  
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

घृतस्य विश्राष्टिमनुशुकशाचिप आजुहानस्य सापय ॥१॥  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३

[१८१४] यजिष्ठ त्वा यजमाना हुवेम ज्यष्टमङ्गिरसा विप्र  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २

मन्मभिर्भिः शुक्र मन्मभि ॥  
 १ २ ३ १ २ २ ३ २

परिजमानामिष द्या होतार चर्षणीनाम् ।  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

शोचिष्येश वृषण यमिमाविश प्रावन्तु जूतये विश ॥२॥

२४ ३२ ३१ २ ३ १ २ ३  
 [१८१५] स हि पुरुचिदोजसो विरुक्मता दीधानो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

भवानि द्रुहन्तरः परशुनं द्रुहन्तरः ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

वीडुविद्यस्य समृतौ श्रुवद्वेनव यतिस्थिरम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

निष्पहनाषो यमते नायने धन्वासहा नायने ॥३॥१८॥

श्र० १ । १२७ । १-३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या वेदो अग्नि० सं० [४६५] पृ० २३५ ।

( २ ) हे ( विप्र ) ज्ञानवान् ! अग्ने ! परमेश्वर ! इम ( यजमानाः ) देवोपासना करने द्वारे खोग ( यज्ञिष्ठं ) सब उपामकों में से सबसे अधिक श्रेष्ठ ( अगिरमां ) समस्त ज्ञानवान् आमाओं से भी ( ज्येष्ठ ) श्रेष्ठ परमात्मरूप आपको ( विग्नेभिः ) विशेष रूप से आपके महाशक्ति की दृष्टान्त द्वारे ज्ञानमय ( मन्मभिः ) विचारों, मन्त्रों से ( स्वा ) आपको ( द्रुवम ) स्मरण करते हैं । हे ( शुक्र ) तेजस्वरूप सबके प्रकाशक ! ( परिग्मान ) सर्वश्यापक, ( दां ) तेजस्वरूप, ( धर्मधीनां ) समस्त मनुष्यों को ( होतारं ) कृपा का दान करने द्वारे ( शोचिष्केर्गं ) कान्तिमान् मूर्खादि विपत्तियों को घटा करने द्वारे ( वृष्य ) सब सुखों के वर्धक ( यं ) तिस आपका ( हमा ) ये समस्त ( विश. ) आप में आश्रय पाने द्वारे जीवण्य ( प्रावन्तु ) प्राप्त होते हैं ।

( ३ ) ( सः हि ) निश्चय मे यह अग्नि ( विरुक्मता ) विशेष कान्ति से युक्त ( आत्रसा ) तेज से । पुरुचिन् अति अधिक ( दीधानः ) प्रकाशित होता हुआ ( द्रुहन्तर ) वृषों का विनाश करने द्वारे ( परशुः न ) परम के समान ( द्रुहन्तरः ) दृश्यशील, विनाशी इस देह बन्धन को काटने द्वारा ( भग्नि, होता है, ( यत् ) तिमिर ( समू पत्तौ ) समग्र में साधान् प्राप्त कर खेने पर ( वीडु ) दृढ़ और ( वन् ) जो ( स्थिर )

खिर, स्थायी यह ससार या देहयन्धन (चित्) भी (यना इव) जगल  
या जसों कसमान (ध्रुवत्=सुवत्) द्धितरा जाता है । अग्नि क सयोग  
निष्ठ प्रकार जगल जल जाता या जल भाफ हाकर विज्ञान हाजाता है  
उसी प्रकार यह समस्त ससार भी जिस में प्रलय काल में विकीन होजाता  
है वह (नि सहमान) समस्त ससार की सब बिराधिनी शक्तियों को  
अपन वश करता हुआ (यमत) समस्त ससार का व्यवस्था करता है  
और उसी में प्रीड़ा करता है एव (धन्या सदान) धनुषर विजयी के  
समान (अयते) ससार के रथ चत्र में भी आता है और (न अयते)  
और इसके भीतर पाश में भी नहीं आता ।

इति नवमस्य प्रपाठकस्य प्रथमाऽऽप्रपाठक \*

### अथ नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

अपि — १ अधि पावन । २ सोमरि वाण्व । ३, ६ अवसर वादयप  
अने च अपयो इष्टिङ्गा \* । ८ व सप्री । ६ गापूतयदवसक्तिनी वाण्वायनी ।  
१० त्रिशरास् वाण् सितुद्रीषो वाम्बरीष । ११ उला बातायन । १२ वेन ।  
३, ४, ७, १२ इति साम ॥ इता-२, २ ८ अग्नि । ३, ६ विद्वे देवा ।  
१ इन्द्र । १० अग्नि । ११ वायु । १३ वेन । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥  
उद — १ विशारपङ्क्ति, प्रथमस्य, सतावृहती उत्तरेषा प्रयाणा, उपरिशाज्ज्योतिः  
अन उत्तरस्य त्रिष्टुप चरमस्य । २ प्रागाथम् वाकुभम् । ३, ६, १३ त्रिष्टुप् ।  
८-११ गापत्री । ३, ६, ७, १२ इति साम ॥ स्वर-१ पञ्चम प्रथमस्य मध्यम  
उत्तरेषा प्रयाणा, धैवत चरमस्य । २ मध्यम । ३, ६, १३ पञ्च । ८-११  
पञ्च । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥

\*केषा चिन्मतेनात्र विशाब्दास्य, पञ्चमस्यस्य च विरामः ।

- [१८१६] अग्न तव श्रयो ययो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो ।  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 गृहद्रानां शवसा वाजमुन्ध्यां देदधासि दाशुषे क्रवे ॥१॥  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
- [१८१७] पालकवर्चा शुक्रवर्चा अग्नवर्चा उदियर्षिं नानुना ।  
 ३ २ २ १ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २  
 पुत्रां मातरा विचरन्नुपावामि पृणक्षि रंक्षी उभे ॥२॥  
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
- [१८१८] ऊर्जां नपाज्जातवेदः सुशस्त्रिभिर्मदस्य धीतिभिर्हितः ।  
 १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 त्वे इष सन्दधुर्भूर्विर्षसः श्वित्रातयो वामजाताः ॥३॥  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
- [१८१९] इरज्यन्नग्ने प्रथमस्य जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य ।  
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 स दर्शतस्य वपुषो विराजति पृणक्षि दर्शत क्रतुम् ॥४॥  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
- [१८२०] इष्कर्णारमध्वरस्य प्रचेतस क्षयन्तं राधसो मह । राति  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 वामस्य सुभगा मदीमप दधासि सानसि राधिम् ॥५॥  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
- ८२१] ऋतायान महिष विश्वदर्शनमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो  
 २ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २  
 जनाः । श्रुत्कर्णं सप्रथस्तम त्वा गिरा देव्या मानुषा  
 ३ २  
 युगा ॥ ६ ॥ १ ॥ १० २० । १५० । १-६ ॥

भा०—( १ ) हे (अग्ने), ज्ञानस्वरूप ' प्रकाशक ' परमात्मन् ' ( विभा-  
 वयो ) अग्ने विशय प्रकाश स तव को दमान और सर्वत्र स्वय बसनेहारे  
 'पापक परमात्मन् ' ( तव ) तेरा ( अथ ) कर्ति और ( वयः ) ज्ञान, बल  
 ( महि ) महान् है और तेरी ( अथ ) 'वाक्ये भूर् अदि रूप में

\* अष्टलिङ्गा दवा० भाष्य पाठ. १८१६—२. 'दध्वधासि.' ४. पृणक्षिमान  
 सि' इति ५० ।

( भ्रातृन् ) प्रकाशित हारही है । इ ( दृष्टिमान् ) सब प्रकाशों म महान् । आप ( उरुध्व ) यद् द्वारा प्रतिपादनीय ( वाज ) ज्ञान दा । हे ( कवे ) मेधाविन् । तू ( दाशुर् ) आत्मसमर्पण करन हार शिष्य का आचार्य क समान ( दधासि ) धारण करता है ।

( २ ) हे आन । तू ( पावकवर्षा ) पवित्र करन हार तज स युक्त ( शुक्लवर्षा ) शुक्ल, निमल कान्ति से सम्पन्न ( धनून्वर्षा ) सब से अधिक तजस्वी दाकर ( भानुना ) प्रकाशक तज क सहित ( उद्-इषर्षि ) उद्य होता है, हृदय में प्रकट हाता है । जिस प्रकार ( पुत्र ) पुत्र ( मातरा ) मातृस्वरूप या मा बाप दोनों क समीप ( विचरन् ) विचरता हुआ उनको पुन पालता और पापता है और जिस प्रकार यह सूर्य आकाश और पृथिवी दोनों क बीच विचरता हुआ ( डभे ) दोना ( रादसी ) लोकों को साक्षात् कराता और पालन पापण करता है उमी प्रकार तू भा समस्त जाकों का ( उपावसि ) स्वयं उन में व्यापक होकर रक्षा करता और ( पृणधि ) पालन करता है । इसी प्रकार देहगत जावात्मा पर भी यह मन्त्र स्पष्ट है ।

( ३ ) हे ( ऊर्जा नपात् ) पक्ष को, सामार्थ्य को एवं ब्रह्मानन्दरस को कभी न परिष्यण करने हार । हे ( जातयद् ) सर्वज्ञ । तू ( सुशस्तिभि ) उत्तम स्तुतियों से और ( र्धातिभि ) वदाध्ययन और अग्निहात्रादि यज्ञा धानों स ( मन्दस्व ) प्रसन्न हा अपना आनन्दमय स्वरूप प्रकट कर । ( भूरिर्वचम् ) नानारूप ( चित्रातय ) विचित्र या मनाहर बुद्धि वाक्य ( वामजाता ) उत्तम प्रकृति क कुलीन विद्वान् जाग भी ( एव ) तरे निमित्त ही ( इष ) नागा अन्न आदि पृथिवी का ( सद्भु ) अग्नि में डालत हैं । या तरे आध्य नागा कामगाण करत है ।

( ४ ) हे ( अन्न ) प्रकाशस्वरूप । हे ( अमर्त्य ) अविनाशी परमात्मान् । आप ( ज तुभि ) उपास हान हार ज तुम्हें द्वारा ( राज्यम् ) पृथ्वी

को बढ़ाते हुए ( अस्मे ) हमारे ( राय ) धनों को ( प्रथयस्व ) बढ़ाओ ।  
 ( स ) वह आप ( दर्शतस्व ) दर्शनीय ( वपुष ) अपने बीज वपन करने  
 द्वारे, उत्पादक सामर्थ्य से ( विराजसि ) सब पर ईश्वर होकर विराजमान  
 हैं । और आप ( दर्शत ) दर्शनीय ( ऋतु ) अपने यनाए हुए इस सस्तर  
 को ( पृथञ्चि ) पालन पोषण करते हो ।

( २ ) ( अध्वरस्व ) इस महान् जगत् मय यज्ञ के ( इष्कर्तारम् )  
 प्रेरणा करने द्वारे, या पूर्णरूप से संचालन करने द्वारे ( प्रचतस्र ) उत्तम,  
 ज्ञानवान् ( मह ) बड़ थूट, ( राधस ) आराधनीय, या साधनयोग्य  
 धन या ज्ञान को ( छिवन्त ) अपने वश करने द्वारे, उसके स्वामी और  
 ( वामस्य ) प्राप्त करने योग्य उत्तम धेष्ट पदार्थों क ( रार्ति ) दाता की  
 हम स्तुति करते हैं । हे परमात्मन् ! आप ( मही ) बहुत बड़ी ( सुभगा )  
 उत्तम सौभाग्ययुक्त, शुभ ( ह्ये ) अन्न आदि सम्पदा को और ( सानसि )  
 परस्पर विभाग कर क भोगने योग्य अथवा प्रत्येक को पृथक २ प्राप्त  
 ( रविम् ) प्राण दह आदि अध्यात्म-सम्पत्ति को ( दधासि ) धारते और  
 प्रदान करते हो ।

( ६ ) ( जना ) मनुष्य लोग ( ष्वतावान ) सत्यज्ञान से युक्त,  
 ( महिष ) बड़ सामर्थ्यवान्, ( विश्वदर्शतम् ) सबस अधिक दर्शनीय, विश्व  
 के दृष्ट एव सब पदार्थों क प्रदर्शक विद्वान् ( अग्निम् ) अग्नि अर्थात् आचार्य क  
 समान अग्रणी ज्ञानप्रकाशक परमेश्वर को अपने ( पुर ) समस्त साक्षिरूप से  
 और मार्गदर्शक रूप से ( सुम्नाय ) सुख प्राप्त करने एव प्रत्येक कार्य पर  
 उत्तम रूप से मनन करने और स्वयं उसका उत्तम ज्ञान प्राप्त करने के  
 लिये ( दाधरे ) पुरोहित, आचार्य और गुरुरूप में रखते हैं । उसी प्रकार  
 हे परमात्मन् ! ( मानुषा ) मननशील ( युगा ) नर नारियों के जाड़े  
 ( सप्रथस्तम ) सर्वप्र अति प्रासिद्ध, विख्यात ( श्रुत्कर्णम् ) श्रुतिरूप  
 ऋषियों से युक्त अथवा वेद क अनुसार समस्त जगत् के रचने द्वारे ( गिरा )

उस वेदवाणी के अनुसार ( दैव्य ) दिव्यगुणों से युक्त ( त्वा ) तुम्हको अपने सुख सम्पादन के लिये ( पुरो दधिर ) सब कार्यों में साची या आचार्य पुरोहित के समान स्थापन करते हैं ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

—0—

[१८२२] प्र सो अग्ने तपातिभि सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः

यस्य त्व सख्यमाविध ॥ १ ॥

[१८२३] तव द्रप्सा नीलान्वाश क्रत्विय इन्धान सिष्णवा

ददे । त्व महीनामुपसामसि प्रियः क्षपो वस्तुपु राजसि  
॥ २ ॥ २ ॥ अ० ८ । १६ । ३०, ३१ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अदिकल स० [ १०८ ] पृ० २८ ।  
( २ ) हे ( सिष्णो ) आनन्दरस से हृदय के सेवन में समर्थ ! धर्म  
मेघरूप आत्मन् ! ( तव ) तरा ( द्रप्स ) द्रवणशील व्यापक रस ( नील-  
वान् ) आश्रयदाता, ( वाश. ) कमनीयरूप, ( क्रत्वियः ) प्राणों में रहने  
वाला ( इन्धान. ) प्रदीप्त होकर ( आददे ) मन से ग्रहण किया जाता एवं  
सबको अपने वश करता है, जाना जाता है । ( त्व ) तू ( महीना )  
विशाल या पूजनीय ( उपसा ) ज्ञानोदय से युक्त विशोका ज्योतिष्मती  
भ्रजाओं का ( प्रिय. ) प्रिय ( असि ) है और ( क्षप ) सर्व दुष्टों के नाश  
करने वाली, रात्रि के समान अन्त सात्विक निद्रा से सम्बद्ध ( वस्तुपु )  
तारों में ( राजसि ) प्रकाशमान, जगृत् रहता है ।

[१८२४] तमोर्ध्वोदधिरे गर्भमृत्त्वयं तमापो अग्निं जनयन्त  
मानरः । तमित्समान वानेनश्च योरुधोन्तवतीश्च सुवते  
च विश्वदा ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० १० । ६१ । ६ ॥



भा०—( १ ) ( तं ) उस ( अग्नि ) अतुओं में सूर्य के तेजो रूप से प्रकट होने हारे अग्नि को ( ओषधीः ) ओषधिगण अपने भीतररसरूप से ( दधिरे ) धारण करती हैं ( तं ) उसी ( अग्नि ) अग्नि को ( मातरः ) सब के मूल-कारण ( आपः ) आप=जल भी ( जनयन्त ) उत्पन्न करते हैं और ( तम् इन् ) उसको ही ( समानं ) समान रूप से ( वनिनः ) वन के बड़े २ वृक्ष भी धारण करते और उत्पन्न करते हैं और उसी अग्नि को ( अन्तर्वतीः ) गर्भ धारण करने वाली पुष्पिणी ( च ) और ( वीरुधः ) विशेष रूप से रोहण करने वाली लतापुं ( विश्वहा ) सर्वदा उत्पन्न करती हैं । उसी प्रकार वनस्पति और लताओं के दृष्टान्त से आत्मा की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—( मातरः ) मातापुं, ( आपः ) प्राण होने योग्य पतियों से संगत ( ओषधीः ) तेज=वीर्य को धारण करने वाली ( त ) उस आत्मरूप अग्नि को ( अग्नि ) अतुओं में होने वाले ( गर्भ दधिरे ) गर्भरूप से धारण करती हैं ( तं ) उसी को ( जनयन्त ) बाळक रूप से उत्पन्न करती हैं । ( च ) और ( वनिनः ) नर वृक्षों के समान पुरुष और ( वीरुधः ) लताओं के समान ( अन्तर्वतीः च ) गर्भिणी स्त्रिया ( विश्वहा ) सदा ( समानं ) समान भाव से ( सुवते ) उसको प्रसव करती हैं ।

फलतः वृक्ष वनस्पतियों में भी वही जीव है । एवं जो जल वृष्टिरूप में पृथिवी पर आकर वनस्पति रूप से उत्पन्न होता है और खाये जाकर वही वीर्य बनकर पुनः पुरुषों द्वारा वही गर्भों में निष्क्रिय होता है और वही गर्भ में जमकर पुनः पुत्ररूप से उत्पन्न होता है, यह सूक्ष्म रहस्य उपनिषदों में पञ्चाहुति प्रकरणों में दर्शाया गया है ।

[१८२५] अग्निरिन्द्राय पवते दिवि शुभो विराजति ।

महिषी विजायते ॥ ४ ॥

भा०—( १ ) । अग्नि. ) वह आत्मा ( इन्द्राय ) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये ( पवते ) विरक्त से निर्मल होकर उसकी ओर गति करता

है । ( शुरुः ) शुक्लकर्मा, निर्मल कान्तिमान् होकर ( दिवि ) मोक्ष में ( विराजति ) प्रकाशित होता है । ( महिषी इव ) जिस प्रकार ( महिषी ) राजमहिषी, महारानी नाना प्रकार के रूप धारण करके प्रजा के सम्मुख उपस्थित होती है उसी प्रकार वही आत्मा ( विजायते ) नाना रूपों में प्रकट होता अथवा ( महिषी इव ) दुग्धरस देने द्वारा भैस के समान वही आत्मा आनन्दरस की धार वर्षण करने हारी कामधेनु बनकर चितिशक्ति के रूप में अतम्भरा रूप स प्रकट होती है ।

अथवा अग्नि=परमात्मा इम इन्द्र=आत्मा के लिये प्रकट होता है वही मोक्ष में शुद्ध रूप से विराजमान है । वही उसको रस देने हारी कामधेनु के समान नाना पदार्थ प्रदान करता है ।

[१८२६] यो जागार तमृच<sup>३</sup> कामयन्ते<sup>३</sup> यो जागार तमु सामानि<sup>३</sup>  
यन्ति । यो जागार तमय साम आइ तयाहमस्मि सख्ये<sup>३</sup>  
न्योका. ॥ १ ॥ ५ ॥ अ० ६ । ४४ । १४ ॥

भा०—( १ ) जो विद्वान् ब्रह्मवेत्ता ( जागार ) अविद्या की नींद से जाग जाता है ( त ) उसको ( अच ) अज्ञान की अज्ञानता और उन के समान ज्ञानप्रद जन भी ( कामयन्ते ) चाहते हैं । और ( यः ) जो ( जागार ) अविद्या निद्रा से जग जाता है ( तम् उ ) उसको ही ( सामानि ) साम के उपासनापरक मन्त्र और उपासना करने वाले भक्त लोग भी ( यन्ति ) प्राप्त होते हैं ( यः ) जो ( जागार ) ज्ञानमार्ग में जागृत सावधान रहता है ( तम् ) उसको ही ( अयं ) यह ( सोमः ) सोमरूप, सब का प्रेरक जगदीश्वर, या ससार का पेश्वर्य भी ( आइ ) कहता है कि ( तव सत्य ) तेरी मित्रता में ही ( अहम् ) मैं भी ( न्योका. ) निवास करता हूँ । इसी अज्ञान से अगली अज्ञान में इम जागरणशील निराजस तपस्वी को 'अग्नि' नाम से बतलाया है ।

[१७२७] <sup>३ २ २ ३ १२ २२</sup> अग्निर्जागार तमृच <sup>३ १ २ ३ २ ३ १</sup> कामयन्तेऽर्जितजागार तमु सा  
<sup>२</sup> मनि यान्ति । <sup>३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २ १</sup> अग्निर्जागार तमय सोम आह तवाहमस्मि  
<sup>३</sup> सरये न्योकाः ॥ १ ॥ ६ ॥

भा०—( १ ) पूर्व श्रवा के { यः } 'जो' की जिज्ञासा में ही यह उत्तर श्रव्य कही जाती है। इससे विद्वान् निराजस आत्मा के साथ २ परमात्मा का भी वर्णन इस रूप से होता है। अर्थात्—अग्नि=परमात्मा ही सदा जागता है, श्रवण की श्रवाएँ उसका च्यवती है, उसी का सामग्य गान करते हैं और यज्ञ-स्थानां प सोम अथवा कर्मप्रधान यह जीव भी उस परमेश्वर का ही कहता है कि हे भगवन्! मैं आपक मित्रभाव में सदा आश्रय प्राप्त करूँ।

[१७२८] <sup>१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३</sup> नमः सतिभ्य पूर्वेसद्भ्य नमः साकानिपेभ्य ।

<sup>३ १२ २ ३ १ २</sup> युञ्जे वाचं शतपदीम् ॥ १ ॥

[१७२९] <sup>३ १२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> युञ्जे वाचं शतपदीं गाय सद्भ्यर्त्तति ।

<sup>३ १२ २ ३ १ २</sup> गायत्रं त्रैष्टुभं जगत् ॥ २ ॥

[१७३०] <sup>३ १२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> गायत्रं त्रैष्टुभं जगद्विभ्वा रूपाणि सम्भृता ।

<sup>३ १२ २ ३ १ २</sup> देवा भोकांसि चक्रिरे ॥ ३ ॥ ७ ॥ श्रवणं नास्ति ॥

भा०—( १ ) ( पूर्वेसद्भ्य. ) पूर्ववत्, मातृधाम में विराजमान ( सतिभ्य ) मरे आत्मा के समान आश्रयान वाले मुत्रात्माओं को ( नमः ) मैं नमस्कार करता हूँ। और ( साकानिपेभ्य ) साथ ही विराजमान विद्वान् मित्रों के लिये भी ( नमः ) आदरपूर्वक नमस्कार है। मैं आप लोगों के समान ही ( शतपदी ) सैकड़ों ज्ञानों से पूर्ण ( वाच ) वेदवाणी का ( युञ्जे ) समाहित चित्त से विचार करता हूँ।

( २ ) ( शतपदी ) सैकड़ों ज्ञानों से युक्त ( वाच ) वाणी का ( युञ्जे ) योगसमाधि द्वारा मनन करता हूँ और ( सद्भ्यर्त्तति )

सदृशों मार्ग से युक्त सहस्रवर्षों सामवेद जिसमें (मायत्र) गायत्र (त्रैष्टुभ)  
त्रैष्टुभ और (जगत्) जगत् साम विशेष है उसका (गाये) गान करता हूँ ।

( ३ ) ( गायत्रं, त्रैष्टुभ, जगत् ) गायत्र, त्रैष्टुभ और जगत् इन  
तीन सुरय सामों के ही ( विश्वा रूपाणि ) नाना प्रकार के रूप ( स-  
मृत । ) बनाये गये हैं । और उनमें ही ( देवा ) विश्वान् लोग ( ओकासि )  
संहिताओं का या ज्ञानवाक्यों का ( चक्रिरे ) साक्षात् कर प्रकाश करते हैं ।

[ १८२१ ] अग्निज्योतिरज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिरज्योतिरिन्द्रः ।  
सूर्यो ज्योतिरज्योतिः सूर्यः ॥ १ ॥

[ १८३२ ] पुनरुजान वर्तस्व पुनरग्न इपायुषा ।  
पुनरैः पाह्यदसः ॥ २ ॥

[ १८३३ ] सह रय्याऽग्नं वर्तस्व धारया ।  
विश्वरूप्या विश्वतस्परि ॥ ३ ॥ ८ ॥

ऋग्वेद नास्ति । आशा यजु० ३ । ६ । द्वितीया यजु० १२ । ४० ॥

तृतीया यजु० १२ । ४१ ॥

भा०—( १ ) ( अग्निः ) अग्नि ( ज्योतिः ) ज्योति स्वरूप है और  
( ज्योतिः ) ज्योतिस्वरूप ही ( अग्नि ) अग्नि है । ( इन्द्रः ) इन्द्र भी  
( ज्योतिः ) ज्योति स्वरूप है और ( ज्योतिः ) ज्योतिर्मय पदार्थ ही ( इन्द्रः )  
इन्द्र है । ( सूर्यः ) सब का प्रेरक सूर्य ( ज्योतिः ) ज्योतिर्मय है ।

१८२०—१ ओकासि—बाहुलकादवतरौणादिव कक् । उणा० ३ । ४१ )  
ओष—राशिः स्वान वा । अथवा वचेः सार्वधातुभ्योऽभ्युन ( उणा० १

४ । २१६ ) उच्यते इत्येक ।

१८३१—१. ' अग्निज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिरज्योतिः सूर्यः स्वाहा'  
इति याजुषः पाठः । मध्यमः पाठो यजुर्मन्त्रे नास्ति ।

( ज्याति ) ज्यातिमय पदाथ हा ( सूय ) सूय है । फलत ज्यातिमय होने स हा अग्नि इन्द्र और सूय ताना नाम एक पदाथ क है । वह समानरूप स तान नाम एक पदाथ क और इनका चौथा पयाय ज्याति है । य चारा नाम मुख्यता स इश्वर के और गौण्यार्थ स अन्ता क है ।

( २ ) इ अग्नि परमा मन् । आप ( ऊजा ) रसस्वरूप अन्न दधन रूप म और ( इषा ) ज्ञानरूप म और ( आयुषा ) जावनरूप स ( पुन पुन ) बार बार हम ( नि वत्तस्व ) प्रकट हा । अर्थात् प्रत्येक समाहित दशा में एव प्रतिजन्म में आपक सत् चित् और अन्न द ताना रूपों क हमें दशन हों ।

( ३ ) हे ( अन्न ) परमा मन् । ( रथ्या ) अपन रमण्याप मनाहर माहनाय रूप स हम ( नि वत्तस्व ) पुन प्राप्त हा । इ अन्न । तु इम ( विश्वत परि ) सबसे अधिक एव सबपर शासन करन हार ( विश्वत्पथा ) समस्त ससार का अपन भातर लक्षण द्वारा सबव्यापिना ( धारया ) अपना रसधारा स ( पिबस्व ) नृत कर ।

इति पृष्ठ खण्ड ।

[ १८३४ ] यदि द्वाद् यथा त्वमाशाय वस्व एक इत् ।

स्नोता मे गोपखा स्यात् ॥ १ ॥

[ १८३५ ] शिष्यमस्मै दित्सय शचापत मनापणे ।

यद्द गोपात स्याम् २ ॥

[ १८३६ ] धेनुष इन्द्र सूनता यजमानाय सुन्वत ।

गामश्व । पप्युषा बुद्धे ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ८ । १४ । १—३ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या दत्ता अविकल स० [ १२२ ] पृ० ।

( २ ) ( यद् ) यदि ( अह ) मैं ( गोपति ) बायीं भूमि और गौष्वा का पति=पालक ( स्याम् ) हाऊ तो ह ( शचीपते ) शक्तिमन् ईश्वर । आत्मा और ब्रह्मविद्या के स्वामिन् । मैं ( अस्मै ) इस ( मनीषिण ) मनस्वी, त्रितोन्द्रिय बुद्धिमान् पुरुष को ( दिक्षेय ) दान कर दू और ( शिषेय ) विद्या की शिक्षा दू ।

( ३ ) ह ( इन्द्र ) परमात्मन् । ( ते ) तेरी ( सूनुता ) उत्तम सत्य तत्वों क दर्शाने हारी, सत्यमयी ( धनु ) ज्ञानरस का पान कराने हारी वेदवाणी ( सुन्वने ) ज्ञान सम्पादन करने बाल ( यजमानाय ) स्वाध्याय यज्ञ के करने हारे अध्येता का ( पिप्युषी ) पुष्ट करती हुई ( गाम् ) बायीं और ( अश्व ) आत्मिक सामर्थ्य युक्त आत्मा का भी बल ( द्रुह ) प्रदान करती है

[१८०७] आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जं दधातन ।

मह रणाय चक्ष्म ॥ १ ॥

[१८३८] यो न श्यतनमो रसस्तम्य भाजयतेह न ।

उशनीरव मानर ॥ २ ॥

[१८३९] नस्मा अङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिगथ ।

आपा जनयथा च न ॥ ३ ॥ १० ॥

अ० २०। ६। १-३ ॥ अथवा १। १। १-३ ॥

भा०—( १ ) हे ( आप ) प्राप्त होने हारी ज्ञान जलधाराआ । आप ही ( मयोभुव ) शान्ति और कल्याण क उत्पन्न करने हारी ( स्थ ) हा । ज्ञानजल ( न ) हम ( ऊर्जं ) बल या आनन्द रस प्राप्त करने क लिय ( दधातन ) अपन में धारण करें । और वे ही हम ( मह ) बड़ ( रणाय ) रमणीय, दर्शनाय दृष्टद्व के ( चक्ष्मे ) दर्शन प्राप्त करने क लिय ( दधा- तन ) समर्थ और पुष्ट करें ।

( २ ) हे ( आप ) प्राप्तव्य योगभूमियो । ( य ) जा ( व ) भाप का ( शिवतम ) अति कल्याणकारी, शान्तिदायक, सर्वोत्तम ( रस ) आनन्दरस है ( तस्य ) उसका ( इह ) इय जाक म ( न ) हमें ( भाजयत ) प्राप्त कराओ । आप साक्षात् ( उशती ) पुत्रों क प्रति उनका पुष्टि करन की ज्वालसा से भरी ( मातर ) माताओं क समान हम मुमुक्षुधा का ( मातर ) ज्ञान देन हारी हा ।

( ३ ) हे ( आप ) प्राप्यतम योगभूमिया । ( तस्मा ) उस रस के प्राप्त करने क लिये हा ( व ) आपके प्रति हम ( अर ) अन्ध्रा प्रकार ( गमाम ) प्राप्त हों । ( यस्य ) जिसक ( ह्यया ) ऐश्वर्य क लिय आप ( जिवय ) हमें प्ररित करत हा । ( न ) और जिसक लिय हमें ( जनयथ ) उत्पन्न करती हा उसक लिय समर्थ भा हाती हा ।

उन मन्त्रों में आप जल है । यह व जल है या आमानदी में बहुत है । जिसका वर्णन व्यासदेव न किया है—

‘ आत्मा नदी सयमपुण्यतीर्था सत्यादका शीलतटा दशार्भि ’ ॥

अथवा जिसमें यह कर भङ्ग कहा करत है —

‘ ओषध जान्दनीताय वैद्या नारायणा हरि । ’

[१८४०] वा १ आ ११ तु ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

प्र न आयुषि नारिपत् ॥ १ ॥

[१८४१] उत जानापतासि न उत आतोत न सखा ।

स नो जीवातये कृधि ॥ २ ॥

१८४०—अपिदेवता च नान्यत्र सहितं सुखभ्यत । अस्तस्य स्वस्तु जीवान् ५  
मुद्रापिनसायणभाष्यमाश्रित्यैव श्य । अजमस्तुद्रिसहितावा क१० शब्द  
सान् इतिमात्रं प्रदर्शितम् ।

[१८४२] यद्वा वात ते गुहेऽऽमृतनिहित गुहा ।  
<sup>२ ३ १ २</sup> <sup>२</sup> <sup>३ २</sup> <sup>२ ३ १ २ ३ १ २</sup>

तस्य नो धेहि जीवसे ॥३॥११॥ अ० २० । १८६ । १-२ ॥

भा०—( १ ) व्याख्या देखो अवि० स० ( १८४ ) पृ० ६६ ।

( २ ) हे वात ! सर्वव्यापक परमात्मन् ! आप ( न ) हमार पिता  
 अस्ति ) प्राणवायु के समान साक्षात् पात्रक हैं, ( उत भ्राता ) और प्राण  
 वायु के समान भरण पापण करन वाला और ( न सखा ) हमार  
 आत्मा के समान हमारे प्रेमी मित्र हैं । ( स ) वह आप ( न ) हमें  
 ( जीवात्तवे ) जावनमय यज्ञ के लिये सदा समर्थ ( कृधि ) करो ।

( ३ ) हे ( वात ) प्राणों के प्राण परमात्मन् ! ( यत् ) जो ( अद् )  
 वह कभी न भूलने योग्य ( अमृत ) अमृतरस, परमज्ञान ( ते ) तरे ( गुह )  
 शरण में ( गुहा ) हृदयरूप गुहा में ( निहित ) गुप्तरूप से रक्खा है भग  
 वन् । ( तस्य ) उसको ( न जीवसे ) हमार जीवन के निमित्त ( धेहि )  
 प्रदान करो ।

[१८४३] अभि वाजी विश्वरूपा जानत्र द्विरण्यय विभ्रदरु सु  
<sup>३ २ ३ ३ ३ १ २</sup> <sup>३ १ २</sup> <sup>३ २ ३</sup> <sup>२ ३ १ २</sup>  
 पण । सूर्यस्य भानुनृथा वसान परिस्य र भेधमृजो  
 जजान ॥ १ ॥

[१८४४] अप्सु रेत शिथिये अश्वरूप तज पृथग्यामि यत्न  
<sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २ ३</sup> <sup>१ २ ३ २ ३</sup> <sup>२ २ ३</sup> <sup>१ २ ३</sup>  
 यभूत् । अनरितो स्वम्माहेमान निमान कानक्रान्ति  
 घृणो अश्वस्य रेत ॥ १ ॥

[१८४५] अय सहस्रा परि युष्ठा वसान सूर्यस्य भानु यक्षा दा  
<sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> <sup>३ २ २ ३ २</sup>  
 धात् । सहस्रदा शतदा भूरिदाया धता दिवा भुवनस्य  
 विश्पाति ॥३॥१२॥ अवर नास्ति । मयनि दजुनि चनो लभ्यता ।



भा०—( १ ) ( विधरूप ) नाना प्रकार क रूपों का धारण करन द्वारा जावा<sup>३</sup>मा ( वाजी ) ज्ञानवान् और बलवान् हाकर ( सुपण्य । उत्तम प्रज्ञान और पावन करन क सामध्य स सम्पन्न या उत्तम मागमाना ( अत्र ) कमाशया का परिपाक करक ( द्विरयय ) तज सम्पन्न ( जनि प्रम् ) अपन मूलनूत ( आक ) आत्मस्वरूप का ( विभ्रत् ) परिपुष्ट करता हुआ ( अन्वुधा प्राणा क बलपर अथवा नियत क ल क अनुसार स्वय ( सृण्य ) आदिय क ( भानु ) का त और तज का ( वसान ) धारण करता हुआ ( स्वय ) आप स आप ( मध ) उस पवित्र परमपुरुष का ( परिजानन ) ज्ञान कर जाता है तज हाजाता है ।

( २ ) ( विधरूप तज ) नाना प्रकार क नर तिर्यक आदि रूप धारण करन द्वार जावा मारूप ज्याति न ( अम्मु ) जलों में ( रत ) वायु रूप हाकर ( शिथिय ) आधय प्राप्त किया ( यत् ) पुनः उसक बाद वह ( पृथिव्याम् ) पृथिवी में ( अधि सम्बभूव ) तारूप स उत्पन्नहुया उपरु बाद वह ( स्व ) अपन ( माहिमान ) सामध्य का ( अन्तरिष्ठ ) अन्तरिष्ठ में भा ( निमान ) व्यापारिन करता हुआ अथान् पचा या सृष्ट रूप न प्रकट हाकर ( वृण्य ) उम वीथसत्रा सब क पिता ( अश्वस्य । परमासा क ( रत ) वीथ की ( कनिष्ठाति ) माहिमा का वर्णन करता है ।

( ३ ) वह विधरूप अग्नि ( यत् ) आ मारूप ( वि ) स्वय का ( धर्ता ) धारक और ( भुवनस्य ) इस लोक की ( विरपति ) समस्त दहधारी प्रजाओं का परिपालक, ( सइछदा ) सदस्यों पदार्थों का दाता ( शतदा ) सैकड़ों पदार्थों का दाता और ( भुरिदावा ) हरक वस्तु की बहुतसा मात्रा का दाता अथवा बहुत बार दन वाला ( सइछा ) हजारों ( युत्रा ) दहों का ( वसान ) धारण करता हुआ ( सृण्य ) सूर्य क ( भानु ) तज का भी ( दाधार ) धारण करता है ।

यह समष्टि रूप स तज शक्ति क वर्णन किया है निपका सद्य स वर्णन अताधतर उपनिषद् में इस रूप स किया है ।

गुणान्वयो य, फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव से चोपभावा ।  
 स विश्वरूपत्रिगुणस्त्रिवर्मा प्राणाधिप सचात्त स्वकर्मभि ॥  
 भगुणमात्रा रविनुत्तरूप सकलपाहकारसमन्वितो य ।  
 बुद्धेर्गुणेनामगुणन चैव आराप्रमात्रा ह्यवरोऽपि दृष्ट ॥  
 सकलानस्पर्शनत्पिष्टमेहैर्प्रासांभुवृष्ट्याऽभाविगृह्णिजन्म ।  
 कर्मानुगा-वन्कमया दहो स्थानयु रूपाय्यभिसम्पद्यते ॥  
 स्तूलाणि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देहो स्वगुणैश्च्युति ।  
 क्रियागुणैश्च मगुणैश्च तथा सयागइतुःपराऽपि वृष्ट ॥  
 अनाथान-त कालिलस्य मध्य विश्वस्य स्रगारमेनकरूपम् ।  
 विश्वस्यैक परिवोदितार ज्ञात्वा देव मु-पत सर्वपाशे ॥

[ श्रवता० अ० २ ]

[१८४६] <sup>१ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> नाके सुपर्णमुप यत्पतन्त हृदा येन ता अभ्यचक्ष्ण  
<sup>१ २ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> त्वा । हरण्यपदा चरुणस्य दून यमस्य योनो शकुन  
 भुरययुम् ॥ १ ॥

[१८४७] <sup>१ २ २ २ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> ऊर्ध्वो गन्धर्वो अथि नाके अस्थानपत्यहृदिना विभ्र-  
<sup>३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> दस्यायुधानि । वसानो अत्क सुरभिन्दृश फ स्वाश्च  
 नाम जनन प्रियाण ॥ २ ॥

[१८४८] <sup>३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> व्रास' समुद्रमाभि यज्जिगानि पश्यन् गुध्नस्य चक्षमा  
<sup>१ २ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३</sup> त्रिधमन् । भानु शुक्रश्च शोचिपा अक्षान-र्तनीयि चक्ष  
 रजासि प्रियाणि ॥ ३ ॥ १३ । ॥ अ० २० । १२३ । १-८ ॥

भा०—(३) हे ( वन ) कर्म सन्तान उत्पन्न करन द्वार ध्यातन् कान्ति-  
 मन् दष्ट ( रवा ) गुम्फो ( यद् ) जय ( हृदा ) हृदय स, मन से ( वन त )  
 कामना करते हुवे विश्वान् जोग ( आभि अचक्षत ) साफल्य करत हे तव य

( हिरण्यपद् ) ज्योति स्वरूप, ( चरुण्यस्य ) सवसे घरने योग्य, दुखों के निवारक परमात्मा के ( वृत ) पास गमन करने द्वारे और ( भुरग्युम् ) अपने सामर्थ्यों को धारण करने वाले ( शकुनम् ) शक्तिमान् तुम्ह को उस समय (यमस्य) समस्त सत्कार के नियामक जगदीश्वर के (नाके) दु ख रहित (योनौ) आश्रयस्थान मोक्षपद में (उप पतन्त) विचरण करते हुए (मुपर्यं) उत्तमज्ञान और कर्म रूप पदों के धारक पक्षी के समान (अभ्यचवत) दखते हैं।

( २ ) ( गन्धर्व ) गौ=किरियों के धारण करन द्वारे सूर्य के समान अपनी इन्द्रियों का धारण करने वाला वह वेन=मेधावी आत्मा प्रत्यक्ष रूप से ( चित्रा ) विचित्र दर्शनीय (आयुधानि) यम नियमादि साधनाओं को ( विभ्रत् ) धारण करता हुआ (रु) आनन्दमय, सुख रूप (स्वान) सूर्य के समान तेजामय (नाम) परम रूप को (दृश) देखने के लिये (अधिनाक) माछ मार्ग में ( अस्थात् ) स्थिति प्राप्त करता है और ( प्रियाणि ) अपने प्रिय यथेष्ट कामनाओं को ( जनयत ) उत्पन्न करता है, यथेष्ट विचरता है ।

( ३ ) वह ज्ञानी आत्मा ( यत् ) जब ( द्रप्स ) स्वयं बहने द्वारे नद के समान गति करता हुआ ( समुदम् ) उस आनन्द-रस के अगाध समुद्र के समान गभीर परम जगदीश्वर को ( जिगाति ) प्राप्त होता है या ( विधर्मन् ) अपने विशय धारण करन द्वारे भगवान् की दया में स्थित हाकर ( गृध्रस्य ) हमकी अकाशा करन द्वारे याचक के समान मोक्षा मिल पी की ( चक्षसा ) दृष्टि से ( परपन् ) अपने स्वामी को दखता है तब वह स्वयं ( भानु- ) सूर्य के समान ( शुक्लण ) शुद्ध ( शोचिषा ) तेज स ( चक्षान- ) देदास होता हुआ ( तृतीये ) तारण करन द्वारे, परम, सर्वो कृष्ट, ( रजसि ) प्रकाशमान पद में ( प्रियाणि ) अपने प्रिय मनोरथों को ( चक्र ) पूर्ण करता है। इति सप्तम. खण्ड. ।

इति विंशोऽध्यायः समाप्तः ॥

इति त्वमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽध्यायः ।

## अथैकविंशोऽध्यायः

अथ नवमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ॥

श्रुति — १—४ अप्रतिरथ एन्द्र । २ अप्रतिरथ वेन् प्रथमयो पायु-  
भारद्वाज चरमस्य । ३ अप्रतिरथ पायुभारद्वाज, प्रजापतिश्च । ७ शमी भारद्वाज,  
प्रथमया । ८ पायुभारद्वाज प्रथमस्य, तृतीयस्य च । ६ जय एन्द्र. प्रथमस्य, गो-  
तमो राहू ण उत्तरयो ॥ देवता—१, ३, ४ भाषोरिन्द्र. चरमस्यमश्न । इन्द्र ।  
वृहस्पति प्रथमस्य, इन्द्र उत्तरयो ५ अजा प्रथमस्य, इन्द्रो मस्ता वा द्वितीयस्य  
इषव चरमस्य । ६ ८ लिंगास्ता संग्रामाक्षिप । ७ इन्द्र. प्रथमयो । ९ इन्द्रः  
प्रथमस्य, विधेदेवा उत्तरयो ॥ छन्द — १ ४, ६ त्रिष्टुप् । ५, ८ त्रिष्टुप् प्रथमस्य  
अनुष्टुप् उत्तरयो । ६, ७ पङ्क्ति चरमस्य, अनुष्टुप् द्वयो ॥ स्वर — १—४, ६  
धैवत. । २, ८ धैवत प्रथमस्य, गान्धार उत्तरयो । ६, ७ पञ्चम चरमस्य,  
गान्धारो द्वयो ॥

- [१८४६] आशु शिशानो वृषभा न भीमो घनाघन क्षोभणश्च  
पैषीनाम् । सङ्क्रन्दनोऽनिभिष एकैरि. शन सेना  
अजयत्साकामिन्द्र ॥ १ ॥
- [१८५०] सङ्क्रन्देनानिभिषण जिष्णुना युत्कारण दुश्चयवनेन  
धृष्णुना । तान्द्रण जयत तत्सद्वय युधो नर इषुह-  
स्तेन युष्णा ॥ २ ॥
- [१८५१] स इषुहस्ते स निपाक्षिभर्षी स स्रष्टा स युध इन्द्रो  
गणुन । स स्रष्टजित्सोमपा बाहुशर्ष्युऽग्रधन्या प्रति  
दिताभिरस्ता ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० १० । १०३ । १—३ ॥

भा०—( १ ) ( इन्द्र ) ऐश्वर्यशील इन्द्र राजा जिस प्रकार ( शिशान ) तीक्ष्णमति, ( शिशुः ) शीघ्रगामी, ( वृषभ न भीमः ) वृषभ के समान अति भयकर ( घनाघन ) शत्रुओं को बार २ मारने वाला, ( चर्येयीना ) मनुष्यों और प्रजाओं को ( चाभण ) विचुम्ब करने कंपा देने द्वारा, ( सकन्दन. ) शत्रुओं क सुलान वाला या उनको सम्राट के लिये सुलाने वाला, ( अनिमिष ) आलस्यरहित ( एकवीर. ) एकमात्र वीर होकर भी ( साक ) एक साथ ही ( शत ) सैकड़ों ( सेना ) सेनाएं ( अजयत् ) विजय कर लेता है उसी प्रकार यह इन्द्ररूप आत्मा ( आशु ) व्यापक ( शिशान ) अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म २ तत्वों में भी जान के लिये तीक्ष्णमति ( वृषभ. न भीम ) जिस प्रकार बैल अपने दोनों सींगों से भय पैदा करता है उसी प्रकार तप और ज्ञान से सबके हृदय में आतङ्क बैठाने वाला, ( घनाघन ) आनन्द का निरन्तर वर्षान के लिये साक्षात् धर्ममघ स्वरूप, ( चर्येयीना ) पदार्थ देखने द्वारा, इन्द्रियों को कपाने द्वारा उनम गति देने द्वारा, ( सकन्दन ) उत्तम रीति से ईश्वरस्तुति का उच्चारण करने वाला ( अनिमिष ) आलस्यरहित, निद्रा को भी वशकारी ( एकवार ) इन्द्रियों में एकमात्र सामर्थ्यवान् हाकर वह ( साक ) एक साथ ही ( शत सना ) सैकड़ों चित्तवृत्तियों को ( अजयत् ) विजय कर लेता है ।

( २ ) हे ( नर ) पुरुषा ! आप लोग ( सकन्दनेन ) शत्रुओं को सुलाने वाला ( अनिमिषण ) आलस्य न भूकने वाला, निरालसी, सावधान, ( जिष्णुना ) विघ्नशील, ( युत्कारेण ) युद्ध करने हारे, ( दुश्चयवनेन ) अविचलित रहने हार ( एष्णुना ) धैर्यवान् ( इषुइस्तन ) धनुष बाण हाथ म लिय, ( वृष्णा ) बलवान् ( इन्द्रेण ) राजा से जिस प्रकार शत्रुभा का दबाया जाता है और युद्धों में विजय प्राप्त किया जाता है उसा प्रकार आप लोग स्वराज स भी अधिक कष्टसाध्य मोक्ष को ( सकन्दनेन )

सृष्टिशक्ति, ( अग्निमिषय ) अनाजसी, ( जिष्णुना ) सब इन्द्रियों विषयों पर शशी, ( युकराय ) विघातक विघ्नों से युद्ध करने द्वार ( दुस्वयवनन ) साधना से अविचल ( घृष्णुना ) धैरवान् ( इषुइस्त ) ज्ञान का हाथ मलिय ( घृष्णा ) सुखवचक ( इ दय ) इस इन्द्र आत्मा से ( तत् सहध्व ) वह सब सहा करे और ( युध ) अज्ञान बल आभ्यन्तर शत्रुओं को ( जयत ) जीत जाय।

( ३ ) जैसे ( स , इन्द्र ) वह इन्द्र राजा ( इषुइस्तै ) धनुष बाण हाथ में लिये सुभतों से ( वशी ) सब राष्ट्र पर वश करता है उसी प्रकार वह आत्मा भी इषु अर्थात् कामनाओं से प्रसिद्धि, मरुत् अर्थात् एकादश प्राणों से समस्त शरीर पर वश करता है और ईश्वर अपने विद्युत् जल वायु एवं प्रवदण आदि मरुतों द्वारा समस्त समार पर वश कर रहा है। ( स ) वह इन्द्र राजा जिस प्रकार ( निपत्तिभि ) बाणों से भर नृणार तकर्मवान् सुभतों के द्वारा नगर व राष्ट्र का ( वशा ) विजय करता है उसी प्रकार आत्मा इन्द्र निन्द्य निरन्तर सङ्ग रहने द्वार प्राणों द्वारा हा शरीर पर एवं परमात्मा प्रतिपरमाणु में व्याप्त पञ्चभूतों द्वारा सब प्रकाश पर वश कर रहा है ( स इन्द्र ) वह इन्द्र राजा जिस प्रकार ( युध ) युद्ध करने द्वारा हाकर ( गयन ) अपने सहायक प्रजापत्य से ( सद्यथा ) मिल कर ( सद्यथात् ) अपने विषय में मिल शत्रुबल का जीत जाता है उसी प्रकार वह इन्द्र आत्मा ( युध ) समस्त देवों का चलाया हुआ ( गयन सद्यथा ) अज्ञान प्राणगण से हा इस इन्द्र का उचन शक्ति से निमेष करके स्वयं अपने लक्षित न सङ्गता किये काम क्रोध लाभ माहादि इन्द्रिय स्वयंओं को एक बार ही जीत लेता है। और परमात्मा भी ( गयन ) प्राकृतिक वैकृतिक गण द्वारा समस्त समार का ( सद्यथा ) रचने द्वारा हाकर ही सब सभ्यता के सभ्यता सब पदों का अपने वश करता है। और जिस प्रकार राजाभिषेक युद्ध राजा सागर ( पानरय ) पान करके ( शत्रुघ्नो )

अपने बाहुबल में उत्कृष्ट होकर ( उग्रधन्वा ) भयंकर धनुष लेकर ( प्रतिहिताभि ) फेंके गये बाणों से ही ( अस्ता ) सब शत्रुओं का नाश करता है उसी प्रकार यह इन्द्र आत्मा ( सोमपा ) ज्ञान और योगाभ्यास रस का आस्वादन करके प्राण और अपान इन दो बाहुओं के बल से सम्पन्न होकर ओंकाररूप धनुष को तान कर ( प्रति हिताभिः ) प्रेरित इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाडियों से इस देह-बन्धन को शीघ्र ही काट डालता है । और वह परमात्मा भी समस्त सत्तारूप सोम या सूर्यरूप सोम का पान या अदान करने, या अपन वश करने द्वारा अपने प्रेरक बल से सर्वशक्तिमान् उग्ररूप में समार की कर्म व्यवस्था से सब की धुन डालने हारा होकर अपना प्रेरित शत्रियों से ( अस्ता ) संहार करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २  
 [१८५२] बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहामिष्रौ अपयावमानः ।  
 १ २ ३ २ ३ २ २ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २  
 प्रभञ्जन्तेना प्रमृणा युधा जयन्नस्माकमेधपविता  
 १ २  
 रथानाम् ॥ १ ॥

३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ २  
 [१८५३] बलप्रिघाय. स्थत्रिरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान  
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३  
 उग्रः । अभिपीरो अभिसत्वा सहाजा जैत्रमिन्द्र रथमा-  
 २ ३ २  
 तिष्ठ गोत्रित् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १  
 [१८५४] गोत्रभिद् गोत्रिश्च यजन्नाहु जयन्तगज्ज्म प्रमृणन्तमो  
 २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १  
 जसा । इमं सजाता अनुपीर्यधामिन्द्र सखायो अनुसं-  
 २  
 रभघ्नम् ॥ ३ ॥ २ ॥ ३० १० । १०१ । १०६ ॥

भा०—( १ ) ( वृहस्पते ) वृहती, वद वाणी के परिपालक आत्मन् । जिस प्रकार वृहती=बड़ी भारी सेना का स्वामी, सनापति ( रषादा ) दुष्ट पुरुषों का विनाशक, ( अमित्रान् ) शत्रुओं का दूर ही स मार भगता हुआ अपने ( रथेन ) रथ से युद्धक्षेत्र में चारों ओर परिक्रमा करता है उसी प्रकार हे आत्मन् । तू भी ( रषोहा ) सब समाधिविघातक विघ्नो, काम, श्रेय आदि भावों का विनाश कर । ( अमित्रान् ) स्नह वृत्ति के विनाशक, शत्रुभावों क उत्तक प्रलाभनों, या रूपभावों का वितर्कबाधना द्वारा दूर करता हुआ ( रथेन ) अपने मन या दहरूप रथ स ( परिदाया ) परिवार होकर मोक्ष मार्ग पर गमन कर । और जिस प्रकार सनापति ( सेना प्रभञ्जन् ) शत्रु सेनाओं का तोड़ता फोड़ता हुआ और ( युधा ) अपने प्रहारों स ( प्रमृषन् ) प्रतिहिंसक शत्रुओं को ( जयन् ) जातता हुआ अपने पक्ष क रथों का रक्षक होजाता है उसी प्रकार हे वृहस्पते इन्द्र । आत्मन् । तू भी ( सेना प्रभञ्जन् ) माइ से उत्पन्न दापवृत्तियों का विनाश करता हुआ ( युधा प्रमृषन् ) प्राणायाम क बल स विरोधी इन्द्रियों का वश करता हुआ ( अरमाक ) हमारे ( रथानाम् ) इन दहों का ( अविता ) परिपालक ( पृथि ) हो ।

( २ ) जिस प्रकार सेनापति ( बलविज्ञाय ) अपने समस्त सेना सामर्थ्य का भली प्रकार जानता हुआ और साथ ही शत्रुपक्ष को भी जानता हुआ, ( स्थनिर ) पुराना अनुभवी वा स्थिर रूप स युद्ध के अवसर पर जमने वाला, ( प्रवीर. ) सब धीरों में उत्तम सामर्थ्यवान्, ( सहस्वान् ) शत्रु के आक्रमण को सहन करने हारा, ( वाजी ) ज्ञान और वेग से युद्ध, ( सहमान. ) शत्रु पर विजय प्राप्त करता हुआ ( उग्र ) तीक्ष्णस्वभाव होकर ( अभिधीर ) धीर सुभयों को साथ लिये ( अभि ( सत्वा ) सात्त्विक बल और तेज को धारण कर ( गावित् ) अपने अश्वों



को रामों स सम्भाल कर ( जैत्र रथ ) विजयशालि रथ पर चढ़ता है उसी प्रकार इ ( इन्द्र ) आत्मन् ' तू भी ( बलविज्ञाय ) आत्मिक बल का जान कर ( स्वविर ) यागसाधनों अर्थात् मुमुक्षु माग क याग्य तप साधनों में स्थिर रूप स रह कर अथवा पुरातन, तू ( प्रवीर ) उकृष्ट सामध्यवान् हाकर ( सङ्ग्रामान् ) सहाशील ( वाजा ) ज्ञानवान् ( सङ्ग्रामान् ) तपस्वी तितिष्ठु ( उग्र ) तपस्वी ( अभिचार ) चारों ओर अपन सामध्यवान् प्राणों का भग्न क्षिय ( अभिपश्य ) सत्त्व गुण्य में प्रतिष्ठित हाकर ( सङ्ग्रामान् ) आत्मस्वी और ( गावित् ) जितन्द्रिय, वदवायियों का ज्ञानी या आत्मारूप गौ का प्राप्त हाकर ( जैत्र रथ ) मोक्षमार्ग पर विजय करन हार रथरूप मरण पर ( आतिष्ठ ) आ बैठ, उसी में स्थिर होजा।

( ३ ) जिस प्रकार ( गात्रभिद् ) शत्रुकुलों का नाश कर ( गो विद् ) पृथिवी क विजेता या विद्वान् ( वज्रबाहु ) वज्र अर्थात् रथरुद्ग हाथ में क्षिय ( अग्नि जयन्त ) सप्राम करत हुण ( आत्मा ) अपन बल स ( प्रमृशन्त ) शत्रु का नाश करत हुण सनापति का उसक सङ्घर्षों सहायक लाग और बान्धव लाग प्रासादित करत और उसक साथ ही स्वय भी उमड़ी भाजा क अनुसार युद्ध करत हैं। उसी प्रकार हे ( सत्पाव ) समान भाषयान वा नाम स पुकार जान वाज्ज इन्द्रियगण्य और विद्वानों ' हे ( सजगा ) उसक साथ ही अपना सामर्थ्य प्रकट करत हारा ' आप ज्ञान भी ( गात्रभिद् ) उम ददयन्त का ताइन हार ( गाविद् ) आत्मा का या परमधर का नाश करन हार ज्ञाना, ( वज्रबाहु ) वैराग्य या ज्ञानरूप तज बार का हाथ में क्षिय ( आत्मा ) अपन तप और ज्ञान क सामध्य स काम अय दि यत शत्रुओं का ( प्रमृशन्त ) मदन करत हुण ( अग्नि ) परम प्राप्य स्थान तक ( जयन्त ) विजय करत हार ( इन्द्र ) इन्द्र ( इन्द्र ) आत्मा क ( अनुशासन् ) पाशु २ उतथी आजा में रह कर

सामर्थ्यान् रक्ष और ( अनु सरभध्व ) और उसके शासन में ही सब काय करो ।

[१८५५] अभिगात्राणि सहस्रा गाहमानाऽद्या वीर शतम-यु  
 ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 गि द्र । दुश्च्यवन पृनतापाडयुभ्योऽऽस्माक सेना  
 ४ २ ३ २

अपतु प्रयुस्तु ॥ १ ॥

[१८५६] इन्द्र आत्मापता गृहस्पतिदाक्षया यश पुर एतु साम ।  
 १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 देवसनानामभिभञ्जताना जयन्तीनामरुताय- यप्रमू॥२  
 १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

[१८५७] इन्द्रस्य वृष्णा वरुणस्य राक्ष आदित्यानां मरुता शर्द  
 ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २  
 ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३  
 उपमन् । महामनसा भुजन्त्यया घोषो दया जय-  
 ३ १ २

तामुदस्थात् ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० १० । १०३ । ६-६ ॥

भा०—( १ ) जिस प्रकार ( इन्द्र ) धीर सत्पाति या राजा,  
 ( गात्राणि अभि ) शत्रुकुलों के प्रति चढ़ाई करता हुआ और उनका  
 ( सहस्रा ) अपन भजे से गाहमान ) पारता हुआ, ( अद्या ) उन पर  
 दयाभाव न रखता हुआ, ( वीर ) धीर सामर्थ्यान् ( शतम यु ) सैकड़ों  
 प्रकार से उन पर आघात कर रहा ( दुश्च्यवन ) शत्रुभा से अविद्यालत,  
 ( पृनतापाड ) शत्रुसनाधों का विनाश ( युस्तु ) युद्धों में अपना सनाधों  
 की रक्षा करता है उसी प्रकार ( गात्राणि अभि ) दशों के भातर ( सहस्रा  
 गाहमान ) अपना सब के सामर्थ्ये सावधानता हुआ ( अद्या ) तथा आदि  
 द्वारा शत्रु के मुग्ध पर विचार न कर निर्णय हाकर तप करन हुआ ( य  
 सामर्थ्यान्, ( इन्द्र ) आत्मा ( शतम यु ) सैकड़ों प्रज्ञानों से युक्त हाकर

को रासों से सम्भाल कर ( जैत्रं रथ ) विजयशालि रथ पर चढ़ता है उसी प्रकार है ( इन्द्र ) आत्मन् ! तू भी ( वज्रविज्ञायः ) आशिक वज्र को जान कर ( स्वविरः ) योगसाधनों अर्थात् मुमुक्षु मार्ग के योग्य तपः साधनों में स्थिर रूप से रह कर अथवा पुरातन, तू ( प्रवीरः ) उत्कृष्ट सामर्थ्यवान् होकर, ( सहस्रान् ) सहनशील ( बाजी ) ज्ञानवान्, ( सहमानः ) तपस्वी तितिक्षु, ( उग्रः ) तेजस्वी, ( अभिवीरः ) चारों ओर अपने सामर्थ्यवान् प्राणों को लग जिये, ( अभिपारथ ) सर्व गुण में प्रतिष्ठित होकर ( सद्गो-जाः ) भोजस्वी और ( गोविन् ) जिनोन्द्रिय, वेदवाणियों को ज्ञानी या आत्मारूप गौ को प्राप्त होकर ( जैत्र रथ ) मोक्षमार्ग पर विजय करने हारे रथरूप मत्स्य पर ( आ तिष्ठ ) आ बैठ, उसी में स्थिर होजा ।

( ३ ) जिस प्रकार ( गोत्रीभेद ) शत्रुकुलों का नाश करने, ( गो-विदं ) पृथिवी के विनेता या विद्वान्, ( वज्रबाहु ) वज्र अर्थात् पद्म हाथ में जिये ( अग्नि जयन्त ) सप्राप्त करत हुए ( भोजसा ) अपने वज्र से ( प्रमृणन्त ) शत्रु का नाश करते हुए सेनापति को उसके सहवर्तों सहायक लोग और बान्धव लोग प्रोत्साहित करते और उसके साथ ही स्वयं भी उसकी आज्ञा के अनुसार युद्ध करते हैं । उसी प्रकार है ( सखायः ) समान आख्यान या नाम से पुकारे जाने वाले इन्द्रियगण और विद्वानों ! है ( सत्राताः ) उसके साथ ही अपना सामर्थ्य प्रकट करने हारे ! आप लोग भी ( गोत्रीभेद ) उस दृश्यन्धन को तोड़न हारे, ( गोविदं ) आत्मा को या परमेश्वर को प्राप्त करने हार ज्ञानी, ( वज्रबाहु ) वैराग्य या ज्ञानरूप तख-वार को हाथ में जिये ( भोजसा ) अपने तप और ज्ञान के सामर्थ्य से काम, कर्मादि अन्त-शत्रुओं को ( प्रमृणन्त ) मर्दन करते हुए ( अग्नि ) परम, प्राप्य स्थान तक ( जयन्त ) विजय करने हारे ( इन्द्र ) इन्द्र ( इन्द्रम् ) आत्मा के ( अनुवीर्यन्व ) पीछे २ टलकी आज्ञा में रह कर

सामर्थ्यान् रक्षो और ( अनु सरभध ) और उसके शासन में ही सब  
काम करा ।

[१८५५] अमिगात्राणि सहसा गार्हमानोऽद्या धीर शतमन्यु  
गिन्द्र । दुश्च्यवन पृननापाडयुध्योऽऽस्माक सेना

अपतु प्रतुस्तु ॥ १ ॥

[१८५६] इन्द्र आसाप्रता वृहस्पतिदाक्षया यज्ञ पुर एतु साम ।  
देवसनानामभिभञ्जतानि जयन्तीनामरुता यन्वप्रम् ॥ २

[१८५७] इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राक्ष आदित्यानामरुता शर्द्ध  
उग्रम् । महामनसा भुवाच्ययाना घोषो द्यागा जय-

तामुदस्यात् ॥ ३ ॥ ३ ॥ श० १० । १०२ । ६-६ ॥

भा०—( १ ) जिस प्रकार ( इन्द्र ) धीर सापासि वा राजा,  
( गार्हात्रि अग्नि ) शत्रुघुषों क प्रति चमर्द करता हुआ और उनका  
( सहसा ) अपना बल से गार्हमान ) आरता हुआ, ( अद्य ) उन पर  
दवाभाव न रखा हुआ, ( धीर ) धीर सामर्थ्यान्, ( शतमन्यु ) सैकड़ों  
प्रकार से उग पर शोध कर रहा । ( दुश्च्यवन ) शत्रुघुषों में अविचारित,  
( पृननापाड ) शत्रुसनाथों का बिजा । ( युध्यु ) युद्धों में अपना सेनाघों  
भी रक्षा करता है उसी प्रकार ( आदि अग्नि ) रक्षों के भातर ( सहसा  
गार्हमात्र ) अपना बल से सामर्थ्य सावधान हुआ । ( अद्य ) तत्सदा आदि  
द्वारा शत्रु के मुखा पर विचार कर निर्णय हाकर तब काल हुआ ( पर )  
सामर्थ्यान्, ( इन्द्र ) आना ( शतमन्यु ) सैकड़ों प्रशान्त से युद्ध होकर

( बुध्स्ववन. ) अग्नि पिदि के प्रलोभनों में न गिरकर, कूटस्थ होकर, ( वृत्तनापाद् ) दुर्वृत्तियों को दबाता हुआ, ( अयुष्य ) अद्वितीय होकर, ( युत्सु ) सम्राजों में आसुर और सत्त्विक भावों के परस्पर साम्राज के अवसरों पर ( अस्माक सेना ) हमारी सत्त्विक सेना, उत्तम प्राण्य वृत्तियों की ( प्र अवन्तु ) रक्षा करे ।

( २ ) ( इन्द्रः ) जिस प्रकार राजा ( आत्मा ) इन महद्गण वैश्यों का या वायु के समान चढ़ाई करने में तेज सेनाओं का नेता होता है, उसी प्रकार ( इन्द्र ) आत्मा महद्गण प्राणों का भी नेता है । उष्क ( पुर. ) आगे आगे ( बृहस्पति ) बृहती=वाक् का पालक मन, राजा के मन्थी के समान, ( दक्षिणा ) कार्यकुशल, यज्ञशालिनी चितिशक्ति और ( यज्ञ. ) पूजनीय परमात्मा और ( सोम. ) सबका प्रेरक प्राण ये आगे २ ( एतु ) चलते हैं । ( अभिभङ्गतोना ) असुर सेनाओं का विनाश करने वाली, ( जघन्तीना ) असुर वृत्तियों पर विजय करने वाली ( देवभेजाना ) दिव्यगुणवाली सत्त्विक वृत्तियों क ( अग्ने ) आगे २ मुख्य स्थान पर ( मरुतः ) एकादश प्राण्य ( यन्तु ) गमन करते हैं ।

( ३ ) ( वृत्त्य. ) सुखों की वर्षा करने वाले सिद्ध, धर्ममेध समाधि के साधक ( इन्द्रस्य ) इन्द्र, आत्मा का, ( राज ) सबक स्वामी ( वरुणस्य ) सर्वधेय परमात्मा का और ( आदित्याना ) १२ आदित्य और ( मरुतां ) प्राण्य इनका ( उग्र ) अति प्रबल । शर्द्ध. ) बल सफल हो । ( महामनसां ) विशाल चित एवं ज्ञान के धारणकर्ता ( भुवनस्ववाना ) भुवन अर्थात् देह के बन्धन को नाश करने वाले ( जयताम् ) आसुरभावों पर विजय करने वाले ( देवानां ) इन माण्डिक साधकों का ( घोष. ) नाद ( उद् अस्यात् ) ऊपर उठे ।

धार्मिक राजा और उसकी सेनाओं के विषय में यह मंत्र स्पष्ट है । परमात्मा पक्ष में भी इन मंत्रों की योजना है । प्रलय काल में तीनों लोकों का विनाश ही त्रिपुरदहन है । उस कल्पना को चित्त में रखकर इस मंत्र का उच्चारण उचित है ।

[१८५८] उद्धर्षय मघयध्रायुधान्युन्सस्त्वनां मामनानां मनासि ।  
<sup>१ २</sup> <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> <sup>२ २</sup> <sup>३ २ ३ १ २</sup>

उद्धर्षयान्वाजिनां वाजिनां न्युद्धधानां जयतां यन्तु घोषा ॥ १ ॥  
<sup>१ २</sup> <sup>३ २ ३ १ २ ३ १ २</sup> <sup>२ २</sup> <sup>३ १ २</sup>

[१८५९] अस्माकमिन्द्रः समृतेषु भजेष्वस्माकं या इष्यस्ता  
<sup>३</sup> <sup>२ ३ २ ३ १ २</sup> <sup>३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १</sup>

जयन्तु । अस्माकं वीरा उत्तरे भयन्त्यस्मां उ देवा  
<sup>३ १ २</sup> <sup>३ १ २ ३ १ २</sup> <sup>२ २</sup> <sup>३ १ ३</sup>

अयता हवेषु ॥ २ ॥

[१८६०] असौ या सेना मरुतः पुरेपामभ्येति न भोजसा स्पृष्ट-  
<sup>३ १ २</sup> <sup>२ २</sup> <sup>३ १ २ ३ १ २ १ १ २ ३ १ २</sup>

माना । तां गूह्यत तमसापमनेन यथैतेपामन्यो अन्य  
<sup>३ १</sup> <sup>३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १</sup>

न जानात् ॥ ३ ॥ ४ ॥

भाव द्वय च० १० । १०३ । १० । ११ । यजुः १० । ४२ । ४१ ।

श्रीगोत्रा चण्डोरे नस्ति किञ्चन यजुः १० । ४१ । मवे० ३ । २ । ६ ॥

भा०—( १ ) हे ( मघयन् ) राजन् ! ( आयुधानि ) युद्ध के साधनों को ( उद्धर्षय ) ऊँचा कर । ( मामनानां ) मेरे सम्बन्धी ( मनासि ) मनासि के ( वाजिनां ) घोड़ों के ( न्युद्धधानां ) युद्ध के साधनों के ( जयतां ) जय दाने ( यन्तु ) हर्षित करो । हे ( इष्यस्ता ) दुर्ग को धरने वाले शत्रु के नाशक राजन् ! सेनापति ! ( वाजिनां ) जाना पुरुषा और घोड़ों के ( वाजिनां ) जानपुत्र कक्षा की शक्ति और शक्ति के ( उद्धर्षय ) उद्धर्षय और ( जयतां ) रथानों ) विजय-

( वृहस्पति ) श्रद्धा विद्धि क प्रज्ञाभक्तों में न गिरकर वृहस्पति हाकर,  
 ( पूनमापाद् ) द्रुवृत्तियों का दशाता हुआ, ( शयुष्य ) श्रद्धिताप हाकर,  
 ( युसु ) सप्रामा में आसुर और रात्रिक भावों क परस्पर सप्राम क अथ  
 सों पर ( अस्माक सना ) हमारी सत्रिक सता उत्तम प्राण्य गुणिया की  
 ( प्र अथनु ) रपा करे ।

( २ ) ( इन्द्र ) जिस प्रकार राजा ( आमा ) इन मरुद्गण वैर्यों  
 का या वायु क समान घड़ाइ करन में तत्र सनाओं का नेता हाता है, उसा  
 प्रकार ( इन्द्र ) आमा मरुद्गण प्राणों का भी नेता है । उष्क ( पुर ) आग  
 आग ( वृहस्पति ) पृथिता=वाक् का पात्रक मन राजा क मन्त्रा क समान,  
 ( दक्षिणा ) कायकुशल यज्ञशास्त्रिनी चित्तिशक्ति और ( यज्ञ ) पूनाप  
 परमात्मा और ( साम ) सबका प्रेरक प्राण्य य आग २ ( पनु ) चलत है ।  
 ( आभभङ्गताना ) असुर सनाभा का विनाश करन वादा, ( जघन्तीना )  
 असुर वृत्तियों पर विजय करन वादी ( दवन्नाना ) दिव्यगुणवाला सत्रिक  
 वृत्तिया क ( अर्ध ) आग २ मुख्य स्थान पर ( मरु ) एकादश प्राण्य ( यन्तु )  
 गमन करत हैं ।

( ३ ) ( वृहस्पति ) सुखों की वधा करन हार सिद्ध धर्ममथ समाधि क  
 साधक ( इन्द्र ) इन्द्र आमा का ( राज ) सबक स्वामी ( वरुण्य )  
 सबधृष्ट परमात्मा का और ( आदिषाना ) १२ आदित्य और ( मरुता )  
 प्राण्य इनका ( उग्र ) अति प्रबल ( शब्द ) बल सफल हा । ( महागनसा )  
 विशाल विषय एव ज्ञान क धारणकता ( भुवात्पवाना ) भुवन अभाव  
 दह क वधा का नाश करन हार ( जयताम् ) आसुरभावों पर विजय करन  
 बल ( दवाना ) इन सात्रिक सधकों का ( धाप ) नाद ( उद् अस्थाय )  
 ऊपर उठ ।

धार्मिक राजा और उसकी मनाआ क विषय में यह मंत्र स्पष्ट है । परमात्मा पक्ष में भी इन मंत्रों की योजना है । प्रलय काल में तीनों जाका का विनाश ही त्रिपुरदहन है । उस कल्पना का चित्त में रखकर इस अन्न का रोगे लगाना उचित है ।

[१८५८] उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सव्यना मामनामनासि ।  
 १ २            ३ १ २   ३ १ २    २ २            ३ २ ३   १ २  
 १ २            ३ २ ३   १ २ ३ १ २    २ २ ३ १ २            ३ १ २  
 उद्धर्षयन्वाजिना वाजिना युद्धधाना जयता यन्तु घोषा ॥१

[१८५९] अस्माकमिन्द्र समृतेषु ध्वजेभ्यस्माक या इष्यस्ता  
 ३   २ ३ २ ३   १ २            ३ २ ३   २ ३   १ २ ३ १  
 २            ३ १ २   ३ १ २    २ २            ३ १ ३  
 जयन्तु । अस्माकं धीरा उत्तरे भवन्त्यस्मा उ देवा

अयता हवेषु ॥ २ ॥

[१८६०] असी या सेना मरुत परेषामभ्येति न आजसा स्पृष्ट  
 ३ १ २    २ २            ३ १ २ ३ १ २ १ १ २ ३ १ २  
 १            ३ २ ३ १ २    ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २  
 माना । ता गृह्यत तमसापमनेन यधेतपामन्या अन्य  
 ३ २  
 न जानात् ॥ ३ ॥ ४ ॥

भाष्य द्वय अ० १० । १०३ । १० । ११ । पत्रु १० । ४२ । ४३ ।  
 ग्रीषा द्युगर् नमि सिन्ध बहु १० । ४३ । अ० ३ । २ । ६ ॥

भा०—( १ ) हे ( मघवन् ) राजन् ! ( आयुधानि ) युद्ध के साधनों का ( उद्धर्षय ) ऊँचा कर । ( मामनामनासि ) मेरे सम्बन्धी ( साधनों ) मासिक कर बलवान् पुरुषों क ( मनासि ) हारवा का ( उद्धर्षय ) हर्षित करा । हे ( युवहन् ) दुर्ग को ध्यान हार शयु क नासक राजन् ! सेनापत ! ( वाजिना ) ज्ञाना पुरुषा और अश्वों क ( वाजिनानि ) ज्ञानपुत्र कला कंसपदा और वगों का ( उद्धर्षय ) बड़ाघा और ( जयता ) रथानों ) विषय-



शक्ति रथों के ( घोषा ) नाद ( उद् ) ऊंचे उठें । हमी प्रकार अध्यात्म पद्य में—( मधवन् आयुधानि उद्दृष्य ) हे परमात्मन् ! या आत्मन् ! हमारी दृष्टवृत्तियाँ स युद्ध करने क, या उनको प्रहार करके निकाल भगाने क साधना का उद्यत करो । ( मामकाना सत्वना मनासि उत् ) मेरे निजी बलशाली सात्विक प्राणों को उत्तम बलयुक्त करो । हे ( वृत्र-हन् ! ( वाजिना वाजिनानि उत् ) अज्ञान आवरणों के विनाशक प्रकाश-स्वरूप आत्मन् ! इन्द्रियों की सविद् शक्तियों को बढ़ाओ । ( जयता रथाना घापा., उत् ) विजयशील सिद्ध आत्माओं क घोष, वेदपाठ और स्तुतिया भी उच्च स्वर से हा ।

( २ ) ( इन्द्रः ) राजा ( अस्माक ध्वजेषु समृतेषु ) हमारे झण्डे जब शत्रुओं के झण्डों में जा मिलें तब भी हमारी रक्षा करें । ( अस्माक या इषव ता जयन्तु ) हमारे जो बाण हैं वे ही विजयशील हों ।। अस्माक वीरा., उत्तरे भवन्तु ) हमारे वीर उत्कृष्ट बलशाली विजयी रहें । ( देवाः इवेषु अस्मान् उ भवन्तु ) देव=दिव्य शस्त्रधारि विद्वान् सेनापति-गण युद्धों में भी हमारी रक्षा करें । अध्यात्मपद्य में—( इन्द्र ) आत्मा ( अस्माक ) हमारे ( ध्वजेषु ) प्राणों के ( समृतेषु ) परस्पर संगत हो जाने पर रक्षा करें, ( या' ) जो ( इषव' ) मानसवृत्तियाँ हैं ( ता. ) वे ( जयन्तु ) बलवान् हों । ( अस्माक वीरा ) हमारे प्राणरूप बलशाली योद्धा ( उत्तरे ) उत्कृष्टतर होकर रहें । ( देवा. ) विद्वान् लोग या इन्द्रिय शक्तिया ( इवेषु ) ईश्वर की उपासना के अवसरों में ( अस्मान् ) हमें ( भवन्तु ) तुरे मार्ग में जान से बचावें ।

( ३ ) ( हे ( मरुत ) वायु के समान वेगवान् वीरो या मारनेहारी विपैली गैसो ! ( असौ या परेषां सेना ) यह जो शत्रुओं की सेना ( नः शोतसा रार्धमाना ) बल स हमारे साथ स्पर्धा करती हुई ( अभ्येति )

इगारी तरफ बढ़ती चली घ रही है ( ता ) उसका ( अथवा तमसा गूहत ) क्रियाशक्ति का नष्ट करनहार तम या मूर्छा स ठक दा ( यथा अमी अन्यो अन्य न जानान् ) जिसस व एक दूसरे का न पहचान सक, इसी प्रकार अध्यात्मपथ में—हे ( मरन ) प्राणा । ( असी ) यह ( या ) जो ( सेना ) मोहादि वृत्तियों की परम्परा ( परथा ) प्रलाभना की अपने धामा से अतिरिक्त अन्य अनात्म पदार्थों का ( आजसा ) धारमा क बल से प्रतिस्पर्धा करती हुई, उसक बल या तेज पर भावरथ डालती हुई ( अभ्यैति ) साक्षात् भारही है और मुग्ध कर रही है ( ता ) उसको ( मतेन ) कर्म और ज्ञान क दृढ़ सकल्प द्वारा ( तमसा ) उसको शिथिल कर डालन वाले बल से ( अथ गूहत ) दूर करदो । ( यथा, जिससे ( अन्य. ) एक अनात्मभाव ( अन्य ) दूसर भात्र को ( न जानात् ) न उत्पन्न करे ।

[१८६१] अमीषा चित्त प्रतिलोभयन्त्री गूढासाङ्गान्यप्ये परेदि ।  
 अभिप्रेदि निर्देह ह्यस्तु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा

सचन्ताम् ॥ १ ॥

[१८६२] प्रेतो जयता नर इन्द्रो च शर्म यच्छतु ।

उग्रा च सन्तु याद्गोऽनाधृष्या यथाऽसथ ॥ २ ॥

[१८६३] अथसृष्टा परा पत शरभ्ये ब्रह्मसशिते ।

गच्छामित्रान्प्रपद्यस्य मामीषा क च नोच्छ्रियः ॥३॥५॥

भावे अर्चो, अ० १० । १०३ । १२२, १३ ॥ आण, यजु० १७ । ४५ ॥

द्वितीया यजु० १० । ४७ ॥ तृतीया अ० ६ । ७५ । १६ ॥ यजु० १० । ४२ ॥

भा०—( १ ) ( अमीपा ) इन शत्रुओं के ( चित्त ) चित्त को ( प्रति  
 लोभयन्ती ) विमोहित करती हुई हे ( अश्वे ) पापप्रवृत्त ! व्याधे ! या  
 हे भीति ! ( अन्नानि ) उनके अन्नों को ( गृहाण ) पकड़ ले अर्थात्  
 उनका शरीरों का नाश कर दे । ( अभिप्रेहि ) उन तक पहुँच और ( हसु )  
 हृदयों में प्रवेश करके उनको ( शकै ) शोकों द्वारा ( निर्दह ) जला ।  
 ( अमित्राः ) शत्रुगण ( अन्धेन तमसा ) अन्धकारमय मोह से ( सच-  
 न्ताम् ) युक्त हो जाय । अभ्यामपच मे—हे पापप्रवृत्त ! ( अश्वे ) यन्मार्ग  
 से दूर हटाने वाला । ( अमीपा ) इन हमारे प्राणों के ( चित्तं ) चेतन  
 सामर्थ्य को ( प्रतिलोभयन्ती ) प्रलोभन करती हुई तू ( अन्नानि )  
 हमारे अन्न, शरीरों को ( गृहाण ) ग्रहण करती है । अतः ( परेहि )  
 तू दूर हट जा । और तू स्नेह न करने हारे, द्वेष करने वाले पुरुषों के पास  
 ( अभिप्रेहि ) जाती है और उनको ( शकै ) शोकों द्वारा ( हसु )  
 हृदयों में ( निर्दह ) दाह उत्पन्न करती है, इसलिये ( अमित्राः ) द्वेष-  
 मार्गी से युक्त पुरुष ही ( अन्धेन तमसा ) अन्धकार भरे मोह से ( सच-  
 न्ताम् ) घिर जाते हैं ।

( २ ) हे ( नरः ) नेता लोगो ! ( प्रेत ) आगे बढ़ो ( जयत )  
 और विजय करो । ( वः ) आप लोगों को ( इन्द्रः ) ऐश्वर्यशाल परमात्मा  
 ( शर्म ) सुख और शान्ति ( यच्छन्तु ) दे । ( वः ) आप लोगों की  
 ( बाहवः ) बाहुएँ ( उग्रः ) उग्र बलवान् ( सन्तु ) हों ( यथा )  
 जिसस ( अनाद्युष्याः ) आप लोग किसी के भी बशीभूत, अपमानित न  
 ( असथ ) हों ।

( ३ ) हे इपो ! हे ( शरभ्ये ) शरकायक के बने प्राण ! हे ( मद्गस  
 सशिते ) मन्त्र द्वारा तीक्ष्ण किये गये ! ( अवस्था ) तू छोड़ी जाकर ( परा-  
 पत ) दूर जा । और ( अमित्रान् ) शत्रुओं का ( प्रपचस्व ) पहुँच और

(अमीषां) उनमें से (कंचन) किसी का भी (मा) मत (उच्छिषः) बचा रहने दे। अध्यात्मपक्ष में—हे (शम्भे) अज्ञान के नाश करने वाली, हे (ब्रह्मसहिते) ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मोपासना से तीक्ष्ण की हुई आत्मशक्ते ! (अवसृष्टा) युक्त होकर (परा) इस देहबन्धन से दूर मोक्षधाम में (पत) चली जा और (गच्छ) ज्ञान प्राप्त कर, (अमि-शान्) मोहादि शत्रुओं और बाधक अन्तरायों को भी (प्रपयस्व) प्राप्त कर। (अमीषा) उनमें से भी (कंचन) किसी एक को भी (मा उच्छिषः) शप न रहने दे।

तदेतदचरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाह्मनः ।  
 तदेतस्यं तदमृतं तद् बद्धस्यं सौम्य विद्धि ॥  
 धनुर्गृह्णत्वैपनिपदं महास्त्रं शर सुपःसानिशितं संधयीत ।  
 आयम्य तद् भागवतेन चेतसा ब्रह्म तदेवापरं सौम्य विद्धि ॥  
 प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तद्ब्रह्मवमुच्यते ।  
 अप्रमत्तेन वेदस्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥ (सुष्टक २ । ३, ३, ४ )

सुष्टक उपनिषद् में ब्रह्म को वेधन योग्य ब्रह्म मानकर उसको वेध करने के लिये औपनिषद्, ब्रह्मविद्यामय धनुष्, उपासना की शाय पर चढ़ा आत्मा रूप बाण और प्रणव ओंकार रूप धनुष् से निष्पत्ताद होकर झोड़ने पर ब्रह्ममय होजाने का उपदेश किया है।

[१-६४] कङ्का सुपर्णा अनुयन्त्येनान् गृध्राणामन्नमसावस्तु  
 सेना । मैषां मोक्ष्यघटारश्च नेन्द्र ययांस्येनाननुसंय-  
 न्तु सर्वान् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २  
 [१८६२] अत्रिचसनां मघश्चस्माञ्छुञ्जयतीमभि ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

उभौ तमिन्द्र धृत्रश्चमिथ्य दहतं प्रति ॥ २॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८६३] यत्र चाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इय ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

तत्र नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु ॥

३ २ ३ २ २

विश्वाहा शर्म यच्छन्तु ॥ ३ ॥ ६ ॥

भाषे ऋग्वेदे न स्तः । तत्र द्वितीया मध्वे० ३ । १ । ३ ॥

तृतीया श्व० ३ । ७५ । १७ ॥ यजु० २७ । ४८ ॥

भा०—( १ ) ( सुपर्णाः ) उत्तम पक्ष वाले ( कंकाः ) गीध ( एना )  
 उन् शत्रुओं पर ( अनु यन्तु ) जा दीजें । ( अमौ सेना ) वह शत्रुमेना  
 ( गृध्राणां ) गीधों का ( अन्नम् ) भोज्य ( अस्तु ) हो । हे इन्द्र ! राजन्  
 ( एना ) इनमें से कोई भी ( मा मोचि ) न बच रहे और ( अघहारश्च )  
 कोई पापी भी ( न ) न छूट जाय ( एनान् सर्वान् ) इन सब पर ( वयां-  
 सि ) गीध और कौचे ही ( अनु संयन्तु ) आ लगे ।

अध्यात्म पक्ष में—( सुपर्णाः ) उत्तम ज्ञान वाले, ( कंकाः ) सुखा-  
 भिलाषी पुरुष ( एनान् ) अन्तः—शत्रुओं, महाविद्या के विद्वान् के ( अनु-  
 संयन्तु ) पाँचे लग जावें ! अर्थात् उनका निर्मूल नाश किये बिना न छोड़ें ।  
 ( अमौ सेना ) यह दुष्ट वासनाओं की सेना ( गृध्राणाम् ) गृध्र के समान  
 उत्पतनशील प्राणों के ( अन्नम् ) भोज्य बने अर्थात् प्राणों के विरोध से  
 उनका नाश किया जाय । ( एनां मा मोचि ) इन पापभावों में से एक  
 भी न छूट जावे । हे इन्द्र ! आत्मन् ! ( अघहारश्च न ) पाप का भागी

भी काइ विचार शप न रह जाय । ( वयासि ) गतिशील प्राण भी ( पुनान् ) इनको ( अनु सय तु ) पीछा करक सवनाश करे ।

( २ ) इ ( मघवन् ) इन्द्र ! राजन् ! ( अश्वमान् ) हमारे प्रवि ( अभि शत्रुयतीम् ) साघात् शत्रुरूप हाकर चढ़ाह करती हुई ( ताम् ) अमहा बलवती ( अमित्रसना ) शत्रु सना का आप ( अग्नि च ) और अग्नि अग्रणी दोनों मिलकर ( प्रति दहत ) भस्म कर डाला । अध्यात्मपक्ष में— हे ( इन्द्र ) वृत्रहन् ! अज्ञाननाशक ! मघवन् ज्ञानवन् पुरुष ! तुम उस अमित्र-द्वेषभावों की परम्परा को अग्निरूप परमात्मा स मिलकर भस्म करदो ।

( ३ ) ( यत्र ) जहाँ ( विशिखा ) शिखारहित ( कुमार इव ) बालकों के समान ( बाया ) बाया ( सम्पतन्ति ) पड़ रहे हों ( तत्र ) वहाँ ( ब्रह्म यस्पति ) वेद का विद्वान्, परमेश्वर ( अदिति ) अखण्डत सामर्थ्यवान् होकर हमें ( शर्म ) शान्ति और सुख ( यच्छतु ) प्रदान करे और ( विश्राहा ) सदा ( शर्म यच्छतु ) कल्याण करे ।

२७ ३ १४ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २  
[१८६७] विरहो विमृषो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।  
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

विमन्युमिन्द्र वृत्रहमित्रस्याभिदासत ॥ १ ॥  
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१८६८] वि न इन्द्र मृषो जहि नीचा यच्छ पृतन्यत ।  
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

यो अस्मा अभि दासत्यधर गमया तम ॥ २ ॥  
१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८६९] इन्द्रस्य वाइ स्थविरौ युवानावनाघृष्यौ सुप्रगीकार  
३ २ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सह्यौ । तौ युजीत प्रथमौ योग आगत याभ्या जित  
२ २ ३ ३ २ ३ २

गसुराणा सहो महत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

आद्य द्वे श्र० १० । १५२ । ३ । ४ ॥ तृतीया ऋग्वेदे नास्ति ।

भा०—(१) हे इन्द्र ! हे वृद्धयन् ! (रघः) राघस पुरुष को ( विजिह ) विनाश कर । और (मृध विजिह) हमारे उत्तम द्रव्यो पर खोभ करने हारे पुरुषा का भी विनाश कर । (वृत्रस्य) हमें घेर कर नाश करने हारे विघ्नरूप शत्रु क ( हन् ) आघातकारी उन दासों को ( विरुज ) तोड़ डाल, जिन्हें ये हमारे ऊपर गढ़ाना चाहता है । और ( अभिदासत ) हमारा नाश करने हारे और हमें दास की तरह परार्थीन करने वाले ( अभित्रान् ) आभ्यन्तर व्यसनों के समान शत्रुओं के ( मन्थुं ) अभिमान और क्रोध को भी ( वि ) विनाश कर ।

( २ ) हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! ( न ) हमारे ( मृधः ) शत्रुओं को ( विजिह ) नाश कर और ( धृन्व्यतः ) अपनी सेनाएं यद्वान्ता चाहने वाले लोगों को भी ( न्निधा यच्छु ) नीचे ढाल दे । ( य ) और जो ( असमान् ) हमें ( अभिदासति ) सब प्रकार से विनाश करता या दास के समान परार्थीन करता है उसको ( तम ) नृत्या में या अन्धकार में ( गमय ) ढाल । आभ्याम पद में—आभ्यन्तर शत्रुओं को इन्द्र आत्मा नाश करे । हृदय का स्पर्श करने वाले दुर्भावों का नियमन करे और विनाशक मोहादि भावों को दूर करे ।

( ३ ) ( इन्द्रस्य ) राजा के समान इस आत्मा की ( युवानौ ) जवानी भरी सदा बलवान् ( स्वविरा ) मज्जवत्, पक्की, सदा स्थिर रहने वाली, ( अनाष्टयौ ) कभी पराजित न होने वाली ( सुवतीकौ ) उत्तम रीति से शत्रु का मुझयत्ना करने वाली, ( असद्यौ ) शत्रुओं के लिये अमद्य ( बाहु ) उनको पीड़ा देने वाली, प्राय और भवान दो बाहुएं हैं ( प्रथमे ) प्रारम्भ में ही ( योगं प्राग्ने ) संग्राम के समान कठिन, धमदायी योग समाधि के अवसर प्राप्त होने पर ( तौ ) उन दोनों को उचित रीति से ( युज्जीत ) समाधि साधना में प्रयोग करे, अर्थात् चित्तशुद्धि के स्थिर करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास करे । ( वाभवां ) जिनसे ( अमुराणां ) अन्य प्राणों का ( महत् ) बड़ा भारी ( सहः ) बड़ ( जितम् ) बस किया जाता है ।

[१८७०] मर्माणि ते वर्मणाच्छादयामि सोमस्त्वा राजामृतनानु-  
 वस्ताम् । उरार्वायीषो वरुणस्ते कृणोतु जयन्ते त्वानुदेवा  
 मदन्तु ॥ १ ॥

[१८७१] अग्धा अमित्रा भयनाशीर्षाणां ह्य इव ।  
 तेषा वो अग्निनुद्यानामिन्द्रो हन्तु वर वरम् ॥ २ ॥

[१८७२] यो न स्योऽरणो यश्च निष्ट्यो जिघासति । देवास्तं सर्वे  
 धूर्नन्तु ब्रह्म वर्म गमान्तर शम्भ वर्म ममान्तरम् ॥ ३ ॥

प्रथमा तृतीया च श्र० ६ । ७५ । १८ । १९ ॥ तृतीया अथर्व० १ । १६ ॥

३ ५ । एतयो पूर्वोत्तरार्धे । द्वितीया श्रावण नास्ति ॥

भा०—( १ ) ( त ) तेरे ( मर्माणि ) कोमल मर्मों के ( वर्मणा )  
 कवच स ( आच्छादयामि ) ढकता ह । ( सोम राजा ) दीक्षिमान् राजा  
 के समान सचका प्रेरक सोम, परमेश्वर ( अमृतेन ) अमर आत्मशक्ति से  
 ( अनु वस्ताम् ) और भी सुराहित करे । ( वरुण ) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर  
 ( ते ) तुझे ( उरार्वायीष ) अधिक से अधिक वरणीय उत्तम सुख ( कृ  
 णोतु ) उत्पन्न करे । ( जय त ) धरम मोक्ष के प्राप्त होने हुए ( स्वा )  
 तुझको दखकर ( देवा ) विद्वान् लोग ( अनु मदन्तु ) इर्षित हों ।

( २ ) हे ( अमित्रा ) द्वेषमान् रघ्नन इव गुरुणां ! तुम लोग ( अ-  
 शीर्षाणा ) विना दिमाग क, विना फिरकड़े, शं. ष ( अह्य इव ) सापों

१८७०—३ यो न स्योऽरणो यश्च निष्ट्यो जिघासति । देवास्तं सर्वे  
 धूर्नन्तु ब्रह्म वर्म गमान्तर शम्भ वर्म ममान्तरम् ॥ ३ ॥ इत्यादि,  
 उत्तरार्चिक। इत्यादि



क समान ( अन्धा भवत ) अन्धे, अविवेकी होंजाओ । ( अग्निनुब्राना ) अपने ही काध की घाग से फुंके हुए, ( तेषा ) उनके ( वर वर ) उत्तम २ पुरुष या शिर को ( इन्द्र ) राजा, प्रभु नाश करे ।

( ३ ) ( य ) जो ( न ) हमारा ( स्व ) सम्बन्धो होकर भी या स्वयं ( अरथ ) अग्निवाचराय करन वाला है और जा ( निष्ट्य ) दूर रहकर भी छुः रूप में ( न ) हमें ( जिवासति ) मारना चाहता है ( त ) उसक ( सर्व ) समन्त ( दवा ) विद्वान् पुरुष ( धूवे-नु ) विनाश कर । ( मदा ) वदज्ञान और परमेश्वर ( मम ) मरा ( अन्तर ) भीतरी ( बर्भ ) कवच या रक्षासाधन है । ( शर्म ) वह सुखकारी, आनन्दवन सब का शरण दाता है ( मम ) मरा ( अन्तरम् ) भीतर का एकमात्र रक्षक साक्षी है ।

[१=७३] <sup>३ २ ३</sup> नृगो न भूमि <sup>३ १</sup> कुचरो <sup>२ ३ १</sup> गिरिष्ठा <sup>२ ३ १</sup> परावत <sup>२ ३ २ ३</sup> आ जगन्था <sup>१ २</sup>  
<sup>१ २</sup> पस्या । <sup>३ २</sup> सुरु स <sup>३ १ २</sup> शाय <sup>३ १</sup> परिमन्द्र <sup>३ १</sup> तिमि <sup>२ ३</sup> विश्रू <sup>३</sup> ताडि  
<sup>२</sup> वि <sup>१ २</sup> मूर्धो <sup>२ ३</sup> सुदस्य ॥ १ ॥

[१=७४] <sup>३ २</sup> भद्र <sup>१</sup> कर्णेभि <sup>३ १ ३</sup> शृणुयाम <sup>३ १ २</sup> देवा भद्र <sup>३ १ २ ३</sup> पश्येमात्मनिर्जघ्ना ।  
<sup>३ १ २ २</sup> स्थिरैरगस्तुष्टु <sup>३ १ २ ३</sup> गन्मन् नृभि <sup>३ १ २ ३</sup> र्यशमहि <sup>३ १ २ ३</sup> देवहित यदायुः ॥

[१=७५] <sup>३ २ ३ १</sup> स्वस्ति न इन्द्रो <sup>३ १ २</sup> वृद्धयया <sup>३ २ २</sup> स्वस्ति न पुषा <sup>३ २ ३ १ २</sup> विश्ववदा ।  
<sup>३ २ ३ १ २</sup> स्वस्ति नस्तद्वयो <sup>३ २ ३ १ २</sup> अग्निमि <sup>३ २ ३ १ २</sup> स्वस्ति नो <sup>३ २ ३ १ २</sup> वृहस्पतिर्द  
<sup>३ २ ३ १ २</sup> धानु ॥ स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधानु ॥ ३ ॥ ६ ॥

अथा अ० १० । १८० । २ ॥ उपर २ अ० १ । ८६ । ८, ६ ।

भा०—( १ ) हे ( इन्द्र ) परमेश्वर ! घाय ( गिरिष्ठा, कुचर नृग न भूमि ) पर्वतों में रहने वाले, अग्निव रूप से विश्वाय करन वाले, जगत्ता

द्विमक हाथी या सिंघ के समान भयकारी एवं आप ( मृग ) योगियों से भीतरी गुफा में खोजन योग्य, या आत्म-परिशाधन करने योग्य हैं, आप ( कुचरः ) कड़ा नहीं व्यापक हो ? अर्थात् सर्वव्यापक हो । आप ( भि-विद्याः ) विद्वानों, वाणियों एवं वेदमन्त्रों में शब्द और उसके अर्थ रूप में विद्यमान हा और साथ ही सबके ऊपर शासक होने सब के भयप्रद हो । ( आ परस्था परान्न ) दूर से दूर देश, अलभ्य मुद्रिधाम से हमारे हृदयों तक या परा' ब्रह्मविद्या क भी ( परावत. ) निगूढ परम रहस्यमय भाग से आप ( आजगन्ध ) घात हो, या प्रकट होते हो । हे ( इ-द ) परमात्मन् ( सृष्ट ) प्रसरणशील ( तिग्म ) तजोमय, तपिष्ण ( पविम् ) परमपावन ज्ञानयज्ञ को ( सशाय ) अति तीक्ष्ण करक ( शत्रून् ) अ-तः-शत्रुओं को राजा के समान ( वि ताडि ) विनाश करो और ( मृध ) हमारा सर्वस्व अपहरण करनेहार ढाकुओं क समान तामस भावों को ( वि तु-दस्व ) परे करा, दूर इटाया ।

( २ ) हे ( देवा ) विद्वान् पुरुषो ! हम सब ( कर्णेभिः ) कानों से ( भद्र ) कल्याणकारी, पर सदा सुखपूर्वक उत्तम उपदेशों को ( शृणु-याम ) श्रवण करें । और हे ( यज्ञत्रा ) सदा यज्ञ आदि धर्मकार्यों का अनुष्ठान करनेहार भद्र पुरुषा ! हम सब ( अक्षभिः ) आँखों से ( भद्र ) सुखकारी एवं कल्याणकारी पदार्थों का ( पश्येम ) दर्शन करें और ( तु-पुपास ) ईश्वर का भजन एवं सत्य का वर्णन करते हुए ( स्थिरै. ) दृढ़ ( ध्रुवै ) भगा और ( तनूभिः ) दृढ़ स्तियों से ( यद् ) जो ( आयु ) आयु ( दयदित ) विद्वानों क हित में लगे या दत्र, परमात्मा जो दीर्घ आयु प्रदान कर उत्र दीर्घ ११६ वा १२० वर्ष या इससे भी अधिक आयु का हम ( वि धनमदि ) भाग कर ।

( ३ ) । वृद्धत्रया ) मशान्, यशस्वी और ज्ञानवान् ( इन्द. ) परमे-श्वर ( न ) हमारा ( स्तारी दपानु ) करवाय करे । ( विश्ववेदा. ) सर्वज्ञ,

